यज्ञान केवलज्ञानमें ये सब विशेषण घट जाते हैं इसलिये वे तीनों ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। यहांपर प्रत्यक्ष विशेष्य और इंद्रियानिंद्रियानपेक्ष आदि विशेषण हैं। प्रत्यक्षका जो 'इंद्रियानिंद्रियानपेक्षं' विशेषण है वह मतिज्ञान और श्रुतज्ञानकी निवृत्तिकेलिये है क्योंकि यदि इतना ही प्रत्यक्षका लक्षण माना जायगा कि 'जो ज्ञान व्यभिचाररहित और सविकल्पक हो वह प्रत्यक्ष है' तो व्यभिचाररहित और सविकल्पक तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी है उन्हें भी प्रत्यक्ष कहना पडेगा जो कि वाधित है। यदि 'इंद्रियानिंद्रियानपेक्ष' यह प्रत्यक्षका विशेषण कर दिया जायगा तब मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहे जा सकते क्योंकि अपनी उत्पत्तिमें वे इंद्रिय और मनकी अपेक्षा सहित ही हैं रहित नहीं। 'अतीतव्यभिचारं' यह विशेषण कुमति कुश्रुत और कुअवधि विभंग ज्ञानोंकी निवृत्तिके लिये है। क्योंकि 'जो ज्ञान सविकल्पक हो वह प्रत्यक्ष है' यदि इतना ही प्रत्यक्षका लक्षण किया जायगा तो कुमति आदि ज्ञान भी सविकल्पक हैं उन्हें भी प्रत्यक्ष कहना पडेगा। किंतु यदि 'अतीतव्यभिचार' यह विशेषण प्रत्यक्षका रहेगा तो कुमति आदिको प्रत्यक्षपना नहीं आ सकता क्योंकि मिथ्यादर्शनके उदयसे अवास्तविक पदार्थको वास्तविकरूपसे जानना कुमति आदिका विषय है। प्रत्यक्षका सविकल्पक विशेषण अवधिदर्शन और केवलदर्शन की निवृत्तिके लिये है क्योंकि 'जो पदार्थ इंद्रिय और मनकी अपेक्षारहित और व्यभिचाररहित हो वह प्रत्यक्ष ज्ञान है' यदि इतना ही प्रत्यक्ष ज्ञानका लक्षण माना जायगा तो अवधिदर्शन और केवलदर्शन में इंद्रिय और मनकी अपेक्षा नहीं होती और किसी प्रकारका व्यभिचार भी नहीं होता इसलिये उन्हें भी प्रत्यक्ष ज्ञान कहना पडेगा। सविकल्पक विशेषणसे वे प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कहे जा सकते क्योंकि दर्शन को निराकार—निर्विकल्पक माना है सविकल्पक नहीं। इस रीतिसे जो ज्ञान इंद्रिय और मनकी अपेक्षा

रहित, व्यभिचाररहित और सविकल्पक हो वह प्रत्यक्ष ज्ञान है, यह प्रत्यक्ष ज्ञानका युक्तिसिद्ध लक्षण है।

विशेष—बहुतसे विशेषण अनिष्ट बातकी व्यावृत्तिके लिये हुआ करते हैं और बहुतसे विशेषणोंका प्रयोग स्वरूप निर्देशके लिये किया जाता है। वार्तिककारने जो यहां प्रत्यक्षका लक्षण कहा है और उस के विशेषण दिये हैं उनमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञानकी निवृत्तिके लिये इंद्रियानिंद्रियानपेक्ष यह व्यावर्तक विशेषण दिया है क्योंकि उससे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको प्रत्यक्षज्ञानपनेकी व्यावृत्ति की गई है। अवधि दर्शन और केवलदर्शनकी निवृत्तिके लिये जो सविकल्पक विशेषण दिया है वह भी व्यावर्तक विशेषण है क्योंकि दर्शनको निर्विकल्पक माना है इसलिये सविकल्पक कहनेसे अवधिदर्शन और केवलदर्शनकी व्यावृत्ति हो गई परन्तु कुमति आदि विभंग ज्ञानोंको प्रत्यक्षज्ञानकी निवृत्तिके लिये जो अतीतव्यभि- चार विशेषण दिया है वह प्रत्यक्षके स्वरूप निर्देशके लिये है क्योंकि विभंग ज्ञान इंद्रिय और मनकी अपेक्षासे होता है—विना अपेक्षाके नहीं हो सकता इसलिये 'इंद्रियानिंद्रियानपेक्ष' इस विशेषणसे ही विभंग ज्ञानोंकी निवृत्ति हो जाती है इस रीतिसे इंद्रियानिंद्रियानपेक्ष और सविकल्पक ये प्रत्यक्षके दो विशेषण तो व्यावर्तक विशेषण हैं। और अतीत व्यभिचार यह विशेषण स्वरूपका प्रतिपादक विशे- षण है।

इस वार्तिकमें जिस रूपसे प्रत्यक्षका लक्षण बतलाया है उसी रूपसे प्रत्यक्षका लक्षण नहीं है किंतु अन्य रूपसे भी है, और वह इस प्रकार है—

अक्षं प्रतिनियतमिति परापेक्षानिवृत्तिः ॥ २ ॥

'अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीति अक्षः' जो पदार्थोंको जाने वह अक्ष कहा जाता है और उस

का अर्थ-ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमका धारक वा ज्ञानावरण कर्मका सर्वथा नाश करनेवाला आत्मा है। उस केवलमात्र आत्माकी अपेक्षा जो ज्ञान उत्पन्न हो वह प्रत्यक्षज्ञान कहा जाता है इस अव्ययीभाव समाससे अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये तीन ही ज्ञान प्रत्यक्ष कहे जा सकते हैं । क्योंकि इनकी उत्पत्तिमें सिवाय आत्माके इंद्रिय आदिकी अपेक्षा नहीं होती। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहे जा सकते क्योंकि विना इंद्रिय आदिकी अपेक्षा कीए उनकी उत्पत्ति हो ही नहीं सकती इसलिये जो केवल आत्माकी अपेक्षासे हो वह प्रत्यक्ष है इस समासगर्भित प्रत्यक्षके लक्षणसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको प्रत्यक्षज्ञानपनेकी निवृत्ति हो जाती है।

अधिकारादनाकारव्यभिचारव्युदासः ॥ ३ ॥

सूत्रकारने 'प्रत्यक्षमन्यत्' अर्थात् परोक्षसे जो भिन्न है वह प्रत्यक्ष है, यह प्रत्यक्षका स्वरूप बतलाया है परंतु परोक्षसे भिन्न तो अवधिदर्शन केवलदर्शन और कुमति आदि विभंगज्ञान भी हैं इसलिये सूत्रकारके मतकी अपेक्षा वे भी प्रत्यक्ष कहे जा सकते हैं ? सो ठीक नहीं। ऊपरके सूत्रोंसे 'प्रत्यक्षमन्यत्' इस सूत्रमें 'ज्ञान' और सम्यक् दोनों शब्दोंका अधिकार चला आ रहा है इसलिये 'ज्ञान' और 'सम्यक्' शब्दोंके अधिकारसे 'परोक्ष ज्ञानोंसे भिन्न जो सम्यग्ज्ञान है वह प्रत्यक्ष है' जब यह 'प्रत्यक्षमन्यत्' इस सूत्रका अर्थ होगा तब अवधिदर्शन और केवलदर्शनको प्रत्यक्षज्ञानपना नहीं हो सकता क्योंकि अवधिदर्शन आदि ज्ञान नहीं, दर्शन हैं। एवं कुमति वा संशय आदि विभंग ज्ञानोंको भी प्रत्यक्षज्ञानपना नहीं हो सकता क्योंकि विभंगज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं, मिथ्याज्ञान हैं। इसलिये प्रत्यक्षमन्यत् यह सूत्र निर्दोष है। यदि यहांपर यह शंका हो कि—

करणात्यये गृहणाभाव इति चेन्न दृष्टत्वात्प्रदीपवत् ॥ ४ ॥

इंद्रियोंकी अपेक्षा विना कीये कहीं भी ज्ञान होता नहीं देखा गया इसलिये जब इंद्रियोंके विना पदार्थका ज्ञान नहीं हो सकता तब 'प्रत्यक्ष ज्ञानमें इंद्रिय आदि कारण नहीं होते' यह बात नहीं कही जा सकती ? सो ठीक नहीं । जिसतरह जो पुरुष काष्ठ कील व सूला आदि उपकरणोंके विना रथके बनानेमें असमर्थ है वह काष्ठ आदि उपकरणोंके रहते ही रथ बना सकता है । विना उपकरणोंकी अपेक्षा कीए वह रथ तयार नहीं कर सकता किंतु जो पुरुष तप विशेषसे विना ही उपकरणके रथके बनानेकी ऋद्धिको प्राप्त कर चुका है । काष्ठ आदि उपकरणोंकी अपेक्षा कीए विना ही रथ बना सकता है उसीतरह जो मनुष्य कर्मोंसे मलिन है वह इंद्रियावरण आदि कर्मोंके क्षयोपशम होने पर इंद्रिय मन प्रकाश और उपदेश आदिकी सहायतासे पदार्थोंको जानता है किंतु जिसके तप आदिकी विशेषतासे ज्ञानावरण आदि ज्ञानके विरोधी कर्मोंका क्षयोपशम वा क्षय हो चुका है वह इंद्रिय आदिके विना ही अपनी सामर्थ्यमात्रसे पदार्थोंको जानता है इसलिये तप विशेषकी कृपासे जब आत्माकी यह दिव्य अवस्था प्रगट हो जाती है कि पदार्थोंके जाननेमें उसे इंद्रिय आदिकी अपेक्षा नहीं करनी पडती तब विना इंद्रियोंके कोई ज्ञान होता दीख ही नहीं पडता यह कहना प्रलापमात्र है । और भी यह बात है कि—

ज्ञानदर्शनस्वभावत्वाच्च भास्करादिवत् ॥ ५ ॥

जिसतरह सूर्य आदि पदार्थ प्रकाशस्वरूप हैं इसलिये वे दूसरे प्रकाशकी विना अपेक्षा कीए घट पट आदि प्रकाशन योग्य पदार्थोंको प्रकाशित करते हैं उसीप्रकार आत्मा भी ज्ञान दर्शनस्वरूप है इसलिये ज्ञानके विरोधी ज्ञानावरण आदि कर्मोंके क्षय वा विशिष्टक्षयोपशमसे अपनी सामर्थ्यमात्रसे ही वह

पदार्थोंको जान लेता है–पदार्थोंके जाननेमें उसे इंद्रिय आदि किसी भी पदार्थकी अपेक्षा नहीं करनी पडती । शंका–

इंद्रियनिमित्तं ज्ञानं प्रत्यक्षं तद्विपरीतं परोक्षमित्यविसंवादि लक्षणमिति
चेन्नाप्तस्य प्रत्यक्षाभावप्रसंगात् ॥ ६ ॥

जो ज्ञान इंद्रियोंके व्यापारसे उत्पन्न हो वह प्रत्यक्ष और जिसमें इंद्रिय व्यापारकी अपेक्षा न हो वह परोक्ष है यही प्रत्यक्ष और परोक्षका विसंवादरहित निर्दोष लक्षण है । अन्य सिद्धांतकार भी ऐसा ही प्रत्यक्षका लक्षण मानते हैं । जिसतरह बौद्धोंका कहना है कि–

प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्यादियोजना । असाधारणहेतुत्वादक्षैस्तद् व्यपादिश्यते ॥ १ ॥

जिसमें नाम जाति आदिकी योजना किसी प्रकारकी कल्पनासे रहित हो वह प्रत्यक्ष है और उसकी उत्पत्तिमें असाधारण कारण इंद्रियां हैं इसलिये इंद्रियोंसे उसका व्यवहार होता है इसरीतिसे बौद्ध सिद्धांतमें प्रत्यक्षकी उत्पत्ति वा उसका व्यवहार इंद्रियोंके आधीन माना है । नैयायिकोंका मानना है कि–"इंद्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षं ।" अर्थात् जो ज्ञान इंद्रिय और पदार्थके संबंधसे उत्पन्न हो, अव्यपदेश्य अर्थात् पहिले किसीके द्वारा कहा न गया हो, अव्यभिचारि-संशय आदि व्यभिचारी ज्ञानोंसे रहित हो और व्यवसायात्मक निश्चय करानेवाला हो वह प्रत्यक्ष है । यहांपर भी प्रत्यक्षज्ञानमें इंद्रियोंकी अपेक्षा बतलाई गई है । वैशेषिकोंका कहना है कि "आत्मेंद्रिय

१ न्यायवार्तिक सूत्र ४ पृ० ३० । २ वैशेषिक दर्शन अ० ३ आ० १ सूत्र १८ पृ० १४४ ।

मनोऽर्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत" । अर्थात् आत्मा इंद्रिय मन और पदार्थोंके सन्निकर्षसे उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है । यहां पर भी प्रत्यक्षकी उत्पत्तिमें इंद्रियोंकी अपेक्षा रक्खी है । सांख्य सिद्धांतकारोंका यह कहना है कि—"श्रोत्रादिवृत्ति प्रत्यक्षं" श्रोत्र आदि इंद्रियोंका जो व्यापार है वह प्रत्यक्ष है अर्थात् इंद्रियां पदार्थको देखती हैं । उनके देखे हुए पर मन विचार करता है । मनसे विचारे हुएको अहंकार मानता है । अहंकार तत्व द्वारा माने हुए पदार्थको बुद्धि निश्चय करती है और बुद्धि द्वारा निश्चित पदार्थको पुरुष विचारता है इस रूपसे कान आदि इंद्रियोंके व्यापारका नाम ही प्रत्यक्ष है (श्लोकवार्तिक पृ० १८७ कारिका ३६ ।) इसरीतिसे सांख्य सिद्धांत में भी प्रत्यक्षकी उत्पत्तिमें इंद्रियों की अपेक्षा की गयी है । मीमांसकमतके अन्यतम प्रवर्तक जैमिनिका कहना है कि— "सत्संप्रयोगे पुरुषस्येंद्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमिति" अर्थात् पदार्थके साथ इंद्रियोंका संबंध होने पर जो पुरुषमें बुद्धि की उत्पत्ति होना है वह प्रत्यक्ष है इसप्रकार मीमांसकमतमें भी इंद्रियोंके आधीन ही प्रत्यक्षकी उत्पत्ति मानी है इस रूपसे जब प्रत्येक सिद्धांतकार प्रत्यक्षकी उत्पत्तिमें इंद्रियोंको कारण मानता है—इंद्रियोंकी अपेक्षा बिना कीए प्रत्यक्षकी उत्पत्ति ही असंभव मानता है तब जो ज्ञान इंद्रियोंके व्यापारसे उत्पन्न हो वह प्रत्यक्ष और जिसकी उत्पत्तिमें इंद्रियोंके व्यापारकी अपेक्षा न हो वह परोक्ष है यही प्रत्यक्ष और परोक्षका लक्षण मानना ठीक है ? सो नहीं । यदि इंद्रियजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष माना जायगा तो सर्वज्ञके ज्ञानमें तो इंद्रियोंका व्यापार कारण पडता नहीं इसलिये सर्वज्ञका ज्ञान ही प्रत्यक्ष ज्ञान न कहा जा सकेगा इसलिये प्रत्यक्ष ज्ञानमें कभी इंद्रियां कारण नहीं पड सकतीं । सर्वज्ञके ज्ञानमें इंद्रियोंकी कारणता मानने

१ यह सांख्यमतके वार्षगण्य आचार्यका बनाया हुआ सूत्र है । २ जैमिनि सूत्र १ अ० १ पा० ४ सू० ।

पर किमरीतिसे सर्वज्ञको असर्वज्ञपना आता है, यह बात विस्तारपूर्वक पहिले कह दी जा चुकी है। यदि यहां पर यह समाधान दिया जाय कि—

आगमादिति चेन्न तस्य प्रत्यक्षज्ञानपूर्वकत्वात् ॥ ७ ॥

इंद्रियोंसे न भी अतींद्रिय पदार्थोंका ज्ञान हो तो भी आगमसे अव्याघातरूपसे उनका ज्ञान हो सकता है इसलिये आगमके द्वारा जब समस्त पदार्थोंका ज्ञान हो सकता है तब सर्वज्ञका भी अभाव नहीं कहा जा सकता ? सो भी कहना अयुक्त है। क्योंकि जिसका प्रतिपादन समस्त दोषोंसे रहित सर्वज्ञानी आप्तके प्रत्यक्षज्ञानसे होता है वही आगम माना जाता है अन्य आगम नहीं किंतु आगमाभास है इस-रीतिसे जब आगमकी उत्पत्ति प्रत्यक्षज्ञानसे मानी गई है तब आगमसे प्रत्यक्ष ज्ञानकी कभी सिद्धि नहीं हो सकती। वास्तवमें तो यदि आगमसे प्रत्यक्ष ज्ञानकी सिद्धि मानी जायगी तो अन्योन्याश्रय दोष होगा क्योंकि "स्वापेक्षापेक्षकत्वं ह्यन्योन्याश्रयत्वं" दो पदार्थोंमें एकको दूसरेकी अपेक्षाका होना अन्यो-न्याश्रय दोष कहा जाता है। जब आगमसे प्रत्यक्षज्ञानकी सिद्धि मानी जायगी तब आगमसे प्रत्यक्ष-ज्ञान; और विना प्रत्यक्षज्ञानके आगमका प्रतिपादन नहीं हो सकता इसलिये प्रत्यक्षज्ञानसे आगम, इस तरह प्रत्यक्षज्ञानको अपनी उत्पत्तिमें आगमकी अपेक्षा और आगमको अपनी उत्पत्तिमें प्रत्यक्षज्ञानकी अपेक्षा होनेके कारण अन्योन्याश्रय दोष होनेसे आगमसे अतींद्रिय पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता। फिर भी यदि यह कहा जाय कि—

अपौरुषेयादिति चेन्न तदासिद्धेः ॥ ८ ॥

जब आगमका प्रतिपादन प्रत्यक्षज्ञानसे माना जायगा तब उपर्युक्त दोष हो सकता है किंतु हम तो

आगमको अपौरुषेय (पुरुषकृत नहीं) अनादिनिधन और अत्यन्त परोक्ष भी पदार्थोंका अप्रतिहतरूप
से ज्ञान करानेवाला मानते हैं इसलिये इसप्रकारके आगमसे समस्त पदार्थोंका ज्ञान हो सकता है कोई
दोष नहीं ? सो भी अयुक्त है। कोई आगम अपौरुषेय है यह वात ही किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं। इस-
लिये अपौरुषेय आगमकी कल्पनाकर उससे अतींद्रिय पदार्थोंकी सिद्धि मानना सर्वथा असंभव है। तथा
जिस आगमको अपौरुषेय माना जाता है वह संसारमें वेदके नामसे प्रख्यात है परन्तु वह हिंसा आदि
पाप कार्योंका प्रतिपादक है इसलिये वह कभी प्रमाणीक नहीं हो सकता इस रीतिसे किसी आगमको
अपौरुषेय मान उससे अतींद्रिय पदार्थोंकी उत्पत्ति मानना कल्पनामात्र है।

अतींद्रियं योगिप्रत्यक्षमिति चेन्नार्थाभावात्॥ ९॥

यदि यह कहा जाय कि हम योगियोंके ज्ञानको अतींद्रिय प्रत्यक्ष मानते हैं और वह आगमसे नहीं
उत्पन्न होता इसलिये उस योगियोंके अतींद्रियज्ञानसे समस्त पदार्थोंका ज्ञान हो सकता है कोई दोष नहीं।
इसी वातका पोषक यह वचन भी है—"योगिनां गुरुनिर्देशादातिभिन्नार्थमात्रदृक्" अर्थात् गुरुके उपदेश
से योगी लोग अत्यन्त भिन्न—परोक्ष भी समस्त पदार्थोंको देखते हैं। सो भी ठीक नहीं। प्रत्यक्ष शब्द
का जव अक्षरार्थ किया जायगा उस समय 'जो इंद्रियोंकी सहायतासे हो वह प्रत्यक्ष है' यह प्रत्यक्ष शब्द
का अर्थ होगा। ऐसा अर्थ करनेसे योगिज्ञानको प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता क्योंकि वहांपर योगिज्ञान
में इंद्रियां कारण नहीं पडतीं इसलिये प्रत्यक्ष शब्दके इस उपर्युक्त अर्थसे योगिज्ञान अतींद्रिय प्रत्यक्ष
नहीं हो सकता अथवा द्रव्यका लक्षण 'सत्' माना गया है और वह उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वरूप
कहा गया है। स्याद्वादसिद्धांत—जैनसिद्धांतके सिवा अन्य सिद्धांतोंमें पदार्थोंकी व्यवस्था एकांतरूपसे

मानी है इसलिये उनके मतमें स्वरूप पररूप और उभय—स्वपररूप हेतु वा अहेतुओंसे पदार्थ उत्पत्ति आदि स्वरूप सिद्ध हो नहीं सकते अथवा एक अनेक स्वरूप जो सामान्य और विशेष धर्म है उनका भी एकांतरूपसे रहना पदार्थोंमें असंभव आदि दोषोंसे परिपूर्ण है इसलिये परमतकी अपेक्षा समस्त पदार्थ ही सिद्ध नहीं हो सकते इस रीतिसे समस्त पदार्थ ही तो योगिज्ञानके अवलंबन हैं जब समस्त पदार्थोंकी ही असिद्धि रहेगी तब योगिज्ञान निरालंबन ठहरेगा जो बाधित होनेसे माना नहीं जा सकता। यदि यहां पर यह कहा जाय कि सविकल्पक कोई पदार्थ नहीं सब पदार्थ निर्विकल्पक ही हैं इसलिये योगिज्ञानको निर्विकल्पक माननेमें कोई हानि नहीं ? सो भी अयुक्त है क्योंकि निर्विकल्पक पदार्थका ज्ञान ही नहीं हो सकता। वास्तवमें तो परमतके शास्त्रोंमें न निर्विकल्पक पदार्थका कोई लक्षण वतलाया है और न निर्विकल्पक पदार्थको विषय करनेवाले ज्ञानहीका कोई लक्षण कहा है इसलिये परमतमें न कोई निर्विकल्पक पदार्थ है और न निर्विकल्पक पदार्थको विषय करनेवाला कोई ज्ञान है इसरीतिसे योगिज्ञानको अतींद्रिय प्रत्यक्ष मान उससे समस्त पदार्थोंका ज्ञान मानना प्रलापमात्र है। और भी यह बात है—

तदभावाच्च ॥ १० ॥

परमतमें जिस योगीकी कल्पना की गई है उसका कोई विशेष लक्षण नहीं माना गया इसलिये उसका अभाव ही है तथा परमतमें एकांतरूपसे समस्त पदार्थ भी सिद्ध नहीं हो सकते इसलिये जब समस्त पदार्थोंका अभाव है तब उन समस्त पदार्थोंके जाननेवाले योगीका भी अभाव सुतरां सिद्ध है। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि निर्वाणके दो भेद माने हैं एक सोपाधिविशेष जिसको कि जीवन्मुक्त

भी कहते हैं और दूसरा निरुपधिविशेष जिसका कि दूसरा नाम मुक्त है उनमें सोपधिविशेष निर्वाणमें
समस्त पदार्थोंका जाननेवाला योगी है—उसका अभाव नहीं कहा जा सकता ? सो भी ठीक नहीं।
नैयायिक आदि परमतमें आत्माको निष्क्रिय और व्यापक माना गया है यदि योगिज्ञानमें वाह्य इंद्रि-
योंकी कारणताका अभाव माना जायगा तो अंतरंग आत्माकी परिणतिका भी अभाव मानना चाहिये
क्योंकि निष्क्रिय और नित्य पदार्थमें किसीप्रकारका परिणाम नहीं हो सकता इसरीतिसे जब योगीकी
आत्मामें ज्ञानका परिणमन न होगा तब वह पदार्थोंको न जान सकेगा फिर समस्त पदार्थोंके प्रत्यक्षके
विना योगीका अभाव ही कहना पडेगा। यदि यहां पर यह कहा जायगा कि योगीमें योगसे होनेवाला
एक धर्मविशेष रहता है उसकी कृपासे इंद्रियोंकी अपेक्षा विना ही किये आत्मा समस्त पदार्थोंको जान
लेगा योगीका अभाव नहीं हो सकता ? सो भी ठीक नहीं। जो पदार्थ निष्क्रिय और नित्य होता है
उसमें किसीप्रकारकी क्रिया अनुग्रह और विकार कुछ भी नहीं हो सकता। परमतमें आत्माको निष्क्रिय
और नित्य माना है इसलिये उसमें पदार्थोंकी जाननरूप क्रिया नहीं हो सकती। जब योगीकी आत्मा
में पदार्थोंकी जाननरूप क्रिया न होगी तब वह अतींद्रिय पदार्थोंका साक्षात्कार न कर सकेगा इसलिये
जबरन उसका अभाव कहना ही पडेगा। तथा—

तल्लक्षणानुपपत्तिश्च स्ववचनव्याघातात् ॥ ११ ॥

वास्तवमें तो जो ऊपर प्रत्यक्षका लक्षण कहा है वह निर्दोषरूपसे सिद्ध हो ही नहीं सकता क्योंकि
जिसतरह 'मेरी मा बांझ है' यह कहना स्ववचनबाधित माना जाता है उसी प्रकार उपर कहे गये
प्रत्यक्षके लक्षणमें भी स्ववचनव्याघात है। यद्यपि कई मतोंके अनुसार ऊपर प्रत्यक्षके लक्षण कहे गये हैं

तथापि वार्तिककार अन्य मतोंमें मानेगये प्रत्यक्षके लक्षणोंकी उपेक्षा कर बौद्ध मतमें जो प्रत्यक्ष—लक्षण माना है; उसीका प्रतिवाद करते हैं क्योंकि वार्तिककारका स्वयं यह कहना है कि—बौद्धके सिवाय जो अन्यमत हैं उनमें माने गये प्रत्यक्षके लक्षणका बौद्धोंने अच्छीतरह खंडन कर दिया है इसलिये उनके खंडन करनेकी यहां हमारी विशेष इच्छा नहीं है किंतु बौद्धमतमें जो प्रत्यक्षका लक्षण माना गया है उसमें कुछ गुणोंकी संभावना लोगोंको दीख पडती है इसलिये बौद्ध मतमें मानेगये प्रत्यक्षके लक्षणके निराकरण करनेकेलिये यहां हम कुछ विचार करते हैं और वह इसप्रकार है—

√ बौद्धोंने जो 'कल्पनापोढं प्रत्यक्षं' अर्थात् जिसमें किसी प्रकारकी कल्पना न हो सके वह प्रत्यक्ष है, यह प्रत्यक्षका लक्षण माना है। वहांपर जाति गुण और क्रियाका जो कहना उससे होनेवाला जो वचन और बुद्धिका विकल्प अर्थात् यह जाति है, यह गुण है, यह क्रिया है ऐसा वचन और जातिको जाति रूपसे, गुणको गुणरूपसे और क्रियाको क्रिया रूपसे जाननारूप बुद्धि उसका जो भेद, वह कल्पना शब्दका अर्थ है उससे रहित प्रत्यक्ष कहा जाता है। वहांपर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि प्रत्यक्षको जो कल्पनारहित माना गया है वह सर्वथा कल्पनारहित है कि कथंचित् कल्पनारहित है ? यदि सर्वथा 'कल्पनासे रहित है' यह अर्थ माना जायगा तो स्ववचनव्याघात दोष होगा क्योंकि 'प्रत्यक्षज्ञान कल्पनासे रहित है' यह भी तो कल्पना ही है, इस कल्पनासे रहित भी प्रत्यक्ष ज्ञानको मानना पडेगा फिर प्रत्यक्षका कोई लक्षण ही न स्थिर होगा। यदि यह कहा जायगा कि 'कल्पनासे रहित है' इत्यादि कल्पना युक्त ही प्रत्यक्ष माना जायगा तब भी वचनका व्याघात ही है क्योंकि 'प्रत्यक्ष सर्वथा कल्पनासे रहित है' यह स्वीकार किया गया है अब यदि 'कल्पनारहित है' इत्यादि कल्पनासे युक्त उसे माना

जायगा तो कथंचित् कल्पनायुक्त उसे मानना पडा इसलिये 'सर्वथा कल्पनासे रहित है' यह वचन व्या-
हत हो गया। यदि कदाचित् यह कहा जायगा कि हम कथंचित् कल्पनारहित प्रत्यक्ष स्वीकार करते
है-अर्थात् प्रत्यक्ष कल्पनारहित है इत्यादि कल्पनासे युक्त तो है परन्तु जाति आदिकी कल्पनासे रहित
है ? सो भी ठीक नहीं। यहांपर भी वह वचनव्याघात दोष ज्योंका त्यों उपस्थित है क्योंकि बौद्ध लोग
एकांतसे प्रत्यक्षको 'कल्पनारहित मानते हैं' यदि उसे कथंचित् कल्पनासे रहित माना जायगा तो एकां-
तका त्याग कर देना पडेगा क्योंकि कथंचित् शब्द अनेकांतका द्योतक है इसलिये कथंचित् कल्पनासे
रहित प्रत्यक्ष को नहीं माना जा सकता। यदि यहांपर भी यह समाधान दिया जाय कि 'प्रत्यक्ष कल्पना
से रहित ही है' यह हमारे एकांत नहीं इसलिये उसे कथंचित् कल्पनासे रहित माननेमें स्ववचनव्याघात
नहीं हो सकता ? सो भी अयुक्त है। फिर प्रत्यक्षका 'कल्पनापोढ' यह विशेषण ही व्यर्थ हो जायगा।
क्योंकि 'कल्पनासे रहित है' इत्यादि अनुरूप प्रत्यक्षमें कल्पना मान ली गई तब वह 'कल्पनापोढ' नहीं
कहा जा सकता। यदि यहांपर फिर यह कहा जाय कि परमत—जैन आदि मतोंमें नाम जाति आदि
की भेदकल्पना व्यवहारसे मानी गई है निश्चयसे नहीं। इसलिये वैसी कल्पनाओंसे रहित हम (बौद्ध)
प्रत्यक्षको मानते हैं किंतु वितर्क विचार आदि जो प्रत्यक्षसंबंधी विकल्प हैं उनसे रहित नहीं मानते
इसलिये 'कल्पनापोढ' यह जो प्रत्यक्षका विशेषण है वह परमतकी अपेक्षा है, व्यर्थ नहीं है। इसी विषय
में यह वचन भी है—

सवितर्कविचारा हि पंच विज्ञानधातवः। निरूपणानुस्मरणविकल्पनविकल्पकाः ॥ १ ॥

अर्थात्—वितर्क विचार निरूपण अनुस्मरण और विकल्पन ये पांच विज्ञानके धर्म हैं। विज्ञानके

ही भेद हैं। सो भी ठीक नहीं। घट पट आदि ज्ञान आलंवन पदार्थोंमें जो 'यह घट है यह पट है' इत्यादि अर्पणा यह वितर्क है। उसीमें वार वार चिंतवन करना विचार है। उस विचारकी नाम-घट पट आदि रूपसे कल्पना करना निरूपण है और पूर्वकालमें अनुभव किए हुए पदार्थोंका विकल्पन—भेदपूर्वक स्मरण करना अनुस्मरण है। ये धर्म संतानरहित और क्षणिक इंद्रियविषयक विज्ञानमें नहीं उत्पन्न हो सकते क्योंकि ये धर्म ज्ञानमें क्रमसे उत्पन्न होनेवाले और कुछ क्षण ठहरनेवाले हैं परंतु बौद्ध मतमें इनकी एकसाथ उत्पत्ति मानी है और क्षणिक माने हैं इसलिए अधिक क्षण तक ठहर नहीं सकते। तथा इन धर्मोंमें पहिला पहिला धर्म ग्राह्य है और उत्तर उत्तर धर्मको ग्राहक माना है यदि इनकी युगपत् उत्पत्ति मानी जायगी तो जिसतरह वछडेके दायां और वायां दोनों सींग एक साथ उत्पन्न होते हैं इसलिए उनमें ग्राह्य ग्राहकपना नहीं होता उसीतरह वितर्क आदिकी भी एकसाथ उत्पत्ति मानी गई है इसलिए इनमें भी ग्राह्य ग्राहकपना सिद्ध नहीं हो सकता। यदि यह कहा जायगा कि हम (बौद्ध) वितर्क आदि की युगपत् उत्पत्ति न मान क्रमसे उत्पत्ति मानेंगे तव उसमें ग्राह्य ग्राहकपना होसकता है, कोई दोष नहीं? सो भी अयुक्त है। यदि उनकी क्रमसे उत्पत्ति मानी जायगी तो उनको अनेक क्षणतक ठहरनेवाला भी मानना पडेगा फिर सब पदार्थ क्षणिक हैं—क्षणभरमें विनष्ट हो जानेवाले हैं, यह बौद्धोंका अभिमत अर्थ न सिद्ध हो सकेगा इसलिये वितर्क आदिकी क्रमसे उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। यदि यह कहा जायगा कि हम विज्ञानकी संतान मानेंगे और वैसा माननेसे वितर्क आदिकी क्रमसे उत्पत्ति बन सकेगी कोई दोष नहीं? सो भी अयुक्त है। परीक्षाकी कसोटीपर संतानकी जांच करनेपर वह सिद्ध ही नहीं हो सकता इस रीतिसे जब किसी प्रकारका भी विकल्प विज्ञानके अंदर सिद्ध नहीं होता तब विज्ञानमें

'कल्पनासे रहित यह विकल्प है जाति आदिका विकल्प नहीं है' यह बात नहीं बन सकती इसलिये समस्त विकल्पोंके अभावसे विज्ञान पदार्थ ही सिद्ध नहीं होता। और भी यह बात है कि—

बौद्ध लोग सब पदार्थोंको क्षणिक मानते हैं परंतु उन्होंने अनुसमरण आदि धर्मोंको स्वीकार किया है। वे अनुसमरण आदि पदार्थ अनेक क्षण ठहरनेवाले हैं इसलिये अनुसमरण आदिके स्वीकार करनेसे उन्हींके मतानुसार एक पदार्थ अनेक क्षणस्थायी सिद्ध हो गया जो कि उनके माने हुए क्षणिक सिद्धांत पर आघात पहुंचाता है। यहां पर यह बात भी निश्चित समझ लेना चाहिये कि जो पदार्थ पहिले कभी अनुभवमें नहीं आये हैं अथवा अन्यके अनुभवमें आये हैं उन पदार्थोंका अनुसमरण आदि नहीं होता किंतु एक ही आत्मामें जिसका पहिले अच्छी तरह अनुभव हो चुका है उसीके अनुसमरण आदि होते हैं इसलिये अनुसमरण आदिको एक क्षणस्थायी नहीं कहा जा सकता किंतु वे अनेक क्षणस्थायी ही हैं। तथा मानस प्रत्यक्षका अंगीकार भी बौद्धोंके क्षणिक सिद्धांतको सिद्ध नहीं होने देता क्योंकि 'षण्णामनंतरातीतं विज्ञानं यद्धि तन्मनः' छै पदार्थोंके अनंतर जो अतीत विज्ञान है वह मन कहा जाता है, यहां पर मनको विज्ञानका कारण बतलाया है। यदि किसी भी पदार्थको अनेक क्षण ठहरनेवाला न माना जायगा तब मन भी अनेक क्षणस्थायी न ठहरेगा फिर क्षणभरमें ही नष्ट हो जानेवाला असत्पदार्थ और अतीत मन विज्ञानका कारण नहीं हो सकेगा इसलिये यदि बौद्ध मानस प्रत्यक्षको स्वीकार करते हैं तो उन्हें मनको अनेक क्षणस्थायी मानना ही होगा इस रीतिसे उनका क्षणिक सिद्धांत कभी सिद्ध नहीं हो सकता। यदि कदाचित् कार्य कारणकी सिद्धिके लिये यह कहा जाय कि—

हम पूर्व पदार्थका नाश और उत्तर पदार्थकी उत्पत्ति एक साथ मानते हैं इसलिये कार्य कारण

२७३

जायगा क्योंकि पहिले ज्ञानको क्षणिक माना जा चुका है और यहां इस वचनसे उसे अनेक क्षणस्थायी माना गया है तथा सब पदार्थोंको क्षणिक माननेपर अनेक क्षण पर्यंत ठहरनेवाले इच्छा द्वेष आदि पदार्थोंकी भी सिद्धि नहीं हो सकती इसलिये ज्ञानकी संतान और समस्त पदार्थोंका क्षणिकपना दोनों ही वातें असिद्ध हैं। और भी यह वात है कि—

स्वसंवित्तिफलानुपपत्तिश्चार्थांतरत्वाभावात् ॥ १३ ॥ प्रमाणोपचारानुपपात्तिर्मुख्याभावात् ॥ १४ ॥

संसारमें प्रमाण पदार्थ फलवान देखा गया है। बौद्धोंने जो प्रमाण माना है उसका भी कुछ न कुछ फल होना चाहिये परंतु क्षणिक होनेसे उसका कोई फल नहीं हो सकता इसलिये उसका माना हुआ प्रमाण पदार्थ ठीक नहीं। यहां पर वादी प्रतिवादीसे भिन्न तटस्थका कहना है कि ज्ञान अपना और घट पट आदि पदार्थोंका निश्चय कराता हुआ ही उत्पन्न होता है इसलिये अपने स्वरूपका और घट पट आदि पदार्थोंका जानना ही उसका फल होगा इसरीतिसे वह फलवान ही है—फल रहित नहीं कहा जा सकता? सो भी ठीक नहीं। जिसतरह छेदनेवाला, छेदनके योग्य काष्ठ आदि और छेदनक्रिया इन तीनोंसे भिन्न काष्ठके टुकडे होनारूप फल दीख पडता है। उसीतरह प्रमाणका फल भी प्रमाणसे भिन्न ही होता है किंतु अपना और परपदार्थोंका जानना रूप फल प्रमाण स्वरूप ही है प्रमाणसे भिन्न नहीं इसलिये वह प्रमाण नहीं कहा जा सकता। यहांपर वादी बौद्धका कहना है कि—स्वपरका जानना रूप फल प्रमाण स्वरूप ही है इसलिये वह फल नहीं हो सकता यह वात विलकुल ठीक है इसलिये आधिगम—पदार्थोंका जाननारूप फलमें व्यापारकी प्रतीति मान उपचारसे प्रमाणकी कल्पना मानी है अर्थात् अधिगमरूप ही प्रमाणको माना है इसलिये फल और प्रमाण दोनोंकी सिद्धि होनेसे प्रमाण फलरहित नहीं कहा जा

सकता ? सो भी अयुक्त है। जिसतरह 'सिंहो माणवकः' यह बालक सिंह है इत्यादि स्थानों पर पशुओंका राजा, पंचेंद्रिय, नख, दाढ, सटा, दीप्तिमान किंतु पीले नेत्र आदि अवयवोंका धारक सिंह नामका मुख्य रूपसे पदार्थ संसारमें मोजूद है इसलिये उसीके समान बालकमें क्रूरता शूरता आदि गुणोंको देखकर यह कह दिया जाता है कि यह बालक सिंह है किंतु विना असली सिंहके गौणरूपसे वालकमें सिंहकी कल्पना नहीं हो सकती उसीतरह मुख्यरूपसे प्रमाणके रहतेही अधिगमरूप फलको गौणरूपमे प्रपाण माना जाता है विना असली प्रमाणके नहीं बौद्ध मतमें असली प्रमाण सिद्ध नहीं किंतु अधिगमको गौण रूपसे प्रमाण मानने के लिये चेष्टा की है इसलिये अधिगमरूप फलको गौण रूपसे प्रमाण नहीं माना जा सकता। इसरीति से बौद्ध मतमें माने गये प्रमाणका कोई फल सिद्ध नहीं होता इसलिये फलरहित होनेसे वह प्रमाण नहीं कहा जा सकता। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

आकारभेदात्तद्भेद इति चेन्नैकांतवादत्यागात् ॥ १५ ॥

ग्राहक, विषय—घट पट आदिका झलकना और संवित्ति—जानना, ये तीन शक्तियां हम ज्ञानमें मानते हैं उनके भेदसे प्रमाण प्रमेय और फलका भेद हो जायगा अर्थात् ज्ञानमें जो ग्राहक शक्ति है उस से प्रमाण, विषयाभास शक्तिसे प्रमेय और संवित्तिसे फलकी कल्पना हो जायगी, प्रमाण भी फलवान् सिद्ध हो जायगा कोई दोष नहीं ? सो भी कहना अयुक्त है। बौद्धोंने एकांतसे ज्ञानको निर्विकल्पक माना है और निर्विकल्पकमें कोई भी आकार प्रतीत हो नहीं सकता। यदि ज्ञानको ग्राहक, विषयाभास और संवित्तिरूप तीन शक्तियोंके आकारस्वरूप माना जायगा तो ज्ञानको सर्वथा निर्विकल्पकरूप जो एकांतसे माना है वह एकांत छोड देना पडेगा क्योंकि एक पदार्थ अनेक आकारस्वरूप है यह अनेकां-

तवादके प्रतिपादक भगवान जिनेंद्रका मत है वह कभी एकांतवादमें लागू नहीं हो सकता अर्थात् ज्ञान को सर्वथा निर्विकल्पक मानने पर कैसे भी आकारकी कभी भी उसमें कल्पना नहीं की जा सकती। यदि कदाचित् यही हठ की जायगी कि निर्विकल्पक होने पर भी हम उसे तीन आकारस्वरूप मानेंगे ही तब द्रव्यको अनेकाकार स्वरूप कहनेमें क्या आपत्ति है? वहां भी एक परमाणु द्रव्यको रूपादि अनेक स्वरूप, वा एक ही आत्मा द्रव्यको ज्ञान आदि अनेकस्वरूप मान लेना चाहिये। यदि यहांपर फिर भी वादी बौद्ध यह कहे कि उपर्युक्त आकारोंको ज्ञानस्वरूप मानें तब तो अनेक धर्मस्वरूप द्रव्यकी सिद्धि हो सकती है परंतु हम तो ग्राहक आदि शक्तियोंको आकार मात्र मानते हैं उन्हें ज्ञानस्वरूप नहीं कहते इसलिये हमारे मतमें अनेक धर्मात्मक द्रव्यकी सिद्धिकी आपात्ति नहीं हो सकती ? सो भी ठीक नहीं। वहां पर भी यह प्रश्न उठेगा कि यदि वे ज्ञानके आकार नहीं हैं तब किसके आकार हैं? क्योंकि आकार किसी न किसी पदार्थके होते हैं यदि उन्हें किसी पदार्थका आकार न बतलाकर केवल आकारमात्र बतलाया जायगा तो विना आधारके उसका अभाव ही हो जायगा इसलिये उन आकारोंको ज्ञानस्वरूप ही मानना पडेगा और ज्ञानस्वरूप माननेसे अनेक धर्मात्मक द्रव्यकी सिद्धिकी आपात्ति ज्योंकी त्यों रहेगी और भी यह बात है कि उन आकारोंकी ज्ञानमें एक साथ उत्पत्ति होती है कि क्रमसे?

यदि एक साथ उत्पत्ति मानी जायगी तो ग्राहक—प्रमाण और संवित्ति—फल भी एक साथ उत्पन्न होंगे इसलिये उनमें प्रमाण कारण और फल कार्य न कहाया जा सकेगा क्योंकि पहिले कारण, पीछे कार्य इसप्रकार क्रमवृत्ति पदार्थोंमें ही कार्य कारणके विभागका नियम है। एक साथ उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंमें कार्य कारणपनेका नियम नहीं लागू हो सकता। यदि उन आकारोंकी क्रमसे उत्पत्ति मानी

जायगी तो बौद्ध लोग विज्ञानको तो क्षण विनाशीक मानते हैं । क्षण विनाशीक पदार्थोंमें आकारोंके क्रमकी कल्पना नहीं हो सकती इसलिये ग्राहक आदि शक्तियोंके आकारोंकी क्रमसे कल्पना नहिं की जा सकती । यदि कदाचित् जवरन यह माना जायगा कि क्षणिक भी विज्ञानमें इम आकारोंकी क्रमसे ही कल्पना मानेंगे तो आकारोंमें ग्राहक—प्रमाण और संवित्ति—फलका भी उलेख किया गया है यदि ग्राहक और संवित्तिकी क्रमसे उत्पत्ति मानी जायगी तो उस अधिगमस्वरूप संवित्ति पदार्थको प्रमाणसे भिन्न मानना पडेगा फिर "अधिगम—जानना कोई दूसरा पदार्थ नहीं है प्रमाण स्वरूप है" बौद्धोंके इस वचनका व्याघात हो जायगा । इसलिये ज्ञानमें ग्राहक आदि शक्तियोंके आकारोंकी क्रमसे कल्पना नहीं कर सकते । और भी यह बात है कि—

विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध सिवाय विज्ञानके अन्य कोई भी बाह्य पदार्थ स्वीकार नहीं करता तथा विज्ञानमें ग्राहक आदि शक्तियोंक आकारकी कल्पना करता है उन्हें विज्ञान स्वरूप ही मानता है विज्ञान से भिन्न नहीं इस रीतिसे जब उसके मतमें बाह्य कोई पदार्थ नहीं—एक विज्ञानमात्र ही पदार्थ है तब तब वह केवल एक विज्ञान प्रमाण और प्रमाणाभासरूप विरुद्ध धर्मस्वरूप नहीं हो सकता । यदि यहां पर यह कहा जायगा कि मिथ्या पदार्थको सत्य मानना जिस तरह सीपको चांदी वह प्रमाणाभास और सत्य पदार्थको सत्य ही समझना जिस तरह सीपको सीप वा चांदीको चांदी वह प्रमाण है इस रीतिसे एक भी विज्ञानके स्वीकार करनेपर प्रमाण और प्रमाणाभासका भेद हो जायगा कोई दोष नहीं ? सो भी कहना अयुक्त है । बौद्ध लोग प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण मानते हैं और उन दोनों प्रमाणोंकी विशेष और सामान्य इन दो प्रमेयोंके आधीन व्यवस्था मानते हैं क्योंकि बौद्धोंका सिद्धांत है कि प्रत्यक्ष

स्वलक्षणको विषय करता है और उस स्वलक्षणको असाधारण धर्म माना है उसमें यह घट है वा यह पट और मठ है इस प्रकारका कैसा भी विकल्प नहीं रहता तथा अनुमान सामान्यको विषय करता है। यह सामान्य स्वलक्षणसे ठीक विपरीत है—इसमें वह अमुक पदार्थ है तो वह अमुक पदार्थ है इस तरहका भेद रहता है यदि मिथ्या पदार्थको सत्य मानना प्रमाणाभास और सत्यको सत्य ही मानना प्रमाण इस-तरह मिथ्या पदार्थ और सत्य पदार्थोंकी भी कल्पना करनी पडेगी तो ये जो प्रत्यक्ष और अनुमानकी सिद्धिकेलिये विशेष और सामान्यके भेदसे दो ही पदार्थ माने हैं वह मानना व्याहत हो जायगा क्योंकि प्रमाण और प्रमाणाभासकी सिद्धिकेलिए सामान्य और विशेषसे अतिरिक्त मिथ्या और सत्य पदार्थोंकी भी कल्पना करनी पडती है इसरीतिसे जब विज्ञानके सिवाय कोई पदार्थ सिद्ध नहीं होता तब एक ही विज्ञानमें प्रमाण और प्रमाणाभासरूप भेदोंकी कल्पना नहीं की जा सकती। और भी यह बात है कि—

विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध विज्ञानके सिवाय अन्य समस्त पदार्थोंको असत् भी विशेषरूपसे नहीं कह सकता क्योंकि पदार्थोंके अभावसे उनका असत्त्व भिन्नरूपसे सिद्ध नहीं हो सकता किंतु घट पट आदि असत्त्वके संबंधी पदार्थोंके रहते ही यह घटका असत्व है यह पटका असत्व है इत्यादि भिन्नरूपसे असत्व सिद्ध होता है इसलिये विज्ञानमात्र तत्व मानकर समस्त पदार्थोंको असत् कहना बौद्धका युक्तियुक्त नहीं माना जा सकता। यदि यहां पर यह कहा जाय कि संबंधी घट पट आदि पदार्थोंके अभाव रहने पर ही उनके विशेषोंका अभाव कहा जा सकता है उनके विद्यमान रहते नहीं। सत्व भी घट पट आदिका विशेष है इसलिये घट पट आदिके अभावमें उसका अभाव भी सिद्ध है कोई दोष नहीं ? सो भी ठीक नहीं। यदि संबंधियोंके अभावमें उनके विशेषोंका अभाव माना जायगा तब घट पट आदि पदार्थोंके

न माननेपर विज्ञान पदार्थ भी सिद्ध न हो सकेगा क्योंकि घट पट आदि ज्ञेय पदार्थोंके अभावमें विज्ञान किनका होगा ? इस रीतिसे जब यथार्थरूपसे एक मात्र विज्ञानकी सिद्धि न हो सकी तब निर्विकल्प (अवक्तव्य) वादियोंका कहना है कि हमें भी यही वात सिद्ध करनी थी कि संसारमें निर्विकल्पताके सिवा कोई पदार्थ नहीं है सो विना किसी कष्ट और प्रयत्नके उक्त तर्क प्रणाली सिद्ध हो गयी। इसलिये घरमें रत्नवृष्टि होनेसे जिसप्रकार परमानंद होता है उसी तरह विना किसी प्रयत्नके हमारे अभिमतकी सिद्धि हो जानेपर हमें भी आनन्द है। अतएव जिसमें किसी भी विकल्प—भेदका उदय नहीं हुआ है ऐसे निर्विकल्पक पदार्थको विषय करनेवाले निर्विकल्पक विज्ञानको प्रमाण मानना ही ठीक है जैसा कहा भी है—

शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते।
अनागमविकल्पा हि स्वयं विद्या प्रवर्तते ॥ १ ॥ इति

शास्त्रोंमें जो विज्ञानकी प्रक्रियाका भेद बतलाया है वह सब अविद्या है शास्त्रीय विकल्पोंसे रहित विद्याकी तो स्वयं प्रवृत्ति है। इसलिये निर्विकल्पक विज्ञानमात्र तत्वके माननेमें कोई दोष नहीं ? सो भी अयुक्त है। निर्विकल्पक विज्ञान ही संसारके अंदर है इस वातका निश्चय करानेवाला कोई प्रमाण नहीं। कहा भी है—

प्रत्यक्षबुद्धिः क्रमते न यत्र तल्लिंगगम्यं न तदर्थलिंगं।
वाचो न वा तद्विषयेण योगः का तद्गतिः कष्टमश्रृण्वतस्ते ॥ १ ॥

१ युक्त्यनुशासन श्लोक २२। 'कष्टमश्रृण्वतां ते' यह भी पाठ है।

अर्थात् बौद्धोंका माना हुआ जो विज्ञानाद्वैतवाद है वह न प्रत्यक्षका विषय है न अनुमानका विषय है वचनका भी उसके साथ संबंध नहीं हो सकता इसलिये हे भगवन् ! आपकी वातको न सुनने-वाले जो बौद्ध लोग हैं उनकी कष्टमय दशा है आपके मतका अवलंबन लिये विना वे अपने अभीष्ट तत्वकी सिद्धि नहीं कर सकते । इस रीतिसे बौद्धोंका कल्पनारहित प्रत्यक्ष प्रमाणका मानना और विज्ञान मात्र ही संसारके अंदर तत्व है इत्यादि कहना युक्ति और प्रमाणसे बाधित है ॥ १२ ॥

ऊपर कहे हुए प्रमाणके परोक्ष और प्रत्यक्ष भेदोंमें परोक्षज्ञानका आदिम भेद मतिज्ञानके विशेष भेद प्रतिपादन करनेके लिये सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

मतिःस्मृतिः संज्ञा चिंताभिनिबोध इत्यनर्थांतरं ॥ १४ ॥

मति स्मृति संज्ञा—प्रत्यभिज्ञान, चिंता—तर्क और अभिनिबोध—स्वार्थानुमान, आदि आपसमें अनर्थांतर हैं—एक ही अर्थका प्रतिपादन करते हैं ।

इतिशब्दस्यानेकार्थसंभवे विवक्षावशादाद्यर्थसंप्रत्ययः ॥ १ ॥

इति शब्दके अनेक अर्थ होते हैं जिस तरह—'हंतीति पलायते' मारता है इस कारण भागता है । 'वर्षतीति धावति' मेघ बरसता है इस कारण दौडता है यहांपर इति शब्दका अर्थ 'कारण' है । 'इति स्म उपाध्यायः कथयति' उपाध्याय ऐसा कहते थे यहांपर इति शब्दका अर्थ 'ऐसा' है। गौरश्वः शुक्लो नीलः चरति प्लवते जिनदत्तो देवदत्त इति अर्थात् गाय, घोडा, श्वेत नील, चरना कूदना देवदत्त, जिन-

दत्त इसप्रकारके शब्द। भावार्थ—गाय घोडा आदि प्रकारके शब्द जातिवाचक, श्वेत नील प्रकारके गुणवाचक, चरना कूदना आदि प्रकारके क्रियावाचक और देवदत्त जिनदत्त आदि प्रकारके संज्ञावाचक होते हैं। यहांपर इति शब्दका अर्थ प्रकार है। 'ज्वलितिकसंताण्णः' ज्वलसे लेकर कस पर्यंत धातुओंसे ण प्रत्यय होता है यहांपर इतिशब्दका अर्थ व्यवस्था है क्योंकि इहां इतिशब्दसे ज्वल और कस धातुओंके बीचमें गिनी गई बल आदि अनेक धातुओंकी व्यवस्था की गई है। 'गौरित्ययमाह' यह गौ कहता है यहांपर इति शब्दका अर्थ विपर्यास है क्योंकि यहांपर 'जो गौ नहीं है उसे गौ कहता है' इस विपरीत अर्थको इतिशब्दसे सूचित किया है। 'प्रथमाह्निकमिति, द्वितीयाह्निकमिति' प्रथमाह्निक समाप्त हुआ, द्वितीयाह्निक समाप्त हुआ, यहां पर इति शब्दका अर्थ समाप्ति है। श्रीदत्तमिति, सिद्धसेनमिति, यह श्रीदत्तका कहना है, यह सिद्धसेनका कहना है यहां पर इति शब्दका शब्दोंका उत्पन्न करना वा कहना अर्थ है। इत्यादि अनेक इति शब्दके अर्थ हैं परन्तु सूत्रमें जो इति शब्द है उसका आदि अर्थ विवक्षित है इसलिये उसका आदि अर्थ समझना चाहिये। अर्थात् मति स्मृति संज्ञा चिंता और अभिनिबोध आदि सबका एक ही अर्थ है भिन्न नहीं। यहांपर जो इतिशब्दका आदि अर्थ किया गया है उससे प्रतिभा बुद्धि उपलब्धि आदिका ग्रहण है। वे भी अनर्थांतर ही हैं। अथवा इतिशब्दका यहां प्रकार अर्थ है अर्थात् मति आदिकी तरहके शब्द एक ही अर्थके बोधक हैं। मति आदिको एक ही अर्थका बोधकपना इसप्रकार है—

मतिज्ञानावरणक्षयोपशमनिमित्तार्थोपलब्धिविषयत्वादनर्थांतरत्वं रूढिवशात् ॥ २ ॥

मति आदिसे जो पदार्थोंका ज्ञान होता है उसमें मतिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम समानरूपसे कारण पडता

है किंतु यह बात नहीं कि मतिमें मतिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम कारण हो और स्मृति आदिमें अन्य किसी कर्मका क्षयोपशम कारण हो अतः मति आदि शब्द एकही अर्थके कहनेवाले हैं यदि यह कहा जाय कि 'मननं मतिः' जिससमय यह भावसाधन व्युत्पत्ति की जायगी उससमय मतिका अर्थ मानना होगा और जिस समय 'मन्यते इति मतिः' यह कर्मसाधन व्युत्पत्ति की जायगी उससमय जिसके द्वारा माना जाय वह मति है यह अर्थ होगा इसीतरह स्मृति शब्दकी भावसाधन व्युत्पत्ति करने पर 'याद करना' यह उसका अर्थ होगा और कर्मसाधन माननेपर जिसके द्वारा याद किया जाय यह अर्थ होगा, इत्यादि रूपसे जब मति आदिका अर्थ भिन्न भिन्न है तब मति अदि एकार्थवाचक नहीं माने जा सकते ? सो ठीक नहीं। 'गच्छतीति गौः' जो गमन करे वह गाय है, इस व्युत्पत्तिसे गौ शब्दका, गमन करना अर्थ सिद्ध होता है तो भी व्युत्पत्ति बलसे होनेवाले गमन अर्थको छोडकर रूढिबलसे उसका गाय अर्थ लिया जाता है उसीप्रकार मति स्मृति आदि शब्दोंका व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ जुदा जुदा है तो भी रूढिसे वे एक ही अर्थके वाचक हैं—मतिज्ञानके ही पर्यायांतर हैं भिन्न नहीं। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

शब्दभेदादर्थभेदो गवाश्वादिवदिति चेन्नातः संशयात् ॥ ३ ॥ इंद्रादिवत् ॥ ४ ॥

जिसप्रकार गाय घोडा आदि शब्द भिन्न भिन्न हैं इसलिये उनका अर्थ भी भिन्न भिन्न है एक अर्थ नहीं माना जाता उसी प्रकार मति स्मृति आदि शब्द भी आपसमें भिन्न भिन्न हैं उनका भी एक अर्थ नहीं मानना चाहिये किंतु गाय घोडा आदि शब्दोंके समान भिन्न भिन्न अर्थ ही मानना उचित है इसतरह मति आदि शब्दोंके भेदसे जब उनका भिन्न भिन्न ही अर्थ युक्तिसे सिद्ध होता है तब उन्हें

अनर्थांतर मानना अयुक्त है ? सो भी ठीक नहीं क्योंकि शब्दके भेदसे जो मति स्मृति आदिके भेदकी शंका की जाती है उससे तो यह संशय और उठ खडा होता है कि शब्दभेदसे अर्थभेद होता है या नहीं ? क्योंकि इंद्र शक्र पुरंदर आदि शब्दोंके भिन्न भिन्न रहते भी उन सबका अर्थ एकही शचीपति होता है। भिन्न भिन्न नहीं यदि शब्दोंके भेदसे अर्थ भी भिन्न होता तो एक ही शचीपति अर्थके वाचक इंद्र आदि शब्दोंके भेदसे उनका भी अर्थ भेद होना चाहिये था परंतु सो नहीं इसलिये जिसतरह इंद्र आदि शब्दोंके भेद रहनेपर भी उनका अर्थभेद नहीं माना जाता—सबका एक शचीपति ही अर्थ होता है उसीप्रकार मति आदि शब्दोंके भिन्न रहते भी उनके अर्थमें भेद नहीं—सब मतिज्ञानके ही पर्यायांतर हैं। यहां पर यह बात और भी समझ लेना चाहिये कि जिससे संशय होता है उससे कभी पदार्थका निश्चय नहीं हो सकता और जिससे पदार्थोंका निश्चय होता है उससे कभी संशय नहीं हो सकता। गाय और घोडा आदि शब्दोंका भिन्न भिन्न अर्थ रहनेसे यह संशय होता है कि शब्दके भेदसे अर्थका भेद होता है या नहीं ? इसलिये शब्दोंके भेदसे अर्थका भेद ही होता है यह बात निश्चितरूपसे नहीं मानी जाती परन्तु एक ही शचीपति अर्थके बोधक अनेक इंद्र आदि शब्दोंके रहते यह निश्चय हो जाता है कि शब्दोंका भेद रहते भी एक भी अर्थ होता है इस रीतिसे, इस दृष्टांतसे यह बात निश्चित हो जाती है कि 'अनेक शब्द भी एक अर्थके बोधक होते हैं' तब मति आदि शब्दोंका एक ही अर्थ है—वे मतिज्ञानके पर्यायांतर ही हैं, इस बातके माननेमें कोई भी विवाद नहीं हो सकता। और भी यह बात है कि—

शब्दभेदेप्यर्थैकत्वप्रसंगात् ॥ ५ ॥

जिस वादीका यह सिद्धांत है कि जहां पर शब्दभेद है वहां पर नियमसे अर्थभेद है—शब्दभेद

अर्थभेदमें कारण है उसके मतमें यह नियम भी माना जा सकेगा कि जहां पर शब्द तो एक है और अर्थ अनेक हैं वहां पर शब्दाभेद—एक ही शब्दके रहनेसे वे सब अर्थ भी एक ही हैं इसरीतिसे एक ही गो शब्दके वाणी पृथ्वी गाय आदि नौ अर्थ हैं उन सबको एक ही मानना पडेगा परंतु गोशब्दके वे सब अर्थ भिन्न भिन्न हैं इसलिये उन्हें एक नहीं माना गया—नौ ही अर्थ माने गये हैं इसलिये जिसतरह शब्दके अभेद रहनेपर अर्थोंका अभेद नहीं माना जाता उसीतरह शब्दोंके भेद रहते अर्थका भी भेद नहीं माना जा सकता। तथा—

आदेशवचनात् ॥ ६ ॥

वास्तवमें मति आदिका आपसमें कथंचिद्भेदाभेद है क्योंकि जिसतरह इंद्र—आदि अनेक शब्द एक ही शचीपति अर्थके बोधक हैं इसलिये एक द्रव्य पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा वे सब एक हैं किंतु जिससमय प्रतिनियत पर्यायार्थिक नयकी विवक्षा की जाती है उससमय ऐश्वर्यका भोक्ता होनेसे इंद्र, समर्थ होनेसे शक्र और पुरोंका विदारण करनेसे पुरंदर इसप्रकार ये भिन्न भिन्न पर्याय शब्द हैं इसलिये प्रतिनियत पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा इंद्र आदि अनेक भी हैं। उसीतरह मति आदिमें जिससमय एक द्रव्यपर्याय नयकी विवक्षा की जायगी उससमय मति स्मृति आदि एक ही मतिज्ञानरूप अर्थके बोधक हैं इसलिये द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा एक हैं और जिससमय प्रतिनियत पर्यायार्थिक नयकी विवक्षा की जायगी उससमय मानना मति, याद करना स्मृति, पूर्व और उत्तर अवस्थाका एकरूप ज्ञान संज्ञा, व्याप्ति ज्ञान होना चिंता और स्वयं हेतुसे साध्यका जान लेना आभिनिबोध इसप्रकार मति आदिका भेद भी है इसलिये पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा मति आदिक आपसमें भिन्न भिन्न अनेक भी हैं। अतः मति

आदि अनर्थांतर नहीं किंतु भिन्न भिन्न ज्ञान हैं यह एकांतरूपसे नहीं कहा जा सकता। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

पर्यायशब्दो लक्षणं नेति चेन्न ततोऽनन्यत्वात् ॥ ७ ॥ औष्ण्याग्निवत् ॥ ८ ॥

मति आदिको मतिज्ञानका पर्याय बतलाया है और उन्हें मतिज्ञानका लक्षणस्वरूप माना है परंतु वह बात ठीक नहीं जिसतरह मनुष्यकी मानव मर्त्य नर आदि अनेक पर्यायें हैं परंतु वे लक्षण नहीं हो सकते उसीतरह मति आदि भी मतिज्ञानके पर्यायांतर हैं इसलिये ये भी मतिज्ञानके लक्षण नहीं कहे जा सकते ? सो नहीं। जिसतरह उष्णता अग्निकी पर्याय है और पर्यायी—अग्निसे अभिन्न है इसलिये अग्निका लक्षण कही जाती है उसीतरह मतिज्ञानके पर्याय जो मति आदिक हैं वे भी अपने पर्यायी मतिज्ञानसे अभिन्न हैं इसलिये उन्हें मतिज्ञानका लक्षण मानना अयुक्त नहीं कहा जा सकता इसरीतिसे जो पर्याय अपने पर्यायी पदार्थोंसे अभिन्न हैं उन्हें लक्षण माननेमें किसीप्रकारकी आपत्ति नहीं।

अथवा इस रूपसे भी पर्यायी पदार्थोंसे अभिन्न पर्याय लक्षण कहे जाते हैं। जिसतरह—मनुष्य मर्त्य मनुज मानव आदि पर्याय मनुष्यके सिवाय घट आदि द्रव्यकी न होनेसे असाधारण और मनुष्यसे अभिन्न हैं इसलिये वे मनुष्यके लक्षण हैं। यदि मनुष्य आदि पर्यायोंको मनुष्यका लक्षण न माना जायगा तो स्वस्वरूपके अभावमें मनुष्यका अभाव ही हो जायगा क्योंकि मनुष्य मर्त्य आदि पर्यायस्वरूप लक्षणके सिवाय मनुष्यका अन्य कोई लक्षण नहीं। मनुष्य पदार्थका अभाव तो इष्ट है नहीं इसलिये मनुष्य आदि पर्यायोंको मनुष्यका लक्षण मानना ही पडेगा उसीतरह मति स्मृति आदि पर्याय मतिज्ञानके सिवाय अन्य ज्ञानकी न होनेके कारण असाधारण और मतिज्ञानसे अभिन्न हैं इसलिये वे मति-

ज्ञानके लक्षण हैं "यदि मति आदिको मतिज्ञानका लक्षण न माना जायगा तो मतिज्ञानका अभाव ही हो जायगा क्योंकि मति आदि पर्यायस्वरूप लक्षणके सिवाय मतिज्ञानका अन्य कोई लक्षण नहीं" इस-लिये मति आदि पर्यायोंको मतिज्ञानका लक्षण मानना ही पडेगा इसरीतिसे पर्याय शब्दको लक्षण मानना युक्तिसंगत है। तथा इसरूपसे पर्याय शब्द लक्षण है–

गत्वा प्रत्यागतलक्षणग्रहणात् ॥ ९ ॥ अग्न्युष्णवत् ॥ १० ॥

जहांपर जाकर फिर लौटनारूप कार्य जान पडे वह भी लक्षण कहा जाता है यथा—यह पदार्थ अग्नि है ऐसा जानकर चित्तमें यह प्रश्न उठता है कि यह कौन अग्नि है ? फिर वहीं समाधान होजाता है जो उष्ण है वह यह अग्नि है इसलिए यहांपर अग्नि ऐसा जानकर बुद्धि उष्ण पर्यायकी ओर झुकती है तथा उष्ण ऐसा जानकर यह प्रश्न होता है कि यह कौन उष्ण है ? फिर वहीं समाधान होजाता है कि जो अग्नि है वह उष्ण है इसलिए यहांपर 'उष्ण' ऐसा जानकर बुद्धि पीछे लौटकर फिर अग्निकी ओर झुकती है इसरीतिसे यहांपर जाकर फिर लौटनारूप कार्यके ग्रहण होनेसे जिसप्रकार उष्ण पर्याय अग्नि का लक्षण माना जाता है उसीप्रकार 'यह मति है' ऐसा जाननेके बाद यह प्रश्न उठता है कि यह कौन मति है फिर वहीं समाधान होजाता है कि 'जो स्मृति है वह यह मति है' इसलिए यहांपर 'मति' ऐसा जानकर बुद्धि स्मृति रूप पर्यायकी ओर झुकती है तथा यह स्मृति है ऐसा जानकर यह प्रश्न होता है कि यह कौन स्मृति है ? फिर उसीसमय समाधान होजाता है कि जो मति है वह स्मृति है इसलिए यहांपर स्मृति ऐसा जानकर बुद्धि फिर पीछे लौटकर स्मृतिकी ओर झुकती है इसलिए यहांपर जाकर फिर लौटनारूप कार्यके ग्रहण होनेसे मति आदि भी मतिज्ञानके लक्षण होसकते हैं इसरीतिसे जहांपर जाकर

फिर लौटनारूप कार्यका ग्रहण होता है वहांपर पर्यायशब्द लक्षण माना जाता है यह बात निश्चित है तब
जाकर लौटनारूप कार्यका ग्रहण उष्णके समान मति आदिकमें भी होता है इसलिए उष्णपर्याय जिसतरह
अग्निका लक्षण है उसतरह मति आदि पर्याय भी बिना किसी बाधाके मतिज्ञानके लक्षण हैं । वास्तवमें
'जाकर लौटना रूप कार्य' गुण गुणी और पर्याय पर्यायीमें ही हो सकता है अन्यत्र नहीं । गुण और
पर्याय पदार्थके लक्षण माने गए हैं इसलिए मति आदि पर्यायोंको मतिज्ञानका लक्षण मानना कभी
आपत्तिजनक नहीं हो सकता । और भी यह बात है कि—

पर्यायद्वैविध्यादग्निवत् ॥ ११ ॥

प्रत्येक पदार्थके दो प्रकारके पर्याय माने गए हैं एक आत्मभूत जो उस पदार्थसे कभी जुदे नहीं हो सकते
तत्स्वरूपही रहते हैं दूसरे अनात्मभूत जो बाह्यनिमित्तसे उत्पन्न होते हैं और उस बाह्य निमित्तकी जुदाई हो
जानेपर पदार्थसे जुदे होजाते हैं उनमें जो आत्मभूत पर्याय हैं वेही लक्षण होते हैं अनात्मभूत नहीं अग्नि पदार्थ
मेंभी आत्मभूत और अनात्मभूत दोनों प्रकारके पर्याय मौजूद हैं उनमें आत्मभूतपर्याय अग्निका उष्णपना है
क्योंकि किसी भी हालतमें वह अग्निसे जुदा नहीं होसकता इसलिए वही लक्षण है । तथा अनात्मभूत
लक्षण अग्निका धूआं है क्योंकि वह अपनी उत्पत्तिमें इंधन आदि बाह्य कारणोंकी अपेक्षा रखता है ।
वे कारण रहते हैं तबतक उसका अग्निके साथ संबंध रहता है और कारणोंकी जुदाई हो जानेपर अग्निसे
जुदा होजाता है इसलिए सदा अग्निमें न रहनेसे धूम पर्याय अग्निका लक्षण नहीं कहा जासकता ।
इसरीतिसे जिसतरह आत्मभूत होनेसे उष्ण पर्याय अग्निका लक्षण कहाजाता है धूम पर्याय नहीं
क्योंकि वह सदा अग्निमें न रहनेकेकारण अनात्मभूत है उसीतरह मतिज्ञानके भी आत्मभूत और अ-

नात्मभूत दोनों प्रकारके पर्याय हैं उनमें अंतरंग ज्ञान स्वरूप मति आदि आत्मभूत पर्याय हैं और वाह्य पुद्गलस्वरूप मति आदि शब्द अनात्मभूत पर्याय हैं क्योंकि मति आदि शब्दोंकी उत्पत्ति वाह्य कर्णइंद्रियके प्रयोगके आधीन है। वहांपर आत्मभूत होनेसे ज्ञानस्वरूप मति आदि पर्याय मतिज्ञानके लक्षण हैं, अनात्मभूत मति आदि शब्द सदा मति ज्ञानमें रहते नहीं इसलिए वे लक्षण नहीं कहे जासकते। इस रीतिसे जब ज्ञानस्वरूप अंतरंग मति आदि पर्यायोंको मतिज्ञानका लक्षणपना सिद्ध है तब 'पर्याय लक्षण नहीं होसकते' यह कथन व्यर्थ होजाता है।

इतिकरणस्य वाभिधेयार्थत्वात् ॥ १२॥

पहिले इतिशब्दका आभिप्राय बतला दिया जाचुका है अब अन्य रूपसे उसका यह आभिप्राय वतलाया जाता है अथवा सूत्रमें जो इति शब्द कहा गया है उसका अर्थ 'अर्थ' है और उससे—मति स्मृति संज्ञा चिंता और अभिनिबोधसे जो अर्थ कहाजाय वह मति ज्ञान है यह सूत्रका अर्थ होता है इसरीतिसे जब मति आदिका अर्थही मतिज्ञान ठहरा तब मति आदि मतिज्ञानसे भिन्न नहीं हो सकते इसलिए उन्हें मतिज्ञानका लक्षण मानना निर्विवाद है। यदि यहांपर कदाचित् यह शंका हो कि जिसप्रकार मति स्मृति आदिसे मतिज्ञान कहा जाता है उसप्रकार श्रुतज्ञान आदि भी कहे जा सकेंगे उसका उत्तर वार्तिककार देते हैं—

श्रुतादीनामेतैरनभिधानात् ॥ १३ ॥ वक्ष्यमाणलक्षणसद्भावाच्च ॥ १४ ॥

जिसतरह मति आदिसे मतिज्ञान कहा जाता है उसतरह श्रुतज्ञान आदि नहीं कहे जा सकते क्योंकि श्रुतज्ञान आदिका मतिज्ञानके लक्षणसे भिन्न लक्षण आगे विस्तारसे कहा है इसलिये वे मतिज्ञानस्वरूप नहीं हो सकते ॥ १३ ॥

मति स्मृति आदि लक्षण स्वरूप मतिज्ञान अच्छीतरह निश्चित हो चुका अब उसकी उत्पत्ति किन किन कारणोंसे होती है इस बातको सूचित करनेकेलिए सूत्रकारने 'तदिंद्रियानिंद्रियनिमित्तं' इस सूत्रका उलेख किया है। अथवा सभी ज्ञान आत्माकी पर्याय हैं—आत्मस्वरूप हैं इसलिये आत्मस्वरूपकी अविशेषतासे वे सब एक न कहाये जावें किंतु निमित्तके भेदसे जुदे जुदे ही माने जावें इस बातको हृदयमें रख सब ज्ञानोंसे मतिज्ञानको भिन्न सिद्ध करनेकेलिए सूत्रकारने 'तदिंद्रियानिंद्रियनिमित्तं' इस सूत्रसे मतिज्ञानके निमित्त—कारण बतलाये हैं—

तदिंद्रियानिंद्रियनिमित्तं ॥ १४ ॥

जिस मतिज्ञानका ऊपर वर्णन कर आए हैं उस मतिज्ञानकी उत्पत्ति पांच इंद्रिय और मनसे होती है। वार्तिककार इंद्रिय शब्दका अर्थ बतलाते हैं—

इंद्रस्यात्मनोऽर्थोपलब्धिलिंगमिंद्रियं ॥ १ ॥

इंद्रका अर्थ आत्मा है। ज्ञानावरण आदि कर्मोंसे मलिन रहनेके कारण आत्मा जब स्वयं पदार्थों को नहीं जान सकता उससमय उसे पदार्थोंके जनावनेमें जो कारण है वह इंद्रिय पदार्थ कहा जाता है क्योंकि ज्ञानावरण आदि कर्मोंके तीव्र क्षयोपशम और क्षय रहनेके कारण प्रत्यक्ष ज्ञानोंमें इंद्रियोंकी आवश्यकता नहीं पडती वहांपर स्वयं आत्मा पदार्थोंको जानने लग जाता है परन्तु परोक्ष ज्ञान, इंद्रियों की सहायताके विना नहीं हो सकता—उस अवस्थामें इंद्रियोंकी सहायतासे ही आत्मा पदार्थोंको जान सकता है इसलिये कर्मोंसे मलिन आत्माको पदार्थोंके जनावनेमें जो पदार्थ कारण है उसे इंद्रिय माना है। अब अनिंद्रिय शब्दका अर्थ बतलाते हैं—

आनिंद्रियं मनोऽनुदरावत् ॥ २ ॥

मन जिसको कि अंतःकरण भी कहा जाता है वह अनिंद्रिय पदार्थ है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि 'जो इंद्रिय न हो वह अनिंद्रिय है' यह अनिंद्रिय शब्दका अर्थ है इसलिये जिसतरह 'अब्राह्मण-मानय' इत्यादि स्थलोंमें ब्राह्मण जातिसे भिन्न जातिवाले मनुष्यका बोध होता है और वहां ब्राह्मणको न बुला वैश्य आदिको बुला दिया जाता है उसी तरह अनिंद्रिय ऐसा कहनेपर इंद्रियसे भिन्न घट पट आदिका ही बोध हो सकता है आत्माके लिंगस्वरूप मनका बोध नहीं हो सकता इसलिये अनिंद्रिय का अर्थ मन नहीं लिया जा सकता ? सो ठीक नहीं। जिसतरह 'अनुदरा कन्या' यहांपर जिसके पेट नहीं है वह यह कन्या है यह अर्थ नहीं लिया जाता क्योंकि सर्वथा पेटरहित कन्याका होना ही संसार में असंभव है किंतु इस कन्याका पेट बहुत ही सूक्ष्म है इसलिये यह गर्भका भार नहीं वहन कर सकती यह उस 'अनुदरा' शब्दका अर्थ लिया जाता है उसी तरह—जो सर्वथा इंद्रिय नहीं है वह अनिंद्रिय है यह अनिंद्रिय शब्दका अर्थ नहीं किंतु जिस प्रकार नेत्र आदि इंद्रियोंका रहनेका स्थान और पदार्थोंके जाननेकी अवधि निश्चित है उस प्रकार मनका रहनेका स्थान विषयोंके जाननेकी अवधि निश्चित नहीं किंतु वह अपने रहनेका स्थान और पदार्थोंके जाननेकी अवधिसे रहित होकर ही आत्माको पदार्थोंके ज्ञान करानेमें लिंग है इसलिये 'जो ईषत् इंद्रिय हो वह अनिंद्रिय—मन है' यह अनिंद्रिय शब्दका अर्थ है। ऊपरका दृष्टांत जो शंकाकारकी ओरसे दिया गया है वह भी सिद्धांतानुकूल ही घटित होता है जैसे अब्राह्मण कहनेसे ब्राह्मण भिन्न ब्राह्मण सदृश वैश्य क्षत्रिय वर्णवाले मनुष्यका ही ग्रहण किया जाता है न कि ब्राह्मण भिन्न घट पट आदि जड द्रव्योंका। उसीप्रकार इंद्रिय भिन्न कहनेसे इंद्रिय भिन्न इंद्रिय तुल्य—मनका ही ग्रहण किया जाता है न कि इंद्रियभिन्न किसी अनुपयोगी पदार्थका। तथा—

अंतरंगं तत्करणमिंद्रियानपेक्षत्वात् ॥ ३ ॥

जिसको अपने कार्यके करनेमें इंद्रियोंकी अपेक्षा न हो वह इंद्रियानपेक्ष कहा जाता है। मन जिस समय गुण और दोषोंका विचार करनारूप अपने विषयमें प्रवृत्त होता है उस समय उसे किसी भी इंद्रिय की अपेक्षा नहीं करनी पडती इसलिये वह अंतरंग इंद्रिय है। इस रीतिसे जो ज्ञान पांच इंद्रिय और मनके अवलंबनसे हो वह मतिज्ञान है इसप्रकार मतिज्ञानके कारणोंका निर्दोषरूपसे निश्चय हो चुका।

शंका—

तदित्यग्रहणमनंतरत्वादिति चेन्नोत्तरार्थत्वात् ॥ ४ ॥

इस सूत्रसे पहिले सूत्रमें मतिज्ञानका ही वर्णन किया गया है इसलिये अत्यंत अव्यवहित होनेसे 'तदिंद्रियानिंद्रियनिमित्तं' इस सूत्रमें मतिज्ञानकी ही अनुवृत्ति आवेगी और उसीके इंद्रिय और अनिंद्रिय कारण माने जांयगे, अन्य किसी पदार्थके नहीं माने जा सकते फिर मतिज्ञानके ग्रहण करनेके लिये जो सूत्रमें तत् शब्दका ग्रहण किया गया है वह व्यर्थ है? सो ठीक नहीं। आगेके सूत्रोंमें भी मतिज्ञानका संबंध है इसलिये उनके अर्थको सुगमतासे खुलासा करनेके लिये सूत्रमें 'तत्' शब्दका उल्लेख किया गया है यदि इस सूत्रमें तत् शब्दका उल्लेख नहीं किया जाता तो 'अवग्रहेहावायधारणाः' इस आगेके सूत्रका अवग्रह ईहा अवाय धारणा ये भेद मतिज्ञानके हैं यह अर्थ नहीं जाना जा सकता किंतु इंद्रिय और अनिंद्रियके भेद हैं यह भी शंका हो जाती परन्तु 'तत्' शब्दके ग्रहण करनेसे अवग्रह आदि मतिज्ञानके भेद हैं यह सुगमरूपसे अर्थ हो जाता है इसलिये तत् शब्दका उल्लेख व्यर्थ नहीं ॥ १४ ॥

इंद्रिय और अनिंद्रियरूप मतिज्ञानके कारणोंका वर्णन हो चुका और उससे उसका स्वरूप भी

प्रगट हो चुका परन्तु उसके कितने भेद हैं? अभी तक यह बात नहीं कही गई इसलिये सूत्रकार अब मति-ज्ञानके भेदोंका वर्णन करते हैं—

अवग्रहेहावायधारणाः ॥ १५ ॥

अवग्रह ईहा अवाय और धारणा ये चार भेद मतिज्ञानके हैं।

विषयविषयीसन्निपातसमनंतरमाद्यग्रहणमवग्रहः ॥ १ ॥

जिस पदार्थको जाना जाता है वह विषय है और जिसके द्वारा जाना जाता है वह विषयी कहा जाता है। इंद्रियोंके द्वारा पदार्थ जाने जाते हैं इसलिये यहां विषयी शब्दसे इंद्रियोंका ग्रहण है और विषयका अर्थ घट पट आदि हैं। जिस समय पदार्थ और इंद्रियोंका आपसमें संबंध होता है उस समय पदार्थका दर्शन होता है और उसके बाद जो पदार्थका ग्रहण होता है वह ज्ञान कहा जाता है उस ज्ञान का नाम अवग्रह है। अर्थात् विशेषज्ञानशून्य जो पदार्थोंका इंद्रियों द्वारा सामान्य अवलोकन होता है उसे सत्ता कहते हैं। जिस समय इंद्रियां पदार्थज्ञानकी ओर झुकती हैं उस समय पदार्थोंके ज्ञानमें कारण-भूत योग्य संबंधके होनेपर ज्ञानमें 'कुछ है' ऐसा सामान्य बोध होता है वह दर्शन कहा जाता है। उसके बाद यह पदार्थ 'पुरुष है' इसप्रकार अवांतर जा[1]तिविशिष्ट वस्तुका ग्रहण होता है वह ज्ञान कहा जाता है उसी ज्ञानका नाम अवग्रह है।

अवगृहीतेऽर्थे तद्विशेषाकांक्षणमीहा ॥ २ ॥

जिस पदार्थको अवग्रह ज्ञानने विषय कर लिया है उस पदार्थके भाषा उम्र और रूप आदिके द्वारा

१ जातिसे प्रयोजन धर्मका है, वस्तुके धर्मको छोड़कर जो कि वस्तुस्वरूप ही है और कोई स्वतंत्र जाति या अलग पदार्थ नहीं है।

विशेष रूपसे जाननेकी आकांक्षा होना ईहा ज्ञान है। अर्थात् 'यह पुरुष है' यह अवग्रह ज्ञानका विषय है उसकी बोल चाल उम्र और रूप आदि देखकर यह दक्षिणी है वा उत्तरी है इस संशयके वाद दक्षिणी होना चाहिये ऐसा जो एक ओर झुकता हुआ ज्ञान होता है वह ईहा ज्ञान कहा जाता है।

विशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवायः ॥ ३ ॥

बोल चाल, उम्र आदि विशेषोंको जानकर उसका यथार्थ जानना अवायज्ञान है जिसतरह इस पुरुषकी भाषा दक्षिणी है इसलिये यह दक्षिणी है, युवा और गोरवर्णका है।

निर्ज्ञातार्थाऽविस्मृतिर्धारणा ॥ ४ ॥

बोल चाल, उम्र, रूप आदि विशेषों द्वारा जिस पुरुषका यथार्थरूपसे निश्चय हो चुका है कालांतर में उसे भूल जाना नहीं किंतु 'यह वही है' ऐसे स्मरणका बना रहना जिस ज्ञानके द्वारा हो वह धारणा ज्ञान है इसप्रकार ये अवग्रह आदि चारों भेद मतिज्ञानके हैं। अवग्रहके वाद ईहा, ईहाके वाद अवाय यह जो क्रमसे अवग्रह आदिका सूत्रमें उलेख किया गया है वह क्यों और कैसे है? यह बात वार्तिककार कहते हैं—

अवगृहादीनामानुपूर्व्यमुत्पत्तिक्रियानपेक्षं ॥ ५ ॥

ईहादिक ज्ञान विना अवग्रहके नहीं हो सकते किंतु अवग्रहपूर्वक ही होते हैं इसलिये अवग्रह आदि चारों भेदोंमें सबसे पहिले अवग्रहका उलेख है। अवाय और धारणा ईहापूर्वक होते हैं इसलिये अवग्रहके वाद ईहाका कथन है। धारणा ज्ञान अवायपूर्वक होता है इसलिये ईहाके वाद अवायका

कथन है। धारणा ज्ञान सबके अंतमें होता है इसलिये सबके अंतमें धारणा ज्ञान रक्खा गया है इसप्रकार उत्पत्तिके क्रमकी अपेक्षा अवग्रह आदिका क्रमसे उल्लेख है। शंका—

अवगृहेहयोरप्रामाण्यं तत्सद्भावेऽपि संशयदर्शनाच्चक्षुर्वत् ॥ ६ ॥

अवगृहवचनादिति चेन्न संशयानतिवृत्तेरालोचनवत् ॥ ७ ॥

जिसतरह नेत्रके रहते भी यह स्थाणु है कि पुरुष है? इसप्रकारका संशय दीख पडता है किंतु यह पुरुष ही है वा स्थाणु ही है इसप्रकारका निर्णय नहीं होता उसीतरह अवग्रहके रहते भी यह पुरुष दक्षिणी है वा उत्तरी है? इसप्रकारका संशय रहता है किंतु यह दक्षिणी ही है वा उत्तरी ही है इसप्रकारका निर्णय नहीं होता इसीलिये निर्णयके न होनेसे ईहा ज्ञानका अवलंबन किया जाता है तथा इसीतरह ईहाके रहते भी निर्णय नहीं होता कि—यह दक्षिणी ही है वा उत्तरी ही है क्योंकि निर्णयकेलिये ईहा ज्ञानका अवलंबन किया जाता है, स्वयं ईहा निर्णयस्वरूप नहीं तथा जो ज्ञान निर्णयस्वरूप नहीं होता वह संशयकी जातिका समझा जाता है इसीलिये जिसतरह संशय ज्ञानको अप्रमाण माना है उसीतरह अवग्रह और ईहाज्ञान भी अप्रमाण है।

यदि यहांपर यह कहा जाय कि अवग्रहका कथन सम्यग्ज्ञानके भेदोंमें है और जितना अवग्रहका विषय माना गया है उतने विषयका इससे यथार्थ ज्ञान होता है इसलिये अवग्रह संशय नहीं कहा जा सकता तथा 'यह पुरुष है' यह जो अवग्रहका विषय माना है उसके बोल चाल वय और रूप आदिके द्वारा विशेष रूपसे जाननेकी इच्छाका होना ईहा कहा गया है यहांपर भी ईहाका जो विषय माना गया है उतने विषयका यथार्थ ज्ञान है इसलिये यह भी संशय नहीं हो सकता क्योंकि संशयमें यथार्थ ज्ञान-

संशयकी जातिके नहीं कहे जा सकते ? सो ठीक
पना थोडा भी नहीं इसलिये अवग्रह और ईहा ज्ञान संशयकी जातिके नहीं कहे जा सकते ? सो ठीक
नहीं। अवग्रहको तो संशयका जातीय मानना ही पडेगा क्योंकि संशयज्ञानमें दूरसे किसी पुरुषाकार
ऊंचे उठे पदार्थके देखनेसे यह ऊंचा पदार्थ स्थाणु है या पुरुष है ? इसप्रकारका संशय होता ही है रुकता
नहीं। उसीप्रकार 'यह पदार्थ ऊंचा है' इस प्रकारके अवग्रह ज्ञानके बाद भी यह पुरुषाकार ऊंचा पदार्थ
'स्थाणु है या पुरुष है' यह संशय भी होता ही है अतः अवग्रहज्ञान संशयज्ञान है इसीलिये तो अवग्रहके
बाद ईहा ज्ञानकी अपेक्षा करनी पडती है इस रीतिसे जब संशयज्ञानके समान अवग्रह ज्ञान भी संशयमें
कारण है तब अवग्रहज्ञानको सम्यग्ज्ञानका भेद नहीं माना जा सकता ? सो नहीं। क्योंकि—

लक्षणभेदादन्यत्वमग्निजलवत् ॥ ८ ॥ अनेकार्थानिश्चितापर्युदासात्मकसंशयस्तद्विपरीतोऽवग्रहः ॥ ९ ॥

अग्निका जलाना, प्रकाश करना आदि लक्षण है और जलका बहना चिकनापन आदि लक्षण
है इसलिये अपने अपने लक्षणोंके भेदसे जिसतरह अग्नि और जल पदार्थ आपसमें जुदे हैं उसी प्रकार
अवग्रह और संशयका भी लक्षणोंके भेदसे आपसमें भेद है क्योंकि—संशयज्ञान स्थाणु पुरुष आदि अनेक
पदार्थोंके सहारेसे होता है इसलिये अनेक पदार्थात्मक है और अवग्रह पुरुष आदि एक ही पदार्थके
अवलंबनसे होता है इसलिये एकपदार्थात्मक है। संशयज्ञानसे स्थाणुके धर्म और पुरुषके धर्मोंका निश्चय
नहीं होता इसलिये वह स्थाणु और पुरुषके अनेक धर्मोंका अनिश्चयस्वरूप है और अवग्रहसे पुरुष
आदि किसी एक धर्मका निश्चय होता है इसलिये वह एक धर्मका निश्चायक है। एवं संशयज्ञानसे न तो
स्थाणुमें रहनेवाले धर्मोंका निषेध होता है और न पुरुषमें रहनेवाले धर्मोंका निषेध होता है इसलिये वह
स्थाणु और पुरुषके अनेक धर्मोंका अनिषेधक है और अवग्रह अन्य पर्यायोंका निषेधकर एकमात्र पुरुष

पर्यायका अवलंबन करता है इसलिये वह अन्य धर्मोंका निषेधक है इस रीतिसे जव अवग्रहज्ञान और संशयज्ञानमें लक्षणोंके भेदसे जमीन आकाशका भेद है तव कभी अवग्रहज्ञान संशयज्ञान नहीं कहा जा सकता । शंका—

संशयतुल्यत्वमपर्युदासादिति चेन्न निर्णयाविरोधात्संशयस्य ॥ १० ॥

जिसतरह संशयसे स्थाणु और पुरुषके विशेषोंका निषेध नहीं होता इसलिये वह स्थाणु और पुरुषके विशेषोंका अनिषेधक है उसीतरह अवग्रहसे भी पुरुषके बोल चाल उम्र और रूप आदि का निषेध नहीं होता इसलिये वह भी भाषा आदिका अनिषेधक है इसीलिये वह उत्तरकालमें वोलचाल आदि विशेषों के निश्चय करनेकेलिये ईहा ज्ञानका अवलंबन करता है इसरीतिसे संशयज्ञान और अवग्रहज्ञान जव दोनोंका विषय एक है तो अवग्रहज्ञानको संशयज्ञान मानना अयुक्त नहीं ? सो ठीक नहीं । संशयके रहते निर्णय नहीं होता अवग्रहके रहते निर्णय होता है इसलिये संशय तो निर्णय का विरोधी है और अवग्रह निर्णयका विरोधी नहीं किंतु निर्णय करानेवाला है अर्थात् संशयज्ञानमें तो स्थाणु और पुरुष दोनोंमें किसीका निश्चय नहीं होता और अवग्रहज्ञानमें 'यह पुरुष है' ऐसा निश्चय रहता है इसलिये अवग्रह ज्ञानको संशयज्ञान नहीं माना जा सकता । यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

ईहायां तत्प्रसंग इति चेन्न अर्थादानात् ॥ ११ ॥

अवग्रहज्ञानमें 'यह पुरुष है' ऐसा निश्चय होता है इसलिए निर्णयका विरोधी न होनेसे अवग्रह ज्ञान तो संशयज्ञान नहीं कहा जासकता परंतु ईहाज्ञान तो निर्णयका विरोधी है क्योंकि 'यह दक्षिणी होना चाहिए' ऐसे एक ओर लटकते हुए ज्ञानमें दक्षिणी व उत्तरीका कुछ भी निश्चय नहीं होता इसलिये

ईहाज्ञानमें निर्णय न होनेके कारण उसे संशय ज्ञान मानना ही पडेगा ? सो ठीक नहीं । जिस पदार्थको अवग्रहज्ञानने विषय किया है उसी पदार्थके कुछ विशेष निश्चयकेलिए ईहाज्ञानका आलंबन किया जाता है इसलिए जब ईहाज्ञानमें अवग्रहके विषयभूत पदार्थसे विशेष पदार्थका आलंबन है और संशयमें किसी पदार्थ विशेषका आलंबन माना नहीं गया तथा ईहाज्ञानमें जिस पदार्थ विशेषका आलंबन है उसका उससे निश्चय होता है और संशयज्ञानसे किसी पदार्थका निश्चय होता नहीं तब ईहाज्ञानको कभी संशयज्ञान नहीं ठहराया जासकता । और भी यह बात है कि—

संशयपूर्वकत्वाच्च ॥ १२ ॥

'यह पुरुष है' इस अवग्रहज्ञानके बाद पहिले 'यह पुरुष दक्षिणी है वा उत्तरी है' यह संशय होता है और वहांपर किसी भी पदार्थका निश्चय नहीं होता इसलिए वह संशयज्ञान कहाजाता है किंतु उसके बाद विशेष जाननेकी अभिलाषासे ईहाज्ञानका आश्रय किया जाता है इसरीतिसे पहिले संशयज्ञान और पीछे ईहा इसरूपसे ईहा और संशयज्ञानका जब कालभेद है तब संशयसे भिन्न ही ईहाज्ञान है--दोनों एक नहीं । अर्थात् संशयज्ञानके दूर करनेके लिए ही ईहाज्ञान होता है इसलिए वह संशयका निवारक है न कि संशयरूप । तथा—

अतएव संशयावचनमर्थगृहीतेः ॥ १३ ॥

अवग्रह ईहा आदि ज्ञानोंमें पदार्थका आलंबन है । संशयज्ञानमें किसी पदार्थका अवलंबन नहीं इसलिए यद्यपि अवग्रहके बाद संशयज्ञान और उसके बाद ईहा आदि ज्ञान इसरूपसे ज्ञानोंके होनेका क्रम है तो भी पदार्थ विशेषका आलंबन न रहनेके कारण 'अवग्रहेहावायधारणाः' इस सूत्रमें अवग्रहके

बाद संशयका उल्लेख नहीं किया है इसरीतिसे जब संशयज्ञानमें किसी पदार्थका आलंबन है नहीं और ईहाज्ञानमें पदार्थका आलंबन है इसलिए संशयज्ञानमें ईहाका होना बाधित है तब ईहाज्ञान कभी संशयज्ञान नहीं कहा जा सकता ।

अपाय और अवाय दोनों प्रकारके पाठोंके माननेमें कोई दोष नहीं क्योंकि 'यह पुरुष दक्षिणी नहीं है' जिससमय ऐसा अपाय निषेध किया जाता है उससमय 'उत्तरी है' इस अर्थसे अवायज्ञानसे ग्रहण होता है और जिस समय 'यह उत्तरी है' इसरूपसे पदार्थका ग्रहण होता है उस समय 'यह दक्षिणी नहीं है' इस पदार्थका निषेध हो जाता है इसलिए अवाय और अपाय यह दोनों प्रकारका पाठ इष्ट है । शंका—

'दर्शनकी उत्पत्तिमें असाधारण कारण'[१]—पदार्थ और इंद्रियोंके संबंधसे दर्शन होता है और उस के बाद अवग्रह ज्ञान होता है यह बात जैनसिद्धांतमें मानी है परंतु यह कहना अयुक्त है । अवग्रह ज्ञानसे भिन्न दर्शन पदार्थ है ही नहीं ? सो ठीक नहीं । बालक जिससमय जन्म लेता है उससमय वह घट पट आदि भिन्न भिन्न द्रव्योंको देखता है परंतु उनकी विशेषता नहीं जानता इसलिए उसका देखना जिसतरह दर्शन माना जाता है उसीतरह चक्षुर्दर्शनावरण और वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशसे एवं अंगोपांग नामक नामकर्मके बलसे जिससमय आत्मामें कुछ विशेष सामर्थ्य उत्पन्न होजाती है उससमय 'यह कुछ है' इसरूपसे उसमें निराकार वस्तुकी झलक उदित होती है उसीका नाम दर्शन है और केवलज्ञानियोंके सिवा हरएक संसारी जीवके ज्ञानसे पहिले यह दर्शन होता है । इस दर्शनके बाद दो तीन आदि समयमें होनेवाला नेत्रजन्य अवग्रह मतिज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशमसे एवं

१ इनका स्वरूप आगे लिखा जायगा ।

अंगोपांग नामक नाम कर्मके बलसे 'यह रूप है' 'वा पुरुष है' इसप्रकारकी ज्ञानमें जो विशेषताका प्रगट हो जाना है वह अवग्रह है इसरीतिसे काल और कारणोंके भेदसे जब दर्शन और अवग्रहमें भेद है तब वे दोनों कभी एक नहीं हो सकते। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि जन्मते बालकका जो पदार्थोंको देखना है जिसको कि दर्शन माना है वह तो अवग्रह ज्ञानकी जातिका है इसलिए वह ज्ञान ही होगा दर्शन नहीं कहा जा सकता? तो वहां पर यह प्रश्न उठता है कि जिस दर्शनको अवग्रहका सजातीय होनेसे तुम ज्ञान कहना इष्ट समझते हो वह ज्ञान मिथ्याज्ञान है या सम्यग्ज्ञान? यदि उसे मिथ्याज्ञान माना जायगा तब भी वहां यह कहा जा सकता है वह संशय नामका मिथ्याज्ञान है वा विपर्यय और अनध्यवसाय नामका है? संशय और विपर्यय नामका तो मिथ्याज्ञान नहीं कहा जा सकता क्योंकि दर्शनको सम्यग्ज्ञानका कारण[1] माना है। सम्यग्ज्ञानका कारण मिथ्याज्ञान नहीं हो सकता। तथा दर्शनके वाद अवग्रह और उसके वाद संशय विपर्ययका होना माना गया है। दर्शन संशय और विपर्ययसे पहिले होनेवाला है इसलिये वह संशय और विपर्ययस्वरूप नहीं माना जा सकता। यदि उसे अनध्यवसाय नामका मिथ्याज्ञान माना जायगा तो भी बाधित है क्योंकि जात्यंध पुरुषको सामने रक्खे हुए पदार्थका यद्यपि रूप नहीं जान पडता तो भी 'कुछ है' ऐसी उसे प्रतीति रहती है। वहिरा कुछ सुन नहीं सकता तब भी 'कुछ कह रहा है' ऐसी उसे प्रतीति रहती है इसीप्रकार दर्शनमें 'कुछ है' ऐसी वस्तुसामान्यकी प्रतीति रहती है परंतु अनध्यवसाय ज्ञानमें किसीप्रकारकी प्रतीति नहीं रहती इसलिये दर्शन कभी अनध्यवसाय रूप मिथ्याज्ञान नहीं हो सकता। यदि कदाचित् अवग्रहसे पहिले होनेवाले दर्शनको

१ दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं० द्रव्यसंग्रह।

सम्यग्ज्ञान कहा जायगा सो भी नहीं क्योंकि सम्यग्ज्ञानमें पदार्थविशेषके आकारका आश्रय रहता है। दर्शनमें किसी भी पदार्थ विशेषका आश्रय नहीं इसलिये दर्शनसे ज्ञान पदार्थ भिन्न है। और भी यह बात है कि—

कारणनानात्वात्कार्यनानात्वसिद्धेः ॥ १४ ॥

विना मिट्टीके घडा तयार नहीं हो सकता इसलिये घटकी उत्पत्तिमें असाधारण कारण मिट्टी और विना तंतुओंके पट उत्पन्न नहिं हो सकता इसलिये पटकी उत्पत्तिमें असाधारण कारण तंतु हैं इसरीतिसे अपने अपने कारणोंकी जुदाईसे जिसतरह घट और पट जुदे जुदे हैं उसीतरह दर्शनकी उत्पत्तिमें दर्श-नावरण कर्मका क्षयोपशम कारण है और ज्ञानकी उत्पत्तिमें ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम कारण है इस-तरह अपने अपने कारणोंकी जुदाई होनेसे दर्शन और ज्ञान भी भिन्न भिन्न पदार्थ हैं। दोनों कभी एक नहीं हो सकते। दर्शनादिकी उत्पत्तिका क्रम इसप्रकार है—

पहिले ही पहिले 'यह कुछ है' ऐसा दर्शन होता है। उसके वाद 'यह रूप है' इसप्रकारका अवग्रह ज्ञान होता है अवग्रहके पीछे वह रूप सफेद है वा काला? इसप्रकारका संशयज्ञान होता है क्योंकि यहां पर किसी भी पदार्थकी निश्चित प्रतीति नहीं उसके वाद 'यह रूप शुक्ल होना चाहिए' ऐसी शुक्लरूपकी आंकांक्षा होनेसे ईहाज्ञान होता है उसके वाद 'यह रूप शुक्ल ही है कृष्ण नहीं' ऐसा निश्चायक ज्ञान अवाय ज्ञान होता है। एवं अवायके पीछे जिस पदार्थका अवायज्ञानसे निश्चय हो चुका है उसका कालां-तरमें न भूलना रूप धारणाज्ञान होता है। यहां पर जो अवग्रह आदिका क्रम वर्णन किया गया है वह

१ जो भाव अवायमें निश्चयरूपसे जाना जाता है उसी यथार्थ भावकी ओर ईहा ज्ञान झुक जाता है। इसलिये वह सम्यग्ज्ञान है।

नेत्र इंद्रियकी अपेक्षा है परंतु जिसतरह नेत्र इंद्रियसे अवग्रह आदिका क्रम माना है उसीतरह कान नाक जीभ आदि इंद्रियोंसे भी समझ लेना चाहिये क्योंकि नेत्रजन्य अवग्रहादि ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम जुदा है और श्रोत्र आदि जन्य अवग्रहादि ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम जुदा है। इसप्रकार भिन्न भिन्न आवरण कर्मोंके क्षयोपशमके भेदसे अवग्रह आदि ज्ञानावरण कर्मका भेद है। यहांपर यह शंका न करनी चाहिए कि ज्ञानावरण प्रकृतिके तो मतिज्ञानावरण आदि पांच ही भेद माने हैं, नेत्रजन्य अवग्रहावरण आदि भेद कहांसे गढ लिए गये। क्योंकि मतिज्ञानावरण आदि पांच जो ज्ञानावरण कर्मकी प्रकृतियां मानी हैं उनके भी उत्तरोत्तर बहुतसे भेद हैं। इसी बातका पोषक आगमका भी यह वचन है कि-'ज्ञानावरणस्योत्तरप्रकृतयः असंख्यलोकाः' अर्थात् ज्ञानावरण कर्मकी उत्तर प्रकृतियां असंख्याती है इस रीतिसे पांचों इंद्रियां और मनके अवग्रह आदि भेद हैं। यह बात निश्चित हो चुकी। शंका—

जो ज्ञान इंद्रिय और मनसे हो वह मतिज्ञान है ऐसा ऊपर कह आए हैं। अवग्रह ज्ञान तो मतिज्ञान कहा जा सकता है क्योंकि वह इंद्रिय और मनसे उत्पन्न होता है परन्तु ईहा आदि ज्ञान मतिज्ञान नहीं कहे जा सकते क्योंकि ईहा आदि ज्ञान साक्षात् इंद्रिय और मनसे नहीं होते किंतु अवग्रहसे ईहा, ईहासे अवाय, और अवायसे धारणा ज्ञान होता है इसलिये ईहादि ज्ञानको मतिज्ञान मानना अयुक्त है? सो ठीक नहीं। ईहा आदि ज्ञानोंमें न भी साक्षात् इंद्रियां कारण पडें तो भी मन तो साक्षात् कारण है ही क्योंकि विना मनका आश्रय किये ईहादि ज्ञान नहीं हो सकते इसलिये ईहादि ज्ञानकी मनसे उत्पत्ति होनेके कारण उन्हें मतिज्ञानके भेद माननेमें कुछ भी आपत्ति नहीं। यदि यहांपर यह कहा जाय कि यदि मनसे उत्पन्न होनेमात्रसे ईहादिको मतिज्ञान माना जायगा तो मनसे तो श्रुतज्ञानकी भी उत्पत्ति

मानी है इसलिये श्रुतज्ञानको भी मतिज्ञान कहना होगा ? सो नहीं । यद्यपि ईहा आदि ज्ञानोंमें साक्षात् रूपसे इंद्रियां कारण नहीं हैं तो भी जिस पदार्थको इंद्रियां ग्रहण करतीं हैं उसी पदार्थको ईहा आदि ज्ञान विषय करते हैं इसलिये उनकी उत्पत्तिमें उपचारसे इंद्रियां कारण हैं परन्तु श्रुतज्ञान मनका ही विषय है। उसकी उत्पत्तिमें केवल मन ही कारण पडता है इसलिये श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें उपचारसे भी इंद्रियां कारण नहीं हो सकतीं।

किसी एक घटको नेत्रसे देखकर अनेक देश और कालसंबंधी उसके सजातीय किंवा विजातीय घटोंका जान लेना श्रुतज्ञान कहा है। यह तो ईहा आदि ज्ञानोंके समान ही हो गया क्योंकि जिसतरह नेत्र आदि इंद्रियोंसे साक्षात् अवग्रहज्ञानके हो जानेपर विशेषरूपसे पदार्थोंको जाननेवाले ईहा आदि ज्ञान होते हैं वहांपर साक्षात् इंद्रियां कारण नहीं पडतीं उसीप्रकार नेत्र आदि इंद्रियोंसे घटके जान लेने पर विशेष अनेक देश कालसंबंधी उसके सजातीय विजातीय घटोंके जाननेवाला श्रुतज्ञान होता है। यहांपर भी इंद्रियां साक्षात् कारण नहीं होतीं इस रीतिसे जब ईहा आदि और श्रुतज्ञानमें समानता है तब श्रुतज्ञानको भी ईहा आदिके समान मतिज्ञान कह देना चाहिये ? सो ठीक नहीं। जिस पदार्थको इंद्रियोंने विषय किया है, ईहादि ज्ञानका तो वही विषय है इसलिये व्यवहारसे ईहादि ज्ञानोंकी कारण इंद्रियां कही जा सकतीं हैं परन्तु श्रुतज्ञानका जो विषय है वह एकदम इंद्रियोंके अगोचर है। इंद्रियां कभी उसे जान ही नहीं सकतीं इसलिये श्रुतज्ञानमें व्यवहारसे भी इंद्रियां कारण नहीं हो सकतीं इस

१–अर्थसे अर्थांतरका बोध करना श्रुतज्ञानमें है, परन्तु ईहामें अर्थसे अर्थांतर नहीं है किंतु जो अवग्रहका विषय है वही कुछ विशेषरूपसे पडता है।

रीतिसे जब ईहा आदि ज्ञानमें साक्षात् इंद्रियां कारण न भी हों तो भी परंपरासे पड जाती हैं और श्रुत-
ज्ञानमें साक्षात् और परंपरा किसी रूपसे इंद्रियां कारण नहीं हो सकतीं तब ईहादि ज्ञान मतिज्ञान कहे
जा सकते हैं श्रुतज्ञान मतिज्ञान नहीं कहा जा सकता। शंका—

मतिज्ञानके तीनसै छत्तीस भेद माने हैं उनमें चक्षुरिंद्रियजन्य ईहा आदि श्रोत्रइंद्रियजन्य ईहा
आदि इत्यादि भेद कहे गये हैं। यदि ईहा आदिकी उत्पत्ति केवल मनसे ही मानी जायगी इंद्रियोंको
कारण नहीं कहा जायगा तो उक्त भेद न हो सकेंगे फिर मतिज्ञानके ३३६ तीनसौ छत्तीस भेद ही न बन
सकेंगे? सो ठीक नहीं। इंद्रियाकार परिणत आत्मा भावेंद्रिय कहा जाता है। उसकी विषयाकार परि-
णाते ईहा आदि कहे जाते हैं इस रीतिसे जब भावेंद्रियस्वरूप आत्माके परिणाम ईहादिक हैं तब चक्षु
इंद्रियजन्य ईहा आदि जो भेद माने हैं वे अखंडरूपसे सिद्ध हो जाते हैं। इसरूपसे ईहा आदिमें इंद्रिय-
कारणता और मतिज्ञानपना माननेमें कोई आपत्ति नहीं ॥१५॥

ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होनेवाले मतिज्ञानके भेद अवग्रह आदिका वर्णन कर दिया गया
अब वे अवग्रह आदि किन किन पदार्थोंके होते हैं? यह सूत्रकार बतलाते हैं—

बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणां ॥१६॥

बहु (बहुतसे) बहुविध (बहुत प्रकार) क्षिप्र (जल्दी) अनिसृत (नहीं निकला हुआ) अनुक्त
(नहीं कहा गया) ध्रुव (निश्चल) एवं इनके उलटे एक, एक प्रकार, धीरे, निकला हुआ, कहा हुआ और
चल विचल इसप्रकार इन बारह प्रकारके पदार्थोंके अवग्रह आदि होते हैं।

१ मतिज्ञानके प्रकरणके समाप्त हो जानेपर लिखे जांयगे।

संख्यावैपुल्यवाचिनो बहुशब्दस्य ग्रहणमविशेषात् ॥ १ ॥

बहु शब्दके दो अर्थ हैं एक संख्या जिसतरह एक दो और बहुत यहां पर बहु शब्दसे तीन आदि संख्या ली जाती है। दूसरा अर्थ बहुत है जिसतरह "बहुरोदनः' 'बहुसूपः' बहुतसा भात, बहुतसी दाल। सूत्रमें जो बहु शब्दका पाठ रक्खा है वह किसीप्रकारका भेद न कर दोनों ही अर्थका वाचक लिया गया है। शंका—

बह्ववग्रहाद्यभावः प्रत्यर्थवशवर्तित्वादिति चेन्न सर्वदैकप्रत्ययप्रसंगात् ॥ २ ॥

बौद्ध लोग ज्ञानको प्रत्यर्थवशवर्ति अर्थात् एक समयमें एकही पदार्थको विषय करनेवाला मानते हैं इसलिये उनकी ओरसे यह कहना है कि जब ज्ञान एक समयमें एकही पदार्थको गृहण करता है अनेक पदार्थोंको नहीं तब एकसाथ बहुतसे पदार्थोंके अवग्रह ईहा आदि ज्ञान होते हैं यह नहीं कहा जा सकता। परंतु उनका कहना ठीक नहीं। यदि ऐसा माना जायगा तो सदा एकही पदार्थकी प्रतीति होगी फिर किसी विशाल वृक्षरहित चट्टान प्रदेशमें वा वृक्षोंसे घने प्रदेशमें एक ही पुरुषको देखनेवाले पुरुषको जो यह ज्ञान होता है कि अनेक पुरुष नहीं हैं यह ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि अनेक पदार्थों को ग्रहण करनेवाला विज्ञान माना नहीं गया और 'अनेक नहीं' इस ज्ञानमें अनेक पदार्थोंका अवलंबन है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि उस ज्ञानमें 'अनेक नहीं' ऐसी प्रतीति नहीं होती तब 'अनेक हैं' यह प्रतीति कहनी होगी फिर एक पदार्थको अनेक समझना मिथ्याज्ञान कहा जाता है इसलिये उस प्रतीतिको मिथ्या प्रतीति कहना पडेगा। तथा अनेक घरोंके समूह रूप नगरमें 'यह नगर है' ऐसी एक ही प्रकारकी सदा प्रतीति होती है। अनेक वृक्षोंके समुदायस्वरूप वनमें वा अनेक ग्रामोंके समूहस्वरूप

स्कंधावार-देशमें 'यह वन है और 'यह देश है' ऐसी एक एक प्रकारकी ही सदा प्रतीति होती है। यदि ज्ञानको एकसमयमें एकही पदार्थका ग्रहण करनेवाला माना जायगा तब नगर वन स्कंधावारका ज्ञान ही न हो सकेगा क्योंकि नगर आदि पदार्थ अनेक पदार्थोंके समूहस्वरूप है और विज्ञान एक समयमें एक ही पदार्थको विषय करता है। इसलिये यदि इसप्रकार समूहात्मक प्रतीति नहीं होगी तो 'यह नगर है, यह वन और देश है' इसप्रकारका जो संसारमें व्यवहार होता है वह सर्वथा उठ जायगा। इसलिए एकसमयमें एक पदार्थका ग्रहण करनेवाला विज्ञानको न मान अनेकार्थग्राही ही मानना पडेगा। और भी यह बात है—

नानात्वप्रत्ययाभावात् ॥ ३ ॥

जो यह मानता है कि ज्ञान एक समयमें एकही पदार्थका ग्रहण करनेवाला है उससे यह पूछना चाहिए कि पूर्वज्ञानके नष्ट होजानेपर उत्तरज्ञानकी उत्पत्ति होती है अथवा उसके रहते ही उत्तरज्ञान उत्पन्न हो जाता है? यदि दूसरे पक्षका आश्रयकर यह कहा जायगा कि पूर्वज्ञानके रहते ही उत्तरज्ञान उत्पन्न हो जाता है तब 'एकार्थं एकमनस्त्वात्' विज्ञानकी उत्पत्तिमें मन एक कारण है इसलिए वह एकही पदार्थको विषय करता है यह जो बौद्धोंका कहना है वह बाधित होजायगा क्योंकि पूर्वज्ञानके रहते उत्तर ज्ञानके माननेपर जब विज्ञान अनेकक्षणस्थायी होगा तो स्वयं वह अनेक पदार्थोंको ग्रहण करनेवाला सिद्ध हो जायगा। तथा बौद्ध लोग एकही मनसे अनेक ज्ञानोंकी उत्पत्ति मानते हैं इसलिए जिसतरह एक ही मन अनेक ज्ञानोंकी उत्पत्तिमें कारण है उसीतरह एक ज्ञान भी अनेक पदार्थोंको ग्रहण कर सक्ता है ऐसा माननेमें क्या आपत्ति है? यदि कदाचित् बौद्ध यह कहैं कि—एक ज्ञान अनेक पदार्थोंको

जानता है यह बात हमें इष्ट है तो 'एकस्य ज्ञानमेकं चार्थमुपलभते' एकका ज्ञान एक ही पदार्थको ग्रहण करता है, यह उनका वचन बाधित हो जाता है इसरीतिसे यदि बौद्ध लोग ज्ञानको अनेक पदार्थोंका ग्रहण करनेवाला मानते हैं तब उनको आगम विरोधका सामना करना पडता है और यदि उसे वैसा नहीं मानते तो असंभव आदि अनेक दोषोंके साथ संसारका व्यवहार नष्ट होता है इसलिए संसारके व्यवहारकी रक्षार्थ युक्ति और प्रमाणसे भले प्रकार सिद्ध ज्ञानका अनेक पदार्थोंका ग्राहकपना ही स्वीकार करना पडेगा। यदि पहिले विकल्पका अवलंबनकर बौद्ध लोग यहां यह कहें कि पूर्वज्ञानके नष्ट हो जानेपर ही उत्तरज्ञानकी उत्पत्ति होती है ऐसा हम मानते हैं। हमारे ऐसे माननेमें जब ज्ञान अनेकक्षण स्थायी सिद्ध नहीं होता तब वह अनेक पदार्थोंको ग्रहण करनेवाला भी सिद्ध नहीं हो सकता और 'ज्ञान एक समयमें एक ही पदार्थको ग्रहण करता है' हमारे इस वचनकी भी रक्षा हो जाती है इसलिये कोई दोष नहीं? सो भी अयुक्त है। यदि 'एकज्ञान एक समयमें एकही पदार्थको विषय करता है अनेकोंको नहीं' यह सिद्धांत माना जायगा तो 'यह पदार्थ उससे अन्य है' यह व्यवहार ही लुप्त हो जायगा क्योंकि ज्ञान द्वारा अनेक पदार्थोंके ग्रहण होने पर ही इस व्यवहारका होना माना जा सकता है। जीव पुद्गलसे भिन्न है पुद्गल जीवसे भिन्न है। घट पटसे, और पट घटसे भिन्न है इत्यादि व्यवहार तो सर्वजन प्रसिद्ध ही है इसलिये एक ज्ञान ही एक पदार्थको विषय करता है यह सब कुछ नहीं कल्पनामात्र है। इसरीतिसे नाना पदार्थोंकी सत्ता कायम रखनेकेलिये ज्ञान एक समयमें एक ही पदार्थको ग्रहण करता है यह बात नहीं मानी जा सकती और भी यह बात है कि—

आपेक्षिकसंव्यवहारनिवृत्तेः ॥ ४ ॥

अर्थ—मध्यमा (बीचकी) अंगुली और प्रदेशिनी-अनामिका अर्थात् सबसे छोटी अंगुलीके पास की अंगुली इन दोनों अंगुलियोंमें मध्यमा बडी और प्रदेशिनी छोटी मानी जाती है और दोनोंमें छोटे बडेका व्यवहार होता है तथा बीचकी अंगुलीकी अपेक्षा प्रदेशिनी छोटी है और प्रदेशिनीकी अपेक्षा बीचकी बडी है यह जो छोटे बडेका व्यवहार है वह अपेक्षासे है। जो लोग ज्ञानको एक समयमें एक ही पदार्थको ग्रहण करनेवाला मानते हैं उनके मतमें ज्ञानके क्षणिक होनेसे अपेक्षा सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि अपेक्षाकी सिद्धि अनेक क्षणस्थायी ज्ञानके मानने पर ही अवलंबित है इसलिये ज्ञान एक समयमें एक ही पदार्थका ग्रहण करनेवाला है यह वात अयुक्त है। तथा—

संशयाभावप्रसंगात् ॥ ५ ॥

यह 'स्थाणु है या पुरुष है ?' इसप्रकार अनेक पदार्थोंके अवलंबन करनेवाले ज्ञानको संशय माना है। जिनके मतमें विज्ञान एक समयमें एक ही अर्थका ग्रहण करनेवाला माना गया है उनके मतमें स्थाणु और पुरुष दोनोंमें एक किसीकी प्रतीति होगी दोनोंकी नहीं हो सकती क्योंकि एक ज्ञानसे दोनोंकी प्रतीति मान लेनेपर 'एक ज्ञान एक ही पदार्थको ग्रहण करता है' यह प्रतिज्ञावचन बाधित हो जाता है इसलिये उनके मतमें यह स्थाणु है या पुरुष है ? ऐसा संशय नहीं हो सकता। यदि यहांपर यह कहा जायगा कि—जिसतरह बंध्या (बांझ) का पुत्र अवस्तु है इसलिये स्थाणुमें उसका संभव नहीं हो सकता उसीतरह स्थाणुमें पुरुषका मानना भी संभव नहीं माना जा सकता इसलिये स्थाणुमें पुरुषकी प्रतीतिका होना असंभव होनेसे स्थाणुमें पुरुषका संशय नहीं हो सकता ? तो वहां पर यह भी कहा जा सकता है कि पुरुषमें भी स्थाणु द्रव्यकी अपेक्षा नहीं इसलिये स्थाणुकी असंभवतासे पुरुषमें भी स्थाणुका संशय नहीं

हो सकता परन्तु संशयस्थलमें स्थाणुमें पुरुषकी और पुरुषमें स्थाणुकी प्रतीति निर्बाध है इसलिये स्थाणुमें पुरुषकी प्रतीतिका और पुरुषमें स्थाणुकी प्रतीतिका (संशयका) अभाव इष्ट नहीं कहा जा सकता। अतः एक ज्ञान एक ही पदार्थको विषय करता है यह बौद्धोंकी कल्पना कभी निर्दोष नहीं मानी जा सकती किंतु अनेक अर्थोंको ग्रहण करनेवाला ही विज्ञान माना जायगा। तथा—

ईप्सितानिष्पत्तिः, अनियमात् ॥ ६ ॥

विज्ञान एक समयमें एक ही पदार्थको ग्रहण करता है यदि यही सिद्धान्त माना जायगा तो चित्र-क्रियामें कुशल कोई चैत्र नामका मनुष्य जिस समय पूर्णकलशका चित्र खींच रहा है उस समय 'चित्र कैसे बनना चाहिये' इसप्रकार चित्रक्रियाका ज्ञान उसका भिन्न है और घटके आकार प्रकारका ज्ञान भी उसका भिन्न है इसलिये आपसमें उनके विषयका मिलाप नहीं हो सकता तथा अनेक विज्ञानोंकी एक साथ उत्पत्ति मानी नहीं गई इसलिये उस एक क्षणस्थायी ज्ञानमें ही घटकी एक साथ उत्पत्ति माननी पड़ेगी क्योंकि दूसरे क्षणमें चित्रक्रिया और घटके आकार प्रकारका ज्ञान उपयोगी हो नहीं सकता परंतु घटकी एक साथ उत्पत्ति न होकर क्रम क्रमसे ही उत्पत्ति देखनेमें आती है इसलिये एक ज्ञान एक ही पदार्थको विषय करता है यह बात कभी नहीं मानी जा सकती किंतु उसे नाना पदार्थोंका विषय करने-वाला ही मानना होगा। और भी यह बात है—

द्वित्र्यादिप्रत्ययाभावाच्च ॥ ७ ॥

यदि ज्ञानको एक ही पदार्थका विषय करनेवाला माना जायगा तो उससे दो तीन आदि पदार्थों

का तो ग्रहण होगा नहीं फिर 'ये दो हैं' 'ये तीन हैं' इत्यादि व्यवहार ही संसारसे उठ जायगा]' इसलिये
कभी एक पदार्थको विषय करनेवाला विज्ञान नहीं माना जा सकता। तथा—

संतानसंस्कारकल्पनायां च विकल्पानुपपत्तिः ॥ ८ ॥

यदि यह कहा जायगा कि हम एक पदार्थके विषयको करनेके लिये एक ज्ञानको ही मानें तब तो
'यह दो हैं' 'यह तीन आदि हैं' यह ज्ञान नहीं हो सकता किंतु यदि हम ज्ञानकी 'संतान' मानेंगे अथवा
'पहिला पहिला ज्ञान उत्तर उत्तर ज्ञानोंमें अपना संस्कार समर्पण करता जाता है' इस रूपसे संस्कार
मानेंगे तब दो तीन आदि पदार्थोंका ज्ञान हो सकता है कोई दोष नहीं ? सो भी अयुक्त है क्योंकि वहां
पर ये प्रश्न उठते हैं कि—वे जो संतान और संस्कार हैं वे ज्ञानकी जातिके हैं कि अज्ञानकी जातिके हैं ?
यदि अज्ञानकी जातिके मानकर उन्हें अज्ञानस्वरूप माना जायगा तब उनको माननेसे भी दो तीन
आदि पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता इसलिये उन्हें अज्ञानस्वरूप मानना प्रयोजनीय नहीं। यदि ज्ञान
की जातिका ज्ञानस्वरूप माना जायगा तब फिर वहांपर यह प्रश्न मौजूद है कि वह संतान वा संस्कार
एक अर्थके ग्रहण करनेवाले हैं वा अनेक अर्थके ग्रहण करनेवाले हैं ? यदि एक ही अर्थको ग्रहण करने-
वाले हैं यह अर्थ माना जायगा तो वैसे माननेमें जो अनेक दोष ऊपर कह आए हैं वे सबके सब फिर
ज्योंके त्यों यहां लागू होंगे। यदि अनेक पदार्थोंको ग्रहण करनेवाले हैं यह अर्थ माना जायगा तब 'एक
ज्ञान एक ही पदार्थका ग्रहण करनेवाला है' यह बौद्धका प्रतिज्ञावचन बाधित हो जाता है। इस रीतिसे
बौद्धके मतानुसार 'ज्ञान एकार्थग्राही है वा अनेकार्थग्राही है' यह कोई प्रकार सिद्ध नहीं होता और युक्ति एवं
अनुभवसे वह अनेकार्थग्राही ही सिद्ध होता है तब उसे अनेक पदार्थोंका ग्रहण करनेवाला ही मानना चाहिये।

विधगृहणं प्रकारार्थं ॥ ९ ॥

विध युक्त गत और प्रकार ये सब शब्द समान अर्थके वाचक हैं इसलिये सूत्रमें जो विध शब्दका उल्लेख किया है उसका अर्थ 'प्रकार' है इस रीतिसे वहुविध शब्दका 'वहुत प्रकार' यह अर्थ है।

क्षिप्रगृहणमचिरप्रातिपत्त्यर्थं ॥ १० ॥

क्षिप्र शब्दका अर्थ 'जल्दी' है। विजली आदि क्षिप्र पदार्थोंके भी अवग्रह आदि होते हैं यह बतानेकेलिये सूत्रमें क्षिप्र शब्दका ग्रहण किया गया है। अर्थात् पदार्थोंकी जल्दी प्रतीति हो इसके लिए क्षिप्र शब्दका प्रयोग है।

अनिःसृतगृहणमसकलपुद्गलोद्गमार्थं ॥ ११ ॥

जिस पुद्गलपदार्थके अवग्रह आदि ज्ञान करने हैं उसका समस्त स्वरूप न भी दीखे, कोई एक अवयव ही दीखे उस अवयव मात्रके देखनेसे उस समस्त पदार्थके अवग्रह आदि ज्ञान होजाते हैं, यह बात प्रतिपादन करनेकेलिए सूत्रमें अनिःसृत शब्दका उल्लेख किया है। तालाव आदिमें समस्त शरीरके डूब जाने पर भी एक सूंढ मात्र अवयवके देखलेनेसे हाथीके विषयमें अवग्रह आदि ज्ञान होते ही हैं। यहां पर बाहर पदार्थके समस्त स्वरूपका निकला न रहना, 'किसी एक अवयवका निकला रहना' अनिःसृत शब्दका अर्थ है।

अनुक्तमभिप्रायेण प्रतिपत्तेः ॥ १२ ॥

विना कहे—इशारेमात्रसे वतलाये हुए पदार्थमें भी अवग्रह आदि ज्ञान होते हैं यह बात वतलानेके लिये सूत्रमें अनुक्त शब्दका पाठ है। यहांपर अनुक्त शब्दका अर्थ विना कहा हुआ है।

ध्रुवं यथार्थग्रहणात् ॥ १३ ॥

जो पदार्थ जिसरूपसे स्थित है उसका बहुतकालतक उसीरूपसे ज्ञान होता रहता है यह वात प्रतिपादन करनेके लिये सूत्रमें ध्रुव शब्दका ग्रहण है।

सेतरग्रहणाद्विपर्ययावरोधः ॥ १४ ॥

बहु बहुविध आदि पदार्थोंसे विपरीत अल्प अल्पप्रकार चिर निःसृत उक्त और अध्रुव पदार्थोंके ग्रहण करनेकेलिये सूत्रमें सेतर शब्दका ग्रहण है अर्थात् जिसतरह बहु आदि पदार्थोंके अवग्रह आदि ज्ञान होते हैं उसीतरह अल्प अल्पप्रकार आदि पदार्थोंके भी अवग्रह आदि ज्ञान होते हैं।

अवगृहादिसंबंधात् कर्मनिर्देशः ॥ १५ ॥

'बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां' यहां पर कर्ममें षष्ठीका निर्देश है और वह अवग्रह आदि की अपेक्षा है इसलिये षष्ठी विभक्तिके आधीन तो बहु आदिके अवग्रह आदि ज्ञान होते हैं यह अर्थ है परंतु अवग्रह आदि ज्ञान, बहु आदि पदार्थोंको विषय करते हैं यह सूत्रका खुलासा अर्थ है।

वह्वादीनामादौ वचनं विशुद्धिप्रकर्षयोगात् ॥ १६ ॥

ते च प्रत्येकमिंद्रियानिंद्रियेषु द्वादशविकल्पा नेयाः ॥ १७ ॥

यद्यपि बहु आदिमें यह शंका हो सकती है कि जब बहु बहुविधके समान अल्प अल्पविध आदि पदार्थोंके भी अवग्रह आदि होते हैं तब अल्प अल्पविध आदिका साक्षात् उल्लेखकर सेतर शब्दसे बहु बहुविध आदिका क्यों ग्रहण नहीं किया गया ? उसका समाधान यह है कि बहु आदिके जो अवग्रह आदि होते हैं उनमें ज्ञानावरणकर्मकी क्षयोपशमरूप विशुद्धिकी अधिक विशेषता है अल्प आदिके होनेवाले

अवग्रह आदिमें उतनी नहीं इसलिये अल्प अल्पविध आदि नामोंका जुदा उल्लेख न कर बहु बहुविध आदिक नामोंका जुदा जुदा उल्लेख किया है और सेतर शब्दसे अल्प अल्पविध आदि शब्दोंका ग्रहण किया है। अवग्रह आदि हरएक ज्ञानके इंद्रिय और मनकी अपेक्षा वारह वारह भेद होते हैं और वे इस प्रकार हैं—

श्रोत्रेंद्रियावरण और वीर्यांतरायके तीव्र क्षयोपशमसे एवं अंगोपांग नामक नामकर्मके वलसे संभिन्नसंश्रोतृ नामक ऋद्धि के धारक वा उससे भिन्न किसी पुरुषके, एकसाथ तत (तांतका शब्द) वितत (डंका वा तालका शब्द) घन (कांसेके वाद्यका शब्द) और सुषिर (वंशी आदिका शब्द) आदि शब्दोंका अवग्रह ज्ञान होता है "यद्यपि तत आदि भिन्न भिन्न शब्दोंका ग्रहण अवग्रहसे नहीं हो सकता है तथापि उनके समुदायरूप सामान्यको वह ग्रहण करता है यह अर्थ समझ लेना चाहिये। यहां-पर यह शंका हो सकती है कि संभिन्नसंश्रोतृ ऋद्धिके धारक पुरुषके तत आदि शब्दोंका स्पष्टतया भिन्न भिन्न रूपसे ज्ञान रहता है इसलिये उसके अवग्रह ज्ञानका होना वाधित है? सो ठीक नहीं। सामान्य मनुष्यके समान उक्त ऋद्धिधारीके भी क्रमसे ही ज्ञान होता है इसलिये उसके अवग्रहज्ञानका होना असंभव नहीं।" एवं श्रोत्रेंद्रियावरण आदि कर्मोंकी क्षयोपशम रूप विशुद्धिकी मंदतासे आत्माके तत आदि शब्दोंमेंसे किसी एक शब्दका अवग्रह होता है।

श्रोत्रेंद्रियावरण और वीर्यांतराय कर्मके तीव्र क्षयोपशमसे और अंगोपांग नामके नामकर्मके बलसे आत्मा तत आदि शब्दोंमें हर एकके दो तीन चार संख्यात असंख्यात अनंत भेदोंका ग्रहण करता है इसलिए उससमय उसके बहुत प्रकारका अवग्रह होता है और श्रोत्रेंद्रियावरण आदि कर्मोंकी क्षयोपशम

आत्मा तत आदि शब्दोंमें किसी एक प्रकारके शब्दको ग्रहण करता है इस-
रूप विशुद्धिके मंद रहनेपर आत्मा तत आदि शब्दोंमें किसी एक प्रकारके शब्दको ग्रहण करता है इस-
लिये उसके एकविध पदार्थका अवग्रह कहा जाता है।

श्रोत्रेंद्रियावरण और वीर्यांतराय कर्मके तीव्र क्षयोपशम रूप विशुद्धिसे और अंगोपांग कर्मके
बलसे आत्मा बहुत शीघ्र शब्दको ग्रहण कर लेता है इसलिए उसके क्षिप्र पदार्थका अवग्रह कहा जाता
है और श्रोत्रेंद्रियावरण आदि कर्मोंकी क्षयोपशमरूप विशुद्धिकी मंदता होने पर आत्माके देरीसे
शब्दका ग्रहण होता है इसलिये उसके चिर-देरीसे होनेवाला अवग्रह कहा जाता है।

श्रोत्रेंद्रियावरण और वीर्यांतराय कर्मके तीव्र क्षयोपशमसे और अंगोपांग नाम कर्मके बलसे परि-
णत आत्मा जिस समय विना कहे वा बिना बताये शब्दको ग्रहण करता है उस समय उसके अनिःसृत
पदार्थका अवग्रह होता है और श्रोत्रेंद्रियावरण आदि कर्मोंकी क्षयोपशमरूप विशुद्धिकी मंदता
से जिस समय आत्मा मुखसे निकले हुए शब्दका ग्रहण करता है उस समय निःसृत पदार्थका
अवग्रह होता है।

श्रोत्रेंद्रियावरण और वीर्यांतराय कर्मके तीव्र क्षयोपशमसे एवं अंगोपांग नाम कर्मके बलसे परिणत
आत्मा जिस समय समस्त शब्दका न भी उच्चारण किया जाय किंतु एक वर्णके मुंहसे निकलते ही अभि-
प्राय मात्रसे उस समस्त शब्दको ग्रहण कर लेता है कि आप यह कहने वाले हैं उस समय उसके अनुक्त
पदार्थका अवग्रह होता है और श्रोत्रेंद्रियावरण आदि कर्मोंकी क्षयोपशम रूप विशुद्धिकी मंदतासे
जिस समय आत्मा समस्त शब्दके कहे जाने पर उसे ग्रहण करता है उस समय उसके उक्त पदार्थका
अवग्रह होता है। अथवा उक्त क्षयोपशमादि कारणोंके आत्मामें प्रगट हो जाने पर तंत्री वा मृदंग आदि

में स्वरसंचार नहीं किया गया है कि किस स्वर पर गाया जायगा उसके पहिले ही केवल उन बाजोंके गाये जाने वाले स्वरके मिलाप होते ही जिस समय आत्माको यह ज्ञान हो जाता है कि 'आप इस स्वर पर बाजा बजावेंगे' उस समय अनुक्त पदार्थका अवग्रह होता है और बाजों द्वारा उस स्वरके गाये जाने पर उस स्वरका जानना उक्त पदार्थका अवग्रह कहा जाता है।

संक्लेश परिणामोंसे रहित यथायोग्य श्रोत्रेंद्रियावरण आदि कर्मोंकी क्षयोपशम आदि विशुद्धिसे परिणत आत्माके जिसप्रकार प्रथम समयमें शब्दका ग्रहण हुआ है उसी प्रकार निश्चल रूपसे कुछ काल ग्रहण बना रहना, उसमें किंचिन्मात्र भी कम बढती न होना ध्रुव पदार्थका अवग्रह है और बार बार होनेवाले संक्लेश परिणाम और विशुद्धि परिणामरूप कारणोंसे युक्त आत्माके जिस समय श्रोत्रेंद्रिय आदि कर्मोंका कुछ आवरण भी होता रहता है और क्षयोपशम भी होता रहता है इस तरह श्रोत्रेंद्रियावरण आदि कर्मोंकी क्षयोपशमरूप विशुद्धिकी कुछ प्रकर्ष और कुछ अप्रकर्ष दशा रहती है उस समय हीनता और अधिकतासे जाननेके कारण कुछ चल विचलपना रहता है इसलिए उस प्रकारका अवग्रह अध्रुव अवग्रह कहा जाता है तथा कभी तत आदि बहुतसे शब्दोंका ग्रहण करना कभी थोडेका कभी बहुत प्रकारके शब्दोंका ग्रहण करना कभी एक प्रकारकेका, कभी जल्दी शब्दको ग्रहण करना, कभी देरीसे करना, कभी अनिःसृत शब्दका ग्रहण करना, कभी निःसृत शब्दका ग्रहण करना, कभी उक्त शब्दका ग्रहण करना, कभी अनुक्त शब्दका ग्रहण करना यह जो चल विचलपनेसे शब्दका ग्रहण करना है वह सब उसी अध्रुवावग्रहका विषय है। शंका—

बहुत शब्दोंके अवग्रहमें भी तत आदि शब्दोंका ग्रहण माना है और बहुत प्रकारके शब्दोंके अव-

ग्रहमें भी तत आदि शब्दोंका ही ग्रहण माना है इसरीतिसे बहु और बहुविध जब दोनोंप्रकारके शब्दोंमें अवग्रहका विषय समानरूपसे माना है—कोई विशेष नहीं तब उन दोनोंमें एक ही कहना चाहिये, दोनोंका कहना व्यर्थ है ? सो ठीक नहीं। जिसतरह वाचालतारहित कोई विद्वान बहुतसे शास्त्रोंका विशेष विशेष अर्थ न कर एक सामान्य अर्थ ही प्रतिपादन करता है । अन्य विद्वान बहुतसे शास्त्रोंका आपसमें एक दूसरेसे अतिशय रखनेवाले बहुत प्रकारके अर्थोंका प्रतिपादन करता है उसीतरह बहु और बहुविध दोनों प्रकारके शब्दोंके अवग्रहमें सामान्य रूपसे तत आदि शब्दोंका ग्रहण है तो भी जिस अवग्रहमें तत आदि शब्दोंके एक दो तीन चार संख्यात असंख्यात और अनंत प्रकारके भेदोंका ग्रहण है अर्थात् अनेक प्रकारके भेद प्रभेदयुक्त तत आदि शब्दोंका ग्रहण है वह बहुविध—बहुत प्रकारके पदार्थोंका ग्रहण करनेवाला अवग्रह कहा जाता है और जिस अवग्रहमें भेद प्रभेदोंसे रहित सामान्यरूपसे तत आदि शब्दोंका ग्रहण है वह—बहुतसे शब्दोंका अवग्रह कहा जाता है। शंका—

मुखसे पूरे शब्दका निकल जाना निःसृत कहा जाता है यही अर्थ उक्तका भी है फिर दोनोंमें एक हीका कहना आवश्यक है । दोनों शब्दोंका जो सूत्रमें उल्लेख किया गया है वह व्यर्थ है ? सो भी ठीक नहीं । किसी अन्यके कहने पर जहां शब्दका ग्रहण होता है जिसतरह किसीने गोशब्दका उच्चारण किया वहां पर 'यह गो शब्द है' ऐसा ज्ञान होना वह उक्त कहा जाता है और अन्यके विना ही बताये सामने पदार्थके रहनेपर 'यह अमुक पदार्थ है' ऐसा स्वयं ज्ञान होना निःसृत है । इसलिये उक्त और निःसृतका भेद रहनेपर वे एक नहीं कहे जा सकते। इस प्रकार श्रोत्रइंद्रियकी अपेक्षा बहु बहुविध आदिका अवग्रह बतला दिया गया अब नेत्र इंद्रियकी अपेक्षा बतलाया जाता है—

चक्षु इंद्रियावरण और वीर्यांतराय कर्मके तीव्र क्षयोपशमसे और अंगोपांग नामके नामकर्मके बलसे परिणत आत्मा जिस समय शुक्ल कृष्ण नील आदि शब्दोंको ग्रहण करता है उस समय उसके बहु पदार्थका अवग्रह कहा जाता है और जिस समय उक्त कारणोंकी मंदता रहती है उस समय आत्मा शुक्ल आदिमें थोडोंको ग्रहण करता है इसालिये उस समय उसके अल्प पदार्थोंका अवग्रह कहा जाता है।

चक्षु इंद्रियावरण और वीर्यांतराय कर्मके तीव्र क्षयोपशमसे और अंगोपांग नामके नाम कर्मके बलसे जिस समय आत्मा शुक्ल कृष्ण आदिके एक दो तीन चार संख्यात असंख्यात और अनंत भेद प्रभेदोंको ग्रहण करता है उस समय उसके बहुविध—बहुत प्रकारके पदार्थोंका अवग्रह कहा जाता है और जिस समय उक्त कारणोंकी मंदता रहती है उस समय शुक्ल कृष्ण आदिमें एकविध—एक प्रकार को ग्रहण करता है उससमय उसके एक प्रकारके पदार्थका अवगूह होता है।

चक्षु इंद्रियावरण और वीर्यांतराय कर्मके तीव्र क्षयोपशमसे और अंगोपांग नामक नाम कर्मके बलसे जिससमय आत्मा शुक्ल आदि रूपका जल्दी ग्रहण करता है उसमय उसके क्षिप्र पदार्थका अवग्रह होता है और उक्त कारणोंकी मंदतासे जिससमय देरीसे पदार्थका ग्रहण करता है उससमय उसके चिर अवग्रह होता है।

चक्षु इंद्रियावरण और वीर्यांतराय कर्मके तीव्र क्षयोपशमसे एवं अंगोपांग नामक नामकर्मके बलसे जिससमय आत्मा पंचरंगे किसी वस्त्र कंवल वा चित्रके एकवार किसी अवयवमें पांचो रंगोंको देखता है उससमय यद्यपि शेष अवयवोंका पंचरंगापन उसे दीखता नहीं और न निकला हुआ उसके सामने ही रक्खा है तो भी उस अवयवके पांचो रंगोंको देखकर उस समस्त अवयवोंके पंचरंगेपनको ग्रहण कर

लेता है इसलिये उसप्रकारका ग्रहण करना उसका अनिःसृत पदार्थका अवग्रह कहा जाता है और उक्त
कारणोंकी मंदतासे जिससमय आत्मा सामने निकाल कर रक्खे हुए पंचरंगे वस्त्रके पांचों रंगोंको ग्रहण
करता है उससमय उसके निःसृत पदार्थका अवगृह होता है।

चक्षु इंद्रियावरण और वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशमसे एवं अंगोपांग नामके नामकर्मके बलसे जिस
समय आत्मा सफेद काला वा सफेद पीला आदि रंगोंको आपसमें मिलाते हुए किसी पुरुषको देखकर
आप इन दो प्रकारके रंगोंको मिलाकर अमुक रंगको तयार करनेवाले हैं, इसप्रकार विना कहे ही जान
लेता है उस समय उसके अनुक्त पदार्थका अवग्रह होता है अथवा दूसरे देशके बने हुये किसी पंचरंगे
पदार्थके कहते समय, कहनेवाला पुरुष कहनेका प्रयत्न ही कर रहा है उसके पहिले ही विना कहे उस
वस्तुके पांचों रंगोंको जान लेता है उसके भी उस समय अनुक्त पदार्थका अवग्रह होता है और उक्त
कारणोंकी मंदता रहनेपर कंबल आदि पंचरंगे पदार्थके कहनेपर जब पांचों रंगोंको जानता है तब उस
के उक्त पदार्थका अवग्रह होता है।

संक्लेश परिणामोंसे रहित और यथायोग्य चक्षुरिंद्रियावरण आदि कर्मोंके क्षयोपशम परिणामरूप
कारणोंका धारक आत्मा जैसा पहिले ही पहिले रूप ग्रहण करता है उसीप्रकार निश्चलरूपसे और भी
कुछ काल वैसा ही उसके रूपका ग्रहण बना रहता है कुछ भी कम बढती नहीं होता उस समय उसके
ध्रुव पदार्थका अवगृह होता है और बार बार होनेवाले संक्लेश परिणाम और विशुद्धि परिणामरूप
कारणोंसे युक्त आत्माके जिस समय चक्षु इंद्रिय आदि कर्मोंका कुछ कुछ आवरण भी होता रहता है
और क्षयोपशम भी होता रहता है इस तरह चक्षु इंद्रियावरण आदि कर्मोंके क्षयोपशमकी कुछ उत्कृष्ट

और कुछ अनुत्कृष्ट दोनों दशा रहतीं हैं उस समय कुछ हीनता और कुछ अधिकतासे जाननेके कारण चल विचलपना रहता है इसलिये उसप्रकारका अवगूह अध्रुव पदार्थका अवगूह कहा जाता है तथा कृष्ण आदि बहुत रूपोंको जानना वा थोडे रूपोंको जानना, बहुत प्रकारके रूपोंको जानना, एक प्रकारके रूपको जानना, जल्दी रूपको जानना, देरीसे रूपको जानना, अनिःसृत रूपको जानना, निःसृत रूप को जानना, अनुक्त रूपको जानना, उक्त रूपको जानना यह जो चल विचल रूपसे जानना है वह उसी अध्रुवावगृहका विषय है। जिस तरह श्रोत्र और चक्षु इंद्रियकी अपेक्षा बहु बहुविध आदिको अवग्रहका विषय कहा गया है उसीप्रकार घ्राण आदि इंद्रियोंकी अपेक्षा भी समझ लेना चाहिए तथा जिस तरह बहुविध आदिको अवग्रहका विषय माना है उसी तरह ईहा अवाय और धारणा ज्ञानोंका भी विषय मानना चाहिये। शंका—

जो इंद्रियां पदार्थसे भिडकर ज्ञान कराती हैं उनका पदार्थके जितने अवयवोंके साथ संबंध रहेगा उतने ही अवयवोंका ज्ञान करा सकती है अधिक अवयवोंका नहीं। श्रोत्र घ्राण स्पर्शन और रसना ये चार इंद्रियां प्राप्यकारी हैं—भिडकर पदार्थोंका ज्ञान कराती हैं इसलिये जितने अवयवोंके साथ इनका भिडाव होगा उतनेही अवयवोंका ये ज्ञान करा सकती हैं अधिकका नहीं। अनिःसृत और अनुक्तमें ऐसा नहीं क्योंकि वहांपर पदार्थोंका एक देश देख लेने पर वा कहे जाने पर समस्त पदार्थका ज्ञान माना है इसलिए श्रोत्र आदि चार इंद्रियोंसे जो अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके अवग्रह ईहादिक माने हैं सो व्यर्थ है? सो ठीक नहीं। जिसतरह चिउंटी आदि जीवोंका नाक और जिह्वा इंद्रियके साथ गुड आदि द्रव्यका भिडाव नहीं रहता तो भी उनके गंध और रसका ज्ञान चिउंटी आदिको हो जाता है

क्योंकि वहांपर अत्यंत सूक्ष्म जिनको हम देख ही नहीं सकते ऐसे गुड आदि द्रव्योंके अवयवोंके साथ चिउंटी आदि जीवोंकी नाक और जिह्वा इंद्रियोंका आपसमें स्वाभाविक संयोग संबंध रहता है उस संबंधमें किसी भी अन्य पदार्थकी अपेक्षा नहीं रहती इसलिए सूक्ष्म अवयवोंके साथ संबंध रहनेसे वे प्राप्त होकर ही पदार्थको ग्रहण करती हैं उसी प्रकार अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके अवग्रह आदिमें भी अनिसृत और अनुक्त पदार्थोंके सूक्ष्म अवयवोंके साथ श्रोत्र आदि इंद्रियोंका अपनी उत्पत्तिमें पर पदार्थकी अपेक्षा न रखनेवाला स्वाभाविक संयोग संबंध है इसलिए अनिःसृत और अनुक्त स्थलों पर भी प्राप्त हो कर इंद्रियां पदार्थोंका ज्ञान कराती ही हैं, अप्राप्त होकर नहीं। और भी यह बात है कि—

अस्मदादीनां तदभाव इति चेन्न श्रुतापेक्षत्वात् ॥ १८ ॥

यदि यह कहा जायगा कि अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके साथ श्रोत्र आदि इंद्रियोंका संयोग होता है यह हम देख नहीं सकते इसलिए हम उस संयोगको स्वीकार नहीं कर सकते? सो भी ठीक नहीं। जिसतरह जन्मसे ही जमीनके भीतर पाला गया पुरुष जब बाहर किसी कारणसे आता है तो उसको घट पट आदि समस्त पदार्थोंका आभास होता है परंतु यह घट है और यह पट है इत्यादि जो विशेष ज्ञान उसे होता है वह परके उपदेशसे ही होता है। वह स्वयं वैसा ज्ञान नहीं कर सकता उसी प्रकार अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके सूक्ष्म अवयवोंके साथ जो इंद्रियोंका भिडाव होता है और उससे अवग्रह आदि ज्ञान होते हैं यह विशेष ज्ञान भी परके उपदेशसे ही जाना जाता है हमारे अंदर यह सामर्थ्य नहीं कि हम स्वयं जान सकें इसलिए परोपदेशके द्वारा जब अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके अवग्रह आदि सिद्ध हैं तब उनका कभी अभाव नहीं कहा जा सकता। तथा—

लब्ध्यक्षरत्वात् ॥ १९ ॥

जहांपर श्रुतज्ञानके भेद प्रभेदोंका निरूपण किया गया है वहांपर चक्षु श्रोत्र घ्राण रसना स्पर्शन और मनके भेदसे छैप्रकारका लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान माना है। आगमका यह वचन भी है—'चक्षुःश्रोत्रघ्राण-रसनस्पर्शनमनोलब्ध्यक्षरं' अर्थात् चक्षु श्रोत्र घ्राण रसना स्पशन और मन रूप छैप्रकारका लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान है। इसलिये श्रोत्र घ्राण रसना स्पर्शन और मनरूप लब्ध्यक्षरसे यह वात सिद्ध हो जाती है कि अनिःसृत और अनुक्त शब्दोंके भी अवग्रह आदि ज्ञान होते हैं सार अर्थ यह है कि लब्धिका अर्थ क्षयोपशम रूप शक्ति है और अक्षरका अर्थ अविनाशी है अर्थात् जिस क्षयोपशम शक्तिका कभी भी नाश न हो सके वह लब्ध्यक्षर कहा जाता है यह लब्ध्यक्षर ज्ञान श्रुतका वहुत ही सूक्ष्म भेद है इसलिये जब इस लब्ध्यक्षरज्ञानको भी माना जाता है तब अनिःसृत और अनुक्त पदार्थके अवग्रह आदि माननेमें कोई दोष नहीं ॥ १६ ॥

वहु वहुविध आदि पदार्थोंको अवग्रह आदि विषय करते हैं यह कह दिया गया। अब वे अवग्रह आदि विशेषण किसके हैं इसवातको सूत्रकार कहते हैं—

अर्थस्य ॥ १७ ॥

नेत्र आदि इंद्रियां जिसे विषय करती हैं वह अर्थ—पदार्थ कहा जाता है उस अर्थके ही ऊपर कहे गये वहु वहुविध आदि विशेषण हैं अर्थात्—वहु वहुविध आदि पदार्थोंके अवग्रह आदि होते हैं यह सूत्र का अर्थ है। अर्थ शब्दका व्युत्पत्तिपूर्वक अथ कहा जाता है—

इयर्ति पर्यायानर्यते वा तैरित्यर्थो द्रव्यं ॥ १ ॥

बाह्य और अंतरंग दोनों कारणोंसे जिनकी उत्पत्ति निश्चित है ऐसे अपने अपने पर्यायोंको जो प्राप्त हो अथवा जिसके द्वारा वे पर्याय प्राप्त किये जांय वह अर्थ है और उसे द्रव्य कहते हैं। 'अर्थस्य' यह सूत्र क्यों निर्माण किया गया वार्तिककार इसका समाधान देते हैं—

अर्थवचनं गुणग्रहणनिवृत्त्यर्थं ॥ २ ॥

नैयायिक आदिका सिद्धांत है कि रूप आदि गुणोंका ही इंद्रियोंसे सन्निकर्ष होता है—इंद्रियां रूप आदि गुणोंसे युक्त पदार्थोंको न ग्रहण कर रूप आदि गुणोंको ही ग्रहण करती हैं उनके सिद्धांतको मिथ्या सिद्धांत सिद्ध करनेकेलिये 'अर्थस्य' इस सूत्रका निर्माण है क्योंकि मूर्त इंद्रियोंसे मूर्तिक पदार्थों का ही ग्रहण हो सकता है अमूर्तिक पदार्थोंका नहीं। रूप आदि गुणोंको उन्होंने अमूर्तिक माना है इस-लिये उन्हें इंद्रियां ग्रहण नहीं कर सकतीं। यदि यहांपर यह कहा जाय कि हम रूपोंका मिलकर पिंड रसोंका मिलकर पिंड इसतरह रूप आदिके पिंडोंकी कल्पना कर लेंगे। पिंड स्वरूप रूप आदिका ज्ञान इंद्रियोंसे हो सकता है कोई दोष नहीं? सो भी अयुक्त है क्योंकि अमूर्तिक रूप आदि गुणोंकी पिंड कल्पना की ही नहीं जा सकती और भी यह बात है कि रूप आदिके पिंडोंकी कल्पना करनेपर यदि वे पिंड किसी अन्य स्थूल पदार्थ स्वरूप सिद्ध हो जांय तब तो इंद्रियां उन पिंडोंको ग्रहणकर सकती हैं परंतु अन्य पदार्थांतर रूप तो पिंडोंको नैयायिक आदि सिद्धांतकार मानते नहीं—रूप आदि स्वरूप ही मानते हैं फिर जब इनका अमूर्तपना ही नष्ट न होगा तब असामर्थ्यसे इंद्रियां उन्हें ग्रहण कर ही नहीं सकतीं। यदि कदाचित् नैयायिक आदि यह कहें कि—जब विना द्रव्यके रूप आदि गुणोंका इंद्रियोंसे

ग्रहण ही नहीं माना तब 'मैंने रूप देखा' 'मैंने गंध सूंघा' यह जो संसारमें व्यवहार होता है वह न होगा ? सो भी कहना अयुक्त है। जैनसिद्धांतमें निश्चयनयकी अपेक्षा गुण गुणीका अभेद अर्थात् रूपादि गुण-स्वरूप ही द्रव्य माना है इसलिये जब द्रव्यसे रूप आदिक अभिन्न हैं और जहां पर गुणगुणीकी अभेद विवक्षा है वहां पर गुणी ग्रहणसे गुण ग्रहणकी विवक्षा एवं गुणग्रहणसे गुणी ग्रहणकी विवक्षा सब घट जाती है। फिर उपर्युक्त व्यवहारके होनेमें कोई आपात्ति नहीं हो सकती। इसलिये 'अर्थस्य' इस सूत्रका बनाना निरर्थक नहीं, सार्थक है। शंका—

तेषु सत्सु मतिज्ञानात्मलाभात्सप्तमीप्रसंगः ॥ ३ ॥ नानेकांतात् ॥ ४ ॥

घट पट आदि विषयोंके रहने पर ही मतिज्ञान होता है, विना घट पटादिकी अवस्थितिके मति-ज्ञान नहीं उत्पन्न होता इसलिये 'अर्थस्य' ऐसा षष्ठ्यंत सूत्र न कह कर 'अर्थे' यह सप्तम्यंत सूत्र कहना चाहिये ? सो ठीक नहीं। यदि घट पट आदि पदार्थोंके रहते मतिज्ञान माना जायगा तो जो बालक जमीनके भीतरमें बने हुए मकानमें उत्पन्न हुआ है और ऊपर आते ही वह घट पट आदि पदार्थोंको देखता है परंतु यह घट है यह पट है ऐसा मतिज्ञान उसे नहीं होता उसे भी मतिज्ञान होना चाहिये क्योंकि पदार्थ तो मौजूद हैं ही किंतु उसे वहां मतिज्ञान नहीं होता इसलिए पदार्थोंके रहते ही मतिज्ञान होता है यह कहना बाधित है। पदार्थकी उपस्थिति ज्ञानोत्पात्तिमें आवश्यक नहीं है उसके बिना भी ज्ञान होता है जैसा कि ऊपर बालकके दृष्टांतमें कहा गया है इसलिए अर्थस्य यही ठीक है अथवा जहां पर अधिकरणका निर्देश होगा वहीं सप्तमी विभक्ति होगी षष्ठी विभक्ति आदिके निर्देशमें सप्तमी विभक्ति नहीं मानी जा सकती यह भी एकांत नहीं क्योंकि 'विवक्षावशाद्धि कारकाणि भवंति' वक्ताकी जैसी

इच्छा रहती है उसीके अनुकूल कारकोंकी कल्पना की जाती है। यदि षष्ठी विभक्तिके निर्देश रहनेपर उसे
वक्ता द्वितीया विभक्ति मानना चाहे तो मान सकता है। एवं वक्ताकी ही इच्छासे षष्ठी विभक्तिके निर्देश
रहने पर सप्तमी विभक्ति मान ली जाती है इस रीतिसे जब अन्य विभक्ति (कारक) के रहते अन्य
विभक्ति मान ली जा सकती है तब 'अर्थस्य' ऐसा षष्ठ्यंत सूत्र न कह कर 'अर्थे' यह सप्तम्यंत कहना
चाहिए। यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि जब पदार्थ ज्ञानमें विषयकी उपस्थिति आवश्यक कारण नहीं सिद्ध
होती तब अर्थका ज्ञान अथवा अर्थके विषयमें ज्ञान कुछ भी कहा जासकता है ऐसी अवस्थामें षष्ठी या सप्तमी
विभक्तिका प्रयोग वक्ताकी इच्छा पर ही निर्भर है।

क्रियाकारकसंबंधस्य विवक्षितत्वात् ॥ ५ ॥

अवग्रह आदि ज्ञानोंको क्रिया विशेष—(जानना, स्वरूप) कह आए हैं क्रिया कर्मविशिष्ट होती
है। उसका कोई न कोई कर्म मानना पडता है इसलिए यहां अवग्रह आदि क्रियावोंका बहु बहु विध
आदि भेद विशिष्ट अर्थको कर्म माना है अर्थात् बहु बहु विध आदि भेद विशिष्ट पदार्थोंको अवग्रह
आदि ज्ञान जानते हैं। शंका—

बह्वादिसामानाधिकरण्याद्बहुत्वप्रसंगः ॥ ५ ॥ नवानभिसंबंधात् ॥ ७ ॥ अवगृहणादिभिः ॥ ८ ॥

बहु बहुविध आदि ही तो पदार्थ हैं उनसे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है ऐसी अवस्थामें "बहुबहुविध-
क्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणां" यहां पर तो षष्ठी विभक्तिके बहुवचनका निर्देश है और 'अर्थस्य'
यहां पर षष्ठी विभक्तिके एक वचनका निर्देश है। इसलिये विभिन्न वचन होनेसे दोनोंका सामानाधिक-
रण्य नहीं हो सकता इसरीतिसे बहु बहुविध आदि एवं अर्थ, इन दोनोंका आपसमें जब सामानाधिकरण्य

बाधित है तब बहु आदि विशिष्ट पदार्थोंको अवग्रह आदि जानते हैं यह अर्थ नहीं हो सकता अतः 'अर्थानां' यह सूत्रका पाठ होना चाहिये ? सो ठीक नहीं। जब बहु बहुविध आदि शब्दोंको और अर्थ शब्दको आपसमें विशेष्य विशेषण रूप माना जायगा तब उपर्युक्त दोष हो सकता है। यहां सो तो माना नहीं गया किंतु अवग्रह आदि ज्ञान किसके होते हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर वे पदार्थके होते हैं और वह पदार्थ कोई बहुरूप होता है कोई बहुविध आदिरूप होता है इसरीतिसे 'अर्थ' शब्दका संबंध अवग्रह आदिके साथ है इसलिये यहां पर उपर्युक्त दोष नहीं लागू हो सकता। अथवा—

सर्वस्य वार्यमाणत्वात् ॥ ९ ॥

अथवा संसारके समस्त पदार्थ अर्यमाण—जानने योग्य हैं इसलिये जातिकी अपेक्षा 'अर्थस्य' यह अर्थ शब्दका षष्ठी विभक्तिके एक वचनका प्रयोग अयुक्त नहीं। अर्थात् पदार्थमात्र ही जानने योग्य हैं इसलिये समस्त पदार्थोंमें पदार्थत्व धर्म रहनेसे वे सभी पदार्थ ही कहे जाते हैं इसलिये एक वचन कहने से सबोंका ग्रहण हो जाता है। अथवा—

प्रत्येकमभिसंबंधाद्वा ॥ १० ॥

अथवा बहुत अर्थका अवग्रह होता है। बहुत प्रकारके अर्थका अवग्रह होता है। क्षिप्र पदार्थका अवग्रह होता है इसप्रकार बहु आदि शब्दोंमें हरएकके साथ जुदा जुदा अर्थ शब्दका संबंध है। बहु आदि जुदे जुदे सब एक एक ही हैं इसलिये प्रत्येक बहु आदि शब्दके साथ अर्थ शब्दका संबंध करने पर 'अर्थस्य' यह षष्ठी विभक्तिके एक वचनका प्रयोग ही ठीक है ॥ १७ ॥

जिन अवग्रह आदिका ऊपर वर्णन किया गया है वे अवग्रह आदि इंद्रिय और मनके विषयभूत समस्त पदार्थोंके होते हैं कि कुछ विशेष है ऐसी शंका उठाकर सूत्रकार विशेष बतलाते हैं—

व्यंजनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥

व्यंजनका अर्थ अव्यक्त है। जो शब्द आदि पदार्थ व्यक्त नहीं—अव्यक्त हैं उनका अवग्रह ज्ञान ही होता है। इस सूत्रका उल्लेख नियम करनेके लिये है अर्थात् अव्यक्त पदार्थका केवल अवग्रह ज्ञान ही होता है ईहा अवाय आदिक नहीं होते। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि अव्यक्त पदार्थका केवल अवग्रह ज्ञान ही होता है ईहा आदि ज्ञान नहीं होते यह नियम तो सूत्रमें 'एव' शब्द जोडे विना नहीं हो सकता इसलिये 'व्यंजनस्यावग्रह एव' ऐसा सूत्र निर्माण करना चाहिये? इसका समाधान वार्तिककार देते हैं—

न वा सामर्थ्यादवधारणप्रतीतेरब्भक्षवत् ॥ १ ॥

संसारमें ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं जो जलको न पीता हो किंतु सभी जलका पान करते हैं वहां पर किसी खास व्यक्तिके लिये जो केवल जलके आधारपर ही रहता हो, 'अब्भक्षः' शब्दका प्रयोग कर दिया जाय तो उसका अर्थ होता है कि यह जल पीता है ऐसे वचनके रहनेपर एवकारके विना भी वहांपर जिसतरह यह नियम हो जाता है कि यह जल ही पीता है और कोई चीज नहीं खाता पीता यदि और भी वस्तु खाता पीता हो तो यह जल पीता है यह प्रयोग व्यर्थ है क्योंकि जल तो सभी पीते ही हैं इसलिये वह प्रयोग नियम करता है कि वह जलमात्र पीता है। उसीप्रकार व्यक्त अव्यक्त सभी पदार्थोंके जब अवग्रह आदि सिद्ध हैं तब अव्यक्तके अवग्रह होता है यहांपर एव शब्दके विना भी यही नियम मानना पडता है कि अव्यक्त पदार्थका अवग्रह ही होता है ईहा अवाय आदि नहीं होते। यदि यह नियम न माना जायगा तो फिर 'व्यंजनस्यावग्रहः' यह सूत्र ही व्यर्थ है क्योंकि व्यक्त अव्यक्त

सभी पदार्थोंके अवग्रह आदि जब माने जांयगे तो अव्यक्त पदार्थके अवग्रह होता है यह विशेष कथन व्यर्थ ही पडेगा। अव्यक्त पदार्थका अवग्रह तो सिद्ध है ही इसलिये ईहादिकी निवृत्तिके लिये उपर्युक्त नियम मानना ही होगा। यदि कदाचित् यहांपर यह शंका की जाय कि—

तयोरभेदो गृहणविशेषादिति चेन्न व्यक्ताव्यक्तभेदादभिनवशराववत् ॥ २ ॥

जिस तरह शब्द आदि पदार्थोंका अर्थावग्रहसे ग्रहण होता है उसीतरह व्यंजनावग्रहसे भी होता है कोई भेद नहीं इसलिये दोनों प्रकारके अवग्रहोंमें जब कोई विशेष नहीं तब अवग्रहको दो प्रकारका मानना व्यर्थ है ? सो ठीक नहीं। जिस तरह नवीन मिट्टीका कोरा सरावा सूक्ष्म जलकी एक दो तीन बूंदोंके पडने पर गीला नहीं होता इसलिये उसका गीलापन स्पष्टरूपसे न दीख पडनेके कारण व्यक्त नहीं कहा जाता किंतु वही कोरा सरवा बार बार धीरे धीरे जलके सींचे जानेपर गीला हो जाता है और उसका गीलापन स्पष्टरूपसे दीख पडनेके कारण व्यक्त कहा जाता है उसी तरह जहां पर ज्ञानमें पदार्थोंका व्यक्तरूपसे ग्रहण होता है वहां पर अर्थावग्रह कहा जाता है और जहां पर अव्यक्तरूपसे ग्रहण होता है वहां पर व्यंजनावग्रह कहा जाता है इसप्रकार व्यक्त ग्रहण और अव्यक्त ग्रहणकी अपेक्षा अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह दोनों प्रकारके अवग्रहोंमें भेद है इसलिये उन दोनोंका मानना व्यर्थ नहीं ॥ १८ ॥

जिसतरह अर्थावग्रह सब इंद्रियोंसे होता है उसतरह व्यंजनावग्रहका होना भी सब इंद्रियोंसे प्राप्त है परंतु इंद्रियोंसे व्यंजनावग्रह होता नहीं इसलिये जिन जिन इंद्रियोंसे व्यंजनावग्रह नहीं होता उन उन इंद्रियोंका सूत्रकार उल्लेख करते हैं—

न चक्षुरनिंद्रियाभ्यां ॥ १९ ॥

नेत्र इंद्रिय और मनसे व्यंजनावग्रह नहीं होता। क्यों नेत्र और मनसे व्यंजनावग्रह नहीं होता। वार्तिककार उसमें कारण बतलाते हैं—

व्यंजनावग्रहाभावश्चक्षुर्मनसोरप्राप्यकारित्वात् ॥ १ ॥

जो पदार्थ अप्राप्त हो इंद्रियसे प्राप्त होकर ग्रहण न किया जाय, अविदिक सन्मुख रक्खा हो, युक्त योग्य[१] हो, सन्निकर्षका विषय होने योग्य हो और बाह्य प्रकाशसे अभिव्यक्त—स्पष्ट रूपसे दीख पडनेवाला हो ऐसे पदार्थका ज्ञान नेत्रसे होता है तथा अप्राप्त और स्पष्ट पदार्थका ही मनसे ज्ञान होता है इस रीतिसे जब नेत्र और मनसे व्यक्त पदार्थका ही ग्रहण होता है और व्यंजनावग्रहमें अव्यक्त पदार्थोंका ही ग्रहण माना है तब नेत्र और मनसे अर्थावग्रह ही होता है व्यंजनावग्रह नहीं हो सकता।

इच्छामात्रमिति चेन्न सामर्थ्यात् ॥ २ ॥ आगमतो युक्तितश्च ॥ ३ ॥

नैयायिक लोग नेत्र इंद्रियको प्राप्यकारी मानते हैं उनका सिद्धांत है कि नेत्र तैजस इंद्रिय है, सूर्य आदि तैजस पदार्थमें जिसतरह किरणें हैं और वे आकर पदार्थोंके साथ संबंध करती हैं उसी तरह नेत्र इंद्रियके अंदर भी किरणें हैं और वे पदार्थोंके साथ संबंध करती हैं तब उनके ज्ञान होता है इसलिए उनकी ओरसे यदि यह शंका हो कि चक्षु प्राप्यकारी है—पदार्थके पास जाकर उसका ज्ञान कराती है यह युक्तिसिद्ध बात है तब उसे अप्राप्यकारी मानना इच्छामात्र है—युक्तिसे सिद्ध नहीं ? सो ठीक

१ न तो इंद्रियसे बहुत दूर हो और न अति निकट हो किंतु जितने क्षेत्रवर्ती पदार्थको इंद्रिय ग्रहण कर सकती है उतने ही क्षेत्र पर पदार्थ उपस्थित हो इसीका नाम योग्यता है।

नहीं, आगम और युक्ति दोनों प्रकारसे चक्षु अप्राप्यकारी ही सिद्ध होता है उसमें आगमसे इसप्रकार है—

पुट्ठं सुणोदि सद्दं अपुट्ठं पुणवि पस्सदे रूवं। गंधं रसं च फासं पुट्ठं बद्धं विजाणादि ॥ १ ॥

स्पृष्टं शृणोति शब्दमस्पृष्टं पुनरपि पश्यति रूपं। गंधं रसं च स्पर्शं स्पृष्टं बद्धं विजानाति ॥ १ ॥

आत्मा शब्दको कर्ण इंद्रियसे स्पर्श होने पर ही सुनता है, और रूपको नेत्रेंद्रियसे स्पर्श नहीं होने पर दूरवर्ती रहने पर ही देखता है। तथा गंध रस और स्पर्शको घ्राण रसना और स्पर्शनेंद्रिय द्वारा स्पर्श करने पर और बद्ध हो जाने पर ही जानता है। इस आगमसे चक्षु अप्राप्यकारी है। युक्तिसे भी वह अप्राप्यकारी है—

जो इंद्रिय प्राप्यकारी होती है—पास जाकर पदार्थका ज्ञान कराती है वह अपनेसे संबंधित पदार्थको ही जनाती है। स्पर्शन इंद्रिय प्राप्यकारी—संबंध कर पदार्थका ज्ञान कराती है इसलिए वह अपनेसे संबंधित पदार्थका ज्ञान कराती है। नेत्र इंद्रिय प्राप्यकारी नहीं क्योंकि उससे संबंधित पदार्थका ज्ञान नहीं होता यदि उसे प्राप्यकारी माना जायगा तो नेत्रमें लगे हुए काजलका भी नेत्र इंद्रियसे ज्ञान होना चाहिए परंतु उसका ज्ञान नहीं होता इसलिए जिस तरह मन इंद्रिय अप्राप्यकारी है-पास जा कर पदार्थका ज्ञान नहीं कराती है उसीप्रकार नेत्र इंद्रिय भी अप्राप्यकारी है, वह भी पदार्थके पास जाये बिना ही उसका ज्ञान करा देती है। शंका—

जिस तरह स्पर्शन इंद्रिय आवृत—ढके हुए पदार्थके जाननेमें असमर्थ है क्योंकि वह छूकर ही ज्ञान कराती है। इसलिए उसे प्राप्यकारी माना गया है उसी प्रकार नेत्र इंद्रियसे भी ढके हुए पदार्थका ग्रहण नहीं होता इसलिए वह भी प्राप्यकारी है। इस रीतिसे नेत्र इंद्रिय प्राप्यकारी है क्योंकि वह आवृता-

नवग्रह ढके हुए पदार्थको ग्रहण नहीं करा सकती यह जो नेत्र इंद्रियको प्राप्यकारी सिद्ध करनेके लिए
अनुमान है वह निर्दोष है। सो ठीक नहीं। जिसप्रकार 'सर्वे जीवाः चेतनाः स्वापवत्त्वात्' सब जीव
चेतन हैं क्योंकि सब सोते हैं' यहांपर स्वापवत्त्व हेतु पक्षाव्यापक है क्योंकि पक्षमें सर्वत्र हेतु न रहै वह
पक्षाव्यापक कहा जाता है। स्वापवत्व हेतु वनस्पति कायके जीवोंमें नहीं रहता क्योंकि वे सोते नहीं
इसलिये समस्त जीवरूप पक्षमें न रहनेके कारण वह हेतु पक्षाव्यापक कहा जाता है उसीप्रकार 'आवृ-
तानवग्रहात्' यह जो नेत्रको प्राप्यकारी सिद्ध करनेके लिये हेतु दिया है वह भी पक्षाव्यापक है क्योंकि
चक्षुसे ढके हुए पदार्थोंका कभी भी ग्रहण न हो सके तब तो वह हेतु पक्षाव्यापक नहीं हो सकता किंतु
कांचके भीतर रक्खे हुए वा अवरख और स्फटिकमणिके भीतर रक्खे हुए पदार्थोंका चक्षुइंद्रियसे ग्रहण
होता है इसलिये ढके हुए पदार्थोंका भी ग्रहण होनेके कारण हेतु पक्षाव्यापक दोषसे दूषित हुआ इस
कारण चक्षुको प्राप्यकारी सिद्ध नहीं कर सकता। तथा 'आवृतानवग्रहत्व' यह हेतु संशय व्यभिचारसे
भी दूषित है क्योंकि अयस्कांत-चुंबक पत्थर अप्राप्यकारी तो है क्योंकि वह लोहेके पास जाकर लोहेको
ग्रहण नहीं करता परंतु जिससमय वह लोहा ग्रहण करता है उससमय जमीनके अंदर ढके हुए लोहेको
ग्रहण नहीं करता—सामने रक्खे हुएको ही ग्रहण करता है इसलिये अयस्कांत-चुंबक पत्थर रूप विपक्षमें
'आवृतानवग्रहत्व' रूप हेतुके रहनेके कारण यह संशय होता है कि यह हेतु प्राप्यकारित्व सिद्ध करता है
कि अप्राप्यकारित्व? क्योंकि पक्ष और विपक्ष दोनोंमें रहनेके कारण हेतु संशयजनक माना जाता है
और वह साध्य सिद्ध नहीं कर सकता। 'आवृतानवग्रहत्व' हेतु पक्ष चक्षुमें भी रहता है और विपक्ष
चुंबक पत्थरमें भी रहता है, अप्राप्यकारी होनेसे चुंबक पत्थर विपक्षी है ही।

इसलिये संशयजनक होनेसे वह चक्षुमें प्राप्यकारित्व सिद्ध नहीं करसकता। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—जिस प्रकार अग्नि भौतिक है तेज आदि भूतोंका विकार है और प्राप्यकारी है—पदार्थों पर उसका प्रकाश पडता है वह उसकी किरण पास जाकर पदार्थोंका प्रकाश करानेवाली है उसीतरह चक्षु भी तेज आदि भूतोंका विकार है और पदार्थोंपर उसका प्रकाश पडता है वह उसकी किरणें पास जाकर पदार्थोंके ज्ञानमें कारण होनेसे वह प्राप्यकारी है उसके प्राप्यकारीपनेका निषेध नहीं किया जा सकता? सो ठीक नहीं। यदि भौतिक होनेसे ही पदार्थ प्राप्यकारी माना जायगा तो चुंबक पत्थर भी पृथ्वी आदि भूतोंका विकार है उसे भी प्राप्यकारी मानना पडेगा परंतु ऐसा है नहीं क्योंकि वह पदार्थ के पास प्राप्त होकर ग्रहण नहीं करता इसलिये अप्राप्यकारी है इसलिये पृथिवी आदि भूतोंका विकार होनेसे चक्षु प्राप्यकारी सिद्ध नहीं हो सकता। यदि यह कहा जायगा कि स्पर्शन आदि इंद्रियां वाह्य इंद्रिय होनेसे जिसतरह प्राप्यकारी हैं उसीतरह चक्षु भी वाह्य इंद्रिय होनेसे प्राप्यकारी है? सो भी ठीक नहीं। पुद्गलका परिणाम स्वरूप द्रव्येंद्रियको सहायक माना है प्रधान तो वाह्य इंद्रियाकारस्वरूप परिणत आत्म-प्रदेश स्वरूप भावेंद्रिय ही है इसलिये चक्षुको वाह्य इंद्रिय नहीं कह सकते। यदि यहांपर यह शंका उठाई जाय कि जब चक्षुको अप्राप्यकारी माना जायगा तब पदार्थके पास जानेकी तो उसे आवश्यकता होगी नहीं फिर जो पदार्थ व्यवहित भित्ति आदिसे ढके हुए हैं और विप्रकृष्ट अत्यंत दूर हैं उनका चक्षुसे ग्रहण होना चाहिये हमारे (नैयायिक आदिके) मतमें तो यह दोष नहीं हो सकता क्योंकि हम तो यह मानते हैं कि जहां तक चक्षुका प्रकाश पहुंचेगा उसका उससे ग्रहण होगा। जहां नहीं पहुंचेगा उसका उससे ग्रहण नहीं हो सकता। व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थों तक उसका प्रकाश नहीं पहुंच सकता इसलिये

उनका उससे ग्रहण नहीं हो सकता ? सो भी ठीक नहीं। चुवंक पत्थरसे यह वात खंडित हो जाती है
क्योंकि चुंबक पत्थर पास न जा कर लोहेको ग्रहण करता है परंतु व्यवहित और अत्यंत दूर रक्खे हुए
लोहेको नहीं खीचता अर्थात् चुंबक पत्थर भी अप्राप्यकारी है उससे भी व्यवहित और अत्यंत दूर रक्खे
पदार्थका ग्रहण होना चाहिये परंतु सो होता नहीं इसलिये चक्षुको अप्राप्यकारी माननेपर भी व्यवहित
और अतिविप्रकृष्ट पदार्थके ग्रहणका दोष नहीं लागू हो सकता। क्योंकि वादी यह दोष दे रहा है—चक्षु
को अप्राप्यकारी माननेसे व्यवहित और अत्यंत दूरमें स्थित पदार्थका भी उससे ग्रहण होना चाहिये
परंतु चुंबक पत्थररूप दृष्टांतसे यह वात सिद्ध होती है कि अप्राप्यकारी होनेपर भी चुवंक पत्थरसे
व्यवहित और विप्रकृष्ट लोहेका उससे ग्रहण नहीं होता इसलिये यह संशय ही हो जाता है कि अप्राप्य-
कारी पदार्थसे व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थका ग्रहण होता है या नहीं ? इसरीतिसे चक्षुके अप्राप्यकारी
माने जाने पर उससे व्यवहित और अत्यंत दूरमें स्थित पदार्थोंका ग्रहण ही होता है यह निश्चय नहीं
किया जा सकता। यदि यहांपर फिर यह शंका की जाय कि जब चक्षुको अप्राप्यकारी माना है तब
संशय और विपरीत नामक जो मिथ्या ज्ञान होते हैं वे न होने चाहिये क्योंकि चक्षुका पदार्थके पास
जाना तो माना नहीं गया इसलिये जब उससे ज्ञान होगा तब यथार्थ ही ज्ञान होगा ? सो भी अयुक्त है।
यह दोष तो चक्षुको प्राप्यकारी माननेमें भी तदवस्थ है क्योंकि जब चक्षु पदार्थके साथ जाकर संबंध
करेगा तो यथार्थ पदार्थके साथ ही करेगा अयथार्थके साथ नहीं इसलिये उसे प्राप्यकारी माननेमें भी
संशय और विपर्ययका अभाव है। चक्षुको प्राप्यकारी सिद्ध करनेके लिये अन्यतरहसे शंका—

जिसतरह अग्नि पदार्थ तैजस है इसलिये उसमें किरणें हैं एवं वे किरणें पदार्थोंपर जाकर पडती हैं

इसलिये पास जाकर पदार्थोंका प्रकाशक होनेसे उसे प्राप्यकारी माना है उसीतरह चक्षु भी तैजस पदार्थ है इसलिये उसमें भी किरणें हैं और वे किरणें पदार्थोंपर जाकर पडती हैं इसलिये पास जाकर पदार्थोंको जाननेके कारण वह प्राप्यकारी है इसरीतिसे चक्षुको प्राप्यकारी माननेमें कोई दोष नहीं ? सो भी अयुक्त है। चक्षु तैजस है यह हमें (जैनोंको) स्वीकार नहीं। यदि हठात् चक्षुको तैजस माना जायगा तो तेजका लक्षण उष्ण माना है जहां उष्णपना मालूम पडता है वह तेज पदार्थ गिना जाता है और जहां पर तेज रहता है वह स्थान गरम रहता है चक्षुरिंद्रियके रहनेका स्थान स्पर्शन इंद्रिय है। वह गरम होना चाहिये परंतु वह गरम नहीं है इसलिये कभी चक्षुको तैजस नहीं माना जा सकता और भी यह बात है कि-जो पदार्थ तैजम होता है वह भासुर-प्रकाशमान रहता है यदि चक्षुको तैजस माना जायगा तो वह भी प्रकाशमान दीख पडना चाहिये परंतु वह भासुर दीखता नहीं इसलिये चक्षु कभी तैजस नहीं कहा जा सकता। यदि यहां पर यह समाधान दिया जाय कि चक्षु है तो तैजस ही पदार्थ, परंतु अदृष्टकी कृपासे वह उष्णता और दीप्तिसे रहित है ? सो भी ठीक नहीं। अदृष्टको नैयायिक आदिने गुण विशेष माना है और गुणोंको 'निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः' इस वचनसे क्रियारहित माना है। जो पदार्थ निष्क्रिय होता है वह किसी भी पदार्थके स्वभावका विपरिणाम नहीं कर सकता इसलिये अदृष्टकी कृपासे चक्षुमें उष्णता और दीप्ति दोनों पदार्थोंका नाश नहीं हो सकता और उनके अभावमें चक्षु तैजस पदार्थ नहीं सिद्ध हो सकता। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि रात्रिमें जहां तहां घूमनेवाले बिल्ली आदि जीवोंके नेत्रोंमें किरणें दीख पडती हैं। यदि चक्षुमें किरणोंका सर्वथा अभाव ही हो तो उनके नेत्रोंमें किरणें न दीखनी चाहिये तथा जो किरणोंवाला पदार्थ होता है वह तैजस ही माना जाता

है जब बिल्ली आदिके चक्षुमें किरणें प्रत्यक्ष सिद्ध हैं तब हरएक चक्षुको किरणवाला और तैजस, माना
जा सकता है कोई दोष नहीं ? सो भी ठीक नहीं । रत्न कांच आदिक पदार्थ तैजस नहीं हैं तो भी उनके
अंदर किरणें दीख पडती हैं इसलिये किरणवाला पदार्थ तैजस ही होता है यह बात प्रमाणीक नहीं मानी
जा सकती इससे सिद्ध होता है कि जो पुद्गल तैजस नहीं है उसमें भी भासुर परिणाम पाया जाता है।
और भी यह बात है कि—

जो गतिमान् पदार्थ होता है वह सबसे पहिले समीप पदार्थके पास जाता है पीछे दूर पदार्थके
पास पहुंचता है। यह बात नहीं कि वह समीप और दूरवर्ती दोनों पदार्थोंके पास एकसाथ पहुंच सके।
रश्मिरूप चक्षुको परवादी गतिमान मानता है इसलिये उसकी गति भी पहिले समीप पदार्थोंके साथ
और पीछे दूरवर्ती पदार्थोंके साथ होनी चाहिये परंतु यह स्पष्टरूपसे दीख पडता है कि जिससमय किसी
वृक्षके नीचे खडा रहनेवाला ऊपरको देखता है तो उसे एक ही समयमें शाखा और चंद्रमाका ज्ञान
होता है वहांपर थोडा भी कालका भेद नहीं जान पडता यदि चक्षु गतिमान पदार्थ होता तो उसे समी-
पमें रहनेवाली शाखा और इतनी दूरी पर रहनेवाला चंद्रमा दोनोंका ज्ञान एक साथ नहीं होता क्योंकि
चक्षु दोनोंके पास एक साथ नहीं पहुंच सकता इसलिये गतिका वैधर्म्य होनेसे भी चक्षुको प्राप्यकारी
नहीं माना जा सकता। तथा यदि चक्षुको प्राप्यकारी ही माना जायगा तो अत्यंत अंधकारमयी रात्रिमें
जहां पर दूर प्रदेशमें अग्नि जल रही है वहां उसके पासके पदार्थ तो चक्षुसे दीख पडते हैं किंतु जहां पर

१ नैयायिक आदि रत्नोंको भी तैजस ही मानते हैं और वे कहते हैं कि रत्नमें पार्थिव भाग अधिक है इसलिये उसकी उष्णता
नहीं जान पडती परन्तु उष्ण अनुष्ण पदार्थका एक जगह मानना उन्हींके सिद्धांतसे बाधित है।

खडा होकर पुरुष अग्निके पासके पदार्थोंको देख रहा है उस प्रदेशसे लेकर वीचके पदार्थ नहीं दीख पडते यदि चक्षु प्राप्यकारी ही है तो उससे बीचके पदार्थ भी दीख पडने चाहिये क्योंकि अग्निके पास में रहनेवाले पदार्थोंके पास वह एकदम कूदकर नहीं पहुंच सकता क्रम क्रमसे ही जायगा परन्तु बीचके पदार्थ नहीं दीख पडते इसलिये चक्षु कभी प्राप्यकारी नहीं हो सकता--उसे अप्राप्यकारी ही मानना होगा। यदि यहांपर यह कहा जाय कि जहांपर अग्नि जल रही है वहांपर प्रकाश है इसलिये अग्निके आसपासके पदार्थ चक्षुसे दीख पडते हैं किंतु बीचमें जो पदार्थ पडे हैं वहांपर प्रकाश नहीं है इसलिये वे नहीं दीख पडते। सो भी कहना ठीक नहीं। जो पदार्थ तैजस होता है उसे दूसरे प्रकाशकी सहायता-की आवश्यकता नहीं होती। अग्नि तैजस पदार्थ है इसलिये जिस समय वह पदार्थोंका प्रकाश करता है उस समय उनके प्रकाश करनेमें वह दूसरे प्रकाशकी अपेक्षा नहीं रखता उसीप्रकार चक्षु भी तैजस पदार्थ है जिस समय उससे पदार्थ देखे जांय उस समय उसे भी दूसरे प्रकाशकी अपेक्षा नहीं करनी चाहिये परन्तु बीचके पदार्थोंके न देख सकनेके कारण यह मालूम पडता है कि चक्षुको प्रकाशकी अ-पेक्षा रहती है इसलिये वह कभी तैजस नहीं कहा जा सकता। और भी यह बात है कि—

नासिका आदि इंद्रियां जिस समय अपने गंध आदि विषयोंको ग्रहण करती हैं उस समय अव्यवहित और जितना होता है उतना ही ग्रहण करती हैं किंतु यह बात नहीं कि किसी पदार्थसे ढके हुए गंधको वे ग्रहण कर सकें वा जितना गंध आदि पदार्थ है उससे अधिक वा कम ग्रहण कर सकें। यदि चक्षुको प्राप्यकारी माना जायगा तो जो पदार्थ कांच आदिके भीतर रक्खा है उसका चक्षुसे ग्रहण न हो सकेगा क्योंकि चक्षुका संबंध कांच आदि सामने रक्खे हुए पदार्थके साथ ही है किंतु उसके भीतर

रक्खे हुए पदार्थके पास वह नहीं पहुंच सकता तथा घटका एक ओरका भाग देखते ही समस्त घटका
ग्रहण हो जाता है यदि चक्षुको प्राप्यकारी माना जायगा तो जितने भागके पास वह पहुंचा है उतने ही
भागका ग्रहण होना चाहिये परन्तु सो नहीं होता, समस्त घटका वहां ग्रहण होता है दूसरे जो पदार्थ
छोटा है वह चक्षुद्वारा बडा भी देखनेमें आता है जो बडा है वह छोटा दीख पडता है इस प्रकारकी
हीनाधिक ग्राहकता अन्य प्राप्यकारी इंद्रियोंमें नहीं पाई जाती है क्योंकि प्राप्यकारितामें जो जितना
विषय है वह उतने हीको ग्रहण कर सकता है इसलिये चक्षु प्राप्यकारी सिद्ध नहीं हो सकता। तथा—

यदि यह कहा जाय कि इंद्रियोंका अधिष्ठान—रहनेका स्थान बाह्य है इसलिये वे ढके हुए पदार्थको
वा अधिक पदार्थको ग्रहण कर सकतीं हैं इस रीतिसे चक्षु भी ढके पदार्थका और अधिकका ग्रहण कर
सकता है। सो भी ठीक नहीं। जिसको इंद्रियोंके रहनेका स्थान कहा जाता है वह द्रव्येंद्रिय है यदि
उसे इंद्रियोंके रहनेका स्थानमात्र कहा जायगा और इंद्रियोंको उससे सर्वथा भिन्न माना जायगा तो
किसी कारणसे विकार हो जानेपर उसका इलाज करनेसे इंद्रियोंको लाभ नहीं पहुंचेगा क्योंकि वह
रहनेमात्रका स्थान है दूसरे उस स्थानके बंद हो जानेपर भी इंद्रियोंसे पदार्थोंका ग्रहण हो सकेगा क्योंकि
स्थान उनको विषय ग्रहण करनेमें प्रतिबंधक नहीं हो सकता तथा यदि बाह्य अधिष्ठानके रहनेसे ही
इंद्रियां पदार्थोंके ग्रहण करनेमें समर्थ मानी जांयगी तो मनसे अधिष्ठित इंद्रियां अपने अपने विषयोंको
ग्रहण करती हैं यह आपका सिद्धांत है परन्तु मनके रहनेका कोई बाह्य स्थान है नहीं इसलिये उससे अधि-
ष्ठित हो इंद्रियां पदार्थोंको ग्रहण न कर सकेंगी और न मनसे ही किसी पदार्थका ग्रहण होगा तथा 'मनसे
अधिष्ठित हो इंद्रियां अपने अपने विषयोंको ग्रहण करती हैं' ऐसा कहनेसे इंद्रियोंका अधिष्ठान मनके

अनुकूल होना चाहिये परन्तु मनके अनुकूल इंद्रियोंका अधिष्ठान माना नहीं जा सकता क्योंकि तुमने मनको अणु पदार्थ माना है और चक्षुका किरण समूह सर्वत्र फैला हुआ माना है इसलिये इतने विशाल किरण समूहरूप चक्षुका अणुकी बराबर मन कभी अधिष्ठान नहीं बन सकता। इस रीतिसे इंद्रियोंका बाह्य अधिष्ठान होनेसे वे सांतर और अधिकका ग्रहण कर सकती हैं यह नहीं कहा जा सकता। अब यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

कर्ण इंद्रियसे दूरवर्ती शब्दका ग्रहण होता है। उस शब्द तक कर्ण इंद्रिय पहुंच नहीं सकती इसलिये कर्णइंद्रिय भी अप्राप्यकारी है—शब्दके पास न जाकर ही उसे ग्रहण करनेवाली है ? सो ठीक नहीं। कर्णइंद्रिय प्राप्यकारी है वा अप्राप्यकारी है यह बात तो पीछे निश्चित होगी पहिले ये विकल्प उठते हैं कि वह दूरवर्ती शब्दको ग्रहण करती है कि नासिका इंद्रियके समान भिडकर अपने विषयरूप परिणत शब्दको ग्रहण करती है ? यदि यह कहा जायगा कि दूरवर्ती शब्दको ग्रहण करती है तब किसी कारण से जब कानके भीतर मच्छर घुस जाता है और वह जब बिल बिलाकर शब्द करता है तब कानसे सुन पडता है परन्तु अब नहीं सुना जाना चाहिये क्योंकि ऐसी कोई भी इंद्रिय नहीं जो दूरवर्ती पदार्थको भी ग्रहण करै और समीपवर्तीको भी ग्रहण करै। कानके भीतर रहनेवाला मच्छरका शब्द तो बिलकुल कानसे स्पृष्ट है। यदि कदाचित् यहां यह कहा जाय कि—शब्द आकाशका गुण[1] है और आकाश अमूर्तिक पदार्थ है इसलिये शब्दमें स्पर्श गुण न रहनेके कारण वह स्पृष्ट नहीं कहा जा सकता ? सो भी ठीक नहीं। यदि शब्दको अमूर्तिक आकाशका गुण माना जायगा तो जिस तरह अमूर्तिक आत्माके गुणों

१ 'शब्दगुणकमाकाशं' अन्नंभट्ट।

का इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष नहीं होता उसी तरह अमूर्तिक आकाशके गुण शब्दका भी इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष न होना चाहिये परन्तु कर्णइंद्रियसे शब्दका प्रत्यक्ष होता है इसलिये वह आकाशका गुण नहीं कहा जा सकता और न उसमें स्पर्श गुणका निषेध किया जा सकता है। इस रीतिसे दूरवर्ती शब्दके पास जाकर कर्ण-इंद्रिय उसे ग्रहण करती है यह वात नहीं कही जा सकती किंतु कर्णइंद्रियके पास आकर जब शब्द कर्णके साथ संबंध करता है उस समय उससे शब्दका ग्रहण होता है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

जब श्रोत्र इंद्रियके पास आकर शब्द प्राप्त होगा तब कर्णइंद्रिय उसे ग्रहण करेगी वह उसके पास नहीं जा सकती तब पूर्व दिशामें हुआ वा पश्चिम दिशामें हुआ इस प्रकार दिशा और मृदंगका वा मंजीराका, इसप्रकार देशके भेदसे शब्दोंका ग्रहण होता है अब दिशा और देशके भेदसे शब्दोंका ग्रहण न हो सकेगा क्योंकि सब शब्द जब कर्णमें ही आकर प्राप्त हो जांयगे तब उनमें दिशा और देशका भेद कैसा ? सो ठीक नहीं। शब्दस्वरूप परिणत हो फैलनेवाले पुद्गलमें वेगशक्ति मानी है उसकी विशेषतासे जिस क्षणमें जिस दिशा वा देशमें शब्द हुआ कि तत्काल फैलकर उसके परमाणु कान तक पहुंच जाते हैं कुछ भी वहां कालका विलंब नहीं होता इसलिये वह जिस दिशा वा जिस देशमें होता है उसी देशका कर्णइंद्रियसे जान लिया जाता है तथा शब्दको सूक्ष्म होनेसे और अप्रतिघाती होनेसे अर्थात् किसीसे नहीं रुकनेवाला होनेसे चारों ओरसे कर्णमें उसका प्रवेश हो जाता है इस रीतिसे उप-युक्त तर्क वितर्कसे यह अच्छीतरह निश्चित हो चुका कि चक्षु और मनको छोडकर शेष इंद्रियोंसे व्यंजनावग्रह होता है और चक्षु एवं मनसहित समस्त इंद्रियोंसे अर्थावग्रह होता है। शंका—

मनसोऽनिंद्रियव्यपदेशाभावः स्वविषयग्रहणे करणांतरानपेक्षत्वाच्चक्षुर्वत् ॥ ४ ॥ न वाऽप्रत्यक्षत्वात् ॥ ५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार नेत्रइंद्रिय जिस समय रूपका ग्रहण करती है उस समय वह रूपके ग्रहण करनेमें दूसरी इंद्रियकी अपेक्षा नहीं करती इसलिये उसे इंद्रिय कहा जाता है उसीप्रकार मन भी जिस समय गुण और दोषोंका विचार करता है उस समय उस विचारमें वह किसी भी अन्य इंद्रियकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये उसे भी इंद्रिय कहना चाहिये अनिंद्रिय नहीं ? सो ठीक नहीं। जिस प्रकार नेत्र आदि इंद्रिय आपसमें एक दूसरेको प्रत्यक्ष दीख पडती हैं उसप्रकार मन, प्रत्यक्षसे नहीं दीख पडता किंतु वह सूक्ष्म द्रव्यका परिणमनस्वरूप है इसलिये वह चक्षु आदि इंद्रियोंके समान इंद्रिय नहीं कहा जा सकता किंतु अनिंद्रिय ही है। जब मन अनिंद्रिय पदार्थ है तब उसके अस्तित्वका ज्ञान कैसे हो सकता है ? इस वातका समाधान वार्तिककार देते हैं—

अनुमानात्तस्याधिगमः ॥ ६ ॥ युगपज्ज्ञानाक्रियानुत्पत्तिर्मनसो हेतुः ॥ ७ ॥

अनुस्मरणदर्शनाच्च ॥ ८ ॥

यद्यपि सूर्यका गमन प्रत्यक्षसे नहीं दीखता तो भी वह पूर्व दिशामें उदित हो कर पश्चिम दिशामें जाकर अस्त होता है यह बात गमन किए विना नहीं बन सकती, इस अनुमानसे उसका गमन निश्चित कर लिया जाता है। आम्र वृक्ष आदि वनस्पतियोंका वढना घटना प्रत्यक्षसे नहीं दीख पडता तो भी उत्पत्ति कालमें वृक्ष बहुत छोटा होता है पीछे बहुत बडा हो जाता है। वृक्षोंमें वृद्धि और ह्रास बिना माने उनमें घटना बढना नहीं हो सकता इस अनुमानसे वनस्पतिमें वृद्धि ह्रासका निश्चय कर लिया जाता है उसी तरह यद्यपि प्रत्यक्षसे मन नहीं दीख पडता तो भी जब नेत्र आदि पांचों इंद्रियां अपने अपने विषयके ग्रहण करनेमें असमर्थ हैं। उनके विषयभूत रूप आदि पदार्थ भी संसारमें मौजूद

अनेक प्रकारके प्रयोजन भी विद्यमान हैं फिर क्या बात
हैं। इंद्रियोंके अपने अपने विषयोंके जाननेमें अनेक प्रकारके प्रयोजन भी विद्यमान हैं फिर क्या बात
है कि पांचों इंद्रियोंसे एक साथ ज्ञान नहीं होता। यह शंका होने पर कहना होगा कि पांचों इंद्रियोंके
विषय भूत पदार्थोंके साथ युगपत् मन संबंध नहीं करता किंतु क्रम क्रमसे संबंध करता है इसलिए एक
साथ पांचों इंद्रियोंसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती, क्रम क्रमसे ही होती है। इसलिए एक साथ ज्ञानोंकी
अनुत्पत्ति रूप हेतुसे मन पदार्थका निश्चय हो जाता है। तथा जो पदार्थ एक बार देख लिया जाता है
वा सुन लिया जाता है कालांतरमें उसका स्मरण होता है यह बात सिवाय मनके दूसरेसे नहीं हो सकती
और होती हुई अनुभवमें आती ही है इसलिए कभी मनका अभाव नहीं माना जा सकता इसरीतिसे
प्रत्यक्षके विषय न भी होने वाले पदार्थोंकी सत्ताका जब अनुमानसे निश्चय हो जाता है तब यद्यपि मन
पदार्थ परोक्ष है तो भी उसका अभाव नहीं माना जा सकता। यदि कदाचित् यह शंका की जाय कि
आत्मा एक है उसके अनेक करण कैसे हो सकते हैं? उसका समाधान इस प्रकार है—

ज्ञस्वभावस्यापि करणभेदोऽनेककलाकुशल-देवदत्तवत् ॥ ९ ॥

एक ही देवदत्त जिस समय चित्र क्रियामें प्रवृत्त होता है उससमय उसे चित्रके कारण सलाई कलम
और कुची आदि उपकरणोंकी अपेक्षा करनी पडती है। जिस समय वह किसी काठके कार्यमें प्रवृत्त होता
है उस समय उसे वसूला हथौडा और आरेकी अपेक्षा करनी पडती है इसलिए एक ही देवदत्तको जिस
प्रकार अनेक करणोंकी अपेक्षा रहती है उसी प्रकार एक भी आत्माको क्षयोपशमके भेदसे ज्ञान करानेमें
शक्तिमान चक्षु आदि अनेक करणोंकी अपेक्षा करनी पडती है अर्थात् जिस समय आत्मा रूप आदिको

१ युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगं प्रथ० अ० प्र० भा० पृ० २३ न्यायदर्शन।

देखना चाहता है उस समय उसे चक्षु इंद्रिय रूप करणकी अपेक्षा करनी पडती है। जिस समय वह शब्द सुनना चाहता है उस समय उसे श्रोत्रेंद्रियरूप करणकी अपेक्षा करनी पडती है इसी तरह आगे भी जिस जिस इंद्रियके विषयके ग्रहण करनेकी अपेक्षा करता है उसे उस उस इंद्रिय स्वरूप करणकी अपेक्षा करनी पडती है इसलिए कोई दोष नहीं। तथा—

स नामकर्मसामर्थ्यात् ॥ १० ॥

करणोंके जो चक्षु श्रोत्र आदि भेद हैं वे नाम कर्मकी अपेक्षासे हैं और वे इस प्रकार हैं—शरीर नामक नाम कर्मके उदय आदिसे उत्पन्न होनेवाली और जो कि नलीके समान आकारकी धारक श्रोत्र इंद्रिय है वही शब्दोंके ज्ञान करनेमें समर्थ है अन्य किसी इंद्रियसे शब्दका ज्ञान नहीं हो सकता। तथा पूर्वोक्त कर्मके उदय आदिसे उत्पन्न होनेवाली अतिमुक्तक चंद्रकके समान आकारकी धारक नासिका इंद्रियसे गंधका ज्ञान नहीं हो सकता। पूर्वोक्त कर्मके उदय आदिसे निर्मित खुरपाके समान आकारकी धारक जिह्वा इंद्रिय है उसीसे इसका ज्ञान हो सकता है अन्य इंद्रिय रसके ज्ञान करानेमें समर्थ नहीं। पूर्वोक्त कर्मके उदय आदिसे निर्मित अनेक प्रकारके आकारोंको धारण करनेवाली स्पर्शन इंद्रिय है। स्पर्शके ग्रहण करनेमें इसीकी सामर्थ्य है और किसीका स्पर्शन इंद्रियसे ग्रहण नहीं हो सकता। एवं पूर्वोक्त कर्मके उदय आदिसे निर्मित मसूरके आकार और कृष्ण तारा मंडलसे अधिष्ठित नेत्र इंद्रिय है। रूपके ग्रहण करनेमें इसी इंद्रियकी सामर्थ्य है और किसी इंद्रियसे रूपका ग्रहण नहीं हो सकता इस प्रकार यह मतिज्ञानके पांचों करणोंकी हेतुपूर्वक सिद्धि कह दी गई। इस मतिज्ञानका स्वरूप द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा भी समझ लेना चाहिए और वह इस प्रकार है—

१ तिलका पुष्प।

मतिज्ञानी पुरुषको यदि उपदेश द्वारा समझाया जाय तो वह मतिज्ञानसे समस्त द्रव्य और उनकी
कुछ पर्यायोंको जान सकता है समस्त पर्यायोंको नहीं। यदि उसे क्षेत्र संबंधी उपदेश दिया जाय तो वह
उपदेशसे समस्त क्षेत्रोंको जान सकता है। यहांपर क्षेत्रका अर्थ विषय भी है इसलिये जिससे इंद्रियोंकी
अपेक्षा विचार किया जायगा उससमय चक्षुका क्षेत्र सैंतालिस हजार दोसौ त्रेसाठि योजन और एक
योजनके साठि भागोंमेंसे इकीस भाग प्रमाण है अर्थात् अधिकसे अधिक चक्षु इतनी दूर तक देख
सकता है उससे अधिक नहीं। कर्ण इंद्रियका क्षेत्र बारह योजन है एवं नासिका जिह्वा और स्पर्शन
इंद्रियका नौ नौ योजन है। यदि मतिज्ञानीको काल संबंधी उपदेश दिया जाय तो वह समस्त कालको
जान सकता है और यदि भावसंबंधी उपदेश दिया जाय तो वह जीव अजीव आदिके औदयिक आदि
भावोंको जान सकता है।

सामान्य रूपसे तो मतिज्ञान एक प्रकारका है। इंद्रिय और अनिंद्रियके भेदसे दो प्रकारका है।
अवग्रह ईहा अवाय और धारणाके भेदसे चार प्रकारका है। अवग्रह आदि चारो भेदोंका यदि इंद्रियोंके
साथ गुणा किया जाय तो वह चौबीस प्रकारका है। व्यंजनावग्रह चार इंद्रियोंसे होता है यदि चौबीस
भेदोंमें चार प्रकारका व्यंजनावग्रह मिला दिया जाय तो उसके अट्ठाईस भेद हो जाते हैं। इन्हीं अट्ठाईस
भेदोंमें यदि अवग्रह आदि चार मूल भेद वा द्रव्य क्षेत्र काल और भाव ये चार मिला दिये जांय तो
मतिज्ञानके बत्तीस भेद हो जाते हैं। मतिज्ञानके चौबीस भेदोंका यदि बहु आदि छैके साथ गुणा किया
जाय तो एकसौ चालिस उसके भेद हो जाते हैं। यदि अट्ठाईस भेदोंका बहु आदि छैके साथ गुणा
किया जाय तो एकसौ अडसठि और बत्तीस भेदोंका बहु आदि छैके साथ गुणा किया जाय तो एकसौ

बानबे भेद हो जाते हैं। यदि उन्हीं चौबीस भेदोंका बहु आदि बारहके साथ गुणा किया जाय तो दो सौ अठासी, यदि अट्ठाईस भेदोंका बहु आदि बारहके साथ गुणा किया जाय तो तीनसौ छत्तीस और यदि बत्तीस भेदोंका बहु आदि बारहके साथ गुणा किया जाय तो तीनसौ चौरासी भेद हो जाते हैं। शंका—

व्यंजनावग्रहमें अव्यक्त पदार्थका अवग्रह माना है। बहु आदि पदार्थ व्यक्त हैं इसलिये उनका व्यंजनावग्रह नहीं हो सकता ? सो ठीक नहीं। जब अव्यक्तका ग्रहण व्यंजनावग्रह माना गया है तब बहु आदि भेद भी अव्यक्त हो सकते हैं इसलिये उनका व्यंजनावग्रह होना असंभव नहीं। यदि यह कदाचित् और भी शंका की जाय कि अनिःसृतमें व्यंजनावग्रह कैसे होगा ? क्योंकि वहांपर जो पदार्थके अवयव बाहर निकले हुए हैं वे व्यक्त ही हैं अव्यक्त नहीं। यहांपर यह नहीं कहा जा सकता कि बाहर निकले हुए भी जो पुद्गल सूक्ष्म हैं और सूक्ष्मतासे दीख नहीं पडते वहां व्यंजनावग्रह हो सकता है ? क्योंकि वहां जो निकले हुए पुद्गलके अवयव हरएकको नहीं दीख पडते हैं उनके न दीखनेमें सूक्ष्मता कारण है—सूक्ष्म होनेसे वे दृष्टिगोचर नहीं हो सकते परंतु उनको अव्यक्त नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे देखे जा सकते हैं इसलिये अनिःसृतका व्यंजनावग्रह बाधित है। सो ठीक नहीं हम भी उनका व्यंजनावग्रह नहीं मानते किंतु जो बाहर निकले हुए पदार्थ इंद्रियोंके स्थानमें आकर अवगाहन करते हैं ठहरते हैं और व्यक्त नहीं होते उनका व्यंजनावग्रह होता है। यद्यपि चक्षु और मनके स्थानपर पदार्थों का अवगाहन होना बाधित है क्योंकि वहां अवगाहन हो नहीं सकता उनसे व्यंजनावग्रह माना ही नहीं गया किंतु उनके सिवाय चार इंद्रियोंसे व्यंजनावग्रह माना है और उनके स्थानमें पदार्थोंका अवगाहन

होता है अर्थात् चार इंद्रियां प्राप्यकारी होनेसे अव्यक्त पदार्थको ग्रहण करनेमें समर्थ हैं इसलिये कोई दोष नहीं ॥ १९ ॥

मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके भेदसे परोक्षज्ञान दो प्रकारका ऊपर कहा गया है। उनमें मतिज्ञानके लक्षण और भेद आदिका वर्णन हो चुका। अब श्रुतज्ञान किन कारणोंसे उत्पन्न होता है और के प्रकारका है इस बातको सूत्रकार कहते हैं—

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदं ॥ २० ॥

श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है और उसके दो, अनेक और बारह भेद हैं।

श्रुतशब्दोऽजहत्स्वार्थवृत्तो रूढिवशात् कुशलशब्दवत् ॥ १ ॥

'कुशं लुनातीति कुशलः' जो कुश—दावको काटे वह कुशल कहा जाता है यह कुशल शब्दका व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ है परंतु इस अर्थको छोडकर जिसप्रकार रूढिबलसे उसका चतुर अर्थ लिया जाता है उसीप्रकार 'श्रूयत इति श्रुतं' जो सुना जाय वह श्रुत है, श्रुतशब्दका व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ तो यह है परंतु रूढिबलसे उसका ज्ञान अर्थ लिया गया है इसलिये सूत्रमें जो श्रुत शब्दका पाठ रक्खा है उसका अर्थ श्रुतज्ञान लेना चाहिये।

कार्यप्रतिपालनात् पूरणाद्वा पूर्वं कारणं ॥ २ ॥

जो कार्यका पालन करै वा उसे पूर्ण करै वह कारण कहा जाता है। लिंग निमित्त ये उसी कारणके पर्यायांतर हैं। सूत्रमें जो 'मतिपूर्व' शब्द है उसकी मति है पूर्वमें जिसके वह मतिपूर्व कहा जाता है यह व्युत्पत्ति है एवं 'श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें' मतिज्ञान कारण है यह उसका अर्थ है। शंका—

मतिपूर्वकत्वे श्रुतस्य तदात्मकत्वप्रसंगो घटवत्, अतदात्मकत्वे वा तत्पूर्वकत्वाभावः ॥ ३ ॥

न वा निमित्तमात्रत्वाद्दंडिवत् ॥ ४ ॥

जो गुण कारणमें होते हैं वे कार्यमें आते हैं जिसतरह जो घट मिट्टीसे बनाया जाता है वह अपने घट कार्यकालमें भी मिट्टीस्वरूप ही रहता है । यदि मतिज्ञानको श्रुतज्ञानका कारण माना जायगा तो उसे मतिज्ञानस्वरूप ही कहना पडेगा । यदि श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें उसे कारण नहीं माना जायगा तो 'मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है' यह बात ही न बन सकेगी । इसलिये मतिज्ञान श्रुतज्ञानका कारण नहीं हो सकता। सो ठीक नहीं। जिसतरह घटकी उत्पत्तिमें दंड आदि निमित्त कारण हैं और "निमित्त कारणके गुण कार्यमें आते नहीं" यह प्रत्यक्ष सिद्ध है इसलिये दंड आदि निमित्त कारणोंके गुण घटमें आते नहीं दीख पडते उसीप्रकार श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें मतिज्ञान निमित्त कारण है और निमित्त कारण होनेसे मतिज्ञानके गुण श्रुतज्ञानमें नहीं आ सकते। इसका खुलासा इसप्रकार है—

मिट्टी जिससमय घटस्वरूप परिणामके अभिमुख होती है । घटस्वरूप उसका परिणाम होता है उससमय उसके उस रूपमें परिणत होनेमें दंड चाक और पुरुषका प्रयत्न आदि निमित्त कारण होते हैं क्योंकि बालू आदिके ढेरस्वरूप मिट्टीके पिंडको यदि घटस्वरूप परिणत न किया जाय तो दंड आदि निमित्तोंके विद्यमान रहते भी घट नहीं उत्पन्न हो सकता इसलिये जिसप्रकार स्वयं मिट्टी ही अंतरंगमें घट रूप पर्यायके अभिमुख होने पर वाह्य दंड आदि निमित्त कारणोंकी सहायतासे घट बन जाती है। दंड आदि घट नहीं बनते इसलिये वे घटकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण माने जाते हैं उसीप्रकार पर्यायी आत्मा और पर्याय ज्ञानादिकी कथंचित् भेद विवक्षा रहने पर जिससमय आत्मा स्वयं अंतरंगमें श्रुत-

ज्ञानस्वरूप परिणत होना चाहता है उससमय उसके उसप्रकारके परिणमनमें मतिज्ञान निमित्त कारण होता है क्योंकि सम्यग्दृष्टि आत्मा कर्णेंद्रियका अवलंबन रहनेपर तथा वाह्यमें आचार्यों द्वारा पदार्थोंका उपदेश मिलने आदि निमित्तोंके समीपमें रहने पर भी जब ज्ञानावरणकर्मके उदयसे अंतरंगमें श्रुतज्ञान स्वरूप परिणत होना नहीं चाहता तब श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती इसलिये अंतरंगमें श्रुतज्ञा-नावरण कर्मके क्षयोपशमसे श्रुतज्ञानस्वरूप पर्यायके अभिमुख आत्मा ही वाह्यमें मतिज्ञान आदि निमित्तोंकी अपेक्षा रखता हुआ स्वयं श्रुतज्ञानी कहा जाता है। मतिज्ञान श्रुतज्ञान नहीं कहा जा सकता किंतु मति-ज्ञान उसकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण है । निमित्त कारणके गुण कार्यमें आ नहीं सकते इसलिये जब श्रुतज्ञानका मतिज्ञान कारण है तब मतिज्ञानके गुण श्रुतज्ञानमें आने चाहिये और गुणोंके आनेसे उसे मतिज्ञान ही कहना चाहिये यह कहना व्यर्थ है। और भी यह बात है—

अनेकांताच्च ॥ ५ ॥

कारणके समान ही कार्य होते हैं यह एकांत नहीं है किंतु वहां भी सप्तभंगी घटित होती है कथंचित सदृश है और कथंचित् सदृश नहीं भी है यह सिद्धांत माना है । जिसतरह अजीवपना और ज्ञानादि उपयोगरहितपना जैसा मिट्टीमें है वैसा ही घटमें है इसलिये अजीवपना और उपयोगसे रहितपनाकी अपेक्षा तो मिट्टीके सदृश घट है और जैसा मिट्टीका पिंड है वैसा घटका नहीं एवं जैसा मिट्टीका आकार है वैसा घटका नहीं इसप्रकार पिंड और आकारकी विषमताकी अपेक्षा मिट्टीके समान घट नहीं भी है। यह यहांपर सात भंगोंमें आदिके दो भंगोंकी अपेक्षा कथन है इसीतरह कथंचित् सदृश है भी और नहीं भी है। कथंचित् अवक्तव्य है इत्यादि वाकीके भंग समझ लेने चाहिये। यदि सर्वथा मिट्टीके

समान ही घटको माना जायगा तो उसकी घट पिंड शिविका छत्रक आदि पर्यायें न सिद्ध हो सकेंगी क्योंकि सर्वथा मिट्टीस्वरूप होनेसे सबका मिट्टीके नामसे ही व्यवहार होगा। तथा मिट्टीमें जलका लाना धारण करना आदि व्यापार नहीं होते यदि एकांतसे घटको मिट्टीस्वरूप ही माना जायगा तो घटमें भी जल धारण करना आदि न हो सकेंगे किंतु घट जलको धारण करता है लाता है लेजाता है यह बात प्रत्यक्ष दीख पडती है इसलिये एकांतसे घट मिट्टीस्वरूप नहीं कहा जा सकता। तथा यह भी बात है कि—यदि एकांतसे घटको मिट्टीस्वरूप ही माना जायगा तो जिसतरह मिट्टीकी घट पर्याय होती है उसतरह घटकी भी घट पर्याय होनी चाहिये परंतु देखनेमें आता है कि घटका परिणमन कपाल रूप होता है घटस्वरूप नहीं होता इसलिये कभी घट एकांतसे मिट्टीस्वरूप नहीं कहा जा सकता उसी-प्रकार यदि सामान्यरूपसे देखा जाय तो श्रुतज्ञान मतिज्ञानके समान है क्योंकि मतिज्ञान भी ज्ञान है और श्रुतज्ञान भी ज्ञान है किंतु जिससमय यह विशेषता ली जायगी कि व्यवधानरहित और सन्मुख स्थित पदार्थको मतिज्ञान जानता है और अव्यवहित सन्मुखकी कोई अपेक्षा न कर अनेक पदार्थोंके जाननेकी सामर्थ्य श्रुतज्ञानमें है तब मतिज्ञानके समान श्रुतज्ञान नहीं कहा जा सकता इसरीतिसे श्रुत-ज्ञान कथंचित् मतिज्ञानके समान है। कथंचित् नहीं है कथंचित् है भी और नहीं भी है। कथंचित् अव-क्तव्य है इत्यादि रूप समझ लेना चाहिये। शंका—

श्रोत्रमतिपूर्वस्यैव श्रुतत्वप्रसंगस्तदर्थत्वादिति चेन्नोक्तत्वात् ॥ ६ ॥

सुनकर जो निश्चय होना वह श्रुत है। यह श्रुत शब्दका अर्थ है। इस अर्थसे श्रोत्रेंद्रियजन्य मतिज्ञान-पूर्वकता ही श्रुतज्ञानको आ सकती है समस्त इंद्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वकता नहीं आ सकती इसलिये

सामान्यरूपसे श्रुतज्ञानको मतिज्ञानपूर्वक कहना अयुक्त है ? सो ठीक नहीं। यह ऊपर कहा जा चुका है कि श्रुतशब्द रूढ है । जो शब्द रूढ होते हैं वे अपने व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थकी अपेक्षा नहीं करते। यद्यपि 'सुनकर जो निश्चय होना वह श्रुत है' श्रुतशब्दके इस अर्थसे श्रोत्रेंद्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वकता ही श्रुतज्ञानके सिद्ध होती है तो भी रूढिबलसे समस्त इंद्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वकता उसके मानी है श्रुत का लक्षण यही है कि अर्थसे अर्थांतरका बोध होना, वह लक्षण जहां प्रत्येक इंद्रियसे पदार्थ ग्रहण होकर अर्थसे अर्थांतरका बोध होगा वहां सर्वत्र घटित होगा इसलिये सामान्यसे मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है इस अर्थके माननेमें कोई आपत्ति नहीं। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि—

आदिमतोऽतवत्त्वाच्छ्रुतस्यानादिनिधनत्वानुपपत्तिरिति चेन्न द्रव्यादिसामान्यापेक्षया तत्सिद्धेः ॥ ७ ॥

श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है इस अर्थसे श्रुतज्ञानको सादिपना सिद्ध होता है। जिस पदार्थकी आदि है उसका अंत भी नियमसे है इसरीतिसे जब श्रुतज्ञानके आदि अंत दोनों सिद्ध हैं तब 'अनादि-निधनं श्रुतं' श्रुतज्ञान आदि अंत रहित है, यह कथन बाधित हो जाता है तथा जो पदार्थ पुरुषके प्रयत्न-साध्य होता है वह प्रमाणिक नहीं गिना जाता यदि श्रुतको सादि और सांत माना जायगा तो वह भी पुरुषकृत ही होनेके कारण प्रामाणिक नहीं माना जा सकता इसलिए श्रुतज्ञानको मतिज्ञानपूर्वक माननेमें अनेक दोष आते हैं ? सो ठीक नहीं। जिस प्रकार बीजसे अंकूरा, अंकूरासे बीज यहांपर जब संतानकी अपेक्षा की जाती है तब बीज और अंकुर अनादि निधन कहे जाते हैं क्योंकि बीज और अंकुरकी संततिमें ऐसा कोई भी निश्चयरूपसे नहीं कह सकता कि पहिले बीज है कि पहिले अंकुर है किंतु विशेष रूपसे जहांपर किसी बीजसे अंकुर हुआ है वहांपर बीज और अंकुर सादि सांत हैं क्योंकि वहां

पर पहिले बीज पीछे अंकुर हुआ है इसलिए बीज और अंकुरमें जिस प्रकार संतानकी अपेक्षा अनादि निधनपना है और व्यक्ति विशेषकी अपेक्षा सादि सांतपना है उसी प्रकार जहां पर द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी भिन्न भिन्न विवक्षा न कर सामान्य रूपसे विवक्षा है वहांपर तो श्रुतज्ञान अनादि निधन है क्योंकि किसी पुरुषने कभी किसी कालमें किसी प्रकारसे श्रुतका निर्माण नहीं किया किंतु जिस समय अमुक द्रव्यसे अमुक क्षेत्रमें अमुक कालमें अमुक भावसे श्रुतका निर्माण किया गया है, इस तरहकी जहांपर द्रव्य क्षेत्र आदिकी विशेष विवक्षा है वहां श्रुत सादि सांत है इस रीतिसे कथंचित् सामान्यकी अपेक्षा श्रुत अनादि अनंत है और कथंचित्-विशेषकी अपेक्षा सादि सांत है इसलिए 'अनादिनिधनं श्रुतं' यह वचन अनेकांत वादकी अपेक्षा कभी बाधित वा मिथ्या नहीं कहा जा मकता। तथा सादि सांत पक्षमें पुरुषकृत होनेसे जो श्रुतको अप्रमाणिक ठहराया है वह भी ठीक नहीं। क्योंकि चोरीके उपदेशके कर्ताका किसीको स्मरण नहीं है अर्थात् चोरीका उपदेश किसने दिया इसका कोई निश्चय नहीं जिससे वह पुरुषकृत माना जाय वहां उस चोरी आदिके उपदेशको भी प्रामाणिक मानना पडेगा क्योंकि वहांपर भी पुरुषकी कृति का निश्चय नहीं है। तथा यह भी बात है कि सादि सांत कहनेसे श्रुतको अनित्यपना सिद्ध होता है इसीसे उसे अप्रमाणिक सिद्ध करनेके लिये यत्न किया जाता है परंतु अनित्य पदार्थ सब अप्रमाणिक ही होते हैं, यह बात नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष आदि भी अनित्य पदार्थ हैं। यदि अनित्य पदार्थोंको अप्रामाणिक माना जायगा तो प्रत्यक्ष अनुमान आदिको भी अप्रामाणिक मानना पडेगा परंतु उन्हें अप्रामाणिक नहीं माना गया अन्यथा संसारके पदार्थोंकी व्यवस्था ही न हो सकेगी इसलिए सादि सांत होनेसे श्रुतको अप्रामाणिकपना नहीं हो सकता। इस रीतिसे

कथंचित् अनादि निधन और कथंचित् सादि सांत श्रुत है और वही प्रमाण है यह बात निश्चित हो चुकी। शंका—

सम्यक्त्वोत्पत्तौ युगपन्मतिश्रुतोत्पत्तेर्मतिपूर्वकत्वाभाव इति चेन्न सम्यक्त्वस्य तदपेक्षत्वात् ॥ ८ ॥

जबतक आत्मामें सम्यग्दर्शन गुणका प्रादुर्भाव नहीं होता तबतक उसमें मति और श्रुतकी स्थिति अज्ञानरूपसे रहती है किंतु जिस समय प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है उस समय दोनों ही एक साथ सम्यग्ज्ञान हो जाते हैं इस रीतिसे जब दोनोंका सम्यग्ज्ञानपना एक साथ सिद्ध है तब मतिज्ञान-पूर्वक श्रुतज्ञान होता है यह कहना अयुक्त है? सो ठीक नहीं। क्योंकि ज्ञानोंकी उत्पत्ति तो क्रमसे ही होती है किंतु सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होनेपर दोनों ज्ञानोंमें सम्यक्पना साथ २ आता है इसलिये उसीकी अपेक्षासे युगपत् उत्पत्ति कही गई है। आत्मामें प्रथमोपशम सम्यक्त्वके प्रगट हो जानेपर दोनों ज्ञानों का सम्यग्ज्ञानपना एक साथ होता है परन्तु जिस तरह पितासे पुत्र उत्पन्न होता है उसतरह श्रुतज्ञान-की उत्पत्ति मतिज्ञानसे ही होती है इसलिये श्रुतज्ञानको मतिज्ञानपूर्वक मानना युक्त ही है—अयुक्त नहीं ॥ ८ ॥ यदि कदाचित् यह और भी शंका की जाय कि—

मतिपूर्वकत्वाविशेषाच्छ्रुताविशेष इति चेन्न, कारणभेदात्तद्भेदासिद्धेः॥ ९॥

जब श्रुतज्ञानको मतिपूर्वक माना है तब सब जीवोंका श्रुतज्ञान एकसा होना चाहिये क्योंकि सब के श्रुतज्ञानमें मतिज्ञानरूप कारण समान है। सो ठीक नहीं। यद्यपि श्रुतज्ञानमात्रकी उत्पत्तिमें मति-ज्ञानको कारण माना है परन्तु मतिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम अनेकप्रकारका है और श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम भी अनेक प्रकारका माना है इसलिये हर एक पुरुषकी अपेक्षा जैसा २ मतिज्ञानावरण

कर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा मतिज्ञान होगा उसीके अनुसार श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे श्रुतज्ञान माना जायगा इसलिये कारण—मतिज्ञानके भेदसे कार्य श्रुतज्ञानका भेद है। इस रीतिसे सबमें एकसा श्रुतज्ञान न होकर हीनाधिकभावसे है यह बात सिद्ध हो चुकी।

श्रुताच्छ्रुतप्रतिपत्तेर्लक्षणाव्याप्तिरिति चेन्न तस्योपचारतो मतित्वासिद्धेः ॥ १० ॥

जिस पुरुषको घट पदार्थका संकेत मालूम है उसको पहिले शब्दस्वरूप परिणत पुद्गलस्कंधोंसे वर्ण पद वाक्य आदि स्वरूप जो घटका ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है और उसके बाद 'घट मिट्टीका होता है, उसका ऐसा आकार होता है' इत्यादि नेत्र आदि इंद्रियोंके विषयका अविनाभावी जो विशेष ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है। इस श्रुतज्ञानके विषयभूत घटसे उसको जलधारण आदिका जो ज्ञान होता है वह भी श्रुतज्ञान है। इसी तरह जिस पुरुषको धूम पदार्थका संकेत मालूम है उसका धूम शब्दका सुनना मतिज्ञान है और उसके बाद 'धूम अग्निसे उत्पन्न होता है और वह काला काला होता है' इत्यादि रूप जो नेत्रादि इंद्रियोंके विषयका अविनाभावी विशिष्ट ज्ञान है वह श्रुतज्ञान है। इस श्रुतज्ञानके विषयभूत धूमसे जो अग्निका ज्ञान होता है वह भी श्रुतज्ञान है इस रीतिसे जब श्रुतज्ञानसे भी श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति दीख पडती है तब मतिज्ञानपूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है यह बात अयुक्त है? सो ठीक नहीं। जहांपर मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होनेके बाद जो उस श्रुतज्ञानसे श्रुतज्ञान होता है वहांपर पहिले श्रुतज्ञानको उपचारसे मतिज्ञान ही माना है इसलिये श्रुतज्ञानको मतिज्ञानपूर्वक कहना अयुक्त नहीं। अथवा 'मतिपूर्व' यहांपर पूर्व शब्दका व्यवहित अर्थ है इसलिये जिस तरह मथुरासे पटना पूर्व दिशामें है वहांपर अनेक शहर गांव आदिके व्यवधान रहते भी पटनाको पूर्व ही दिशामें माना जाता है उसी तरह श्रुत-

ज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है वहांपर श्रुतज्ञानसे श्रुतज्ञान होनेपर भले ही श्रुतज्ञानका व्यवधान होवे तो भी वह मतिज्ञानपूर्वक ही माना जाता है, कोई दोष नहीं।

भेदशब्दस्य प्रत्येकं परिसमाप्तिर्भुजिवत् ॥ ११ ॥

'देवदत्त जिनदत्त गुरुदत्त भोजन करें' यहांपर भोजन क्रियाका जिस प्रकार हरएकके साथ संबंध है अर्थात् देवदत्त भोजन करै जिनदत्त भी भोजन करै और गुरुदत्त भी भोजन करै वहां यह अर्थ लिया जाता है उसी प्रकार यहां भी भेद शब्दका संबंध दो अनेक और द्वादशके साथ है अर्थात् श्रुतज्ञानके दो अनेक और बारह भेद हैं।

तत्रांगप्रविष्टमंगबाह्यं चेति द्विविधमंगप्रविष्टमाचारादिद्वादशभेदं बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्त-
गणधरानुस्मृतग्रंथरचनं ॥ १२ ॥

भगवान अर्हंत सर्वज्ञरूपी हिमवान पर्वतसे निकली हुई वचनरूपी गंगाके अर्थरूपी निर्मल जलसे जिनके अंतःकरण धोये गये हैं ऐसे बुद्धिके अतिशय एवं ऋद्धियुक्त गणधरदेवने उन्हीं सर्वज्ञकी वाणीका स्मरण रखते हुए उसी अभिप्रायके अनुसार ग्रंथोंकी रचना की, वही द्वादशांगरूप रचना अंगप्रविष्टके नामसे प्रख्यात हुई है—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्यके भेदसे श्रुतज्ञान दो प्रकारका है उसमें अंगप्रविष्टके आचार १ सूत्रकृत २ स्थान ३ समवाय ४ व्याख्या प्रज्ञप्ति ५ ज्ञातृधर्मकथा ६ उपासकाध्ययन ७ ८ अनुत्तरौपपादिकदश ९ प्रश्नव्याकरण १० विपाकसूत्र ११ और दृष्टिवाद १२ ये बारह भेद। अतिशयरूप ऋद्धिसंयुक्त गणधरोंसे अच्छीतरह विचारे गये ग्रंथोंकी रचनास्वरूप आदि अंगोंका विशेष व्याख्यान इसप्रकार है—

कर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा मतिज्ञान होगा उसीके अनुसार श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे श्रुत-ज्ञान माना जायगा इसलिये कारण—मतिज्ञानके भेदसे कार्य श्रुतज्ञानका भेद है। इस रीतिसे सबमें एकसा श्रुतज्ञान न होकर हीनाधिकभावसे है यह बात सिद्ध हो चुकी।

श्रुताच्छ्रुतप्रतिपत्तेर्लक्षणाव्याप्तिरिति चेन्न तस्योपचारतो मतित्वसिद्धेः ॥ १० ॥

जिस पुरुषको घट पदार्थका संकेत मालूम है उसको पहिले शब्दस्वरूप परिणत पुद्गलस्कंधोंसे वर्ण पद वाक्य आदि स्वरूप जो घटका ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है और उसके बाद 'घट मिट्टीका होता है, उसका ऐसा आकार होता है' इत्यादि नेत्र आदि इंद्रियोंके विषयका अविनाभावी जो विशेष ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है। इस श्रुतज्ञानके विषयभूत घटसे उसको जलधारण आदिका जो ज्ञान होता है वह भी श्रुतज्ञान है। इसी तरह जिस पुरुषको धूम पदार्थका संकेत मालूम है उसका धूम शब्दका सुनना मतिज्ञान है और उसके बाद 'धूम अग्निसे उत्पन्न होता है और वह काला काला होता है' इत्यादि रूप जो नेत्रादि इंद्रियोंके विषयका अविनाभावी विशिष्ट ज्ञान है वह श्रुतज्ञान है। इस श्रुतज्ञानके विषयभूत धूमसे जो अग्निका ज्ञान होता है वह भी श्रुतज्ञान है इस रीतिसे जब श्रुतज्ञानसे भी श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति दीख पडती है तब मतिज्ञानपूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है यह बात अयुक्त है? सो ठीक नहीं। जहांपर मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होनेके बाद जो उस श्रुतज्ञानसे श्रुतज्ञान होता है वहांपर पहिले श्रुतज्ञानको उपचारसे मतिज्ञान ही माना है इसलिये श्रुतज्ञानको मतिज्ञानपूर्वक कहना अयुक्त नहीं। अथवा 'मति-पूर्व' यहांपर पूर्व शब्दका व्यवहित अर्थ है इसलिये जिस तरह मथुरासे पटना पूर्व दिशामें है वहांपर अनेक शहर गांव आदिके व्यवधान रहते भी पटनाको पूर्व ही दिशामें माना जाता है उसी तरह श्रुत-

का एकरूप में संग्रह किया जा सके उसे समवाय समझना चाहिये जिसतरह धर्मद्रव्य अधर्म[illegible]
काश और एक जीव इन सबके प्रदेश बराबर असंख्यात लोक प्रमाण हैं इसलिये प्रदेशोंके बराबर होने से यह द्रव्यकी अपेक्षा समानता है अर्थात् एक रूप है। जंबूद्वीप सर्वार्थसिद्धि विमान अप्रातिष्ठान नरक और नंदीश्वर द्वीपकी एक वावडी इनसबके क्षेत्रकी चौडाई एक एक लाख योजनकी है इसलिये क्षेत्रके बराबर होनेसे यह क्षेत्रकी अपेक्षा समानता है एकरूप है। अथवा मुक्तिशिला पहले नरकका [illegible]ला सीमंतक पाथडा, पहिले स्वर्गका ऋजुविमान और नरलोक (ढाई द्वीप) इन सबका क्षेत्र पैंता-[illegible]स पैंतालीस लाख योजन प्रमाण है इसलिये यह भी क्षेत्रकी अपेक्षा समानता है। जितना दश कोडाकोडी सागर प्रमाण काल उत्सर्पिणीका है उतना ही अवसर्पिणीका है यह कालकी अपेक्षा समानता है। क्षायिक [illegible]म्यक्त्वकेवलज्ञान केवल दर्शन और यथाख्यातचारित्र इन चारोंका स्वरूप अनंत २ माना है यह भाव की अपेक्षा समानता है। इसमें पदोंका प्रमाण एक लाख चौसठ हजार है। व्याख्याप्रज्ञप्ति अंगमें जीव है या नहीं? वक्तव्य है कि अवक्तव्य है? नित्य है कि अनित्य है? एक है कि अनेक है? नित्य है कि अनित्य है? इत्यादि साठि हजार प्रश्नों का वर्णन है। इसमें पद संख्या दो लाख अट्ठाईस हजार है। ज्ञातृधर्म-कथा अंगमें आख्यान—तीर्थंकरोंकी दिव्यध्वनि और उपाख्यान गणधर आदिकी उपकथाओंका वर्णन है अर्थात जीवादि पदार्थोंका स्वभाव तीर्थंकरोंका माहात्म्य, तीर्थंकरोंकी दिव्यध्वनिका समय और माहात्म्य, उत्तम क्षमा आदि दश धर्म, सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय धर्मका स्वरूप वतलाया है एवं गण-धर इंद्र चक्रवर्ति आदिकी उपकथाओंका वर्णन है। इसकी पद संख्या पांच लाख छप्पन हजार है।

१ सातवें नरकका पाथडा।

आचारांगमें चारित्रका विधान है आठ प्रकारकी शुद्धि ईर्या भाषा आदि पांच समिति मनोगुप्ति आदि तीन गुप्ति इसप्रकार मुनियोंके आचारका वर्णन है इसकी पद संख्या अठारह हजार है। सूत्रकृतांग में ज्ञानका विनय प्रज्ञापना कल्प्य अकल्प्य छेदोपस्थापना व्यवहार धर्म क्रियाओंका निरूपण है। इसमें स्वसमय और पर समयका भी निरूपण है और इसकी पद संख्या छत्तीस हजार है। स्थानांगमें अनेक धर्मोंके आश्रय जो पदार्थ हैं उनका वर्णन है। अर्थात् संपूर्ण द्रव्योंके एकसे लेकर जितने विकल्प हो सकते हैं उन विकल्पोंका वर्णन है जैसे—सामान्यकी अपेक्षा जीव द्रव्यका एकही भेद है। संसारी और मुक्तकी अपेक्षा दो भेद हैं। उत्पाद व्यय और ध्रौव्यकी अपेक्षा तीन भेद हैं। चार गतियोंकी अपेक्षा चार भेद हैं इत्यादि। इसीतरह पुद्गल आदि द्रव्योंके भी समझलेना चाहिये। [1]अथवा स्थानांगमें एकको आदि लेकर दश पर्यंत गणितका वर्णन है जिसतरह एक केवलज्ञान एक मोक्ष एक आकाश एक धर्मद्रव्य एक अधर्म द्रव्य इत्यादि। दो दर्शन दो ज्ञान दो राग द्वेष इत्यादि। तीन सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चरित्र स्वरूप रत्न, माया मिथ्या निदान तीन शल्य, जन्म जरा मरण तीन दोष इत्यादि। चार गति, चार अनंत चतुष्टय चार कषाय इत्यादि। पांच महाव्रत पांच अस्तिकाय पांच ज्ञान इत्यादि। षट् द्रव्य, षट् लेश्या, षट् आवश्यक इत्यादि। सात तत्त्व सात व्यसन सात नरक इत्यादि। आठ कर्म आठ गुण आठ ऋद्धियां इत्यादि। नौ पदार्थ नौ नय नौ प्रकारका शील इत्यादि। दश धर्म दश परिग्रह दश दिशा इत्यादि। इसकी पद संख्या वियालिस हजार है। समवाय अंगमें समस्त द्रव्योंमें द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षा समवाय—समानता वतलाई गई है। अर्थात् किसी कोटी अथवा प्रमाणसे अनेक तत्त्वों

१ भाषा हरिवंशपुराण पृष्ठ १४४। राजवार्तिककारके कथनानुसार दोनों अर्थ अविरुद्ध हैं।

जिसतरह धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य लोका-
का एकरूप में संग्रह किया जा सके उसे समवाय समझना चाहिये
काश और एक जीव इन सबके प्रदेश बराबर असंख्यात लोक प्रमाण हैं इसलिये प्रदेशोंके बराबर
होने से यह द्रव्यकी अपेक्षा समानता है अर्थात् एक रूप है। जंबूद्वीप सर्वार्थसिद्धि विमान अप्रतिष्ठान
नरक और नंदीश्वर द्वीपकी एक वावडी इनसबके क्षेत्रकी चौडाई एक एक लाख योजनकी है इसलिये
क्षेत्रके बराबर होनेसे यह क्षेत्रकी अपेक्षा समानता है एकरूप है। अथवा मुक्तिशिला पहले नरकका
पहिला सीमंतक पाथडा, पहिले स्वर्गका ऋजुविमान और नरलोक (ढाई द्वीप) इन सबका क्षेत्र पैंता-
लीस पैंतालीस लाख योजन प्रमाण है इसलिये यह भी क्षेत्रकी अपेक्षा समानता है। जितना दश कोडाकोडी
सागर प्रमाण काल उत्सर्पिणीका है उतना ही अवसर्पिणीका है यह कालकी अपेक्षा समानता है। क्षायिक
सम्यक्त्वकेवलज्ञान केवल दर्शन और यथाख्यातचारित्र इन चारोंका स्वरूप अनंत २ माना है यह भाव
की अपेक्षा समानता है। इसमें पदोंका प्रमाण एक लाख चौसठ हजार है। व्याख्याप्रज्ञप्ति अंगमें जीव है या
नहीं? वक्तव्य है कि अवक्तव्य है? नित्य है कि अनित्य है? एक है कि अनेक है? नित्य है कि अनित्य
है? इत्यादि साठि हजार प्रश्नों का वर्णन है। इसमें पद संख्या दो लाख अट्ठाईस हजार है। ज्ञातृधर्म-
कथा अंगमें आख्यान—तीर्थंकरोंकी दिव्यध्वनि और उपाख्यान गणधर आदिकी उपकथाओंका वर्णन
है अर्थात् जीवादि पदार्थोंका स्वभाव तीर्थंकरोंका माहात्म्य, तीर्थंकरोंकी दिव्यध्वनिका समय और
माहात्म्य, उत्तम क्षमा आदि दश धर्म, सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय धर्मका स्वरूप वतलाया है एवं गण-
धर इंद्र चक्रवर्ति आदिकी उपकथाओंका वर्णन है। इसकी पद संख्या पांच लाख छप्पन हजार है।

१ सातवे नरकका पाथडा।

उपासकाध्ययन अंगमें श्रावकोंकी सम्यग्दर्शन आदि ग्यारह प्रतिमासंबंधी व्रत गुण शील आचार तथा दूसरे क्रियाकांड और उनके मंत्रादिकोंका सविस्तर वर्णन किया है। इसकी पदसंख्या ग्यारह लाख सत्तर हजार है अंतकृद्दश अंगमें प्रत्येक तीर्थंकरके समयमें जिन दश दश मुनियोंने दारुण उपसर्ग सह समस्त कर्मोंका नाशकर मोक्ष लाभ किया है उनका वर्णन है। उनमें भगवान वर्धमानके समयमें तो नमि १ मतंग २ सोमिल ३ रामपुत्र ४ सुदर्शन ५ यम ६ वाल्मीक ७ वलीक ८ निष्कंबल ९ पालांबष्ठ १० इन दश मुनियोंने घोर उपसर्ग सह समस्त कर्मोंका नाशकर मोक्षलाभ किया है इसीतरह ऋषभ आदि तेईस तीर्थंकरोंमें हर एकके तीर्थमें दश दश मुनियोंको घोर उपसर्ग सहकर समस्त कर्मोंका नाशकर मोक्ष लाभ करनेवाला समझ लेना चाहिये। अथवा संसारका अंत करनेवाले महापुरुषोंकी व्यवस्था का जिसमें वर्णन हो वह अंतकृद्दश है। वे संसारका अंत करनेवाले अर्हंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और मुनि पांचो परमेष्ठी हैं इसलिये अंतकृद्दशमें अर्हंत आदि पांचो परमेष्ठियोंका भी वर्णन है। इसके पदोंका प्रमाण तेईस लाख अट्ठाईस हजार है। अनुत्तरौपपादिकदशांगमें प्रत्येक तीर्थंकरके तीर्थमें होनेवाले उन दश दश प्रकारके मुनियोंका वर्णन है जिन्होंने दश प्रकारका घोर उपसर्ग सहकर विजय वैजयंत जयंत अपराजित और सर्वार्थसिद्धि नामके पांचो अनुत्तर विमानोंमें जाकर जन्म लिया है। भगवान वर्धमान स्वामीके तीर्थमें ऋषिदास १ धन्य २ सुनक्षत्र ३ कार्तिक ४ नंद ५ नंदन ६ शालिभद्र ७ अभय ८ वारिषेण ९ और चिलातपुत्र १० इन दश प्रकारके मुनियोंने घोर उपसर्ग सहकर विजय वैज-

१ पुरुष स्त्री नपुंसक ये तीन प्रकारके मनुष्यकृत, पुरुष स्त्री नपुंसक तीन प्रकारके तिर्यंचकृत, पुरुष स्त्री दो प्रकारके देवकृत शरीरका उपसर्ग १ और भीत पत्थर आदिका पडजाना उपसर्ग १ ये दश उपसर्ग हैं। हरिवंशपुराण भाषा पृष्ठ १४५।

यंत आदि अनुत्तर विमानोंमें जन्म धारण किया है इसीतरह ऋषभ आदि तेईस तीर्थंकरोंके तीर्थोंमें भी
दश दश मुनियोंको भी दश प्रकारके घोर उपसर्ग सहकर विजय आदि विमानोंमें जन्म धारण करने-
वाला समझ लेना चाहिये। अथवा विजयादि अनुत्तर विमानोंमें उपपाद जन्मके धारक जीवोंकी व्यव-
स्थाका जिसमें वर्णन हो वह भी अनुत्तरौपपादिक दश कहा जाता है इसीलिये इस अनुत्तरौपपादिक
दशांगमें अनुत्तरवासी देवोंके आयुविक्रिया आदिका वर्णन है। जिनका जन्म उपपाद है वे औपपादिक
कहे जाते हैं। अनुत्तर शब्दसे विजय वैजयंत जयंत अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पांच विमानोंका ग्रहण
है जो जीव इन अनुत्तर विमानोंमें उपपाद जन्मसे उत्पन्न होनेवाले हैं वे अनुत्तरौपपादिक कहे जाते हैं
यह अनुत्तरौपपादिक शब्दका व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ है। इस अंगमें पदोंका प्रमाण बानवे लाख चवालीस
हजार है। प्रश्न व्याकरण अंगमें हेतु और नयोंके आश्रित प्रश्नोंका खंडन मंडन द्वारा विचार करनेका
वर्णन है तथा लौकिक और शास्त्रसंबंधी दोनों प्रकारके पदार्थोंका भी वर्णन है अर्थात्–दूतवचन नष्ट मुष्टि
चिंता आदि अनेक प्रकारके प्रश्नोंके अनुसार तीन कालसंबंधी धन धान्य आदिका लाभालाभ सुख दुःख
जीवन मरण जय पराजय आदि फलका वर्णन है और प्रश्नके अनुसार आक्षेपिणी (जिस कथामें पक्षका
स्थापन है) विक्षेपिणी (जिसमें खंडन हो) संवेदिनी (जिसमें यथावत् पक्ष आदिका ज्ञान हो) और
निर्वेदिनी (जिसमें संसारसे भय हो) ऐसी चार कथाओंका वर्णन है। इसके पदोंका प्रमाण तिरानवे
लाख सोलह हजार है। विपाकसूत्र अंगमें द्रव्य क्षेत्र काल भावके अनुसार शुभ और अशुभ कर्मोंकी
तीव्र मंद मध्यम आदि अनेक प्रकारकी अनुभाग–फल देनेकी शक्तिरूप विपाकका वर्णन है। इसमें
पदोंका प्रमाण एक करोड चौरासी लाख है। बारहवां अंग दृष्टिवाद है इसमें तीनसौ त्रेसठि मिथ्यादृष्टि-

योंका वर्णन और निराकरण है। मिथ्यादृष्टियोंके सामान्यतया तीनसौ त्रेसठि भेद हैं परंतु मूलभेद क्रियावादी अक्रियावादी अज्ञानवादी और विनयवादी ये चार हैं। उनमें कौत्कल १ कांठेविद्धि २ कौशिक ३ हरिश्मश्रु ४ मांधपिक ५ रोमश ६ हारीत ७ मुंड ८ आश्वलायन ९ आदि एकसौ अस्सी भेद क्रियावादियोंके हैं। मारीचकुमार १ कपिल २ उलूक ३ गार्ग्य ४ व्याघ्रभूति ५ वाड्वल ६ माठर ७ मौद्गलायन ८ आदि चौरासी ८४ भेद अक्रियावादियोंके हैं। शाकल्य १ वाल्कल २ कुथुमि ३ सात्यमुग्रि ४ नारायण ५ कठ ६ माध्यंदिन ७ मौद ८ पैप्पलाद ९ वादरायण १० आंबुष्टीकृत् ११ दैत्य-कायन १२ वसु १३ जैमिनि आदि सडसठि भेद अज्ञानवादियोंके हैं। एवं वशिष्ठ १ पारासर २ जतुकर्ण ३ वाल्मीकि ४ रोमर्षि ५ सत्यदत्त ६ व्यास ७ एलापुत्र ८ उपमन्यव ९ इंद्रदत्त १० अयस्थूण ११ आदि बत्तीस भेद वैनयिक मिथ्यादृष्टियोंके हैं। इन सबको आपसमें जोडने पर तीनसौ त्रेसठि भेद होते हैं दृष्टिवाद अंगमें विस्तारसे इनके स्वरूपका निरूपण किया गया है और खंडन भी किया गया है इस अंगके पदोंका प्रमाण एकसौ आठ करोड अडसठि लाख छप्पन हजार पांच है। विशेष—

जिन क्रियावादी आदिके कुछ नामोंका उल्लेख किया है वे सब उन उन मतोंके प्रवर्तक हैं परंतु कैसा माननेसे क्रियावादी आदिके उतने उतने भेद हो जाते हैं? वह इस प्रकार है—नियति १ स्वभाव २ काल ३ दैव ४ और पौरुष ५ इन पांचका स्वतः परतः नित्य और अनित्य इन चारसे गुणा करने पर बीस भेद हो जाते हैं। उन बीस भेदोंके नौ पदार्थोंके साथ गुणा करने पर एक सौ अस्सी भेद हो जाते हैं। वहां पर कोई क्रियावादी तो नियतिसे (नियमानुकूल) कोई परतः मानता है। कोई नित्य मानता है कोई अनित्य। कोई जीवको स्वभावसे स्वतः मानता है किसीका सिद्धांत है, कि जीव स्वभावसे परतः है।

कोई उसे स्वभावसे नित्य और कोई उसे अनित्य मानता है। कोई जीवको कालसे स्वतः मानता है कोई परतः मानता है। कोई अनित्य और कोई नित्य। कोई दैवसे जीवको स्वतः मानता है कोई परतः कोई नित्य मानता है और कोई अनित्य। किसीका सिद्धांत है जीव पौरुषसे स्वतः है कोई कहता है परतः है, अनेक कहते हैं पौरुषसे जीव नित्य है और बहुतसे उसे अनित्य मानते हैं उसी प्रकार अजीव आदि पदार्थोंमें घटानेसे क्रियावादियोंके एक सौ अस्सी सिद्धांत भेद हो जाते हैं।

जीव आदि सात तत्वोंका स्वतः और परतः से गुणा करने पर चौदह भेद होते हैं। इन चौदह भेदोंका नियति स्वभाव आदि पांचोंसे गुणा करने पर सत्तर और उन्हीं जीव आदि सात तत्वोंका पुनः नियति और कालसे गुणा करनेपर चौदह इस प्रकार सब मिलाकर ये चौरासी प्रकारके सिद्धांत भेद अक्रियावादियोंके हैं। कोई मानते हैं कि जीवादि पदार्थ नियति स्वभाव आदिसे स्वतः हैं कोई मानते हैं परतः इत्यादि ऊपर लिखे अनुसार समझ लेना चाहिए।

जीव अजीव आदि नौ पदार्थोंको सात भंगोंसे गुणा करने पर त्रेसठि भेद हो जाते हैं। कोई मानता है जीव अस्तित्व स्वरूप है। कोई नास्तित्व स्वरूप, कोई अस्तित्व नास्तित्व स्वरूप, कोई अवक्तव्य स्वरूप कोई अस्तित्व विशिष्ट अवक्तव्यस्वरूप, कोई नास्तित्व विशिष्ट अवक्तव्य स्वरूप, और कोई अस्तित्व नास्तित्व विशिष्ट अवक्तव्यस्वरूप स्वीकार करता है। इसीप्रकार अजीव आदि पदार्थोंमें समझ लेना चाहिए इसतरह त्रेसठि भेद तो ये और कोई पदार्थकी उत्पत्ति सत्स्वरूप मानता है १ कोई असत्स्वरूप २ कोई उभय स्वरूप ३ कोई अवक्तव्य स्वरूप स्वीकार करता है ४ चार भेद ये इसप्रकार दोनोंके जोडनेसे सडसठि भेद सिद्धांत अज्ञानवादियोंके हैं।

माता १ पिता २ देव ३ नृप ४ जाति ५ बालक ६ वृद्ध ७ तपस्वी ८ इन आठोंका मन वचन काय और दान इन चारसे गुणा करने पर वैनायिक मिथ्यादृष्टिके वत्तीस सिद्धांत भेद हो जाते हैं। विनय-वादियोंका सदा यह अभिप्राय रहता है कि माता पिता आदि आठोंका मन वचन कायसे आदर सत्कार करना चाहिए और उन्हें दान देकर संतुष्ट करना चाहिए। इस प्रकार ये तीनसै त्रेसठि मतोंका वर्णन और खंडन दृष्टिवादमें पाया जाता है। इन मतोंके तीनसै त्रेसठि भेद होनेके कारण उनके माननेवाले भी तीनसै त्रेसठि हैं।

दृष्टिवादके परिकर्म १ सूत्र २ प्रथमानुयोग ३ पूर्वगत ४ और चूलिका ५ ये पांच भेद हैं। उनमें भी पूर्वगत—उत्पाद पूर्व १ अग्रायणी पूर्व २ वीर्यप्रवाद पूर्व ३ अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व ४ ज्ञानप्रवाद पूर्व ५ सत्यप्रवाद पूर्व ६ आत्मप्रवाद पूर्व ७ कर्मप्रवाद पूर्व ८ प्रत्याख्यान नामधेय पूर्व ९ विद्यानुवाद पूर्व १० कल्याणनामधेय पूर्व ११ प्रणवाय पूर्व १२ क्रियाविशाल पूर्व १३ लोकविंदुसार पूर्व १४ ये चौदह भेद हैं।

काल पुद्गल जीव आदिके जहां जैसे पर्याय उत्पन्न हों उनका उसी रूपसे वर्णन करना उत्पाद पूर्व है जिन क्रियावाद आदिका उल्लेख किया गया है उनमें किसरूपसे कौन कौन क्रियावाद आदि होते हैं ऐसी प्रक्रियाका नाम अग्रायणी है। जिसमें आचार आदि वारह अंगोंका समवाय—समानता और विषयका वर्णन हो वह अग्रायणीपूर्व है। छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) और केवलियोंकी शक्ति, सुरेंद्र दैत्येंद्र नरेंद्र चक्रवर्ती और बलदेवोंकी ऋद्धिका जहांपर वर्णन हो एवं सम्यक्त्वके लक्षणका जहांपर कथन हो वह वीर्यप्रवाद है। पांचों अस्तिकायोंके विषय पदार्थ और नयोंके विषय पदार्थोंका जहांपर अनेक पर्यायों के द्वारा यह है, यह नहीं है, इत्यादिरूपसे वर्णन हो वह अस्तिनास्तिप्रवाद है। अथवा पर्यायार्थिक नय

की अपेक्षा वा द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक दोनों नयोंकी अपेक्षा मुख्य और गौणरूपसे जहांपर छहों द्रव्यों के स्व और पर पर्यायोंके भाव और अभावका निरूपण हो वह अस्ति नास्ति प्रवाद है। जहां मतिज्ञान आदि पांचों ज्ञानोंकी उत्पत्ति, उनके विषय तथा उनके आधारभूत ज्ञानी, अज्ञानी और पांचों इंद्रियोंके विभागका विस्तारसे निरूपण हो वह ज्ञानप्रवादपूर्व है। जहांपर वचनोंकी गुप्ति, वचनोंके संस्कारके कारण, वचनोंके प्रयोग, वारह प्रकारकी भाषा, उनके बोलनेवाले, अनेक प्रकारके असत्योंका उल्लेख और दश प्रकारके सत्योंका स्वरूप वर्णन हो वह सत्यप्रवाद है। मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्तिके भेदसे गुप्ति तीन प्रकार है उसका स्वरूप आगे विस्तारसे कहा जायगा। वचनके संस्कारके कारण शिर कंठ तालु आदि आठ स्थान हैं। शुभ और अशुभके भेदसे वचन प्रयोग दो प्रकारका है उसके स्वरूप का निरूपण आगे किया जायगा। अभ्याख्यानवचन १ कलहवचन २ पैशून्यवचन ३ असंबद्धप्रलाप-वचन ४ रत्युत्पादकवचन ५ अरत्युत्पादक वचन ६ उपधिवचन ७ निकृतिवचन ८ अप्रणतिवचन ९ मोषवचन १० सम्यग्दर्शनवचन ११ मिथ्यादर्शनवचन १२ इसप्रकार भाषाके वारह भेद हैं। जो पुरुष हिंसाका करनेवाला है वा जो उससे विरत-रहित है अथवा जो विरताविरत कुछ अंशका त्यागी और कुछ अंशका त्यागी नहीं है उनके विषयमें यह कहना कि यह अमुक हिंसाजनक कार्यका कर्ता है यह हिंसाजनक कार्यका कर्ता नहीं है वह अभ्याख्यान वचन है। लडाई झगडा करनेवाला वचन कहना कलहवचन है। दूसरेके दोषोंको पीठ पीछे कहना पैशून्य वचन है। जो वचन धर्म अर्थ काम और मोक्ष का उपदेशक न हो केवल प्रलाप ही प्रलाप हो वह असंबद्ध प्रलापवचन है। शब्दरूप आदि विषयोंमें वा देश आदिमें जो वचन रतिका उत्पन्न करनेवाला हो वह रत्युत्पादक वचन है और उन्हींमें जो अरति

का उत्पन्न करनेवाला वचन हो वह अरत्युत्पादक वचन है। जिस वचनके सुननेसे मनुष्यका चित्त परिग्रहोंके उपार्जन और रक्षण आदिमें आसक्त हो वह उपधिवचन है। जिस वचनको सुनकर वाणिज्य आदि व्यवहारोंमें मनुष्य ठगई आदिमें प्रवृत्त हो वह निकृतिवचन है। जिस वचनके सुननेसे आत्मा तपस्वी और विशेष ज्ञानियोंमें भी नम्रीभूत नहीं होता वह अप्रणाति वचन है। जिस वचनके सुननेसे मनुष्यकी प्रवृत्ति चोरीमें हो वह मोषवचन है। जो सम्यक् मार्गका उपदेशक वचन है वह सम्यग्दर्शन वचन है और जिससे मिथ्यामार्गका उपदेश मिले वह मिथ्यादर्शन वचन है। दो इंद्रिय आदि जीव वक्ता हैं—बोलनेवाले हैं। क्योंकि उनके भाषा पर्याप्तिकी प्रकटता है। द्रव्य क्षेत्र काल और भावके आधीन झूठ अनेक प्रकारका कहा गया है।

सत्य दश प्रकारका है नामसत्य १ रूपसत्य २ स्थापनासत्य ३ प्रतीत्यसत्य ४ संवृतिसत्य ५ योजनासत्य ६ जनपदसत्य ७ देशसत्य ८ भावसत्य ९ और समयसत्य १० वैसे गुणवाला पदार्थ न भी हो तो भी लोक व्यवहारकेलिये चेतन अचेतन द्रव्यका जो वैसा नाम रख देना है वह नाम सत्य है जिस प्रकार किसी पुरुषका इंद्र आदि नाम रख देना १। असली पदार्थ तो न हो किंतु उसका रूप देख कर उसे वैसा ही मान लेना रूपसत्य है जिसतरह पुरुषकी अचेतन भी तस्वीरको पुरुष मान लेना। २। चाहे उसका आकार हो वा न हो तो भी व्यवहारकेलिये किसी प्रसिद्ध वस्तुकी दूसरी वस्तु में स्थापना कर लेना स्थापनासत्य है जिसतरह सतरंज आदिमें गोटोंको हाथी घोडा आदि मान लेना ३। औपशमिक आदि भावोंका शास्त्रानुसार व्याख्यान करना प्रतीत्यसत्य है। ४। जो कार्य अनेक कारणोंसे उत्पन्न हो उन कारणोंमेंसे लोक व्यवहारकी अपेक्षा एक किसी कारणका उल्लेख करना संवृतिसत्य है जिसतरह

पृथ्वी आदि अनेक कारणोंसे कमलकी उत्पत्ति होती है तो भी 'पंके जातं पंकजं' कीचडमें जो उत्पन्न हो वह कमल है यहांपर कीचड़का उल्लेख किया है। ५। धूप चूर्ण वास अनुलेपन और प्रघर्षण आदिमें तथा पद्म मकर हंस सर्वतोभद्र चक्रव्यूह आदिमें चेतन और अचेतन द्रव्योंके विभागके अनुसार रचनाका प्रगट कर- नेवाला जो वचन है वह संयोजना सत्य है अर्थात् अनेक पदार्थोंके मिलनेसे धूप बनती है उसे धूपके नामसे कहना तथा सेनामें चेतन अचेतन दोनों प्रकारके समुदायस्वरूप चक्रव्यूह आदि रचना मानी है तो भी उसे चक्रव्यूहके नामसे पुकारना यह सब संयोजना सत्य है। आर्य और अनार्योंके निवास स्थान बत्तीस हजार देशोंमें धर्म अर्थ काम और मोक्ष चारो पुरुषार्थोंको प्राप्त करानेवाला वचन कहना जनपदसत्य है। जो वचन गांव नगर राजा गण—मुनियोंका समूह पाखंड जाति और कुल आदिकी रीति रिवाज का बतलानेवाला हो वह देशसत्य है। यद्यपि छद्मस्थ—अल्प ज्ञानीको पदार्थोंके यथार्थस्वरूपका ज्ञान नहीं होता तो भी संयमी और संयतासंयत व्रती अपनी क्रियाओंका भले प्रकार पालन करसके इसकारण उनकी क्रियाओंकी रक्षार्थ जो यह कह देना है कि यह द्रव्य प्रासुक है और यह अप्रासुक है वह भाव- सत्य है। और आगमगम्य जीव आदि छहो द्रव्योंकी जुदी जुदी पर्यायोंका जो यथार्थस्वरूप प्रतिपादन करना है वह समयसत्य है।

जहांपर आत्माके अस्तित्व नास्तित्व नित्यत्व अनित्यत्व कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि गुणोंका युक्तिपूर्वक और षट् जीव निकायके भेदोंका भी युक्तिपूर्वक वर्णन हो वह आत्मप्रवाद पूर्व है। कर्मोंका बंध, उपशम, निर्जराके पर्याय अनुभाग—विपाक, प्रदेश, आधार, जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट स्थितिका हां विस्तारसे वर्णन है वह कर्मप्रवाद पूर्व है। जिस पूर्वमें व्रत नियम प्रतिक्रमण प्रतिलेखन तप कल्प

उपसर्ग आचार प्रतिमा विराधना आराधना विशुद्धिका कूम मुनिलिंगका कारण परिमित और अपरिमित द्रव्य और भावोंका प्रत्याख्यान-त्याग, वर्णन किया गया है वह प्रत्याख्यान पूर्व है। जहांपर समस्त प्रकारकी विद्या आठ महानिमित्त उनका विषय राजू और राशिकी विधि क्षेत्र श्रेणी लोकका आधार संस्थान-आकार, और समुद्घातका निरूपण हो वह विद्यानुवादपूर्व है। अंगुष्ठ प्रसेना आदि सात सौ तो कल्प विद्या हैं और रोहिणी आदि पांचसौ महाविद्या हैं अंतरिक्ष १ भौम २ अंग ३ स्वर ४ स्वप्न ५ लक्षण ६ व्यंजन ७ और छिन्न ८ ये आठ महानिमित्त हैं। इनका विषय लोक है। क्षेत्रका अर्थ आकाश है। पटके सूतोंके समान वा चामके अवयवोंके समान आनुपूर्वी कूमसे ऊपर नीचे और तिर्यक् रूपसे स्थित असंख्याते आकाशके प्रदेशोंका नाम श्रेणी है। अनंत प्रदेशी अलोकाकाशके बहुमध्यभागमें सुप्रतिष्ठक[1] (ठौणा) के समान आकारवाला लोक है। वह ऊर्ध्व मध्य और अधोलोकके भेदसे तीन प्रकारका है। उसमें ऊर्ध्वलोक मृदंगसरीखे आकारका है। मध्यलोक वेत्रासन मूढेके आकारका है और अधोलोक झालर सरीखा है। ऊपर नीचे और तिर्यग् तीनों जगह यह लोक चारों ओरसे तनुवातवलयसे वेष्टित है। चौदह राजू लंबा है और मेरु १ प्रातिष्ठ २ वज्र ३ वैडूर्य ४ पटल ५ अंतर ६ रुचक ७ और संस्थित ८ ये आठ लोकके मध्यप्रदेश हैं।

लोकके मध्य भागसे रज्जुआक द्वारा जब ऊर्ध्व लोककी लंबाईका प्रमाण किया जाता है तब लोकके मध्य भागसे ऊपर ऐशान स्वर्ग पर्यन्त यह लोक डेढ राजू है। माहेंद्र स्वर्ग पर्यंत तीन राजू है।

१ पूजा करते समय जिसमें स्थापना की जाती है उस पात्रको ठौणा बोलते हैं ठौणा शब्द स्थापना का ही अपभ्रंश है। वह पात्र लोकके आकार होता है।

ब्रह्मलोक पर्यंत साढे तीन राजू, कापिष्ठ स्वर्गपर्यंत चार राजू, महाशुक्रपर्यंत साढे चार राजू, सहस्रार
स्वर्ग पर्यंत पांच राजू, प्राणत स्वर्ग पर्यंत साढे पांच राजू, अच्युत स्वर्ग पर्यंत छे राजू और लोकके अंत
तक सात राजू है तथा जिस समय लोकके मध्य भागसे नीचेकी ओर रज्जुओं द्वारा प्रमाण किया जाता
है उससमय लोकके मध्य भागसे नीचे शर्करा नामकी दूसरी पृथ्वी पर्यंत यह लोक एक राजू लंबा है।
तीसरी वालुका पृथ्वीके अंत तक दो राजू लंबा है। चौथी पंकप्रभा पृथ्वीके अंत तक तीन राजू लंबा
पांचवीं धूम्रप्रभा पृथ्वीके अंत तक चार राजू लंबा, छठी तमःप्रभा पृथ्वीके अंत तक पांच राजू लंबा
सातवीं तमस्तमःप्रभा पृथ्वीके अंत तक छह राजू लंबा और उस सातवीं पृथ्वीके अंतसे लोकके अंत
पर्यंत सात राजू लंबा है इसप्रकार ऊपर भी सात राजू और नीचे भी सात राजू इसतरह चौदह राजूकी
लंबाईका धारक यह लोक है।

घनोदधिवात घनवात और तनुवातके भेदसे तीन प्रकारके वात वलय (पवनके पुंज) माने हैं।
यह समस्त लोक उन तीनों प्रकारके वातवलयोंसे चारों ओर वेष्टित है। दिशा विदिशा और पस-
वाडोंमें रहनेवाले इन तीनों ही प्रकारके वातवलयोंका विस्तार (फैलाव) अधोलोकके अंतसे कलंकल
नामकी सातवीं पृथ्वी तक बीस बीस हजार योजनका है अर्थात् बीस हजार योजन विस्तृत घनोदधि
वात है, उतनाही विस्तृत घनवात और उतना ही विस्तृत तनुवात है। परंतु ऊपर क्रम क्रमसे इनकी
घटवारी होती चली गई है इसलिए तिर्यग्लोक-मध्यलोकमें, दिशा विदिशा और पसवाडोंमें घनोदधि-
वातका केवल पांच योजनका विस्तार रह गया है। घनवातका चार योजनका और तनुवातका तीन
योजनका रह गया है फिर ऊपर क्रम क्रमसे वढवारी होने पर ब्रह्म स्वर्गकी दिशा विदिशा और पसवाडोंमें

घनोदधिवातका सात योजन, घनवातका पांच योजन और तनुवातका चार योजन विस्तार हो गया है फिर उत्तरोत्तर घटवारी होनेके कारण लोकके अग्र भाग तक आठो ही दिशा, विदिशा और पसवाडोंमें घनोदधिका दंडाकार पांच योजन, धनवातका चार योजन और तनुवातका तीन योजन विस्तार रह गया है। तथा लोकके अग्र भागमें घनोदधिवातका विस्तार दो कोशका है घनवातका एक कोश और तनुवातका कुछ कम एक कोशका है। तथा ऊपर लोकके मूलसे कलंकल पृथ्वी तक तीनों वातवलयोंका विस्तार बीस बीस हजार योजनका कहा है परंतु कलंकल पृथ्वीसे ऊपर घनोदधिका सात योजन घन-वातका पांच योजन और तनुवातका चार योजनका विस्तार है।

अधोलोकके मूलमें दिशा और विदिशाओंमें सब जगह लोककी चौडाई सात राजू है। घटती घटती तिर्यग्लोकमें एक राजू रह गई है फिर बढकर ब्रह्मस्वर्गमें पांच राजू हो गई है और घटती घटती लोकके अग्र भागमें फिर एक राजू रह गई है। लोकके मध्य भागसे एक राजू नीचे जा कर दूसरी शर्करा पृथ्वीके अंतमें आठों दिशा विदिशाओंमें सब जगह लोककी चौडाई एक राजू और एक राजूके सात भागोंमें छह भाग है। शर्करा पृथ्वीके अंतसे एक राजू नीचे जाकर वालुका पृथ्वीके अंतमें सर्वत्र लोककी चौडाई दो राजू और एक राजूके सात भागोंमें पांच भाग है। वहांसे आगे एक राजू नीचे जा कर पंकप्रभाके अंतमें तीन राजू और एक राजूके सात भागोंमें चार भाग है वहांसे आगे एक राजू नीचे जाकर धूम्रप्रभाके अंतमें चार राजू और एक राजूके सात भागोंमें तीन भाग है। वहांसे आगे एक राजू नीचे जाकर तमःप्रभाके अंतमें पांच राजू और एक राजूके सात भागोंमें दो भाग है। उसके आगे एक राजू नीचे जाकर तमस्तमःप्रभा सातवीं पृथ्वीके अंतमें सर्वत्र चौडाई छह राजू और एक राजूके

सात भागोंमें एक भाग है। और सातवीं पृथिवीके अंतसे एक राजू नीचे जा कर कलंकल पृथिवीके नीचे लोकके अंत तक चौडाई सात राजू है।

वज्रतल–लोकके मध्य भागसे, एक राजू ऊपर जाने पर लोककी चौडाई दो राजू और एक राजूके सात भागोंमें एक भाग है। वहांसे आगे एक राजू ऊपर जाने पर तीन राजू और एक राजूके सात भागोंमें दो भाग है। उसके एक राजू ऊपर जाने पर चार राजू और एक राजूके सात भागोंमें तीन भाग है। वहांसे आगे आधा राजू ऊपर जाने पर पांच राजू वहांसे आगे आधा राजू और ऊपर जाने पर चार राजू और एक राजूके सात भागोंमें तीन भाग है। वहांसे आगे फिर एक राजू ऊपर जाने पर तीन राजू और एक राजूके सात भागोंमें दो भाग हैं। उसके आगे एक राजू ऊपर जाने पर दो राजू और एक राजूके सात भागोंमें एक भाग चौडाई है और वहांसे आगे फिर एक राजू ऊपर जाने पर लोकके अंतमें लोककी चौडाई केवल एक राजू है। यह अलोकाकाशकी अपेक्षा राजुओंका विधान है।

सम् और उत् उपसर्गपूर्वक हन धातुसे भाव अर्थमें घञ् प्रत्यय करने पर समुद्धात शब्द बना है। हन् धातुका अर्थ यहां गमन करना लिया गया है इसलिये 'मिलकर आत्माके प्रदेशोंका जो वाहिर निकलना है वह समुद्धात है' यह समुद्धात शब्दका अर्थ है। और वह वेदना १ कषाय २ वैक्रियिक ३

१। वेयणकसायवेगुव्वियो य मरणांतिओ समुग्घादो। तेजाहारो छट्ठो सत्तमओ केवलीणं तु ॥ ६६६ ॥
मूलशरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स। णिग्गमणं देहादो होदि समुग्घादणामं तु ॥ ६६७ ॥ जीवकांड।

वेदना कषाय आदि सात प्रकारका समुद्घात है। मूल शरीरको न छोडकर तैजस कार्माण रूप उत्तर देहके साथ साथ जीव प्रदेशोंके शरीरसे बाहर निकलनेको समुद्घात कहते हैं।

मारणांतिक ४ तैजस ५ आहारक ६ और केवलीके ७ भेदसे सात प्रकारका है। वात पित्त आदि रोग और विष आदि द्रव्यके संबंधसे उत्पन्न होनेवाले संतापसे जायमान वेदना—तकलीफसे जो आत्मप्रदेशोंका वाहिर निकलना है वह वेदना समुद्घात है। वाह्य और अंतरंग दोनों कारणोंके द्वारा उत्पन्न होनेवाले तीव्र कषायसे जो आत्माके प्रदेशोंका बाहर निकलना है वह कषायसमुद्घात है। समयपर वा असमयमें आयुकर्मके नाशसे होनेवाले मरणसे जो आत्माके प्रदेशोंका वाहिर निकलना है वह मारणांतिक समुद्घात है। जीवोंका उपकार हो इस बुद्धिसे वा उनका नाश हो इस बुद्धिसे तैजस शरीरकी रचनाकेलिये जो आत्माके प्रदेशोंका वाहर निकलना वह तैजस समुद्घात है। मिल जाना, जुदा होना, नानाप्रकारकी चेष्टा करना, अनेक प्रकारके शरीर धारण करना, अनेक प्रकारसे वाणीका प्रवर्ताना शस्त्र आदि बनाना इत्यादि जो नानाप्रकारकी विक्रियाका होना है और उन विक्रियाओंके अनुकूल आत्माके प्रदेशोंका बाहर निकलना है वह वैक्रियिक समुद्घात है। जिसका समाधान केवलीके साक्षात्कार किये विना नहीं हो सकता ऐसी किसी सूक्ष्म पदार्थविषयक शंकाके उत्पन्न होने पर थोडा पाप लगे इस आशासे जो केवलीके निकट जाननेकेलिए आहारक शरीरकी रचना करना है और उसके अनुकूल आत्मप्रदेशोंका बाहर निकलना है वह आहारक समुद्घात है। जिससमय वेदनी कर्मकी स्थिति तो अधिक रहे और आयु कर्मकी स्थिति कम रहे उससमय विना ही भोग किये उन दोनोंकी स्थिति समान करनेकेलिये द्रव्यस्वभावसे जिसप्रकार शरावके फेन वेग बबूले उठा करते हैं और फिर उसीमें जाकर

१ मारणांतिक समुद्घात मरणसे किंचित् समय पहले होता है, जहां मर कर जीव जाता है उस योनिका पहले स्पर्श कर आता है।

मिल जाते हैं उसीके समान द्रव्यस्वभावसे देहमें स्थित आत्मप्रदेशोंका जो वाहर निकलना और आकर फिर मिल जाना है उसका नाम केवलिसमुद्घात है।

आहारक शरीर श्रेणि–दिशामें ही गमन करता है विदिशामें नहीं तथा जिस क्षेत्रमें केवली विराजमान रहते हैं उसी क्षेत्रमें जाता है अन्य क्षेत्रमें नहीं इसलिये जिससमय आत्मा आहारक शरीरकी रचनामें प्रवृत्त होता है उससमय एक ही दिशामें असंख्याते आत्माके प्रदेशोंको बाहर निकाल वह एक हाथ प्रमाण आहारक शरीरकी रचना करता है। अन्य क्षेत्रमें जानेकेलिये आहारक समुद्घातकी रचनाकी कोई आवश्यकता नहीं इसलिये जिस दिशामें केवली विराजमान रहते हैं उसी दिशामें जानेके कारण उसका गमन एक ही दिशामें होता है तथा मरणके अंतमें जो जीवका गमन होता है वह भी दिशामें ही होता है इसलिये मरणके अंत समयमें नरक आदि गतियोंमें जहां जीवको जन्म लेना होता है उसी क्षेत्रमें मारणांतिक समुद्धात द्वारा आत्माके प्रदेश उसी दिशा और क्षेत्रमें गमन करते हैं विदिशा वा अन्य क्षेत्रमें गमन नहीं करते इसलिये जहांपर जन्म लेना निर्धारित हो चुका है उसी दिशा वा क्षेत्रमें मारणांतिक समुद्धातका गमन भी एक ही दिशामें होता है इसरीतिसे आहारक और मारणांतिक इन दोनों समुद्धातोंका तो एक ही दिशामें गमन होता है इसलिये ये दोनों समुद्धात एकदिक हैं और बाकीके पांच समुद्धातोंका छहों दिशाओंमें गमन होता है क्योंकि वेदना कषाय आदि समुद्धातोंके

१। आहारमारणंतिय दुगं पि णियमेण एगदिसिगं तु। दसदिसिगदा हु सेसा पंचसमुग्घादया होंति ॥ ६६८॥
उक्त सात प्रकारके समुद्घातोंमेंसे आहार और मारणांतिक ये दो समुद्घात तो एक ही दिशामें गमन करते हैं किंतु बाकीके पांच समुद्घात दशों दिशाओंमें गमन करते हैं।

द्वारा बाहर निकले हुए आत्माके प्रदेशोंका गमन पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण उर्ध्व और अधः इन छहों दिशाओंमें माना गया है इसलिये वेदना कषाय आदिक पांच षड्दिक हैं तथा इन पांच समुद्घातोंके द्वारा जो आत्माके प्रदेश बाहर निकलते हैं उन सबका भी श्रेणी—दिशाओंमें, ही गमन माना है विदिशा-ओंमें नहीं होता।

वेदना कषाय मारणांतिक तैजस वैक्रियिक और आहारक इन छह समुद्घातोंका काल तो संख्यात समय है और केवलिसमुद्घातका काल आठ समय है क्योंकि चार समयोंमें दंड कपाट प्रतर और लोक पूरण ये चार अवस्था होती हैं और चार समयोंमें प्रतर कपाट दंड और फिरसे शरीरमें प्रवेश करना ये चार अवस्था होती हैं इस प्रकार केवलि समुद्धातमें आठ समयका काल लगता है।

सूर्य चंद्रमा ग्रह नक्षत्र और तारागणके संचार उपपाद गति और जो विपरीत—उलटे गमनफलों का जहांपर वर्णन है, शकुनोंका निरूपण है और अर्हंत बलदेव वासुदेव चक्रवर्ती आदिके गर्भ जन्म तप आदि महा कल्याणोंका जहांपर वर्णन है वह कल्याणनामधेयपूर्व है। जिस पूर्वमें कायचिकित्सादि अष्टांग आयुर्वेद, पृथ्वी, जल आदि भूतोंका कार्य सर्प आदि जंगम जीवोंके गति आदिका वर्णन और श्वासोच्छ्वासका विभाग विस्तारसे वर्णित है वह प्राणावाय पूर्व है। जहांपर बहत्तर प्रकारकी लेखन आदि कला, चौसठि प्रकारके स्त्रियोंके गुण, शिल्प, काव्यके गुण दोष, छन्दोंकी रचना एवं क्रिया तथा उन क्रियाओंके फलोंके उपभोग करनेवालोंका निरूपण है वह क्रियाविशाल पूर्व है और आठ प्रकारके व्यवहार, चार प्रकारके बीज, परिकर्मराशिका विभाग और समस्त श्रुतकी संपत्तिका जहांपर निरूपण है वह लोकबिंदुसार है। विशेष—

उत्पाद पूर्वमें एक करोड पद हैं। दूसरे अग्रायणी पूर्वमें छ्यानवे लाख पद हैं। तीसरे वीर्यप्रावदमें सत्तर लाख पद हैं। चौथे आस्तिनास्तिप्रवाद पूर्वमें साठ लाख पद हैं। पांचवें ज्ञानप्रवाद पूर्वमें एक कम एक करोड पद हैं। छठे सत्य प्रवाद पूर्वमें एक करोड छह पद हैं। सातवे आत्म प्रवाद पूर्वमें छव्वीस करोड पद हैं। आठवें कर्म प्रवाद पूर्वमें एक करोड अस्सी लाख पद हैं। नौवें प्रत्याख्यान पूर्वमें चौरासी लाख पद हैं। दशवें विद्यानुवाद पूर्वमें एक करोड दशलाख पद हैं। ग्यारहवें कल्याण वाद पूर्वमें छव्वीस करोड पद हैं। वारहवें प्राणावाय पूर्वमें तेरह करोड पद हैं। तेरहवें क्रिया विशाल पूर्वमें नौ करोड पद हैं और चौदहवें त्रिलोकविंदुसारपूर्वमें बारह करोड पचास लाख पद हैं। श्रुतज्ञानका विशेष स्वरूप श्रीगोम्मटसार और वृहद् हरिवंशपुराणमें निरूपण किया है।

आरातीयाचार्यकृतांगार्थ-प्रत्यासन्नरूपमंगवाह्यं ॥ १३ ॥

तदनेकविधं कालिकोत्कालिकादिविकल्पात् ॥ १४ ॥

कालके दोषसे अल्प बुद्धि अल्प आयु और अल्प बलके धारक जीवोंके उपकारकी इच्छासे, शास्त्रके रहस्यके जानकार और गणधरोंके शिष्य प्रशिष्य कहे जाने वाले ऐसे आरातीय (पीछे होने वाले)

१। गाथा—पयणहदाल पणतीस तीस पयणास पयणा तेरसदं। णउदी दुदाल पुव्वे पणवण्णा तेरससयाइं ॥ ३६५ ॥
छस्सय पयणासाइं चउसयपण्णास छसयपणुवीसा। विहि लक्खेहि दु गुणिया पंचम रूऊण छज्जुदा छट्ठे ॥ ३६६ ॥
छाया—पंचाशदष्टचत्वारिंशत् पंचत्रिंशत् त्रिंशत् पंचाशत् पंचाशत् त्रयोदशशतं।
नवतिः द्वाचत्वारिंशत् पूर्वे पंचपंचाशत त्रयोदशशतानि ॥ ३६५ ॥
षट्छतपंचाशानि चतुःशतपंचाशत् षट्छतपंचविंशतिः।
द्वाभ्यां लक्षाभ्यां तु गुणितानि पंचमं रूपोनं षट्युतानि षष्ठे ॥ ३६६ ॥ गोमट्टसार जीवकांड।

आचार्यों द्वारा जो संक्षेपसे अंगोंके अर्थ और वचनोंकी रचना है वह अंग वाह्य है। इस अंगवाह्यके कालिक उत्कालिक आदि अनेक भेद हैं। स्वाध्यायके समयमें ही जिसका समय निश्चित है अर्थात् जो समय शास्त्रोंमें स्वाध्यायकेलिए निश्चित है उसी समय जो पढा पढाया जाता है—अन्य समय पढा पढाया नहीं जाता वह कालिक नामका अंग वाह्य है और जिसका कोई समय निश्चित नहीं हर समय जो पढा पढाया जा सकता है वह उत्कालिक है उसके भेद उत्तराध्ययन आदि अनेक हैं। विशेष—

सामायिक १ चतुर्विंशातिस्तव २ वंदना ३ प्रतिक्रमण ४ वैनायिक ५ कृतिकर्म ६ दशवैकालिक ७ उत्तराध्ययन ८ कल्प व्यवहार ९ कल्पाकल्प्य १० महाकल्प ११ पुंडरीक १२ महा पुंडरीक १३ और निषिद्धिका १४। ये चौदह भेद अंग वाह्यके हैं। इनको प्रकीर्णक भी कहा जाता है। सामायिकमें शत्रु मित्र सुख दुःख आदिमें राग द्वेषकी निवृत्तिपूर्वक समभावका वर्णन है। दूसरे चतुर्विंशाति स्तवमें तीर्थंकरोंकी स्तुतिका निरूपण है। तीसरे वंदना प्रकीर्णकमें वंदनाके योग्य पंच परमेष्ठी भगवानकी प्रतिमा मंदिर तीर्थ और शास्त्रोंका प्रतिपादन है और वंद्य वंदनाकी विधि बतलाई है। चौथे प्रतिक्रमण प्रकीर्णकमें द्रव्य क्षेत्र काल आदिके द्वारा किए गए पापोंका शोधन-प्रायश्चित्त आदिका वर्णन है पांचवें वैनायिक प्रकीर्णकमें दर्शनाविनय ज्ञानाविनय चारित्रविनय तपाविनय और उपचार विनयका सविस्तर वर्णन है। कृतिकर्म

१। गाथा—सामाइय चउवीसत्थयं तदो वंदणा पडिक्कमणं। वेणइयं किदियम्मं दसवेयालं च उत्तरज्झयणं ॥ ३६७ ॥
कप्पववहारकप्पाकप्पिय महकप्पियं च पुंडरियं। महपुंडरीयणिसिहियमिदि चोदस मंगवाहिरयं ॥ ३६८ ॥
छाया—सामायिकं चतुर्विंशस्तवं ततो वंदना प्रतिक्रमणं। वैनयिकं कृतिकर्म दशवैकालिकं च उत्तराध्ययनं ॥ ३६७ ॥
कल्प-व्यवहार-कल्प्याकल्प्यक-महाकल्प्य च पुंडरीकं। महापुंडरीकंनिषिद्धिका इति चतुर्दशांगवाह्यं ॥ ३६८ ॥ गो० जीवकांड।

प्रकीर्णकमें चार बार मस्तक नवाना, तीन बार नमस्कार करना, हर एक नमस्कारमें तीन तीन आवर्त इसप्रकार बारह आवर्त करना आदि सामयिककी विधि बतलाई हैं। सातवें दशवैकालिक प्रकीर्णकमें चंद्र सूर्यके ग्रहण आदिका वर्णन है। आठवें उत्तराध्ययन प्रकीर्णकमें महावीर भगवानके निर्वाण गमनका कथन है। नवमें कल्पव्यवहार प्रकीर्णकमें तपस्वियोंके योग्य आचरणकी विधि बतलाई है और अयोग्य आचरणोंका प्रायश्चित्त निरूपण किया गया है। दशवें कल्प्याकल्प्य प्रकीर्णकमें विषय कषाय आदि हेय और वैराग्य आदि उपादेयका वर्णन है। ग्यारहवें महाकल्प्य प्रकीर्णकमें मुनियोंके लिए उचित द्रव्य उचित क्षेत्र उचित काल सेवनका निरूपण है। बारहवें पुंडरीक प्रकीर्णकमें देवोंकी उत्पत्तिका निरूपण है। तेरहवें महापुंडरीकमें देवियोंकी उत्पत्तिका निरूपण है। और चौदहवें निषिद्धिका प्रकीर्णकमें प्रायश्चित्त विधिका सविस्तर वर्णन है। शंका—जिसतरह मतिज्ञान आदिका जुदे जुदे रूपसे उल्लेख किया गया है उस तरह अनुमान आदिका भी करना चाहिए? उत्तर—

अनुमानादीनां पृथगनुपदेशः श्रुतावरोधात् ॥ १५ ॥

अनुमान आदि ज्ञानोंका अंतर्भाव श्रुतज्ञानमें ही हो जाता है इसलिये उनका पृथक् रूपसे उल्लेख नहीं किया गया और वह इसप्रकार है—अनुमान ज्ञान प्रत्यक्ष पूर्वक होता है और पूर्ववत् शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट ये तीन उसके भेद हैं। पहिलेके समान जहां पदार्थका ग्रहण हो वह पूर्ववत् अनुमान कहा जाता है जिसतरह—पहिले कई जगह किसी पुरुषने अग्निसे निकलता हुआ धूवां देखा उससे उसके आत्मामें यह संस्कार जम गया कि विना अग्निके धूवां नहीं हो सकता इसीका नाम अविनाभाव संबंध है फिर जहां कहीं पर्वत आदिमें वह धूवां देखता है उससमय उसे अविनाभाव संबंधका स्मरण होता है

और उससे वह धूवां देखकर 'यहां अग्नि है' ऐसा पहिलेके समान अग्निका निश्चय कर लेता है यह पूर्ववत् अनुमान है। शेष—अवशिष्ट भागका जान लेना शेषवत् अनुमान है। जिसतरह किसी पुरुषनें पहिले सींग और सींगवालेका संबंध निश्चित कर रक्खा है, वह जहां सींगोंको देखता है वहां उस सींगवालेका निश्चय कर लेता है । यह शेषवत अनुमान है । तथा सामान्यसे जहां पर प्रतिपत्ति हो जाती है वह सामान्यतो दृष्ट है जिसतरह—एक जगहसे दूसरी जगहपर पहुंचना देवदत्तका विना चले नहीं हो सकता इसलिये जिसप्रकार देवदत्तका दूसरी जगह पर पहुंचना गतिपूर्वक है उसीप्रकार यद्यपि सूर्यकी गमन-क्रिया प्रत्यक्षमें नहीं दीख पडती तो भी वह जो पूर्व दिशामें उदित होकर पश्चिम दिशामें जाकर अस्त होता है, 'यह एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें जाना' विना गमन क्रियाके नहीं हो सकता इसलिये देवदत्त की गमनक्रियासे सूर्यकी गमनक्रियाका निश्चय कर लिया जाता है यह सामान्यतो दृष्ट अनुमान है। श्रुतज्ञानके अनक्षरश्रुत और अक्षरश्रुत दो भेद माने हैं जिससमय उक्त तीनों प्रकारके अनुमानोंसे स्वयं ज्ञान करना होगा वहां उनका अनक्षर श्रुतमें अंतर्भाव है और जहां पर दूसरेको ज्ञान कराया जायगा वहां पर अक्षर श्रुतमें अंतर्भाव है इसरीतिसे श्रुतज्ञानके ही अंतर्गत हो जानेसे अनुमानका मतिज्ञान आदिके समान पृथक् उल्लेख नहीं किया जा सकता। तथा जैसी गऊ होती है वैसा ही गवय (रोज) होता है केवल सास्ना (गलेमें लटकता हुआ मांसपिंड) का भेद है। इसका दूसरे दूसरे सिद्धांतकारोंने उपमान प्रमाण माना है परंतु यह भी श्रुतज्ञान ही है क्योंकि 'जैसी गऊ होती है वैसी ही गवय होता है केवल सास्नाका भेद रहता है' जिससमय इसप्रकारका ज्ञान स्वयं होता है उससमय उसका अनक्षर श्रुतमें अंतर्भाव है और जिससमय दूसरेको ज्ञान कराया जाता है उससमय अक्षरात्मक श्रुतज्ञानमें अंतर्भाव

है । तथा घट आदि शब्दोंसे जो उनके अर्थका ज्ञान होता है उसे अन्य सिद्धांतकारोंने शब्द प्रमाण मान रक्खा है परंतु वह स्पष्ट श्रुतज्ञान है । 'इसप्रकार इस भरतक्षेत्रमें भगवान ऋषभदेव हुए' इसतरह के ज्ञानको किसी किसीने ऐतिह्य प्रमाण मान रक्खा है परंतु यह बात परंपरासे पुरुषोंके शास्त्र-वचनोंसे जानी जाती है इसलिये वह श्रुतज्ञानसे भिन्न नहीं । तथा "अमुक पुरुष दिनमें तो खाता नहीं परंतु जीता जागता हृष्ट पुष्ट है वहां पर यह सुलभरूपसे निश्चय कर लिया जाता है कि वह रातको जरूर खाता होगा नहीं तो विना भोजनके उसका जीना आदि असंभव है" ऐसे ज्ञानको लोगोंने अर्थापत्ति प्रमाण माना है । तथा-चार प्रस्थ (पायली) का एक आढक (परिमाण विशेष) होता है ऐसा ज्ञान हो जानेपर कहीं कोदों नाजको देखकर यह जान लेना कि यह आधे आढक प्रमाण है इस ज्ञानको लोगोंने प्रतिपत्ति प्रमाण मान लिया है । तथा तृण गुल्म वृक्ष आदिमें हरापन, पत्ते और फल आदि न देख कर यह जान लेना कि यहां पर निश्चयसे मेघ नहीं वर्षा है, इस ज्ञानको अन्य सिद्धांतकारोंने अभाव प्रमाण माना है परंतु अर्थापत्ति प्रतिपत्ति और अभाव ये सब ज्ञान अनुमान प्रमाणके अंतर्भूत हैं और अनुमानको ऊपर श्रुतज्ञान सिद्ध कर आये हैं इसलिये इन सबका श्रुतज्ञानमें ही अंतर्भाव है श्रुतज्ञानसे भिन्न नहीं है इसरीतिसे श्रुतज्ञानके कहनेसे ही अनुमान आदिका ग्रहण हो जानेसे उनका पृथक् उल्लेख नहीं किया गया ॥ २० ॥

प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद कहे थे । उनमें परोक्ष प्रमाणका स्वरूप वतला दिया गया । अब प्रत्यक्ष प्रमाणपर विचार किया जाता है । प्रत्यक्षके दो भेद हैं एक देश प्रत्यक्ष दूसरा सकल प्रत्यक्ष ।

१ उपमान अर्थापत्ति आदिका प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणोंमें अन्तर्भाव प्रमेयकमलमार्तंड पत्र संख्या ५० में खुलासा रूपसे है ।

अवधि और मनःपर्ययज्ञान ये दो देश प्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। 'क्षयोपशमात्मक विशुद्धिरूप आत्माके प्रसादको विशेषतासे जिसके द्वारा मर्यादितरूपसे पदार्थ जाने जांय वह अवधिज्ञान है' यह अवधिज्ञानका स्वरूप पहिले कह दिया जा चुका है। वह अवधिज्ञान भव प्रत्यय और गुण प्रत्ययके भेदसे दो प्रकारका है अथवा देशावधि और सर्वावधि ये भी उसके दो भेद हैं। (यदि यहांपर यह कहा जाय कि दूसरी जगह देशावधि परमावधि और सर्वावधिके भेदसे अवधिज्ञान तीन प्रकारका माना है। यहां उसके देशावधि और सर्वावधि दो ही भेद किये हैं इसलिये आपसमें विरोध है? सो नहीं। सर्वशब्दका अर्थ संपूर्ण है। संपूर्णमें परम शब्दका भी अंतर्भाव हो जाता है इसलिये परमावधि भी देशावधि ही है इसरीतिसे परमावधिको देशावधि सिद्ध होनेसे अवधिज्ञानके देशावधि और सर्वावधि दो भेद माननेमें कोई आपत्ति नहीं) अब भवप्रत्यय अवधिज्ञानके विषयमें सूत्रकार कहते हैं—

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणां ॥ २१ ॥

देव और नारकियोंके जो अवधिज्ञान होता है वह भवप्रत्यय है अर्थात् देव और नरकगतिमें जाते ही उनके अवधिज्ञान प्रगट हो जाता है। वार्तिककार भवशब्दका अर्थ बतलाते हैं—

आयुर्नामकर्मोदयविशेषापादितपर्यायो भवः ॥ १ ॥

अन्य अविनाभावी कारणोंके साथ आयु और नाम कर्मके उदयसे आत्माके जिस पर्यायकी प्राप्ति हो वह भव कहा जाता है। यह भवका सामान्य लक्षण है।

प्रत्ययशब्दस्यानेकार्थसंभवे विवक्षातो निमित्तार्थगतिः ॥ २ ॥

प्रत्यय शब्दके अनेक अर्थ हैं 'अर्थाभिधानप्रत्ययाः' पदार्थ शब्द और ज्ञान यहांपर प्रत्ययशब्दका

अर्थ ज्ञान है। 'परद्रव्यहरणादिषु सत्युपालंभे प्रत्ययोऽनेन कृतः' परद्रव्यके चोरी आदि हो जानेपर जब इस पुरुषको उलाहना दिया गया तब इसने शपथ की, यहां पर प्रत्यय शब्दका अर्थ शपथ है। 'अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः' संस्कार अविद्याकारणक हैं, यहां पर प्रत्यय शब्दका अर्थ कारण है परंतु इस स्थान पर प्रत्यय शब्दका 'निमित्त' अर्थ ग्रहण करना अभीष्ट है इसलिये निमित्त अर्थ ही लिया गया है। 'भवप्रत्ययः' अर्थात् भवकारणक है। शंका—

क्षयोपशमाभाव इति चेन्न तस्मिन् सति सद्भावात् खे पतत्रिगतिवत् ॥ ३ ॥

अवधिज्ञानकी उत्पत्तिमें अवधिज्ञानावरण और वीर्यांतरायका क्षयोपशम आदि कारण माने हैं यदि उसे भवनिमित्तक माना जायगा तो कर्मोंका क्षयोपशम मानना व्यर्थ है? सो ठीक नहीं। जिसप्रकार आकाशके होते पक्षियोंकी गति होती है यहांपर गति नामकर्मका क्षयोपशम अंतरंग कारण माना है और आकाशको वाह्य कारण माना है उसीप्रकार अवधिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमके होने पर ही अवधिज्ञान होता है विना उसके ज्ञान नहीं हो सकता इसलिये अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम अवधिज्ञानमें अंतरंग कारण है और भव पक्षियोंकेलिये आकाशके समान वाह्य कारण है। और भी यह बात है कि—

इतरथा ह्यविशेषप्रसंगः ॥ ४ ॥

यदि अवधिज्ञानकी उत्पत्तिमें भव ही कारण माना जायगा कर्मोंका क्षयोपशम कारण न माना जायगा तो सब ही देव और नारकियोंके भव कारण समान है, इसलिये सबके एक समान अवधिज्ञान होना चाहिये, परंतु वह किसीके कम होता है और किसीके अधिक होता है, इसलिये भवकारणक

अवधिज्ञानकी उत्पत्तिमें भी अंतरंग कारण क्षयोपशम है। वह जैसा जैसा तीव्र मंदभावसे रहता है वैसा वैसा कम अधिक अवधिज्ञान होता है। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि जब भवनिमित्तक अवधिज्ञानमें भी कर्मोंका क्षयोपशम ही कारण है तब उसकी उत्पत्तिमें भवको कारण मानना व्यर्थ है? सो ठीक नहीं। जिसतरह तिर्यंच और मनुष्योंके अवधिज्ञानमें अहिंसादिक व्रत नियम कारण हैं उसीप्रकार देव और नारकियोंके अवधिज्ञानमें अहिंसादिक व्रत नियम कारण नहीं किंतु देवगति और नरकगतिमें उत्पन्न होनेके साथ ही आपसे आप वहां अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके अनुकूल कर्मोंका क्षयोपशम हो जाता है इसलिये वहां पर जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है उसमें वाह्य कारण भव ही है। शंका—

अविशेषात् सर्वप्रसंग इति चेन्न सम्यगधिकारात् ॥ ५ ॥

भवकारणक अवधि देव और नारकियोंके होता है यह सामान्य कथन है। देवगति और नरक गतिमें सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों प्रकारके नारकी रहते हैं इसलिए मिथ्यादृष्टियोंके भी अवधि ज्ञानका विधान सिद्ध होनेसे उनके भी अवधिज्ञान कहना होगा? क्योंकि भव दोनोंके समान कारण उपस्थित है। सो नहीं। भवप्रत्ययोवधिरित्यादि सूत्रके लिए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका अधिकार है क्योंकि पांचों सम्यग्ज्ञानोंका ही विवेचन क्रमसे किया जा रहा है वह भी मोक्ष मार्ग प्रकरण होनेसे सिद्ध है इसलिए सम्यग्दृष्टी देव नारकियोंके ही अवधिज्ञान हो सकता है मिथ्यादृष्टिके नहीं, उनके विभंग होता है। अथवा इसी अध्यायमें आगे "मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च" मति श्रुत और अवधिज्ञान ये विपरीत ज्ञान भी होते हैं, यह कहा गया है उस संबंधसे सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टी देवों के ही अवधिज्ञान होता है मिथ्यादृष्टियोंके अवधिज्ञान नहीं होता किंतु विभंगावधिज्ञान ही होता है। अथवा

'व्याख्यानाद्विशेषप्रतिपत्तिः' शास्त्रोंमें जैसा वर्णन रहता है उसीके अनुकूल पदार्थ विशेषोंका ज्ञान होता है। शास्त्रोंमें अवधिज्ञान सम्यग्दृष्टियोंके ही कहा है। मिथ्यादृष्टियोंके नहीं इसलिए मिथ्यादृष्टि देव और नारकियोंके अवधिज्ञानका विधान नहीं माना जा सकता। शंका—

आगमे प्रसिद्धेर्नारकशब्दस्य पूर्वनिपात इति चेन्नोभयलक्षणप्राप्तत्वाद्देवशब्दस्य ॥ ६ ॥

जीव आदिके निरूपण करते समय, सत् संख्या आदिके निरूपण करते समय वा अनुयोगके कथन करने पर देवोंकी अपेक्षा नारकियोंका पहिले वर्णन किया है इसलिए 'भवप्रत्ययोवधिः' इत्यादि सूत्रमें भी नारकियोंका ही देवोंसे पहिले उल्लेख करना उचित है? सो नहीं। जिस शब्दमें थोड़े स्वर होते हैं और जो उत्तम होत है उसका पहिले उल्लेख किया जाता है यह व्याकरणका सर्वमान्य सिद्धांत है। नारककी अपेक्षा देव शब्दमें थोड़े स्वर हैं और उसकी अपेक्षा देव शब्द उत्तम भी है इसलिए नारक और देव शब्दोंमें देवका ही पहिले उलेख होगा नारक शब्दका नहीं हो सकता। तथा शास्त्रमें जीव स्थान आदि प्ररूपणाओंमें नारकियोंका पहिले वर्णन है और देवोंका पीछे है इसलिए सूत्रमें देव शब्दका पहिले उलेख न कर नारक शब्दका ही करना चाहिए यह युक्ति भी अनियमित है क्योंकि जिसका शास्त्रमें पहिले वर्णन है उसका जहां कहीं भी उलेख किया जाय वहां सबसे पहिले उलेख करना चाहिए यह कोई नियम नहीं। बहुतसे शब्दोंका शास्त्रोंमें पहिले वर्णन है और उनका पीछे प्रयोग होता दीख पडता है इसलिए पूर्वोक्त व्याकरणके नियमानुसार नारक और देव शब्दोंमें देव शब्दका ही पूर्व उलेख न्यायप्राप्त है।

तीव्र और मंद रूपसे जैसा जैसा क्षयोपशम होता है उसीकी अपेक्षा अवधिज्ञान भी हीन और

अधिक रूपसे वा उत्कृष्ट और जघन्य रूपसे होता है यह ऊपर कहा जा चुका है उसका विस्तृत वर्णन इस प्रकार है—भवनवासी व्यंतर ज्योतिषी और वैमानिक ये देवोंके चार भेद हैं उनमें दश[1]प्रकारके भवनवासियोंके जघन्य अवधि ज्ञानका विषय पच्चीस योजन प्रमाण है अर्थात् जघन्य अवधि ज्ञानके धारक दशों प्रकारके भवनवासी अवधिज्ञानसे पच्चीस योजनसे अधिक नहीं जान सकते। भवनवासी निकायके भेद असुरकुमार देवोंके उत्कृष्ट अवधिज्ञानका विषय नीचेकी ओर असंख्यात कोडाकोडी योजन प्रमाण है और ऊपरकी ओर ऋजु[2]विमानकी चोटी तक है। नागकुमार आदि नौ प्रकारके भवनवासियोंके उत्कृष्ट अवधिज्ञानका विषय नीचेकी ओर असंख्यात हजार योजन प्रमाण है। ऊपरकी ओर मेरु पर्वतकी चोटी तक है और तिरछा असंख्यात हजार योजन प्रमाण है।

किंनर किंपुरुष महोरग गंधर्व यक्ष राक्षस भूत और पिशाचके भेदसे व्यंतर आठ प्रकारके हैं। आठों ही प्रकारके व्यंतरोंका जघन्य अवधिका विषय पच्चीस योजन प्रमाण है। तथा उत्कृष्ट नीचेकी ओर असंख्यात हजार योजन है ऊपरकी ओर अपने अपने विमानोंकी चोटी तक है और तिरछा असंख्यात कोडा कोडी योजन है। ज्योतिषी देवोंका जघन्य अवधिज्ञान नीचे संख्यात योजन प्रमाण है उत्कृष्ट—असंख्यात हजार योजन प्रमाण है। ऊपर अपने विमानकी चोटी तक है। तिरछा असंख्यात कोडाकोडी योजन प्रमाण है।

१—भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः। असुरकुमार १ नागकुमार २ विद्युत्कुमार ३ सुपर्णकुमार ४ अग्निकुमार ५ वातकुमार ६ स्तनितकुमार ७ उदधिकुमार ८ द्वीपकुमार ९ और दिक्कुमार १० ये दश प्रकारके भवनवासी देव हैं तत्त्वार्थ सूत्र अ० ४ सू० १०। २—प्रथम सौधर्मस्वर्गका विमान।

सौधर्म आदि ऊर्ध्व लोकके निवास स्थानोंका नाम विमान है उन विमानोंमें रहने वाले देव वैमानिक कहे जाते हैं। उनमें सौधर्म और ऐशान स्वर्गवासी देवोंके जघन्य अवधिज्ञानका विषय ज्योतिषियोंके उत्कृष्ट अवधिज्ञानका जितना विषय है उतना है उत्कृष्ट अवधिज्ञानका विषय रत्नप्रभाके अंतपर्यंत है। सानत्कुमार और माहेंद्र स्वर्गवासी देवोंके जघन्य अवधिज्ञानका विषय रत्नप्रभाके अंततक है और उत्कृष्ट शर्कराप्रभाके अंतपर्यंत है। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लांतव और कापिष्ठ स्वर्गवासी देवोंके जघन्य अवधिज्ञानका विषय शर्कराप्रभाके अंतपर्यंत है और उत्कृष्ट वालुकाप्रभाके अंतपर्यंत है। शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रार स्वर्गवासी देवोंके जघन्य अवधिज्ञानका विषय वालुकाप्रभाके अंतपर्यंत है और उत्कृष्ट पंकप्रभाके अंतपर्यंत है। आनत प्राणत आरण और अच्युत स्वर्गवासी देवोंके जघन्य अवधिज्ञानका विषय पंकप्रभाके अंतपर्यंत है और उत्कृष्ट धूमप्रभाके अंतपर्यंत है। नौ ग्रैवेयकोंके जघन्य अवधिज्ञानका विषय धूमप्रभाके अंतपर्यंत है और उत्कृष्ट तमःप्रभाके अंतपर्यंत है और नव अनुदिश एवं पांच अनुत्तरविमानवासी देवोंके अवधिज्ञानका विषय लोकनाडी पर्यंत है। तथा सौधर्मस्वर्गवासी देवोंको आदि लेकर अनुत्तरपर्यंत रहनेवाले देवोंके ऊपरका अवधिज्ञानका विषय अपने अपने विमानकी चोटी पर्यंत है और तिरछा असंख्यात कोडाकोडी योजन है। अर्थात् ऊपर नीचे और तिरछा जो भी जघन्य और उत्कृष्ट भेद विशिष्ट अवधिज्ञानका विषय बतलाया गया है वहीं तक अवधिज्ञानसे पदार्थ जाने जा सकते हैं उससे आगेके नहीं। यह क्षेत्रकी अपेक्षा अवधिज्ञानका विषय विभाग कहा गया है अब काल द्रव्य और भावकी अपेक्षा इस प्रकार है—

अवधिज्ञान जितने क्षेत्रका विषय करता है और उसमें जितने आकाशके प्रदेशोंका प्रमाण रहता है

उतने ही संख्या प्रमाण भूत भविष्यत् वर्तमान त्रिकालवर्ती समयोंको अवधिज्ञान विषय करता है। क्षेत्रके प्रदेशोंकी संख्या प्रमाण ही असंख्यात भेदवाले अनंत प्रदेशोंके धारक पुद्गल स्कंधोंको विषय करता है और उतनी ही संख्या प्रमाण कर्म सहित जीवोंको विषय करता है। यह काल और द्रव्य की अपेक्षा अवधिज्ञानके विषयका निरूपण है तथा भावकी अपेक्षा अपने विषयभूत पुद्गल स्कंधोंके रूप आदि भेदोंको एवं जीवके परिणाम स्वरूप औदयिक औपशमिक और क्षायोपशमिकको भी विषय करता है। यहांपर यह शंका नहीं करनी चाहिये कि अवधिज्ञानका विषय मूर्तिक पदार्थ है वह अमूर्तिक जीव वा उसके परिणामोंको कैसे जान सकता है? क्योंकि कर्म सहित जीवको वा कर्मके विकारस्वरूप उसके परिणामोंको संसारावस्थामें पानी और दूधके समान एकम एक होनेसे पौद्गलिक—मूर्तिक ही माना है। मूर्तिकको अवधिज्ञान विषय करता ही है इसलिये कोई दोष नहीं। ऊपर लिखे अनुसार नीचेकी ओर ऊपरकी ओर तिरछा इसप्रकार तीनों ओर द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा देवोंमें अवधिज्ञानके विषयका निरूपण कर दिया गया। अब नारकियोंमें तीनों भागोंकी अपेक्षा अवधिज्ञानके विषयका निरूपण किया जाता है—

नारकियोंमें योजन प्रमाण अवधिज्ञान सातवें नरकमें है आधा कोश घटते घटते पहले नरकमें एक कोश प्रमाण रह जाता है। रत्नप्रभा पहिली पृथिवीमें नीचेकी ओर अवधिज्ञानका विषय एक योजन प्रमाण है—एक योजनसे आगेके पदार्थोंको अवधिज्ञान नहीं जान सकता। दूसरी शर्करा पृथिवी

१। 'पणुवीस जोइणाइं' इस ४२५ की गाथासे लेकर अवधिज्ञान प्ररूपणाके अंततक अच्छीतरह गोम्मटसारजीमें इस विषयका वर्णन है।

में नीचेकी ओर अवधिज्ञानका विषय साढे तीन (गंव्यूति) कोस है । तीसरी बालुका प्रभा पृथिवीमें तीन कोस है । चौथी पंकप्रभामें ढाई कोस, पांचवीं धूमप्रभामें दो कोस, छठी तमः प्रभामें डेढ कोस और सातवीं महातमःप्रभामें अवधिज्ञानका विषय नीचेकी ओर एक कोस है । तथा रत्नप्रभा आदि सब पृथिवियोंके नारकियोंका ऊपरकी ओर अवधिज्ञानका विषय अपने अपने रहनेके बिलोंकी चोटी तक है उससे ऊपरके पदार्थोंको वह विषय नहीं करता और नारकियोंके अवधिज्ञानका तिरछी ओर विषय असंख्यात कोडाकोडी योजन प्रमाण है यह क्षेत्रकी अपेक्षा नारकियोंके अवधिज्ञानका विषय कहा गया है । काल द्रव्य और भावकी अपेक्षा पहिलेके समान समझ लेना चाहिये अर्थात् नारकियोंका अवधिज्ञान जितने क्षेत्रको विषय करता है और उस क्षेत्रमें जितनी संख्याप्रमाण आकाशके प्रदेश रहते हैं उतनी ही संख्याप्रमाण काल द्रव्य भूत भविष्यत् वर्तमान कालके समय अवधिज्ञानके विषय होते हैं तथा उतनी ही संख्याप्रमाण संख्यात भेद अनंत प्रदेशोंके धारक पुद्गलस्कंध उसके विषय होते हैं और उतनी ही संख्याप्रमाण कर्मविशिष्ट जीव उनके अवधिज्ञानके विषय होते हैं तथा भावकी अपेक्षा अपने

१ । अमरकोष आदिमें गव्यूति शब्दका अर्थ दो कोस ग्रहण किया है परन्तु यहा पर उसका एक कोस ही अर्थ ग्रहण करना चाहिये । गोम्मटसारजीमें भी कोसके हिसाबसे ही नारकियोंके नीचेकी ओर अवधिज्ञानका विषय बतलाया है । यथा—

सत्तमखिदिम्मि कोसं कोसस्सद्धं पवड्ढदे ताव ।

जावय पढमे निरये जोयणमेक्क हवे पुण्णं ॥ ४२३ ॥

सातमी भूमिमें अवधिज्ञानके विषयभूत क्षेत्रका प्रमाण एक कोस है इसके ऊपर आध आध कोसकी वृद्धि तब तक होती है जब तक कि प्रथम नरकमें अवधिज्ञानके विषयभूत क्षेत्रका प्रमाण पूर्ण एक योजन हो जाता है ।

विषय भूत पुद्गलस्कंधोंके रूप आदि भेदोंको और जीवोंके परिणामस्वरूप औदयिक औपशमिक और क्षायोपशमिक भावोंको नारकियोंका अवधिज्ञान विषय करता है। इसप्रकार भवप्रत्यय अवधिज्ञानका निरूपण हो चुका ॥ २१ ॥

यदि भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियोंके होता है तो क्षयोपशमकारणक अवधिज्ञान किनके होता है ? इस विषयमें सूत्रकार कहते हैं—

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणां ॥ २२ ॥

देव और नारकियोंसे अवशिष्ट मनुष्य और तिर्यंचोंके जो अवधिज्ञान होता है वह कर्मोंके क्षयोपशमसे होता है और उसके अनुगामी अननुगामी आदि छह भेद हैं। सूत्रमें जो क्षयोपशम शब्द है उसका अर्थ इसप्रकार है—

अवधिज्ञानावरण कर्मके देशघाती स्पर्धकोंका उदय सर्वघाती स्पर्धकोंका उदयाभावी क्षय और आगामी कालमें उदय आनेवाले सर्वघाती स्पर्धकोंका सदवस्थारूप उपशम ऐसी कर्मकी अवस्थाका नाम क्षयोपशम है। इस कर्मोंके क्षयोपशमसे जायमान अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यंचोंके होता है। विशेष—

शक्तिके जिस अंशका विभाग न हो सके उस अविभागी अंशका नाम अविभाग प्रतिच्छेद है। समान अविभाग प्रतिच्छेदोंके धारक प्रत्येक कर्मपरमाणुका नाम वर्ग है। वर्गोंके समूहको वर्गणा कहते हैं

१—जो कर्म विना फल दिये खिर जाय उसे उदयाभावी क्षय कहते हैं।

और वर्गणाओंका समूह स्पर्धक कहा जाता है । वह स्पर्धक दो प्रकारका है एक देशघाती स्पर्धक दूसरा सर्वघाती स्पर्धक । जो गुणके एक देशको घाते वह देशघाती स्पर्धक है और जो सर्वदेशको घाते वह सर्वघाती स्पर्धक कहा जाता है तथा स्थितिको पूरीकर फल देना उदय है । विना ही फल दिये आत्मासे कर्मके संबंधका छूट जाना उदयाभावी क्षय है और वर्तमान समयको छोडकर आगामी कालमें उदय आनेवाले कर्मोंका जो सत्तामें रहना है वह सदवस्थारूप उपशम कहा जाता है। अनंतानुबंधी क्रोध मान माया और लोभ ये चार प्रकृतियां चारित्र मोहनीयकी एवं सम्यक् प्रकृति, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व ये तीन प्रकृतियां दर्शनमोहनीयकी इसतरह ये सात प्रकृतियां सम्यक्त्व गुणकी विरोधी हैं । इन सातोंमें क्रोधादिका अर्थ स्पष्ट है । तथा जिस कर्मके उदयसे सम्यक्त्व गुणका मूल घात तो हो नहीं किंतु चल मल अगाढ आदि दोष उत्पन्न हो जांय वह सम्यक्त्व प्रकृति है। जिस कर्मके उदयसे जीवके अतत्त्व श्रद्धान हो वह मिथ्यात्व प्रकृति है और जिस कर्मके उदयसे ऐसे मिले हुए परिणाम हों जिन्हें न सम्यक्त्वरूप कह सकें और न मिथ्यात्वरूप कह सकें वह सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृति है। उपर्युक्त सात प्रकृतियोंमें अनंतानुबंधी–क्रोध मान माया लोभ, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व ये छह प्रकृतियां सर्वघाती हैं क्योंकि इनसे गुणके सर्वदेशका घात होता है और सम्यक्त्व प्रकृति देशघाती है क्योंकि वह गुणके अंशको घातती है अर्थात् उसके उदय रहनेपर गुणका घात नहीं होता किंतु वह कुछ दोष-युक्त बन जाता है। इस रीतिसे जहांपर अवधिज्ञानावरण कर्मके देशघाती स्पर्धक सम्यक् प्रकृतिका तो उदय–स्थिति पूरी हो जानेपर फल देकर खिर जाना रहे, उक्त क्रोध आदि छह प्रकृतियोंके स्पर्धकोंका उदयाभावी क्षय–विना ही फल दिए खिर जाना, रहे और आगामी कालमें उदय आनेवाले सर्वघाती

स्पर्धकोंका सदवस्थारूप उपशम—सत्तामें रहना हो वह क्षयोपशम है। यह क्षयोपशम शब्दका स्पष्ट अर्थ हुआ। शंका—

शेषग्रहणादविशेषप्रसंग इति चेन्न तत्सामर्थ्यविरहात् ॥ १ ॥

यथोक्तनिमित्तसंनिधाने सति शांतक्षीणकर्मणां तस्योपलब्धेः ॥ २ ॥

सूत्रमें जो शेष शब्द है उसका 'देव और नारकियोंसे जो अन्य हैं वे शेष हैं' यह अर्थ लिया गया है। देव और नारकियोंसे तो सब तिर्यंच और मनुष्य भिन्न हैं इसलिये सभी तिर्यंच और मनुष्योंके अवधिज्ञान होना चाहिये परन्तु सबके होता नहीं इसलिये शेष शब्दका ग्रहण व्यर्थ है? सो ठीक नहीं। जिनके (तिर्यंच और मनुष्योंमें) अवधिज्ञानके होनेकी सामर्थ्य है उन्हींके अवधिज्ञान होता है सबके नहीं जो जीव असंज्ञी—मनरहित और अपर्याप्त—पर्याप्तियोंकी परिपूर्णतारहित हैं उनके अवधिज्ञानके प्राप्त करनेकी सामर्थ्य नहीं। तथा संज्ञी—मनसहित और पर्याप्त जीवोंमें भी हर एकके अवधिज्ञानकी प्राप्ति की योग्यता नहीं किंतु सम्यग्दर्शन आदि पूर्वोक्त कारणोंके विद्यमान रहते जिनके अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम है उन्हींके अवधिज्ञान होता है। प्रत्येक तिर्यंच वा मनुष्यके अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होता नहीं इसलिये सबके अवधिज्ञान नहीं हो सकता। शंका—ऊपर भवकारणक अवधिज्ञानमें भी क्षयोपशमको कारण कह आए हैं इसलिये जब सर्वत्र अवधिज्ञान क्षयोपशमकारणक ही है—विना क्षयोपशमके नहीं हो सकता तब देव नारकियोंसे भिन्न शेषोंके अवधिज्ञान क्षयोपशमसे होता है यह कहना व्यर्थ है? उत्तर—

सर्वस्व क्षयोपशमनिमित्तत्वे तद्वचनं नियमार्थमब्भक्षवत् ॥ ३ ॥

जिस तरह जलके पीनेवाले सभी व्यक्ति हैं परन्तु जिसके लिये खासरूपसे यह कहा जाता है कि यह जलका पीनेवाला है वहांपर अनायास ही यह नियम बन जाता है कि 'यह केवल जल ही पीता है' और कोई चीज नहीं खाता पीता अन्यथा उसके लिये 'यह जलका पीनेवाला है' यह प्रयोग व्यर्थ ही है। उसीप्रकार जब सब जीवोंके क्षयोपशमकारणक अवधिज्ञानकी प्राप्ति संभव है तब देव नारकियोंसे अन्य शेषोंके वह क्षयोपशम निमित्तसे होता है यहांपर भी वह अनायास ही नियमसिद्ध हो जाता है कि शेषोंके क्षयोपशमनिमित्तक ही अवधिज्ञान होता है भवनिमित्तक अवधिज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये शेषोंके क्षयोपशमजनित ही अवधिज्ञान होता है इस नियमके लिये उनके क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञानका उल्लेख करना व्यर्थ नहीं।

अनुगाम्यननुगामिवर्धमानहीयमानावस्थितानवस्थितभेदात्षड्विधः ॥ ४ ॥

अनुगामी १ अननुगामी २ वर्धमान ३ हीयमान ४ अवस्थित ५ और अनवस्थितके ६ भेदसे अवधिज्ञान छै प्रकारका है। जिसप्रकार सूर्यका प्रकाश सूर्यके पीछे पीछे चलता है उसीतरह जो अवधिज्ञान जहां आत्मा जाय उसके साथ जाय वह अनुगामी है। सामने खडे हुए प्रश्नकर्ताको उत्तर देनेवाले पुरुषके वचनोंके समान जो अवधिज्ञान वहांका वहीं रह जाय—आत्माके साथ न जाय, वह अननुगामी नामका अवधिज्ञानका भेद है। जिसतरह आपसमें वांसोंके घिस जानेसे उत्पन्न सूखे पत्तोंके ढेरमें लग जानेवाली अग्नि उत्तरोत्तर वढती ही चली जाती है उसीप्रकार जो अवधिज्ञान सम्यग्दर्शन आदि गुणोंकी विशुद्धता रहने पर जितना उत्पन्न हुआ है उससे उत्तरोत्तर असंख्यात लोक प्रमाण वढता ही चला जाय वह वर्धमान

नामका अवधिज्ञानका भेद है। जिसतरह इंधन ज्यों ज्यों समाप्त होता जाता है अग्निकी शिखा भी त्यों त्यों कम होती चली जाती है उसी तरह जो अवधिज्ञान सम्यग्दर्शन गुणकी हीनता और संक्लेश परिणामोंकी वढवारीसे जितना उत्पन्न हुआ था उससे अंगुलके असंख्यातवे भाग पर्यंत कमता चला जाता है वह हीयमान नामका अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान सम्यग्दर्शन आदि गुणोंकी समीपतासे जितने परिमाणसे उत्पन्न हुआ है उतना ही संसारका नाश वा केवलज्ञानकी उत्पत्ति पर्यंत रहता है लिंगके समान—जिसप्रकार शरीरमें तिल वगैरह चिन्ह न्यूनाधिकतारहित तदवस्थ रहते हैं उसीप्रकार जो अवधिज्ञान घटता वढता नहीं, वह अवस्थित नामका अवधिज्ञान है। और जो अवधिज्ञान सम्यग्दर्शन आदि गुणोंकी वृद्धिसे जितना वह वढ सके उतना वढता चला जाता है और उन गुणोंकी हानिसे जितना घट सके उतना घटता चला जाता है वह अनवस्थित नामका अवधिज्ञान है। इस प्रकार यह छह प्रकारका अवधिज्ञान है।

पुनरपरेऽवधेस्त्रयो भेदा देशावधिः परमावधिः सर्वावधिश्चेति ॥ ५ ॥

देशावधि परमावधि और सर्वावधि ये भी तीन भेद अवधिज्ञानके हैं। जघन्य, उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्टके भेदसे देशावधि तीनप्रकारका है। परमावधिके भी जघन्य, उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्ट ये तीन भेद हैं। सर्वावधिका कोई भेद हो नहीं सकता इसलिये वह एकही प्रकारका है। जघन्य देशावधि उत्सेध अंगुलके असंख्यातवे भाग क्षेत्रको विषय करता है। उत्कृष्ट देशावधि समस्त लोकके क्षेत्रको विषय करता है और जो जघन्य देशावधि और उत्कृष्ट देशावधिके क्षेत्रको विषय न कर वीचके क्षेत्रको विषय करनेवाला है वह अजघन्योत्कृष्ट अवधि है और उसके संख्याते भेद हैं। जघन्य परमावधि

का विषय एक प्रदेश अधिक लोकका क्षेत्र है। उत्कृष्ट परमावधिका विषय असंख्यातलोक क्षेत्र प्रमाण है और जघन्य परमावधि और उत्कृष्ट परमावधिसे भिन्न वीचके क्षेत्रको विषय करनेवाला अजघन्यो-त्कृष्ट परमावधि है इसके भी संख्याते भेद हैं। तथा उत्कृष्ट परमावधिके विषयभूत क्षेत्रसे वाहिर असं-ख्यात क्षेत्र प्रमाण सर्वावधिका विषय है।

वर्धमान १ हीयमान २ अवस्थित ३ अनवस्थित ४ अनुगामी ५ अननुगामी ६ प्रतिपाती ७ अप्र-तिपाती ८ ये आठ भेद देशवधि अवधिज्ञानके है। वर्धमान १ अवस्थित २ अनवस्थित ३ अनुगामी ४ अननुगामी ५ और अप्रतिपाति ये छह भेद परमावधिके हैं एवं अवस्थित १ अनुगामी २ अननुगामी ३ और अप्रतिपाति ४ ये चार भेद सर्वावधि नामके अवधिज्ञानके हैं। यहांपर आदिके वर्धमान आदिका अर्थ तो जो उपर कहा है वही समझना चाहिये और विजलीके प्रकाशके समान जो विनाशीक हो वह प्रतिपाती है एवं जो इससे विपरीत हो वह अप्रतिपाति है। देशावधि आदिके द्रव्य क्षेत्र काल भावका निरूपण इसप्रकार है—

सर्वजघन्य देशावधिका क्षेत्र उत्सेध अंगुलका असंख्यातवां भाग है, काल आवलीका असंख्या-तवां भाग है, अंगुलके असंख्यातवें भाग क्षेत्रमें जितने प्रदेश हैं उतने प्रदेश प्रमाण उसका द्रव्य है।

---

१ पहिले अनुगामी अननुगामी आदि छह भेद कहे हैं और यहां प्रतिपाती और अप्रतिपाती मिला कर आठ भेद माने हैं इसलिये पूर्वापर विरोध आता है परंतु प्रतिपाती और अप्रतिपातीका अनुगामी अननुगामीमें ही अंतर्भाव होनेसे कोई दोष नही है क्योंकि अनुगामीका अर्थ 'साथ जाना है' वही अप्रतिपातीका है। अननुगामीका अर्थ 'साथ नहीं जाना है' वही प्रतिपातीका है। प्रतिपाती छूटनेको और अप्रतिपाती नहीं छूटनेको कहते हैं। २ असंख्यात समयकी एक आवली होती है।

उस द्रव्य प्रमाण अनंत प्रदेशोंके धारक असंख्यात स्कंधोंको सर्व जघन्य देशावधिज्ञान जानता है तथा जितने प्रमाण स्कंधोंको देशावधि विषय करता है उन स्कंधोंमें रहनेवाले अनंते रूप रस गंध आदि उसका भाव विषय है। इतने प्रमाण भावमें सर्व जघन्य देशावधि ज्ञानकी प्रवृत्ति है। देशावधि ज्ञानकी प्रवृत्तिका वर्णन इस प्रकार है—

देशावधिके एक प्रदेश अधिक क्षेत्रकी वृद्धि एक जीवकी अपेक्षा नहीं है किंतु नाना जीवोंकी अपेक्षा सर्वलोकपर्यंत एक प्रदेश अधिक क्षेत्रकी वृद्धि है । एक जीवकी अपेक्षा तो विशुद्धता होने पर मंडूकप्लुति[1] न्यायसे सर्व लोकपर्यंत अंगुलके असंख्यातवें भागसे ऊपर एक दम अंगुलके असंख्यात भाग क्षेत्र वृद्धि मानी है तथा नाना जीवोंकी अपेक्षा जो एक प्रदेश अधिक क्षेत्र वृद्धि मानी है वह वहीं तक ही होती है जब तक कि अंगुलका असंख्यातवां भाग समाप्त नहीं होता। उसके आगे नहीं होती। एक जीव वा नाना जीवोंकी अपेक्षा देशावधिकी काल वृद्धि भी जब तक आवलीका असंख्यातवां भाग पूरा न हो तब तक मूल आवलीके असंख्यातवें भागसे कहीं एक समय अधिक, कहीं दो समय अधिक, कहीं संख्यात समय अधिक, और कहीं असंख्यात समय अधिक मानी है। किंतु आवलीके असंख्यातवें भागसे ऊपर देशावधिकी काल वृद्धि नहीं मानी तो इसप्रकारकी क्षेत्र वृद्धि और काल वृद्धि किस प्रकारकी वृद्धिसे होती है? उत्तर—चार प्रकारकी वृद्धिसे—संख्यातभाग वृद्धि १ असंख्यातभाग वृद्धि २ संख्यातगुण वृद्धि ३ असंख्यातगुण वृद्धि ४ इन चार प्रकारकी वृद्धियोंसे ली गई है तथा

१—जिसतरह मैंढक कूद कर चलता है क्रम क्रमसे नहीं जाता उसी प्रकार एक जीवकी अपेक्षा जो क्षेत्र वृद्धि मानी है वह एक दम अंगुलके असंख्यातवें भागसे अंगुलके असंख्यातवें भाग मानी है एक प्रदेश दो प्रदेश आदि क्रमसे नहीं मानी।

द्रव्यकी वृद्धि भी इन चार वृद्धियोंसे ली गई है किंतु भाववृद्धिका अनंतभाग वृद्धि असंख्यातभाग वृद्धि संख्यातभाग वृद्धि संख्यातगुण वृद्धि असंख्यातगुण वृद्धि और अनंतगुण वृद्धि छहों प्रकारकी वृद्धिसे ग्रहण है इस प्रकार यह तो द्रव्य क्षेत्र काल भावकी वृद्धि बतलाई गई है उसीसे सर्व लोक पर्यंत वृद्धि समझ लेनी चाहिए। तथा अनंत भाग हानि १ असंख्यात भाग हानि २ संख्यात भाग हानि ३ संख्यात गुण हानि ४ असंख्यात गुण हानि ५ अनंत गुण हानि ६ इस प्रकार हानिके भी छह भेद माने गये हैं। इन छह प्रकारकी हानियोंसे द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी सर्व लोक पर्यंत हानि भी समझ लेनी चाहिये। यहां द्रव्य क्षेत्र आदिकी अपेक्षा जघन्य देशावधिका निरूपण है। अजघन्योत्कृष्ट देशावधिका द्रव्य क्षेत्र आदिकी अपेक्षा निरूपण इस प्रकार है—

जिस अवधिज्ञानका क्षेत्र अंगुलके संख्यातवें भाग है उसका काल आवलिके संख्यातवां भाग है। अंगुलके संख्यातवें भाग क्षेत्रके आकाशके जितनी संख्या प्रमाण प्रदेश हैं उतनी द्रव्य है और पहिले जो भाव शब्दका प्रमाण बताया है उससे अनंतगुणा, असंख्यातगुणा, वा संख्यातगुणा भाव है। जहांपर अवधिज्ञानका क्षेत्र अंगुलप्रमाण मात्र है वहांपर अवधिज्ञानका काल कुछ कम आवली प्रमाण है। द्रव्य और भाव पहिलेके समान हैं अर्थात् अंगुल प्रमाण क्षेत्रके जितनी संख्याप्रमाण प्रदेश हैं उतनी संख्याप्रमाण उसका द्रव्य है और अजघन्योत्कृष्ट अवधिज्ञानके विषयभूत जितने अनंत प्रदेशोंके धारक स्कंध हैं उनके रूप रस आदि भाव हैं। जिस अवधिज्ञानका क्षेत्र अंगुल पृथक्त्व[1] प्रमाण है उसका काल आवलि प्रमाण है। और द्रव्य एवं भाव पहिले समान समझ लेना चाहिए। जिस अवधिज्ञानका क्षेत्र एक हाथ

१—तीनसे ऊपर और नौ के भीतरकी संख्याका नाम पृथक्त्व है।

प्रमाण है उसका काल आवलि पृथक्त्व प्रमाण है। यहांपर भी द्रव्य और भाव पहिलेके समान हैं। जिस अवधिज्ञानका क्षेत्र एक कोश प्रमाण है उसके कालका प्रमाण कुछ अधिक एक उच्छ्वास है और द्रव्य भाव पहिलेके समान हैं। जिस अवधिज्ञानका क्षेत्र एक योजन प्रमाण है उसके कालका प्रमाण भिन्न-मुहूर्त है। द्रव्य और भावका प्रमाण पहिलेके समान है। जिस अवधिज्ञानका क्षेत्र पच्चीस योजन प्रमाण है उसके कालका प्रमाण कुछ कम एक दिन है। द्रव्य और भावका प्रमाण पहिलेके समान है। जिस अवधिज्ञानके क्षेत्रका प्रमाण भरतक्षेत्रके बराबर है उसके कालका प्रमाण आधा मास है। द्रव्य और भावका प्रमाण पहिलेके समान है। जिस अवधिज्ञानके क्षेत्रका प्रमाण जम्बूद्वीपके बराबर है उसके काल का प्रमाण कुछ अधिक एक मास है। द्रव्य और भावका प्रमाण पहिलेके समान है। जिस अवधिज्ञान के क्षेत्रका प्रमाण मनुष्यलोकके समान है उसके कालका प्रमाण एक वर्ष है। द्रव्य और भावका प्रमाण पहिलेके समान है। जिस अवधिज्ञानके क्षेत्रका प्रमाण रुचक नामक तेरहवें द्वीपके अन्तके समान है उसके कालका प्रमाण एक वर्ष पृथक्त्व है। द्रव्य और भावका प्रमाण पहिलेके समान है। जिस अवधि-ज्ञानके क्षेत्रका प्रमाण संख्याते द्वीप समुद्र है उस अवधिज्ञानके कालका प्रमाण संख्याते वर्ष है द्रव्य और भावका प्रमाण पहिलेके समान है जिसका असंख्यातद्वीपसमुद्र क्षेत्र है उस अवधिका काल भी असं-ख्यात वर्ष प्रमाण है। द्रव्य भावका प्रमाण पहलेके समान है। तिर्यंच और मनुष्योंके अजघन्योत्कृष्ट देशावधिका प्रमाण प्रतिपादन कर दिया गया। तिर्यंचोंके द्रव्य क्षेत्र आदिकी अपेक्षा उत्कृष्ट देशावधि का प्रमाण इसप्रकार है—

१ यहांपर प्राचीन भाषाकार पं० पन्नालालजी दूनीवालोंने "ऐसैं जघन्य तथा उत्कृष्ट तिर्यग्क्षेत्र संबंधी मनुष्यनिकौं देशावधि कह्यौ। ऐसा लिखा है।" यह अर्थ असंगत है। क्योंकि पूर्वापर संबंध नहीं बैठता।

तिर्यंचोंके उत्कृष्ट देशावधिके क्षेत्रका प्रमाण असंख्याते द्वीप और समुद्र है । काल असंख्यात वर्षप्रमाण है । द्रव्य तैजसशरीर प्रमाण है और उसकी उत्पत्ति असंख्याते द्वीप समुद्रोंके आकाशके प्रदेशोंके प्रमाण असंख्याती तैजसशरीर वर्गणाओंसे होती है इसलिये उन वर्गणाओंके प्रमाण अनंतप्रदेशोंके धारक असंख्याते स्कंध द्रव्योंको तिर्यंचोंका उत्कृष्ट देशावधि विषय करता है । भावका प्रमाण पहिलेके समान है । तिर्यंच और मनुष्य दोनोंके जघन्य देशावधि होता है । वह ऊपर कहे अनुसार समझ लेना चाहिये । तिर्यंचोंके देशावधि ही होता है परमावधि और सर्वावधि नहिं होते यह नियम है। मनुष्योंका द्रव्यक्षेत्र आदिकी अपेक्षा उत्कृष्ट देशावधि इसप्रकार है–

मनुष्योंके उत्कृष्ट देशावधिका क्षेत्र असंख्याते द्वीप समुद्र है । कालका प्रमाण असंख्यात वर्ष है। असंख्याते द्वीप और समुद्रोंके आकाशके प्रदेशोंकी बराबर असंख्याती ज्ञानावरण आदि कार्माण वर्गणाओंसे कार्माण शरीरकी उत्पत्ति होती है । उस कार्माण शरीरका जितना प्रमाण है उतना मनुष्योंके उत्कृष्ट देशावधिका द्रव्य है और भाव प्रमाण जैसा पहिले कह आए हैं उसीप्रकार है। यह उत्कृष्ट देशावधि मनुष्योंमें संयमी मनुष्योंके ही होता है साधारण मनुष्योंके नहीं यह नियम है । द्रव्य क्षेत्र आदिकी अपेक्षा परमावधिका प्रमाण इसप्रकार है–

जघन्य परमावधिका एक प्रदेश अधिक लोक प्रमाण क्षेत्र है। एक प्रदेश अधिक लोकाकाशके प्रदेशोंकी बराबर एवं जिनका विभाग न हो सके ऐसे समय, काल है। वे समय असंख्याते वर्ष प्रमाण हैं। एक प्रदेश अधिक लोकाकाशके प्रदेशोंकी जितनी संख्या है उस संख्या प्रमाण स्कंध, द्रव्य है और भावका प्रमाण पहिले कहे अनुसार है। विशुद्धताकी विशेषतासे नाना जीव और एक जीव दोनोंकी

अपेक्षा अजघन्योत्कृष्ट परमावधिकी सामान्यरूपसे क्षेत्रकी वृद्धि असंख्यात लोक प्रमाण है और यह असंख्यातलोक पर्यंत क्षेत्रवृद्धि उत्कृष्ट परमावधिके क्षेत्रसे पहिले पहिलेकी समझ लेनी चाहिये तथा असंख्यात लोकमें जो असंख्यात संख्या है वह आवलिके असंख्यातभागप्रमाण है। यहांपर काल द्रव्य और भावका प्रमाण पूर्ववत्—जघन्य परमावधिके काल और भावके निरूपणमें जो रीति वतलाई है उसी के समान, समझना चाहिये। (यह अजघन्योत्कृष्ट परमावधिके क्षेत्र आदिका प्रमाण है) तथा उत्कृष्ट परमावधिका क्षेत्र लोकअलोकका जितना प्रमाण है उतने प्रमाणवाले असंख्यात लोक है और वे असंख्यातलोक अग्निकायके जीवोंकी संख्याकी वरावर हैं। यहांपर भी काल द्रव्य और भावका प्रमाण पहिले कहे अनुसार हैं। इस प्रकार जघन्य उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्ट यह तीनों प्रकारका परमावधि उत्कृष्ट चारित्रके धारक संयमीके ही होता है अन्यके नहीं। वर्धमान ही होता है, हीयमान नहीं। अप्रतिपाती—सदा रहनेवाला ही होता है प्रतिपाती नहीं होता, छूटता नहीं। लोकप्रमाण असंख्यात लोक क्षेत्रमें तीनों प्रकारका परमावधि जिसके जितने क्षेत्रको लेकर उत्पन्न होता है उसके उतने ही क्षेत्रको लेकर वहांपर निश्चल रूपसे रहता है इसलिये अवस्थित है तथा अनवास्थित भी है परंतु वृद्धिकी अपेक्षा ही अनवास्थित है हानिकी अपेक्षा नहीं। अर्थात् वढता तो रहता है परंतु कम नहीं होता। इसलोक संबंधी दूसरे दूसरे प्रदेशोंमें जानेसे अनुगामी है और परलोकमें साथ नहीं जाता इसलिये अननुगामी है। द्रव्य क्षेत्र आदिकी अपेक्षा सर्वावधिका वर्णन इस प्रकार है—

असंख्यातके असंख्याते ही भेद माने हैं इसलिए उत्कृष्ट परमावधिका जो क्षेत्र कहा है उससे असं-

१ यह सर्वावधिज्ञान निर्विकल्प है इसके देशावधि आदिके समान जघन्य उत्कृष्ट आदि भेद नहीं।

ख्यातगुणा सर्वावधिका क्षेत्र है। काल द्रव्य और भावका प्रमाण परमावधिके समान समझ लेना चाहिए। वह सर्वावधि नामका अवधिज्ञान न वर्धमान है, न हीयमान है, न अनवस्थित है और न प्रतिपाती है किंतु जब तक संयमी पुरुषकी मनुष्य पर्यायका नाश नहीं होता वहांतक सदैव रहता है अतः अवस्थित है। संयमीकी मनुष्यत्व पर्यायके पहिले छूटता नहीं—इसलिए अप्रतिपाती है। दूसरे भवमें साथ साथ जाता नहीं इसलिए अननुगामी है और एक देशसे दूसरे देशमें जाता है इसलिए देशांतरकी अपेक्षा अनुगामी है। सर्वावधि शब्दमें सर्व शब्द समस्त अर्थका वाचक है इसलिए सर्वावधिके द्रव्य क्षेत्र काल और भावके प्रमाणमें परमावधिके द्रव्य क्षेत्र काल और भावका प्रमाण गर्भित हो जाता है इस कारण सर्वावधिके भीतर ही परमावधिके गर्भित हो जानेसे परमावधि भी देशावधि ही है इस रीतिसे वास्तवमें अवधिज्ञानके सर्वावधि और देशावधि ये दो ही भेद युक्तियुक्त हैं।

काल आदिकी वृद्धिका जो ऊपर उल्लेख किया गया है उनमें जिस समय काल वृद्धि होती है उस समय द्रव्य क्षेत्र आदि चारोंकी भी नियमसे वृद्धि होती है। जब क्षेत्रवृद्धि होती है तब काल वृद्धिका कोई नियम नहीं वह होती भी है और नहीं भी होती है किंतु द्रव्य वृद्धि और भावकी वृद्धि तो नियमसे होती है। जिस समय द्रव्यकी वृद्धि होती है उस समय भाव वृद्धि भी नियमसे होती है परंतु क्षेत्र और काल वृद्धिका नियम नहीं—वह होती भी है और नहीं भी होती है। तथा जिस समय भाव वृद्धि होती है उस समय द्रव्य वृद्धि नियमसे होती है परंतु क्षेत्र और कालकी वृद्धिका वहांपर नियम नहीं—वह होती भी है और नहीं भी होती है।

यह क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञानोपयोग कहीं एक क्षेत्र रूपसे और कहीं अधिक क्षेत्र रूपसे

इस तरह दो प्रकारसे होता है। जहांपर क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञानके बाह्य उपकरणस्वरूप श्रीवृषभ स्वस्तिक नंद्यावर्त आदि चिह्नोंमें किसी एक चिह्नकी प्रकटता रहती है वहांपर उसी एक चिह्न-स्वरूप उपयोगस्वरूप उपकरणमें रहनेके कारण अवधिज्ञान क्षेत्रमें रहनेवाला समझा जाता है और जहां श्रीवृषभ स्वस्तिक आदि अनेक शुभ चिह्नोंकी प्रकटता रहती है वहांपर अनेक क्षेत्रमें रहनेवाला कहा जाता है। शंका—

यदि गुणप्रत्यय अवधिज्ञानको शंख स्वस्तिक आदि शुभ चिह्नोंकी अपेक्षा करनेवाला माना जायगा तो उसे पराधीन होनेसे परोक्ष कहना पडेगा परंतु उसे माना स्वाधीन प्रत्यक्ष है इसलिए यहां विरोध आता है? सो ठीक नहीं। परपना इंद्रियोंमें ही रूढि है अर्थात् जो ज्ञान इंद्रियोंके आधीन है—अपनी उत्पत्तिमें इंद्रियोंकी अपेक्षा रखता है वही पराधीन ज्ञान माना जाता है किंतु शंख स्वस्तिक आदि शुभ चिह्नोंकी अपेक्षा करनेवाला पराधीन नहीं कहा जा सकता। अवधिज्ञान अपनी उत्पत्तिमें इंद्रियोंकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिए उसके विषयमें पराधीनपनेकी शंका नहीं की जा सकती—यहां यह प्रमाण वचन भी है——

१—भवपच्चयगो सुरणिरयाणं तित्थेवि सव्व अंगुत्थो। गुणपच्चयगो णरतिरियाण संखादिचिन्हभवो ॥ ३७० ॥

भवप्रत्ययकं सुरनारकाणां तीर्थेपि सर्वांगोत्थं। गुणप्रत्ययकं नरतिरश्चां शंखादिचिन्हभवं ॥ ३७० ॥

भव प्रत्यय अवधिज्ञान देव नारकी तथा तीर्थंकरोंके होता है और यह ज्ञान समस्त अंगसे होता है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान संज्ञी पर्याप्त मनुष्य तथा संज्ञी पर्याप्त तिर्यंचोंके भी होता है और यह ज्ञान शंखादि चिन्होंसे होता है। भावार्थ—नाभिके ऊपर शंख पद्म वज्र स्वस्तिक कलश आदि जो शुभ चिन्ह होते हैं उस जगहके आत्मप्रदेशोंमें होनेवाले अवधिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे गुणप्रत्यय अवधिज्ञान होता है किंतु भवप्रत्यय अवधि सम्पूर्ण आत्मप्रदेशोंसे होता है। गोम्मटसार जीव ४।८।

इंद्रियाणि पराण्याहुरिंद्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेः परतरो हि सः ॥ १ ॥

अर्थात् पर इंद्रियां हैं। इंद्रियोंसे पर मन है। मनसे पर बुद्धि है और बुद्धिसे परतर आत्मा है। अवधिज्ञान अपनी उत्पत्तिमें आत्माकी अपेक्षा रखता है इसलिए वह स्वाधीन प्रत्यक्ष है, पराधीन परोक्ष नहीं। इस अवधिज्ञानका गोम्मटसार जीवकांडकी अवधिज्ञान प्ररूपणामें विस्तारसे वर्णन है। वहांसे विशेष जान लेना चाहिये ॥ २२ ॥

अवधिज्ञानका वर्णन कर दिया गया। अब क्रमप्राप्त मनःपर्ययज्ञान है उसका भेदपूर्वक लक्षण सूत्रकार कहते हैं—

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥ २३ ॥

जो ज्ञान परके मनमें तिष्ठते हुए रूपी पदार्थोंको जाने वह मनःपर्ययज्ञान है और उसके ऋजुमति और विपुलमति ये दो भेद हैं।

ऋज्वी निर्वर्तिता प्रगुणा च ॥ १ ॥ अनिर्वर्तिता कुटिला च विपुला ॥ २ ॥

मन वचन कायकी सरलता लिए हुए दूसरेके मनमें तिष्ठे हुए पदार्थको जो जाने वह ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान कहा जाता है और परके मनमें तिष्ठनेवाले वचन काय और मनके द्वारा किये गये सरल और कुटिल दोनों प्रकारके रूपी पदार्थोंका जान लेना विपुलमति नामका मनःपर्ययज्ञान है। जिसकी मति-(जानना) ऋज्वी-सरल है, वह ऋजुमति नामका मनःपर्ययज्ञान है और जिसकी मति विपुल-

सरल और कुटिल दोनों प्रकारकी है वह विपुलमति मनःपर्ययज्ञान है। 'ऋजुमतिश्च विपुलमतिश्च ऋजुविपुलमती' यह वहांपर द्वंद्वसमास है। यद्यपि मनःपर्ययज्ञानके ऋजुमति और विपुलमति ऐसे दो भेद हैं इसलिये 'ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः' इस सूत्रमें 'ऋजुमतिविपुलमती' इसप्रकार दो मति शब्दोंका उल्लेख करना चाहिये परन्तु एक ही मति शब्दके उल्लेखसे दोनों मति शब्दोंका अर्थ निकल आता है इसलिये एक ही मति शब्दका उल्लेख किया है। इसप्रकार यह मनःपर्ययज्ञान ऋजुमति और विपुलमति के भेदसे दो प्रकार कह दिया। अब वार्तिककार उसका लक्षण बतलाते हैं—

मनःसंबंधेन लब्धवृत्तिर्मनःपर्ययः ॥ ३ ॥

जिस ज्ञानकी उत्पत्ति वीर्यांतराय और मनःपर्यय ज्ञानावरणका क्षयोपशम एवं अंगोपांग नामक नामकर्मके लाभरूप कारणोंके विद्यमान रहते अपने और पराये मनके संबंधसे होती है उसका नाम मनःपर्ययज्ञान है। शंका—

मतिज्ञानप्रसंग इति चेन्नाऽन्यदीयमनोऽपेक्षामात्रत्वादभ्रे चंद्रव्यपदेशवत् ॥ ४ ॥

जिसप्रकार मन और चक्षु आदि इंद्रियोंके द्वारा चाक्षुष आदि ज्ञान होते हैं और वे मतिज्ञान कहे जाते हैं उसीप्रकार मनःपर्ययज्ञान भी दूसरेके मनकी अपेक्षासे होता है इसलिये वह भी मतिज्ञान ही है मनःपर्ययज्ञान कोई भिन्न ज्ञान नहीं? सो ठीक नहीं। 'अभ्रे चंद्रमसं पश्य' आकाशमें चंद्रमा देखो, जिस प्रकार यहां आकाश शब्दका प्रयोग आपेक्षिक कारण है किंतु जिस तरह चक्षु आदि इंद्रियां चाक्षुष आदि ज्ञानोंकी उत्पादक कारण हैं उस तरह आकाश चंद्रज्ञानका उत्पादक कारण नहीं। उसी प्रकार 'परके मनमें तिष्ठनेवाले रूपी पदार्थको मनःपर्ययज्ञानवाला जानता है' एतावन्मात्र अर्थके द्योतन

करनेके लिये मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिमें परका मन आपेक्षिक कारण है अर्थात् दूसरेका मन ज्ञातव्य पदार्थका अवलम्बनमात्र है किंतु जिस तरह चक्षु आदि इंद्रियोंसे मतिज्ञान वा केवल मनसे श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है उस तरह परके मनसे मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती इसलिये मनःपर्ययज्ञान मतिज्ञान नहीं कहा जा सकता। अथवा और भी यह वात है कि—

स्वमनोदेशे वा तदावरणकर्मक्षयोपशमव्यपदेशाच्चक्षुष्यवधिज्ञाननिर्देशवत् ॥ ५ ॥

चक्षुके स्थानमें अर्थात् जो चक्षुका स्थान है उसमें रहनेवाले आत्मप्रदेशोंमें अवधिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम हो जानेसे जिस प्रकार नेत्रमें अवधिज्ञान मान लिया जाता है किंतु उस अवधिज्ञानको मतिज्ञान नहीं कहा जाता उसीप्रकार जिस स्थानपर मन रहता है उस स्थानके आत्मप्रदेशोंमें मनःपर्ययज्ञानावरणका क्षयोपशम रहनेपर उन्हें भी मनःपर्ययज्ञान ही कहा जायगा मतिज्ञान नहीं कहा जा सक्ता। शंका—

मनःप्रतिबंधज्ञानादनुमानप्रसंग इति चेन्न प्रत्यक्षलक्षणाविरोधात् ॥ ६ ॥

जिसतरह धूम और अग्निका अविनाभाव संबंध निश्चित है इसलिये उस संबंधके ज्ञानसे पर्वत आदि स्थलोंमें जहांपर अग्निसे धूम निकल रहा है वहांपर उस धूमसे अग्निका जान लेना अनुमान ज्ञान माना जाता है उसीप्रकार दूसरेका मन और उसमें रहनेवाले पदार्थका आपसमें अविनाभाव संबंध है इसलिये उस संबंधके ज्ञानसे जो मनमें तिष्ठते हुए पदार्थका जान लेना है और जिसे मनःपर्यय कहा जाता है वह अनुमान ज्ञान ही है—अनुमानज्ञानसे भिन्न नहीं। इसरीतिसे जब अनुमानज्ञानमें ही मनःपर्ययका अंतर्भाव है तब मनःपर्ययज्ञानको जुदा मानना निरर्थक है ? सो ठीक नहीं। 'इंद्रियानिंद्रियनिर-

पेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षमिति' जिस ज्ञानमें इंद्रिय और मनकी अपेक्षा नहीं। व्यभिचार की भी संभावना नहीं और जो साकार पदार्थका ग्रहण करनेवाला है वह प्रत्यक्ष है। पहिले यह प्रत्यक्ष का लक्षण कहा गया है। मनःपर्ययज्ञानमें यह प्रत्यक्षका लक्षण निरापद रूपसे घट जाता है इसलिये वह प्रत्यक्षज्ञान ही है, परोक्ष अनुमानज्ञान नहीं हो सकता किंतु अनुमान ज्ञानमें प्रत्यक्षका लक्षण घट नहीं सकता इसलिये वह प्रत्यक्षज्ञान नहीं कहा जा सकता क्योंकि–

उपदेशपूर्वकत्वाच्चक्षुरादिकरणनिमित्तत्वाद्वानुमानस्य ॥ ७ ॥

यह अग्नि है और यह धुवां है इस प्रकार किसी मनुष्यके उपदेश–बतानेसे, जानकर, पीछे नेत्र आदि इंद्रियोंके द्वारा धूमके देखनेसे जो अग्नि ज्ञान होता है वह अनुमान कहा जाता है इसलिये अनुमान ज्ञानमें इंद्रियोंकी अपेक्षा रहनेके कारण जब प्रत्यक्षका लक्षण नहीं घटता तब वह प्रत्यक्षज्ञान नहीं कहा जाता। मनःपर्ययज्ञानमें उपदेश इंद्रिय आदिकी अपेक्षा नहीं रहती। उसमें अखंडरूपसे प्रत्यक्षका लक्षण घट जाता है इसलिये वह प्रत्यक्षज्ञान है।

स द्वेधा सूत्रोक्तविकल्पात् ॥ ८ ॥ आद्यस्त्रेधार्जुमनोवाक्कायविषयभेदात् ॥ ९ ॥

"ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः" इस सूत्रमें मनःपर्ययज्ञानके ऋजुमति और विपुलमति ये दो भेद कहे हैं इसलिये ऋजुमति और विपुलमतिके भेदसे मनःपर्ययज्ञान दो प्रकारका है। उनमें आदिके ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानके तीन भेद हैं, वे इसप्रकार हैं–ऋजुमनस्कृतार्थज्ञ–सरल मन द्वारा किये गए अर्थका जाननेवाला १, ऋजुवाक्कृतार्थज्ञ–सरल वचनद्वारा किए गए अर्थका जाननेवाला २ और ऋजुकायकृतार्थज्ञ–सरल कायद्वारा किये गए अर्थका जाननेवाला ३ इन तीनों भेदोंका खुलासा इसप्रकार है–

किसी मनुष्यने मनसे व्यक्त-खुलासारूप पदार्थका चिंतवन किया। धार्मिक वा लौकिक वचनोंको भी भिन्न भिन्न रूपसे उच्चारण किया एवं दोनों लोकके फलकी प्राप्तिके लिये अंग और उपांगोंका पटकना सकोडना और फैलानारूप कायकी चेष्टा भी की किंतु उसके थोडे ही दिन बाद वा बहुत काल बाद उस मनसे विचारे हुए वा वचनसे कहे हुए अथवा शरीरसे किए गये कार्यको भूल जानेके कारण मैंने मन वचन कायसे क्या किया था इस बातके विचारनेके लिए वह असमर्थ हो गया उसके उस प्रकारके मन वचन काय द्वारा किये गये कार्यको चाहैं ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञानवालेसे पूछो चाहैं मत पूछो वह अपने ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञानसे स्पष्ट जान लेता है कि तूने मनसे वह पदार्थ इस रूपसे विचारा था। वचनसे इस प्रकार कहा था और शरीरसे इसप्रकार किया था। यहां पर यह शंका न करना चाहिए कि परके मनमें तिष्ठते हुये पदार्थोंका ऐसा ज्ञान कैसे हो जाता है? क्योंकि आगमका यह वचन है कि— "मनसा मनः परिछिद्य परेषां संज्ञादीन् जानाति इति मनसाऽऽत्मनेत्यर्थः" अर्थात् अपनी आत्मासे चारो ओरसे दूसरेका मन जान कर उसमें तिष्ठने वाले रूपी पदार्थोंको मनःपर्यय ज्ञानवाला जान लेता है, इसलिए मनःपर्ययज्ञान द्वारा परके मनमें तिष्ठनेवाले पदार्थका जान लेना आगमसे अविरोधी होनेके कारण प्रामाणिक है। तथा जिस प्रकार मंच पर बैठनेवाले पुरुषोंको मंच कह दिया जाता है उसी प्रकार आगममें जो यह लिखा है कि 'मनसा मनः परिच्छिद्य' यहांपर भी मन शब्दसे 'पर मनसे विचारे गये मनमें तिष्ठनेवाले चेतन अचेतन सब प्रकारके पदार्थोंका ग्रहण है' अर्थात् मनको जानता है इसका अर्थ यह है कि परके मनमें तिष्ठते हुये समस्त पदार्थोंको जानता है। तथा अपने आत्मासे आत्माको जानकर अपना और परका चिंतवन जीवित मरण सुख दुःख लाभ और अलाभ आदिको भी ऋजु-

मति मनःपर्ययज्ञानी जानता है। किंतु यह नियम है कि जो मनुष्य व्यक्तमना है—अच्छी तरह चिंतवन कर जिन्होंने खुलासा रूपसे मनसे पदार्थोंका निश्चय कर लिया है उन्हीके द्वारा विचारे गए पदार्थोंको ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी जानता है किंतु जो अव्यक्तमना है—अच्छी तरह चिंतवन कर जिन्होंने खुलासा रूपसे पदार्थोंका निश्चय नहीं किया है उनके द्वारा मनसे विचारे हुए पदार्थोंको ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी नहीं जानता। यह द्रव्य और भावकी अपेक्षा ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञानका विषय है। कालकी अपेक्षा ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी जघन्य रूपसे अपने वा अन्य जीवोंके दो तीन भवोंका जाना आना जानता है और उत्कृष्ट रूपसे अपने वा अन्यके आठ सात भवोंका जाना आना जानता है। क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्य रूपसे गव्यूतिपृथक्त्व—तीन कोशसे ऊपर और आठ कोशके भीतरके पदार्थोंको जानता है उससे बाहिरके पदार्थोंको नहीं और उत्कृष्ट रूपसे योजन पृथक्त्व—तीन कोशसे ऊपर और नव कोशके नीचेके पदार्थोंको जानता है उससे बाहिरके पदार्थोंको नहीं।

द्वितीयः षोढा ऋजुवक्रमनोवाक्कायविषयभेदात् ॥ १० ॥

ऋजुमनस्कृतार्थज्ञ[2] १ ऋजुवाक्कृतार्थज्ञ २ ऋजुकायकृतार्थज्ञ ३ वक्रमनस्कृतार्थज्ञ ४ वक्रवाक्कृतार्थज्ञ ५ और वक्रकायकृतार्थज्ञ ६ इस प्रकार विपुलमति मनःपर्ययज्ञान छह प्रकारका है। विपुलमति मनःपर्ययज्ञानसे परके मनमें रहनेवाले ऋजुवक्र—सीधे टेडे, सब प्रकारके रूपी पदार्थोंका ज्ञान होता है। अपने और परके जीवित मरण सुख दुःख लाभ और अलाभ आदिका भी ज्ञान होता है तथा जिस

१—'त्रिसंख्यातोऽधिका नवसंख्यातो न्यूना संख्या पृथक्त्वं' सर्वार्थसिद्धिकी टिप्पणी पृष्ठ सं० ७२। २—इन शब्दोंके अर्थ ऊपर लिखे अनुसार समझ लेना चाहिये।

पदार्थका व्यक्त मन करि चिंतवन किया गया है वा अव्यक्त मन करि चिंतवन किया गया है अथवा नहीं चिंतवन किया गया है आगे जाकर चिंतवन होगा उन सब प्रकारके पदार्थोंको विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी जानता है। यह द्रव्य और भावकी अपेक्षा विपुलमति मनःपर्ययज्ञानके विषयका निरूपण है। कालकी अपेक्षा विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी जघन्य रूपसे सात आठ भवोंके गमन आगमनको जानता है और उत्कृष्ट रूपसे असंख्यात भवोंके गमन आगमनको जानता है। क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्य रूपसे योजनपृथक्त्व—तीन योजनसे ऊपर और आठ योजनके भीतरके पदार्थोंको जानता है और उत्कृष्ट रूपसे मानुषोत्तर पर्वतके भीतरके पदार्थोंको जानता है वाहिरके पदार्थोंको नहीं ॥ २३ ॥

ऋजुमति और विपुलमतिके भेदसे दो प्रकारके मनःपर्यय ज्ञानका वर्णन कर दिया गया। अब उन दोनों प्रकारके भेदोंमें आपसमें क्या विशेषता है ? सूत्रकार इसवातको वतलाते हैं—

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २४ ॥

परिणामोंकी विशुद्धता और अप्रतिपात इन दो कारणोंसे ऋजुमति और विपुलमतिमें विशेषता है अर्थात्—ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानकी अपेक्षा विपुलमति मनः पर्ययज्ञानमें अधिक विशुद्धता है तथा ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान बीचमें छूट भी जाता है परंतु विपुलमति मनःपर्ययज्ञान केवलज्ञानके होने तक रहता है—बीचमें नहीं छूटता।

मनःपर्ययज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम होनेपर जो आत्माकी उज्ज्वलताका होना है उसका नाम विशुद्धि है। प्रतिपातका अर्थ गिरना है। उपशांतकषायी मनुष्य चारित्र मोहनीय कर्मकी उत्कटतासे संयमरूपी शिखरसे गिरजाता है इसलिये उसके प्रतिपात माना है। क्षीणकषायी मनुष्यके गिरनेका

कोई कारण है नहीं इसलिये उसके अप्रतिपात है। विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी संयमशिखरसे नहीं गिरता इसलिये वह अप्रतिपात है। 'विशुद्धिश्च अप्रतिपातश्च विशुद्ध्यप्रतिपातौ ताभ्यां विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तयोर्विशेषस्तद्विशेषः' यह सूत्रमें रहनेवाले समस्त पदोंकी व्युत्पत्ति है। शंका—'ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः' इसी सूत्रसे ही ऋजुमति और विपुलमतिका बिशेष स्पष्ट है फिर विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यामित्यादि सूत्रका क्यों आरंभ किया गया ? उत्तर——

विशेषांतरप्रतिपत्त्यर्थं पुनर्वचनं ॥ १ ॥

पहिले सूत्रमें जो ऋजुमति और विपुलमतिका विशेष वतलाया गया है वह साधारण है। सर्वसाधारणको उससे संतोष नहीं हो सकता इसलिये खास विशेषता वतलानेकेलिये विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्या-मित्यादि सूत्रका आरंभ किया गया है। शंका——

च शब्दप्रसंग इति चेन्न प्राथमकाल्पिकभेदाभावात् ॥ २ ॥

जिसप्रकार मनःपर्ययज्ञानके ऋजुमति और विपुलमति भेद हैं उसीप्रकार उसके ही विशुद्धि और अप्रतिपात भी भेद हैं यदि यही अभिप्राय है तब तो इससूत्रमें च शब्दका उलेख करना चाहिये? सो ठीक नहीं। जिसतरह मनःपर्ययज्ञानके ऋजुमति और विपुलमति भेद हैं उसीप्रकार यदि विशुद्धि और अप्रतिपात भी मनः पर्ययज्ञानके भेद होते तबतो सूत्रमें चशब्द कहना अयुक्त होता। सो तो है नहीं किंतु वे तो ऋजुमति और विपुलमतिके भेद नहीं हैं किंतु स्वरूप विशेष है इसलिये सूत्रमें चशब्दके कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं। विशुद्धिमें ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानकी अपेक्षा विपुलमति मनःपर्ययज्ञान द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा अधिक विशुद्ध है। और वह इसप्रकार है——

अनंतके अनंते भेद माने हैं इसलिये कार्माण द्रव्यके जिस अंतिम अनंतवें भागको सर्वावधिज्ञानने विषय कर रक्खा है उस अनंतवें भागका भी अनंतवां भाग ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानका विषय है और जिस अनंतवें भागको ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानने विषय किया है उसका भी अनंतवां भाग जोकि दूर व्यवहित और सूक्ष्म है वह विपुलमति मनःपर्ययज्ञानका विषय है। इसतरह द्रव्य क्षेत्र और कालकी अपेक्षा विशुद्धि समझ लेनी चाहिये एवं विपुलमति मनःपर्ययज्ञान अत्यंत सूक्ष्म द्रव्यको विषय करता है इसलिये उसका अत्यंत सूक्ष्म पदार्थका विषय करना ही भावकी अपेक्षा विशुद्धि है। जो पुरुष विपुलमति मनःपर्ययज्ञानके स्वामी हैं कषायकी उत्तरोत्तर मंदतासे निरंतर उनका चारित्र प्रवर्धमान–बढा हुआ, रहता है एवं कर्मोंके प्रकृष्ट क्षयोपशमकी विशुद्धता रहती है इसलिये वह अप्रतिपाती–छूटता नहीं, है और ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानके स्वामियोंके कषायोंका उद्रेक रहनेके कारण दिनों दिन चारित्र हीयमान–कम होता चला जाता है, इसलिये वह प्रतिपाती है बीचमें छूट जाता है इसरीतीसे द्रव्य क्षेत्र आदिकी विशुद्धता और प्रतिपाति अप्रतिपातीपनेसे ऋजुमति और विपुलमतिमें विशेषता है ॥ २४ ॥

मनःपर्ययज्ञानके ऋजुमति और विपुलमति भेदोंकी अपेक्षा विशेषता हमने जान ली परन्तु अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें आपसमें क्या विशेष है ? इस बातको सूत्रकार बतलाते हैं–

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्ययोः ॥ २५ ॥

विशुद्धि क्षेत्र स्वामी और विषयकी अपेक्षा अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें विशेषता है। अर्थात् अवधिज्ञानकी अपेक्षा मनःपर्ययज्ञान विशुद्ध थोड़े क्षेत्रवाला, थोड़े स्वामीवाला और सूक्ष्म विषयवाला है अवधिज्ञान कम विशुद्धिवाला बहुत क्षेत्रवाला बहुत स्वामीवाला और स्थूलविषयवाला है।

सूत्रमें जो विशुद्धि शब्द है उसका अर्थ उज्ज्वलता है। जहांतकके विद्यमान पदार्थोंको जाने वह क्षेत्र है। ज्ञानोंका प्रयोग करनेवाला स्वामी है और विषय नाम ज्ञेयका है। शंका—

अवधिज्ञानान्मनःपर्ययस्य विशुद्ध्यभावोऽल्पद्रव्यविषयत्वादिति चेन्न भूयःपर्यायज्ञानात् ॥ १ ॥

शास्त्रोंमें मनःपर्ययज्ञानकी अपेक्षा अवधिज्ञानका विषय अधिक द्रव्य बतलाया गया है और मनःपर्ययज्ञानका विषय अल्प द्रव्य बतलाया है क्योंकि सर्वावधि ज्ञानके विषयभूत रूपी द्रव्यका अनंतवां भाग मनःपर्ययका द्रव्य बतलाया है तथा यह प्रसिद्ध बात है कि जिसका विषय अधिक द्रव्य होता है वह अधिक विशुद्ध और जिसका विषय कम द्रव्य होता है वह अल्प विशुद्ध कहा जाता है इसलिये अधिक द्रव्यको विषय करनेके कारण मनःपर्ययज्ञानकी अपेक्षा अवधिज्ञान अधिक विशुद्ध है और अल्प द्रव्यको विषय करनेके कारण मनःपर्ययज्ञान अल्प विशुद्ध है। सो ठीक नहीं। संसारमें एक मनुष्य तो ऐसा है जो समस्त शास्त्रोंका व्याख्यान तो कर रहा है परंतु उनका एक देशरूपसे ही व्याख्यान करता है, कहां क्या लिखा है, किसरूपसे लिखा है इसतरह समस्तरूपसे उनके अर्थका व्याख्यान नहीं कर सकता—वैसा करनेमें असमर्थ है। दूसरा मनुष्य ऐसा है कि शास्त्रका तो एकका ही व्याख्यान कर रहा है परंतु प्रत्येक अर्थको जुदा जुदा दर्शा कर समस्तरूपसे अर्थके कहनेमें समर्थ है। इन दोनों प्रकारके मनुष्योंमें पीछेका मनुष्य विशेष विशुद्धज्ञानका धारक समझा जाता है उसीप्रकार यद्यपि मनःपर्ययज्ञान की अपेक्षा अवधिज्ञानका विषय अधिक द्रव्य है परंतु वह उसे एकदेश स्थूलरूपसे जानता है और मनःपर्ययज्ञानका विषय अवधिज्ञानके विषयका अनंतवां भाग है तो भी वह बहुतसी रूप आदि पर्यायोंके साथ समस्त रूपसे जानता है इसलिये अवधिज्ञानकी अपेक्षा मनःपर्ययज्ञान ही अधिक विशुद्ध है।

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानके क्षेत्रका पाहिले वर्णन किया जा चुका है। इसलिये विषय आगे कहेंगे। अब स्वामीके विषयमें विचार करते हैं—

विशिष्टसंयमगुणैकार्थसमवायी मनःपर्ययः ॥ २ ॥

मनःपर्ययज्ञानका आविनाभाव विशिष्ट संयम गुणके साथ है । जहां पर विशिष्ट संयम होगा वहीं मनःपर्ययज्ञान होगा अन्यत्र नहीं। अन्यत्र उसका खुलासा इस रूपसे कहा गया है—

मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्ति मनुष्योंके ही होती है देवें नारकी और तिर्यंचोंमें नहीं होती। मनुष्योंमें भी गर्भज मनुष्योंमें ही होती है संमूर्छनज मनुष्योंमें नहीं होती। गर्भज मनुष्योंमें भी कर्मभूमिके मनुष्योंके ही होती है भोगभूमिके मनुष्योंमें नहीं हो सकती । कर्मभूमिके मनुष्योंमें भी छहो पर्याप्ति पूर्ण होनेसे जो पर्याप्तक हैं उन्हींके होती है, अपर्याप्तकोंके नहीं। पर्याप्तकोंमें भी सम्यग्दृष्टियोंके ही वह उत्पन्न होता है मिथ्यादृष्टि सासदन सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवर्तियोंके नहीं। सम्यग्दृष्टिओंमें भी जो मनुष्य संयमी हैं उन्हींके होता है असंयत सम्यग्दृष्टि चतुर्थगुणस्थान और संयतासंयत पांचवें गुणस्थानवर्तियोंके नहीं । संयमियोंमें भी छठे गुणस्थान प्रमत्तसे बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थान पर्यंत संयमियोंके ही होता है। बारहवें गुणस्थानके आगेके गुणस्थानोंमें रहनेवाले संयमियोंके नहीं। छठे गुणस्थानसे बारहवें गुणस्थान तक होने पर भी जिनका चारित्र कषायोंकी दिनोंदिन मंदतासे दिनोंदिन वर्धमान है—बढनेवाला है उन्हींके होता है किंतु कषायोंकी उत्कटतासे जिनका चारित्र हीयमान है—मंद होता चला जाता है, उनके नहीं होता । प्रवर्धमान चारित्रवालोंमें भी सात प्रकारकी ऋद्धियोंमें जिनके कोई एक ऋद्धि होगी उन्हींके होता है किंतु जिनके कोई प्रकारकी ऋद्धि नहीं है उनके नहीं होता है । तथा ऋद्धि

धारक पुरुषोंमें भी किन्हीं किन्हींके होता है सबोंके नहीं होता इसप्रकार मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिमें विशिष्ट संयमका ग्रहण प्रधान कारण बतलाया है । परंतु अवधिज्ञान देव मनुष्य तिर्यंच और नारकी चारों गतियोंके जीवोंके होता है इस रूपसे अवधि और मनःपर्ययके स्वामियोंका भेद होनेसे भी दोनों ज्ञानोंमें भेद है ॥ २५ ॥

मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधि ज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इस प्रकार चारों प्रकारके ज्ञानोंका वर्णन हो चुका अब क्रमप्राप्त केवल ज्ञान है आर उसका वर्णन होना चाहिए परंतु उसका वर्णन 'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणांतरायक्षयाच्च केवलं' इस सूत्रसे दशवें अध्यायमें किया है । यहांपर किस किस ज्ञानका कितना कितना विषय है ? यह बतलानेकी वडी आवश्यकता है इसलिए यहां क्रमप्राप्त केवलज्ञानका वर्णन न कर सब ज्ञानोंके विषयका वर्णन किया जाता है। उनमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विषय इस प्रकार है—

मतिश्रुतयोर्निबंधो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥ २६ ॥

मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका जाननेका संबंध द्रव्योंकी असर्व—कुछ पर्यायोंमें है । अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान जीवादि छहों द्रव्योंको तो जानते हैं परंतु उनकी समस्त पर्यायोंको नहीं जानते—थोडी थोडी पर्यायोंको ही जान सकते हैं ।

सूत्रमें जो निबंध शब्द है उसका अर्थ संबंध है और 'निबंधनं निबंधः' यह उसकी व्युत्पत्ति है । मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयका संबंध द्रव्योंकी कुछ पर्यायोंमें है, यह निबंध शब्दके प्रयोगसे स्पष्ट

अर्थ है। शंका—सूत्रमें विषय शब्दका उल्लेख नहीं है इसलिये 'मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयका' यह अर्थ नहीं हो सकता। यदि यह अर्थ करना ही अभीष्ट है तो सूत्रमें विषय शब्दका उल्लेख करना चाहिये। उत्तर—

प्रत्यासत्तेः प्रकृतविषयग्रहणाभि संबंधः ॥ १॥

किसी सूत्रमें कोई शब्द न हो किंतु उसके पहिलेके सूत्रमें उस शब्दका उल्लेख किया गया हो तो योग्यता रहनेपर आगेके सूत्रमें उसकी अनुवृत्ति आ जाती है। 'मतिश्रुतयोरित्यादि' सूत्रमें यद्यपि 'विषय' शब्दका उल्लेख नहीं किया गया है तो भी 'विशुद्धि क्षेत्र स्वामीत्यादि' पास हीके सूत्रमें उसका उल्लेख है इसलिए समीपतासे विषय शब्दकी अनुवृत्ति इस सूत्रमें आजाती है इस रीतिसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयका संबंध' इत्यादि अर्थके होनेमें कोई आपत्ति नहीं। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि विशुद्धि क्षेत्रेत्यादि सूत्रमें जो विषय शब्द है वह पंचम्यंत है इसलिए मतिश्रुतयोरित्यादि सूत्रमें पंचम्यंत विषय शब्दकी ही अनुवृत्ति आ सकती है षष्ठ्यंत विषय शब्दकी अनुवृत्ति नहीं परंतु इस सूत्रमें 'मतिश्रुत विषयस्य' यह षष्ठ्यंत विषय शब्द माना है इसलिए यह अयुक्त है? सो ठीक नहीं। जहां जैसा अर्थ लिया जाता है वहां वैसी ही विभक्तिका विपरिणाम हो जाता है जिस तरह—'उच्चानि देवदत्तस्य गृहाणि आमंत्रयस्वैनं देवदत्तमिति' देवदत्तके घर ऊंचे हैं उस देवदत्तको पुकार लो यहांपर पहिले 'देवदत्तस्य' यह षष्ठ्यंत देवदत्तका प्रयोग है फिर अर्थके अनुसार विभक्तिका परिवर्तन कर 'देवदत्तं' यह द्वितीयांत रक्खा है। इसी तरह 'देवदत्तस्य गावोऽश्वाहिरण्यमाढ्यो वैधवेयो देवदत्तः' देवदत्तके गाय घोडा और सोना चांदी है इसलिए वह धनवान होकर भी विधवाका पुत्र है। यहांपर भी प्रारंभमें 'देवदत्तस्य'

यह षष्ठ्यंत देवदत्त शब्दका प्रयोग है परंतु अर्थके अनुसार विभक्तिका परिवर्तन कर पीछे 'देवदत्तः' यह प्रथमांतका प्रयोग रक्खा है। मतिश्रुतयोरित्यादि सूत्रमें भी अर्थके अनुसार षष्ठ्यंत विषय शब्दका ही प्रयोग इष्ट है इसलिए पंचम्यंत विषय शब्दका परिवर्तन कर षष्ठ्यंत विषय शब्दके माननेमें कोई दोष नहीं। शंका—मतिश्रुतयोरित्यादि सूत्रमें जो 'द्रव्येषु' पद दिया है वहांपर एक वचनांत द्रव्य शब्दका उल्लेख ही पर्याप्त था बहुवचनांत द्रव्य शब्दका उल्लेख क्यों किया गया? उत्तर—

द्रव्येष्विति बहुत्वनिर्देशः सर्वद्रव्यपर्याय संग्रहार्थः ॥ २ ॥ ताद्विशेषणार्थमसर्वपर्यायगृहणं ॥ ३ ॥

जीव धर्म अधर्म आकाश काल और पुद्गलके भेदसे द्रव्य छह प्रकारके माने हैं। सूत्रमें कहे गये द्रव्य शब्दसे उन छहों प्रकारके द्रव्योंका ग्रहण हो इसलिए 'द्रव्येषु' यह बहुवचनांत द्रव्य शब्दका प्रयोग किया गया है। तथा मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयभूत द्रव्यके कुछ ही पर्याय हैं सर्वपर्याय वा अनंत पर्याय नहीं यह बतलानेके लिए द्रव्यका असर्वपर्याय यह विशेषण किया है यदि 'द्रव्येषु' इतना मात्र ही कहा जाता और 'असर्वपर्यायेषु' यह उसका विशेषण न दिया जाता तो सब ही द्रव्य सामान्य रूपसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषय हो जाते। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि द्रव्योंकी कुछ ही पर्यायोंको क्यों मतिज्ञान और श्रुतज्ञान विषय करते हैं, सर्व पर्याय वा अनंत पर्यायोंको क्यों नहीं? उसका समाधान यह है कि रूप आदि पदार्थोंके जाननेमें मतिज्ञान चक्षु आदि इंद्रियोंकी अपेक्षा रखता है। मतिज्ञान जिस द्रव्यको विषय करता है उसके जिन रूप आदि पर्यायोंके जाननेकी चक्षु आदि इंद्रियोंमें शक्ति है उन्हीं रूप आदि पर्यायोंको मतिज्ञान जानता है। उस द्रव्यमें रहने वाले सर्व पर्याय वा अनंत पर्यायोंके जाननेकी चक्षु आदि इंद्रियोंमें शक्ति नहीं इसलिए अपने विषयभूत द्रव्यकी सर्व पर्याय वा

अनंत पर्यायोंको अवधिज्ञान विषय नहीं कर सकता। तथा श्रुतज्ञान भी शब्दकारणक है जितने शब्द होंगे उन्हींको श्रुतज्ञान जान सकता है। शास्त्रोंमें शब्दोंका परिमाण संख्यात माना है और द्रव्यके पर्याय असंख्याते और अनंते माने हैं इसलिए खुलासा रूपसे पृथक् पृथक् सब वा अनंत पर्यायोंको श्रुतज्ञान भी विषय नहीं कर सकता। गोम्मटसार जीवकांडमें यह कहा भी है—

पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिवद्धो ॥ ३३३ ॥
प्रज्ञापनीया भावा अनंतभागस्तु अनभिलाप्यानां।
प्रज्ञापनीयानां पुनः अनंतभागःश्रुतनिवद्धः ॥ ३३३ ॥

अनभिलाप्य[1] पदार्थोंके अनंतवें भाग प्रमाण प्रज्ञापनीय[2] पदार्थ होते हैं और प्रज्ञापनीय पदार्थोंके अनंतवें भाग प्रमाण श्रुतमें निबद्ध हैं। भावार्थ—जो एकमात्र केवलज्ञान द्वारा जाने जा सकते हैं, किंतु जिनका वचनके द्वारा निरूपण नहीं किया जा सकता ऐसे पदार्थ अनंतानंत हैं। इसतरहके पदार्थोंमें अनंतवें भागप्रमाण वे पदार्थ हैं जिनका वचनके द्वारा निरूपण हो सकता है उनको प्रज्ञापनीय भाव कहते हैं। जितने प्रज्ञापनीय पदार्थ हैं उनका भी अनंतवां भाग श्रुतमें निरूपित है। इसरीतिसे यह वात अच्छीतरह सिद्ध हो गई कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषय द्रव्यके कुछ पर्याय हैं, सब वा अनंत पर्याय नहीं। शंका—

१ अनभिलाप्य उन्हें कहते हैं जो संकेत आदिके द्वारा भी नहीं जाने जा सकें ऐसेभाव केवलज्ञानद्वारा ही गम्य हैं। २ प्रज्ञापनीय भाव वे पदार्थ हैं जो दिव्यध्वनि द्वारा तो कहे जा सकते हैं परंतु श्रुत निवद्ध नहीं हैं।

अतींद्रियेषु मतेरभावात्सर्वद्रव्यासंप्रत्यय इति चेन्न नोइंद्रियविषयत्वात् ॥ ४ ॥

मतिश्रुतयोरित्यादिसूत्रमें मतिज्ञानके विषय समस्त द्रव्योंके कुछ पर्याय बतलाये हैं। यदि मतिज्ञान पदार्थोंके जाननेमें इंद्रियोंकी अपेक्षा रक्खेगा तो धर्म अधर्म आदि अतींद्रिय पदार्थोंके जाननेमें इंद्रियां तो समर्थ होगी नहीं फिर मतिज्ञान सब द्रव्योंको विषय करनेवाला है यह कथन अयुक्त है ? सो ठीक नहीं। मतिज्ञान पदार्थोंके जाननेमें इंद्रिय और मन दोनोंकी अपेक्षा रखता है यद्यपि स्पर्शन आदि इंद्रियां धर्म अधर्म आदि अतींद्रिय द्रव्योंको विषय नहीं कर सकतीं परंतु नो इंद्रियावरण रूप कर्मकी क्षयोपशम रूप विशुद्धि विशिष्ट मनके धर्म अधर्म आदि अतींद्रिय द्रव्य भी विषय हो सकते हैं। इसलिये मनका अवलंबन रखनेवाला मतिज्ञान जब धर्म अधर्म आदिको विषय कर सकता है तब उपर्युक्त शंकाको स्थान नहीं मिल सकता। यदि मतिज्ञानकी प्रवृत्ति धर्म अधर्म आदि अतींद्रिय पदार्थोंमें नहीं होती, रूपी पदार्थोंमें ही होती तो श्रुतज्ञानके साथ मतिज्ञानका उल्लेख न कर एक मात्र रूपी द्रव्यको विषय करनेवाले अवधिज्ञानके साथ उल्लेख करते परंतु वैसा नहीं किया इसलिये स्पष्ट सिद्ध है कि मतिज्ञान ऐंद्रिय और अतींद्रिय दोनों प्रकारके पदार्थोंको विषय करता है और उनमें अतींद्रिय पदार्थोंको जानना उसका मन इंद्रियकी अपेक्षा है। सर्वार्थसिद्धिकार भगवान पूज्यपादने भी यह लिखा है—

"धर्मास्तिकायादीन्यतींद्रियाणि तेषु मतिज्ञानं न प्रवर्तते, अतः सर्वद्रव्येषु मतिज्ञानं वर्तते इत्ययुक्तं। नैष दोषः। अनिंद्रियाख्यं करणमस्ति तदालंबनो नो इंद्रियावरणक्षयोपशम लब्धिपूर्वक उपयोगोऽवग्रहादि रूपः प्रागेवोपजायते ततस्तत्पूर्वं श्रुतज्ञानं तद्विषयेषु स्वयोग्येषु व्याप्रियते"। अर्थात् धर्मास्तिकाय आदि अतींद्रिय पदार्थ हैं। इंद्रियोंकी अपेक्षा रखनेवाले मतिज्ञानकी उनके जाननेमें

प्रवृत्ति हो नहीं सकती इसलिये सब द्रव्योंको मतिज्ञान जानता है यह कहना ठीक नहीं ? उत्तर—धर्मा- स्तिकाय आदि पदार्थोंके ज्ञानमें कारण मन है श्रुतज्ञनावरण कर्मकी क्षयोपशम लब्धिरूप विशुद्धिके रहने पर उससे धर्मास्तिकाय आदि अतींद्रिय पदार्थोंका अवग्रह ईहा आदि स्वरूप उपयोग पहिले हो लेता है उसके वाद अपने योग्य धर्मास्तिकाय आदि अतींद्रिय विषयोंमें श्रुतज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। इसलिये धर्मास्तिकाय आदि अतींद्रिय पदार्थोंका ज्ञान; जब मनसे होता है तब यह मतिज्ञान ही है क्योंकि मनसे भी मतिज्ञान माना है ॥ २६ ॥

मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयका निरूपण कर दिया गया उनके अनंतर नामधारी अवधिज्ञान के विषयका निरूपण सूत्रकार करते हैं—

रूपिष्ववधेः ॥ २७ ॥

अवधिज्ञानके विषयका नियम रूपी पदार्थोंमें है अर्थात् वह पुद्गल द्रव्यकी पर्यायोंको ही जानता है।

रूपशब्दस्यानेकार्थत्वे सामर्थ्याच्छुक्लादिग्रहणं ॥ १ ॥

रूप शब्दके वाच्य अर्थ अनेक हैं। 'रूपरसगंधस्पर्शा इति' रूप रस गंध और स्पर्श, यहांपर रूप शब्द सफेद आदि रंगका वाचक है। 'अनंतरूपमनंतस्वभावमिति' अनंत रूपका धारक है अर्थात् अनंत स्वभाववाला है, यहांपर रूपका अर्थ स्वभाव है परन्तु यहांपर नेत्र इंद्रियके विषयभूत शुक्ल आदि का ही ग्रहण है। किंतु यहांपर उसका स्वभाव अर्थ नहीं लिया जा सकता क्योंकि स्वभाववाले धर्मास्ति काय आदि भी पदार्थ हैं, कोई भी पदार्थ स्वभावसे विहीन नहीं। इसलिये धर्मास्तिकाय आदि अरूपी पदार्थोंका भी ज्ञान अवधिज्ञानसे कहना पडेगा। परन्तु अवधिज्ञानसे सिवा पुद्गल द्रव्यके अन्य अमू-

तिक पदार्थोंका ग्रहण नहीं होता है। इसलिये रूपसे शुक्ल आदि अर्थके माननेमें किसी प्रकारका दोष नहीं।

भूमाद्यनेकार्थसंभवे नित्ययोगोऽभिधानवशात् ॥ २ ॥

रूप जिसके हो वह रूपी कहा जाता है यहांपर व्याकरणसे मत्वर्थी 'इन्' प्रत्यय करनेपर 'रूपिन्' शब्द बना है। मत्वर्थीय इन् प्रत्ययके 'बहुत' आदि अनेक अर्थ होते हैं परन्तु यहां प्रकरणवश उसका नित्ययोग अर्थ लिया गया है इसलिये 'क्षीरिणो वृक्षाः' जिस तरह यहांपर क्षीर शब्दसे होनेवाली मत्वर्थीय 'इन्' प्रत्ययका अर्थ नित्ययोग है और यहां नित्ययोग अर्थ माननेसे जो वृक्ष हमेशा दूधवाले हों वे ही क्षीरी वृक्ष कहे जा सकते हैं अन्य नहीं। उसीप्रकार रूपी यहांपर भी मत्वर्थीय 'इन्' प्रत्ययका नित्ययोग अर्थ है एवं वैसा अर्थ माननेपर जो पुद्गल सदा रूपयुक्त हों—कभी भी जिनसे रूप जुदा न हो सके उनका रूपी शब्दसे ग्रहण है। पुद्गल द्रव्यसे कभी रूप जुदा हो नहीं सकता इसलिये अवधिज्ञान पुद्गल द्रव्यके पर्यायोंको ही विषय करता है यह स्पष्टार्थ है। शंका—यदि रूप शब्दका शुक्ल आदि ही अर्थ किया जायगा तो पुद्गलके पर्याय रूपद्वारसे ही अवधिज्ञानके विषय होंगे, रसादि द्वारसे न हो सकेंगे और शास्त्रमें रस आदिके द्वारा भी पुद्गल-पर्याय अवधिज्ञानके विषय माने हैं इसलिये यहां पर शास्त्रविरोध होता है? उत्तर—

तदुपलक्षणार्थत्वात्तदविनाभाविरसादिग्रहणं ॥ ३ ॥

१—रूपके कहनेसे रूप रस गंध स्पर्श इन चारोंका ग्रहण समझना चाहिए। चारों ही अविनाभावी हैं इसलिये एकके ग्रहणसे सबोंका ग्रहण हो जाता है।

'रूपिष्ववधेः' इस सूत्रमें रूप शब्द उपलेक्षण है इसलिये रूप शब्दके कहनेसे उसके अविनाभावी रस गंध आदिका भी वहां ग्रहण है। इस रीतिसे जब रूप शब्दसे रूप रस आदि समस्त अविनाभावी गुणों का ग्रहण है तब जिस तरह रूपद्वारसे पुद्गलके पर्याय अवधिज्ञानके विषय हैं उसीप्रकार रस आदि द्वारसे भी वे उसके विषय हैं कोई दोष नहीं। शंका—यदि रूप रस आदि द्वारोंसे पुद्गलके पर्यायोंको अवधिज्ञान विषय करता है तब पुद्गलोंके तो सब पर्याय अनंते हैं वे सब अवधिज्ञानके विषय कहने पडेंगे। उत्तर—

असर्वपर्यायगृहणानुवृत्तेर्न सर्वगतिः ॥ ४ ॥

जिसतरह "देवदत्ताय गौ र्दीयतां, जिनदत्ताय कंबलः, इति दीयतामित्यभिसंबध्यते" देवदत्तको गाय दो और जिनदत्तको कंबल दो, यहां पर 'देवदत्ताय गौर्दीयतां' इस वाक्यमें उल्लेख किये गये 'दीयतां' शब्दका संबंध उत्तर वाक्यमें भी माना जाता है उसीप्रकार 'मतिश्रुतयो' रित्यादि सूत्रमें 'असर्वपर्याय' शब्दका उल्लेख है उसका 'रूपिष्ववधेः' इस सूत्रमें भी संबंध है इसलिये पुद्गलके अनंते पर्याय अवधिज्ञानके विषयभूत नहीं किंतु पुद्गलकी कतिपय पर्यायोंको और जीवके औदयिक औपशमिक क्षायोपशमिक परिणामोंको ही अवधिज्ञान विषय करता है। यहां पर यह शंका न करनी चाहिये कि

१ अजहत्स्वार्थलक्षणयाऽन्यग्राहकं, उपलक्षणं। अजहत्स्वार्थलक्षणा [अपने अर्थको न छोडकर] से जो दूसरे पदार्थोंका ग्रहण करना है उसका नाम उपलक्षण है जिस तरह 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यतां' कौओंसे दहीको रक्षा करो। यहांपर काक शब्द उपलक्षण है इसलिये जितने भी जीव दहीके विघातक है उन सबका काक शब्दसे ग्रहण है उसीप्रकार प्रकृतमें रूप शब्दको भी उपलक्षण माननेसे जितने उस रूपके अविनाभावी रस गंध आदि गुण हैं उन सबका रूप शब्दसे ग्रहण है।

जीवके क्षायिक और पारिणामिक भावोंको तथा धर्मास्तिकाय आदिको क्यों अवधिज्ञान विषय नहीं करता ? क्योंकि रूप रस आदि विशिष्ट ही पदार्थ अवधिज्ञानके विषय होते हैं । क्षायिक और पारिणामिक भाव तथा धर्मास्तिकाय आदि पदार्थ अरूपी हैं इसलिये वे अवधिज्ञानके विषयभूत नहीं हो सकते ॥ २७ ॥

अब मनःपर्ययज्ञानका विषय सूत्रकार बतलाते हैं—

तदनंतभागे मनःपर्ययस्य ॥ २८ ॥

जो रूपी पदार्थ सर्वावधिका विषय है उसके अनंतवें भागको मनःपर्ययज्ञान विषय करता है ॥२८॥
अब सब ज्ञानोंके अंतमें कहे जानेवाले केवलज्ञानके विषयका वर्णन सूत्रकार करते हैं—

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ २९ ॥

केवलज्ञानके विषयका नियम समस्त द्रव्योंकी समस्त पर्यायोंमें है अर्थात् एक एक द्रव्यकी त्रिकालवर्ती अनंतानंत पर्याय हैं सो छहों द्रव्योंकी समस्त अवस्थाओंको केवलज्ञान युगपत्—एक साथ जानता है । यहां पर द्रव्य पदार्थका विवेचन किया जाता है—

स्वपर्यायान् द्रवति द्रूयते वा तैरिति द्रव्यं ॥ १ ॥

जो अपने पर्यायोंको प्राप्त करैं अथवा जिसके द्वारा अपने पर्याय प्राप्त किये जांय उसका नाम द्रव्य है । द्रू धातुसे यत् प्रत्यय करने पर द्रव्य शब्दकी सिद्धि हुई है । यद्यपि यहां यह शंका हो सकती है कि कर्ममें 'यत्' प्रत्यय करने पर द्रव्य शब्द सिद्ध हो सकता है, कर्तामें यत् प्रत्यय कैसे होगा परंतु

वह ठीक नहीं। जिन प्रत्ययोंकी कृत्य संज्ञा है वे बहुलतासे होते हैं। कर्ममें ही होते हैं यह नियम नहीं इसलिये बहुलताकी अपेक्षा कर्ता अर्थमें भी द्रव्य शब्द साधु है।

कथंचिद्भेदसिद्धौ तत्कर्तृकर्मव्यपदेशसिद्धिः ॥ २ ॥ इतरथा हि तदप्रसिद्धेरत्यंताव्यतिरेकात् ॥ ३ ॥

द्रव्य और पर्यायोंमें कथंचित् भेद माननेसे ही कर्ता और कर्मकी व्यवस्था है। यदि उनमें सर्वथा अभेद ही माना जायगा तो सर्वथा अभिन्न द्रव्य पर्यायोंमें कर्ता कर्मकी व्यवस्था नहीं बन सकेगी क्योंकि सर्वथा विशेषरहित अभिन्न ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो विना किसी अन्य शक्तिका अवलंबन किये कर्ता और कर्म कहाया जा सके। द्रव्य और पर्यायोंमें कर्ता कर्मकी व्यवस्था इष्ट है इसलिये उस व्यवस्थाकी सिद्धिके लिए उनमें पर्यायार्थिक नयरूप शक्तिकी अपेक्षा कथंचित् भेद मानना ही होगा। अब पर्यायशब्दका विवेचन किया जाता है—

मिथोभवनं प्रतिविरोध्यविरोधिनां धर्माणामुपात्तानुपात्तहेतुकानां शब्दांतरात्मलाभनिमित्तत्वा-

दर्पितव्यवहारविषयोऽवस्थाविशेषः पर्यायः ॥ ४ ॥

कुछ धर्म आपसमें एक जगह पर रहनेके विरोधी हैं और कुछ अविरोधी हैं तथा कुछ उपात्त हेतुक हैं और कुछ अनुपात्त हेतुक हैं एवं जिनका आत्मलाभ—व्यवहार दूसरे दूसरे शब्दोंके आधीन है इस रीतिसे अपने आत्मलाभमें दूसरे दूसरे शब्दोंकी अपेक्षा रखनेके ही कारण जिनका संसारमें व्यवहार है ऐसे द्रव्यके अवस्था विशेष-धर्मोंका नाम पर्याय है। इसका खुलासा इस प्रकार है—

कुछ धर्म एक साथ नहीं रहते इसलिये वे आपसमें विरोधी हैं। अनेक एक साथ रहते हैं इसलिये

वे अविरोधी हैं। उनमें जीवके अनादि पारिणामिक चैतन्य जीवत्व, द्रव्यत्व, भव्यत्व, अथवा अभव्यत्व ऊर्ध्वगति स्वभाव और अस्तित्व आदिके साथ औदयिक आदिभाव यथासंभव एक साथ होते हैं इसलिये वे आपसमें अविरोधी हैं। तथा नारक तिर्यंच देव मनुष्य स्त्री पुंलिंग नपुंसकलिंग एकेंद्रिय दोइंद्रिय तेइंद्रिय चौइंद्रिय पंचेंद्रिय बाल्य कौमार क्रोध और हर्ष आदि गुण आपसमें एक साथ एक जगहपर नहीं होते इसलिये विरोधी हैं। पुद्गलके अनादि पारिणामिक रूप रस गंध स्पर्श शब्द सामान्य अस्तित्व आदि धर्म, सफेद १ काला २ नीला ३ पीला ४ और लाल ५ ये पांच रंग, तीखा १ आम्ल २ कडवा ३ मीठा ४ और कषेला ५ ये पांच रस, सुगंधि १ दुर्गंधि २ ये दो गंध, कोमल १ कठिन २ भारी ३ हलका ४ ठंडा ५ गरम ६ चिकना ७ और रूखा ८ ये आठ स्पर्श तथा तत वितत आदि छै प्रकारका शब्द इसप्रकार इन पर्यायोंके साथ हरएक दोरूप आदिका एक तीन चार पांच संख्यात अनंतगुणस्वरूप परिणमन हुआ करता है इसलिए इन पर्यायोंके एक साथ एक जगह होनेके कारण वे आपसमें विरोधरहित हैं और सफेद काला नीला तीखा कडवा सुगंध और दुर्गंध आदि पर्यायें परमाणुओंमें स्वभावजनित हैं, प्रयोगजनित नहीं हैं और स्कंधोंमें प्रयत्नजनित भी हैं। स्वभावजनित भी हैं एक साथ परमाणु वा स्कंधोंमें नहीं रहतीं इसलिए वे आपसमें एक दूसरेके विरोधी हैं। इसप्रकार जीव और पुद्गलकी अपेक्षा विरोधी और अविरोधी धर्मोंका स्वरूप वर्णन किया गया है इसी तरह धर्मास्तिकाय आदि द्रव्योंके भी अमूर्तत्व अचेतनत्व असंख्येय प्रदेशत्व गति कारण स्वभाव और अस्तित्व आदि धर्म अगुरु लघु गुणके

१—भव्यत्व तथा अभव्यत्व दोनों एक साथ नहीं रह सकते इसलिए जीवत्व आदिके साथ इन दोनोंमें एक किसीका अविरोध समझना चाहिये।

हानि वृद्धि रूप अनंत विकारोंके साथ तथा स्वप्रत्यय—अपनेसे ही होने वाले और परप्रत्यय-दूसरे निमित्तोंसे होनेवाले, गतिकारणत्व विशेष आदि धर्मोंके साथ आपसमें एक जगह रहनेके कारण विरोधरहित हैं और एक जगह न रहनेके कारण विरोधसहित भी हैं । उपर्युक्त धर्मोंमें बहुतसे औदयिक आदि धर्म द्रव्य क्षेत्र काल और भावरूप कारणोंसे उत्पन्न होते हैं इसलिए उपात्त हेतुक—सकारणक है, और जिनका कभी भी विकार नहीं हो सकता—चेतनसे अचेतनरूप नहीं परिणत हो सकते, ऐसे पारिणामिक चैतन्य आदि भावोंका कोई भी उत्पादक कारण नहीं इसलिए वे अनुपात्तहेतुक—अकारणक हैं इसप्रकार उन उपात्तहेतुक और अनुपात्तहेतुक विरोधी अविरोधी धर्मोंके आत्मलाभ—व्यवहारमें निमित्त कारण दूसरे दूसरे शब्द हैं इसीलिए यह चेतन है यह नारकी वा बालक है यह व्यवहार होता है इस रीतिसे जो द्रव्यके अवस्थाविशेष—धर्म द्रव्यार्थिक नयके विषय न होकर पर्यायार्थिक नयके विषय हैं और व्यवहार ऋजुसूत्र और शब्द नयसे जिनका संसारमें व्यवहार होता है उन धर्मोंका ही नाम पर्याय है।

तयोरितरेतरयोगलक्षणो द्वंद्वः ॥ ५ ॥

सूत्रमें जो 'द्रव्यपर्याय' शब्द है उसका 'द्रव्याणि च पर्यायाश्च द्रव्यपर्यायाः' यह इतरेतरयोग नामका द्वंद्व समास है। शंका—

द्वंद्वेऽन्यत्वं प्लक्षन्यग्रोधवदिति चेन्न तस्य कथंचिद्भेदेपि दर्शनात् गोत्वगोपिंडवत् ॥ ६ ॥

जो पदार्थ आपसमें भिन्न होते हैं उनका इतरेतर योग द्वंद्व समास होता है जिसतरह 'प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च प्लक्षन्यग्रोधौ' यहांपर प्लक्ष और न्यग्रोध दोनों भिन्न भिन्न पदार्थ हैं इसलिए इनका आपसमें इतरेतर योग द्वंद्व समास है। द्रव्य पर्याय शब्दमें भी इतरेतर योग द्वंद्व माना है इसलिए द्रव्य और

पर्याय शब्द भी आपसमें सर्वथा भिन्न होने चाहिए। सो ठीक नहीं। गोपिंडसे गोत्व पदार्थ सर्वथा भिन्न नहीं कथंचित् भिन्न है, तो भी गोत्वं च गोपिंडश्च 'गोत्वगोपिंडौ' यह वहां पर इतरेतर योग द्वंद्व समास होता है उसीतरह पर्याय भी द्रव्यसे कथंचित् भिन्न है इसलिए वहांपर इतरेतर योग नामका द्वंद्व समास बाधित नहीं। इस प्रकार कथंचित् भेद पक्षमें भी इतरेतर योग द्वंद्व समास होता है तब उपर्युक्त शंकाके आधार पर द्रव्य और पर्यायोंको सर्वथा भिन्न मानना निर्हेतुक है।

नैयायिक और वैशेषिकोंने सामान्य और विशेष पदार्थोंको सर्वथा भिन्न माना है इसलिए यदि उनकी ओरसे यहां यह शंका हो कि गोत्व सामान्य और गोपिंड विशेष इन दोनोंका इतरेतर योग द्वंद्व समास साध्यसम है अर्थात् सर्वथा आपस में भिन्न भिन्नोंका है इसलिए गोत्व और गोपिंडमें कथंचित भेद मान कर जो कथंचित् भेद पक्षमें इतरेतर योग द्वंद्वका संभव निर्दोष कहा है वह अयुक्त है? सो ठीक नहीं। सामान्य और विशेष दोनों पदार्थ आपसमें अभिन्न हैं यह पहिले कहा जा चुका है। इस-लिए उनको आपसमें सर्वथा भिन्न मानना बाधित है। इस रीतिसे कथंचित् भिन्न पदार्थोंमें भी जब इत-रेतर योग द्वंद्व होता है तब द्रव्य पर्याय शब्दमें इतरेतर योग द्वंद्व मानना बाधित नहीं कहा जा सकता। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

द्रव्यगृहणं पर्यायविशेषणं चेन्नानर्थक्यात् ॥ ७ ॥ द्रव्याज्ञानप्रसंगाच्च ॥ ८ ॥

'द्रव्यपर्याय' शब्दमें 'द्रव्याणां पर्यायाः द्रव्यपर्यायाः' द्रव्योंकी पर्याय, यह षष्ठी तत्पुरुष समास कर द्रव्य; पर्यायका विशेषण है? सो ठीक नहीं। पर्याय सिवा द्रव्यके अन्य पदार्थके नहीं हो सकते। यदि द्रव्यको पर्यायका विशेषण माना जायगा तो फिर पर्याय शब्दका उल्लेख ही उपयुक्त है, द्रव्य शब्द

का उल्लेख करना व्यर्थ है। इसलिये 'द्रव्याणां पर्यायाः द्रव्यपर्यायाः ऐसा षष्ठी तत्पुरुष समास न मानकर द्रव्याणि च पर्यायाश्च द्रव्यपर्यायाः यह इतरेतरयोग द्वंद्व मानना ही ठीक है तथा षष्ठी तत्पुरुष समास उत्तर पदार्थ ही प्रधान होता है इसलिये षष्ठी तत्पुरुष माननेसे पर्यायोंको ही मुख्यता आवेगी द्रव्यकी मुख्यता नहीं रहेगी इसलिये इतरेतर द्वंद्व ही उपयुक्त है। यदि यहांपर भी यह शंका की जाय कि— जैन सिद्धांतमें पर्यायोंके समुदायको द्रव्य माना है। पर्यायोंसे भिन्न द्रव्य कोई पदार्थ नहीं इसलिये केवलज्ञानसे जब समस्त पर्याय जान ली जायगी तब उनसे भिन्न कोई द्रव्य पदार्थ तो बाकी बचेगा नहीं फिर पर्यायोंसे भिन्न द्रव्य शब्दका ग्रहण निरर्थक है? सो ठीक नहीं। यदि वादी द्रव्य और पर्यायोंका भेद मानता है तब तो पर्यायसे भिन्न द्रव्य शब्दका उल्लेख कार्यकारी है और यदि उसे पर्याय स्वरूप ही मानता है तब पर्यायोंके जाननेसे उसका भी ज्ञान हो सकता है कोई दोष नहीं। यह विषय ऊपर विस्तारसे निरूपण भी कर दिया है इसलिये द्रव्य और पर्यायोंका कथंचित् भेद मान 'द्रव्य पर्याय शब्दका इतरेतरयोग द्वंद्व माना है वह सार्थक है। यदि यहांपर भी यह शंका की जाय कि पर्यायसे भिन्न जब द्रव्य पदार्थ कोई चीज नहीं तब 'द्रव्यपर्याय' शब्दका द्वंद समास माननेपर भी द्रव्य ग्रहण व्यर्थ ही है? सो भी ठीक नहीं। यदि सर्वथा द्रव्य और पर्यायोंका अभेद संबंध सिद्ध हो, तब तो अवश्य ही द्रव्य शब्दका उल्लेख व्यर्थ है किंतु नाम संख्या और लक्षणोंके भेदसे द्रव्य और पर्यायोंका कथंचित् भेद माना है इसलिये कथंचित् भेद होनेसे द्रव्य शब्दका उल्लेख निरर्थक नहीं। अन्यथा संसारमें जो यह 'द्रव्य, द्रव्य' व्यवहार होता है वह द्रव्यके न कहने पर न होगा इसरीतिसे जब द्रव्य पर्यायोंका कथंचित् भेद है तब सर्वथा पर्यायस्वरूप द्रव्य मानकर द्रव्य शब्दका उल्लेख व्यर्थ नहीं हो सकता और

न सर्वथा अभेदपक्षमें 'द्रव्यपर्याय' शब्दका द्वंद्व समास ही हो सकता इसलिये कथंचित् भेद पक्षमें 'द्रव्याणि च पर्यायाश्च द्रव्यपर्यायाः' यह इतरेतर योग द्वंद्वसमास निर्दोष है शंका—'सर्वद्रव्यपर्यायेषु यहां पर बहुवचनांत शब्दका उल्लेख किया है इसलिये बहुवचनके उल्लेखसे ही जब बहुत से द्रव्य और पर्यायोंका ग्रहण हो जायगा तब वहांपर सर्व शब्दका ग्रहण व्यर्थ ही है ? उत्तर—

सर्वगूहणं निरवशेषप्रतिपत्त्यर्थं ॥ ९ ॥

लोकाकाश और अलोकाकाशमें रहनेवाले भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालोंके विषयभूत द्रव्यों के पर्याय अनंत हैं वे समस्त केवलज्ञानके विषय हैं यह बतलानेकेलिये सर्वद्रव्येत्यादि सूत्रमें सर्व शब्द का ग्रहण किया गया है खास तात्पर्य यहांपर यह है कि लोकाकाश और अलोकाकाशका स्वभाव अनंत है उससे भी पदार्थ अनंतानंत हैं उन सबको स्पष्ट रूपसे केवलज्ञान जानता है यह अपरिमित माहात्म्य केवलज्ञान ही का है यह समझलेना चाहिये। यदि सूत्रमें सर्व शब्दका उल्लेख नहीं होता तो यह अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि बहुवचनके अंदर यह सामर्थ्य है कि उससे बहुतसे पदार्थोंका ग्रहण हो सकता है किंतु यावन्मात्र पदार्थोंको केवलज्ञान विषय करता है यह अर्थ बहुवचनसे नहीं लिया जा सकता ॥ २९ ॥

मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदिके विषयका संबंध अच्छीतरह जान लिया गया परंतु यह बात अभीतक नहीं जानी कि अपने अपने कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले मतिज्ञान आदि ज्ञान एक आत्मामें एक साथ कितने रह सक्ते हैं ? इस बातको सूत्रकार बतलाते हैं—

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ३० ॥

एक जीवके एक साथ एकसे लेकर चार पर्यंत ज्ञान रह सकते हैं अर्थात् यदि किसी जीवके एक ज्ञान हो तो केवलज्ञान होता है। दो ज्ञान हों तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं। तीन ज्ञान हों तो मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान वा मतिज्ञान श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान होते हैं एवं चार हों तो मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये चार होते हैं। सूत्रमें जो एक शब्द है उसका वार्तिककार अर्थ बतलाते हैं—

अनेकार्थसंभवे विवक्षातः प्राथम्यवचन एकशब्दः ॥ १ ॥

एक शब्दके अनेक अर्थ हैं। 'एकं द्वौ बहवः' यहांपर एक शब्दका अर्थ एक संख्या है। एके 'आचार्याः—अन्ये आचार्याः' यहांपर एक शब्दका अर्थ 'अन्य' माना है। 'एकाकिनस्ते विचरंति वीराः' वे वीर पुरुष विना किसीके सहायताके अकेले ही विहार करते हैं। यहांपर एक शब्दका अर्थ 'असहाय' है। 'एकमागमनं—प्रथममागमनं' पहिला आना हुआ, यहांपर एक शब्दका अर्थ पहिला है। 'एकहतां सेनां करोमि—प्रधानहतां सेनां करोमीत्यर्थः' मैं प्रधान द्वारा सेनाको नष्ट कराता हूं, यहांपर एक शब्दका अर्थ 'प्रधान' है। सूत्रमें जो एक शब्द कहा गया है उसका यहां प्रधान अर्थ विवक्षित है। अर्थात् मतिज्ञान आदि लेकर एक आत्मामें एक साथ चार ज्ञान विवक्षित हैं।

आदिशब्दश्चावयववचनः ॥ २ ॥ सामीप्यवचनो वा ॥ ३ ॥

आदि शब्दके भी अनेक अर्थ होते हैं। ब्राह्मणादयश्चत्वारो वर्णाः—ब्राह्मणव्यवस्थाः, ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः, इत्यर्थः। अर्थात्—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णोंकी ब्राह्मण वर्णके आधीन

व्यवस्था है। यहांपर आदि शब्दका अर्थ व्यवस्था है। 'भुजंगादयः परिहर्तव्याः भुजंगप्रकारा विषवंत इत्यर्थः' सर्प आदि विषवाले जीवोंको दूरसे ही छोड देना चाहिये। यहांपर आदि शब्दका अर्थ प्रकार—भेद है। 'नद्यादीनि क्षेत्राणि—नदीसमीपानीत्यर्थः' नदीके समीप क्षेत्र हैं, यहांपर आदि शब्दका अर्थ समीप है। ऋगादिमधीते—ऋगवयवमधीते इत्यर्थः ऋग्वेदके कुछ भागको पढता है, यहांपर आदि शब्दका अर्थ अवयव है। सूत्रमें जो आदि शब्द दिया है उसका भी अर्थ यहां 'अवयव' विवक्षित है। अर्थात् 'एककी प्रथम—परोक्षज्ञानकी आदि—अवयव—मतिज्ञानको आदि लेकर' यह एकादि शब्दका अर्थ है। अथवा आदि शब्दका अर्थ समीप भी है। मतिज्ञानके समीप श्रुतज्ञान है इसलिये एक शब्दके उल्लेखसे मतिज्ञान और आदिके शब्दके उल्लेखसे श्रुतज्ञानको ग्रहण कर मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको आदि लेकर एक आत्मामें एक साथ चार तक ज्ञान होते हैं यह सूत्रका स्पष्ट अर्थ है। शंका—

मतेर्बहिर्भावप्रसंग इति चेन्नानयोः सदाऽव्यभिचारात् ॥ ४ ॥

आदि शब्दका अर्थ समीप मानकर 'एकस्य आदि एकादिः' ऐसी व्युत्पत्तिसे प्रथम निर्दिष्टके समीपको आदि लेकर यदि यह अर्थ किया जायगा तो प्रथम निर्दिष्ट—मतिज्ञानके समीप श्रुतज्ञान है। इसलिये श्रुतज्ञानको आदि लेकर (एक आत्मामें एक साथ चार ज्ञान होते हैं) यह अर्थ होगा। मति-ज्ञानको आदि लेकर यह अर्थ न हो सकेगा। इसरीतिसे मतिज्ञान छूट जायगा। सो ठीक नहीं। जिस तरह नारद और पर्वतका आपसमें सहचर सम्बंध है—अव्यभिचारितरूपसे नारद और पर्वत एक साथ रहते हैं, इसलिये नारदका नाम लेनेसे पर्वतका ग्रहण और पर्वतका नाम लेनेसे नारदका ग्रहण हो जाता है उसी तरह मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको भी आपसमें अव्यभिचारितरूपसे सहचारीपना है। ऐसा कोई

भी आत्मा नहीं जहांपर दोनों एक साथ न रहें इसलिये जहांपर मतिज्ञानका उल्लेख होगा वहांपर श्रुतज्ञानका भी ग्रहण होगा और जहांपर श्रुतज्ञानका ग्रहण होगा वहांपर मतिज्ञानका भी ग्रहण समझा जायगा। यद्यपि आदि शब्दका समीप अर्थकर 'मतिज्ञानके समीपमें रहनेवाले श्रुतज्ञानको आदि लेकर' ऐसा अर्थ करनेपर मतिज्ञानका ग्रहण नहीं होता तथापि श्रुतज्ञानके ग्रहणसे मतिज्ञानका भी साहचर्य सम्बंधसे वहांपर ग्रहण है इसलिये मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको आदि लेकर एक साथ एक आत्मामें चार ज्ञान तक रह सकते हैं ऐसे अर्थके माननेमें कोई आपात्ति नहीं। शंका—

ततोऽन्यपदार्थे वृत्तावेकस्यादिशब्दस्य निवृत्तिरुष्ट्रमुखवत् ॥ ५ ॥

'एकादिरादिर्येषां तानीमान्येकादीनि' एकादिको आदि लेकर जो ज्ञान हैं वे एकादि कहे जाते हैं, यह यहां पर जो बहुव्रीहि समास है उसमें दो आदि शब्दोंका उल्लेख है इसलिये समस्त पदमें भी दो आदि शब्द रहने चाहिये अर्थात् 'एकाद्यादीनि' ऐसा समस्त पद होना चाहिये ? सो ठीक नहीं। उष्ट्रस्य मुखं उष्ट्रमुखं, उष्ट्रवन्मुखं यस्येति उष्ट्रमुखं अर्थात् जिसका मुख ऊंट सरीखा हो वह उष्ट्रमुख पुरुष कहा जाता है और जिसका मुख ऊंटके मुखवाले पुरुष सरीखा हो वह भी उष्ट्रमुख ही कहा जाता है, यहां पर जिसतरह उष्ट्रमुख शब्दका बहुव्रीहि समास करते समय दो मुख शब्दोंका उल्लेख रहता है और समस्त पदमें एक ही मुख शब्द रह जाता है एक मुख शब्दकी निवृत्ति हो जाती है उसीतरह 'एकादीनि' यहां पर भी दो आदि शब्दोंमें एक ही आदि शब्द रह जाता है एक आदि शब्दकी निवृत्ति हो जाती है।

अवयवेन विग्रहः समुदायो वृत्त्यर्थः ॥ ६ ॥

जिस पदका समास किया जाता है उसका विग्रह तो अवयवोंके साथ होता है और समासका अर्थ समुदायगत माना जाता है । 'एकादीनि' यह समस्त पद है यहां पर विग्रह तो एक, आदि रूप उस पदके अवयवोंके साथ है परंतु मतिज्ञान और 'श्रुतज्ञानको लेकर ज्ञान' (भाज्य हैं) यह समासका अर्थ 'एकादीनि' इस समुदायगत है। सूत्रमें जो 'आचतुर्भ्यः' पद है वह इस नियमकेलिए है कि एक साथ एक आत्मामें चार पर्यंत ही ज्ञान होते हैं सब-पांचों नहीं होते । यदि 'आचतुर्भ्यः' पद सूत्रमें न होता तो एक साथ एक जगह पर पांचो ज्ञानोंका विधान हो जाता । यदि यहां पर यह शंका की जाय कि पांचों ज्ञानोंका क्यों एक साथ संभव नहीं होता ? उसका समाधान इसप्रकार है—

केवलस्यासहायत्वादितरेषां च क्षयोपशमनिमित्तत्वाद्यौगपद्याभावः ॥ ७ ॥

पांचों ज्ञानोंमें केवलज्ञान असहाय ज्ञान है उसे कर्मोंके क्षयोपशमकी सहायताकी अपेक्षा नहीं रहती शेष मतिज्ञान आदि चारों ज्ञानोंको कर्मोंके क्षयोपशमकी अपेक्षा रहती है इसलिये वे असहाय नहीं इस रीतिसे ज्ञानोंमें आपसमें विरोध रहनेके कारण वे एक साथ नहीं हो सकते इसलिये सूत्रमें जो 'आच-तुर्भ्यः' पद है, वह नियामक और सार्थक है। शंका—

नाभावोऽभिभूतत्वादहनि नक्षत्रवदिति चेन्न क्षायिकत्वात् ॥ ८ ॥

जिससमय सूर्यका प्रकाश पृथ्वीमंडल पर पडता है उससमय नक्षत्रोंका प्रकाश दब जाता है किंतु वहां यह नहीं कहा जाता कि नक्षत्रोंकी नास्ति ही हो गई है । उसीतरह जिससमय आत्मामें अत्यंत जाज्वल्यमान केवलज्ञानका उदय होगा उससमय क्षायोपशमिक मतिज्ञान आदिका प्रभाव दब जायगा क्योंकि केवलज्ञान सर्वथा निरावरण ज्ञान है किंतु केवलज्ञानके साथ उनका आस्तित्व ही नहीं है यह

नहीं कहा जा सकता। इसरीतिसे जब केवलज्ञानके साथ साथ क्षायोपशमिक ज्ञान—मतिज्ञान आदिका भी होना युक्ति सिद्ध है तब सूत्रमें 'आचतुर्भ्यः' इस पदसे एक साथ एक आत्मामें मतिज्ञान श्रुतज्ञानको लेकर चार ही ज्ञान होते हैं यह नियमस्वरूप कथन विरुद्ध है ? सो ठीक नहीं । जो स्थान सब जगह शुद्ध हो चुका है वहां पर कोई भाग अशुद्ध नहीं कहा जा सकता उसीप्रकार जब समस्त ज्ञानावरण कर्मका निर्मूल नाश हो चुका है—जरा भी अंश नाशकेलिए वाकी नहीं है तब वहां पर उसका क्षायोपशम कहना बाधित है । ज्ञानावरण कर्मके सर्वथा नाश करने पर केवलज्ञान होता है इसलिये जिस आत्मामें उसका उदय है उसमें मतिज्ञान आदि क्षयोपशमिक ज्ञानोंका रहना नहीं हो सकता। इसलिये एक साथ एक आत्मामें मतिज्ञानको आदि लेकर चारतक ज्ञानोंका जो नियम है वह निर्बाध और निर्दोष है। यदि फिर यहांपर यह शंका की जाय कि—

इंद्रियत्वादिति चेन्नार्षार्थानवबोधात् ॥ ९ ॥

'पंचेंद्रिया असंज्ञिपंचेंद्रियादारभ्य आ अयोगकेवलिन इति, अर्थात् असंज्ञी पंचेंद्रियसे लेकर अयोग केवलीपर्यंत सव जीव पंचेंद्रिय हैं। यह शास्त्रका वचन है। जिनके केवलज्ञान हैं वे भी जब पंचेंद्रिय हैं और उनके पांचों इंद्रियां मौजूद हैं तब इंद्रियोंके कार्य मतिज्ञान आदि क्षायोपशमिक ज्ञान होने चाहिये क्योंकि समर्थ कारण इंद्रियोंके रहते कार्य ज्ञान अवश्यंभावी हैं। इसलिये केवलज्ञानके अस्तित्वकालमें मतिज्ञान आदि नहीं हो सकते यह कहना निर्मूल है? सो ठीक नहीं। तुमने आर्ष रहस्यको नहीं समझा है आर्षमें बतलाया है कि—सयोगकेवली और अयोगकेवलीको जो पंचेंद्रिय बतलाया है वह द्रव्येंद्रिय की अपेक्षा है, भावेंद्रियकी अपेक्षा नहीं क्योंकि जहांपर भावेंद्रियका अस्तित्व है वहांपर समस्त ज्ञाना-

वरण कर्मका क्षय नहीं हो सकता एवं ज्ञानावरणकर्मके निर्मूल क्षयके विना सर्वज्ञपना भी असंभव है। यदि सयोगकेवली और अयोगकेवलीके भावेंद्रियकी सत्ता मानी जायगी तो उनके ज्ञानावरण कर्मका निर्मूल क्षय न हो सकेगा एवं ज्ञानावरण कर्मके निर्मूल क्षयके विना वे सर्वज्ञ भी नहीं कहे जा सकेंगे तथा जहांपर भावेंद्रियकी सत्ता है वहीं पर मतिज्ञान आदि क्षायोपशमिक ज्ञानोंका आविर्भाव होता है, केवल द्रव्येंद्रिय के अस्तित्व कालमें नहीं क्योंकि द्रव्येंद्रियकी सत्ताको निःशक्तिक माना है, वह ज्ञानोंकी उत्पत्तिमें कारण नहीं वन सकती इसलिये जव केवलज्ञानके उदय रहने पर भावेंद्रियका अस्तित्व नहीं रहता तब केवलज्ञानके साथ कारण भावेंद्रियके अभावमें कार्य मतिज्ञानादि नहीं हो सकते अतः 'एक आत्मा में एक साथ मतिज्ञान आदि चार ही ज्ञान हो सकते हैं सव नहीं यह वात निर्बाध है। इसप्रकार उपर्युक्त युक्तिपूर्ण कथनसे यह वात सिद्ध हो चुकी कि यदि एक आत्मामें एकसाथ दो ज्ञान होंगे तो मतिज्ञान श्रुतज्ञान ही होंगे। तीन होंगे तो मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान वा मतिज्ञान श्रुतज्ञान मनःपर्ययज्ञान होंगे और चार होंगे तो मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान होंगे किंतु पांचों ज्ञान एक साथ नहीं हो सकते।

संख्यावचनो वैकशब्दः ॥ १० ॥

अथवा एकादीनि यहांपर जो एक शब्द है उसका अर्थ एकत्व संख्या है। जिन ज्ञानोंकी आदिमें एक हो वे एकादि हैं यह एकादि पदका अर्थ है। वह इसप्रकार है। श्रुतज्ञान दो प्रकारका है एक अक्षरात्मक दूसरा अनक्षरात्मक। अक्षरात्मक श्रुतज्ञान दो, अनेक और बारह प्रकारका है एवं उपदेशपूर्वक होता है, यह ऊपर कहा जा चुका है। वह अक्षरात्मक श्रुतज्ञान भाज्य है—किन्हीं जीवोंके होता है किन्हींके

नहीं, इसलिए अक्षरात्मक श्रुतज्ञानकी अपेक्षा एक आत्मामें अकेला मतिज्ञान भी हो सकता है। दो ज्ञान मतिज्ञान श्रुतज्ञान होते हैं। शेष सब प्रक्रिया पहिलेके समान है। दूसरे दूसरे आचार्योंका कहना है कि एक शब्द असंख्या असहाय और प्रधान अर्थका वाचक है इसलिये एकका अर्थ केवलज्ञान है क्योंकि मतिज्ञान आदि अन्य क्षायोपशमिक ज्ञान असहाय और प्रधान नहीं हो सकते इसरीतिसे एक आत्मामें एक साथ केवलज्ञानको आदि लेकर चार पर्यंत ज्ञान हो सकते हैं यह अर्थ है। यदि एक ज्ञान होगा तो केवलज्ञान ही होगा दो ज्ञान होंगे तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होंगे। तीन होंगे तो मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान वा मतिज्ञान श्रुतज्ञान मनःपर्ययज्ञान होंगे और यदि चार होंगे तो मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान होंगे यह सब प्रक्रिया पूर्ववत् ही है ॥ ३० ॥

जिन मति आदिका ऊपर निरूपण किया गया है उनकी ज्ञान ही संज्ञा है वा और भी कोई संज्ञा है? इस वातको सूत्रकार कहते हैं—

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥ ३१ ॥

मति श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान विपरीत भी होते हैं अर्थात् मति आदि पांचों ज्ञानोंको जो सम्यग्ज्ञान कह आये हैं उनमें आदिके तीन ज्ञान मिथ्याज्ञान भी हो जाते हैं। इस सूत्रमें सम्यक् शब्दकी अनुवृत्ति आ रही है इसलिये सूत्रमें जो विपर्यय शब्द है उसका अर्थ मिथ्या है। च शब्दके अर्थ बहुतसे हैं उनमें यहां समुच्चय अर्थ है इसलिये मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान सम्यग्ज्ञान भी होते हैं और मिथ्याज्ञान भी होते हैं। मतिज्ञान आदि विपरीत ज्ञान क्यों हैं? वार्तिककार इस बातका समाधान करते हैं—

मिथ्यादर्शनपरिग्रहान्मत्यादिविपर्ययः ॥ १ ॥ सरजसकटुकालांबूगतदुग्धवत्स्वगुणविनाशः ॥ २ ॥
पारिणामिकशक्तिविशेषात् ॥ ३ ॥

दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे जो आत्माका मिथ्यादर्शन परिणाम होता है उसके साथ मति आदि ज्ञान भी एक जगह रहते हैं—दोनों एक साथ आत्मामें रहते हैं इसलिये मिथ्यात्वके संबंधसे मतिज्ञान आदि मिथ्याज्ञान कहे जाते हैं । यदि यहां पर यह शंका की जाय कि जिसतरह विष्टागृहमें लगे हुए मणि और सोना आदि कीमती धातुओंके स्वभावका विनाश नहीं होता, अर्थात्—महा निकृष्ट भी विष्टागृहमें लगे रहने पर मणि; मणि ही और सोना; सोना ही रहता है । विष्टाके समान वे निकृष्ट नहीं गिने जाते उसीप्रकार मिथ्यादर्शनके आधार आत्मामें भले ही मतिज्ञान आदिका रहना हो तो भी उनके सम्यक्त्व भावका नाश नहीं हो सकता—सम्यग्ज्ञानके स्थानपर वे मिथ्याज्ञान नहीं कहे जा सकते ? सो ठीक नहीं । जिसप्रकार रज सहित कड़वी तूंबीमें रक्खा हुआ दूध अपने मीठे स्वभावको छोड देता है अर्थात् जिसतरह तूंबी कड़वी है उसीप्रकार दूध भी कडवा हो जाता है क्योंकि आधारमें जो दोष होता है वह आधेयमें भी हो जाता है दूधकी आधारभूत तूंबीमें कडवापनका दोष है इसलिये आधेय स्वरूप दूधमें भी वह कडवापन आ जाता है उसीप्रकार मतिज्ञान आदि तीनों ज्ञानोंका आधार मिथ्या- दृष्टि आत्मा है इसलिये जब आधार आत्मामें मिथ्यात्व दोष मौजूद है तब वह आधेयस्वरूप आत्मामें भी आवेगा आधारके मिथ्यात्वयुक्त होनेसे मतिज्ञान आदि भी मिथ्या कहे जांयगे इसलिये मिथ्यात्वके साथ एक आधारमें रहनेके कारण मतिज्ञान आदि तीनों ज्ञानोंको मिथ्याज्ञान मानना ही होगा ।

यदि यहां फिर भी यह शंका की जाय कि—आधारमें जो बातें हों वे आधेयमें होती ही हैं यह कोई

एकांत नहीं मणि सुवर्ण आदि उत्तम पदार्थोंका आधार विष्टागृह है परन्तु विष्टागृहके अंदर जो निकृष्टता है वह मणि और सुवर्ण आदिके अंदर नहीं आती। वे अपने उत्तम बहुमूल्य स्वभावको न छोडने के कारण विष्टागृहमें भी उत्तम बहुमूल्य ही माने जाते हैं इसलिये हठात् आत्मामें यह संदेह उठ खडा होता है कि क्या जिसतरह कडवी तूंबीमें रहनेवाला दूध अपने मीठे स्वभावको छोड देता है—कडवा हो जाता है उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि आत्मामें रहनेवाले मतिज्ञान आदि भी मिथ्यात्वके संबंधसे अपना सम्यक्त्व स्वभाव छोडकर मिथ्या हो जाते हैं ? अथवा जिसतरह विष्टागृहमें लगे हुए मणि और सुवर्ण आदि पदार्थ अपना बहुमूल्य स्वभाव नहीं छोडते उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि आत्मामें रहनेपर भी मतिज्ञान आदि अपने सम्यक् स्वभावको नहीं छोडते ? यह नियम है जहांपर संशय रहता है वहां पदार्थका निर्णय होता नहीं। यहांपर संशय विद्यमान है इसलिये मिथ्यात्वके संबंधसे मतिज्ञान आदि तीनों ज्ञान मिथ्याज्ञान हो जाते हैं यह वात प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। सो भी ठीक नहीं। जो पदार्थ परिणमन कराने में समर्थ है उसकी शक्तिकी विशेषतासे अन्यथाभाव—विपरिणमन हो जाता है। तूंबी पदार्थ दूधके विपरिणमन—कडवा बनानेमें समर्थ है इसलिये उसके संबंधसे दूध कडवा हो जाता है। मिथ्यादर्शन भी मतिज्ञान आदि तीनों ज्ञानोंके विपरीत परिणमन—मिथ्याज्ञान बनानेमें समर्थ है। इसलिये उसके संबंधसे मतिज्ञान आदि मिथ्याज्ञान हो जाते हैं। विष्टागृह मणि सुवर्ण आदि बहुमूल्य पदार्थोंके विपरीत परिणमनमें समर्थ नहीं इसलिये उनका विकार—विपरीत परिणाम नहीं होता किंतु जो द्रव्य मणि सुवर्ण आदिका भी विपरिणमन करानेवाला है उसके संबंधसे मणि आदिका भी नियमसे विपरिणमन होता है इसलिये यह वात सिद्ध हो चुकी कि जबतक आत्मामें मिथ्यादर्शनका उदय रहता है तबतक उसमें

रहनेवाले मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान मिथ्याज्ञान कहे जाते हैं और जिस समय सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है एवं मिथ्यादर्शनका अभाव हो जाता है उस समय मतिज्ञान आदि सम्यग्ज्ञान कहे जाते हैं इस रीतिसे सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शनके भेदसे मतिज्ञान आदि तीनों ज्ञानोंके इसप्रकार दो दो भेद हो जाते हैं—मतिज्ञान मत्यज्ञान श्रुतज्ञान श्रुताज्ञान अवधिज्ञान और विभंगज्ञान। विशेष—

मत्यादयः समाख्यातास्त एवेत्यवधारणात्।
संगृह्येते कदाचिन्न मनःपर्ययकेवले ॥ ३ ॥
नियमेन तयोःसम्यग्भावनिर्णयतः सदा।
मिथ्यात्वकारणाभावाद्विशुद्धात्मनि संभवात् ॥ ४ ॥
दृष्टचारित्रमोहस्य क्षये वोपशमेऽपि वा।
मनःपर्ययविज्ञानं भवन्मिथ्या न युज्यते ॥ ५ ॥
सर्वघातिक्षयेऽत्यंतं केवलं प्रभवत्कथं।
मिथ्या संभाव्यते जातु विशुद्धिं परमां दधत् ॥ ६ ॥
मतिश्रुतावधिज्ञानत्रयं तु स्यात्कदाचन।
मिथ्येति ते च निर्दिष्टा विपर्यय इहांगिनां ॥ ७ ॥
स च सामान्यतो मिथ्याज्ञानमत्रोपवर्ण्यते।
संशयादि—विकल्पानां त्रयाणां संगृहीयते ॥ ८ ॥
समुच्चिनोति चस्तेषां सम्यक्त्वं व्यावहारिकं।

मुख्यं च तदनुक्तौ तु तेषां मिथ्यात्वमेव हि ॥ ९ ॥
ते विपर्यय एवेति सूत्रे चेन्नावधार्यते ।
चशब्दमंतरेणापि सदा सम्यक्त्वमत्त्वतः ॥ १० ॥
मिथ्याज्ञानं विशेषः स्यादस्मिन्पक्षे विपर्ययं ।
संशयाज्ञानभेदस्य चशब्देन समुच्चयः ॥ ११ ॥ श्लोकवार्तिक पृष्ठ २५५ ।

मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीन ज्ञान ही विपरीत ज्ञान हैं अन्य नहीं, ऐसा 'मतिश्रुताऽवधयः' इत्यादि सूत्रमें निर्धारण है इसलिये विपरीत ज्ञानोंमें मनःपर्यय और केवलज्ञानका ग्रहण नहीं क्योंकि मिथ्यादर्शनके कारणोंके सर्वथा नष्ट हो जानेपर सम्यक्त्व गुणकी प्रकटतासे जिस समय आत्मा विशुद्ध हो जाता है उससमय मनःपर्यय और केवलज्ञानका आत्मामें उदय होता है—विना सम्यक्त्व गुणके उदय नहीं हो सकता इसलिये मिथ्यात्वके संबंधसे सर्वथा दूर रहनेके कारण मनःपर्यय और केवलज्ञान कभी मिथ्या नहीं हो सकते । उन दोनों ज्ञानोंमें जिस समय दर्शन मोहनीय कर्मका सर्वथा क्षय हो जाता है और चारित्र मोहनीय कर्मका उपशम[1] हो जाता है उस समय आत्मामें मनःपर्ययज्ञानका उदय होता है इसलिये मिथ्यात्वके साथ संबंध न रहनेके कारण वह मिथ्याज्ञान नहीं हो सक्ता तथा ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय मोहनीय और अंतराय इन चार घातिया कर्मोंके सर्वथा नष्ट हो जानेपर आत्मामें केवलज्ञानका उदय होता है । उससमय परिपूर्ण विशुद्धता केवलज्ञानमें प्रगट हो जाती है इसलिये वह भी मिथ्याज्ञान नहीं कहा जा सकता । परंतु मतिज्ञान आदि तीन ज्ञान जिससमय मिथ्यात्वके साथ आत्मा

१—मनःपर्ययज्ञान छठे गुणस्थानमें भी हो जाता है इसलिये यह प्रत्याख्यानादि कषायोंके उपशमकी अपेक्षासे कथन है ।

में रहते हैं उससमय मिथ्याज्ञान हो जाते हैं इसलिये उन्हें सूत्रमें मिथ्याज्ञान कहा गया है। सामान्य रूपसे विपर्ययका अर्थ मिथ्याज्ञान है तो भी संशय विपर्यय और अनध्यवसाय इन तीनों प्रकारके ज्ञानोंका यहां ग्रहण है। सूत्रमें जो 'च' अव्ययका पाठ है उसका अर्थ समुच्चय है और उससे सूत्रमें मुख्य और व्यवहार दोनों प्रकारके सम्यक्त्वोंका ग्रहण है। यदि 'च' शब्दका उल्लेख सूत्रमें न होता तो मतिज्ञान आदि तीनों ज्ञान, मिथ्याज्ञान ही हैं यही अर्थ होता। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि 'मतिज्ञान आदि विपरीत ही ज्ञान हैं' यदि यह निर्धारण सूत्रके अंदर होता तब तो 'च' शब्दका उल्लेख सार्थक समझा जाता क्योंकि उससे सम्यक्त्वके ग्रहण होनेपर 'मतिज्ञान आदि मिथ्याज्ञान ही होते हैं' इस सिद्धांतविरुद्ध नियमकी जगह वे मिथ्या भी होते हैं और सम्यक् भी होते हैं यह वास्तविक अर्थ होता परंतु 'मतिज्ञान आदि विपरीत ही होते हैं' ऐसा नियम सूत्रमें है नहीं, इसलिये 'च' शब्दके उल्लेखके विना भी जब यह अर्थ हो सकता है कि मतिज्ञान आदि तीन ज्ञान मिथ्याज्ञान भी हैं और सम्यग्ज्ञान भी है तब 'च' शब्दका उल्लेख करना व्यर्थ ही है? सो ठीक नहीं। यदि च शब्दके विना भी 'मतिज्ञान आदि तीनों ज्ञान मिथ्यज्ञान भी हैं और सम्यग्ज्ञान भी हैं' सूत्रका यह अर्थ हो जाता है तब सूत्रमें जो 'विपर्यय' शब्द है उसका मिथ्याज्ञान अर्थ है और 'च' शब्दसे संशय और अनध्यवसायका ग्रहण है अर्थात् मतिज्ञान आदिक संशयादि स्वरूप भी हैं इस अर्थके करनेमें 'च' शब्दका उल्लेख ही प्रधान कारण है इसलिये 'च' शब्दका उल्लेख व्यर्थ नहीं। तथा—

तत्र त्रिधापि मिथ्यात्वं मतिज्ञाने प्रतीयते।
श्रुते च द्विविधं बोध्यमवधौ संशयाद्विना ॥ १२ ॥

तस्येंद्रियमनोहेतुसमुद्भूतिनियामतः ।
इंद्रियानिंद्रियाजन्यस्वभावश्चावधिः स्मृतः ॥ १३ ॥

मतौ श्रुते च त्रिविधं मिथ्यात्वं बोद्धव्यं, मतेरिंद्रियानिंद्रियानिमित्तकत्वनियमात्। श्रुतस्यानिंद्रियनिमित्तकत्वनियमात् । द्विविधमवधौ संशयाद्विना विपर्ययानध्यवसायावित्यर्थः । कुतः ? असंशयादिंद्रियानिंद्रियाजन्यस्वभावः प्रोक्तः संशयो हि चलिताप्रतिपत्तिः किमयं स्थाणुः किं वा पुरुष इति । स च सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षादुभयविशेषस्मरणात् प्रजायते । दूरस्थे च वस्तुनि इंद्रियेण सामान्यतश्च सन्निकृष्टसामान्यप्रत्यक्षत्वं विशेषाप्रत्यक्षत्वं च दृष्टं, मनसा च पूर्वानुभूततदुभयविशेषस्मरणेन । न चावध्युत्पत्तौ क्वचिदिंद्रियव्यापारोऽस्ति मनोव्यापारो वा स्वावरणक्षयोपशमविशेषात्मना सामान्यविशेषात्मनो वस्तुनः स्वविषयस्य तेन ग्रहणात् । ततो न संशयात्मावधिः । विपर्ययात्मा तु मिथ्यात्वोदयाद्विपरीतवस्तुस्वभावश्रद्धानसद्भावात् संबोध्यते । तथानध्यवसायात्माप्याशु उपयोगसंहरणाद्विज्ञानांतरोपयोगाद्गच्छत्तृणस्पर्शवदुत्पाद्यते । दृढोपयोगावस्थायां तु नावधिरध्यवसायात्मापि ।

(श्लोकवार्तिक पृष्ठ २५६)

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान इन तीनों ज्ञानोंमें मतिज्ञान इंद्रिय और मनसे होता है इसलिए उसके विपरिणाम संशय विपर्यय और अनध्यवसाय तीनों मिथ्याज्ञान हैं एवं श्रुतज्ञान मन इंद्रियकी सहायतासे होता है इसलिए उसके भी विपरिणाम संशय आदि तीनों मिथ्याज्ञान हैं किंतु अवधिज्ञानके विपरिणाम विपर्यय और अनध्यवसाय ही हैं, संशय नहीं क्योंकि यह 'स्थाणु है वा पुरुष है ?' ऐसी अनेक कोटियोंको स्पर्श करनेवाले ज्ञानका नाम संशय है और जहांपर अंधकार रहनेसे दूरमें स्थित

पदार्थ स्थाणु है वा पुरुष है ऐसा स्पष्ट ज्ञान न होनेसे उन दोनोंमें रहनेवाले ऊर्ध्वता सामान्यका प्रत्यक्ष है, वक्र कोटर आदि स्थाणुके विशेष एवं शिर हाथ आदि पुरुषके विशेषोंका प्रत्यक्ष नहीं किंतु पहिले उनका ज्ञान हो चुका है इसलिए मनके द्वारा उनका स्मरण है इस रीतिसे सामान्यप्रत्यक्ष विशेषाप्रत्यक्ष और विशेषस्मरण है वहींपर संशयज्ञान होनेके कारण इंद्रियोंके आधीन इसकी उत्पत्ति मानी है परंतु अवधिज्ञानमें इंद्रियोंके व्यापारकी वा मनके व्यापारकी कोई अपेक्षा नहीं क्योंकि उसे इंद्रिय और मनसे अजन्य माना है किंतु अवधिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमकी विशुद्धता रहने पर वह सामान्य विशेषस्वरूप अपने विषयभूत पदार्थोंको जानता है इसलिए अवधिज्ञानका विपरिणमन संशयस्वरूप नहीं हो सकता लेकिन हां! मिथ्यात्व नामकर्मके उदयसे विपरीत श्रद्धानस्वरूप मिथ्यादर्शनके साथ अवधिज्ञान रहता है इसलिए वह विपरीत स्वरूप है तथा जिस पदार्थकी ओर अवधिज्ञानका उपयोग लगा हुआ है कारणवश उसका पूरा ज्ञान न होनेके पहिले ही दूसरे किसी ज्ञानके विषयभूत दूसरे ही पदार्थकी और उपयोग लग जाय उससमय मार्गमें जाते हुए पुरुषको तृणस्पर्शके ज्ञानके समान अनिश्चयात्मक अवधिज्ञान हो जाता है इसलिए अवधिज्ञानका विपरिणमन अनध्यवसाय स्वरूप भी है किंतु जिससमय जिस पदार्थको अवधिज्ञान विषय कर रहा है उस समय यदि वह उपयोग दृढ होगा तो अवधिज्ञानका अनध्यवसायस्वरूप विपरिणमन नहीं हो सकता ॥ ३१ ॥

जिस तरह सम्यग्दृष्टि मतिज्ञानसे रूप रस आदि पदार्थोंको जानता है उसी तरह मिथ्यादृष्टिको भी मत्यज्ञानसे उनका ज्ञान होता है। जिसतरह श्रुतज्ञानसे घट आदिमें रूप आदिका निश्चय किया जाता है और पर मनुष्योंके लिए उपदेश दिया जाता है उसी तरह श्रुताज्ञानसे भी घटादिके रूप आदिका

निश्चय होता है और पर मनुष्योंको उपदेश दिया जाता है एवं जिसतरह अवधिज्ञानसे रूपी पदार्थोंका निश्चय होता है उसी प्रकार विभंगज्ञानसे भी होता है इस प्रकार मतिज्ञान आदि तीनों सम्यग्ज्ञान एवं मत्यज्ञानादि तीनों मिथ्याज्ञानोंकी पदार्थोंके ग्रहण करनेमें जब अव्यभिचारीरूपसे समानता है तब मति- ज्ञान आदि तीनों ज्ञान मिथ्याज्ञान नहीं हो सकते इसलिए 'मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च' इस सूत्रसे जो उन्हें मिथ्याज्ञान बतलाया है वह ठीक नहीं। इस बातका समाधान सूत्रकार देते हैं—

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३२ ॥

उन्मत्त पुरुषके समान सत् असत्रूप पदार्थोंके विशेषका ज्ञान न होनेके कारण स्वेच्छारूप यद्वा तद्वा जाननेके कारण मति आदि तीन मिथ्याज्ञान हैं। अर्थात्-जिसप्रकार शराबी पुरुष भार्याको माता और माताको भार्या समझता है यह उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान है परन्तु किसी समय वह भार्याको भार्या और माताको माता कहता है तो भी उसका वह जानना सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता क्योंकि उसे भार्या और माताके भेदका यथार्थ ज्ञान नहीं उसीप्रकार मिथ्यादर्शनके उदयसे सत और असत् पदार्थका यथार्थ ज्ञान न होनेके कारण कुमति कुश्रुत और कुअवधिज्ञान भी मिथ्याज्ञान हैं।

सच्छब्दस्यानेकार्थसंभवे विवक्षातः प्रशंसार्थग्रहणं ॥ १ ॥

ऊपर 'सत' शब्दके अनेक अर्थ बतला आए हैं उनमें यहांपर प्रशंसार्थक सत् शब्दका ग्रहण है अर्थात् सत् शब्दका अर्थ प्रशस्त ज्ञान है और असत्का अप्रशस्त ज्ञान है। जिस तरह उन्माद दोषसे इंद्रिय और बुद्धिके विक्षिप्त हो जानेसे उन्मत्त पुरुषको विपरीत रूपसे पदार्थ भासमान होने लगते हैं इसलिए गाय और घोडाके भेदका वा लोहा और सोनाके भेदका यथार्थ ज्ञान न होनेके कारण स्वेच्छा-

रूप यद्वा तद्वा जानकर वह गायको घोडा वा घोडाको गाय समझ लेता है अथवा लोहेको सोना और और सोनेको लोहा समझ लेता है तथा कभी कभी गायको गाय और घोडेको घोडा भी कह देता है इसी तरह लोहेको लोहा और सोने को सोना भी कह देता है परंतु कौन गाय है कौन घोडा है? कौन लोहा है कौन सोना है इसप्रकारका विशेष ज्ञान न होनेके कारण उसका अज्ञान ही समझा जाता है उसी प्रकार मिथ्यादर्शनके उदयसे इंद्रियज्ञानके विपरीत हो जानेके कारण मति श्रुत और अवधिसे भी विपरीतरूपसे पदार्थ भासने लगते हैं उससमय भी सत असत्का कुछ भी विवेक नहीं रहता इसलिये मति आदि तीनों ज्ञान कुमति आदि स्वरूप परिणत हो जाते हैं।

भवत्यर्थग्रहणं वा ॥ २ ॥

अथवा सत् शब्दका अर्थ विद्यमान भी होता है इसलिये सूत्रमें जो सत् असत् शब्द हैं उनमें सतका अर्थ विद्यमान और असत्का अर्थ अविद्यमान है इसरीतिसे उन्मत्त पुरुषके समान स्वेच्छापूर्वक यद्वा तद्वा जाननेसे विद्यमान रूप आदिको अविद्यमान, अविद्यमान रूपादिको विद्यमान एवं कभी कभी विद्यमान रूपादिको विद्यमान और अविद्यमानोंको अविद्यमान रूपसे जहांपर मति आदिके द्वारा ज्ञान होता है वहां विद्यमान अविद्यमानपनेका कुछ भी भेदज्ञान न होनेसे मति आदि मिथ्याज्ञान हैं। पदार्थोंका विपरीतरूपसे ग्रहण कैसे होता है? इसवातको वार्तिककार वतलाते हैं—

प्रवादिपरिकल्पनाभेदाद् विपर्ययगृहः ॥ ३ ॥

प्रवादियोंकी कल्पनाओंके भेदसे पदार्थोंका विपरीत रूपसे ग्रहण होता है क्योंकि किन्हीं वादियोंका मत है कि एक मात्र द्रव्य ही पदार्थ है रूप आदि कोई पदार्थ नहीं। दूसरे मानते हैं—संसारमें रूप रस

आदि ही पदार्थ हैं द्रव्य कोई जुदा पदार्थ नहीं। अनेक वादियोंका सिद्धांत है कि द्रव्य पदार्थ भिन्न है और रूप आदि पदार्थ भिन्न हैं। जो द्रव्य पदार्थको ही मानते हैं रूप आदिको स्वीकार नहीं करते उनके मतमें विपरीत रूपसे ग्रहण इस प्रकार है—

जिन वादियोंका यह सिद्धांत है कि संसारमें एकमात्र द्रव्य ही पदार्थ है रूप रस आदि कोई भी भिन्न पदार्थ नहीं उनके मतमें द्रव्य पदार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि गुणवान पदार्थको द्रव्य माना है और वे गुण रूप आदिक हैं। यदि रूप आदि गुणोंका ही अभाव माना जायगा तब लक्षण-गुणोंके अभावसे लक्ष्य द्रव्यकी सिद्धि न हो सकेगी। तथा द्रव्यमें रूप आदि गुणोंका सद्भाव माननेसे भिन्न भिन्न इंद्रियोंसे उस द्रव्यका भिन्न भिन्न रूप आदिके साथ सन्निकर्ष होता है किसी एक इंद्रियसे सब ओरसे द्रव्यका सन्निकर्ष नहीं होता अब वादीके मतानुसार रूप आदि कोई भी पदार्थ न होनेसे द्रव्यमें रूप आदि गुणोंका सद्भाव तो माना नहीं जायगा तब जिस किसी इंद्रियसे द्रव्यका सन्निकर्ष होगा वह सब ओरसे होने लगेगा फिर एक ही इंद्रिय सकल रूपसे द्रव्यकी ग्राहक कहनी पडेगी। इतना ही नहीं जब एक ही इंद्रिय सकल रूपसे द्रव्यकी ग्राहक हो जायगी तब जुदीं जुदीं पांच इंद्रियां मानना व्यर्थ है क्योंकि जब रूप रस आदि जुदे जुदे पदार्थोंका द्रव्यमें सद्भाव माना जाय तब तो जुदे जुदे रूप रस आदिका ग्रहण करनेके लिए पांच प्रकारकी इंद्रियां मानी जांय किंतु वादी सिवाय द्रव्यके रूप आदि पदार्थोंको मानता नहीं इसलिए उसके मतानुसार एक ही इंद्रियसे द्रव्यका सर्वात्मना—सकल रूपसे ज्ञान हो जायगा पांच इंद्रियोंका मानना निरर्थक है। परंतु इंद्रियोंके पांच भेद नहीं हैं वा एक ही इंद्रियसे सर्वात्मना द्रव्यका ज्ञान हो सकता है यह बात देखी नहीं गई और विरुद्ध होनेसे इष्ट भी नहीं

मानी जा सकती इसलिए 'एकमात्र द्रव्य ही पदार्थ है रूप आदि पदार्थ नहीं 'यह सिद्धांतबाधित है इस रीतिसे जो वादी एकमात्र द्रव्यहीको पदार्थ मानता है उसका वस्तुस्वरूपसे विपरीत मानना है।

कोई वादी मानते हैं कि रूप आदि गुण ही पदार्थ हैं, द्रव्य नामका कोई भी संसारमें पदार्थ नहीं। सो भी ठीक नहीं क्योंकि गुण पदार्थ किसी अन्य पदार्थके आश्रय रहता है यह नियम है। रूप आदि गुणोंका आधार द्रव्य माना है। यदि रूप आदिको ही पदार्थ माना जायगा और द्रव्य पदार्थ न माना जायगा तो आधारके अभावमें रूप आदिका भी अभाव हो जायगा और भी यह बात है कि केवल रूप आदि पदार्थोंको ही मानने वाला वादी उन्हें आपसमें भिन्न भिन्न मानता है यदि उन सबका समुदाय माना जायगा तो वह द्रव्य ही होगा क्योंकि समुदाय पदार्थ एक-द्रव्य पदार्थसे जुदा नहीं परंतु वे जुदे जुदे रूप आदि पदार्थ और समुदाय भी आपसमें भिन्न भिन्न पदार्थ हैं इसलिए सबका ही अभाव हो जायगा क्योंकि रूप आदिसे भिन्न समुदाय पदार्थ और समुदाय पदार्थसे भिन्न रूप आदि पदार्थ कभी भी जुदे जुदे देखे सुने नहीं गए। इसलिए 'एकमात्र रूप आदि ही संसारमें पदार्थ हैं' यह बात बाधित है इसरीतिसे जो वादी द्रव्यको पदार्थ न मानकर केवल रूप आदिको ही पदार्थ मानता है उसका भी वस्तुस्वरूपसे विपरीत मानना है।

नैयायिक आदि वादी द्रव्य और रूप आदि दोनों प्रकारके पदार्थोंका मानते हैं और उनका सिद्धांत है कि द्रव्य पदार्थ भिन्न है और रूप आदि पदार्थ भिन्न हैं उनका मानना भी ठीक नहीं क्योंकि रूप आदि गुणोंको द्रव्यका लक्षण माना है और लक्षण, लक्ष्यका स्वरूप होता है। यदि द्रव्य और रूप आदिको आपसमें सर्वथा भिन्न माना जायगा तो द्रव्य और रूप आदिका आपसमें लक्ष्य लक्षण

भाव न बन सकेगा। यदि यहांपर यह उत्तर दिया जाय कि दंड और दंडी पुरुष आपसमें सर्वथा भिन्न हैं तो भी उनका आपसमें लक्ष्य लक्षण भाव है—दंड लक्षणसे तत्काल दंडीका ज्ञान हो जाता है उसीप्रकार द्रव्य और रूप आदिका आपसमें भेद रहने पर भी रूप आदि द्रव्यके लक्षण हो सकते हैं कोई दोष नहीं ? सो ठीक नहीं जो पदार्थ भिन्न भिन्न सिद्ध हों उनका लक्ष्य लक्षणभाव तो भिन्न भिन्न सिद्ध हो सकता है किंतु जो पदार्थ ही नहीं उनका कभी लक्ष्य लक्षण भाव नहीं हो सकता। दंड और दंडी दोनों पदार्थ पृथक् पृथक् सिद्ध हैं इसलिये उन दोनोंका लक्ष्य लक्षण भाव ठीक है द्रव्य और रूप आदि पदार्थ पृथक् पृथक् सिद्ध नहीं इसलिये सर्वथा भेद मानने पर उन दोनोंका आपसमें लक्ष्य लक्षण भाव नहीं बन सकता। इसलिये दंड एवं दंडी द्रव्य एवं रूप आदिमें विषमता होनेसे दंड दंडीके समान द्रव्य और रूपादिमें आपसमें लक्ष्य लक्षण भाव नहीं हो सकता और भी यह बात है कि जो वादी द्रव्य और गुणोंका सर्वथा भेद मानता है उसने रूप आदि गुणोंको अमूर्त माना है यदि रूप आदिको द्रव्यसे सर्वथा भिन्न ही माना जायगा तो अमूर्त होनेके कारण इंद्रियां उन्हें विषय न कर सकेंगी फिर उनका ज्ञान ही न हो सकेगा। यदि यहांपर यह कहा जाय कि यद्यपि रूप आदिसे द्रव्य पदार्थ सर्वथा भिन्न है तो भी रूप आदिके ज्ञान करानेमें वह कारण हो जायगा इसलिए इंद्रियोंसे रूप आदि पदार्थोंका ज्ञान हो सकेगा। सो भी ठीक नहीं, जो पदार्थ सर्वथा भिन्न है वह कारण नहीं हो सकता। नैयायिक आदि वादी रूप आदि पदार्थोंसे द्रव्य पदार्थको सर्वथा भिन्न मानते हैं इसलिए वह रूप आदिके ज्ञान करानेमें कारण नहीं हो सकता।

रीतिसे जो वादी द्रव्य और गुणोंका सर्वथा आपसमें भेद मानता है उसका भी वैसा मानना वस्तुसे विपरीत है। और भी यह बात है—

मूलकारणविप्रतिपत्तेः ॥ ४ ॥

बहुतसे वादियोंका घट और रूप आदिके मूल कारणोंमें विवाद है घट आदि पदार्थोंकी उत्पत्तिके कारणोंकी वे भिन्न भिन्न रूपसे कल्पना करते हैं। उनमें सांख्यसिद्धांतकारोंका यह कहना है—

प्रकृतिसे महत्तत्वकी उत्पत्ति होती है। महत्तत्वसे अहंकारकी, उससे अहंकार रूप आदि पंच तन्मात्राओंकी, पंच तन्मात्राओंसे ग्यारह[1] प्रकारके इंद्रियोंकी, इंद्रियोंसे पृथ्वी आदि महाभूतोंकी और महाभूतोंसे मृत्पिंड आदिकी इत्यादि क्रमसे घट पट आदि विश्वरूप संसारकी उत्पत्ति होती है परंतु उनका वैसा कहना ठीक नहीं क्योंकि सांख्य सिद्धांतकारोंने प्रकृति पदार्थको अमूर्तिक निरवयव क्रिया-रहित अतींद्रिय अनंत और अपरप्रयोज्य—स्वाधीन माना है एवं घट पदार्थ मूर्तिक सावयव क्रियासहित इंद्रियोंका विषय सांत आदि है। इसलिए प्रकृतिके स्वभावसे अत्यंत विलक्षण रहनेके कारण घट, प्रकृतिका कार्य नहीं हो सकता। क्योंकि अमूर्तिक आदि स्वभावके धारक कारणसे अत्यंत विलक्षण मूर्तिक स्वभाववाले कार्यकी कभी भी उत्पत्ति नहीं देखी गई। तथा जो पदार्थ किसी कार्यके करनेके लिए परसे प्रेरित रहता है वही अभिप्रायपूर्वक कार्योंको उत्पन्न कर सकता है किंतु जो परसे प्रेरित नहीं है वह वैसा नहीं कर सकता। प्रकृति पदार्थ किसी भी पर पदार्थसे प्रेरित होकर कार्य नहीं करता इसलिए अभिप्रायरहित होनेके कारण वह अभिप्राय पूर्वक घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति नहीं कर सकता इस रीतिसे अमूर्तिक आदि विशेषण विशिष्ट प्रकृतिसे घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति बाधित

१—स्पर्शन रसना आदि बुद्धींद्रिय और पाणिपाद आदि ५ कर्मेंद्रिय और मन मिलाकर ग्यारह इंद्रियां सांख्य मतमें मानी गई हैं।

है यदि यहांपर यह कहा जाय कि पुरुषक द्वारा प्रेरित हुई प्रकृति महत्तत्व आदि कार्योंके करनेमें समर्थ है इसलिए प्रकृतिसे घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति हो सकती है कोई दोष नहीं? सो भी अयुक्त है जो पदार्थ क्रियारहित-निष्क्रिय होता है वह अन्य पदार्थको प्रेरणा नहीं कर सकता। पुरुषको सांख्यमतमें निष्क्रिय माना गया है इसलिए महत्तत्व आदि कार्योंकी सृष्टिकेलिए वह प्रकृतिको प्रेरणा नहीं कर सकता। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि प्रकृति ही महत्तत्व आदिकी सृष्टिकेलिए अपनेको प्रेरणा करलेगी इसलिए प्रकृतिसे महत्तत्व घट पट आदिकी उत्पत्ति निर्बाध रूपसे हो सकती है कोई दोष नहीं। सो भी अयुक्त है। प्रकृति पदार्थको भी निष्क्रिय माना है इसलिए गमन करनेमें असमर्थ लंगडा पुरुष जिसप्रकार अपनेको ही पकडकर उठकर चलता हुआ नहीं देखा जाता उसीप्रकार स्वयं प्रेरणा आदि क्रियारहित प्रकृति स्वयं अपनेको महत्तत्व आदिकी सिद्धिकेलिए प्रेरणा नहीं कर सकती इसलिए प्रकृतिसे महत्तत्व आदिकी सृष्टि बाधित है। और भी यह बात है कि—

विना प्रयोजन कोई भी किसी कार्यको नहीं करता यह संसार प्रसिद्ध बात है। प्रकृति पदार्थको महदादि पदार्थोंकी सृष्टिसे कोई प्रयोजन नहीं इसलिये उसके द्वारा महदादि सृष्टिका होना युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। यदि यहां पर यह कहा जाय कि महदादि वा घट पट आदि सृष्टिका भोगनेवाला पुरुष है इसलिये पुरुषका भोगरूप प्रयोजनका लक्ष्यकर प्रकृतिके द्वारा महदादि सृष्टिका होना निष्प्रयोजन नहीं। सो भी ठीक नहीं? जो भी कार्य किया जाता है अपने प्रयोजनकेलिये किया जाता है। पुरुषका भोगरूप प्रयोजन प्रकृतिका निज प्रयोजन नहीं इसलिये पुरुषके भोगरूप परप्रयोजनके लिए प्रकृति, महदादि सृष्टिका निर्माण नहीं कर सकती। तथा सृष्टिका भोग पुरुष करता है यह बात

भी अयुक्त है क्योंकि जो पदार्थ नित्य और व्यापक होता है उसका कैसा भी परिणमन नहीं हो सकता। सांख्यसिद्धांतकारोंने आत्माको नित्य और व्यापक माना है इसलिये उसका भोग परिणाम नहीं हो सकता तथा और भी यह बात है कि–

जिस पुरुषको भात खानेकी इच्छा रहती है, भातके बनानेकी क्या क्या क्रियायें हैं ? उसके खानेसे क्या फल प्राप्त होता है ? उसके कौन कौन कारण हैं ? इस बातका जानकार है और चेतन है वही 'चैत्र नामका' पुरुष बनानेकेलिये अग्नि जलाना आदि कार्यका करनेवाला देखा जाता है, अचेतन पदार्थ नहीं। सांख्यसिद्धांतकारोंने प्रकृति पदार्थको चेतन माना नहीं, अचेतन माना है इसलिये उससे महदादि वा घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि यहां पर यह कहा जाय कि प्रकृतिसे महान, महानसे अहंकार इत्यादि जो क्रमसे सृष्टिका विधान है उस क्रमकी आयोजना करनेवाला पुरुष है इसलिये जब उस क्रमकी आयोजना करनेवाला चेतन पुरुष है तब प्रकृतिसे महदादि सृष्टिके होनेमें कोई बाधा नहीं हो सकती। सो ठीक नहीं। पुरुष निष्क्रिय पदार्थ है यह पहिले कहा जा चुका है इस-लिए उसके द्वारा महदादि सृष्टिकी क्रमवार आयोजनारूप क्रिया नहीं हो सकती। इसरीतिसे घट आदि विश्वरूप जगतकी उत्पत्तिमें प्रकृतिको मूलकारण मानना सांख्योंका वस्तुस्वरूपसे विपरीत है। तथा–

अदृष्ट–शुभ अशुभ आदि कर्मोंके संनिधान रहने पर पृथिवी आदि जातिके प्रातिनियत परमाणु जिससमय आपसमें मिल जाते हैं उससमय उन मिले हुए परमाणुओंसे पदार्थांतर भूत–सर्वथा भिन्न घट पट आदि पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है ऐसा भी बहुतसे वादिओंका सिद्धांत है; परंतु वह भी ठीक नहीं। क्योंकि जो पदार्थ सर्वथा नित्य होता है वह किसी भी कार्यको उत्पन्न नहीं कर सकता जिसतरह

परमतके अनुसार आकाश आदि कार्य सर्वथा नित्य माने गये हैं इसलिये उनसे किसी भी कार्यकी उत्पत्ति नहीं मानी। परमाणु पदार्थको भी वादी नित्य मानता है इसलिए घट पट आदि पदार्थोंकी उससे उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि हठात् परमाणुओंसे घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति मानी जायगी तो उन्हें नित्य न मानना होगा क्योंकि सर्वथा नित्य पदार्थ कार्यका उत्पादक नहीं हो सकता। तथा 'प्रतिनियत पृथिवी आदि परमाणुओंसे सर्वथा भिन्न घट आदि कार्योंकी उत्पत्ति होती है' यह बात भी युक्तिबाधित है क्योंकि कारणसे सर्वथा भिन्न कार्यकी कभी भी उत्पत्ति नहीं हो सकती किंतु कारणसे कथंचित् भिन्न ही कार्यकी उत्पत्ति होती है। यदि कारणसे सर्वथा भिन्न ही कार्य की उत्पत्ति मानी जायगी तो किसी किसी परमाणुके समूह रूप कारणमें सूक्ष्मता रहती है वही कार्यमें भी आती है इसलिये वहां पर इंद्रियोंसे प्रत्यक्षता नहीं होती परंतु अब जबकि कारणसे कार्य सर्वथा भिन्न माना जायगा तब परमाणुके समूह रूप कारणमें जो सूक्ष्मता है वह तो कार्यमें आवेगी नहीं फिर उस कार्यकी इंद्रियोंसे प्रत्यक्षता होनी चाहिये इसरीतिसे कार्माण जातिकी वर्गणाओंका नेत्रसे ज्ञान होना चाहिये। इसीतरह परमाणुओंके समूह रूप कारणमें जो महत्त्व (स्थूलत्व) है वह कार्य में आता है तब उसका इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष होता है। अब जबकि कारणसे सर्वथा भिन्न कार्य है तब कारणका धर्म—महत्त्व, कार्यमें आवेगा नहीं फिर परमाणुओंके समूहसे उत्पन्न होनेवाले घटादि कार्योंका प्रत्यक्ष न हो सकेगा। परंतु जहांपर कारणका धर्म सूक्ष्मता कार्यमें रहता है वहांपर इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष नहीं होता, एवं जहां कारणका धर्म—महत्त्व कार्यमें रहता है वहां पर इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष होता है यह बात वादीको इष्ट और अनुभव सिद्ध है इसलिये कारणसे कार्य भिन्न ही होता है यह कहना बाधित है किंतु कथंचित् भिन्नता ही मानना युक्त है।

'प्रतिनियत पृथिवी आदिके परमाणुओंके समूहसे अर्थांतर भूत घट आदि कार्योंकी उत्पत्ति होती है' यहां पर जो परमाणुओंकी जातिका नियम वतलाकर उनके समूहसे घट आदि कार्योंकी उत्पत्ति मानी है वह भी ठीक नहीं क्योंकि भिन्न भिन्न जातिके परमाणुओंसे भी घट आदि कार्योंकी उत्पत्ति होती है इसालिये कार्योंकी उत्पत्तिमें परमाणुओंकी जातिका नियम नहीं। यदि यहां पर यह कहा जाय कि जहां परमाणुओंकी जाति भिन्न भिन्न रहती है वहां पर उनसे केवल समुदायकी ही उत्पत्ति होती है किसी कार्यका आरंभ नहीं होता तो वहां पर यह समाधान है कि जिन तुल्य जातीय परमाणुओंसे वादी घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति इष्ट मानता है उनसे भी केवल समुदाय की उत्पत्ति होती है कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती इसरीतिसे अदृष्ट आदि कारणोंके रहते प्रतिनियत पृथिवी आदिके परमाणुओंके समूहसे अर्थांरभूत घट पट आदिकी उत्पत्ति होती है यह मानना युक्तियुक्त नहीं। यदि यहां पर यह कहा जायगा घट आदि कार्योंकी उत्पत्ति आत्मासे हो जायगी ? सो भी अयुक्त है। क्योंकि ऊपर कह दिया गया ,जो पदार्थ सर्वथा क्रियारहित-और नित्य होता है वह किसी भी कार्यको उत्पन्न नहीं कर सकता रमतमें आत्मा पदार्थ सर्वथा निष्क्रिय और नित्य है इसालिये उससे घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति हो सकती। यदि यह कहा जाय कि अदृष्ट गुणसे घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति होगी ? सो भी है। क्योंकि अदृष्ट गुणको भी निष्क्रिय माना है निष्क्रिय पदार्थसे किसी कार्यकी उत्पत्ति हो नहीं सकती इसलिये अदृष्ट गुण भी घट पट आदिको उत्पन्न नहीं कर सकता। इसरीतिसे जो वादी दृष्ट आदि गुणोंके सन्निधान रहने पर प्रतिनियत पृथिवी आदि के परमाणुसमूहसे वा आत्मा अथवा दृष्टसे घट पट आदिकी उत्पत्ति मानता है उसका भी वस्तुस्वरूपसे विपरीत मानना है।

बौद्धोंका सिद्धांत है कि वर्ण आदि परमाणुओंके समुदायस्वरूप रूप परमाणु यद्यपि अतींद्रिय हैं परंतु जिससमय एकत्र होकर उनका समुदाय हो जाता है उससमय वह समुदाय इंद्रियोंका विषय बन जाता है इसलिये इंद्रियोंके विषयरूप समुदायसे घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति होती है । सो ठीक नहीं । जब हरएक परमाणु अतींद्रिय है—इंद्रियजन्य प्रत्यक्षका विषय नहीं तब उससे अभिन्न घट पट आदि कार्य अतींद्रिय होंगे इसलिये उनका भी इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । तथा—जिन पदार्थोंका इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष है उनका जहांपर यथार्थ रूपसे ज्ञान होता है वहां पर प्रमाण और विपरीत रूपसे ज्ञान होता है वहां प्रमाणाभास इसप्रकार प्रमाण प्रमाणाभासका भेद माना गया है । यदि अतींद्रिय परमाणुओंसे घट पट आदिकी उत्पत्ति मानी जायगी तो उन घट आदिका इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष तो होगा नहीं फिर वादीने जो प्रमाण और प्रमाणाभासका भेद मान रक्खा है वह निरर्थक है । अर्थात् जब पदार्थोंमें इंद्रिय प्रत्यक्ष योग्यता ही नहीं है तब प्रमाण और प्रमाणाभास भेद भी ज्ञानके नहीं बन सकते तथा परमाणु समूहके इंद्रिय प्रत्यक्ष होनेसे जो घट पटादि कार्य अनुभवमें आते थे वे प्रत्यक्ष न होनेसे अनुभवमें नहीं आवेंगे वैसी अवस्थामें कार्यका अभाव होनेसे उनके कारण रूपसे संकलिपत किये गये परमाणु समुदायका भी अभाव समझा जायगा इसलिये घट पट आदिके अभावमें रूप परमाणुओंका भी अभाव कहना होगा और भी यह बात है कि—

बौद्ध लोग रूप परमाणुओंको क्षणिक—क्षणविनाशीक और निष्क्रिय मानते हैं । जो पदार्थ क्षण भरमें नष्ट हो जानेवाला और निष्क्रिय है उससे किसी पदार्थकी उत्पत्ति नहीं हो सकती इसलिए रूप परमाणुओंसे कभी घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । तथा जिन पदार्थोंकी सामर्थ्य

आपसमें भिन्न भिन्न होती है उनसे किसी भी पदार्थकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। बौद्ध लोग रूप परमाणुओंको सर्वथा भिन्न भिन्न मानते हैं। जो पदार्थ भिन्न भिन्न होते हैं, उनकी सामर्थ्य भी भिन्न ही रहती है इसलिए आपसमें रूपपरमाणुओंका संबंध न होनेके कारण उनमें घट पट आदि कार्योंके उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि रूपपरमाणुओंमें घट पट आदिकी उत्पत्तिकेलिए संबंध आत्मा उत्पन्न कर देगा इसलिए रूपपरमाणुओंसे घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति हो सकती है कोई दोष नहीं। सो भी अयुक्त है। क्योंकि क्षणिकवादी बौद्धोंके मतमें आत्मा पदार्थ सिद्ध हो ही नहीं सकता। जब आत्मा कोई पदार्थ नहीं तब रूपपरमाणुओंमें संबंध भी सिद्ध नहीं हो सकता। इस रीतिसे बौद्धोंका मानना भी वस्तुस्वरूपसे विपरीत है। यह प्रचलित और मुख्य मुख्य सिद्धांतोंकी अपेक्षा मूलकारणोंमें विपरीतता बतलाई है परंतु जिसतरह पित्तदोषके तीव्र उदयसे जिस पुरुषकी जीभका स्वाद बिगड गया है उसको मीठा भी कडवा लगता है उसीप्रकार मिथ्यादर्शनके उदयसे बहुतसे अन्य वादियोंने भी सत् पदार्थको असत् और असत्को सत् मान रक्खा है इसलिए वस्तुस्वरूपसे सर्वथा विरुद्ध होनेके कारण उनका भी उसप्रकारसे मानना विपरीत है। इसरीतिसे जब प्रवादियोंकी कल्पनाओंके भेदसे वा कार्योंके मूलकारणोंमें विवादसे जब विपर्ययपना सिद्ध है तब वादीने जो यह शंका की थी कि "जिसप्रकार मतिज्ञान आदि रूप आदि पदार्थोंको विषय करते हैं उसीप्रकार कुमति आदि भी विषय करते हैं फिर मिथ्यादृष्टिके मति आदि तीन ज्ञानोंको जो विपरीतज्ञान बतलाया है वह ठीक नहीं–उनमें विपरीतता किसी भी कारणसे नहीं हो सकती" उसका अच्छी तरह खंडन हो गया ॥ ३२॥

सम्यग्ज्ञानके लक्षण भेद और विषय आदिका वर्णन कर दिया गया उसके बाद क्रमप्राप्त चारित्र

है इसलिए उसका वर्णन करना चाहिए परंतु जहां मोक्ष और उसके कारणोंका वर्णन किया गया है वहां चारित्रका भी वर्णन किया गया है अतः चारित्रके वर्णनका क्रम उल्लंघनकर आवश्यक समझ नयोंका वर्णन किया जाता है। चारित्रका यहांपर वर्णन न कर मोक्षप्रकरणमें क्यों किया गया है इसका समाधान यह है कि समस्त कर्मोंका सर्वथा नाश चारित्रमे होता है और समस्त कर्मोंका सर्वथा नाशस्वरूप ही मोक्ष है इसलिए मोक्ष प्राप्तिमें चारित्र प्रधान कारण है क्योंकि व्युपरतक्रिया नामके शुक्लध्यान द्वारा आत्मा जिससमय अनुपम अचिंत्य बल प्राप्त कर लेता है उससमय वह समस्त कर्मोंको मूलसे नष्ट कर डालता है इसालिये जहांपर मोक्षके कारण और मोक्षके स्वरूपका उल्लेख है वहीं पर चारित्रका वर्णन किया गया है। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि जिससमय आत्मा क्षायिक सम्यक्त्व और केवल ज्ञानका धारक बन जाता है उससमय क्षायिक ज्ञान—केवलज्ञानके वाद ही समस्त कर्मोंका नाश होता है इसालिये क्षायिकज्ञान केवल ज्ञान भी जब समस्त कर्मोंके नाशमें कारण है तब चारित्रसे समस्त कर्मोंका नाश होता है यह कहना व्यर्थ है ? सो ठीक नहीं। समस्त कर्मोंका नाश चारित्र से ही होता है क्योंकि यदि क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक ज्ञान समस्त कर्मोंके नाशमें कारण माने जायेंगे तो केवलज्ञानकी उत्पत्तिके वाद ही समस्त कर्मोंका नाश होना चाहिये किंतु वैसा न होकर उन कर्मोंका सर्वथा नाश व्युपरतक्रियानिवृत्ति ध्यान के वाद ही होता है और उसे ही उत्तम चारित्र माना गया है क्योंकि "कर्मादानहेतुक्रियाव्युपरतिश्चारित्रमिति" जो क्रियायें कर्मोंके लानेमें कारण हैं उनका सर्वथा नष्ट हो जाना चारित्र है, अर्थात् व्युपरतक्रियानिवृत्ति चारित्रसे ही समस्त कर्मोंका नाश होता है इसरीतिसे क्षायिक सम्यक्त्व और ज्ञान कारण न होकर जब समस्त कर्मोंके सर्वथा नाशमें साक्षात् कारण चारित्र ही है तब जहांपर मोक्ष

और उसके कारणोंका उल्लेख है वहीं पर चारित्रका वर्णन उपयुक्त है। यदि यहां पर भी चारित्रका वर्णन किया जायगा और जहां पर मोक्ष और ज्ञानके कारणोंका वर्णन है वहां पर भी आवश्यक समझ चारित्रका वर्णन किया जायगा तब दो जगह उसके वर्णनमें ग्रंथ व्यर्थ वढ जायगा इसलिये यहां पर उसका वर्णन अधिक उपयोगी न होनेके कारण वहीं पर उसका वर्णन करना ठीक है। यदि यहांपर भी उसका वर्णन किया जायगा तो जीवादि पदार्थ भी विवेचनीय ठहरेंगे उनका विवेचन भी करना पडेगा।

मतिज्ञान आदिके भेदसे प्रमाणोंका वर्णन कर दिया गया। प्रमाणके एक देशको ग्रहण करनेवाले नय हैं अब उनके वर्णन करनेका क्रम प्राप्त है क्योंकि 'प्रमाणनयैरधिगमः" सूत्रकारके इस वचनसे प्रमाणके वर्णनके वाद नयोंके वर्णनका ही क्रम है इसलिये अब नयोंका वर्णन किया जाता है। सूत्रकार मुख्य मुख्य नयोंके नाम गिनाते हैं—

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः ॥ ३३ ॥

अर्थ—नैगम संग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र शब्द समभिरूढ और एवंभूत ये सात नय हैं।

वृत्ति—ऊपर कह दिया गया है कि शब्द संख्याते हैं इसलिये शब्दोंकी अपेक्षा नयोंके एक आदि संख्याते भेद हैं। यदि अत्यंत सूक्ष्मरूपसे नयोंका भेद बतलाया जाय तो उनके स्वरूपका अच्छीतरह ज्ञान नहीं हो सकता। यदि अत्यंत विस्तारसे उनके भेदोंका निरूपण किया जाय तो अल्पज्ञानी मनुष्य उलझनमें पड जांयगे इसलिये उनका उपकार नहीं हो सकता इसलिये हर एक मनुष्य सुलभतासे नयोंका स्वरूप समझ ले इस कारण सामान्यरूपसे सात भेद बतलाकर उनके स्वरूपका वर्णन किया गया है। यहां पर

नयोंके सामान्य और विशेष दोनों प्रकारके लक्षण बतलाना परमावश्यक है । उनमें सामान्य लक्षण इसप्रकार है—

प्रमाणप्रकाशितोऽर्थविशेषप्ररूपको नयः ॥ १ ॥

प्रकृष्ट, मान—ज्ञानको प्रमाण कहते हैं । वह एक धर्मके द्वारा पदार्थके समस्त धर्मोंको जान लेता है इसलिये सकलको जाननेके कारण उसका अर्थ सकलादेश है । प्रमाणके द्वारा प्रकाशित, अस्तित्व नास्तित्व नित्यत्व अनित्यत्व आदि अनंत धर्मस्वरूप जीव अजीव आदि पदार्थोंके पर्यायोंका जो विशेष रूपसे निरूपण करनेवाला है उसको नय कहते हैं । प्रमाणप्रकाशितोऽर्थेत्यादि नयके लक्षणमें जो 'प्रमाणप्रकाशित' पदका उल्लेख है उसका यह तात्पर्य है कि जो पदार्थ प्रमाणके द्वारा प्रकाशित है उन्हींके पर्यायोंका विशेषरूपसे प्ररूपण करनेवाला नय है किंतु जिन पदार्थोंका प्रकाश प्रमाणाभाससे है उनके पर्यायोंका विशेषरूपसे प्रकाशक नय नहीं । तथा उक्त नयके लक्षणमें रूपक शब्दकी जगह जो प्ररूपक

१ एकधर्मबोधनमुखेन तदात्मकानेकाशेषधर्मात्मकवस्तुविषयकबोधजनकवाक्यत्वं सकलादेशः । वस्तुके किसी एक धर्मके जान लेनेसे उसके द्वारा शेष अनेक धर्मस्वरूप वस्तुको सकलतासे जान लेना सकलादेश है। सप्तभंगीतरंगिणी पृष्ठ १९ । अन्यत्र भी सकलादेशका यह लक्षण किया गया है—'एकगुणमुखेनाशेषवस्तुरूपसंग्रहात्सकलादेशः' अर्थात् वस्तुके एक धर्मके द्वारा उस वस्तुमें रहनेवाले शेष समस्त धर्मोंका ग्रहण—जान लेना सकलादेश है। एक धर्मके उल्लेखसे वस्तुके समस्त धर्मोंका जो ज्ञान होता है उसमें अभेदवृत्ति और अभेदोपचार कारण हैं वहां पर द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा अभेदवृत्ति है क्योंकि द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा कोई धर्म जुदा नहीं सब द्रव्यस्वरूप हैं और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अभेदोपचार है क्योंकि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा परस्पर धर्मोंका भेद रहने पर भी वहां एकत्वका आरोप है।

शब्दका उल्लेख किया है उसका तात्पर्य यह है कि प्रमाणप्रकाशित अनंतधर्मस्वरूप पदार्थोंकी पर्यायोंका जो नयोंसे प्ररूपण है वह निर्दोषरूपसे है अर्थात् नयोंके द्वारा निरूपण किये गये पदार्थमें किसी प्रकारके संशय आदि दोषकी संभावना नहीं रहती। इस रूपसे यह नयका सामान्य लक्षण निर्दोष है।

नयोंके द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक ये दो मूल भेद हैं। जहां पर द्रव्य है ऐसी बुद्धि है वह द्रव्यास्तिक है। यह नय केवल द्रव्यका ही विषय करता है। पदार्थोंके विकार—पर्याय, और अभावको विषय नहीं करता क्योंकि द्रव्यसे अन्य पर्याय और अभाव कोई पदार्थ नहीं। तथा पर्याय है यह जहां पर बुद्धि है वह पर्यायास्तिक है। यह नय केवल जन्म मरण आदि पर्यायोंको ही विषय करता है द्रव्यको नहीं क्योंकि पर्यायोंसे भिन्न कोई द्रव्य पदार्थ नहीं। अथवा जिस नयका अर्थ द्रव्य ही हो, द्रव्यस्वरूप ही होनेके कारण गुण कर्म न हो वह द्रव्यार्थिक है और जिस नयका रूप आदि गुण और उत्क्षेपण आदि कर्म ही अर्थ हो 'पर्यायोंसे भिन्न द्रव्य कोई पदार्थ नहीं इसलिये द्रव्य अर्थ न हो' वह पर्यायार्थिक है। अथवा 'अर्यते गम्यते निष्पाद्यते' जो बनाया जाय, वह अर्थ है इसलिये वह कार्य है और जो 'द्रवति गच्छति इति द्रव्यं' जो प्राप्त करै वह द्रव्य है, यह कारण है। जहां पर द्रव्य ही अर्थ हो अर्थात् कारण ही कार्य हो—कारण और कार्य दोनों एक ही हों भिन्न न हों वह द्रव्यार्थिक है। "यहां पर यह शंका न करनी चाहिये कि कारण और कार्यके आकारमें भेद है इसलिये वे एक नहीं हो सकते क्योंकि जिसप्रकार अंगुलि और उसके पर्व—गांठ दोनों अंगुलिस्वरूप ही हैं अंगुलिसे भिन्न नहीं उसीप्रकार कारण और कार्य दोनों एक स्वरूप हैं, भिन्न नहीं।" तथा जिसकी चारो ओरसे उत्पत्ति हो वह पर्याय है। जिसका अर्थ पर्याय ही हो द्रव्य न हो वह पर्यायार्थिक नय है क्योंकि अतीतकालका द्रव्य विनष्ट

हो चुका और आगामी कालका द्रव्य अभी उत्पन्न नहीं अतः उसका व्यवहार नहीं हो सकता इस लिये कारण और कार्य दोनों नामोंको धारण करनेवाले उस वर्तमान कालीन पर्याय हीको पर्यायार्थिक नय विषय कर सकता है। द्रव्यको नहीं। अथवा 'अर्थनं: अर्थः–प्रयोजनं' अर्थ शब्दका अर्थ प्रयोजन है जिस नयका प्रयोजन द्रव्य ही हो वह द्रव्यार्थिक नय है क्योंकि संसारमें जो द्रव्यकी प्रतीति होती है, जो नाम है एवं द्रव्यके अनुकूल प्रवृत्ति रूप चिह्न हैं उनका लोप नहीं हो सकता। अर्थात् द्रव्यका ज्ञान, द्रव्य संज्ञा और द्रव्यमें प्रवृत्ति इन चिन्होंसे देखे जानेवाले द्रव्यका अपलाप–अभाव नहीं कहा जा सक्ता। तथा जिस नयका प्रयोजन पर्याय ही हो वह पर्यायार्थिक नय है क्योंकि केवल पर्यायको विषय करने के कारण शब्द और ज्ञानकी निवृत्ति और प्रवृत्तिके आधीन जो व्यवहार है उसकी प्रसिद्धि है अर्थात् मृत पिंडसे घट पर्यायकी उत्पत्ति होती है इसलिये मृत पिंड रूप शब्द और उसके ज्ञानकी निवृत्ति एवं घट शब्द और उसके ज्ञानकी प्रवृत्तिरूप जो व्यवहार है वह होता है। यदि पर्यायको विषय करने वाला पर्यायार्थिक नय न हो तो संसारसे घट पट मठ पुत्र पिता आदि व्यवहारोंका लोप ही हो जाय। इस प्रकार यह द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके भेदसे जो दो नयोंके मूल भेद कहे थे उनका विवेचन हो चुका। नैगम आदि जो सात प्रकारके नय ऊपर कहे गये हैं वे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके ही भेद हैं। अब नैगम आदिके विशेष लक्षणोंका वर्णन किया जाता है–

अर्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः[1] ॥ २ ॥

नि उपसर्गपूर्वक गम् धातुसे अच् प्रत्यय करने पर निगम शब्द बना है और निगम शब्दसे कुशल

१ अनभिनिर्वृत्तार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः। सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ७८।

वा भव अर्थमें अण् प्रत्यय करने पर नैगम शब्दकी सिद्धि हुई है। "निगच्छंत्यस्मिन्निति निगमनमात्रं वा निगमः, निगमे कुशलो भवो वा नैगमः" पदार्थ जिसमें आकर प्राप्त हों वा जो प्राप्त होनामात्र हो उसका नाम निगम है और निगममें जो कुशल हो वा होनेवाला हो वह नैगम है। यहां पर निगम शब्दका अर्थ संकल्प है। इसलिए जो संकल्पमें कुशल होनेवाला हो वह नैगम शब्दका अर्थ है तथा जो पदार्थ वर्तमानमें तयार नहीं है तो भी उसके विषयमें यह संकल्प कर लेना कि वह वर्तमानमें मौजूद है ऐसे संकल्पित अर्थका ग्रहण करनेवाला नैगम नय है प्रस्थ इंद्र गृह गमी आदि स्थलों पर अर्थके संकल्प मात्रका ग्रहण करना ही उस नैगम नयका व्यापार है और वह इस प्रकार है—[1]

हाथमें[2] फरसा लिये किसी पुरुषको पूछा—भाई कहां जाते हो ? उत्तरमें उसने कहा कि—मैं प्रस्थ (एक सेर वजनवाला काष्ठपात्र) लेने जा रहा हूं। यद्यपि काष्ठकी सेर पर्याय अभी तैयार नहीं किंतु जब काष्ठ लावेगा तब उसका सेर बनेगा तथापि लाये जानेवाले काष्ठसे सेर बनानेका संकल्प है इसलिये नैगम नय की अपेक्षा मैं प्रस्थ—काठका बना सेर, लेने जा रहा हूं यह वचन बाधित नहीं। इसी प्रकार एक मनुष्य काष्ठसे इंद्रकी प्रतिमा बनाना चाहता है अभी वह केवल इंद्रकी प्रतिमा बनानेकी योजना कर रहा है यदि उससे पूछा जाता है कि भाई ! क्या कर रहे हो ? तो उत्तर मिलता है कि मैं इंद्र बना रहा हूं। यद्यपि अभी इंद्रकी प्रतिमा तयारी नहीं है किंतु इंद्रके बनानेका संकल्प है तो भी 'मैं

---

१ संकल्पो निगमस्तत्र भवोऽयं तत्प्रयोजनः। तथा प्रस्थादिसंकल्पस्तदभिप्राय इष्यते ॥ १८ ॥ श्लोकवार्तिक पृष्ठ २६९।

२ कंचित्पुरुषं परिगृहीतपरशुं गच्छंतमवलोक्य कश्चित् पृच्छतीति किमर्थं भवान् गच्छतीति ? स आह प्रस्थमानेतुमिति नासौ तदा प्रस्थपर्यायः सन्निहितः, तदभिनिर्वृत्तये संकल्पमात्रे प्रस्थव्यवहारः। सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ७८।

इंद्र बना रहा हूं' यह वचन नैगम नयकी अपेक्षा बाधित नहीं। इसी प्रकार एक मनुष्य ईंट चूना काठ आदि घरके तयार करनेकी सामग्रीको एकत्र करनेमें संलग्न है यदि उससे पूछा जाता है कि भाई! तुम क्या कर रहे हो? उत्तर मिलता है, घर बना रहा हूं। यद्यपि घर पर्याय अभी निष्पन्न नहीं तथापि उसके बनानेका संकल्प होनेसे 'मैं घर बना रहा हूं' यह वचन नैगम नयकी अपेक्षा बाधित नहीं। इसी प्रकार बहुतसे मनुष्य एक जगह खडे हैं। उनमें किसीने पूछा—भाई! अमुक स्थानपर कौन मनुष्य जा रहा है। उनमेंसे एक मनुष्य जो अभी तक खडा है उत्तर देता है—'मैं जा रहा हूं वहां पर यद्यपि गमन क्रियामें प्रवृत्त नहीं है तथापि नैगम नयकी अपेक्षा उसका 'मै जारहा हूं' यह वचन बाधित नहीं। क्योंकि संसारमें वैसा व्यवहार होता है। समझानेके लिये यहां कुछ इन दृष्टांतोंका उल्लेख किया गया है और भी अनेक दृष्टांत नैगम नयके विषय हैं।

विशेष—एक पुरुष जल लकडी आदि ओदनकी सामग्रीको एकत्र करनेमें लगा हुआ है। जिससमय उससे पूछा जाता है कि भाई क्या कर रहे हो? उत्तर मिलता है—भात पकाता हूं, यद्यपि भात पर्याय अभी निष्पन्न नहीं है किंतु उसके लिये व्यापार किया जारहा है तो भी वैसा संसारमें व्यवहार होनेसे नैगम नयकी अपेक्षा मैं भात पकाता हूं। यह बचन बाधित नहीं। इस दृष्टांतका सर्वार्थसिद्धिमें विशेष रूपसे उल्लेख है।

वार्तिकालंकारकारने जितने भी यहां नैगम नयके विषय दृष्टांत दिये हैं वे सब भविष्यत् काल

---

१ तथा एधोदकाद्याहरणे व्याप्रियमाणं कश्चित् पृच्छति किं करोति भवानिति ? स आह—ओदनम् पचामीति तदोदनपर्यायः सन्निहितः। सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ७८।

की अपेक्षासे हैं परंतु भूत और वर्तमान कालकी अपेक्षा भी समझ लेने चाहिये । जिसतरह "अद्य दीपोत्सवदिने श्रीवर्धमानस्वामी मोक्षं गतः" आज दिवालीके दिन श्रीवर्धमान भगवान मोक्ष पधारे । यहां पर यद्यपि भगवानको मोक्ष गये हजारों वर्ष हो चुके परंतु संसारमें वैसा व्यवहार होता है इसलिये नैगम नयकी अपेक्षा वैसा वचन बाधित नहीं किंतु नैगम नयकी अपेक्षा ठीक समझा जाता है । इसी तरह जो कार्य वर्तमानमें हाथमें करनेकेलिये ले लिया है उसे पूर्ण न होने पर भी पूर्ण कह देना यद्यपि विरुद्ध जान पडता है तथापि संसारमें वैसा व्यवहार है इसलिये नैगम नयकी अपेक्षा वैसा कथन बाधित नहीं । इसलिये नैगम नयके भूत नैगम, भावी नैगम, और वर्तमान नैगम ये तीन भेद माने हैं । जो विषय ऊपर नैगम नयका बताया है यदि वह वर्तमानमें पूर्णतया उपस्थित हो तो वह उसका (नैगम नयका) विषय नहीं हो सकता । शंका—

भाविसंज्ञाव्यवहार इति चेन्न भूतद्रव्यासन्निधानात् ॥ ३ ॥

जो पदार्थ पहिले हो चुका उसको वर्तमानमें मानना भूत संज्ञा व्यवहार कहा जाता है । जो आगे जाकर होनेवाला है उसे वर्तमानमें मानना भावी संज्ञाका व्यवहार है और वर्तमान कालका ही पदार्थ जो अभी पूरा नहीं हुआ है—हो रहा है उसको पूरा कहना वर्तमान संज्ञा व्यवहार है । नैगम नयके जितने भी ऊपर दृष्टांत दिये हैं वे सब भावी संज्ञा व्यवहार हैं क्योंकि प्रस्थ आदि आगे होनेवाले पदार्थों को वर्तमानमें माना गया है इसलिये वे भावी संज्ञा व्यवहार हैं नैगमके विषय नहीं हो सकते ? सो ठीक नहीं । जो पुरुष वर्तमानमें राजकुमार है वह आगे जाकर राजा होगा इसलिये वहांपर भावि संज्ञा व्यवहार होता है । जो वर्तमानमें कच्चे चावल हैं वे आगे जाकर भात कहे जाते हैं इसलिये वहां भाविसंज्ञा

व्यवहार है इसरीतिसे जहांपर भूतकालके पदार्थका संबंध है वहीं पर भावि संज्ञा व्यवहारकी प्रवृत्ति है किंतु जहांपर भूत कालके पदार्थके साथ संबंध नहीं वहां पर भावि संज्ञाव्यवहार नहीं होता । नैगम नयका जो विषय वतलाया है उसमें भूत पदार्थके साथ संबंधकी कोई अपेक्षा नहीं है किंतु वहां तो आगे होनेवाले कार्यको देखकर संकल्प मात्रका ग्रहण है इसलिये नैगम नयका विषय भावि संज्ञा व्यवहार नहीं कहा जा सकता । इसका खुलासा यह है कि भावि संज्ञा व्यवहारमें तो कुमारको यह कहते हैं कि यह राजा होनेवाला है परंतु नैगम नयमें—ऐसा नहीं कहते हैं किंतु यह राजा है ऐसा वर्तमानमें भविष्यत्‌का संकल्प कर उसीका प्रयोग करते हैं । शंका—

उपकारानुपलंभात्संव्यवहारानुपपत्तिरिति चेन्नाप्रतिज्ञानात् ॥ ४ ॥

जहांपर उपकार दीख पडे वहीं कार्य करना ठीक है । भाविसंज्ञाके विषय राजा आदिमें उपकारकी उपलब्धि है क्योंकि कुमार आदिको राजा आदि कहना उपकारस्वरूप है किंतु नैगमनयके विषयमें कोई उपकार जान नहीं पडता इसलिये उसका कोई पदार्थ विषय मानना निरर्थक है । सो ठीक नहीं । हमने यह प्रतिज्ञा कहां की है कि उपकार रहते ही नैगमनयका विषय हो सकता है । किंतु यहां नैगम नयके विषयका दिग्दर्शन कराया गया है परंतु हां ! यह भी बात नहीं कि नैगमनयका विषय उपकार रहित ही है किंतु जहां वह विषय उपकारयुक्त होगा वहां नैगम नयका विषय उपकारसहित भी हो सकता है इसलिये नैगम नयका विषय उपकारशून्य है यह कहना निर्मूल है ।

स्वजात्यविरोधेनैकत्वोपनयात्समस्तगृहणं संगृहः ॥ ५ ॥

१ स्वजात्यविरोधेनैकध्यमुपनीय-पर्यायाक्रातभेदानविशेषेण समस्तग्रहणात् संग्रहः । सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ७८ ।

बुद्धि, नाम, अनुकूल प्रवृत्ति इन चिन्होंकी समानता रखनेवाला जो सादृश्य है वही जाति है अर्थात्
न पदार्थोंकी प्रतीति समान होगी, नाम भी समान होगा, अनुकूल प्रवृत्ति भी समान होगी ऐसे
ार्थोंके समूहका नाम जाति है। अथवा जहां स्वरूपका अनुगम है जिसप्रकार गोत्व स्वरूप समस्त
ारकी गौओंमें रहता है इसलिये वह जाति है। वह जाति चेतन अचेतन आदि पदार्थ स्वरूप है
न आदि पदार्थोंसे भिन्न नहीं। तथा उसकी प्रवृत्तिमें कारण गोत्व घटत्व द्रव्यत्व सत्व आदि अनेक
द हैं इसलिये जहां जो शब्द होगा उसीके अनुसार उसका नाम भी भिन्न होगा तथा प्रवृत्ति भी
ी नियत शब्दके अनुसार होगी। वार्तिकमें जो अविरोध शब्द है उसका अर्थ स्वरूपसे न विगना
'स्वा जातिः स्वजातिः स्वजात्या अविरोधः, स्वजात्यविरोधः, तेन' यह संग्रहके लक्षणमें जो स्वजात्य-
ोध शब्द है उसका समास है। एकत्वोपनयका अर्थ एकत्वका उपचार है। इसरीतिसे अपनी जातिके
विरोध होनेपर एकत्व रूपसे जो समस्त भेदोंका ग्रहण कर लेना है उसका नाम संग्रह नय है। यह
ग्रहनयके लक्षणका स्पष्ट अर्थ है। संग्रहके सत् द्रव्य घट आदि उदाहरण हैं। 'सत्' ऐसा उच्चारण
ने पर द्रव्य पर्याय और उसके भेद प्रभेद सब सत्तासे अभिन्न हैं इसलिये एक सत्त्व धर्मसे उन
का ग्रहण हो जाता है। 'द्रव्य' ऐसा उच्चारण करने पर जीव अजीव और उनके भेद प्रभेद जितने
द्रव्य कहे जानेवाले हैं उन सबमें द्रव्यत्व धर्म अभेद रूपसे रहता है—जीव आदि कोई भी द्रव्यत्वसे

१ नैयायिक वैशेषिक दार्शनिकोंने गोत्व आदि जातियां स्वतंत्र मानी हैं वे व्यक्तियोंसे भिन्न सदा व्यापकरूपसे रहती हैं परंतु जातियोंकी सिद्धि नहीं बनती अनेक दूषण आते हैं, इसलिये जो गौका आकार है वही गोत्व जाति है मनुष्यका आकार है मनुष्यत्व जाति है, उसीसे समान आकारवाले सब एक जातिवाले समझे जाते हैं।

भिन्न नहीं इसलिये एक द्रव्यत्व धर्मसे सबका ग्रहण हो जाता है। 'घट' ऐसा उच्चारण करने पर नाम स्थापना आदिके भेदसे, मिट्टी सोना आदि कारणोंके भेदसे और वर्ण आकार आदिके भेदसे भिन्न भिन्न भी जितने घट शब्दके वाच्य अर्थ हैं उन सबमें घटत्व धर्म अभेदरूपसे रहता है—ऐसा कोई भी घट नहीं जिसमें घटत्व धर्म न रहता हो इसलिये एक घटत्व धर्मसे जितने भी संसारमें घट हैं उन सबका ग्रहण हो जाता है। इसीतरह पट मठ आदि पदार्थोंका भी संग्रहनयसे ग्रहण समझ लेना चाहिये। संग्रह नय द्रव्यार्थिक नयका ही भेद है और इस नयका विषय भी अभेद है इसलिये यहां पर सत् द्रव्य और घट आदिक शब्द और उसकी प्रतीति समान रूपसे है अर्थात् सत् कहनेसे समस्त सत्तावाले, द्रव्य कहनेसे समस्त द्रव्य और घट कहनेसे समस्त घटोंका समान रूपसे ज्ञान हो जाता है विशेष रूपसे नहीं अर्थात् जिनकी संज्ञा और प्रतीति समान हो वे सब संग्रहनयके विषय पडते हैं। इसरीतिसे सत् शब्दके उल्लेखसे समस्त सत्तावाले, द्रव्य शब्दके उल्लेखसे समस्त द्रव्य और घट आदि शब्दोंके उल्लेखसे समस्त घट आदिका ग्रहण होना जो संग्रहनयका अर्थ कहा गया है वह निर्दोष है। शंका—

संग्रहनयके जो सत् द्रव्य और घट आदि उदाहरण दिये हैं उनमें सत्त्व द्रव्यत्व और घटत्व आदि धर्मोंको द्रव्य आदि स्वरूप माना गया है परंतु सत्त्व आदि धर्म द्रव्य आदिसे भिन्न हैं और सत्त्वके संबंध से सत्, द्रव्यत्वके संबंधसे द्रव्य, घटत्व आदिके संबंधसे घट आदिकी प्रतीति होती है इसलिये सत्त्व आदि धर्मोंको द्रव्य आदि स्वरूप मानना अयुक्त है? सो ठीक नहीं। यदि सत्त्व द्रव्यत्व आदि धर्म और सत् द्रव्य आदि पदार्थोंको सर्वथा भिन्न माना जायगा तो सत्त्व आदि धर्म और द्रव्य आदि पदार्थ दोनों ही सिद्ध न हो सकेंगे क्योंकि द्रव्य आदि पदार्थोंसे भिन्न न तो सत्त्व द्रव्यत्व आदि धर्म देखनेमें

आते हैं और न सत्व द्रव्यत्व आदि धर्मोंसे भिन्न द्रव्य आदि पदार्थ देखनेमें आते हैं। इसलिये ये द्रव्य आदि पदार्थोंसे सत्व आदि धर्म सर्वथा भिन्न नहीं। और भी यह वात है कि—

यदि सत्ताको द्रव्य आदिसे सर्वथा भिन्न मानोगे और सत्ताके संबंधसे उनमें 'सत् सत्' यह प्रतीति और उनका 'सत्' यह नाम माना जायगा तो वहांपर यह प्रश्न है कि द्रव्य आदि पदार्थोंमें जो सत् सत् यह प्रतीति है वा उनका सत् यह नाम है वह सत्ता संबंधसे पहिले है कि पीछे है? यदि यह कहा जायगा कि वह सत्ता संबंधसे पहिले है तब जिसतरह जो पदार्थ स्वयं प्रकाशमान है उसका फिर प्रकाशन करना व्यर्थ है उसीतरह सत्ता संबंधसे पहिले ही द्रव्य आदि पदार्थोंमें 'सत्' 'सत्' यह प्रतीति और उनका सत् नाम प्रसिद्ध है तब उनके साथ सत्ताका संबंध मानना व्यर्थ है क्योंकि द्रव्य आदि पदार्थोंमें 'सत् सत' प्रतीति और उनके 'सत्' नामकी प्रसिद्धिके लिये ही सत्ता संबंधकी आवश्यकता पडती है सो वह सत्ताके विना संबंधके ही हो जाता है इसलिये पीछे से सत्ताका संबंध मानना व्यर्थ है। तथा यह भी वात है कि यदि सत्ता संबंधके पहिले ही द्रव्य आदिमें 'सत् सत्' यह प्रतीति और सत् नाम माना जायगा तो एक अंतरंग और दूसरी वाह्य सत्ता इस प्रकार सत्ताके दो भेद मानने पडेंगे क्योंकि यह वात निश्चित है कि विना सत्ताके रहे द्रव्य आदिमें 'सत, सत्' यह प्रतीति और उनका सत् नाम नहीं कहा जा सकता। सत्ता संबंधके पहिले भी द्रव्य आदिमें सत् सत् यह प्रतीति और सत् नाम माना गया है इसलिये जिसके द्वारा द्रव्य आदिमें 'सत् सत्' प्रतीति और उनका सत् नाम अनुभवमें आता है वह अंतरंग सत्ताका कार्य है अतः जिस सत्ताका पीछेसे संबंध होनेवाला है उससे पहिले ही 'सत् सत्' इस प्रतीति और सत् इस नामकी नियामक अंतरंग सत्ता माननी होगी एवं जिसका पीछेसे संबंध हुआ

है वह वहिरंग सत्ता कहनी पडेगी इसरीतिसे यदि सत्ताके पाहिले ही द्रव्य आदिमें 'सत् सत्' यह प्रतीति और उनका 'सत्' यह नाम माना जाता है तो अंतरंग और वाह्यके भेदसे दो प्रकारकी सत्ता माननी पडती है। यदि यहां पर यह कहा जाय दो सत्ता मान ली जांय तो भी कोई हानि नहीं ? सो अयुक्त है "सल्लिंगाविशेषाद्विविशेषलिंगाभावाच्चैको भावः" अर्थात् सबमें 'सत् चिन्ह समान है—सभी पदार्थोंकी 'सत् सत्' रूपसे प्रतीति होती है और उनका आपसमें भेद करनेवाला कोई विशेष लिंग है नहीं इसलिये संसारमें एक ही सत् पदार्थ है, इस (आपके) सिद्धान्त वचनका व्याघात हो जायगा क्योंकि यहां इस वचनसे एक ही सत्ता मानी गई है और ऊपर दो प्रकारकी सत्ता सिद्ध होती है इसलिये पूर्वापर विरोध है इस रीतिसे सत्तासंबंधसे पहिले द्रव्य आदिमें 'सत् सत्' यह प्रतीति और उनका 'सत्' यह नाम नहीं सिद्ध हो सकता। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि सत्तासंबंधसे पहिले उनमें 'सत् सत्' यह प्रतीति वा उनका 'सत्' नाम नहीं है किंतु सत्ता संबंधके बाद है तो जबतक उनके साथ सत्ताका संबंध न होगा तब तक द्रव्य आदिकी 'सत् सत्' यह प्रतीति और 'सत्' यह नाम भी न होगा फिर जिसप्रकार गदहे का सींग संसारमें असत् पदार्थ है उस प्रकार सत्तासंबंधसे पहिले द्रव्य आदि पदार्थोंको भी असत् मानना पडेगा। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

हमारे मतमें गुण गुणी जाति द्रव्य आदिका समवाय सम्बंध माना है और वह नित्य है इसलिये उससे द्रव्य आदि पदार्थोंमें 'सत् सत्' यह प्रतीति और उनका 'सत्' यह नाम निर्बाधरूपसे व्यवहार-गोचर हो सकते हैं द्रव्य आदि पदार्थोंके साथ सत्त्व द्रव्यत्व आदिका अभेद संबंध मानना निरर्थक है? सो ठीक नहीं। समवायसंबंध किसी प्रकार सिद्ध ही नहीं हो सकता यह वात पहिले विस्तृतरूपसे

कही जा चुकी है इसलिये उपर्युक्त प्रतीति और नामका व्यवहार समवाय संबंधके आधीन नहीं हो सकता। तथा—

सत्ताके सम्बन्धसे द्रव्यादिका 'सत्' व्यवहार हो जाय परन्तु सत्ताका 'सत्' व्यवहार कैसे होगा? यदि यह कहा जायगा कि किसी दूसरी सत्ताके संबंधसे होगा तो अनवस्था दोष होगा क्योंकि वहांपर भी यह प्रश्न उठेगा कि उस दूसरी सत्ताका कैसे सत् व्यवहार होगा तो वहांपर अन्य तीसरी सत्ताके संबंधसे कहना होगा। यहांपर भी यह प्रश्न उठेगा कि उस तीसरी सत्ताका 'सत्' व्यवहार कैसे होगा तो वहां भी कहना पडेगा कि अन्य चौथी सत्ताके संबंधसे होगा इसप्रकार उत्तरोत्तर सत्ताकी कल्पनाओंके होनेसे अनवस्था दोष होगा। यदि कदाचित् यह कहा जायगा कि द्रव्य आदि पदार्थोंका जो सत् व्यवहार है वह सत्ताके संबंधसे होता है परन्तु सत्ताका जो 'सत्' व्यवहार है सत्ताके सम्बंधके विना ही हो जाता है। वहांपर दूसरी किसी सत्ताके सम्बंधकी अपेक्षा नहीं रहती इसलिये अनवस्था दोष नहीं हो सकता। सो भी ठीक नहीं। इसरूपसे अनवस्था दोषका भले ही परिहार हो जाय परन्तु सत्ताके सत् व्यवहारको यदि स्वयं माना जायगा तो प्रतिज्ञाभंग दोष तयार है। क्योंकि 'सत्' व्यवहार सत्ताके संबंधसे होता है, वादी यह प्रतिज्ञा कर चुका है अब यदि सत्ताके 'सत्' व्यवहारको सत्तासंबंधके विना स्वयं ही मानलेगा तो उपर्युक्त प्रतिज्ञा भंग हो जायगी। इसलिये सत्ताका जो संसारमें 'सत्' व्यवहार है वह परसे वा स्वयं दोनों तरहसे बाधित है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

प्रत्येक पदार्थमें भिन्न २ शक्तियां होती हैं इसलिये द्रव्य आदिमें तो भिन्न भिन्न निमित्तस्वरूप उन शक्तियोंके संबंधसे 'सत्' व्यवहार होगा और सत्तामें विना किसी अन्य निमित्तके स्वयं सत् व्यव-

हार होगा इसलिये उपर्युक्त दोषोंको यहां स्थान नहीं मिल सकता ? सो भी ठीक नहीं। फिर सत्ताके संबंधसे 'सत्' व्यवहार होता है, इस संसर्गवादको छोड देना होगा क्योंकि सत्तामें विना ही अन्य सत्ता के संसर्ग–संबंधके यहां वादी सत व्यवहार स्वीकार कर रहा है। इससे वादीको यह भी मानना पडेगा कि जिसप्रकार सत्ताका व्यवहार, विना पर सत्ताके संबंधके स्वयं होता है उसीप्रकार सत्, द्रव्य, घट इनका भी स्वयं व्यवहार हो जायगा उनके लिये भिन्न जातियोंका संबंध मानना व्यर्थ क्यों नहीं है ? तथा जहां जैसा दोष देखा वहां वैसी ही मनगढंत कल्पना करलेना इच्छामात्र कल्पना कही जाती है यहां पर सत्ताके 'सत्' व्यवहारके लिये अनवस्था प्रतिज्ञाभंग आदि दोष दीख पडे तो उनको दूर करने के लिये द्रव्यादि पदार्थोंमें शक्तिके संबंधसे 'सत्' व्यवहार मान लिया और सत्तामें स्वयं मान लिया यह कल्पना करली परंतु वास्तविक बात क्या है ? यह नहीं विचारा इसलिये अनवस्था आदि दोषोंके दूर करनेके लिये जो द्रव्य आदि पदार्थोंमें भिन्न भिन्न शक्तियोंके संबंधसे सत् व्यवहार माना है और सत्ता में स्वयं 'सत्' व्यवहार की कल्पना की है यह मन गढंत कल्पना कही जायगी जो कि अप्रामाणिक है। तथा और भी यह बात है कि—

भिन्न पदार्थ स्वरूप सत्ताका जो द्रव्य आदिमें रहना माना है 'सोऽस्येति' वह जिसका हो अर्थात् सत्ता जिस पदार्थकी हो इस बहुव्रीहि समासके आधीन माना है वा 'सोऽयं' वह यह है अर्थात् सत्ता स्वरूप है इस कर्मधारय समासके आधीन माना है ? यदि बहुव्रीहि समासके आधीन मानी जायगी तो सत् शब्दसे मत्वर्थीय 'मतु' प्रत्ययका विधान होनेसे गोमान् धवमान् जिसप्रकार इन शब्दोंका सिद्ध स्वरूप है उसीप्रकार सत्की जगह पर 'सत्तावान्' यह सिद्धस्वरूप होना चाहिये किंतु 'सद्द्रव्यं' यह जो

संग्रहनयके उदाहरणमें सत् रूपका उल्लेख किया है वह न होना चाहिये। परंतु उल्लेख सत् रूपका ही है इसलिये द्रव्य आदिमें सत्ताका रहना वहुव्रीहि समासके आधीन माने जाने पर मत्वर्थीय प्रत्ययके अर्थको छोड देना पडेगा । यदि कदाचित् यह कहा जाय कि द्रव्य आदिमें सत्ताकी वृत्ति वहुव्रीहि समासके आधीन न मानकर 'सोऽयं' यह कर्मधारय समासके आधीन मानी है तब भी जिसप्रकार 'यष्टिः पुरुषः' दंड ही पुरुष है ऐसे स्थलपर 'यष्टि' ऐसा प्रयोग होता है इसीप्रकार सत्तास्वरूप द्रव्य आदिके हैं यहां पर भी सत्ता शब्दका प्रयोग होगा इसरीतिसे 'सद्द्रव्यं' इत्यादि उदाहरणोंमें सत्ता द्रव्यं इत्यादि कहना चाहिये 'सत् द्रव्यं' यह कहना अयुक्त है। यदि यहां द्रव्यादि पदार्थोंमें कर्मधारय समासके आधीन ही वृत्ति मानकर सत्ताका प्रयोग न कर सत् शब्दका ही प्रयोग किया जायगा तो सत्ता अर्थका त्याग कर देना पडेगा इसरीतिसे द्रव्य आदि पदार्थोंसे सत्ताके भिन्न मानने पर अनेक दोष लागू होते हैं। तथा—

वादी सत्ताको अखंड एक स्वीकार करता है परंतु ऐसा कोई भी दृष्टांत नहीं कि जहां पर एक पदार्थ अनेक पदार्थोंसे संबंध करनेवाला हो। यदि सत्ताको अखंड एक पदार्थ माना जायगा तो उसका अनेक पदार्थोंके साथ संबंध नहीं हो सकता। इसलिये 'सत्ता अखंड एक पदार्थ है' वादीका यह सिद्धांत युक्तिशून्य है। यदि यहां पर यह कहा जाय कि नीली द्रव्य एक है तो भी जिसप्रकार उसका अनेक पदार्थोंके साथ संबंध दीख पडता है—नीली द्रव्य—नील रंगके, संबंधसे वहुतसे पदार्थ नीले हो जाते हैं उसी प्रकार यद्यपि सत्ता एक है तो भी अनेक पदार्थोंके साथ उसका संबंध हो सकता है कोई दोष नहीं? सो भी अयुक्त है। यदि नीली द्रव्य एक अखंड पदार्थ हो तब उसका उदाहरण लिया जा सकता है किंतु

वह तो अनेक है क्योंकि नीलरंगके परमाणु जुदे २ अनेक हैं इसलिये उनका उदाहरण देकर एक सत्ता अनेक पदार्थोंके साथ संबंध करनेवाली नहीं सिद्ध हो सकती। यदि यहांपर भी यह कहा जाय कि नीली द्रव्य अनेक हैं इसलिये उसका उदाहरण माननेपर न भी एक सत्ता अनेक पदार्थोंसे संबंध करनेवाली सिद्ध हो परंतु नीली द्रव्यमें जो नीलत्व जाति है वह तो एक है और एक ही वह अनेक नीली द्रव्य पदार्थोंसे संबंध करनेवाली है इसलिये नीलत्व धर्मको उदाहरण मान एक भी सत्ता अनेक पदार्थोंसे संबंध करनेवाली सिद्ध हो सकती है। सो भी ठीक नहीं। नीलत्व जाति ही संसारमें सिद्ध नहीं जिसे उदाहरण माना जाय जो दोष सत्ता जातिमें दिये गये हैं वे सब नीलत्व जातिमें भी आते हैं। इसरीतिसे सत्ता एक अखंड पदार्थ है और वह द्रव्यादि पदार्थोंसे भिन्न है, ऐसा मानना बाधित है।

अतो विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः ॥ ६ ॥

जिस पदार्थको संग्रह नयने विषय कर लिया है उसका जो विधिपूर्वक ग्रहण करना है उसका नाम व्यवहार है। संग्रहके लक्षणमें जो विधि शब्द है उसका अर्थ—जिस पदार्थको संग्रह नयने विषय किया है उसीके अनुकूल व्यवहारका होना है। उसका खुलासा इसप्रकार है—संग्रहनय विशेषरूपकी अपेक्षा न कर सामान्य रूपसे पदार्थोंको विषय करता है परंतु विशेषका विना अवलंबन किए व्यवहार हो नहीं सकता इसलिये सामान्यरूपसे जिस पदार्थको संग्रहनयने विषय किया है उससे संसारका व्यवहार न हो सकनेके कारण व्यवहार नय माना गया है। जिस तरह—संग्रहनयका विषय सत् पदार्थ है किंतु सत् शब्दसे संसारका व्यवहार हो नहीं सकता इसलिये जो सत् है वह द्रव्य और गुण है यह व्यवहार नयसे मानना पडता है। तथा संग्रहनयका विषय द्रव्य है उसके जीव और अजीव भेद माने बिना

संसारका व्यवहार नहीं हो सकता इसलिये वह द्रव्य जीव और अजीव है यह व्यवहारसे कहना पडता है। तथा संग्रह नयका विषय जीव और अजीव है। वहां पर जीवके देव नारक आदि भेद माने विना संसारका व्यवहार नहीं हो सकता इसलिये लोक व्यवहारकी सिद्धिके लिये जीव द्रव्यके देव नारक आदि भेद व्यवहारसे मानने पडते हैं। अजीवके घट पट आदि भेद माने विना भी संसारका व्यवहार नहीं चल सकता इसलिये उसके घट पट आदि भेद व्यवहारनयसे मानने पडते हैं। तथा काथ-काढा दवा है यहां पर काथ पदार्थ संग्रहनयका विषय है परंतु सामान्य पदार्थ व्यवहारका विषय नहीं हो सकता एवं सामान्य विशेषस्वरूप ही होता है इसलिये व्यवहारनयसे काथ पदार्थके न्यग्रोधके फल आदि भेद मानने पडते हैं। यहां पर यह शंका न करनी चाहिये कि काथ पदार्थके न्यग्रोधके फल आदि अनंत भेद हैं, इकट्ठे नहीं किये जा सकते इसलिये वे व्यवहारके विषय कैसे हो सकते हैं? क्योंकि उनका इकट्ठा करना तो प्रभू चक्रवर्तीकी भी सामर्थ्यसे वाह्य है—वह भी नहीं कर सकता परंतु संग्रहनयके विषयभूत काथ पदार्थके भेद होनेकी उन सबमें सामर्थ्य है—न्यग्रोधके फल आदि सभी काथ पदार्थके भेद हो सकते हैं इसलिये वे सब व्यवहारनयके विषय हैं। तथा नाम स्थापना द्रव्य ये तीन निक्षेप संग्रहात्मक हैं उनसे संग्रहात्मक वस्तुका ग्रहण होता है उनसे भिन्न भिन्न व्यवहार नहीं हो सक्ता क्योंकि वे तीनों ही जातिवाचक हैं व्यक्ति वाचक नहीं हैं इसलिये व्यवहारकेलिये वर्तमान पर्याय भाव निक्षेप ही समर्थ है उसीका यहां ग्रहण है। इसरीतिसे इस व्यवहारनयका वहांतक विषय समझना चाहिये जहांतक फिर किसीप्रकारका विभाग न हो सके।

सूत्रपातवदृजुसूत्रः ॥ ७ ॥

जिसप्रकार सूतका गिरना सरल होता है उसीप्रकार जो सरल विषयको सूचित करता है उसका नाम ऋजुसूत्र है। यह नय त्रिकालसंबंधी विषयोंको छोडकर वर्तमानकालीन विषयोंको ग्रहण करता है क्योंकि जो पर्याय बीत चुकी अथवा जो पर्याय अभी तयार नहीं—आगे जाकर तयार होगी उन दोनों पर्यायोंसे व्यवहार चल नहीं सकता इसलिये शुद्ध एक समयमात्र ही ऋजुसूत्र नयका विषय माना गया है।

'कषायो भैषज्यं' 'काढा दवा है' यहांपर जिन पदार्थोंका काढा है उन पदार्थोंका अर्क निकलकर जिससमय साक्षात् औषधस्वरूप काढा बन जाता है वही शुद्ध वर्तमानकालीन एक समयवर्ती ऋजुसूत्र नयका विषय है किंतु पहिले ही पहिले जिसका रस अभीतक प्रगट नहीं हुआ—आगे जाकर प्रगट होनेवाला है इसीलिये जो साक्षात् औषध नहीं है वह ऋजुसूत्र नयका विषय नहीं। क्योंकि वह वर्तमान एक समयवर्ती नहीं—भविष्यत् कालकी अपेक्षा रखता है। तथा—

पच्यमान—जो पक रहा है और पक्व—जो पक चुका है यह ऋजुसूत्र नयका विषय है। यहां पच्यमान और पक्वका अर्थ कथंचित् पच्यमान और कथंचित् पक्व यह समझ लेना चाहिये यदि यहां पर यह शंका की जाय कि पच्यमान यह वर्तमान पर्याय और पक्व यह अतीत पर्याय है, दोनोंका एक जगह कैसे समावेश होगा? सो ठीक नहीं। क्योंकि यहां पर उत्तर देते समय यह कहा जा सकता है कि पहिले ही पहिले जबकि समयका कोई विभाग नहीं है उससमय भातका कुछ अंश पका—सीझा है या नहीं! यदि नहीं सीझा है तब द्वितीयादि समयोंमें भी वह नहीं सीझ सकता इसलिये पाकका अभाव ही कहना होगा। परंतु प्रतिक्षण वह सीझता अवश्य है इसलिये वटलोईमें रक्खे हुए चावलोंमें सीझे

और वेसीझेकी अपेक्षा ऋजुसूत्रनयका कथंचित् पच्यमान और कथंचित् पक्व यह विषय बाधित नहीं। यदि यहां पर यह अपेक्षा न मानी जायगी और पच्यमान अवस्था और पक्व अवस्थाका सर्वथा विरोध माना जायगा तो पच्यमान (मिश्रित) कथंचित् पच्यमान और पक्व इसतरह विषयोंके तीन भेद हो जानेसे समय भी तीन प्रकारका मानना होगा परंतु तीनभेदोंको सर्वथा विरुद्ध माननेसे एक समयमें वे तीनों भेद नहीं रह सकते इसलिये कथंचित् पच्यमान और कथंचित् पक्वमें सर्वथा विरोध नहीं माना जा सकता इसलिये यहां यह बात समझ लेनी चाहिये कि किसी पकानेवालेका यह अभिप्राय हो कि जो चावल अच्छी तरह सीझ गये हैं कोई भी कच्चा बाकी नहीं है उसकी अपेक्षा तो अच्छीतरह पके हुए चावल ही पक्व हैं। और जिस पकानेवालेका यह अभिप्राय हो कि वह कुछ सीझे और कुछ वेसीझे कथंचित् पच्यमान और कथंचित् पक्व ऐसे पच्यमान चावलोंको ही पक्व कहना चाहता है उसकी अपेक्षा पच्यमान ही पक्व है। क्योंकि वह पच्यमानोंको ही पक्व मानना सुखप्रद समझता है इसलिये यह बात निश्चित हो चुकी कि ऋजुसूत्र नयका पच्यमान अर्थात् कथंचित् पच्यमान कथंचित् पक्व उदाहरण निर्दोष है तथा पक्व–पक चुकनेके बाद एक समयवर्ती पदार्थ भी ऋजुसूत्र नयका विषय है इसीतरह क्रियमाण कृत (कथंचित् क्रियमाण कथंचित् कृत), भुज्यमान भुक्त (कथंचित् भुज्यमान कथंचित् भुक्त) बध्यमान बद्ध (कथंचित् बध्यमान कथंचित् बद्ध) और सिध्यत् सिद्ध (कथंचित् सिध्यत् कथंचित् सिद्ध) आदि भी ऋजुसूत्रनयके उदाहरण समझ लेने चाहिये। अर्थात् जो किया जा रहा है और जो किया जा चुका है और जो भोगा जा रहा है और जो भोगा जा चुका है जो सिद्ध किया जा रहा है जो सिद्ध किया जा चुका है, ये सब भी ऋजुसूत्रनयके विषय पडते हैं, क्योंकि इन सबोंमें भी कुछ अंशोंमें

वर्तमान पर्यायका ग्रहण होता है, जितने अंशोंमें वर्तमान पर्यायका ग्रहण है उतने ही अंशोंमें ऋजु सूत्रनय की विषयता है इसीलिये कथंचित् पदसे कहा गया है। यहां पर विरोधादि बातोंका खुलाशा पच्यमान पक्वके समान है। तथा—

ऋजुसूत्रनयका विषय प्रस्थ भी है परंतु जिससमय अन्न आदि पदार्थ, सेर—माप द्वारा तुल रहा है उसीसमय प्रस्थ; ऋजुसूत्रनयका विषय हो सकता है परंतु जिससे धान्य तुल चुका अथवा आगे जाकर तुलेगा वह ऋजुसूत्रनयका विषय नहीं हो सकता क्योंकि जो तुल चुका वह भूतकालका विषय है। जो आगे तुलेगा वह भविष्यत् कालका विषय है। भूतकालकी पर्याय और भविष्यत्कालकी पर्याय ऋजुसूत्रनयका विषय है नहीं, किंतु वर्तमानकालकी एक समयवर्ती पर्याय ही उसका विषय है इसलिये भूतकाल वा भविष्यत् कालकी अपेक्षा होनेवाला प्रस्थरूप ऋजुसूत्रनयका विषय होना असंभव है। तथा—

कुंभकारका अभाव ऋजुसूत्रनयका विषय है क्योंकि कुंभको करनेवाला कुंभकार कहा जाता है। जिससमय कुंभकार पुरुष कुंभ—घडा, न बनाकर उसकी शिविक छत्रक आदि पर्याय बना रहा है उस समय वह ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा घडाका बनानेवाला नहीं कहा जा सकता क्योंकि शिविक छत्रक आदि पर्यायोंके आगे जाकर घट पर्याय बननेवाली है इसलिये भविष्यतकालका विषय है; वर्तमान कालका नहीं एवं जिससमय वह घडा बना रहा है उससमय घटकी उत्पत्ति उसके खास अवयवोंसे हो रही है और वही शुद्ध वर्तमानकाल ऋजुसूत्रनयका विषय है किंतु उससमय कुंभकार कुछ नहीं कर रहा है इसलिये ऋजुसूत्रनयका विषय कुंभकार नहीं हो सकता किंतु कुंभकारका अभाव उसका विषय है। तथा—

कोई पुरुष कहींसे आकर बैठा है किसी दूसरेने पूछा—कहो भाई कहांसे आरहे हो ? उससमय उसका यह कहना कि कहींसे नहीं आरहा हूं क्योंकि उससमय सर्वथा गमन क्रियाका अभाव है इसलिये शुद्ध वर्तमानकी अपेक्षा 'इससमय कहींसे नहीं आरहा हूं' यह ऋजुसूत्रनयका विषय है। तथा—

किसी बैठे आदमीको देखकर यह पूछना कि भाई ! इससमय तुम किस स्थान पर हो ? उससमय वर्तमानमें वह जितने आकाशके प्रदेशोंमें मोजूद है उतने ही प्रदेशोंका नाम लेकर कहे कि मैं यहां पर हूं, किसी शहर गांव घर आदिका नाम नहीं ले, वह शुद्ध वर्तमान कालकी अपेक्षा कथन होनेसे ऋजुसूत्रनयका विषय है । अथवा उससमय जितने आत्मप्रदेशोंके आकारमें उसका रहना हो उतने ही प्रमाण आत्म प्रदेशोंका उल्लेखकर वह यह कहे कि मैं यहांपर हूं वह ऋजुसूत्रनयका विषय है क्योंकि उसकी स्थितिका शुद्ध वर्तमान समयमें वही आकार है, अन्य नहीं। तथा—

काक काला है यह ऋजुसूत्रनयका विषय नहीं है। किंतु 'काक काला नहीं है' यह ऋजुसूत्रनयका विषय है क्योंकि यहांपर काक अपने काकस्वरूपका धारक है और कालापन अपने कालेपन स्वरूपका धारक है किंतु कालापन काकस्वरूप (काकका स्वरूप) नहीं। यदि यहांपर यह कहा जाय कि कालापन काकका स्वरूपही है तब कालापन तो भ्रमर आदिके अंदर भी दीख पडता है इसलिये भ्रमर आदिको भी काक कहना पडेगा। फिर भ्रमर आदि जीवोंको काकके नामसे ही पुकारा जायगा—भ्रमर आदिके नामसे नहीं। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि हम कालेपनको काकस्वरूप नहीं मानते किंतु काले ही काकका नाम काक है अन्यवर्णका काक नहीं, यह कहते हैं। यह भी ठीक नहीं। यदि काले वर्णके काकको ही काक माना जायगा तो जो काक सफेद नीले आदि वर्णके धारक हैं उन्हें फिर काक न

कहा जायगा क्योंकि काक पांचों वर्णोंके होते हैं। तथा पित्त हड्डी रक्त आदि सात धातुओंका पिंड स्वरूप काकका शरीर है इनसे भिन्न कोई काक पदार्थ नहीं किंतु पित्तका रंग पीला, हड्डीका रंग सफेद और रक्तका लाल वर्ण माना है। यदि कृष्णवर्ण स्वरूप ही काक माना जायगा तो पीले आदि वर्णोंके धारक पित्त आदिको भी कृष्ण वर्णात्मक ही कहना पडेगा परंतु उसप्रकारका कहना प्रत्यक्ष बाधित है इसलिये काले वर्णका ही काक, काक है यह कहना बाधित है। यदि यहां पर यह कहा जाय कि—

काकका शरीर एक अखंड द्रव्य पदार्थ है उसमें समानाधिकरण संबंधसे पित्त आदि रहते हैं उनके पीले सफेद आदि वर्ण हैं काकसे उनका तादात्म्य संबंध नहीं इसलिये वह कृष्णात्मक ही है? सो भी ठीक नहीं। पित्त हड्डी आदि काक शरीरके पर्याय हैं। पर्याय कभी द्रव्यसे भिन्न हो नहीं सकते वास्तवमें तो पर्याय ही विभिन्न शक्तियोंके धारक द्रव्य पदार्थ हैं उनसे भिन्न द्रव्य कोई चीज नहीं, इसलिये काकके शरीरको एक विभिन्न द्रव्य मानकर पित्त हड्डी आदि द्रव्योंका उसमें समानाधिकरण संबंध मानना बाधित है। यदि यहांपर फिर यह कहा जाय कि—

सफेद लाल पीले आदि सब तरहके काक हों परंतु सबमें प्रधान गुण कृष्ण वर्ण ही है इसलिये कृष्ण गुणकी प्रधानतासे कृष्ण ही काकको काक मानना उचित है। सो ठीक नहीं। यदि कृष्णगुणकी ही प्रधानता मानी जायगी तो पित्त हड्डी आदि पदार्थ पीले सफेद आदि होने पर भी वे भी प्रधानगुण हैं ही तथा और भी यह बात है कि सब गुणोंमें जब केवल कृष्णगुण ही प्रधान है मीठा खट्टा आदि अनेक गुणोंमें कोई प्रधान नहीं तब मधु (शहद) यद्यपि कुछ कषेलापन लिये मीठा होता है परंतु अब उसके मीठे रस गुणका भान न होगा, प्रधानता होनेसे केवल कृष्ण ही कृष्णगुणका भान होगा परंतु

वहां पर कृष्णगुणका भान न होकर मीठापन प्रत्यक्षरूपसे जाना जाता है इसलिये सब गुणोंमें कृष्ण गुण प्रधान नहीं माना जा सकता। तथा और भी यह बात है कि—

जहां पर परोक्षमें कृष्ण काक कहा जाता है वहां पर संशय हो जाता है क्योंकि एक पुरुष कृष्ण काकके विशेषका जाननेवाला है वह किसी दूसरे द्वीपमें पहुंचा और वहांके किसी ऐसे पुरुषके सामने कृष्णकाकके स्वरूपका वर्णन किया जो पुरुष कृष्णकाकको जानता ही नहीं। वस! कृष्णकाकका स्वरूप सुनते ही उसे यह संदेह हो जाता है कि यह मनुष्य जो 'काला काक' कह रहा है वह सब गुणोंमें कृष्ण गुणकी प्रधानता समझ वैसा कह रहा है अथवा कृष्णपना द्रव्यकी पर्याय है यह समझ 'काला काक' कह रहा है? यह निश्चय है कि जहां पर संशय रहता है वहां पर पदार्थका निर्णय नहीं होता इसलिये 'काला काक' ही काक होता है यह कहना बाधित है। ऋजुसूत्रनय शुद्ध वर्तमानकालीन एक समयवर्ती पर्यायको विषय करता है उस एक समयमें काक सामान्य संसारभरके सब काक काले नहीं इसलिये काक सामान्यरूपसे कृष्णात्मक नहीं कहा जा सकता किंतु कृष्ण कृष्णात्मक और काक काकात्मक है इसलिये 'कृष्णकाक' यह ऋजुसूत्र नयका विषय नहीं हो सकता। तथा—

पलाल (पूला) आदिके दाहका अभाव यह भी ऋजुसूत्रनयका विषय है क्योंकि ऋजुसूत्रनयका विषय शुद्ध वर्तमान एक समयमात्र है और पलाल आदि चीजोंके साथ आगिका संबंध होना उसका सुलगना, स्वयं जलना, जलाना कार्य असंख्याते समयोंका है इसलिये कालका भेद होजानेके कारण पलाल आदिका दाह ऋजुसूत्रनयका विषय नहीं हो सकता और भी यह बात है कि जिससमय दाह हो रहा है उससमय पलाल नहीं किंतु उसकी भस्म पर्याय है और जिससमय पलाल अपने रूपसे पलाल

है उससमय दाह नहीं इसलिये ऋजुसूत्रनयके विषयभूत शुद्ध वर्तमान एक समयमें पलालका दाह बन ही नहीं सकता इसलिये पलालका दाह ऋजुसूत्रनयका विषय नहीं किंतु उसका अभाव ऋजुसूत्रनयका विषय है। यदि यहां पर यह कहा जाय कि 'पलालका दाह होता है' यह कहना इष्ट नहीं किंतु पलाल ही जलता है यह कहा जाता है इसरीतिसे पलाल और दाहका समान समय होनेसे वह ऋजुसूत्रनयका विषय हो सकता है कोई दोष नहीं ? सो भी अयुक्त है। क्योंकि समस्त पलाल जले तब तो पलाल और दाहका एक समय हो सकता है किंतु पलालका कुछ अंश जलता है कुछ वाकी रहता है, सबका जलना असंख्याते समयका कार्य है इसलिये पलाल और दाहका शुद्ध वर्तमानकाल एक समयमात्र न होनेसे वह ऋजुसूत्रनयका विषय नहीं हो सकता। यदि यहां पर भी यह शंका की जाय कि—

जो शब्द समुदायस्वरूप समूहवाचक होते हैं उनके कुछ अवयवोंमें कार्य होना समुदायमें होना मान लिया जाता है। यद्यपि पलालके एक देशमें दाह है तब भी वह पलाल समुदायमें मान लिया जायगा इसलिये पलाल और दाहका समान समय होनेसे पलाल दाह ऋजुसूत्रनयका विषय हो सकता है। सो भी अयुक्त है क्योंकि अवयवोंका कार्य, समुदायमें होनेवाला कार्य मान भी लिया जाय तब भी पलालका एक देश तो बिना जला ही अवस्थित है यह ऊपर बतला दिया जा चुका है एवं उस एक देशका जलना असंख्याते समयोंका कार्य है इसलिये अवयवोंका कार्य; समुदायका कार्य मानने पर भी वह ऋजुसूत्रनयका विषय नहीं हो सकता। यदि यहांपर भी यह कहा जाय कि—

जो पदार्थ जलेगा वह क्रम क्रम कर जलेगा एक साथ संपूर्ण पदार्थका जलना नहीं हो सकता इसलिये पलालका एक देश जलने पर संपूर्ण पलालका जलना कहा जा सकता है और उसे शुद्ध वर्त-

४७३

मानकालका विषय मानकर ऋजुसूत्रनयका विषय कह सकते हैं । सो भी ठीक नहीं। ऐसा कहनेसे वचनविरोध और तदवस्थ दोष 'जो कि ऊपर बता दिया गया है' दो दोष होते हैं । उनमें वचनविरोध दोष इसप्रकार है—

ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा संपूर्ण पलालका जलना असंभव है इसलिये यदि पलालके एक देशके जलनेसे ही संपूर्ण पलालका जलना माना जायगा तो वादीका वचन प्रतिवादी (जैन) के पक्षका संपूर्ण रूपसे दूषक नहीं हो सकता क्योंकि ऋजुसूत्रनयके विषयभूत शुद्ध वर्तमानकालमें संपूर्ण पलालका यदि जलना सिद्ध हो सके तो 'पलालका जलनारूप' संपूर्ण पक्ष दूषित हो सकता है किंतु उस एक समयमें तो एक देशका जलना ही हो सकता है इसलिये एक पक्षका ही दूषक हो सकता है परंतु वादी संपूर्ण पक्षको दूषित करना चहता है और यहांपर एक पक्ष ही दूषित होता है इसलिये वचनविरोध है। यहां पर यह न कहना चाहिये कि एक देशके दूषित होनेसे समुदाय दूषित माना जायगा इसलिये वचन-विरोध नहीं हो सकता ? क्योंकि एक देशके दूषित होनपर समुदाय दूषित हो जाता है ऐसा सर्वथा सिद्ध करना सामर्थ्यके बाहिर है अतः इस वचनविरोधरूप दोषसे संपूर्ण पदार्थका जलना असंभव होनेसे एक देशके दाहसे संपूर्ण पदार्थका दाह माना जा सकता है यह कहना अयुक्त है। तथा पलालका जो एक देश जल रहा है उससे बाकीका बचा एक देश तदवस्थ है—विना जला हुआ है, और उसका जलना असंख्याते समयोंका कार्य है जो कि शुद्ध वर्तमानकालके एक समयमात्र ऋजुसूत्रनयका विषय हो ही नहीं सकता इसलिये तदवस्थ दोषसे भी पलालका जलना वर्तमानकालीन एक समयवर्ती नहीं कहा जा सकता क्योंकि पलालके अवयव अनेक हैं उनमें यदि कुछ अवयवोंके जलनेसे संपूर्ण पलालका

जलना माना जायगा तो उसीके कुछ अवयवोंके न जलनेसे संपूर्ण पलालका नहीं भी जलना (अदाह) माना जा सकता है। यदि यह कहा जायगा कि कुछ अवयवोंके जलनेसे संपूर्ण पलालमें दाह ही मानेंगे अदाह नहीं मान सकते तो वहां पर यही समानरूपसे उत्तर है कि कुछ अवयवोंमें अदाह—न जलना देखकर संपूर्ण पलालमें अदाह ही क्यों नहीं माना जायगा ? इसरीतिसे यह बात सिद्ध हो चुकी कि ऋजुसूत्रनयके विषयभूत एक समयमें संपूर्ण पलालका जलना नहीं हो सकता इसलिये पलालका जलना ऋजुसूत्रनयका विषय नहीं कहा जा सकता किंतु उसका अभाव ऋजुसूत्रनयका विषय है। इसीप्रकार पानी पीना भोजन करना आदि भी असंख्याते समयोंके कार्य हैं और ऋजुसूत्रनयका विषय एक समयवर्ती पर्याय है इसलिये ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा उनका व्यवहार नहीं हो सकता।

तथा सफेद रंग काला होता है यह भी ऋजुसूत्रनयका विषय नहीं क्योंकि ऋजुसूत्रनय एक समयवर्ती पर्यायको विषय करता है सफेद रंगका काला होना अनेक समयसाध्य बात है इसलिये 'सफेद काला नहीं होता है' यही ऋजुसूत्रनयका विषय मानना चाहिये। शंका—

यदि ऋजुसूत्रनयका विषय वर्तमानकालीन एक समयवर्ती पर्याय ही मानी जायगी तो खाना पीना आदि पर्याय अनेक समयसाध्य हैं इसलिये इस नयकी अपेक्षा जब वे सिद्ध न हो सकेंगे तब संसारसे उनका नाम ही उठ जायगा। सो ठीक नहीं। यहांपर ऋजुसूत्रनयका विषयमात्र दिखाया गया है। खान पान आदि व्यवहारोंकी सिद्धि नैगम आदि जो पहिले नय कह आये हैं उनसे निर्बाधरूपसे होती है। इसलिये कोई दोष नहीं। इसप्रकार यह ऋजुसूत्रनयका व्याख्यान किया गया है।

शपत्यर्थमाह्वयति प्रत्याययतीति शब्दः ॥ ८ ॥ स च लिंगसंख्यासाधनादिव्यभिचारनिवृत्तिपरः ॥ ९ ॥

घट पट आदि शब्दोंके उच्चारण करते ही उन पदार्थोंके जानकार पुरुषको जिसके द्वारा अपने वाच्य पदार्थका ज्ञान हो वह शब्दनय है और लिंग संख्या साधन आदिमें जो व्यवहारनयसे माना हुआ अन्याय है–व्यभिचार है उसके दूर करनेकेलिये है। पुल्लिंग स्त्रीलिंग और नपुंसकालिंगके भेदसे लिंगके तीन भेद हैं। एकवचन द्विवचन और बहुवचनके भेदसे संख्या तीन प्रकार है। प्रथम पुरुष मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुष साधन है अथवा युष्मद् और अस्मद् शब्द साधन है। साधनादि यहां पर जो आदि शब्द है उससे काल आदिका ग्रहण है। इन लिंग–काल आदि संबंधी व्यभिचारोंकी निवृत्ति करना ही शब्दनयका विषय है।

स्त्रीलिंगके स्थानपर पुल्लिंगका कहना और पुल्लिंगके स्थानपर स्त्रीलिंगका कहना आदि लिंग-व्यभिचार है। जिसतरह–'तारका स्वातिः' स्वाति नक्षत्र तारे हैं। यहांपर तारका शब्द स्त्रीलिंग और स्वाति शब्द पुंल्लिंग है इसलिये स्त्रीलिंगकी जगह पुल्लिंग व्यभिचार है। 'अवगमो विद्या' ज्ञान विद्या है। यहां पर अवगम शब्द पुंल्लिंग और विद्या शब्द स्त्रीलिंग है। यहां पर पुल्लिंगकी जगह स्त्रीलिंग कहनेसे लिंगव्यभिचार है। 'वीणा आतोद्यं' वीनबाजा आतोद्य कहा जाता है। इस स्थानपर वीणा स्त्रीलिंग और आतोद्य नपुंसकलिंग है इसलिये स्त्रीलिंगकी जगह नपुंसकलिंग कहनेसे लिंग व्यभिचार है। 'आयुधं शक्तिः' शक्ति आयुध है। यहां पर आयुध नपुंसकलिंग और शक्ति स्त्रीलिंग है। यहां पर नपुंसकलिंगकी जगह स्त्रीलिंग कहनेसे लिंग व्यभिचार है। 'पटो वस्त्रं' कपडा वस्त्र है यहां पर पट, पुल्लिंग और वस्त्र; नपुंसकलिंग है। पुल्लिंगकी जगह नपुंसकलिंग कहनेसे व्यभिचार है। 'द्रव्यं

१ यह दूसरा पक्ष श्लोकवार्तिक और तत्त्वार्थराजवार्तिककी प्राचीन भाषाके अनुसार लिखा गया है।

परशुः' फरसा द्रव्य है। यहां पर द्रव्य शब्द नपुंसकलिंग और परशु पुंल्लिंग है। नपुंसकलिंगकी जगह पुंलिंग कहनेसे लिंग व्यभिचार है।

एक वचनकी जगह द्विवचन, एक वचनकी जगह बहु वचन आदिका कहना संख्याव्यभिचार है जिसतरह—'नक्षत्रं पुनर्वसू' पुनर्वसू नक्षत्र है, यहांपर नक्षत्र शब्द एकवचनांत और पुनर्वसू शब्द द्विवचनांत है। यहांपर एकवचनकी जगह द्विवचन कहनेसे संख्या व्यभिचार है। 'नक्षत्रं शतभिषजः' शतभिषजा नक्षत्र हैं, यहां पर नक्षत्र शब्द एकवचनांत और शतभिषग् शब्द बहुवचनांत है इसजगह एक वचनके स्थानपर बहुवचन कहनेसे संख्या व्यभिचार है। 'गोदौ ग्रामः' गौओंको देनेवाले गाव हैं। यहां पर गोद शब्द द्विवचनांत और ग्राम शब्द एक वचनांत है। इसजगह द्विवचनके स्थानपर एकवचन कहनेसे संख्या व्यभिचार है। 'पुनर्वसू पंच तारकाः' पांच तारे पुनर्वसू हैं। यहां पुनर्वसू शब्द द्विवचनांत और पंचतारका शब्द बहुवचनांत है इसस्थानपर द्विवचनके स्थानपर बहुवचन कहनेसे संख्या व्यभिचार है 'आम्रा वनं' आमके वृक्ष वन हैं, यहांपर आम्र शब्द बहुवचनांत और वन शब्द एक वचनांत है इस जगह बहुवचनके स्थानपर एकवचन कहनेसे संख्या व्यभिचार है तथा 'देवमनुष्या उभौ राशी' देव और मनुष्य ये दो राशि हैं। यहां पर देव मनुष्य शब्द बहुवचनांत और राशि शब्द द्विवचनांत है। इस जगह बहुवचनकी जगह द्विवचन कहनेसे संख्या व्यभिचार है इसकी निवृत्ति शब्दनयसे होती है अर्थात् पुंलिंगके साथ स्त्रीलिंगका प्रयोग करना अथवा एकवचनके साथ बहुवचनका प्रयोगकरना आदि शब्द नयकी अपेक्षा व्यभिचार है।

इसीप्रकार युस्मद् शब्दकी जगह अस्मद् शब्दके प्रयोगको वा अस्मद् शब्दकी जगह युस्मद् शब्द

के प्रयोग अथवा उत्तम[1] पुरुषकी जगह मध्यम पुरुष आदि मानना साधन व्यभिचार है और उसकी निवृत्ति शब्दनयसे है। जिसतरह–'एहि मन्ये रथेन यास्यासि यातस्ते पिता'। अर्थात् जाओ मैं ऐसा समझता हूं कि तुम रथसे जाओगे परंतु अब न जाओगे तुम्हारा पिता चला गया। इस वाक्यके शब्दों का अर्थ तो यह होता है परंतु यहां हास्य होनेसे व्याकरणके नियमानुसार युष्मद्की क्रियामें अस्मद्, और अस्मद्की क्रियामें युष्मद् हो गया है एवं अर्थ होता है कि तू जो रथसे जाना चाहता था सो उस पर तो तेरा बाप चढकर चला गया यहांपर 'एमि' इस उत्तम पुरुषकी जगह एहि' यह मध्यम पुरुष, 'मन्यसे' इस मध्यम पुरुषकी जगह 'मन्ये' यह उत्तम पुरुष और 'यास्यामि' इस उत्तमकी जगह 'यास्यासि' यह मध्यम पुरुष किया गया है अथवा 'मैं' की जगह 'तू' और 'तू' की जगहपर 'मैं' इसप्रकार युष्मद् अस्मद् शब्दोंके प्रयोगका विपरिवर्तन किया गया है इसलिये यहांपर साधन व्यभिचार है।

इसीप्रकार काल आदिका भी व्यभिचार है और उसकी शब्दनयसे निवृत्ति मानी गई है। वह इसप्रकार है–

भविष्यत् आदि कालोंमें होनेवाले कार्यका भूतकालमें होना मान लेना काल व्यभिचार है। जिस तरह "विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता" जिसने समस्त ब्रह्मांडको देख लिया है ऐसा इसके पुत्र होगा। यहां पर समस्त ब्रह्मांडका देखना भविष्यत् कालका कार्य है उसका भूतकालमें होना मान लिया गया है

१ सर्वार्थसिद्धिमें साधनव्यभिचारः (कारकव्यभिचारः) सेना पर्वतमधिवसति। पुरुषव्यभिचारः एहि मन्ये रथेन यास्यसि नहि यास्यसि यातस्ते पिता, अर्थात् साधनका अर्थ कारक माना है और साधन व्यभिचारका सेना पर्वतमें रहती है यह उदाहरण दिया है। पुरुष व्यभिचार एक जुदा व्यभिचार माना है और उसका एहि मन्ये रथेनेत्यादि उदाहरण दिया है।

इसलिये यहांपर भिन्नकाल—भविष्यत्कालका कार्य, भिन्नकाल—भूतकालमें, कहनेसे कालव्यभिचार है। इसीतरह 'भाविकृत्यमासीत्' आगे होनेवाला कार्य हो चुका यहांपर भी भिन्न कालके कार्यका भिन्न कालमें होना माननेसे काल व्यभिचार है।

उपग्रहका अर्थ परस्मैपद वा आत्मनेपद है। परस्मैपदकी जगह आत्मनेपद कह देना और आत्मनेपदकी जगह परस्मैपद कह देना उपग्रह व्यभिचार है। स्था धातु परस्मैपदी है परंतु उपसर्गके बलसे उसे आत्मनेपदी मान लिया जाता है जैसे 'तिष्ठति' के स्थानपर संतिष्ठते[1] प्रतिष्ठते आदि प्रयोग किये जाते हैं। यहांपर परस्मैपदकी जगह आत्मनेपद कहनेसे उपग्रह व्यभिचार है। इसीतरह 'रमु क्रीडायां' धातु आत्मनेपदी है। वहांपर उपसर्गके बलसे उसे परस्मैपदी मानलिया जाता है जैसे 'रमते' के स्थानपर विरमति[2] उपरमति प्रयोग किये जाते हैं। यहांपर आत्मनेपदको परस्मैपद कहनेसे उपग्रह व्यभिचार है। यह उपग्रह व्यभिचारका कथन सर्वार्थसिद्धिकी[3] टिप्पणी और अर्थप्रकाशिका[4] टीकाके आधारपर है।

१ संव्यवप्रात्। १। २। २१। सम् वि अव और प्र उपसर्गसे परे रहनेपर स्था धातुसे आत्मनेपद होता है। जैनेन्द्रव्याकरण।

२ व्याङ्‌श्च रमः। १। २। ९५ उपात्। १। २। ९६। वि आङ् परि और उप उपसर्गसे आगे रमु धातु रहने पर परस्मैपद होता है। जैनेन्द्रव्याकरण।

३ अत्र परस्मैपदोपग्रहः अत्र सूत्रं समवप्रविभ्यः। रमु क्रीडायामित्यत्रात्मनेपदोपग्रहः। व्याङ्परिभ्यो रमः इति व्यभिचारसूत्रं। अर्थात् संतिष्ठते प्रतिष्ठते यहां पर परस्मैपद उपग्रह है और परस्मैपदी स्था धातुसे 'समवप्रविभ्यः' इस सूत्रमें वहां उपग्रहका व्यभिचार आत्मनेपद हुआ है। 'रमु क्रीडायां' यहां पर आत्मनेपद उपग्रह है और 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इस सूत्रसे व्यभिचारस्वरूप परस्मैपद हुआ है। सर्वार्थसिद्धि टिप्पणी पृष्ठ ८०।

४ बहुरि आत्मदेपदकूं परस्मैपद भया ऐसे ही उपसर्ग व्यभिचारकूं व्यवहारनय अन्याय माने हैं इस शब्दनयसे समस्त विरोध मिटै है। अर्थप्रकाशिका पृष्ठ ६३।

पं०पन्नालालजी दूनीवालोंकी टीकामें भिन्न रूपसे लिखा है। इसीप्रकार और भी व्यभिचार समझ लेने चाहिये और उनकी शब्दनयसे व्यावृत्ति जाननी चाहिये। इसका खुलासा यह है कि एकवचनके साथ बहुवचन का पुंलिंगके साथ स्त्रीलिंग या नपुंसक लिंगका इत्यादि प्रकारसे जो संबंध है एवं व्यवहार है उसे व्यवहारनय तो ठीक समझता है उसनयकी अपेक्षा वैसे प्रयोग किये जा सकते हैं व्याकरण भी उन्हीं प्रयोगों के अनुसार सिद्धि करता है परंतु शब्दनयकी प्रधानतासे वे प्रयोग ठीक नहीं हैं। कारण जितने भी शब्द भेद हैं, लिंग भेद हैं, कारकादि भेद हैं वे सब इस नयकी अपेक्षा भिन्न भिन्न अर्थके द्योतक हैं, इसलिये भिन्न अर्थोंका परस्पर संबंध मानना ठीक नहीं है अतएव शब्दनय उस व्यवहारको दूषित—व्यभिचारित समझता है। व्यवहारनयसे भले वे ही ठीक हों।

जितने भर भी लिंग आदि व्यभिचार दोष ऊपर कहे गये हैं वे सभी अयुक्त हैं। वस्तु स्वरूपसे विपरीत बातको सिद्ध करनेवाले हैं क्योंकि भिन्न अर्थका भिन्न अर्थके साथ संबंध हो नहीं सकता। यदि हठात् लिंग व्यभिचार आदिको युक्त माना जायगा तो भिन्न पदार्थका भिन्न पदार्थके साथ संबंध होना युक्त होगा फिर घटको पट और पटको घट भी कह देना पडेगा परंतु वैसा होता नहीं इसलिये समान लिंग समान संख्या और समान साधन आदि शब्दोंका ही आपसमें संबंध होता है इसबातका ज्ञापक शब्दनय है यदि मूलशब्दके लिंग आदि भिन्न होंगे और पर्याय शब्दके भिन्न होंगे तो इसरीति

१ अर संतिष्ठतेकी एवज प्रतिष्ठते कहै अर 'विरमति' की जगह 'उपरमते' कहै सो उपग्रह कहिये उपसर्ग व्यभिचार है। श्लोकवार्तिकाकार भी 'प्रतिष्ठते, स्थानपर 'अवतिष्ठते, कहना और 'विरमति' जगह पर उपरमते, कहना उपग्रह व्यभिचार मानते हैं। भिन्न भिन्न नयोंसे दोनों ही प्रकारके अर्थ प्रामाणीक हैं।

से 'तारका स्वातिः' यहांपर स्त्रीलिंग तारका शब्दके पुंलिंग स्वातिशब्द और नक्षत्रं पुनर्वसू यहां एक-वचनांत नक्षत्र शब्दके द्विवचनांत पुनर्वसू आदि जितने अपर विभिन्नलिंगक आदि पर्याय कहे गये हैं वे लिंग आदि व्यभिचार स्वरूप हैं आपसमें उनका संबंध नहीं हो सकता इसलिये वे शब्दनयके विषय नहीं कहे जा सकते। शंका—

यदि तारका शब्दकी स्वाति पर्याय और नक्षत्र आदि शब्दोंकी पुनर्वसू आदि पर्यायें न मानी जायगीं तो लोक और शास्त्र दोनोंका विरोध होगा क्योंकि संसारमें वैसा व्यवहार दीख पडता है और शास्त्रोंमें व्यवहारनय वैसे प्रयोगोंको ठीक मानता है इसलिये शास्त्रविरोध आता है। इसका उत्तर यह है कि यहांपर शब्दनयका वास्तविक विषय क्या है? इस तत्त्वपर विचार किया गया है। यदि इस तत्त्व विचारसे किसी प्रकारका विरोध जान पडे तो हो, उसकी कोई चिंता नहीं। क्योंकि जो पुरुष ज्ञानवान हैं वे व्यवहारका स्वरूप अच्छीतरह जानते हैं। किस नयका विषय क्या है? वे अच्छीतरह व्यवहार कर सकते हैं इसलिये जिसनयका जो स्वरूप है वह उसी नयसे ठीक है।

विशेष—जिसप्रकार घट पट आदि पदार्थ भिन्न हैं उसीप्रकार जिन शब्दोंके लिंग संख्या आदि भिन्न हैं वे भी आपसमें भिन्न हैं इसलिये शब्दनयकी अपेक्षा जो शब्द भिन्नलिंगक आदि हैं उनका आपसमें संबंध नहीं हो सकता क्योंकि लिंग संख्या आदिके भेदसे वे पदार्थ भी भिन्न भिन्न हैं और अन्य पदार्थोंका अन्य पदार्थोंके साथ संबंध होता नहीं यह सिद्धांतसिद्ध वात है। यदि लिंग आदिके भेदसे भिन्न भी पदार्थोंका जबरन आपसमें संबंध मान लिया जायगा तब घट पट वा घट मठ आदिका भी संबंध युक्त कहना पडेगा फिर घट पट आदि भिन्न भिन्न पदार्थ भी एक मानने होंगे। इसलिये विभिन्न-

लिंगक वा विभिन्नसंख्यक आदि शब्दोंका लिंग आदिके भेदसे भेद होनेके कारण आपसमें संबंध सिद्ध नहीं हो सकता किंतु जो शब्द समानलिंगक जिसतरह 'घटः कुटः' और समानसंख्याक जिसतरह 'नक्षत्रं-ऋक्षं' आदि होंगे उन्हींका आपसमें संबंध हो सकता है यह शब्दनय वतलाता है। इसरीतिसे 'तारका स्वातिः' यहांपर लिंग भेद और नक्षत्रं पुनर्वसू इत्यादि स्थलोंपर वचन आदिके भेदोंसे परस्पर भिन्न होनेके कारण आपसमें संबंध नहीं हो सकता क्योंकि वहां लिंग आदिका व्यभिचार है इसीलिये उनका वैसा व्यवहृत होना शब्दनयकी अपेक्षा वास्तविक नहीं। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

तारका शब्दकी पर्याय स्वातिः और नक्षत्र शब्दकी पर्याय पुनर्वसू आदिका व्यवहार संसारमें मोजूद है फिर वहांपर शब्द नयकी अपेक्षा लिंग व्यभिचार आदि दोष नहीं माने जा सकते क्योंकि किसी भी सिद्धांतकारने वहांपर लिंग व्यभिचार आदि दोष स्वीकार कर उनका परिहार नहीं किया है इसलिये जबरन लिंग आदि व्यभिचार दोषोंको प्रकाशित करनेके लिये शब्दनयका मानना निरर्थक है ? सो नहीं। शब्द पदार्थपर व्याकरण शास्त्रकी सत्ता निर्भर है। यदि वैयाकरणोंको शब्दोपजीवी भी कह दिया जाय तो अयुक्त नहीं। जिन जिन व्यभिचार दोषोंका ऊपर उल्लेख किया गया है और उनका प्रकाश करनेवाला एवं रोकनेवाला शब्दनय वताया गया है, शब्दप्राण वैयाकरणोंने भी उन्हें व्यभिचार दोष मान उनका परिहार किया है परंतु वह उनका माना हुआ परिहार सदोष है। विना शब्दनयके माने लिंग व्यभिचार आदि दोषोंका परिहार हो नहीं सकता इसलिये शब्दनय मानना ही होगा। लिंग संख्या आदि संबंधी व्यभिचार दोषोंकी निवृत्तिके लिये वैयाकरणोंने क्या क्या परिहार दिये हैं और वे किसतरह सदोष हैं ? इसविषयमें हम श्लोकवार्तिकके वचन यहां उद्धृत करते हैं—

ये हि वैयाकरण(णाः) व्यवहारनयानुरोधेन "धातुसंबंधे प्रत्ययाः" इति सूत्रमारभ्य विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता भाविकृत्यमासीदित्यत्र कालभेदेप्येकपदार्थमादृताः, यो विश्वं द्रक्ष्यति सोऽपि पुत्रो जनितेति भविष्यत्कालेनातीतकालस्य भेदोऽभिमतः तथा व्यवहारदर्शनादिति । तत्र यः (तन्न श्रेयः) परीक्षाया मूलक्षतेः कालभेदेऽप्यर्थस्याभेदेऽतिप्रसंगात् । रावणशंखचक्रवर्तिनोरप्यतीतानागतकालयोरेकत्वापत्तेः । आसीद्रावणो राजा शंखचक्रवर्ती भविष्यतीति शब्दयोर्भिन्नविषयत्वान्नैकार्थतेति चेत् विश्वदृश्वा जनितेत्यनयोरपि माभूत्तत एव । नहि विश्वं दृष्टवानिति विश्वदृशित्वेतिशब्दस्य योऽर्थोऽतीतकालस्य जनितेति शब्दस्यानागतकालः, पुत्रस्य भाविनोऽतीतत्वाविरोधात् । अतीतकालस्याप्यनागतत्वा(त्व)-व्यपरोपादेकार्थताभिप्रेतेति चेत् तर्हि न परमार्थतः कालभेदेप्यभिन्नार्थव्यवस्था ।

तथा करोति क्रियते इतिकारकयोःकर्तृकर्मणोर्भेदेऽप्यभिन्नमर्थत एवाद्रियते । स एव करोति किंचित् स एव क्रियते केनचिदिति प्रतीतेरिति तदपि न श्रेयः परीक्षायां । देवदत्तः कटं करोतीत्यत्रापि कर्तृकर्मणोर्देवदत्तकटयोरभेदप्रसंगात् ।

तथा पुष्यं तारकेत्यव्यक्तिभेदेऽपि न कृतार्थमेकमाद्रियते । लिंगमशिष्यं लोकाश्रयत्वादिति । तदपि न श्रेयः । पटः कुटीत्यत्रापि पटकुट्योरेकत्वप्रसंगात्, तल्लिंगभेदाविशेषात् । तथापोऽम्भ इत्यत्र संख्याभेदेऽप्येकमर्थंजलाख्यमादृता संख्याभेदस्योद्भेदकत्वाद् गुर्वादिवदिति । तदपि न श्रेयः परीक्षायां घटस्तन्तव इत्यत्रापि तथाभावानुषंगात् संख्याभेदाविशेषात् ।

एहि मन्ये रथेन यास्यसि, नहि यास्यसि यातस्ते पिता इति साधनभेदेऽपि पदार्थमभिन्नमादृताः । 'प्रहासे मन्यवाचि युष्मन्मन्यतेरस्मदेकवच्च' इति वचनात् । तदपि न श्रेयः परीक्षायां । अहं पचामि त्वं पचसीत्यत्रापि अस्मद्युष्मत्साधनाभेदेऽप्येकार्थत्वप्रसंगात् ।

तथा संतिष्ठते अवतिष्ठते इत्यत्रोपसर्गभेदेऽप्यभिन्नमर्थमाहता उपसर्गस्य धातुमात्रद्योतकत्वादिति। तदपि न श्रेयः। तिष्ठति प्रतिष्ठते इत्यत्रापि स्थितिगतिक्रिययोरभेदप्रसंगात् ततः कालादिभेदाद्भिन्न एवार्थोऽन्यथातिप्रसंगादिति शब्दनयः प्रकाशयति।

धात्वर्थसंबंधी प्रत्यय जिस कालमें कहे गए हैं उनसे भिन्न कालमें भी होते हैं ऐसे अर्थवाले सूत्रका निर्माणकर 'विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता, भाविकृत्यमासीत्' यहांपर जो भविष्यत कालके कार्यको भूतकाल में माननेसे कालका भेद रहनेपर भी भविष्यत् और अतीत कालको वैयाकरण एक मानते हैं और दोनों कालोंके अभेद माननेमें यह हेतु देते हैं कि संसारमें वैसा व्यवहार होता है। परंतु उनका व्यवहारके आधीन दोनों कालोंका अभेद मानना युक्त नहीं। क्योंकि यदि कालोंके स्पष्टरूपसे भेद रहनेपर भी पदार्थोंको एक मान लिया जायगा तो रावण तो भूतकालमें हो चुका, शंख चक्रवर्ती आगे होनेवाला है, यहांपर भी भविष्यत् और भूत दोनों कालोंका भेद है इसलिये यहां पर भी रावण और शंख दोनों पदार्थोंको एक मान लेना चाहिये। यदि यहांपर यह कहा जाय कि 'आसीद्रावणो राजा' रावण हो चुका, 'शंख-चक्रवर्ती भविष्यति' शंखचक्रवर्ती आगे होगा यहांपर रावण और शंख शब्द भिन्न भिन्न विषयवाले होनेसे एक नहीं हो सकते इसलिये रावण और शंखका एक मानना बाधित है। सो ठीक नहीं। 'विश्वदृश्वा' यहां पर दृश्वा शब्दका अर्थ अतीतकाल है और 'जनिता' शब्दका अर्थ भविष्यत्काल है। दोनों ही शब्दोंका आपसमें भिन्न भिन्न अर्थ है इसलिये भविष्यत्कालमें होनेवाला पुत्र अतीतकालमें 'हुआ' नहीं माना जा सकता। यदि यहांपर फिर यह कहा जाय कि अतीतकालमें भविष्यतकालका आरोपकर दोनोंको एक मानकर भविष्यत्कालमें होनेवाला पुत्ररूप कार्य अतीतकालमें हुआ माना जा सकता है

इसलिये दोनों कालोंके एक होनेपर उन दोनोंका कार्य भी एक हो सकता है तो उसका उत्तर यह है कि उपचारसे कालका अभेद मानकर भविष्यतकालके कार्यको भूतकालका कार्य मान भी लिया जाय तब भी वह वास्तविक रूपसे एक नहीं माना जा सकता, औपचारिक ही रहेगा इसरीतिसे वैयाकरण लोगोंने व्यवहाररूप हेतु प्रदर्शनकर जो 'विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनितेत्यादि' यहांपर भूत भविष्यत् दोनों कालोंको एक मानकर भविष्यतकालके कार्यका भूतकालमें होना वास्तविक बतलाया था और व्यभि· चारका परिहार किया था वह असंगत सिद्ध हो गया इसलिये शब्द नयकी अपेक्षा कालभेदसे पदार्थोंका भी भेद होनेके कारण वहां आपसमें संबंध होना बाधित है। तथा—

'करोति' यह कर्तामें प्रत्यय है और 'क्रियते' यह कर्ममें प्रत्यय है यहांपर कर्ता और कर्म कारकका भेद है परंतु वैयाकरणोंका यह कहना है कि "स एव करोति किंचित्, स एव क्रियते केनाचित्" वही कुछ करता है और वही किसीके द्वारा किया जाता है ऐसी संसारमें प्रतीति होती है इसलिये कर्ता कर्म दोनों एक ही हैं। आपसमें एक दूसरेकी पर्याय हो सकते हैं एवं कारक व्यभिचार दोष नष्ट हो जाता है। वह भी अयुक्त है। यदि कर्ता और कर्मका अभेद मान लिया जायगा 'देवदत्तः कटं करोति' देवदत्त चटाई बनाता है यहांपर भी कर्ता देवदत्त और कर्म चटाईको एक मानना पडेगा इसलिये उपर्युक्त प्रतीतिसे कर्ता कर्मको एक मानकर कारक व्यभिचार दोषका परिहार करना वैयाकरणोंका बाधित और अयुक्त है। तथा—

'पुष्यं तारका' यहांपर यद्यपि पदार्थमें भेद नहीं क्योंकि पुष्य नक्षत्र तारकाओंसे जुदा नहीं परंतु पुष्य शब्द नपुंसकलिंग है और तारका शब्द स्त्रीलिंग है इसलिये लिंगके भेदसे आपसमें दोनों शब्दों

को भी भिन्न होनेके कारण उनका आपसमें संबंध नहीं हो सकता इसलिये वहांपर लिंगव्यभिचार युक्त है। यदि इस लिंगव्यभिचारके परिहारकेलिये वैयाकरण यह कहें कि लिंगके भेदसे दो अभिन्न पदार्थों का भेद मानना निरर्थक है क्योंकि लोकव्यवहारसे लिंगभेद पदार्थोंका भेदक नहीं होता इसलिये 'पुष्यं तारका' यहांपर दोनों शब्दोंका संबंध होनेसे लिंगव्यभिचार दूर हो जाता है। सो ठीक नहीं। यदि लिंगभेद होनेपर भी पदार्थ एक समझे जांयगे तो 'पटः कुटी' यहांपर पट और कुटीको भी एक कहना पडेगा क्योंकि पुष्य और तारकाके समान यहांपर भी लिंग भेद है एवं लिंग भेद रहते भी पुष्य और तारकाको जिसप्रकार एक माना जाता है उसीप्रकार पट और कुटीको भी एक मानना चाहिये। इसरीतिसे लिंग भेद रहते भी लोक व्यवहारसे दोनों पदार्थ एक हैं यह जो लिंगव्यभिचारकेलिये वैयाकरणोंका परिहार है वह ठीक नहीं। तथा—

'आपोऽभः' यहांपर अप् शब्द नित्य बहुवचनांत है और अंभः शब्द एक वचनांत है। वचनके भेदसे पदार्थोंका भी भेद हो जाता है इसलिये यहांपर संख्या व्यभिचार दोष है। परन्तु वैयाकरणोंका यहां मानना है कि जिसप्रकार गुरु आदि, पदार्थोंका भेद बतलानेवाले हैं, भेद करनेवाले नहीं उसीप्रकार संख्याभेद भी पदार्थोंके भेदका बतलानेवाला है करनेवाला नहीं इसलिये 'आपोऽभः' यहांपर संख्या भेद रहते भी पदार्थोंका भेद न होनेसे आपसमें संबंध हो सकता है अतः अप् और जल दोनोंका अभेद होनेसे यहां संख्या व्यभिचार दोष दूर हो जाता है? सो भी ठीक नहीं। यदि संख्याके भेद रहते भी पदार्थ एक माने जांयगे तो घट संस्तव (?) (स्तवन) ये पदार्थ एक हो जांयगे क्योंकि 'आपोऽभः' के समान यहांपर भी संख्याभेद है एवं संख्याभेद रहते भी जिस तरह उन दोनों पदार्थोंको एक माना है ऐसा

इन्हें भी मानना पडेगा। इसलिये सर्वथा व्यभिचारकी निवृत्तिके लिये दिया हुआ भी वैयाकरणोंका परिहार कार्यकारी नहीं। तथा—

'एहि मन्ये रथनेत्यादि' यहांपर ('मन्यसे' इस मध्यम पुरुषके स्थानपर 'मन्ये' यह उत्तमपुरुष अथवा) युष्मद् शब्दके (त्वं) प्रयोगके स्थानपर अस्मद् शब्दका (अहं) प्रयोग दिया है। तथा (उत्तम-पुरुष 'यास्यामि' 'एमि' की जगहपर मध्यमपुरुष 'यास्यसि' और एहि अथवा) अस्मद् शब्दके (अहं) प्रयोगकी जगह युष्मद् शब्दका (त्वं) प्रयोग किया है इसलिये यहां साधन व्यभिचार है क्योंकि एक पुरुषकी जगह दूसरा पुरुष कह देना वा युष्मद् शब्दके प्रयोगकी जगह अस्मद् शब्दका प्रयोग वा अस्मद् शब्दकी जगह युष्मद् शब्दका प्रयोग कर देना साधन व्यभिचार है यह ऊपर कह दिया गया है परन्तु वैयाकरण लोग 'प्रहासे मन्यवाचि युष्मन्मन्यतेरस्मदेकवच्च'[1] इस सूत्रानुसार युष्मद् और अस्मद् शब्दके प्रयोगोंको एक मानते हैं और इस तरह अभेद मानकर यहांपर साधन व्यभिचारका परिहार करते हैं। परन्तु उनका वैसा मानना ठीक नहीं क्योंकि साधनके भेद रहते भी यदि पदार्थोंको एक माना जायगा तो 'अहं पचामि त्वं पचासि' यहांपर भी युष्मद् अस्मद्रूप साधनोंका भेद है इसलिये यहांपर भी एक मानना पडेगा फिर भिन्न भिन्न रूपसे जो दो प्रयोग होते हैं वे न हो सकेंगे इसलिये साधन व्यभिचारके दूर करनेके लिये जो वैयाकरणोंने समाधान दिया है वह अयुक्त है। तथा संतिष्ठते की जगह पर अवतिष्ठते कहना उपग्रह व्यभिचार है परन्तु वैयाकरणोंका कहना है कि उपसर्ग केवल

१। प्रहासे मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च ॥ १।४।१०७ ॥ जिस धातुका उपपद मन्य धातु हो और हंसी अर्थ गम्यमान हो तो उस प्रकृतिभूत धातुसे मध्यम और मन्य धातुसे उत्तम पुरुष होता है। पाणिनीय व्याकरण।

धातुके अर्थके द्योतन करनेवाले होते हैं भेद करनेवाले नहीं होते इसलिये उपसर्गोंके भेदके रहते भी अर्थ भिन्न नहीं होता, एक ही रहता है। परन्तु यह उनका कहना ठीक नहीं। क्योंकि यदि उपसर्ग पदार्थोंके अर्थका भेदक नहीं है—धातुका जो अर्थ है उसीका द्योतन करनेवाला है तो 'तिष्ठति' का अर्थ तो ठहरना होता है और 'प्रतिष्ठते' का अर्थ गमन करना होता है। यहांपर स्थिति और गति दोनों क्रियाओंका ऐक्य हो जाना चाहिये परन्तु वैसा हो नहीं सकता इसलिये उपग्रह व्यभिचारकी निवृत्तिके लिये भी जो वैयाकरणोंने परिहार दिया है वह भी बाधित है। इस उपर्युक्त आलोचनासे यह बात सिद्ध हो चुकी कि लिंग आदिके भेदसे पदार्थ भिन्न हैं और उस भेदका प्रकाश करनेवाला शब्दनय है। इसप्रकार यह शब्दनयका वर्णन हो चुका। अब क्रमप्राप्त समभिरूढ नयका स्वरूप कहा जाता है—

नानार्थसमभिरोहणात्समभिरूढः ॥ १० ॥

अनेक अर्थोंको छोडकर प्रधानतासे जो एक ही अर्थमें रूढ—प्रसिद्ध हो—उसी अर्थको विषय करने वाला हो वह समभिरूढ नय है। खुलासा तात्पर्य यह है कि—

जिसतरह तीसरा सूक्ष्मक्रिय नामका शुक्लध्यान अर्थ व्यंजन और योगोंकी पलटनके अभावसे अवीचार और अवीतर्क होनेसे सूक्ष्मकाय योगमें रहनेके कारण सूक्ष्मक्रिय है अर्थात् सूक्ष्मक्रिय ध्यान

---

१ उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यः प्रतीयते। प्रहाराहारसहारविहारपरिहारवत् ॥ १ ॥

अर्थात् उपसर्गके बलसे जबरन धातुका अर्थ बदल जाता है जिस तरह एक ही हृ धातुका उपसर्ग बलसे प्रहार आहार आदि अनेक अर्थ हो जाते हैं। यदि उपसर्ग अर्थका भेदक न माना जायगा तो इस श्लोकसम्बन्धी सिद्धांतको मिथ्या कहना होगा।

का सूक्ष्मकाय योगमें रहना प्रसिद्ध है उसीप्रकार गोशब्दके यद्यपि वाणी पृथ्वी आदि अनेक अर्थ हैं तो भी दूसरे दूसरे अर्थोंका वाचक न होकर वह गाय शब्दमें ही रूढ है। समभिरूढ नय; रूढ पदार्थको ही विषय करता है इसलिये गो शब्दके केवल गाय ही अर्थको प्रकाशित करना यह समभिरूढ नयका विषय है। यहांपर यह अवश्य समझ लेना चाहिये कि सोती उठती बैठती चलती किसी भी हालतमें चाहे गाय हो वह सब अवस्थावाली गाय समभिरूढ नयका विषय है।

अथवा शब्दोंका जो प्रयोग किया जाता है वह अर्थ ज्ञानके लिये किया जाता है यदि वह अर्थ ज्ञान एक ही शब्दके प्रयोगसे सिद्ध हो जाय तो फिर दूसरे पर्याय शब्दका कहना व्यर्थ है। यदि यह कहा जाय कि एक अर्थके प्रतिपादन करनेवाले अनेक शब्द भी होते हैं इसलिये अर्थ एक ही रहता है परंतु शब्द भेद वहां रहता है उसका यह उत्तर है कि यदि शब्द भेद होगा तो अर्थभेद भी नियमसे होगा क्योंकि 'जितने शब्द भेद हैं उतने ही उनके अर्थ हैं' यह नियम है। जिसतरह यद्यपि इंद्र शक्र पुरंदर आदि शब्द एक ही शचीपति—इंद्र अर्थके कहनेवाले हैं तथापि परमैश्वर्यका भोक्ता होनेसे इंद्र, सामर्थ्यवान होनेसे शक्र और पुरविदारण करनेसे पुरंदर इसप्रकार उन भिन्न भिन्न शब्दोंके भिन्न भिन्न अर्थ हैं। इसरीतिसे पर्यायोंके अनुसार इंद्र शब्दके अनेक अर्थ रहते भी वह रूढ इंद्र (शचीपति) अर्थ में ही है और इस रूढ अर्थको ही समभिरूढ नय विषय करता है। यहांपर यह वात समझ लेनी चाहिये कि चाहें इंद्र परमैश्वर्यका भोग करे या न करे किसी भी हालतमें हो तब भी वह समभिरूढ नयका विषय है।

१ जित्तियमित्ता सद्दा त्तित्तियमित्ताथि होंति परमत्था: । यावन्मात्राः शब्दाः तावन्मात्राः परमार्था भवंति ।

अथवा—जो पदार्थ जहां सर्वथा मौजूद है वहींपर प्रधानतासे रहनेके कारण समभिरूढ कहा जाता है। जिसतरह किसीने पूछा कि—भाई ! तुम कहां रहते हो ? उत्तर मिला—हम अपनी आत्मामें निवास करते हैं। क्योंकि प्रधानतासे आत्माका रहना आत्मामें ही है दूसरे पदार्थोंमें उसका रहना नहीं हो सकता यदि अन्य पदार्थका अन्य पदार्थमें भी रहना माना जायगा तो ज्ञान आदि वा रूप आदि गुणोंका रहना भी आकाशमें मानना पडेगा इसलिये अन्य पदार्थका अन्य पदार्थमें रहना नहीं हो सकता। अपना अपनेमें ही रहना हो सकता है। इसरीतिसे प्रधानतासे आत्माका रहना आत्मामें ही रूढ है इसलिये दूसरे दूसरे पदार्थोंको छोडकर प्रधानतासे एक पदार्थ—अपनेमें, ही रहनेके कारण आत्मा समभिरूढ नयका विषय है। एवंभूतनयका लक्षण—

येनात्मना भूतस्तेनैवाध्यवसाययतीत्येवंभूतः ॥ ११ ॥

जो पदार्थ जिस स्वरूप अर्थात् अर्थ क्रियासे जिससमय परिणत हो उसका उसीस्वरूप अर्थक्रिया परिणामसे निश्चय करना एवंभूत नयका विषय है। जिसतरह इंद्र शब्दका अर्थ परमेश्वर है जिससमय वह परमैश्वर्यका भोग कर रहा हो उसीसमय उसको इंद्रकहना यह एवंभूतनयका विषय है किंतु जिसका केवल नाममात्र इंद्र है वा जहांपर किसी पदार्थमें इंद्रकी स्थापना है वा जो इससमय इंद्र नहीं आगे जाकर इंद्र होनेवाला है वह समभिरूढ नयका विषय नहीं क्योंकि उपर्युक्त तीनों अवस्थाओंमें परमैश्वर्य का भोग नहीं हो रहा है। इसीप्रकार अन्य शब्दोंमें भी जिस जिस क्षणमें उनकी जिस जिस अर्थ क्रिया का परिणमन हो रहा है उस उस क्षणके उस उस परिणमनकी अपेक्षा एवंभूतनयकी योजना कर लेनी चाहिये यदि अर्थक्रियाकी परिणतिका दूसरा दूसरा काल होगा तो वे एवंभूतनयके विषय नहीं हो सकते।

अथवा—आत्मशब्दका अर्थ स्वरूप भी है इसलिये जिस शब्दका अर्थ जिस स्वरूपसे हो उसका उसी रूपसे होनेका निश्चयकरना एवंभूतनयका विषय है। जिसतरह 'गच्छतीति गौः' जो गमन करै उसका नाम गाय है यह गोशब्दका व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ है । यहांपर जिसतरह जिस मनुष्यके हाथमें दंड हो उसे ही दंडी कहना किंतु पूर्व और उत्तर कालमें उसके हाथमें दंड न रहनेसे दंडी न कहना उसीतरह जिससमय गाय गमन कर रही हो उसीसमय उसे गाय कहना और पूर्व और उत्तर कालमें जब कि वह खडी वा सो रही है उससमय गमन न करनेके कारण गाय न कहना एवंभूतनयका विषय है। इसी प्रकार और शब्दोंमें भी समझ लेना चाहिये।

अथवा—आत्मशब्दका अर्थ ज्ञान है इसलिये आत्मा जिस क्षणमें जिस पदार्थके ज्ञानसे युक्त हो उसे वही कहना एवंभूतनयका विषय है। जिसतरह जिसक्षणमें आत्मा इंद्र पदार्थके ज्ञानसे परिणत हो रहा है उसे इंद्र कहदेना अथवा जिससमय अग्नि पदार्थके ज्ञानसे परिणत हो रहा है उसे अग्नि कह देना यह एवंभूतनयका विषय है। यहांपर 'एवंभूयत इति' 'ऐसा होना' इस एवंभूतनयके अर्थकी प्रतीति शब्दसे होती है इसलिये शब्द ही एवंभूतनय माना है कारणमें कार्यका उपचार है अर्थात् एवंभूतनयके अर्थकी प्रतीतिमें कारण शब्द है और कार्य एवंभूतनय है। शंका—

१। समभिरूढ और एवंभूत नयके जो उदाहरण दिये गये हैं उन्हें बहुतसे लोग समान सरीखे जानकर यह शंका कर बैठते है कि इन दोनों नयोंमें क्या भेद है। इसलिये यहां उनका स्पष्टीकरण कर देते हैं—

व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ क्या है इस बातका कुछ भी विचार न कर प्रसिद्ध अर्थका जान लेना समभिरूढनयका विषय है जिस तरह गोशब्दका व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ 'जो गमन करे उसका नाम गाय है' यह है इसका तो विचार न करना किंतु उसके वाणी पृथ्वी आदि

दाहकत्वाद्यतिप्रसंग इति चेत्तदव्यतिरेकादातिप्रसंग इति ॥ १२ ॥

यदि अग्निज्ञानसे परिणत आत्माको एवंभूत नयकी अपेक्षा अग्नि कहा जायगा तो जलाना पकाना आदि जितने धर्म अग्निमें हैं वे सब आत्मामें भी मानने पडेंगे इसलिये आत्मा अग्नि नहीं कहा जा सकता ? सो ठीक नहीं । नाम स्थापना आदि जिस स्वरूपसे कहे जाते हैं वे उससे अभिन्न रहते हैं और जिस पदार्थके जो जो धर्म होते हैं वे नियमितरूपसे उसीमें रहते हैं । आत्माका जो अग्नि नाम है उसका आत्माके साथ अभेद है परंतु अग्निके जो जलाना पकाना आदि धर्म हैं वे अग्निमें ही रहते हैं आत्मामें नहीं हो सकते इसलिये नोआगमभाव[2] अर्थात् साक्षात् अग्निमें रहनेवाला दाहकपना आगमभाव अर्थात् औपचारिक अग्निमें नहीं हो सकता । इसरीतिसे यदि आत्माका नाम अग्नि माना जायगा तो अग्निके दाहकत्व आदि धर्म आत्मामें मानने पडेंगे यह जो ऊपर शंका की गई थी वह निर्मूल सिद्ध हो चुकी ।

अनेक अर्थोंमें प्रसिद्ध अर्थ 'गाय' लेना और सब अर्थोंको छोड देना तथा उस गायको सोती उठती वैठती चलती सभी अवस्थाओंमें गाय कहना यह समभिरूढ नयका विषय है । इसी तरह इन्द्र शब्दका व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ परमैश्वर्यका भोगना है इसका तो विचार न करना किंतु शक्तिमान होना, पुरोंका विदारण करना आदि अनेक अर्थोंमें प्रसिद्ध अर्थ परमैश्वर्यका भोगना ही लेना और अर्थ छोड देना एवं उस इन्द्रको परमैश्वर्यका भोग कर रहा हो, वा न कर रहा हो सभी अवस्थाओंमें इन्द्र कहना यह समभिरूढनयका विषय है इसी तरह और भी उदाहरण समझ लेना चाहिये । परंतु—

जहां पर केवल व्युत्पत्तिसिद्ध ही अर्थ विषय हो वह एवंभूत नय है जिस तरह गमन करनेवालीको ही गाय कहना खडी रहनेवाली वा खोनेवालीको न कहना वा जिस समय इन्द्र परमैश्वर्यका भोग कर रहा हो उसी समय इन्द्र कहना अन्य समय इन्द्र न कहना यह एवंभूत नयका विषय है । २ आगम नो आगमका अर्थ नामस्थापनेत्यादि सूत्रमें लिख आये हैं ।

नैगमके बाद संग्रह, संग्रहके बाद व्यवहार इस रूपसे जो नयोंका क्रम है उस क्रमके होनेमें उत्तरोत्तर सूक्ष्मविषयता एवं पूर्व पूर्व नय कारण और उत्तर उत्तर नय कार्य इसप्रकार कार्य कारणभाव कारण है। इन दोनों कारणोंमें उत्तरोत्तर सूक्ष्मविषयतारूप कारण इसप्रकार है—

नैगमनयका जैसा सत्पदार्थमें संकल्प है वैसा ही असत्पदार्थमें संकल्प है इसलिये सत् असत् दोनों प्रकारके पदार्थोंमें संकल्पको विषय करनेके कारण सबसे अधिक विषय नैगमनयका है। संग्रहनयका अभेद-स्वरूप सत्–द्रव्यत्व आदि ही विषय है असत् नहीं है इसलिये नैगमनयकी अपेक्षा संग्रह नयका विषय अल्प है। व्यवहार नय अभेदको विषय न कर सत् द्रव्य आदिके भेदोंको विषय करता है इसलिये संग्रह नयकी अपेक्षा व्यवहारनयका अल्प विषय है। भेदोंमें भी व्यवहार तो त्रिकालवर्ती भेदोंको विषय करता है परंतु ऋजुसूत्रनय शुद्ध वर्तमानकालीन भेदको ही विषय करता है इसलिये व्यवहारकी अपेक्षा ऋजुसूत्रनयका अल्पविषय है। ऋजुसूत्रनय लिंग संख्या आदिका भेद न कर वर्तमान पर्यायको विषय करता है परंतु शब्दनय उस एक पर्यायमें भी लिंग संख्या आदिके भेदसे अर्थका भेद प्रकाशन करता है इसलिये ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा शब्दनयका अल्पविषय है। अर्थात् ऋजुसूत्रनय अर्थ पर्याय और शब्द पर्याय सभीको विषय करता है परंतु शब्दनय केवल शब्द पर्यायको ही विषय करता है। इसलिये ऋजुसूत्र महाविषय और शब्दनय स्वल्पविषय है। शब्दनय लिंग संख्या आदिके भेदसे ही अर्थ भेद मानता है, पर्याय भेदसे अर्थभेद नहीं मानता परंतु समभिरूढ नय भिन्न भिन्न पर्यायोंके भिन्न भिन्न अर्थ होते हैं यह द्योतन करता है इसलिये पर्यायके भेदसे अर्थका भेद मानना समभिरूढ नयका विषय होनेसे शब्दनयकी अपेक्षा समभिरूढ अल्पविषय है अर्थात् शब्दनय नाना शब्दोंके अर्थको ग्रहण करता है परंतु समभिरूढ

नय किसी नियत अर्थको ही द्योतन करता है। समभिरूढनय सोना उठना बैठना आदि अनेक क्रियायुक्त पदार्थको भी द्योतित करता है परंतु एवंभूतनय जिस कालमें जो अर्थ क्रिया हो रही है उसीकी अपेक्षा उस पदार्थको द्योतित करता है इसलिये समभिरूढनयकी अपेक्षा एवंभूतनय अल्पविषय है। तथा कार्य कारणता इसप्रकार है—

नैगमनयके विषयमें ही संग्रहनयकी प्रवृत्ति है इसलिये नैगमनय कारण और संग्रहनय कार्य है। संग्रहनयके विषयमें व्यवहारकी प्रवृत्ति है इसलिये संग्रहनय कारण और व्यवहारनय कार्य है इसीतरह आगे भी पहिला पहिला नय कारण और उत्तर उत्तर नय कार्य समझ लेना चाहिये इसप्रकार उत्तरोत्तर सूक्ष्मता और आपसमें कार्य कारणता रहनेसे नैगमके बाद संग्रह, संग्रहके बाद व्यवहार इत्यादि क्रम माना गया है। ये सभी नय पूर्व पूर्व महाविरुद्धविषयवाले हैं और उत्तरोत्तर अनुकूल विषयवाले हैं क्योंकि पहिले नयने जितने पदार्थको विषय कर रक्खा है उसको आगेका नय विषय नहीं करता इसलिये पहिला नय विरुद्ध महा विषयवाला है तथा आगेके नयका जो विषय है वह पहिलेके नयमें गर्भित है इसलिये आगेका नय पहिले नयके अनुकूल अल्पविषयवाला है इसप्रकार पूर्व पूर्व महा विरुद्ध विषयवाले एवं

१ यहा पर यह दृष्टांत समझ लेना चाहिये कि किसी नगरमें पक्षी बोलता था उसका बोलना सुन एकने कहा इस नगरमें पक्षी बोलता है। दूसरेने कहा इस नगरमें एक वृक्ष है उस पर पक्षी बोलता है। तीसरेने कहा वृक्षकी बडी डाली पर पक्षी बोलता है। चौथेने कहा छोटी डाली पर बैठ कर बोलता है। पांचवेने कहा डालीके एक देश पर बैठ कर बोलता है। छठेने कहा पक्षी अपने शरीरमें बोलता है। सातवेंने कहा वह अपने कंठमें बोलता है इत्यादि यहां पर जिस प्रकार पक्षीके बोलनेका स्थान पहिले बहुत बडा बतला कर पीछे क्रम क्रमसे अल्प बतलाया गया है उसी प्रकार पहिले नैगम नयका विषय बहुत बतलाया है। फिर क्रम क्रमसे अल्प बतलाया गया है इसलिये नैगम आदि नयोंमें उत्तरोत्तर सूक्ष्मविषयता है।

उत्तरोत्तर अनुकूल विषयके धारक नय अनंत शक्तिस्वरूप द्रव्यकी प्रतिशक्तिकी अपेक्षा भिन्न होते जाते हैं इसलिये नयोंके बहुतसे भेद हैं ।

इसप्रकार जिसतरह आपसमें एक दूसरेकी अपेक्षा करनेवाले तंतू जिस समय बुन जाते हैं उस समय उनकी पट आदि संज्ञा हो जाती है और पुरुषोंके शीतनिवारण आदि प्रयोजनीय कार्योंके सिद्ध करनेमें समर्थ हो जाते हैं किंतु वे ही जब जुदे जुदे रहते हैं उससमय किसी भी प्रयोजनीय कार्यको सिद्ध नहीं कर सकते उसीप्रकार परस्पर सापेक्ष—आपसमें एक दूसरेकी अपेक्षा रखनेवाले और कहीं गौण तो कहीं प्रधानरूपमे विवाक्षित ही नय सम्यग्दर्शनके कारण हैं । यदि वे परस्पर सापेक्ष न होंगे तो कभी सम्यग्दर्शनके कारण नहीं हो सकते । शंका—

निरपेक्ष तंतू शीतानिवारण आदि किसी भी अर्थक्रियाको नहीं करते यह कहना ठीक नहीं क्योंकि कोई कोई तंतू चर्मकी—शरीरके अंशकी रक्षा करनेवाला तथा एक वकलका तंतू वजनके बांधनेमें समर्थ देखा गया है परन्तु नय जब निरपेक्ष होते हैं उस समय इनसे कोई भी अर्थक्रिया सिद्ध नहीं होती इस लिये ऊपर जो तंतुओंका दृष्टांत दिया गया है वह विषम है ? सो ठीक नहीं । निरपेक्ष तंतू पट आदि कार्यरूप होनेमें समर्थ नहीं हो सकते हमारा यह कहना है किंतु वादीने जो चर्म रक्षा करना वा किसी किसी वकलके तंतुओंसे बजनका बांधा जाना कार्य बतलाया है वह पट आदिका कार्य नहीं । वह केवल तंतूमात्रका कार्य है इसलिये हमारे कथनका ठीक तात्पर्य न समझ विषम उदाहरण कहनेका वृथा वादी

१ निरपेक्षा नया मिथ्याः सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ।। १०८ ।। देवागम स्तोत्र अर्थात् परस्पर निरपेक्ष नय मिथ्या हैं और परस्पर सापेक्ष कार्यकारी हैं । हे भगवन् ! आपके मतमें—जिन मतमें सापेक्ष नय ही कार्यकारी वस्तु है ।

ने उपालंभ दिया है। वास्तवमें तो जो वादीने केवल तंतुओंका कार्य बतलाया है वह अपने (तंतु) अवयवोंकी अपेक्षा न कर प्रत्येक तंतू भी उक्त कार्यके करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। इसलिये परस्पर निरपेक्ष रहनेपर कोई भी कार्य नहीं हो सकता यह हमारा कहना कभी बाधित नहीं हो सकता। यदि यहांपर फिर यह शंका की जाय कि—

निरपेक्ष तंतुओंमें शक्तिकी अपेक्षा पट आदि कार्य करनेकी सामर्थ्य है इसलिये निरपेक्ष तंतु पट आदि कार्यस्वरूप कहे जा सकते हैं? इसका समाधान यह है कि निरपेक्ष नयोंका नाम और उनका भिन्न भिन्न ज्ञान भी सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिमें कारणरूप शक्ति रखता ही है। इसलिये निरपेक्ष भी नय सम्यग्दर्शनके कारण बन सकते हैं इस रीतिसे दृष्टांत और दार्ष्टांत दोनोंमें समानता रहनेसे तंतुओंको उदाहरणको विषम उदाहरण बतलाना असंगत है।

विशेष—सब नयोंके मूलभेद[1] निश्चय और व्यवहार दो हैं निश्चयनयका अभेद विषय है और व्यवहारका भेद विषय है। इन दो ही भेदोंके और सब भेद हैं। निश्चयनयका अर्थ वास्तविक है वस्तुका वास्तविक स्वरूप है वह द्रव्य और पर्याय दो भेदोंमें विभक्त हैं इसलिये निश्चयनयकी सिद्धि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके आधीन मानी है अतः द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दोनों नय सत्यार्थनय हैं। जो नय द्रव्यको विषय करती हैं वे द्रव्यार्थिक और जो पर्यायको विषय करती हैं वे पर्यायार्थिक हैं। नैगम संग्रह और व्यवहार ये तीन नय द्रव्यको विषय करनेवाली हैं इसलिये द्रव्यार्थिक हैं और ऋजु सूत्र आदि चार नय पर्यायोंको विषय करती हैं इसलिये पर्यायार्थिक हैं इस रीतिसे ये सातों नय द्रव्या-

१। णिच्छयववहारणाया मूलं भेया णयाण सव्वाणं। णिच्छयसाहणहेओ दव्वय पज्जत्थिआ मुणह ॥ १ ॥

र्थिक और पर्यायार्थिक नयोंके ही भेद हैं। इन्हीं सातोंमें आदिकी चार नय तो गुणोंको विषय करने से अर्थनय कहलाती हैं और अंतकी तीन नय शब्दको विषय करनेसे शब्दनय कहलाती हैं।

व्यवहार नय भेदोंको विषय करता है और उसके सद्भूत व्यवहार असद्भूत व्यवहार और उपचरितासद्भूत व्यवहारके भेदसे तीन भेद हैं जिस नयके द्वारा सत्—ठीक व्यवहार हो अर्थात् जिस वस्तुके जो गुण और पर्याय हैं वे उसीके कहे जांय परंतु भिन्नता से कहे जांय वह सद्भूत व्यवहार नय है। जिसके द्वारा असत् व्यवहार हो अर्थात् अन्यके गुण पर्याय अन्यके कहे जांय वह असद्भूत व्यवहारनय है और जिसके द्वारा औपचारिक असत् व्यवहार हो वह उपचरितासद्भूत व्यवहार नय है।

सद्भूत व्यवहारके—शुद्धसद्भूत व्यवहार और अशुद्धसद्भूत व्यवहारके भेदसे दो भेद हैं शुद्ध गुण और शुद्ध गुणीका भेद कहना जिसतरह जीवके केवलज्ञानादि गुण हैं अथवा शुद्ध पर्याय और शुद्ध पर्यायीका भेद कहना जिसतरह सिद्धजीवकी सिद्धपर्याय है यह शुद्ध सद्भूत व्यवहार है एवं अशुद्ध गुण और अशुद्ध गुणीका भेद कहना जिसप्रकार जीवके मतिज्ञान आदि गुण हैं अथवा अशुद्धपर्याय और अशुद्ध पर्यायीका भेद कहना जिसतरह संसारी जीवकी देव आदि पर्याय हैं यह अशुद्धसद्भूत व्यवहारनय है।

असद्भूतव्यवहार—स्वजात्यसद्भूतव्यवहार १ विजात्यसद्भूतव्यवहार २ और स्वजातिविजात्यसद्भूतव्यवहारके ३ भेदसे तीनप्रकारका है। जिसके द्वारा स्वजातिसंबंधी असत् व्यवहार होता हो वह स्वजात्यसद्भूतव्यवहारनय है जिसप्रकार परमाणु बहुप्रदेशी है। यहांपर बहुप्रदेशी पुद्गल द्रव्य परमाणु का सजातीय है परंतु परमाणु बहुप्रदेशी नहीं, वह एकप्रदेशी ही है इसलिये एकप्रदेशीकी जगह बहु-

प्रदेशी कहनेसे 'परमाणुको बहुप्रदेशी कहना' स्वजात्यसद्भूतव्यवहारनयका विषय है। जिसनयके द्वारा विजातिसंबंधी असद्व्यवहार होता हो वह विजात्यसद्भूतव्यवहार है। जिसप्रकार मतिज्ञान मूर्तिक द्रव्यसे उत्पन्न हुआ है इसलिये मूर्तिक है। यहांपर विजातीय मूर्तिकके संबंधसे अमूर्तिक की जगह मूर्तिक कहनेसे मतिज्ञानको मूर्तिक बतलाना विजात्यसद्भूत व्यवहारनयका विषय है। एवं जिस नयके द्वारा स्वजाति विजाति संबंधी असत् व्यवहार हो वह स्वजातिविजात्यसद्भूत व्यवहारनय है। जिस तरह ज्ञान ज्ञेयमें रहता है। यहांपर ज्ञेयसे जीव अजीव दोनों प्रकारके ज्ञेय पदार्थोंका ग्रहण है। उनमें जीव पदार्थ ज्ञानका सजातीय है और अजीव पदार्थ ज्ञानका विजातीय है दोनोंको ज्ञानका आधार कहना स्वजातिविजात्यसद्भूत व्यवहारनयका विषय है।

उपचरितासद्भूतव्यवहारनयके भी स्वजात्युपचरितासद्भूत व्यवहार १ विजात्युपचरितासद्भूत व्यवहार २ और स्वजातिविजात्युपचरितासद्भूत व्यवहार ३ ये तीन भेद हैं। जिसनयके द्वारा स्व-जातिसंबंधी आरोपित असत् व्यवहार हैं वह व्यवहार उपचरितासद्भूतव्यवहार है जिसप्रकार पुत्र स्त्री आदि मेरे हैं। यहांपर स्त्री पुत्र आत्माकी अपेक्षा स्वजातीय हो। उनको मेरा कहना स्वजातीय आरोपित असत् है इसलिये वह स्वजात्युपचरितासद्भूत व्यवहारनयका विषय है। जिसके द्वारा विजातिसंबंधी आरोपित असत् व्यवहार हो वह विजात्युपचरितासद्भूत व्यवहारनय है जिसप्रकार वस्त्र आभरण आदि मेरे हैं। यहांपर वस्त्र आभरण आदि अचेतन पदार्थ आत्माके विजातीय हैं। उनको मेरा कहना विजातीय आरोपित असत् है इसलिये वह विजात्युपचरितासद्भूत व्यवहार नयका विषय है। एवं जिसनयके द्वारा स्वजाति विजाति दोनों संबंधी आरोपित असत् व्यवहार हो वह स्वजाति-

विजात्यसद्भूत व्यवहारनय है। जिसतरह देश राज्य किला आदि मेरे हैं। यहांपर देश आदिके कहने से उनमें रहनेवाले मनुष्य तिर्यंच आदि जीव और महल कुंवा आदि अजीव दोनों प्रकारके पदार्थोंका ग्रहण है। उनमें मनुष्य आदि आत्माके स्वजातीय और महल कुवां आदि विजातीय हैं इसलिये देश आदि मेरे हैं इस स्थानपर स्वजातीय विजातीय दोनों प्रकारके पदार्थोंको मेरा कहना स्वजातिविजात्युपचरितासद्भूत व्यवहारनयका विषय है। इसप्रकार निश्चय व्यवहार और उनके भेद द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक और नैगम आदि नयोंका संक्षेपरूपसे यहां कुछ वर्णन किया गया है विशेष श्लोकवार्तिक नयचक्र आलापपद्धति आदिसे समझ लेना चाहिये। निश्चयनयके कितने भेद हैं और वे क्यों हैं? तथा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके कितने भेद हैं। यह सब भी उपर्युक्त ग्रंथोंमें अच्छीतरह खुलासा किया गया है। नय सात ही क्यों हैं? श्लोकवार्तिककारने यह विषय बहुत ही स्पष्ट किया है और सप्तभंगीमार्गद्वारा नयोंके बहुतसे भेद बतलाये हैं विस्तारके भेदसे यहां नहीं लिखा गया है। असलमें किसी अभिप्राय विशेषको नय कहते हैं, जितने अभिप्राय हो सकते हैं उतने ही नय कहे जा सकते हैं इसलिये अभिप्रायोंके भेद अनंत होनेसे नयवाद भी अनंत हैं। वे स्थूलरूपसे परिणत किये जाते हैं इसलिये संख्याते नय हैं।

ज्ञानदर्शनयोस्तत्त्वं नयानां चैवं लक्षणं। ज्ञानस्य च प्रमाणत्वमध्यायेऽस्मिन्निरूपितं ॥ १ ॥

१। मुद्रित ग्रन्थोमें 'ज्ञानदर्शनयोस्तत्त्व नयानां चैव लक्षण' यह पाठ मिलता है परन्तु 'तत्त्व' यह जुदा पद कहनेपर कुछ अर्थमें भी अपूर्वता नहीं आती दूसरे प्रथमाध्यायमें तत्त्व पदार्थका भी वर्णन किया गया है यदि यहांपर 'तत्त्वं' यह जुदा पद माना जाता है तो प्रथमाध्यायके वर्णनीय पदार्थोंके उल्लेखमें तत्त्व शब्दका उल्लेख छूट जाता है इसलिये 'तत्त्वनयानां' यह समस्त पाठ अच्छा

यहां पर पहिला अध्याय समाप्त होता है इसलिये उसमें वर्णन किए गये विषयोंका सामान्यरूपसे यहां स्मरण कराया गया है कि इस प्रथमाध्यायमें ज्ञान दर्शन तत्त्व और नयोंके स्वरूप वा लक्षणोंका वर्णन किया गया है और सन्निकर्ष आदिकी प्रमाणताके परिहारपूर्वक ज्ञानकी प्रमाणता बतलाई गई है।

जीयाच्चिरमकलंकब्रह्मा लघुह(व्य)व्वनृपतिवरतनयः।
अनवद्यनिखिलविद्वज्जननुतविद्यः प्रशस्तजनहृद्यः ॥ १ ॥

इसी ग्रंथके अन्य (श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिक) भाषाटीकाकार पं० पन्नालालजी दूनीवालोंने इसपद्यकी संस्कृत टीका लिखी है उसे हम यहां उद्धृत किए देते हैं—

न कलंका अष्टादशदोषविशेषा यस्य स अकलंकः, बृंहयति वर्धयति प्रजा इति ब्रह्मा। अकलंकश्चासौ ब्रह्मा च अकलंकब्रह्मा—श्रीऋषभदेवः। एतस्य ब्रह्मत्वं कर्मभूमिप्रयोगप्रदर्शकत्वेन बोध्यं, आदिब्रह्मा इति यावत्। स चिरं जीयात्। धर्मस्यानादिनिधनत्वेऽपि उपस्थितावपमार्पिणीप्रारंभे प्रथमरत्नत्रयस्वरूपधारकत्वेन प्रवर्तकत्वेन च तदीयागतसंतानादस्माकं निजस्वरूपोपलब्धिदायकत्वेनासाधारणोपकारकर्तृत्वं विवक्षितं। अत एव चिरं जीयादिति पदस्य संगतिः। कथंभूतः स लघुहव्वनृपतिवरतनयः। अत्र हव्वशब्दः प्राकृतः स च कस्यचिन्नृपतिविशेषस्य वाची स तु द्वितीयार्थे ग्राह्यः। अत्र तु प्रकृतिभूतत्वात् हव्यशब्दग्रहः, तथा च लघुहव्यनृपतिवरतनय इति जातं। अस्यार्थः—हव्यशब्दस्य भोजनवाचकता। हु दानादानयोः इति धातुना निष्पन्नत्वात् "हव्यकव्ये दैवपैत्र्ये अन्ने" इति लिंगानु-

जान पडता है। यदि तत्त्वका अर्थ स्वरूप किया जाय तो जुदा पद रखनेसे भी कोई विरोध नहीं आता है। ज्ञान दर्शनके स्वरूपमें तत्त्वोंका स्वरूप गर्भित हो जाता है। इस दृष्टिसे 'तत्त्व' भी ठीक हो सकता है।

शासनाच्च । तथा च लघु हव्यं यस्य स लघुहव्यः । अंतिमभोगभूमिजकल्पवृक्षोद्भवभोजनकर्तृत्वात् । भोजने लघुत्वं भवति अत्र लघुशब्दः सापेक्षः । कस्माल्लघुः ? इत्याकांक्षायां कर्मभूमिजमनुष्येभ्यः, स चासौ नृपतिः स च लघुहव्यनृपतिः, नाभिराजा इत्यर्थः । तस्य वरः पुत्रः, ऋषभः । पुनः कथंभूतः ? अनवरतनिखिलविद्वज्जननुतविद्यः, निखिलाश्च ते विद्वज्जनाश्च निखिलविद्वज्जना यद्वा विद्वांसो देवा विबुधपर्यायवाचकत्वात् । जनाः मनुष्याः, तैः, अनवरतं नुता प्रस्तुता विद्या केवलज्ञानं यस्य । यद्वा विद्वान् वित्-अवधिज्ञानं, विद्यते यस्य स विद्वान् सौधर्मेंद्रः, जनाः भरतादयः, तैः नुताः—आदरेण गृहीता विद्याः—हेयोपादेयोपदेशा यस्य सः । पुनः कथंभूतः ? प्रशस्तजनहृद्यः—प्रशस्ताः प्रशंसां प्राप्ताः सप्तविधर्धिप्राप्ताः गणेशा वृषभसेनादयो जनाः द्वादशसभानिवासिनः, तेषां हृदयार्थप्रकाशकत्वात् हृद्यः इत्यर्थः ।

द्वितीयार्थस्त्वयं—अकलंक एव ब्रह्मा, बृंहयति वर्धयति चारित्रं यद्वा बृंहयति सूत्रार्थमिति ब्रह्मा । अकलंकश्चासौ ब्रह्मा च अकलंकब्रह्मा, एतेन शास्त्रकर्ता स्वनाम प्रख्यापयति स चिरं जीयात् । पूर्ववदर्थः । कथंभूतः सः ? लघुहव्वनृपतिवरतनयः—हव्वनृपतेः कनिष्ठपुत्र इति (?) यावत । पुनः कथंभूतः

१ । आचार्यप्रवर अकलंकदेवके विषयमें जो भी कुछ इतिहास मिलता है उसकी बहुतसे बातें संदेहास्पद है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अकलंक निष्कलक दो सहोदर भाई थे और उन दोनोंमें अकलंकदेव ज्येष्ठ थे इसलिये उक्त पद्यकी संस्कृतटीकासे जो अकलंकदेवको कनिष्ठ पुत्र बतलाया गया है वह सन्देहास्पद जान पडता है ।

अकलंकदेवकी ऐतिहासिक सामग्रीमें उन्हें मन्त्रिपुत्र बतलाया गया है । किसी किसी प्रबल मन्त्रीको राजाकी पदवी रहती है हव्व भी कोई खास परिचय जान पडता है अन्यथा उसके पीछे लघु विशेषण व्यर्थ ही है । वर्तमानमें भी हुलकर महाराज, सेंधिया महाराज आदि प्रसिद्ध ही हैं इसलिये भगवान अकलंकदेवके मन्त्री भी पिताको 'लघुहव्वनृपति' कहनेमें कुछ आपत्ति नहीं जान पडती।

अनवद्यनिखिलविद्वज्जननुतविद्यः–निखिलाः सकला विद्वज्जना निगमदर्शिनः, तैः, अनवरतं निरवच्छिन्नं नुता प्रस्तुता स्याद्वादविद्या यस्य सः; पुनः कथंभूतः प्रशस्तजनहृद्यः–प्रशस्ता जनाः सम्यग्दर्शनोपेता भव्याः, तेषां मनोहारी स्ववचनपीयूषेण संदेहादिहालाहलस्य निराकृतत्वात् ।

इस श्लोकसे आशीर्वादात्मक नमस्कार किया गया है । इसके दो अर्थ हैं । उसमें एक अर्थसे भगवान ऋषभदेवको आशीर्वाद दिया गया है और दूसरे अर्थसे वार्तिककार श्रीअकलंकदेवको आशीर्वादका विधान है । पहिला अर्थ इस प्रकार है–

श्रीनाभिराजाके उत्कृष्ट पुत्र, सदा ही इंद्र आदिसे स्तुत, अवधिज्ञान वा केवल ज्ञानके स्वामी, गौतम आदि गणधर और भरत आदि भव्योंके प्यारे, दोषरहित आदि ब्रह्मा, श्रीऋषभदेव भगवान सदा जयवंत रहो । दूसरा अर्थ–लघु राजाके कनिष्ठ किंतु उत्कृष्ट पुत्र, सदा बडे बडे विद्वानोंसे स्तुत, स्याद्वाद विद्याके निधान, सम्यग्दर्शनके धारक, भव्य जनोंके प्यारे एवं सूत्रोंके अर्थको वृद्धिंगत करनेके कारण ब्रह्मा श्रीअकलंकदेव चिरकाल जयवंते प्रवर्तो ।

इसप्रकार श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिकालंकारकी भाषाटीकामें प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार।

अथ द्वितीयाध्यायः ।

मोक्षशास्त्र ग्रंथमें मोक्षमार्गका निरूपण है उसके कारण सम्यग्दर्शन आदि हैं इसलिये मोक्षमार्गके निकट संबंधी होनेसे उनका इस ग्रंथमें वर्णन किया गया है। प्रथमाध्यायमें सम्यग्दर्शनादिके लक्षण उत्पत्ति और विषय संबंधका वर्णन कर दिया गया है। वहांपर सम्यग्दर्शनका लक्षण 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं' यह कहा जा चुका है और तत्त्वार्थ शब्दसे वहांपर जीव अजीव आदि पदार्थोंका ग्रहण किया गया है। अर्थात जीव आदि पदार्थोंका वास्तविक रूपसे श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। वहांपर यह शंका होती है कि जीव आदि पदार्थोंमें जब सबका श्रद्धान सम्यग्दर्शन कहा गया है तब उनमें प्रथमोद्दिष्ट जीव पदार्थका श्रद्धान करना भी सम्यग्दर्शन बतलाया गया है जीवका श्रद्धान किस स्वरूपसे करना चाहिये जिसके निश्चय ज्ञान, उपासना-आराधना आदिसे वह सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाय। इसकेलिये ग्रंथकार जीवका स्वरूप बतलाते हैं अर्थात् आत्माका स्वभाव बतलाते हैं और वही श्रद्धान करने योग्य है क्योंकि स्वभाव और आत्माका अभेद है इसलिये स्वभावके श्रद्धानसे निर्बाधरूपसे जीवका श्रद्धान हो जाता है। फिर वहांपर शंका होती है कि वह तत्त्व-आत्माका स्वभाव चीज क्या है? उसका सूत्रकार समाधान देते हैं-औपशमिकक्षायिकावित्यादि। अथवा इससूत्रकी उत्थानिका इसप्रकार भी है-

प्रमाण और नयका वर्णन पहिले अध्यायमें कर दिया गया है वे प्रमाण और नय आदि प्रमेयोंके ज्ञान स्वरूप हैं क्योंकि उनसे जीव आदि पदार्थोंका ज्ञान होता है तथा प्रमेय शब्दका अर्थ-जीव अजीव

आदि पदार्थ है। उनमें प्रमेयोंकी आदिमें कहे गये जीव पदार्थका तत्त्व-स्वरूप क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर उसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं-

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥ १ ॥

सूत्रार्थ-औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक, और पारिणामिक ये जीवके स्वतत्व अर्थात् निज-भाव हैं सिवाय जीवके अन्य किसी भी पदार्थमें ये नहीं रहते। वार्तिककार प्रत्येकका लक्षण वतलाते हैं-

कर्मणोऽनुद्भूतस्ववीर्यवृत्तितोपशमोऽधःप्रापितपंकवत् ॥ १ ॥

गदले जलमें फिटकडी आदि पदार्थोंके डालनेपर जिसप्रकार कीचड नीचे बैठ जाती है और गदलेपनके अभावसे जल स्वच्छ हो जाता है उसीप्रकार वाह्य अभ्यंतर दोनोंप्रकारके कारणोंसे सत्तामें रहकर भी जिससमय कर्मकी शक्ति उदयमें नहीं आती उससमयमें जो आत्माके अंदर विशुद्धि रहती है उस विशुद्धिका ही नाम उपशम है।

क्षयो निवृत्तिरात्यंतिकी ॥ २ ॥

फिटकीरी आदि पदार्थोंके डालनेसे कीचडके नीचे बैठ जानेपर जिससमय उस नितरे हुए जलको किसी दूसरे स्वच्छ वासनमें ले लिया जाता है उससमय वह जिसप्रकार अत्यंत स्वच्छ कहा जाता है क्योंकि उसमें फिरसे गदले होनेकी संभावना नहीं रहती उसीप्रकार तप आदि वाह्य और अभ्यंतर कारणोंके द्वारा कर्मोंके सर्वथा नाश होजाने पर आत्माके अंदर जो अत्यंत विशुद्धता प्रकट हो जाती है उस अत्यंत विशुद्धिका ही नाम क्षय है। जिन कर्मोंके सर्वथा नाश हो जानेपर यह क्षयरूप विशुद्धता प्रकट होती है फिर वे कर्म किसी हालतमें आत्माके साथ संबंध नहीं कर सकते।

उभयात्मको मिश्रः क्षीणाक्षीणमदशक्तिकोद्रववत् ॥ ३ ॥

कोदों एक जातिका धान्यविशेष है वह मादक पदार्थ है जिससमय उसे जलसे धो दिया जाता है उससमय धोनेसे कुछ मद शक्तिके क्षीण हो जाने पर और कुछके तदवस्थ रहने पर जिसप्रकार कोदों पदार्थ मिश्र मद शक्तिका धारक कहा जाता है उसीप्रकार कर्मोंके क्षय करनेवाले कारणोंके उपस्थित रहनेपर कर्मकी कुछ शक्तिके नष्ट हो जानेपर और कुछके सत्तामें मौजूद रहनेपर एवं कुछके उदय रहनेपर जो आत्माकी 'दही गुडके समान' मिली हुई अवस्था होती है उस अवस्थाका नाम मिश्र है।

द्रव्यादिनिमित्तवशात्कर्मणः फलप्राप्तिरुदयः ॥ ४ ॥

द्रव्य क्षेत्र काल आदि कारणोंसे कर्मके पाक होने पर जो फलकी प्राप्ति होना है उसका नाम उदय है।

द्रव्यात्मलाभमात्रहेतुकः परिणामः ॥ ५ ॥

जो भावद्रव्यके स्वरूपकी प्राप्ति करानेमें कारण हो और जिसमें कोई दूसरा निमित्त कारण न हो वह परिणाम कहा जाता है।

तत्प्रयोजनत्वाद् वृत्तिवचनं ॥ ६ ॥

औपशमिक आदि शब्दोंमें प्रयोजन अर्थमें ठञ् प्रत्ययका विधान है। इसलिये जहां पर कर्मोंका उपशम प्रयोजन हो वह औपशमिक भाव है। जहांपर क्षय प्रयोजन हो वह क्षायिक भाव है। जहां पर उदय प्रयोजन हो वह औदयिक और जहांपर परिणाम प्रयोजन हो वह पारिणामिक भाव है। यह औपशमिक आदि शब्दोंकी व्युत्पत्ति है। स्वतत्त्वं इस शब्दका अर्थ यह है—औपशमिक आदिक भाव जीवके असाधारण धर्म हैं। सिवाय जीवके अन्य किसीमें नहीं रहते। और स्वं तत्व स्वतत्त्वं यह उसका समास है। शंका—

व्यासेरौदयिकपारिणामिकग्रहणमादाविति चेन्न भव्यजीवधर्मविशेष-
ख्यापनार्थत्वादादावौपशमिकादिभाववचनं ॥ ७ ॥

उक्त पांचो भावोंमें औदायिक और पारिणामिक भाव सर्वजीव–साधारण हैं–सभी संसारी जीवोंके पाये जाते हैं इसलिये जहां जहां संसारी जीवत्व है वहां वहां औदायिक पारिणामिक भाव हैं इस व्याप्ति से जब सभी संसारी जीवोंके औदायिक और पारिणामिक भाव सदा मौजूद रहते हैं तब औपशमिक क्षायिकावित्यादि सूत्रमें पहिले इन्हीं दोनों भावोंके नामका उल्लेख करना चाहिये औपशमिक आदिका नहीं ? सो ठीक नहीं। मोक्षशास्त्रका बनाना आदि जो भी प्रयत्न हैं वह भव्य जीवोंको मोक्ष तत्वके प्रतिपादनके लिये हैं। औपशमिक आदि तीन भाव भव्यके सिवाय अभव्यके नहीं होते इसलिये औपशमिक आदि तीनों भाव 'भव्योंके ही होते हैं अभव्योंके नहीं यह प्रकट करनेके लिये सूत्रमें पहिले औपशमिकादिकका उल्लेख किया गया है।

तत्र चादावौपशमिकवचनं तदादित्वात्सम्यग्दर्शनस्य ॥ ८ ॥ अल्पत्वाच्च ॥ ९ ॥

सम्यग्दर्शन रूप पहिले औपशमिक भाव होता है पीछे क्षायोपशमिक और उसके बाद क्षायिक भाव होता है अर्थात् जो कर्म सम्यग्दर्शनके विरोधी हैं अनादि मिथ्यादृष्टिके पहिले उनकी उपशम अवस्था होती है पीछे क्षयोपशम और क्षय अवस्था होती है इसी क्रमकी अपेक्षा सूत्रमें औपशमिक भावका सबसे पहिले उल्लेख किया गया है। और भी यह बात है कि–

उपशम सम्यग्दर्शनका काल अंतर्मुहूर्त है। अंतर्मुहूर्तके समय असंख्यात हैं यदि हर एक समय निरवच्छिन्नरूपसे उपशम सम्यग्दृष्टि इकट्ठे किये जायं तो वे अंतर्मुहूर्त समयमें पल्यके असंख्यात भाग

प्रमाण ही हो सकते हैं अधिक नहीं परंतु क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि इनसे बहुत अधिक हैं इसलिये संचयकालकी अपेक्षा क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियोंकी अपेक्षा उपशम सम्यग्दृष्टि थोडे हैं तथा जो अल्प होता है उसका पहिले निपात होता है इसलिये औपशमिक आदिमें पहिले औपशमिक भावका उल्लेख किया गया है। तथा—

ततो विशुद्धिप्रकर्षयुक्तत्वात् क्षायिकः ॥ १० ॥ बहुत्वाच्च ॥ ११ ॥

मिथ्यात्व सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वरूप सम्यग्दर्शनकी विरोधी इन तीनों प्रकृतियोंके सर्वथा नाशसे क्षायिक सम्यकत्व होता है इसलिये औपशमिक सम्यक्त्वकी अपेक्षा क्षायिक सम्यक्त्वकी विशुद्धता अधिक होनेसे औपशमिक सम्यक्त्वके बाद सूत्रमें क्षायिक सम्यक्त्वका उल्लेख रक्खा है और भी यह बात है कि—

औपशमिक सम्यग्दृष्टियोंकी अपेक्षा क्षायिकसम्यग्दृष्टि अधिक हैं क्योंकि यहां आवलीका असंख्यातवां भाग गुणकार माना है और असंख्यातवें भागके समय असंख्याते ही होते हैं इस नियमानुसार उस गुणकारके असंख्याते समय माने हैं। इस गुणकारसे औपशमिक सम्यग्दृष्टियोंसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि गुणित हैं इसलिये आवलीके असंख्यातवे भाग गुणे होनेसे वे औपशमिक सम्यग्दृष्टियोंसे अधिक हैं। तथा क्षायिक सम्यकत्वका संचयकाल तेतीससागर प्रमाण माना है और उसमें पहिले समयसे लेकर हर एक समयमें इकट्ठे होनेवाले क्षायिक सम्यग्दृष्टि बहुतसे होते हैं इसलिये उस आवलीके असंख्यातवेंभाग गुणकार प्रमाण उपशम सम्यग्दृष्टि, क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं इसरीतिसे औपशमिक सम्यग्दृष्टियोंकी अपेक्षा क्षायिक सम्यग्दृष्टि अधिक होनेसे सूत्रमें औपशमिकके बाद क्षायिक शब्दका उल्लेख किया गया है।

तदसंख्येयगुणत्वाततदनंतरं मिश्रवचनं ॥ १२ ॥

क्षायिक सम्यग्दृष्टियोंकी अपेक्षा क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि भी असंख्येय गुणे माने हैं। यहांपर इतनी विशेषता है कि—क्षायिक सम्यग्दृष्टियोंसे क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि द्रव्यकी अपेक्षा असंख्येय गुणे हैं भावकी अपेक्षा नहीं क्योंकि विशुद्धिकी अधिकतासे क्षायोपशमिक सम्यक्त्वकी अपेक्षा क्षायिक सम्यक्त्व अनंतगुणा माना है इसलिये भावकी अपेक्षा क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियोंकी अपेक्षा क्षायिक सम्यग्दृष्टि असंख्येयगुणे नहीं माने जा सकते। तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्वका संचयकाल कुछ अधिक छ्यासठि सागर प्रमाण है और उसमें प्रथम समयसे आदि लेकर समय समय कालकी समाप्ति-पर्यंत इकट्ठे होनेवाले बहुतसे क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि होते रहते हैं इसलिये यहांपर भी आवलीके असंख्यातवे भागप्रमाण गुणकार माननेसे क्षायिकसम्यग्दृष्टियोंकी अपेक्षा क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि उस गुणकार प्रमाण हैं। इसप्रकार क्षायिककी अपेक्षा क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियोंके अधिक होनेसे सूत्रमें क्षायिकके बाद मिश्र शब्दका उल्लेख है।

विशेष—सार यह है कि सम्यग्दृष्टियोंमें सबसे थोडे औपशमिक सम्यग्दृष्टि हैं क्योंकि उपशम सम्यक्त्वका काल बहुत कम अंतर्मुहूर्त प्रमाण है। उससे आवलीके असंख्याते भाग गुणे क्षायिक सम्यग्दृष्टि हैं क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्वका काल कुछ अधिक तेतीससागर प्रमाण है। उससे भी अधिक क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि हैं क्योंकि क्षायोपशमिक सम्यक्त्वका काल कुछ अधिक छ्यासठि सागर प्रमाण है। जिसका विषय अल्प होता है उसका पहिले प्रयोग किया जाता है इस नियमानुसार औपशमिकका अल्प विषय होनेसे सबसे पहिले सूत्रमें उसका ग्रहण है उससे कुछ अधिक किंतु क्षायोपशमिक सम्यक्त्वकी

की अपेक्षा अल्पविषय क्षायिकसम्यक्त्व है इसलिये औपशमिकके बाद सूत्रमें क्षायिक शब्दका पाठ है। उसके बाद अधिक विषय होनेसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्वका पाठ रक्खा गया है।

तदनंतगुणत्वादंते द्व्यवचनं ॥ १३ ॥ तैरेव चात्मनः समधिगमात् ॥ १४ ॥ सर्वजीवतुल्यत्वाच्च ॥ १५ ॥

औदयिक और पारिणामिक भाव सर्व जीवोंके पाये जाते हैं इसलिये औपशमिक आदिकी अपेक्षा औदयिक और पारिणामिक अनंत गुणे होनेके कारण सबके अंतमें इन दोनोंका उल्लेख किया गया है। और भी यह बात है कि—

आत्मा पदार्थ अतींद्रिय है उसका ज्ञान मनुष्य तिर्यंच आदि औदयिक भावोंके द्वारा और चैतन्य जीवत्व आदि पारिणामिक भावोंके द्वारा होता है। यदि मनुष्य तिर्यंच वा चैतन्य जीवत्व आदि न हों तो आत्माका ज्ञान ही न हो सकेगा इसलिये सामान्यरूपसे आत्माके ज्ञापक होनेके कारण औदयिक और पारिणामिक भावोंका सबसे अंतमें उल्लेख किया गया है। तथा—

औदयिक और पारिणामिक दोनों भाव समस्त संसारी जीवोंके समान हैं इसलिये भव्य अभव्य दोनों प्रकारके जीवोंके होनेके कारण सामान्य भाव होनेसे सब भावोंके अंतमें उनका उल्लेख किया गया है। शंका—

तत्त्वमिति वहुवचनप्रसंग इति चेन्न भावस्यैकत्वात् ॥ १६ ॥

औपशमिक क्षायिक आदि पांच भाव तत्व हैं यहांपर तत्व शब्द विशेष्य और औपशमिक आदि विशेषण हैं। यह प्रायः नियम है कि विशेषण और विशेष्य दोनोंके लिंग और वचन समान रहते हैं। यहांपर औपशमिक आदि विशेषण बहुत हैं इसलिये तत्व शब्द बहुवचनांत कहना चाहिये 'तत्त्वं' यह

एक वचनांत क्यों कहा गया ? सो ठीक नहीं। औपशमिक आदि भले ही अनेक रहें परंतु जीव स्वभाव एक ही है तत्वका अर्थ भी स्वभाव ही है इसलिये 'तत्त्वं' यह एक वचनांत प्रयोग अयुक्त नहीं। यदि यहांपर फिर यह शंका की जाय कि—

फलभेदान्नानात्वमिति चेन्न स्वात्मभावभेदस्याविवक्षितत्वात्; गावो धनमिति यथा ॥ १७ ॥

प्रत्येकमभिसंबंधाच्च ॥ १८ ॥

जब कि औपशमिक आदि स्वभावके ही भेद हैं तब भेदोंके नानापनेसे स्वभाव भी नाना कहने पडेंगे इसलिये स्वभावपदार्थ एक नहीं कहा जा सकता और स्वभाव पदार्थके एक न होनेपर 'तत्त्वं' यह एक वचनांत प्रयोग असाधु है। सो भी ठीक नहीं 'गावो धनं' 'बहुतसी गायें धन हैं' यहांपर धि धातुसे 'यु' प्रत्यय करनेपर धन शब्दकी सिद्धि हुई है। और यहांपर धनस्वरूप गायोंके अनेक रहते भी धनके भेदकी विवक्षा नहीं मानी गई है उसीप्रकार स्वभावके भले ही औपशमिक आदि भेद रहें तो भी उनके भेदसे यहां स्वभावभेदकी विवक्षा नहीं इसलिये 'तत्वं' यह एक वचनांत प्रयोग अयुक्त नहीं। अर्थात् स्वभावोंके नाना भेद होनेपर भी उन सबोंमें जीव स्वभावपना एक है। और भी यह बात है कि—

तत्व शब्दका प्रत्येक औपशमिक आदिके साथ संबंध है अर्थात् जीवका औपशमिक भाव निज-तत्व है। क्षायिक भाव निज तत्व है। क्षायोपशमिकभाव निज तत्व है इत्यादि इसरीतिसे तत्वशब्दका जब प्रत्येकके साथ भिन्न भिन्न संबंध है तब 'तत्व' यह एक वचनांत प्रयोग अनुचित नहीं। शंका—

द्वंद्वनिर्देशो युक्त इति चेन्नोभयधर्मव्यतिरेकेणान्यभावप्रसंगात् ॥ १९ ॥

सूत्रकारने 'औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्वमौदायिकपारिणामिकौ च' ऐसा पढा

है परंतु उतने लंबे चोडे सूत्रकी जगहपर 'औपशमिकक्षायिकमिश्रौदयिकपारिणामिकाः' ऐसा सूत्र बनाना ठीक था। ऐसे सूत्रके बनानेमें दो जगह जो दो शब्द कहने पडे हैं वे भी न कहने पडते बडा भारी लाघव होता जो कि सूत्रकारोंके मतमें महान लाभ माना गया है इसलिये वैसा लम्बा चौडा सूत्र नहीं बनाना चाहिये सो ठीक नहीं। औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्चेत्यादि जैसा सूत्रकारने सूत्र पढा है उसमें चशब्दसे पहले कहे गये औपशमिक और क्षायिक भावोंका अनुकर्षण होता है और उससे औपशमिक और क्षायिक भावोंकी मिली हुई अवस्था मिश्रभाव लिया जाता है किंतु अब वैसा सूत्र न कर यदि औपशमिकक्षायिकमिश्रेत्यादि द्वंद्वगर्भित सूत्र किया जायगा तो चशब्दके अभावमें औपशमिक और क्षायिकका अनुकर्षण न होने पर औपशमिक और क्षायिककी मिली हुई अवस्था तो मिश्रभाव कही नहीं जायगी किंतु उनसे भिन्न अन्य ही दो भावोंकी मिली हुई अवस्था मिश्र कही जायगी जो कि विरुद्ध है इसलिये द्वंद्वगर्भित सूत्र न कह कर जैसा सूत्रकारने सूत्र बनाया है वही ठीक है और उसमें चशब्दसे औपशमिक और क्षायिक भावोंकी मिली हुई अवस्था ही मिश्रभावका अर्थ लिया जा सकता है अन्यका नहीं। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—

क्षायोपशमिकग्रहणमिति चेन्न गौरवात् ॥ २० ॥

औपशमिक और क्षायिक भावोंकी मिली हुई अवस्था ही मिश्रभावका अर्थ लिया जाय इस बातकी रक्षार्थ ही औपशमिकक्षायिकमिश्रेत्यादि द्वंद्वगर्भित सूत्र कहनेका निषेध किया जाता है परंतु यदि मिश्रकी जगह क्षायोपशमिक कह दिया जायगा तो उपर्युक्त आपात्ति नहीं हो सकती इसलिये मिश्र शब्दके स्थानपर क्षायोपशमिक शब्दका उल्लेखकर द्वंद्वगर्भित ही लघुसूत्र करना ठीक है किंतु सूत्रका-

रने जो कहा है वैसे गुरुसूत्रके कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं ? सो भी अयुक्त है। द्वंद्वगर्भित सूत्रके कहे जानेपर दो चकारका तो लाघव अवश्य है परंतु मिश्रकी जगह क्षायोपशमिक कहनेपर चार अक्षर और बढ जाते हैं जो कि महा गौरव है इसलिये यह बात निश्चित हो चुकी कि सूत्रकारने जो बनाया है वही ठीक है उसके स्थानपर अन्य सूत्रके बनानेमें दोष आते हैं।

मध्ये मिश्रवचनं क्रियते पूर्वोत्तरापेक्षार्थं ॥ २१ ॥

औपशमिक और क्षायिक यह युग्म और औदयिक एवं पारिणामिक यह युगल, इन दोनों युगलोंके बीचमें मिश्रभाव पाठ रक्खा है ऐसा करनेसे इतना ही प्रयोजन समझ लेना चाहिये कि भव्यके औपशमिक आदि पांचों भाव होते हैं अर्थात् औपशमिक सम्यक्त्व औपशमिक चारित्र, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व-दर्शन और ज्ञान, एवं क्षायोपशमिक चारित्र, औदयिक और पारिणामिक ये पांचो भाव भव्योंके ही होते हैं और अभव्योंके क्षायोपशमिक औदयिक और पारिणामिक ये तीन ही भाव होते हैं औपशमिक और क्षायिक ये दो भाव नहीं होते। क्षायोपशमिक भावोंमें भी ज्ञान और दर्शन दो ही भाव हो सकते हैं ज्ञान दर्शनसे मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शन समझना चाहिये क्योंकि सम्यग्दर्शनके बिना सम्यग्ज्ञान आदि नहीं होते।

जीवस्येति वचनमन्यद्रव्यनिवृत्त्यर्थं ॥ २२ ॥

सूत्रमें जो जीवस्य यह पद दिया है उसका तात्पर्य यह है कि औपशमिक आदि सब भाव जीवके ही निज तत्त्व हैं। जीवसे भिन्न अन्य किसी पदार्थके नहीं। यदि जीवस्य यह पद न होता तो अन्यके भी वे स्वभाव कहे जाते। शंका—

स्वभावपरित्यागात्यागयोः शून्यतानिर्मोक्षप्रसंग इति चेन्नादेशवचनात् ॥ २३ ॥

औपशमिक आदि जो आत्माके स्वभाव बतलाये हैं उन्हें आत्मा छोड सकता है या नहीं। यदि यह कहा जायगा कि वे आत्मासे जुदे हो सकते हैं तब जिसप्रकार उष्णता अग्निका स्वभाव है यदि वह अग्निसे जुदा हो जायगा तो अग्निका अभाव होगा उसीप्रकार औपशमिक आदि भी जीवके निज भाव हैं यदि वे जीवसे जुदे हो जांयगे तो जीवका भी अभाव हो जायगा। जीवका ही क्यों यदि सब पदार्थोंके स्वभाव उनसे भिन्न हो जांयगे तो जगत् ही शून्य हो जायगा। कदाचित् यह कहा जायगा कि वे जीवसे जुदे नहीं होते तो फिर औपशमिक आदि भावोंके अंतर्गत क्रोध आदि भी भाव हैं इसलिये क्रोधादिस्वरूप भी सदा आत्मा मानना पडेगा फिर इसकी मोक्ष न हो सकेगी क्योंकि क्रोध आदि समस्त कर्मोंके नाशको मोक्ष माना है। सो ठीक नहीं। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा जीव अनादि पारिणामिक चैतन्य स्वरूप है इसलिये उस नयकी अपेक्षा तो औपशमिक आदि भाव उससे भिन्न हो नहीं सकते और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा वह आदिमान—विनाशीक औदयिक आदि पर्यायस्वरूप है इसलिये इस नयकी अपेक्षा औपशमिक आदि भाव उससे जुदे हो सकते हैं। इसरीतिसे जीव कथंचित् (द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा) स्वस्वभावका अपरित्यागी है। कथंचित (पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा) त्यागी है। क्रमसे दोनों नयोंकी अपेक्षा करनेपर कथंचित् अत्यागी और त्यागी है। एक साथ दोनों नयोंकी अपेक्षा करनेपर कथंचित् अवक्तव्य है इत्यादि सातो भंग समझ लेना चाहिये। जो यह एकांत मानता है कि पदार्थका स्वभाव उससे सर्वथा जुदा हो जाता है अथवा वह उससे कभी भी जुदा नहीं होता उसके मतमें उपर्युक्त दोष लागू हो सकते हैं परंतु जैनसिद्धांत तो अनेकांत वादकी

प्रक्रिया पर निर्भर है—सर्वथा एकांतरूपसे कोई भी तत्त्व उनके अंदर नहीं माना गया इसलिये उसमें कोई दोष नहीं है। तथा—

अप्रतिज्ञानात् ॥ २४ ॥

यह हमने प्रतिज्ञा ही कहां की है कि स्वभावके परित्याग वा अपरित्यागसे मोक्ष होती है किन्तु हमारा तो यह कहना है कि द्रव्य क्षेत्र आदि मोक्षके वाह्य कारण और प्रकर्षताको प्राप्त सम्यग्दर्शन आदि अंतरंग कारणोंकी मोजूदगीमें ज्ञानावरण दर्शनावरण आठ कर्मोंके परतंत्र आत्मासे जिस समय समस्त कर्मोंका सर्वथा वियोग हो जाता है उस समय उसकी मोक्ष होती है इसलिये स्वभावके परित्याग वा अपरित्यागजन्य जो ऊपर दोष दिया गया है वह यहां लागू नहीं होता। तथा यह जो कहा गया है कि अग्निके उष्ण स्वभावके नष्ट हो जाने पर अग्निका अभाव हो जायगा शून्यता होगी सो भी कहना ठीक नहीं क्योंकि—उष्णता पुद्गलकी ही एक पर्याय है यदि उसका अभाव भी हो जाय तो भी सतरूपसे वा अचेतन रूपसे भस्मी रूप उसकी दूसरी पर्याय प्रगट हो जानेसे पुद्गलकी नास्ति नहीं हो सकती उसका तो अवस्थान रहेगा ही इस कारण शून्यता नहीं कहा जा सकती। तथा और भी यह बात है—

कर्मसंनिधाने तदभावे चोभयभावाविशेषोपलब्धेर्नेत्रवत् ॥ २५ ॥

नेत्रका स्वभाव रूपगुणका प्रत्यक्ष करना है जिस समय वह रूप गुणका साक्षात्कार नहीं करता उससमय उसका रूपोपलब्धि स्वभाव नहीं रहता परंतु स्वभावके परित्याग रहने पर भी नेत्रका अभाव नहीं कहा जा सकता तथा रूपका जानना नेत्रका स्वभाव है और वह रूपोपलब्धिरूप स्वभाव क्षायोपशमिक भाव है। जिससमय ज्ञानावरण कर्मके सर्वथा नष्ट हो जाने पर केवली भगवानके केवलज्ञान

प्रगट हो जाता है उससमय मतिज्ञानके होनेकी योग्यता न रहनेसे भाव नेत्र स्वरूप रूपोपलब्धि स्वभावका अभाव हो जाता है किंतु वहां नेत्रके रूपोपलब्धि स्वभावके नष्ट हो जाने पर भी द्रव्य नेत्रका अवस्थान ही रहता है अभाव नहीं होता इस रीतिसे इन दोनों स्थानों पर जिसप्रकार रूपोपलब्धि रूप स्वभावके नष्ट हो जाने पर भी नेत्र इंद्रियका अभाव नहीं होता उसीप्रकार जिन औदयिक आदि भावोंकी उत्पत्ति कर्मजनित है उनका भले ही नाश हो जाय परंतु क्षायिक भावोंका कभी भी नाश नहीं होता किंतु उनकी प्रगटतासे और भी आत्मामें विशेषता उत्पन्न हो जाती है इस रीतिसे आत्माके क्षायिक भावोंके विद्यमान रहते जब उसका नाश बाधित है तब स्वभावके परित्याग वा अपरित्यागसे आत्माके नाशकी शंका निर्मूल है ॥ १ ॥

जिन औपशमिक आदि भावोंका ऊपर नामोल्लेख किया गया है वे अखण्ड अखण्ड पदार्थ हैं कि उनके भेद भी हैं ? यदि कहा जायगा उनके भेद हैं तब बतलाना चाहिये किसके कितने भेद हैं ? इसलिये सूत्रकार क्रमसे उनके भेदोंका उल्लेख करते हैं । सबसे पहिले औपशमिक आदि भावोंके भेदोंकी संख्या बतलाते हैं—

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमं ॥ २ ॥

अर्थ—दो नौ अठारह इकीस और तीन ये उन पांचों भावोंके क्रमसे भेद हैं । अर्थात् औपशमिकके दो भेद हैं, क्षायिकके नौ, मिश्रके अठारह, औदायिकके इकीस और पारिणामिकके तीन भेद हैं । सूत्रके समास आदि पर वार्तिककार विचार करते हैं—

द्व्यादीनां कृतद्वंद्वानां भेदशब्देन वृत्तिः ॥ १ ॥

सूत्रमें जो 'द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः' यह समस्त पद है वहां पर द्वौ च नव च अष्टादश च एकविंशतिश्च त्रयश्च, 'द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रयः' इस इतरेतर द्वंद्वके करनेके वाद, ते भेदा येषां ते 'द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः' यह बहुव्रीहि समास समझ लेना चाहिये। शंका—

जहांपर तुल्ययोग—समान योग होता है वहींपर इतरेतर योग नामका द्वंद्वसमास होता है भिन्न योग रहनेपर वह नहीं हो सकता। द्वौ च नव च इत्यादि जो ऊपर इतरेतरयोग द्वंद्व माना है वहां पर तुल्ययोग नहीं क्योंकि उपर्युक्त इतरेतर द्वंद्व समासांत पदमें द्वि आदि शब्द संख्येयप्रधान हैं और एक-विंशति शब्द संख्यानप्रधान है अर्थात् द्वि आदि शब्द दो आदि संख्याविशिष्ट शब्दोंके कहनेवाले हैं और एकविंशति शब्द संख्यावाचक है इसलिये उपर्युक्त जो इतरेतर द्वंद्व माना है वह अयुक्त है! सो ठीक नहीं। प्रधान भी कभी कभी किसी कारणसे गौण हो जाता है जिसतरह राजा प्रधान है परंतु किसी समय वह किसी अवश्यंभावी कारणसे मंत्री बन जाता है और मंत्रीके कार्यकी फल प्राप्ति होनेपर वह अपने को प्रधान मानता है इसी प्रकार यद्यपि द्वि आदि शब्द संख्येयप्रधान हैं तो भी किसी बलवान कारणके उपस्थित हो जानेपर वे भी संख्यानप्रधान अर्थात् संख्यावाचक मान लिये जाते हैं इसलिये जब कारण विशेषसे संख्याविशिष्ट शब्दोंके वाचक भी द्वि आदि शब्द संख्यावाचक मान लिये जाते हैं तब यहां पर सभी संख्यावाचक शब्द होनेसे तुल्ययोग हो गया फिर उपर्युक्त इतरेतर द्वंद्व समास अयुक्त नहीं कहा जा सकता। परंतु—

संख्येयप्रधान द्वि आदि शब्दोंका संख्यानप्रधान बतलाना यह सब तर्कके बलपर है व्याकरणका सिद्धांत ऐसा नहीं क्योंकि व्याकरणका यह वचन है कि—एकादयः प्राग्विंशतेः संख्येयप्रधाना विंशत्या-

दयस्तु कदाचित्संख्यानप्रधानाः कदाचित्संख्येयप्रधाना इति अर्थात् एक द्वि आदिको ले कर एकोनविं-
शति (उन्नीस) पर्यंत शब्द संख्येयप्रधान हैं और विंशति आदि शब्द कभी संख्यानप्रधान हो जाते हैं
और कभी संख्येयप्रधान भी हो जाते हैं। इस वचनसे द्वि आदि शब्दोंको संख्यानप्रधान नहीं माना
गया। यदि यहां पर यह कहा जाय कि—

द्वि आदि शब्दोंको यद्यपि व्याकरण शास्त्रके अनुसार संख्यानप्रधान नहीं माना जा सकता
तथापि यदि युक्तिबलसे संख्यानप्रधान मान भी लीया जाय तो वे विंशति आदि शब्दोंके समान हो
सकते हैं कोई दोष नहीं सो भी अयुक्त है। क्योंकि द्वि आदि और विंशति आदिको यदि समान मान लिया
जायगा तो संबंधी शब्दोंके साथ विंशति आदि शब्दोंका प्रयोग करने पर जो विभक्ति होती है वही
विभक्ति द्वि आदि शब्दोंके साथ प्रयोग करने पर भी होगी और द्वि संख्याको स्वतः एकपना माना है
इसलिये संख्यानप्रधान ही आनेके कारण एक वचन ही आवेगा जिसतरह 'विंशतिर्गवां' अर्थात् वीस
गाय हैं, यहांपर सख्यानवाचक विंशति शब्दसे एकवचन प्रथमा विभक्तिका विधान है और उसका संबंधी
जो गो शब्द है उससे बहुवचन षष्ठी विभक्तिका विधान है। उसीप्रकार द्वि आदि शब्दोंसे मानना पडेगा
तब 'विंशतिर्गवां' जैसा यह प्रयोग है उसी प्रकार 'षट् गवां' वा 'चत्वारी गवां' इत्यादि प्रयोग भी शुद्ध
मानने पडेंगे इसलिये द्वि नव आदि शब्दोंको संख्यानप्रधान नहीं माना जा सकता इसरीतिसे जब द्वि
आदि शब्द संख्यावाचक नहीं सिद्ध हो सकते तब तुल्य योगके अभावसे उपर्युक्त इतरेतर द्वंद्व अयुक्त
है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

यद्यपि व्याकरण शास्त्रके अनुसार द्वि आदिको संख्यावाचक मानना ऊपर विरुद्ध वताया गया है

परंतु उसी व्याकरणशास्त्रमें 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' १।४।२२। इससूत्रमें 'द्व्येकयोः' यहांपर द्वि और एक शब्दका संख्या अर्थमें ही प्रयोग है इसलिये उन्नीसके पहिले पहिले एक दो नौ आदि शब्द संख्यावाचक भी हैं कोई दोष नहीं ? सो भी अयुक्त है। क्योंकि जिसप्रकार 'बहुशक्ति कीटकं' कीडा बहुत शक्तिवाला है यहांपर बहु शब्द संख्यावाचक नहीं माना गया, नहीं तो बहुत संख्याका वाचक होनेसे 'बहुशक्तयः कीटकं' यह प्रयोग करना पडता किंतु बहुत्वविशिष्ट समुदायरूप है शक्ति जिसकी ऐसा कीडा है इसप्रकार विशिष्ट समुदायका वाचक होनेसे वह संख्येय ही माना है उसीप्रकार सूत्रमें जो द्वि और एक शब्द है उसका संख्या अर्थ नहीं है किंतु द्वि शब्दका अर्थ 'द्विसंख्याविशिष्ट पदार्थके गौण स्वरूप दो अवयव' यह है और एक शब्दका अर्थ 'एकसंख्याविशिष्ट पदार्थका गौण स्वरूप एक अवयव' यह है। यदि वहांपर दो और एक शब्द संख्यावाचक होते तो द्विशब्दका दो अर्थ और एक शब्दका एक अर्थ मिलकर बहुत होनेसे 'द्व्येकेषां' ऐसा सूत्रमें प्रयोग रहता परंतु वैसा नहीं इसलिये द्वि आदि शब्दोंको संख्यावाचक नहीं माना जा सकता। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि 'द्व्येकयोः' यहांपर द्वि और एक शब्द यद्यपि संख्येयप्रधान हैं तथापि बलवान कारणसे उन्हें संख्या-प्रधान माना जा सकता है। तब फिर वहां पर यह शंका उठती है कि जब द्वि और एक शब्दको संख्यावाचक माना जायगा तब 'द्व्येकयोः' निर्देशकी जगह 'द्वित्वैकत्वयोः' ऐसा होना चाहिये अन्यथा द्विशब्दका अर्थ दो और एक शब्दका अर्थ एक मिलकर बहुत होनेसे 'द्व्येकेषां' ऐसा कहना पडेगा ? सो ठीक नहीं। भावप्रत्ययका त्व और तलके विना भी निर्देश गौण और प्रधान-

१ सिद्धांतकौमुदी पृष्ठ १६।

रूपसे मान लिया जाता है इसलिये भावप्रत्ययके विना भी 'द्व्येकयोः' इस निर्देशकी जगह 'द्वित्वै-कत्वयोः' ऐसे कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं । परंतु ऊपर कहा जा चुका है कि द्वि आदि शब्दों को संख्यावाचक कहना केवल तर्कके बलपर निर्भर है व्याकरणशास्त्र उन्हें संख्यावाचक माननेमें सहमत नहीं । इसरीतिसे जब 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' शंकाकारके मतानुसार द्वि और एक शब्दको संख्या-वाचकपना सिद्ध नहीं हुआ तब तुल्ययोगके अभावसे उपर्युक्त इतरेतर द्वंद्वसमास मानना ठीक नहीं । इस बलवान प्रश्नका वार्तिककार समाधान देते हैं—

द्विनवाष्टेत्यादि सूत्रमें जो द्वि आदि शब्द हैं वे संख्येयप्रधान ही हैं एकविंशति शब्द भी संख्येयप्रधान है क्योंकि विंशति आदि शब्द किसी समय 'संख्यानप्रधान भी होते हैं, किसी समय संख्येय प्रधान भी होते हैं' यह व्याकरणका सिद्धांत ऊपर कहा जा चुका है । इसरीतिसे जब द्वि आदि सभी शब्द संख्येय प्रधान हो गये तब तुल्ययोग होनेसे इतरेतर द्वंद्वसमासके माननेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती ।

समास अनेक पदोंका होता है । किसी समासमें दो पदार्थोंमें पूर्वपदार्थ प्रधान रहता है जिस तरह अव्ययीभावमें, किसी समासमें उत्तरपदार्थ प्रधान रहता है जिसतरह तत्पुरुषमें, किसी समासमें जितने पदार्थोंका समास किया जाय सभी प्रधान रहते हैं जिसप्रकार द्वंद्वमें और किसी समासमें जिन पदार्थोंके साथ समास किया जाता है उनसे अन्य ही पदार्थ प्रधान रहते हैं जिसतरह बहुव्रीहि समासमें । यहांपर जो भेद शब्दके साथ द्विनव आदि पदोंका समास है वहां पर प्रश्न होता है कि वह स्वपदार्थ प्रधान

१ । पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः । उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः । सर्वपदार्थप्रधानो द्वंद्वः । अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः । सिद्धांतकौमुदी पृष्ठ ९५ ।

अर्थात् उत्तरपदार्थ प्रधान कर्मधारय समास है कि अन्यपदार्थ प्रधान वहुव्रीहि समास है। यदि यह कहा जायगा कि 'विशेषणं विशेष्येणेति अर्थात् विशेष्यके साथ विशेषणका समास होता है, इस सूत्रसे वहां द्विनवाष्टादशैकविंशातित्रय एव भेदाः, द्विनवाष्टादशैकाविंशातित्रिभेदा, यह कर्मधारय समास है तव 'विशेष्य और विशषणोंमें विशेषणोंका पूर्वनिपात होता है' इस नियमके अनुसार भेद शब्दका पहिले प्रयोग होना चाहिये क्योंकि द्विनव आदि शब्द यहां विशेष्य और भेदशब्द विशेषण है। यहांपर यह शंका न करनी चाहिये कि द्वि आदि शब्द विशेष्य हो ही नहीं सकते क्योंकि 'द्वे यमुने समाहृते इति द्वियमुनं' अर्थात् जहां पर दो यमुना इकट्ठी हों वह द्वियमुन है' इत्यादि पूर्वपदार्थप्रधान अव्ययीभाव समासके स्थलोंपर द्वि आदि शब्दोंको विशेष्य और यमुना आदि शब्दोंको विशेषण माना गया है इसलिये द्विनवाष्टादशैकेत्यादि सूत्रके स्थानपर भेदद्विनवाष्टेत्यादि होना चाहिये ? सो ठीक नहीं। जहांपर 'के द्वे ?' कौन दो हैं। इस सामान्य अर्थका प्रतिभास रहनेपर 'यमुने' 'यमुना नामकी दो नदी हैं' यह विशेष कथन है वहींपर द्वि शब्दको विशेष्य माना गया है किंतु जहांपर पहिलेसे ही 'यमुने' यह कहा जायगा वहांपर द्विवचनके प्रयोगसे 'दो यमुना नदी हैं' यह अर्थ निकल आवेगा फिर द्वि शब्दका प्रयोग व्यर्थ ही है इसरीतिसे जहांपर पहिले ही द्विशब्दका उल्लेख किया जायगा वहां तो विशेष अकांक्षा होनेपर यमुना शब्दके कहनेसे दोनों पद सार्थक हैं किंतु यदि पहिलेसे ही 'यमुने' यह कहा जायगा तव द्वि वचनसे द्वि शब्दका अर्थनिकल जायगा फिर द्वि शब्दका प्रयोग ही व्यर्थ है परंतु वैसी व्यवस्था 'द्विनवाष्टादशेत्यादि' स्थलपर नहीं। यहांपर यदि पहिले 'भेदाः' ऐसा कहाजायगा वहांपर यह

१। कर्मधारय समास तत्पुरुषका ही भेद है।

आकांक्षा होगी कि वे कितने हैं। तब 'द्विनवाष्टादशैकाविंशातित्रयः' अर्थात् वे भेद दो नव आदि हैं यह कहना पडेगा। तथा यदि पहिले 'द्विनवाष्टादशैकाविंशातित्रयः' यह कहा जायगा तो वे कौन हैं? यह संदेह होगा इसलिये उस संदेहकी निवृत्तिके लिये 'भेदाः' अर्थात् भेद हैं यह कहा जायगा इसरीतिसे 'द्वियमुनं' और 'द्विनवाष्टादशैकाविंशातित्रिभेदाः' दोनों दार्ष्टांत और दृष्टांतोंमें जब विषमता है तब भेद शब्दको विशेषण और द्वि आदि शब्दोंको विशेष्य नहीं माना जा सकता। यदि जबरन विशेषण विशेष्य भाव माना ही जायगा तो वह इच्छानुसार होगा इसलिये इच्छानुसार होनेसे भेद शब्दका द्वि नव आदिसे पहिले प्रयोग नहीं हो सकता। और भी यह वात है कि—

विशेषण और विशेष्यमें विशेषणका पूर्व निपात होता है इस सिद्धांतके अनुसार द्वि आदि शब्दों का ही पहिले प्रयोग होगा क्योंकि यह नियम है कि जितने गुणवाचक शब्द होते हैं जातिवाचक शब्दोंके साथ उनका समास होनेपर वे सब विशेषण होते हैं। द्वि आदि शब्द गुणवाचक हैं इसलिये उन्हींका पूर्वनिपात होगा भेद शब्दका पूर्व निपात नहीं हो सकता है।

विशेष—यहां पर यह शंका न करनी चाहिये कि द्वि आदि शब्द गुणवाचक कैसे हैं? क्योंकि जहां पर गुणोंके भेद गिनाये हैं वहां पर संख्याको गुण माना है। द्वि आदिक सब संख्याके भेद हैं इसलिये द्वि नव आदिको गुणपना निर्बाध रूपसे सिद्ध है तथा गुणवाचक शब्द नियमसे विशेषण ही होते हैं क्योंकि व्याकरणका यह सिद्धांत है कि "जातिवाचकशब्दसमभिहारे गुणवाचकस्य शब्दस्य विशेषणत्वमेव नीलघटवत्" अर्थात् जातिवाची संज्ञावाची क्रियावाची और गुणवाचीके भेदसे शब्द चार प्रकारके हैं जहां पर जातिवाचक शब्दोंका गुणवाची शब्दोंके साथ समास होता है वहां पर गुणवाची शब्द

नियमसे विशेषण होते हैं जिसतरह—नीलघट इस समस्तपदमें नील शब्द नील रूपका वाचक है और घट शब्द पृथुबुध्नोदरादि आकारका वाचक है । यहां पर गुणवाचक नील शब्द विशेषण और घट विशेष्य है । इसीप्रकार द्विनवाष्टादशैकविंशातित्रिभेदा यहांपर द्वि आदि शब्द विशेषण और भेद शब्द विशेष्य है । इसलिये भेद शब्दका पहिले प्रयोग नहीं हो सकता ।

इसप्रकार यह कर्मधारय समासकी अपेक्षा कथन किया गया है परंतु 'द्विनवाष्टादशैकविंशातित्रयो-भेदा येषां त इमे द्विनवाष्टादशैकविंशातित्रिभेदाः' यह यहांपर वहुव्रीहि समास भी है । यहांपर यह शंका न करनी चाहिये कि विशेष्य विशेषणोंमें विशेषणका प्रयोग पहिले होता है इसलिये इस वहुव्रीहि समासमें जब भेद शब्द विशेषण और द्वि आदि शब्द विशेष्य हैं तब भेद शब्दका पहिले प्रयोग क्यों नहीं किया गया ? क्योंकि 'सर्वनामसंख्ययोरुपसंख्यानं' अर्थात् सर्वनाम संज्ञावाचक और संख्या-वाचक जितने भी शब्द हैं (वहुव्रीहि समासमें) उनका प्रयोग पहिले ही होता है, यह व्याकरणका सिद्धांत है । इसलिये द्विनवाष्टादशेत्यादि स्थलपर द्वि आदि शब्द संख्यावाचक होनेसे उन्हींका पूर्व-निपात हो सकता है, भेद शब्दका नहीं ।

यहांपर यह वात ध्यानमें रखनी चाहिये कि द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रय एव भेदाः, द्विनवाष्टाद-शैकविंशतित्रिभेदाः, यह कर्मधारय समास कहा जाय तव प्रथमा विभक्तिकी जगह षष्ठीविभक्तिका विपरिणमन कर 'औपशमिकादीनां' ऐसी पूर्व सूत्रसे इस सूत्रमें अनुवृत्ति कर लेनी चाहिये और औप-शमिक आदि भावोंके दो नव आदि भेद होते हैं यह अर्थ समझ लेना चाहिये । तथा जिससमय वहुव्रीहि समास माना जाय उससमय सूत्रमें जैसा निर्देश है वैसा ही उचित है और ऊपर जो वहुव्रीहि समासके आधीन अर्थ लिखा गया है वही ठीक है ।

भेदशब्दस्य प्रत्येकं परिसमाप्तिर्भुजिवत् ॥ २ ॥

जिसतरह 'देवदत्तजिनदत्तगुरुदत्ता भोज्यंतां' अर्थात् देवदत्त जिनदत्त गुरुदत्त सभी भोजन करें, यहांपर भुजि क्रियाका सबके साथ सम्बन्ध है अर्थात् देवदत्त भोजन करो, जिनदत्त भोजन करो और गुरुदत्त भोजन करो यह अर्थ माना जाता है उसीप्रकार 'द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः' यहां पर भी भेद शब्दका संबंध प्रत्येकके साथ है अर्थात् वहां पर दो भेद नो भेद अठारह भेद इकीस भेद और तीन भेद यह अर्थ माना गया है ।

यथानिर्दिष्टौपशमिकादिभावाभिसंबंधार्थं द्व्यादिक्रमवचनं ॥ ३ ॥

आनुपूर्व्य—नंबरवार जो क्रम है उसका नाम यथाक्रम है । 'औपशमिकक्षायिकौ भावौ' इत्यादि सूत्रमें औपशमिक आदि भावोंका जिस आनुपूर्वी क्रमसे उलेख किया गया है उसी क्रमके अनुसार द्विनव आदिका संबंध है यह प्रकट करनेकेलिये द्विनवाष्टादशेत्यादि सूत्रमें यथाक्रम शब्दका उलेख किया गया है । यदि यथाक्रम शब्दका सूत्रमें उलेख नहीं किया जाता तो द्विनव आदि भेदोंमें किस भावके कितने भेद हैं यह संदेह हो सकता था इसरीतिसे क्रमसे औपशमिक भावके दो भेद, क्षायिकके नो भेद, मिश्रके अठारह भेद, औदयिकके इकीस भेद और पारिणामिकके तीन भेद हैं यह संपूर्ण सूत्रका समुदित अर्थ है ॥ २ ॥

द्वि नव आदि संख्यावाचक शब्दोंका उल्लेख तो कर दिया गया परंतु उन द्वि आदिके वाच्य विशेष भेद कौन कौन हैं यह नहीं प्रतिपादन किया गया इसलिये सूत्रकार अब उनके भेदोंके नामका उल्लेख करते हैं । सब भावोंके भेदोंके नाम एक साथ कहे नहीं जा सकते इसलिये सब भावोंमें प्रथमोद्दिष्ट औपशमिक भावके भेदोंका उल्लेख किया जाता है—

सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥

अर्थ—औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र दो भेद औपशमिक भावके हैं।

सम्यक्त्व और चारित्रका अर्थ पहिले कहा जा चुका है। दोनों भावोंमें औपशमिकपना क्यों है? इस बातको वार्तिककार बतलाते हैं—

सप्तप्रकृत्युपशमादौपशमिकं सम्यक्त्वं ॥ १ ॥

मोहनीय कर्मके दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयके भेदसे दो भेद हैं। चारित्र मोहनीयके कषायवेदनीय और अकषायवेदनीय ये दो भेद हैं। उनमें कषायवेदनीयके अनंतानुबंधी क्रोध मान माया और लोभ ये चार भेद और दर्शनमोहनीयके सम्यक्त्व मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व ये तीन भेद इन सात प्रकृतियोंके उपशमसे औपशमिक सम्यक्त्व होता है। शंका—

सादि और अनादि दोनों प्रकारके मिथ्यादृष्टि भव्यके औपशमिक सम्यक्त्वका होना बताया गया है परंतु सदा जिसकी आत्मा कर्मोंकी कालिमासे काली रहती है उस अनादि मिथ्यादृष्टिके उक्त प्रकृतियों का उपशम कैसे हो सकता है? इस बातका वार्तिककार समाधान देते हैं—

काललब्ध्याद्यपेक्षया तदुपशमः ॥ २ ॥

१। जिस कर्मके उदयसे सम्यक्त्व गुणका मूल घात तो हो नहीं परन्तु चल मल अगाढ ये दोष उत्पन्न हो जाय वह सम्यक् प्रकृति है। जिस कर्मके उदयसे सम्यग्दर्शनका सर्वथा घातस्वरूप जीवके अतत्त्व श्रद्धान हो वह मिथ्यात्व प्रकृति है और जिस कर्मके उदयसे सम्यग्दर्शनके सर्वथा घातस्वरूप मिले हुए परिणाम हों जिनको कि न सम्यक्त्वरूप कह सकें और न मिथ्यात्वरूप कह सकें वह सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति है। यह मिश्र परिणाम भी वैभाविक भाव ही हैं।

काललब्धि जातिस्मरण आदि कारणोंसे अनादि मिथ्यादृष्टि भव्यके भी उक्त प्रकृतियोंका उपशम होता है। उनका खुलासा स्वरूप इस प्रकार है—

काललब्धिके सामान्य काललब्धि कर्मस्थितिकी अपेक्षा काललब्धि आदि भेद हैं। मोक्ष होनेके लिये अर्धपुद्गलपरावर्तन मात्र काल बाकी रहै अधिक बाकी न रहै उस समय कर्मसे सदा मलीमस अनादि मिथ्यादृष्टि भी भव्य आत्माके प्रथम सम्यक्त्व (प्रथमोशम सम्यक्त्व) के ग्रहण करनेकी योग्यता प्रगट हो जाती है—उस समय वह अवश्य ही प्रथमोपशम सम्यक्त्वको ग्रहण कर सकता है यही पहिली सामान्यकाललब्धि कही जाती है। तथा उत्कृष्ट स्थितिवाले वा जघन्य स्थितिवाले कर्मोंके विद्यमान रहते प्रथम सम्यक्त्वके ग्रहणकी योग्यता नहीं होती किंतु आयु कर्मके विना 'घुणाक्षरन्यायसे' अंतः कोटाकोटि सागर प्रमाण कर्म उसी कालमें बंधे हों और पहिलेके सत्तामें विद्यमान समस्त कर्म, परिणामोंकी विशुद्धतासे—संख्यातहजार सागरोपम घाटि अंतःकोडाकोडि सागर प्रमाण हो गये हों उस समय प्रथम सम्यक्त्व की योग्यता होती है यह दूसरी कर्मस्थितिका नामकी काललब्धि है। एक भावकी अपेक्षा भी काललब्धि है उसका वर्णन आगे परिवर्तन प्रकरणमें किया जायगा।

काललब्धि यहांपर जो आदि शब्द दिया गया है उससे जातिस्मरण और जिनबिंब आदिके दर्शन आदिका ग्रहण किया गया है अर्थात् कर्ममलिन भी भव्य आत्माके जातिस्मरण वा जिनबिंब आदिके देखनेसे उक्त प्रकृतियोंके उपशमसे औपशमिक सम्यक्त्व होता है यह नियम है। जो जीव भव्य पंचेंद्रिय संज्ञी मिथ्यादृष्टि पर्याप्त और सर्व विशुद्ध (अनिवृत्तिकरणचरमसमयवर्ती) होगा वही प्रथम सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है जिससमय आत्मा सम्यग्दर्शन प्राप्तिके उन्मुख हो जाता है उससमय

करणत्रय रूप परिणाम वह प्राप्त करता है उनमें अनिवृत्त करणरूप परिणामके उत्पन्न होते ही नियमसे अंतर्मुहूर्तमें सम्यक्त्व प्राप्त होता है इसे ही करणलब्धि कहते हैं किंतु इससे भिन्न जीवमें प्रथम सम्यक्त्व प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं तथा प्रथमोपशम सम्यक्त्वका काल अंतर्मुहूर्त ही है इसलिये जिस जीवके प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है उसके अंतर्मुहूर्त ही वह ठहरता है उसीकालमें वह जीव सत्तामें वैठे हुए मिथ्यात्व कर्मके तीन टुकडे कर डालता है मिथ्यात्व, सम्यगमिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति इसके पहले अनादि मिथ्यादृष्टिके पांच प्रकृतियोंका ही उपशम होनेसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है।

दर्शन मोहनीय कर्मका उपशम चारों गतियोंके अंदर होता है । नरकगतिमें पर्याप्तक नारकियोंके ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है अपर्याप्तकोंके नहीं तथा पर्याप्तक नारकियोंके भी अन्तर्मुहूर्तके वाद ही प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है अंतर्मुहूर्तके पहिले नहीं । यह नियम सातो नरकोंके नारकियोंके लिये है । रत्नप्रभा शर्कराप्रभा और वालुकाप्रभा इन तीन नरकोंके निवासी नारकियोंमें किन्हीं नारकियोंके जातिस्मरणसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व हो जाता है और किन्हींके धर्मके श्रवण करनेसे वा तीव्र वेदनासे व्याकुल होनेपर होता है । वाकी पंकप्रभा धूमप्रभा तमःप्रभा महातमःप्रभा इन चार नरकवासी नारकियोंमें किन्हींके जातिस्मरण तो किन्हींके वेदनासे अभिभूत रहने पर प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है । नीचेके चार नरकोंमें धर्मश्रवणका अवसर नहीं मिलता ।

तिर्यंचोंमें भी पर्याप्तक तिर्यंच ही प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति कर सकते हैं अपर्याप्तक नहीं तथा पर्याप्तक भी दिवस पृथक्त्व अर्थात् सात आठ दिनके वाद प्राप्त कर सकते हैं भीतर नहीं । यह नियम द्वीप समुद्रनिवासी जितने भी तिर्यंच हैं सवके लिये है । उनमें किन्ही तिर्यंचोंके पूर्वजन्मके स्मरणसे

प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है किन्हींकें धर्मके श्रवणसे वा भगवान जिनेंद्रकी शांतिरसमय मुद्रा देखनेसे वह प्राप्त होता है।

मनुष्योंमें भी पर्याप्तक मनुष्य ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं अपर्याप्तक नहीं तथा पर्याप्तकोंमें आठ वर्षके वाद ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है पहिले नहीं होता। यह ढाई द्वीपनिवासी सभी मनुष्योंके लिये नियम है। उनमें बहुतसे मनुष्योंके पूर्वजन्मके स्मरणसे प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। बहुतोंके धर्मके श्रवणसे वा भगवान जिनेंद्रकी प्रतिमाके दर्शनसे उसकी प्राप्ति होती है।

देवोंमें भी पर्याप्तक ही देव प्रथमोपशम सम्यक्त्वका लाभ कर सकते हैं अपर्याप्तक नहीं। पर्याप्तकोंमें भी अंतर्मुहूर्तके बाद ही कर सकते हैं पहिले नहीं। यह उपरिम ग्रैवेयक पर्यंत जितने भी देव हैं सबके लिये नियम है। उनमें भवनवासी निकायके देवोंको आदि लेकर वारहवें स्वर्ग सहस्रार पर्यंतके देवोंके पूर्वजन्मका स्मरण धर्मका श्रवण जिनेंद्रकी महिमाका अवलोकन और देवोंकी ऋद्धियोंका निरीक्षण इन चार कारणोंसे प्रथमोपशम सम्यक्त्वका लाभ हो सक्ता है। आनत प्राणत आरण और अच्युत इन चार स्वर्गोंके निवासी देवोंके देवोंकी ऋद्धियोंके निरीक्षणके सिवाय उक्त तीन कारणोंसे प्रथमोपशम सम्यक्त्वका लाभ होता है। नव ग्रैवेयकोंमें पूर्वजन्मका स्मरण और धर्मश्रवण इन दो कारणोंसे सम्यग्दर्शन होता है। इनसे ऊपरके विमानोंके निवासी अर्थात् नव अनुदिश और पंच पचोत्तरविमानवासी देव नियमसे सम्यग्दृष्टी होते हैं। वहांपर सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके लिये किसी भी कारणकी आवश्यकता नहीं होती।

अष्टाविंशतिमोहविकल्पोपशमादौपशामिकं चारित्रं ॥ ३ ॥

अनंतानुबंधि क्रोध मान माया लोभ, अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ, प्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ, संज्वलन क्रोध मान माया लोभ इसप्रकार सोलह कषाय, हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्रीवेद पुंवेद और नपुंसक वेद ये नौ नोकषाय, एवं मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व ये तीन भेद दर्शन मोहनीयके इसप्रकार इन अट्ठाईस प्रकारके मोहनीय कर्मोंके भेदके उपशम रहनेपर औपशमिक चारित्र होता है।

सम्यक्त्वस्यादौ वचनं तत्पूर्वकत्वाच्चारित्रस्य ॥ ४ ॥

आत्मामें पहिले सम्यक्त्व पर्यायकी प्रकटता होती है पीछे चारित्र पर्यायका उदय होता है इसलिये सम्यक्त्वकी प्रकटता चारित्रसे पहिले होनेके कारण 'सम्यक्त्वचारित्रे' इस सूत्रमें सम्यक्त्व शब्दका प्रयोग पहिले किया गया है ॥ ३ ॥

क्षायिक भावको नौप्रकारका बतला आये हैं इसलिये सूत्रकार अब उन नौ भेदोंके नाम गिनाते हैं—

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥ ४ ॥

केवलज्ञान केवलदर्शन क्षायिकदान क्षायिकलाभ क्षायिकभोग क्षायिकउपभोग क्षायिकवीर्य क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र ये नव भेद क्षायिक ज्ञानके हैं। सूत्रमें जो च शब्दका ग्रहण किया गया है उससे यहां पूर्वसूत्रमें कहे गये सम्यक्त्व और चारित्रका ग्रहण है।

ज्ञानदर्शनावरणक्षयात्केवले क्षायिके ॥ १ ॥

ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मके सर्वथा नष्ट हो जानेपर जो केवलज्ञान और केवलदर्शन आत्मा में प्रगट होते हैं उन्हींका नाम यहां क्षायिकज्ञान और क्षायिक दर्शन है।

अनंतप्राणिगणानुग्रहकरं सकलदानांतरायक्षयादभयदानं ॥ २ ॥

दानांतराय लाभांतराय भोगांतराय उपभोगांतराय और वीर्यांतरायके भेदसे अंतरायकर्म पांच प्रकारका माना है। उनमें दानांतराय कर्मके सर्वथा नाश होजानेपर प्रगट होनेवाला और भूत भविष्यत वर्तमान समस्त प्राणियोंका उपकार करनेवाला अभयदान क्षायिकदान है।

विशेष—यद्यपि आहार औषध शास्त्र और अभयदानके भेदसे दान चार प्रकारका है परंतु अभय-दानके सिवाय तीन दान क्षायोपशमिक हैं, क्षायिक नहीं। अभयदान ही क्षायिकदान है यही केव-लियोंके हो सकता है इसलिये क्षायिक भावोंमें दान शब्दके उलेखसे अन्य प्रकारके दानोंका ग्रहण न कर अभयदानको ही क्षायिक दान कहा है।

अशेषलाभांतरायनिरासात् परमशुभपुद्गलानामादानं लाभः ॥ ३ ॥

लाभांतराय कर्मके सर्वथा नष्ट हो जाने पर क्षायिक लाभ प्रगट होता है और कवलाहारके त्यागी केवली भगवानके शरीरको ज्योंका त्यों शक्तिमान रखनेवाले, केवलीके सिवाय अन्य मनुष्योंमें न होनेके कारण असाधारण परमशुभ सूक्ष्म और अनंत पुद्‌गलोंका जो प्रति समय केवली भगवानके शरीरके साथ संबंध करना है उसीका नाम क्षायिक लाभ है।

औदारिक शरीरकी स्थिति, विना कवलाहारके किंचिन्न्यून पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण मानी है वह इसी क्षायिक लाभके आधीन है इसलिये जो मनुष्य यह शंका करते हैं कि केवलियोंके कवलहार माने विना किंचिन्न्यून पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण स्थिति कैसे रह सकती है? वह उनका कहना निर्मूल है।

कृत्स्नभोगांतरायतिरोभावात्परमप्रकृष्टो भोगः ॥ ४ ॥

समस्त भोगांतराय कर्मके सर्वथा नष्ट हो जाने पर जो अतिशयवान अनंतभोग आत्मामें प्रगट होता है यह क्षायिकभोग है और उसके प्रगट हो जाने पर पंचवर्णमयी सुगंधित पुष्पवृष्टि, अनेक प्रकारकी दिव्य गंधवृष्टि, जहांपर केवली चरण रक्खें वहांपर सात कमलोंकी पंक्तिका होना, सुगंधित धूपका महकना और सुखकारी शीतल पवनका चलना आदि बाह्य अतिशय केवलियोंके प्रगट हो जाते हैं।

निरवशेषोपभोगांतरायप्रलयादनंतोपभोगः क्षायिकः ॥ ५ ॥

उपभोगांतराय कर्मके सर्वथा नष्ट हो जानेपर जो आत्मामें अनंत उपभोग प्रगट होता है वह क्षायिक उपभोग है। आत्मामें उपभोग भावके प्रगट हो जानेपर सिंहासन चौंसठ चमर अशोकवृक्ष तीन छत्र भामंडल गंभीर और स्निग्ध (प्रिय) वचनोंका उच्चारण करनेवाली दिव्यध्वनि और देवदुंदुभि आदि अतिशय केवलियोंके होते हैं।

वीर्यांतरायात्यंतसंक्षयादनंतवीर्यं ॥ ६ ॥

आत्माकी वास्तविक सामर्थ्यके विरोधी वीर्यांतराय कर्मके सर्वथा नष्ट हो जाने पर जो आत्मामें अनंतवीर्य प्रगट होता है उसका नाम क्षायिकवीर्य है। इस अनंतवीर्य भावके उदयसे केवलियोंके ज्ञानमें मूर्तिक अमूर्तिक समस्त पदार्थोंके जाननेकी शक्ति प्रगट हो जाती है।

पूर्वोक्तमोहप्रकृतिनिरवशेषक्षयात्सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ७ ॥

ऊपर कहे गये मिथ्यात्व आदि दर्शनमोहनीयके तीन भेदोंका और चारित्रमोहनीयके पचीस भेदोंका जिससमय सर्वथा नाश हो जाता है उससमय सम्यक्त्व और चारित्र गुण आत्मामें प्रगट हो जाते

है। अर्थात् मोहनीय कर्मकी अट्ठाईस प्रकृतियोंमें सात प्रकृतियोंके सर्वथा क्षयसे सम्यक्त्व और पच्चीस भेदोंके सर्वथा नाशसे क्षायिक चारित्र होता है। ऊपर स्पष्टरूपसे सम्यक्त्व और चारित्र दोनों गुणोंकी प्रकटता वर्णन कर दी गयी है। शंका—

दानांतराय आदि कर्मोंके सर्वथा नष्ट हो जानेपर दान लाभ आदि पांचो लब्धियां जब अभय दान आदिके होनेमें कारण मानी गयी हैं तब सिद्धोंमें भी अभयदान आदि मानने चाहिये क्योंकि वहांपर भी दानांतराय आदिका सर्वथा अभाव है फिर जिसतरह अभयदान आदिका कार्य केवलियोंके दीख पडता है उसीप्रकार सिद्धोंके भी दीख पडना चाहिये? सो ठीक नहीं। अभयदान आदि भावोंके होनेमें शरीर नाम कर्मके उदय आदिकी अपेक्षा है। जहांपर शरीर आदि होंगे वहींपर अभयदान आदि रहेंगे किंतु जहांपर शरीर आदिका अभाव रहेगा वहांपर वे नहीं रह सकेंगे। केवलियोंमें अभयदान आदिके होनेमें कारण शरीर है इसलिये उनके अभयदान क्षायिकलाभ आदि भाव होते हैं सिद्ध अशरीर हैं—उनके किसी प्रकारके शरीरका संबंध नहीं इसलिये उनके अभयदान आदि कार्य नहीं हो सकते।

जिसतरह अनंतवीर्यको केवलज्ञान स्वरूप माना है उसीप्रकार अनंत अव्याबाधरूप जो सिद्धोंमें गुण माना है उसी स्वरूप अभयदान आदिको स्वीकार किया गया है अर्थात् जिसप्रकार केवलज्ञानमें ही अनंतवीर्यकी वृत्ति—सत्ता सहयोगरूपसे समाई हुई है उसीप्रकार अव्याबाधरूपसे अभयदानादिकी वृत्ति सिद्धोंमें परिगणित है। यदि कदाचित् यह शंका की जाय कि—

आगममें सिद्धत्व गुणको क्षायिक माना गया है परंतु यहांपर जो क्षायिक भावके भेद गिनाये गये हैं उनमें सिद्धत्व भावको छोड दिया है इसलिये ज्ञान दर्शन आदिके साथ सिद्धत्व नामक क्षायिक

भावको भी गिनाना चाहिये ? सो ठीक नहीं। विशेषोंसे सामान्य भिन्न पदार्थ नहीं किंतु विशेषके उल्लेखसे सामान्यका ग्रहण सुतरां हो जाता है जिसतरह पर्व-पोटरा आदि विशेषोंसे अंगुलि पदार्थ भिन्न नहीं किंतु वह पर्व आदि स्वरूप ही है इसलिये जिसप्रकार पर्व-पोटरा आदि स्वरूप ही अंगुलि पदार्थ है पर्वादिसे भिन्न अंगुलि नहीं है उसीप्रकार केवलज्ञान केवलदर्शन आदि सब क्षायिक भाव स्वरूप ही सिद्धत्व है इसरीतिसे क्षायिकभाव केवलज्ञान आदिका उल्लेख रहनेसे ही जब सिद्धत्व पर्याय का उल्लेख हो जाता है तब क्षायिक भावोंमें सिद्धत्व पर्यायके भिन्न माननेकी कोई आवश्यक्ता नहीं।

क्षायोपशमिक भावके अठारह भेद ऊपर कहे गये हैं सूत्रकार भिन्न भिन्न रूपसे उनका नाम गिनाते हैं—

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपंचभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥ ५ ॥

मति श्रुत अवधि और मनःपर्यय ये चार ज्ञान, कुमति कुश्रुत कुअवधि तीन अज्ञान (कुज्ञान) चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन अवधिदर्शन ये तीन दर्शन, क्षायोपशमिकदान क्षायोपशमिकलाभ क्षायोपशमिकभोग क्षायोपशमिक उपभोग और क्षायोपशमिक वीर्य ये पांच लब्धियां, वेदकसम्यक्त्व, सराग चारित्र और संयमासंयम (देशव्रत) इसप्रकार अठारह प्रकारका क्षायोपशमिकभाव है। इन अठारह भावोंकी प्रकटता आत्मामें कर्मोंके क्षायोपशमसे होती है

चतुरादीनां कृतद्वंद्वानां भेदशब्देन वृत्तिः ॥ १ ॥

चत्वारश्च त्रयश्च त्रयश्च पंच च चतुस्त्रित्रिपंच, ते भेदा येषां ते चतुस्त्रित्रिपंचभेदाः, यह यहांपर द्वंद्वपूर्वक बहुव्रीहि समास है। शंका—

व्याकरणशास्त्रमें द्वंद्वसमासकी अपवाद स्वरूप एक प्रकारकी 'एकशेष' समास मानी है । उसका तात्पर्य यह है कि समान पदार्थोंका समास करनेपर एकशेष—एक पदार्थ अविशिष्ट रह जाता है और सब पदार्थोंका लोप हो जाता है जिसतरह 'पुरुषाः' 'पुरुषश्च पुरुषश्च पुरुषश्च पुरुषाः' यह एकशेष समास है । यहां दो पुरुष शब्दोंका लोप हो जाता है एक पुरुष शब्द अवशेष रह जाता है और उससे प्रथमाके बहुवचनमें जस् विभक्ति लाकर 'पुरुषाः' यह रूप सिद्ध कर लिया जाता है । चत्वारश्च त्रयश्च त्रयश्च पंच च चतुस्त्रित्रिपंच यहांपर जो ऊपर द्वंद्व समासका उल्लेख किया गया है वहांपर उसका अपवादस्वरूप एक-शेष समास मानलेना चाहिये और 'त्रयश्च त्रयश्च' यहांपर एक त्रि शब्दका लोपकर एकका ही उल्लेख करना चाहिये ? सो ठीक नहीं । यदि त्रिशब्दका एक शेष मानलिया जायगा तो यह जो भिन्न भिन्न रूपसे संख्याविशिष्ट अर्थका बोध होता है कि—अज्ञान तीन प्रकारका है दर्शन तीन प्रकारका है, यह न हो सकेगा क्योंकि एकशेष किये जानेपर सूत्रमें एक ही त्रिशब्दका पाठ होगा वैसी अवस्थामें अर्थमें भ्रम होनेकी संभावना है दूसरे यदि इस स्थलपर प्रधानतासे एकशेष समास ही रहता और समास न होता तब तो कदाचित् उपर्युक्त अर्थकी संभावना कर ली जा सकती परंतु यहां तो प्रधान बहुव्रीहि समास है । एक शेष समास मानलेनेपर भी बहुव्रीहि समासके सामने वह गौण गिना जायगा इसलिये वहांपर त्रिशब्दका एकशेष समास मानलेने पर दो त्रिशब्दका अर्थ नहीं निकल सकता इसलिये वहां पर द्वंद्व समास ही मानी जा सकती है एक शेष समासका संभव नहीं हो सकता । तथा—

एकशेष न कर जो त्रि शब्दका पृथक् उल्लेख किया गया है उससे ज्ञान चार प्रकार, अज्ञान तीन प्रकार, दर्शन तीन प्रकार, लब्धि पांच प्रकार हैं, इस क्रमको सूचित करना भी प्रयोजन है । यदि

प्रथक् रूपसे त्रि शब्दका उल्लेख नहीं किया जाता तो एक ही त्रि शब्दके रहनेसे उपर्युक्त क्रमबद्ध अर्थ स्पष्ट रूपसे सिद्ध नहीं होता इसलिये उक्त क्रमिक अर्थके प्रतिपादनके लिये त्रि शब्दका दो बार उल्लेख करना सार्थक है। शंका—

यथाक्रमवचनं ज्ञानादिभिरानुपूर्व्यसंबंधार्थं ॥ २ ॥

ज्ञान चार प्रकारका अज्ञान तीन प्रकारका दर्शन तीन प्रकारका लब्धि पांच प्रकारकी है इस रूपसे ज्ञान आदि और चार संख्याओंका ऊपर क्रमसे संबंध लगाया गया माना है परंतु सूत्रमें यथाक्रम शब्दके पाठ रहने पर ही वैसा अर्थ हो सकता है । वह यथाक्रम शब्द सूत्रमें पढा नहीं गया इसलिये उपर्युक्त क्रम ठीक नहीं माना जा सकता। सो ठीक नहीं। यदि कोई शब्द किसी सूत्रमें न हो तो पूर्व सूत्रसे उसकी अनुवृत्ति कर ली जाती है। यद्यपि इस सूत्रमें यथाक्रम शब्दका उल्लेख नहीं है तथापि द्विनवाष्टदशेत्यादि पूर्व सूत्रमें उसका पाठ है इसलिये उसकी इस सूत्रमें अनुवृत्ति आ जाने पर उपर्युक्त क्रमिक अर्थमें बाधा नहीं पहुंच सकती। किस कर्मके क्षय और किस कर्मके उपशमसे क्षायोपशमिक भाव होता है वार्तिककार इसका खुलासा करते हैं——

सर्ववातिस्पर्धकानामुदयक्षयात्तेषामेव सदुपशमाद्देशघातिस्पर्धकानामुदये क्षायोपशमिको भावः ॥ ३ ॥

स्पर्धकोंके दो भेद माने हैं एक देशघाति स्पर्धक, दूसरा सर्वघातिस्पर्धक। जिस समय आत्मामें सर्वघाति स्पर्धकका उदय रहता है उससमय अंशमात्र भी आत्मिक गुणकी प्रकटता नहीं रहती इसलिये उसके उदयका सर्वथा अभाव हो जाना क्षय है और उसी सर्वघाती स्पर्धकोंकी शक्तिका अप्रकटतासे उदयमें न आकर जो सत्तामें स्थित रहना है उसका नाम उपशम है । इसप्रकार सर्वघाति स्पर्धकोंका

उदयाभाव क्षय और (उपशम) एवं देशघाती स्पर्धकोंके उदय रहने पर सर्व घातियोंके अभावसे जो भाव आत्माके अंदर प्रकट होता है वह क्षायोपशमिक भाव है। वार्तिककार स्पर्धकका खुलासा अर्थ बतलाते हैं—

अविभागपरिच्छिन्नकर्मप्रदेशरसभागप्रचयपंक्तिक्रमवृद्धिः क्रमहानिः स्पर्धकं ॥ ४ ॥

जो कर्म उदय प्राप्त है उसके प्रदेश अभव्योंसे अनंतगुणे और सिद्धोंके अनंतवें भाग प्रमाण हैं। उनमें सबसे जघन्य गुणवाला प्रदेश ग्रहण किया उसके अनुभाग—रसके वहांतक बुद्धिसे टुकडे कर डाले जिससे फिर उनका विभाग न हो सके उन टुकडोंका नाम अविभाग प्रतिच्छेद है ऐसे अविभाग प्रतिच्छेद जीवराशिसे अनंतगुणे माने हैं उस जघन्य अविभाग प्रतिच्छेदवाले प्रदेशोंके परमाणुओंकी एक राशि बनाई उसीप्रकार फिर जघन्य गुणवाला दूसरा प्रदेश लिया मिलाकर फिर एक राशि करली। इसीप्रकार आगे भी इन्हीं देशोंके समान सर्वजघन्य गुणवाले जितने भी प्रदेश हैं उन सबके अनुभागोंके बुद्धिसे ऐसे टुकडे कर लिये गये जिनका फिर विभाग न हो सके उन सब अविभाग प्रतिच्छेदोंको अपने अपने प्रदेशोंके साथ मिलाकर राशियां कर लीं इसप्रकार उन समान अविभाग प्रतिच्छेदोंके धारक प्रत्येक कर्म प्रदेश (परमाणु) की वर्गसंज्ञा है और वर्गोंके समूहका नाम वर्गणा है।

पहिले जो सर्व जघन्य गुणवाले प्रदेशको ग्रहण किया था उससे अब एक अविभाग प्रतिच्छेद अधिक प्रदेशको ग्रहण किया। उसके पहिलेके ही समान बुद्धिसे टुकडे किये। उन जीव राशिसे अनंतगुणे अविभाग प्रतिच्छेदोंके समान अंश धारण प्रदेशोंकी एक राशि की। उसीप्रकार एक अविभाग प्रतिच्छेद अधिक दूसरा प्रदेश ग्रहण किया और उसे भी वैसा ही किया इसप्रकार जितने भी एक अविभाग

प्रतिच्छेद अधिक प्रदेश थे उनको वैसे ही किया और राशियां करलीं। उन समान अविभाग प्रतिच्छेदों की धारक प्रत्येक कर्मके प्रदेशकी वर्ग संज्ञा है और वर्गोंका समूह वर्गणा है।

इसप्रकार ये पंक्तियां वहांतक करते चले जाना चाहिये जहांतक एक अविभाग प्रतिच्छेद अधिकका लाभ होता चला जाय किंतु जहांपर वह अविभाग प्रतिच्छेदका अधिकपना समाप्त हो जाय बस वहींपर विशेषरहित (समान) क्रमवृद्धि और क्रमहानियुक्त जितनी भी वे सब पंक्तियां हैं उन समस्त पंक्तियोंका समुदाय एक स्पर्धक कहा जाता है।

यहांपर यह समझ लेना चाहिये कि जहां जाकर उस एक अंश अधिक अविभाग प्रतिच्छेदकी समाप्ति हो जाती है वहांसे आगे फिर दो तीन चार संख्याते असंख्याते अविभाग प्रतिच्छेद नहीं मिलते नियमसे अनंतगुणे ही मिलते हैं।

उन अनंतगुणे अधिक अविभाग प्रतिच्छेदोंके धारक प्रदेशोंमें भी सर्व जघन्य गुणवाले प्रदेशको ग्रहण किया उसके अनुभागके पहिलेके समान अविभाग प्रतिच्छेद किए। उसीके समान दूसरा प्रदेश ग्रहण किया उसके अनुभागके भी वैसे ही अविभाग प्रतिच्छेद किये इसीप्रकार जितने भी उतने प्रमाणवाले प्रदेश हैं उन सबोंके अनुभागोंके पहिलेके समान अविभाग प्रतिच्छेद किये और राशियां बना डालीं उन समान अविभाग प्रतिच्छेदोंके धारक प्रत्येक प्रदेशका नाम वर्ग है और वर्गोंके समूहका नाम वर्गणा है। इसके बाद एक अविभाग प्रतिच्छेद अधिक प्रदेश ग्रहण किया और उसके अनुभागके पहिलेके समान अविभाग प्रतिच्छेद कर राशि करली उसीप्रकार उसीके समान दूसरा प्रदेश भी ग्रहण किया और उसके अनुभागके वैसे ही अविभाग प्रतिच्छेद कर राशि कर ली इसप्रकार जितने भी प्रदेश उसी परि-

माणवाले हैं उन सर्वोंके अनुभागोंके पहिलेके समान अविभाग प्रतिच्छेदकर राशियां करलीं, उन समान अविभाग प्रतिच्छेदोंके धारक प्रत्येक प्रदेशका नाम वर्ग और उनके समूहका नाम वर्गणा है। इसरीतिसे ये पंक्तियां वहांतक करते चले जाना चाहिये जहां पर एक अधिककी समाप्ति हो बस जहां पर उस एक अधिककी समाप्ति हो जाय वहींपर समान और क्रमवृद्धि एवं क्रम हानि युक्त जितनी भी पंक्तियां हों उन पंक्तियोंका नाम दूसरा स्पर्धक है।

इसीप्रकार एक अधिककी समाप्ति हो जाने पर अनंतगुणे अविभाग प्रतिच्छेद विशिष्ट प्रदेश मिलेंगे वहांपर भी एक अधिकका क्रम जारी करने पर जब उसकी समाप्ति हो जायगी उससमय अनंतगुणे अविभाग प्रतिच्छेदयुक्त प्रदेश मिलेंगे वहां पर भी पहिलेके समान सब व्यवस्था मानी जायगी इसरीतिसे जहां जहां एक अधिककी समाप्तिका अंतर पडता जाय वहीं वहीं पर स्पर्धक मानना चाहिये। ऐसे ही ऐसे प्रमाणवाले स्पर्धक अभव्योंसे अनंतगुणे और सिद्धोंके अनंतभाग प्रमाण हैं। इन समस्त स्पर्धकोंका समुदाय एक उदयस्थान कहलाता है। इसका खुलासा इतनेमें समझ लेना चाहिये कि जिन कर्म परमाणुओंमें सबसे जघन्य फलदान शक्ति है उसकी संज्ञा एक अविभाग प्रतिच्छेद मान लेना चाहिये, वैसे समान–एक अविभाग प्रतिच्छेद शक्तिवाले जितने कर्म परमाणु होंगे वे सब भिन्न भिन्न वर्गोंके नामसे कहे जाते हैं उन समान शक्ति धारक वर्गों (परमाणुओं) का समूह एक वर्गणा कहलाती है, इस एक वर्गणामें अनंते परमाणु होते हैं। अब एक अविभाग प्रतिच्छेदसे ऊपर एक अधिक और अर्थात् दो अविभाग प्रतिच्छेदरूप शक्तिवाले समान कर्म परमाणुओंका पिंड दूसरी वर्गणा कहलाती है इसीप्रकार तीन चार पांच एक एक अधिक शक्तिवाले परमाणु समूहोंकी भिन्न भिन्न वर्गणाएं होती जाती हैं वे सब

क्रमसे अधिक शक्तिधारक परमाणु वर्गणाऐं मिलकर स्पर्धक कही जाती हैं, फिर दूसरी वर्गणा तव बनेगी जब कि एक साथ अनंतगुणे अविभाग प्रतिच्छेद अधिक शक्तिवाले समान परमाणुओंका पिंड होगा। फिर उससे एक एक अधिक शक्तिवाले परमाणुओंकी दूसरी तीसरी आदि वर्गणाऐं होंगी उनका पिंड दूसरा स्पर्धक होगा यही क्रम आगे जानना चाहिये।

तत्र ज्ञानं चतुर्विधं क्षायोपशमिकमाभिनिबोधकज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं चेति ॥ ५ ॥

वीर्यांतराय श्रुतज्ञानावरण और मतिज्ञानावरण कर्मोंके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय होने पर और सत्तामें उपशम रहनेपर तथा देशघाति स्पर्धकोंके उदय रहनेपर क्षायोपशमिक मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं। तथापि देशघाति स्पर्धकोंका अनुभाग अधिक और अल्परूपसे होता है इसलिये गुणोंके घातनेमें भी कहींपर अधिकता और कहींपर अल्पता हो जाती है जहांपर आत्माके ज्ञानगुणका अधिकतासे घात है वहांपर अधिकज्ञान और जहांपर कुछ अल्पतासे घात है वहांपर स्वल्पज्ञान होता है इसीतरह श्रुतज्ञानकी अपेक्षा जहां कुछ अधिकतासे घात है वहां अल्पश्रुतज्ञान जहां स्वल्पतासे घात है वहां अधिकश्रुतज्ञान होता है इसीप्रकार अवधि मनःपर्यय क्षायोपशमिक ज्ञानोंमें भेद समझना चाहिये।

वीर्यांतराय और अवधिज्ञानावरण कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय होनेपर और सत्तामें उपशम रहनेपर तथा देशघाती स्पर्धकोंके उदय रहने पर क्षायोपशमिक अवधिज्ञान होता है और वीर्यांतराय एवं मनःपर्ययज्ञानावरण कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय रहनेपर और सत्तामें उपशम रहनेपर तथा देशघाती स्पर्धकोंके उदय रहनेपर मनःपर्ययज्ञान होता है। इसप्रकार मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इसप्रकार क्षायोपशमिकज्ञानके चार भेद हैं।

अज्ञानं त्रिविधं मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभंगं चेति ॥ ६ ॥

मतिअज्ञान श्रुतअज्ञान और विभंगज्ञानके भेदसे अज्ञान तीन प्रकारका है। इनको क्षायोपशमिक-पना मतिज्ञान आदिके समान समझ लेना चाहिये। यहांपर यह शंका न करनी चाहिये कि ज्ञानके ज्ञान और अज्ञान ये दो भेद कैसे होगये ? क्योंकि जिससमय आत्मामें मिथ्यात्व कर्मका उदय रहेगा उस समय उसके साथ एक जगह रहनेसे ज्ञान मिथ्या कहा जायगा और जिससमय आत्मामें मिथ्यात्व कर्मका उदय न रहेगा उससमय ज्ञानका संबंध मिथ्यात्वके साथ न रहनेके कारण वह सम्यग्ज्ञान ही रहेगा इसका खुलासा वर्णन ऊपर कर दिया जा चुका है।

दर्शनं त्रिविधं क्षायोपशमिकं चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं चेति ॥ ७ ॥

चक्षु दर्शन अचक्षु दर्शन अवधिदर्शनके भेदसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन तीन प्रकारका है। वीर्यांतराय और चक्षुर्दर्शनावरणके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय रहनेपर और सत्तामें उपशम रहनेपर तथा देशघाती स्पर्धकोंके उदय होनेपर चक्षुर्दर्शन होता है। वीर्यांतराय और अचक्षुर्दर्शनावरणके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय रहनेपर और सत्तामें उपशम रहनेपर तथा देशघाती स्पर्धकोंके उदय रहनेपर अचक्षुर्दर्शन होता है। एवं वीर्यांतराय और अवधिदर्शनावरण कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय रहनेपर वा सत्तामें उपशम रहनेपर तथा देशघाती स्पर्धकोंके उदय रहनेपर अवधिदर्शन होता है।

लब्धयः पंच क्षायोपशमिकाः दानलब्धिर्लाभलब्धिर्भोगलब्धिरुपभोगलब्धिर्वीर्यलब्धिश्चेति ॥ ८ ॥

दानलब्धि लाभलब्धि भोगलब्धि उपभोगलब्धि और वीर्यलब्धिके भेदसे लब्धियां पांच हैं।

दानांतराय कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय रहनेपर और सत्तामें उपशम रहनेपर और देश-घाती स्पर्धकोंके उदय रहने पर दानलब्धि होती है। लाभांतरायकर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय रहनेपर और सत्तामें उपशम रहनेपर तथा देशघाती स्पर्धकोंके उदय रहनेपर लाभलब्धि होती है। इसीतरह भोगांतराय आदि कर्मोंके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय रहनेपर और सत्तामें उपशम रहनेपर तथा देशघाती स्पर्धकोंके उदय रहनेपर भोग आदि लब्धियां होती हैं।

सूत्रमें जो सम्यक्त्व पद दिया है उससे यहां वेदक सम्यक्त्वका ग्रहण है वही क्षायोपशमिक सम्य-क्त्व कहा जाता है। अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन सर्वघाती छह प्रकृतियोंके उदयाभावी क्षय और सत्तामें उपशम रहनेपर तथा देशघाती सम्यक्त्व प्रकृतिके उदय रहनेपर जो तत्त्वार्थ श्रद्धान है वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहा जाता है। अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ, अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ, प्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ इन बारह कषाय रूप सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय रहनेपर और सत्तामें उपशम रहनेपर तथा देशघाती संज्वलन क्रोध मान माया लोभोंमेंसे किसी एकके उदय रहनेपर और हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्री-वेद पुंवेद और नपुंसकवेद इन नव नोकषायोंके यथासंभव उदय रहनेपर आत्माका जो निवृत्तिरूप परिणाम है वह क्षायोपशमिक चारित्र है। यहांपर संज्वलन कषायादिकका जितने अंशोंमें उदय है उतने अंशोंमें चारित्रका घात ही समझना चाहिये परंतु क्षायोपशमिक चारित्र पूर्ण चारित्र नहीं है इस-लिये उक्त कर्मोंका उदय रहता ही है परंतु जो चारित्रके बाधक कर्म हैं उनका उपशम रहना जरूरी है। तथा अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ इन आठ कषायरूप

प्रत्याख्यानकषायके उदय
सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय रहनेपर तथा सत्तामें उपशम रहनेपर, नव नोकषायोंके यथासंभव
रहनेपर देशघाती संज्वलन कषायरूप स्पर्धकोंके उदय रहनेपर एवं उक्त नव नोकषायोंके यथासंभव
उदय रहनेपर आत्माका कुछ विरत कुछ अविरत मिश्ररूप जो परिणाम है वह संयमासंयम नामका
क्षायोपशमिक भाव है। शंका—

संज्ञित्वसम्यग्मिथ्यात्वयोगोपसंख्यानमिति चेन्न ज्ञानसम्यक्त्वलब्धिग्रहणेन गृहीतत्वात् ॥ ९ ॥

उस उस कर्मके क्षय और उपशमसे जो भाव होते हैं वे क्षायोपशमिक भाव कहे जाते हैं। क्षायो-
पशमिक भावके मतिज्ञान आदि अठारह भेद सूत्रकारने बतलाये हैं परंतु कर्मोंके क्षय और उपशमसे
संज्ञित्व सम्यग्मिथ्यात्व और योग भी होते हैं इसलिये क्षायोपशमिक भाव होनेसे इनका भी सूत्रमें उल्लेख
करना चाहिये? सो ठीक नहीं। मतिज्ञान आदि जो क्षायोपशमिक भावके भेद कहे गये हैं उन्हींमें संज्ञित्व
आदिका अंतर्भाव हो जाता है और वह इसप्रकार है—

संज्ञित्वका अर्थ मन विशिष्टपना है। जिस मतिज्ञानमें नोइंद्रियावरण कर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा
रहेगी उस मतिज्ञानमें संज्ञित्व भावका समावेश है। पंचेंद्रिय सैनी जीवके जो मतिज्ञान होगा उसमें नो-
इंद्रियावरण कर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा है इसलिये सैनी पंचेंद्रियके मतिज्ञानमें संज्ञित्वका अंतर्भाव है।
संज्ञित्वभावके जुदे गिनानेकी कोई आवश्यकता नहीं। सूत्रमें जो सम्यक्त्व नामका क्षायोपशमिक भाव
गिनाया गया है उसमें सम्यग्मिथ्यात्व भावका समावेश है क्योंकि जिसप्रकार जलविशिष्ट भी दूधका
संसारमें 'दूध' व्यवहार प्रसिद्ध है अर्थात् मिले हुए भी दोनों पदार्थोंमें दूधका ही ग्रहण होता है उसी
प्रकार सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनोंका मिश्ररूप पदार्थ सम्यग्मिथ्यात्व है इसका भी सम्यक्त्वके नामसे

ग्रहण हो सकता है इसरीतिसे सम्यक्त्वके ग्रहणसे जब सम्यग्मिथ्यात्वका ग्रहण युक्तिसिद्ध है तब उसे जुदा क्षायोपशमिक भाव गिनाना ठीक नहीं। योगको बल माना गया है। बल और वीर्य दोनों एक चीज हैं इसलिये क्षायोपशमिक भावोंमें ग्रंथकारने वीर्यलब्धि भाव गिनाया है उसमें ही योग भावका समावेश हो जाता है उसके जुदे गिनानेकी कोई आवश्यकता नहीं।

अथवा ज्ञानाज्ञानेत्यादि सूत्रमें 'च' शब्दका ग्रहण है। चशब्दका व्याकरणशास्त्रके अनुसार समुच्चय अर्थ भी होता है इसलिये जितने क्षायोपशमिक भावोंका सूत्रमें उल्लेख नहीं किया गया है चशब्द से उनका समुच्चय कर लेना चाहिये। शंका—

संज्ञी और असंज्ञीके भेदसे पंचेंद्रिय जीव दो प्रकारके माने हैं। जिन जीवोंके नोइंद्रियावरण कर्मका क्षयोपशम है वे संज्ञी कहे जाते हैं और जिनके उसका क्षयोपशम नहीं वे असंज्ञी कहे जाते हैं परंतु पंचेंद्रियपनेके, सबमें समानरूपसे रहने पर किसीके नोइंद्रियावरण कर्मका क्षयोपशम होता है किसीके नहीं होता है यह भेद कैसे हो जाता है ? उसका उत्तर यह है कि—एकेंद्रिय जाति आदिको नाम कर्म माना है इसलिये जिसप्रकार जहांपर एकेंद्रिय जातिका उदय रहता है वहांपर एकेंद्रिय जाति नामकर्मका क्षयोपशम रहता है और जहांपर दो इंद्रिय आदि जातियोंका सद्भाव रहता है वहां पर दो इंद्रिय जाति आदि नाम कर्मोंका क्षयोपशम रहता है उसीप्रकार संज्ञिजातिको भी नामकर्म माना है और जहांपर उसका सद्भाव रहता है वहीं पर नोइंद्रियावरण कर्मका क्षयोपशम रहता है अन्यत्र नहीं संज्ञी पंचेंद्रिय जीवोंमें संज्ञि नामकर्मका क्षयोपशम है इसलिये उन्हींके नोइंद्रियावरण कर्मका क्षयोपशम है। असंज्ञी पंचेंद्रियोंके संज्ञि नाम कर्मका क्षयोपशम नहीं इसलिये उनके उसका क्षयोपशम नहीं ॥ ५ ॥

ऊपर औदयिक भावको इक्कीस प्रकार बतला आए हैं सूत्रकार अब उन भेदोंको गिनाते हैं—

गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतु-स्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥ ६ ॥

मनुष्यगति देवगति नरकगति और तिर्यंचगति ये चार गति, क्रोध मान माया लोभ ये चार कषाय, स्त्रीवेद पुंवेद नपुंसकवेद ये तीन लिंग, मिथ्यादर्शन अज्ञान असंयम असिद्धत्व एवं पीत पद्म शुक्ल कृष्ण नील और कापोत ये छह लेश्या ये सब मिला कर इक्कीस भेद औदयिक भावके हैं।

गतिश्च कषायश्च लिंगं च मिथ्यादर्शनं च अज्ञानं च असंयतश्च असिद्धश्च लेश्याश्च, गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याः। यह यहांपर इतरेतरयोग द्वंद्वसमास है। चत्वारश्च चत्वारश्च त्रयश्च एकश्च एकश्च एकश्च एकश्च षट् च 'चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषट्' ते भेदा येषां ते चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः। यह यहां पर द्वंद्वपूर्वक बहुव्रीहि समास है। इस समासमें यहां पर दो वार चतुर शब्दका प्रयोग और चार वार एक शब्दका प्रयोग करनेसे यह शंका हो सकती है कि यहांपर द्वंद्वसमासका अपवाद स्वरूप एक शेष समास होना चाहिये। परंतु इसका समाधान ज्ञानाज्ञानेत्यादि सूत्रमें विस्तारसे दे दिया गया है वही यहांपर समझ लेना चाहिये इसलिये यहां पर एक शेष समास नहीं किया गया। वार्तिककार गति आदि शब्दोंका अब खुलासा अर्थ लिखते हैं—

गतिनामकर्मोदयादात्मनस्तद्भावपरिणामाद्गतिरौदयिकी ॥ १ ॥

जिस कर्मके उदयसे आत्मा नारकी आदि हो वह गति नामका नाम कर्म है और वह नरकगति तिर्यग्गति मनुष्यगति और देवगतिके भेदसे चार प्रकारका है। नरकगति नामक नामकर्मके उदयसे

आत्माका नारकी होना नारक नामका औदयिकभाव है। तिर्यग्गति नामक नामकर्मके उदयसे आत्माका तिर्यंच होना तिर्यक् नामका औदयिक भाव है। मनुष्यगति नामक नामकर्मके उदयसे आत्माका मनुष्य होना मनुष्य नामका औदयिकभाव है और देवगति नामक नाम कर्मके उदयसे आत्माका देव हो जाना देव नामका औदयिकभाव है। इसप्रकार गतिसामान्य नामकर्मके उदयसे आत्माका भिन्न भिन्न देव आदि गतिस्वरूप परिणत होना सामान्यगति नामका औदयिकभाव कहा जाता है।

चारित्रमोहोदयात्कलुषभावः कषाय औदयिकः ॥ २ ॥

आत्माको जो कषे विपरिणमावे उसका नाम कषाय है। कषायवेदनीय नामक चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे आत्माका जो क्रोध आदि कलुषतारूप परिमन होता है वह कषाय नामका औदयिक भाव है। उसके क्रोध मान माया लोभ ये चार भेद हैं और उनके अनंतानुबंधी अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान और संज्वलन ये भेद हैं।

वेदोदयापादितोऽभिलाषविशेषो लिंगं ॥ ३ ॥

स्त्री आदि वेदोंके उदयसे स्त्रीको पुरुषके साथ, पुरुषको स्त्रीके साथ और नपुंसकको स्त्री पुरुष दोनोंके साथ रमण करनेकी जो इच्छा हो जाना उसका नाम, लिंग है। वह लिंग दो प्रकारका है एक द्रव्यलिंग दूसरा भावलिंग। नामकर्मके उदयसे होनेवाले वाह्य रचना विशेषका नाम द्रव्यलिंग है। वह पुद्गल का परिणाम है और यहांपर आत्माके परिणामोंका प्रकरण चल रहा है इसलिये सूत्रमें जो लिंग शब्दका उल्लेख किया गया है उसका अर्थ द्रव्यलिंग नहीं लिया जा सकता किंतु आत्माका परिणाम स्वरूप भावलिंग है। वह भावलिंग स्त्री पुरुष और नपुंसक तीनोंकी आपसमें रमण करनेकी इच्छारूप है और

नोकषायरूप चारित्र मोहनीयके उदयसे एवं स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुंसकवेदके उदयसे उसकी प्रकटता होती है इसलिये भावलिंग औदयिकभाव है।

दर्शनमोहोदयात्तत्त्वार्थाश्रद्धानपरिणामो मिथ्यादर्शनं ॥ ४ ॥

जीव आदि पदार्थोंका श्रद्धान करना आत्माका स्वभाव है और उस स्वभावका विघात करनेवाला दर्शन मोहनीयकर्म है। दर्शन मोहनीयकर्मके उदयसे प्रथमाध्यायमें कहे गये जीव अजीव आदिका वास्तविक रूपसे श्रद्धानका न होना मिथ्यादर्शन नामका औदयिक भाव है।

ज्ञानावरणोदयादज्ञानं ॥ ५ ॥

मेघपटलसे आच्छन्न हो जानेपर तेज स्वभाववाले भी सूर्यका तेज जिसप्रकार प्रगट नहीं होता उसीप्रकार ज्ञानावरण कर्मके उदय रहने पर ज्ञानस्वरूपवाले भी आत्माके जो ज्ञानगुणका प्रगट न होना है अर्थात् अज्ञान बना रहना है वह अज्ञान औदयिक भाव है। इसका खुलासा इसप्रकार है—

जो जीव एकेंद्रिय हैं उनके रसनेंद्रियजन्य सर्वघातिस्पर्धक रूप मतिज्ञानावरण कर्मके उदयसे रसका, घ्राणेंद्रियजन्य सर्वघाति स्पर्धकरूप मतिज्ञानावरण कर्मके उदयसे गंधका, श्रोत्रेंद्रियजन्य सर्वघाति स्पर्धकरूप मतिज्ञानावरण कर्मके उदयसे शब्दका और चक्षुरिंद्रियजन्य सर्वघाति स्पर्धकरूप मतिज्ञाना-वरण कर्मके उदयसे रूपका ज्ञान नहीं होता इसलिये उनके वह रस आदिका अज्ञान औदयिक भाव है। जो जीव दो इंद्रिय हैं उनके घ्राण आदि इन्द्रियजन्य भिन्न भिन्न सर्वघाति स्पर्धक स्वरूप मतिज्ञानावरण कर्मके उदयसे गंधादिका ज्ञान नहीं होता इसलिये उनका वह गंध आदिका अज्ञान औदयिक भाव है। जो जीव तेइंद्रिय हैं उनके श्रोत्र आदि इंद्रिय सर्वघाति स्पर्धक स्वरूप भिन्न भिन्न मतिज्ञानावरण कर्मके

उदयसे शब्द आदिका ज्ञान नहीं होता इसलिये उनका वह शब्द आदिका अज्ञान औदयिकभाव है।

शुक और सारिका आदि पक्षी जो कि स्पष्ट रूपसे अक्षरोंका उच्चारण कर सकते हैं उन्हें छोडकर तिर्यंचोंमें तथा जो स्पष्टरूपसे अक्षरोंका उच्चारण नहीं कर सकते ऐसे कुछ मनुष्योंमें सर्वघाति स्पर्धक स्वरूप अक्षर श्रुतावरण कर्मके उदयसे अक्षरात्मक श्रुतकी रचना नहीं होती इसलिये उनका अक्षर श्रुतका अज्ञान औदयिकभाव है।

तथा असंज्ञित्व भाव भी औदयिक भाव है। यद्यपि औदयिक भावके भेदोंकी गणना करते समय उसका उल्लेख नहीं किया गया है तथापि अज्ञानभावके अंदर ही उसका अंतर्भाव है क्योंकि सर्व-घाति स्पर्धकस्वरूप नो इंद्रियावरण कर्मके उदय रहनेपर कौन पदार्थ हितकारी है और कौन अहित-कारी है इसप्रकार परीक्षा करनेकी शक्तिका न रखना ही असंज्ञित्व है और वह अज्ञान स्वरूप ही है इसलिये यहां असंज्ञित्व नामक औदयिक भावकी पृथक् उल्लेख करनेकी आवश्यकता नहीं।

इसीतरह सर्वघाति स्पर्धकस्वरूप अवधिज्ञानावरण कर्मके उदय रहनेपर जो अवधिज्ञानके विषय भूत पदार्थोंका न जानना रूप अज्ञान है वह औदयिक भाव है। सर्वघाति स्पर्धकरूप मनःपर्यय ज्ञाना-वरण कर्मके उदय रहनेपर मनःपर्ययज्ञानके विषयभूत पदार्थोंका अज्ञान भी औदयिक भाव है। तथा सर्वघाती स्पर्धकस्वरूप केवल ज्ञानावरणकर्मके उदय रहनेपर केवलज्ञानके विषयभूत पदार्थोंका अज्ञान भी औदयिक भाव है।

चारित्रमोहोदयादनिवृत्तिपरिणामोऽसंयतः ॥ ६ ॥

सर्वघाति स्पर्धकस्वरूप चारित्र मोहनीयकर्मके उदयसे असंयत नामका औदयिक भाव होता है

और उसका अर्थ जीवोंका मारना और स्पर्श रस आदि इंद्रियोंके विषयोंमें राग और द्वेषका रखना है। अर्थात् आत्मामें असंयत भावके उदयसे जीवोंके मारनेमें और स्पर्श रस आदि इंद्रियोंके विषयोंमें सदा राग और द्वेष बना रहता है। उसकी निवृत्ति नहीं होती।

कर्मोदयसामान्यापेक्षोऽसिद्धः ॥ ७ ॥

अनादिकालसे कर्मोंके पराधीन आत्माके सामान्य रूपसे समस्त कर्मोंके उदय रहनेपर असिद्धत्व पर्याय होती है। उनमें मिथ्यादृष्टिगुणस्थानको आदि लेकर सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानपर्यंत जीवोंके आठो कर्मोंके उदयसे असिद्धत्व भाव होता है। उपशांतकषाय और क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती जीवोंके मोह-नीय कर्मोंके सिवा सात कर्मोंके उदयसे असिद्धत्वभाव होता है और सयोग एवं अयोग केवलीके वेद-नीय आयु नाम और गोत्र इन चार अघातिया कर्मोंके उदयसे असिद्धत्व भाव होता है इसप्रकार कर्म-सामान्यके उदय रहनेपर असिद्धत्वभावके होनेपर वह औदयिक भाव है।

कषायोदयरंजिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या ॥ ८ ॥

क्रोध आदि कषायोंके उदयसे रंगी हुई जो मन वचन और कायरूप योगोंकी प्रवृत्ति है उसका नाम लेश्या है। वह लेश्या द्रव्यलेश्या और भावलेश्याके भेदसे दो प्रकारकी है। यहांपर आत्माके भावों का प्रकरण चलरहा है इसलिये सूत्रमें जो लेश्या शब्द है उससे आत्माके भावस्वरूप भावलेश्याका ही ग्रहण है द्रव्यलेश्याका नहीं क्योंकि जिन कर्मोंका विपाक पुद्गलद्रव्यके अंदर होता—अर्थात् शरीर आदि पुद्गलद्रव्यको फल भोगना पडता है उन पुद्गलविपाकी कर्मोंके उदयसे द्रव्यलेश्याकी उत्पत्ति होती है इस-लिये द्रव्यलेश्या आदिक भाव न होनेके कारण उसका ग्रहण नहीं। शंका—

आत्माके प्रदेशोंकी हलन चलन रूप क्रियाका नाम योगप्रवृत्ति है वह वीर्यलब्धि स्वरूप ही है क्योंकि जिस योगके द्वारा आत्मामें हलन चलन होगा उस योगके योग्य वीर्यका रहना आत्मामें आवश्यक है और उस वीर्यलब्धिको ऊपर क्षायोपशमिक भाव बता दिया गया है तथा कषायको औदयिक भावोंमें गिनाया गया है। उस वीर्यलब्धि और कषायोंसे भिन्न लेश्या कोई पदार्थ नहीं फिर उसका सूत्र में पृथक् उल्लेख करना व्यर्थ है ? सो ठीक नहीं। कषायके उदयकी तीव्र और मंद अवस्थाकी अपेक्षा कषाय और लेश्याओंमें आपसमें भेद है इसरीतिसे जब कषाय और लेश्या भिन्न भिन्न पदार्थ सिद्ध हैं तब औदयिक भावोंमें लेश्याओंका पृथक्रूपसे गिनाना अयुक्त नहीं।

वह लेश्या कृष्ण नील कपोत पीत पद्म और शुक्लके भेदसे छह प्रकारकी है। यद्यपि लेश्या एक ही पदार्थ है तथापि आत्माके परिणामकी विशेष अशुद्धिकी अपेक्षा उसके कृष्णलेश्या आदि व्यावहारिक नाम हैं अर्थात् जहांपर आत्मपरिणामोंमें हद दर्जेकी कालिमा रहेगी वहांपर कृष्णलेश्या यह व्यवहार होगा। जहांपर उससे कुछ कम कालिमा रहेगी वहांपर नीललेश्या व्यवहार होगा। जहांपर उससे भी कम रहेगी वहांपर कपोतलेश्या, उससे भी कम रहनेपर पीतलेश्या उससे भी कम रहनेपर पद्मलेश्या और बहुत कम रहनेपर शुक्ललेश्या यह व्यवहार होगा। शंका—

उपशांतकषाय गुणस्थानवर्ती क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती और सयोगकेवलियोंके शुक्ललेश्या होती

१। इसका चित्रमय दृष्टांत जगह जगह मंदिरोंमें वर्तमानमें दीख पड़ता है। चित्रमें छह लेश्याओंके स्थान पर छह मनुष्य रक्खे गये हैं और एक फलसंयुक्त वृक्ष बनाकर फलोंके खानेकेलिये उन छहो मनुष्योंके उत्तरोत्तर कालिमाकी कमीको लिये हुए जुदे जुदे भावोंका दिग्दर्शन कराया गया है।

है ऐसा आगमका वचन है। परंतु वहांपर कषायोंके उपशांत वा सर्वथा क्षीण हो जानेसे उसके द्वारा अनुरंजन हो नहीं सकता इसलिये लेश्या सामान्य औदायिक भाव नहीं कहा जा सकता ? सो ठीक नहीं। नैगमनयका एक पूर्वभावप्रज्ञापन भेद माना है और जो बात पहिले थी किंतु वर्तमानमें नहीं है उसका वर्तमानमें होना मान लेना यह उस नयका विषय है। यद्यपि उपर्युक्त तीनों गुणस्थानोंमें योगोंकी प्रवृत्ति कषायोंसे अनुरंजित नहीं है तथापि पूर्वभावप्रज्ञापननयकी अपेक्षा जो पहिले योगोंकी प्रवृत्ति कषायोंसे अनुरंजित थी वह अब भी है ऐसा उपचारसे मान लिया जाता है इसरीतिसे उपशांत कषाय क्षीणकषाय और सयोगकेवलीगुणस्थानोंमें होनेवाली शुक्लेश्यामें भी जब लेश्याका लक्षण घट जाता है तब कोई दोष नहीं। चौदहवें अयोगकेवलिगुणस्थानमें लेश्याका अभाव है क्योंकि वहांपर योग प्रवृत्ति नहीं है। इसलिये अयोग केवलियोंको अलेश्य माना है। शंका——

१। जोगपउत्तीलेस्सा कसाय उदयाणु रंजिया होई ॥ ४८९ ॥
अयदोत्ति छल्लेस्साओ सुहतियलेस्सा हु देसविरदतिये।
तत्तो सुक्का लेस्सा अजोगिठाणं अलेस्सं तु ॥ ५३१ ॥
योगप्रवृत्तिर्लेश्या कषायोदयानुरंजिता भवति ॥ ४८९ ॥
असयत इति षट् लेश्याः शुभत्रयलेश्या हि देशविरतत्रये।
ततः शुक्ला लेश्या अयोगिस्थानमलेश्यं तु ॥ ५३१ ॥

कषायोदयसे अनुरंजित योगोंकी प्रवृत्तिका नाम लेश्या है। उसके छह भेद हैं। उनमें चतुर्थ गुणस्थानपर्यंत छहो लेश्या होती हैं। देशविरत प्रमत्तविरत अप्रमत्तविरत इन तीन गुणस्थानोंमें तीन शुभ लेश्या ही होती हैं। अपूर्व करणसे लेकर सयोगकेवली गुणस्थान पर्यंत एक शुक्लेश्या ही होती है और अयोगकेवली गुणस्थान लेश्यारहित है। (गोम्मटसार जीवकाण्ड)

जो भाव कर्मोंके उदयसे हों उन्हें औदायिक भाव माना है। सूत्रकारने उन औदायिक भावोंके केवल इक्कीस ही भेद गिनाये हैं परंतु उनके और भी भेद हैं और वे इसप्रकार हैं—जिसप्रकार ज्ञानावरण कर्मके उदयसे होनेवाला अज्ञान भाव औदायिक है उसी प्रकार दर्शनावरण कर्मके उदयसे अदर्शन निद्रा निद्रानिद्रा प्रचला आदि, वेदनीय कर्मके उदयसे सुख दुःख, नोकषाय वेदनीयके उदयसे हास्य रति अरति आदि छह भाव, आयु कर्मके उदयसे भव धारण करना भाव, उच्चगोत्रके उदयसे उच्चगोत्र परिणाम, नीचगोत्रके उदयसे नीचगोत्र परिणाम और नामकर्मके उदयसे जाति आदिक भाव होते हैं इसलिये ये भी सब औदायिक भाव हैं परंतु इनको सूत्रमें भिन्न भिन्न रूपसे गिनाया नहीं गया इसलिये सूत्रमें कमी कही जायगी। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि यहांपर आत्माके भावोंका प्रकरण चल रहा है इसलिये शरीर आदि कुछ भाव हों भी तो भी वे पुद्गलविपाकी कर्मके उदयसे जायमान हैं इसलिये यहां सूत्रमें उनका ग्रहण नहीं किया जा सकता? सो ठीक नहीं। क्योंकि बहुतसे जीवविपाकी होनेसे जाति आदिक आत्माके भी भाव हैं इसलिये उनका ग्रहण तो सूत्रमें होना चाहिये। विना उन्हें ग्रहण किये सूत्रकी कमी पूरी नहीं हो सकती इसवातका वार्तिककार खुलासा रूपसे उत्तर देते हैं—

मिथ्यादर्शनेऽदर्शनावरोधः॥ ९॥

सूत्रमें जो मिथ्यादर्शनका उल्लेख किया गया है उसमें अदर्शनका अंतर्भाव है तथा निद्रा निद्रानिद्रा आदिक भाव भी दर्शनावरण सामान्य कर्मके उदयसे होते हैं इसलिये उनका भी मिथ्यादर्शनके अंदर ग्रहण है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि जीव आदि पदार्थोंको याथात्म्यरूपसे श्रद्धानका न होना मिथ्यादर्शन कहा गया है और यहांपर जो अदर्शन है उसका अर्थ न दीखना है। एकदम

भिन्न अर्थ है इसलिये मिथ्यादर्शनमें अदर्शनका अंतर्भाव नहीं हो सकता तथा जब अदर्शनका ही अभाव नहीं हो सकता तब निद्रानिद्रा निद्रा आदिका अंतर्भाव हो ही नहीं सकता इसलिये मिथ्या-दर्शनमें अदर्शन आदिका अंतर्भाव कहना अयुक्त है। सो ठीक नहीं। जहांपर सामान्यका निदर्शन किया जाता है वहांपर विशेषोंका ग्रहण हो जाता है। अदर्शन शब्द सामान्य अर्थका वाचक है उसका एक विशेष अर्थ—जीवादि पदार्थोंका यथार्थ रूपसे श्रद्धान न करना, यह भी है और दूसरा विशेष अर्थ—'नहीं देखना' यह भी है इसरीतिसे अप्रतिपत्ति—नहीं देखना और मिथ्यादर्शन इन दोनों ही विशेष अर्थोंका वाचक जब अदर्शन शब्द है तब मिथ्यादर्शनके कहनेसे अदर्शनका ग्रहण हो सकता तथा अदर्शनके समान निद्रा आदिका भी ग्रहण हो सकता है इसलिये औदयिक भावोंमें पृथक् रूपसे उनको गिनानेकी कोई आवश्यकता नहीं।

लिंगग्रहणे हास्यरत्याद्यंतर्भावः सहचारित्वात् ॥ १० ॥

जिसप्रकार पर्वतके उल्लेख करनेसे नारदका और नारदके उल्लेख करनेसे पर्वतका ग्रहण हो जाता है क्योंकि दोनोंका आपसमें सहचरित संबंध है कभी भी उनका जुदा जुदा रहना नहीं माना गया। उसीप्रकार नोकषाय वेदनीयके भेद हास्य रति आदि, लिंगके साथ ही प्रतिपादित हैं इसलिये साहचर्य संबन्धसे लिंगके उल्लेख रहने पर उनका भी ग्रहण किया जा सकता है। इसरीतिसे जब सूत्रमें लिंग शब्दका ग्रहण रहनेसे हास्य आदिका उसीमें अंतर्भाव हो जाता है तब उनके पृथक् रूपसे औदयिक भावमें नाम गिनानेकी कोई आवश्यकता नहीं।

गतिग्रहणमघात्युपलक्षणं ॥ ११ ॥

जिसतरह 'काकेभ्यो रक्षतां सर्पिः' काकोंसे घीकी रक्षा करो यहांपर काक शब्द उपलक्षण माना है और उस उपलक्षण माननेसे जितने भी जीव घीके विनाशक हों उन सबसे घीकी रक्षा करो यह उस वाक्यका भाव है उसीप्रकार सूत्रमें जो गति शब्द है वह भी अघाति कर्मोंका उपलक्षण है। उसके उपलक्षण होनेसे अघातिया कर्मोंके उदयसे जो भी उत्पन्न होनेवाले भाव हैं उन सबका गति शब्दसे ग्रहण है इसलिये नाम कर्मके उदयसे होनेवाले जाति आदि औदयिकभाव वेदनीय कर्मके उदयसे होनेवाले सुख और दुःख रूप औदयिकभाव, आयुकर्मके उदयसे होनेवाला भवधारण रूप भाव और गोत्रकर्मके उदयसे होनेवाले नीचगोत्र ऊंचगोत्ररूप भाव सबोंका गतिमें अंतर्भाव है। इसरीतिसे जब जीवविपाकी कर्मोंके उदयसे होनेवाले अदर्शन आदि आत्माके औदयिक भावोंका मिथ्यादर्शन आदिमें अंतर्भाव युक्तिसिद्ध है तब अदर्शन आदि औदयिक भावोंका सूत्रमें उल्लेख न रहने पर सूत्रके बनानेमें कमी समझी जायगी यह शंका निर्मूल हो गई।

यहांपर द्विनवाष्टादशेत्यादि सूत्रसे यथाक्रम शब्दकी अनुवृत्ति आ रही है। उसके बलसे गति चार प्रकारकी है। कषाय चार प्रकारके हैं। लिंग तीन हैं इत्यादि आनुपूर्वी क्रमसे अर्थकी प्रतीति हो जाती है इसलिये गतिकषायेत्यादि सूत्रमें 'यथाक्रम' शब्दके कहनेकी कुछ आवश्यकता नहीं ॥ ६ ॥

पारिणामिक भावको तीन प्रकारका कह आये हैं। सूत्रकार अब उसके तीनों भेदोंको भिन्न भिन्न रूपसे गिनाते हैं—

जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ—जीवत्व भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन भेद पारिणामिक भावके हैं।

अन्यद्रव्यासाधारणास्त्रयः पारिणामिकाः ॥ १ ॥

जीवत्व भव्यत्व अभव्यत्व ये तीन पारिणामिक भाव आत्माके सिवाय अन्य किसी भी द्रव्यमें न
रहनेके कारण आत्माके विशेष भाव हैं । ये तीनों भाव पारिणामिक क्यों हैं वार्तिककार इस बातको
स्पष्ट करते हैं—

कर्मोदयक्षयोपशमक्षयोपशमानपेक्षत्वात् ॥ २ ॥

जिन भावोंकी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय क्षय उपशम और क्षयोपशम कारण नहीं पडते वे पारिणा-
मिक भाव कहे जाते हैं । जीवत्व भव्यत्व अभव्यत्वरूप भावोंकी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय क्षय उपशम
क्षयोपशम कारण नहीं पडते किंतु ये जीव द्रव्यके स्वरूप हैं—अनादिकालसे उक्त भावोंका स्वरूप संबंध
जीवके साथ बराबर चला आया है कितना भी बलवान आत्माके साथ कर्मोंका संबंध हो जाय इन
भावोंका विपरिणाम नहीं हो सकता इसलिये जीवके गुण स्वरूप ही होनेके कारण, जीवत्व आदि
पारिणामिक ही भाव हैं । शंका—

आयुर्द्रव्यापेक्षं जीवत्वं न पारिणामिकमिति चेन्न पुद्गलद्रव्यसंबंधे सत्यन्यद्रव्यसामर्थ्याभावात् ॥ ३ ॥

सिद्धस्याजीवत्वप्रसंगात् ॥ ४ ॥

अनादि कालसे आत्माका परिणाम होनेसे जीवत्व भावको पारिणामिक भाव बताया है परंतु वह
ठीक नहीं किंतु आयुकर्मके उदयसे जो जीवे उसका नाम जीव है इसरीतिसे आयुकर्मके उदयके आधीन
जीवत्वकी उत्पत्ति होनेसे उसे औदायिक भाव ही मानना ठीक है पारिणामिक भाव नहीं हो सकता ?
सो ठीक नहीं । पुद्गल द्रव्यके संबंधसे अन्य द्रव्यकी—जीव द्रव्यकी सामर्थ्य नहीं प्रगट हो सकती । जीवत्व

जीवकी सामर्थ्य विशेष है। उसका पुद्गलीक आयुकर्मके उदयसे जीवमें प्रगट होना असंभव है। यदि कदाचित् जबरन पुद्गलीक आयुकर्मके उदयसे जीवमें जीवत्व शक्तिकी प्रकटता मानी जायगी तो आयुकर्मका संबंध तो धर्म अधर्म आदि अचेतन द्रव्योंके साथ भी है। उसके संबंधसे उनमें भी जीवत्व शक्तिकी प्रकटता मान लेनी चाहिये और उन्हें चेतन कहना चाहिये परंतु उनमें वैसा नहीं हो सकता इसलिये आयुकर्मके उदयसे जीवत्व भावकी प्रकटता नहीं हो सकती किंतु वह पारिणामिक ही भाव है। और भी यह बात है कि—

यदि आयुकर्मके उदयसे ही जीवत्व भाव माना जायगा तो सिद्धोंमें जीवत्वकी नास्ति कहनी पडेगी क्योंकि उनके आयुकर्मका संबंध नहीं है इसलिये उन्हें अजीव कहना पडेगा परंतु सिद्धोंमें जीवत्व भावकी नास्ति नहीं इसलिये उसकी उत्पात्ति आयुकर्मके आधीन न मानकर वह पारिणामिक भाव ही मानना पडेगा। शंका—

जीवे त्रिकालविषयविग्रहदर्शनादिति चेन्न रूढिशब्दस्य निष्पत्त्यर्थत्वात् ॥ ५ ॥

जो जीता है पहिले जीया और आगे जीवेगा इसप्रकार जीव शब्दका तीनों कालसंबंधी विग्रह दीख पडता है तथा यहांपर जीव शब्दका अर्थ प्राण धारण करनेवाला है। प्राण धारण करनेमें कर्मकी अपेक्षा करनी पडती है इसरीतिसे जब जीवत्व भाव कर्मापेक्ष सिद्ध होता है तब वह पारिणामिक भाव नहीं हो सकता ? सो ठीक नहीं। जितने भी रूढिशब्द हैं उनकी भूत भविष्यत् वर्तमान कालके आधीन जो भी क्रिया है, वे केवल उन्हें सिद्ध करनेकेलिये हैं उनसे जो अर्थ द्योतित होता है वह नहीं लिया जाता। जिसतरह गोशब्दका व्युत्पात्ति सिद्ध अर्थ 'गच्छतीति गौः' अर्थात् जो जावे वह गाय है, यह है

परंतु यहां इस व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थका आदर न कर रूढिसिद्ध सास्नादिविशिष्ट गाय ही अर्थ लिया गया है। जीव शब्दकी भी सिद्धि करते समय तीनों कालसंबंधी उसकी व्युत्पत्ति की जाती है और उस व्युत्पत्तिसे जीव शब्दका अर्थ प्राण धारण करनेवाला होता है परंतु यहांपर जीव शब्दका यह व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ नहीं लिया गया किंतु रूढ अर्थ चैतन्य ही लिया गया है। उस चैतन्य भावकी प्रकटताके लिये किसी भी कर्मकी अपेक्षा नहीं पडती इसलिये जीवत्व पारिणामिक ही भाव है। अथवा—

चैतन्यमेव वा जीवशब्दस्यार्थः ॥ ६ ॥

जीव शब्दका अर्थ चैतन्य ही है और अनादिकालसे जीवद्रव्यका उसी रूप होना ही उसमें निमित्त कारण है और कोई कर्म निमित्त कारण नहीं इसलिये जीवत्व पारिणामिक ही भाव है।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामेन भविष्यतीति भव्यः ॥ ७ ॥

भविष्यतीति भव्यः जो आगे होनेवाला हो वह भव्य है इस व्युत्पत्तिके आधार पर भव्य और अभव्यका प्रायः भविष्यत काल ही विषय है उसीके अनुसार जो आत्मा आगामी कालमें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप परिणत होनेवाला है वह भव्य है ऐसे अर्थका द्योतन करनेवाली यहां भव्य संज्ञा मानी गई है।

तद्विपरीतोऽभव्यः ॥ ८ ॥

जो आत्मा कभी भी आगामी कालमें सम्यग्दर्शनादि पर्यायोंसे परिणत होनेवाला न हो वह अभव्य है। यह जो भव्य और अभव्यका भेद है वह किसी कर्मके आधीन नहीं किंतु वैसी भेदव्यवस्था जीवके स्वभावके ही आधीन है इसलिये भव्य और अभव्य दोनों भाव पारिमाणिक हैं। शंका—

योऽनंतनापि कालेन न सेत्स्यत्यसावभव्य एवेति चेन्न भव्यराश्यंतर्भावात् ॥ ९ ॥

भव्योंमें भी बहुतसे जीव ऐसे माने गये हैं जिन्हें अनंतकालके बाद भी मोक्ष नहीं मिल सकती। जो अभव्य है उनके लिये भी यह कहा गया है कि वे भी अनंतकालके वाद भी मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते इसरीतिसे भव्य और अभव्योंको जब मोक्षकी प्राप्तिमें कालकी तुल्यता है तब वे भव्य भी अभव्य ही हैं। यदि यह कहा जायगा कि भव्योंकी सिद्धि हो जाती है तब अभव्योंकी सिद्धि भी हो सकती है फिर अंतमें सबकी सिद्धि हो जाने पर एक दिन समस्त जगत जीवशून्य कहा जा सकता है इसलिये जो अनंतकालके बाद भी सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकते उन्हें भी अभव्य ही कहना चाहिये ? सो ठीक नहीं। कनकपाषाण एक प्रकारका पत्थर होता है जो कालांतरमें सुवर्णस्वरूप परिणत हो जाता है। यहांपर जो कनकपाषाण अनंतकालके बाद भी सुवर्णस्वरूप परिणत न होगा उसको भी जिसप्रकार कनकपाषाण ही माना जाता है क्योंकि उसमें सुवर्णस्वरूप परिणत होनेकी शक्ति है और कारण कलापके मिल जाने पर वह नियमसे एकदिन सुवर्णरूप परिणत होगा किंतु उस अन्धपाषाण अर्थात् वह कभी सुवर्णरूप परिणत होगा ही नहीं ऐसा पाषाण, नहीं माना जाता उसीप्रकार जिस भव्यको अनंतकालके वाद भी मोक्ष नहीं प्राप्त होगी वह भी भव्य ही है क्योंकि भले ही उसके मोक्षकी प्राप्ति न हो परंतु उसमें उसके प्राप्त करनेकी शक्ति विद्यमान है और कारण कलापके मिल जाने पर अवश्य ही उसे मोक्ष प्राप्त हो सकती है इसलिये वह अभव्य नहीं कहा जा सकता। अथवा और भी यह बात है कि जिस आगामीकालका समावेश अनंतकालमें न होगा वह आगामी काल ही न कहा जायगा यह बात नहीं किंतु अनंतकालके वाहिरका भी काल आगामीकाल है। इसरीतिसे जो भव्य अनंतकालके

भीतरके आगामीकालमें सिद्धि लाभ न कर सकेगा वह उसके वाहिरके आगामीकालमें करेगा आगामी कालपना नष्ट नहीं हो सकता। परंतु अभव्य कभी भी सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता इसलिये कथंचित् कालकी तुल्यता समझ भव्यको अभव्यके समान वताना निर्मूल है। अर्थात् भव्यमें मोक्षप्राप्तिकी शक्ति है अभव्यमें शक्ति भी नहीं है। सारांश यहां यह है कि—

जो जीवात्मा अनंतकालके बाद भी सिद्धि न प्राप्त कर सके किंतु उसके अंदर मोक्ष प्राप्त करनेकी सामर्थ्य हो और योग्य कारण कलापसे उस सामर्थ्यके प्रगट हो जानेकी जिसमें योग्यता हो वह भव्य ही है किंतु जिसके अंदर मोक्ष प्राप्त करनेकी सामर्थ्य ही न हो मोक्ष प्राप्तिके योग्य कारण कलापके मिलने पर भी जो कभी गुण प्राकट्यकी योग्यता नहीं रखता हो वह अभव्य ही है। कालकी कथंचित् समानता मिल भी जाय तो भी भव्य, अभव्य नहीं कहा जा सकता।

भावस्यैकत्वनिर्देशो युक्त इति चेन्न द्रव्यभेदाद्भावभेदसिद्धेः ॥ १० ॥

'जीवभव्याभव्यत्वानि' यहांपर जीवश्च भव्यश्च अभव्यश्च जीवभव्याभव्याः इस द्वंद्व समासके करने के बाद जीव आदिके भावकी विवक्षा रहने पर तेषां भावा जीवभव्याभव्यत्वानि ऐसी सिद्धि है। यहां पर यह शंका होती है कि उपर्युक्त द्वंद्वसमासके बाद भावकी विवक्षा रहने पर 'जीवभव्याभव्यानां भावः, जीवभव्याभव्यत्वं' यह एक वचन कहना चाहिये था जीवभव्याभव्यात्वानि यह बहुवचन क्यों किया गया ? परंतु वह ठीक नहीं। जब जीव अभव्य आदि भिन्न भिन्न है तब उनके भाव भी भिन्न भिन्न ही होने चाहिये, तथा भावप्रत्यय रहने पर एक ही वचन होता है यह कोई नियम भी नहीं इसलिये जीव आदि द्रव्योंके भेदसे जब भावभेद होना अयुक्त नहीं भावमें एक वचनका कहना भी नियमरूप नहीं

तब 'जीवभव्याभव्यानां भावा, जीव भव्याभव्यत्वानि' यह निर्देश ठीक ही है। यहांपर त्व प्रत्ययका संबंध जीव आदि प्रत्ययके साथ है इसलिये जीवत्व भव्यत्व अभव्यत्व यह भिन्न भिन्न रूपसे समझ लेना चाहिये।

द्वितीयगुणग्रहणमार्षोक्तत्वादितिचेन्न तस्यनयापेक्षत्वात् ॥ ११ ॥

सासादन नामक द्वितीयगुणस्थानसंबंधी सासादनसम्यग्दृष्टिभावको आगममें पारिणामिक भाव बतलाया है उसीको लक्ष्यकर शंकाकार यह शंका करता है कि जब द्वितीयगुणस्थान संबंधी सासादनसम्यग्दृष्टि भावको आगममें पारिणामिकभाव बतलाया है तब जीव आदि पारिणामिक भावोंके साथ उसे भी कहना चाहिये क्योंकि जीव आदिकी तरह कर्मोंकी अपेक्षा रहित वह भी साधारण पारिणामिक भाव है? सो ठीक नहीं। सासादनसम्यग्दृष्टिभाव अपनी उत्पत्तिमें मिथ्यात्वकर्मके उदय क्षय और उपशमकी अपेक्षा नहीं करता इसलिये इस अपेक्षा तो उसे पारिणामिक भाव माना है परंतु अपनी उत्पत्ति में अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभके उदयकी अपेक्षा रखता है इसलिये वह औदयिकभाव भी माना गया है इसरीतिसे जब साध्य—किसी एक अपेक्षासे उसका पारिणामिकपना है सर्वथा पारिणामिकपना नहीं किंतु जीवत्व आदि जो पारिणामिक भावके भेद बताये हैं वे किसी भी अपेक्षा पारिणामिकके सिवाय अन्यभावके भेद नहीं हो सकते इसलिये सासादनसम्यग्दृष्टिभावकी जीवत्व आदिके साथ गणना नहीं हो सकती। सूत्रमें जो च शब्द है उसका प्रयोजन वार्तिककार बतलाते हैं—

अस्तित्वान्यत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वपर्यायवत्वासर्वगतत्वानादिसंततिबंधनबद्धत्व
प्रदेशवत्वारूपत्वनित्यत्वादिसमुच्चयार्थश्चशब्दः ॥ १२ ॥

आस्तित्व अन्यत्व कर्तृत्व भोक्तृत्व पर्यायवत्व असर्वगतत्व अनादिसंततिबंधनबद्धत्व प्रदेशवत्व
अरूपत्व नित्यत्व आदि भाव भी पारिणामिक भाव हैं उनके संग्रह करनेके लिये सूत्रमें च शब्दका
उल्लेख किया गया है। शंका—जब आस्तित्व आदि पारिणामिक भाव हैं तब जीवत्व आदिके समान
सूत्रमें उनका उल्लेख करना चाहिये ? उत्तर—

अन्यद्रव्यसाधारणत्वादसूत्रिताः ॥ १३ ॥

'जीवभव्याभव्यत्वानि च' इस सूत्रमें जो पारिणामिकभाव आत्माके ही असाधारण भाव हैं उनका
उल्लेख है किंतु जो भाव आत्मा और उससे भिन्न भी द्रव्योंमें रहनेवाले हैं उनका ग्रहण नहीं। आस्तित्व
आदि जो भाव हैं वे आत्मा और उससे भिन्न भी द्रव्योंमें रहनेवाले हैं इसलिये वे साधारण हैं इसलिये
सूत्रमें उनका उल्लेख न कर च शब्दमें उनका संग्रह किया गया है आस्तित्व आदि धर्म किसप्रकार साधा-
रण और पारिणामिक हैं उनका खुलासा इसप्रकार है—

आस्तित्व भाव जीव आदि छहों द्रव्योंमें रहनेवाला है इसलिये वह साधारण है तथा अपनी उत्पत्तिमें
वह कर्मोंके उदय क्षय उपशम और क्षयोपशमकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये पारिणामिक है। प्रत्येक
द्रव्य आपसमें भिन्न भिन्न है इसलिये अन्यत्व धर्म छहों द्रव्योंमें रहनेके कारण साधारण है तथा अपनी
उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय क्षय आदिकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये पारिणामिक है। सब ही अपनी
अपनी क्रियाओंके करनेमें स्वतंत्र हैं कर्ता स्वतंत्र ही होता है इसरीतिसे कर्तृत्व धर्म सब द्रव्योंमें रहनेके
कारण साधारण है और अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये पारिणा-
मिक है। शंका—

एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें जाना क्रिया है। यह क्रिया जीव और पुद्गलमें बन सकती है क्योंकि समस्त द्रव्योंमें जीव और पुद्गलको ही जैनसिद्धांतमें क्रियावान माना गया है। इसलिये उन दोनोंमें तो क्रियाका कर्तृत्व रह सकता है धर्म अधर्म आदिमें कोई क्रिया हो नहीं सकती इसलिये उनमें क्रियाका कर्तृत्व सिद्ध नहीं हो सकता इसरीतिसे कर्तृत्व धर्म सब द्रव्योंमें रहनेवाला साधारण नहीं कहा जा सकता ? सो ठीक नहीं। धर्म आदि द्रव्योंमें गमन क्रिया विषयक कर्तृत्व न भी हो तथापि अस्ति आदि विशेष क्रियाविषयक कर्तृत्व है ही इसरीतिसे सामान्यरूप अपनी अपनी योग्य क्रियाओंका कर्तृत्व जब सब द्रव्योंमें है तब कर्तृत्व धर्म साधारण है और अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये वह पारिणामिक भाव है। पुनः शंका—

आत्माके प्रदेशोंका हलन चलन होना योग कहा गया है। उसका कर्तृत्व साधारण धर्म नहीं क्योंकि सिवाय आत्माके वह किसी भी अन्य द्रव्यमें नहीं रहता तथा अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय आदिकी अपेक्षा न करनेके कारण वह पारिणामिक भाव है इसलिये असाधारण और पारिणामिक होनेसे जीवत्व आदिके साथ उसका सूत्रमें उल्लेख करना चाहिये ? सो ठीक नहीं यह ऊपर कहा जा चुका है कि जिसकी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं वह पारिणामिक भाव है। योगोंके कर्तृत्वमें क्षयोपशमकी अपेक्षा है इसलिये असाधारण होने पर भी योगोंका कर्तृत्व क्षायोपशमिक ही

१ वीर्यांतरायक्षयोपशमसद्भावे सति औदारिकादिसप्तविधकायवर्गणान्यतमालंबनापेक्षया आत्मप्रदेशपरिस्पंदः काययोगः। शरीर नामकर्मोदयापादित वाग्वर्गणालंबने सति वीर्यांतरायमत्यक्षराद्यावरण क्षयोपशमापादिताभ्यंतरवाग्लब्धिसांनिध्ये वाक्परिणामाभिमुखस्यात्मनःप्रदेशपरिस्पंदो वाग्योगः। अभ्यंतरवीर्यांतरायनोइंद्रियावरणक्षयोपशमात्मकमनोलब्धिसन्निधाने बाह्यनिमित्तमनोवर्गणालंबने च सति मनःपरिणामाभिमुखस्यात्मनः प्रदेशपरिस्पंदो मनोयोगः।

भाव है पारिणामिक भाव नहीं। यद्यपि पुण्य और पापका कर्तृत्व सिवाय जीवके और किसी भी द्रव्यमें नहीं इसलिये असाधारण होनेसे उनके विषयमें यह कहा जा सकता है कि जीवत्व आदि जीवके असाधारण भावोंमें उसकी गणना करनी चाहिये परंतु उसके पुण्य और पापकी उत्पत्ति कर्मोंके उदय और क्षायोपशमके आधीन है इसलिये पारिणामिक भाव न होनेके कारण उसकी जीवत्व आदि जीवके पारिणामिक भावोंके साथ गणना नहीं हो सकती। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद कषाय योग पुण्य और पापको बंधका कारण बताया गया है। उनमें मिथ्यादर्शनभावकी उत्पत्ति दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे होती है इसलिये अपनी उत्पत्तिमें कर्मके उदय की अपेक्षा रखनेके कारण वह पारिणामिकभाव नहीं हो सकता। अविरति प्रमाद और कषायोंकी

अर्थात्–वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशम रहनेपर औदारिक औदारिककायमिश्र, वैक्रियिक वैक्रयिकमिश्र, आहारक आहारकमिश्र और कार्माण इन सात काय वर्गणाओंमें अन्यतम किसी वर्गणाकी अपेक्षासे जो आत्माके प्रदेशोंका हलन चलन होना है उसका नाम काय योग है। शरीर नाम कर्मके उदयसे होनेवाली वचन वर्गणाके आलंबन रहनेपर वीर्यांतरायकर्म और मत्यक्षरादि आवरणोंकी क्षायोपशम रूप वाग्लब्धिके सन्निधानमें वचन परिणामके अभिमुख आत्माके प्रदेशोंका जो हलन चलन होना है वह वाग्योग है। तथा जहांपर वीर्यांतराय और नो इन्द्रियावरण कर्मका क्षायोपशमरूप मनोलब्धिका सन्निधान तो अंतरंग कारण हो और मनोवर्गणाका आलंबन वाह्य कारण हो वहा पर मनरूप परिणामके अभिमुख आत्माका जो हलन चलन होना है वह मनोयोग है। सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ संख्या १८३।

१ सातावेदनीय तिर्यग् मनुष्य देव आयु, उच्चगोत्र आदि अडसठि प्रकृति पुण्यप्रकृति हैं। और चार घातिया कर्मोंकी सैंतालिस प्रकृति, असातावेदनीय नरकायु नीचगोत्र और नामकर्मकी पचास प्रकृति इसप्रकार ये सौ पाप प्रकृति हैं। ये पुण्य और पाप दोनों प्रकारकी प्रकृतियां अपने अपने कर्मोंके उदय और क्षयोपशमसे होती हैं।

उत्पत्तिमें चारित्रमोहनीयकर्मका उदय कारण है इसलिये वे भी अपनी उत्पत्तिमें कर्मके उदयकी अपेक्षा रखनेके कारण पारिणामिक भाव नहीं हो सकते। योग अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखते हैं यह बात ऊपर कही जा चुकी है इसलिये वे भी पारिणामिकभाव नहीं कहे जा सकते परंतु पुण्य और पापका कर्तृत्व आत्मा सिवाय किसी भी अन्य द्रव्योंमें नहीं रहता एवं अनादिकालीन पारिणामिक चैतन्य भावके सन्निधानमें इसकी उत्पत्ति होती है इसलिये अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय आदिकी अपेक्षा न रखनेके-कारण पुण्य और पाप कर्तृत्व पारिणामिक भाव है और असाधारण भी है इसलिये इसकी गणना जीवत्व आदि भावोंके साथ पृथक् रूपसे होनी चाहिये ? सो ठीक नहीं। यदि अनादि कालीन पारिणामिक चैतन्य भावको पुण्य पापकी उत्पत्तिमें कारण माना जायगा तो सदाकाल आत्मामें पुण्य पापकी उत्पत्ति होती रहेगी फिर सिद्धोंके भी पुण्य पापकी उत्पत्ति कहनी पडेगी क्योंकि उनकी उत्पत्तिका कारण चैतन्य सिद्धोंके अंदर भी विराजमान है। तथा पुण्य पापकी उत्पत्तिका कारण चैतन्य सब संसारी जीवोंके समान है इसलिये सामान्यरूपसे सबोंके एकसमान पुण्य पापका कतृत्व होना चाहिये। परंतु ऐसा होता नहीं इसलिये असाधारण होनेपर भी पुण्य और पापको कर्तृत्व पारिणामिक भाव नहीं माना जा सकता किंतु कर्मोंके उदय और क्षयोपशमके आधीन उसकी उत्पत्ति है इसलिये उसे औदायिक और क्षायोपशमिक भाव मानना ही युक्त है।

भोक्तृत्व और भोग दोनों एक हैं और शक्तिकी अधिकतासे परपदार्थोंकी शक्तिको ग्रहण करनेका सामर्थ्य रखना भोक्तृत्व शब्दका अर्थ है। जिसतरह—आत्मा अपनी शक्तिकी अधिकतासे पर द्रव्य स्वरूप घी दूध आदि आहारकी शक्ति ग्रहण कर लेता है इसलिये वह भोक्ता है और उसके अन्दर

भोक्तृत्व धर्म है । अचेतन भी विष पदार्थ अपनी विशिष्ट शक्तिसे कोदों आदि द्रव्योंकी सामर्थ्यको
हरण कर अपने स्वरूप परिणमा लेता है इसलिये वह भोक्ता है और उसके अन्दर भोक्तृत्व धर्म है ।
तथा लवण आदि द्रव्य अपनी सामर्थ्यकी अधिकतासे काष्ठ पत्थर आदि पदार्थोंको लवण स्वरूप
परिणमा देते हैं इसलिये वे भोक्ता हैं और उनके अंदर भोक्तृत्व धर्म है इसीप्रकार सब पदार्थोंमें अपनी
अपनी योग्यताके अनुसार भोक्तृत्व धर्म समझ लेना चाहिये इसरीतिसे हरएक पदार्थमें रहनेके कारण
भोक्तृत्व (भोग) साधारण भाव है और अपने होनेमें वह किसी भी कर्मके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं
रखता—अनादिकालसे हरएक पदार्थका वैसा स्वभाव चला आया है इसलिये वह पारिणामिकभाव है ।
यहांपर इतना विशेष समझ लेना चाहिये कि हरएक पदार्थमें रहनेवाला भोगसामान्य पारिणामिकभाव
है किंतु आत्माका जो विशेष भोक्तृत्व धर्म है वह पारिणामिक नहीं किंतु वह भोगांतराय कर्मके क्षयोप
शमसे होता है इसलिये क्षायोपशमिकभाव है आत्माके सिवाय अन्य पदार्थके साथ कर्मोंका संबंध हो
नहीं सकता इसलिये सामान्यसे भोक्तृत्व धर्म पारिणामिक है ।

वीर्यांतराय कर्मका क्षयोपशम और अंगोपांग नामक नाम कर्मके बलसे आत्मा शुभ अशुभ कर्मोंके
फलोंके उपभोगनेमें समर्थ होता है । शुभ और अशुभ कर्मोंके फलोंका उपभोगना ही आत्माका उपभो-
क्तृत्व (उपभोग) धर्म है । यह उपभोक्तृत्व धर्म साधारण नहीं क्योंकि सिवाय आत्माके किसी भी
अन्य पदार्थके अंदर यह धर्म नहीं रहता । तथा अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखता
है इसलिये पारिणामिक भाव भी नहीं । शंका—

ऊपर भोक्तृत्व सामान्यको साधारण और पारिणामिक बतलाया है और शक्तिकी अधिकतासे

पर पदार्थकी सामर्थ्यको हरण कर लेना भोक्तृत्व शब्दका अर्थ प्रतिपादन किया गया है परंतु आत्माके अंदर तो भोगांतराय कर्मकी क्षयोपशम रूप विशिष्ट शक्ति मौजूद है। उसके द्वारा वह घी दूध आहार आदिकी शक्तिको खींच सकता है। तथा वीर्यांतराय कर्मकी क्षयोपशमरूप शक्तिके द्वारा घी दूधको पचा सकता है इसलिये उसके अंदर तो भोक्तृत्व धर्म कहा जा सकता है परंतु विष लवण आदि पदार्थोंमें तो भोगांतराय कर्मकी क्षयोपशमरूप शक्ति सिद्ध हो नहीं सकती इसलिये उनमें भोक्तृत्व धर्म सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिये सिवाय आत्माके जब किसी पदार्थमें भोक्तृत्व धर्म सिद्ध नहीं हो सकता तथा आत्मामें जो भोक्तृत्व धर्म है वह भोगांतराय कर्मके क्षयोपशमसे जायमान होनेके कारण पारिणामिक नहीं कहा जा सकता तब सब पदार्थोंमें भोक्तृत्व धर्म मानकर उसे पारिणामिक कहना अयुक्त है। सो ठीक नहीं। जिसतरह सूर्यका प्रताप प्रतिनियत है उसकी उत्पत्तिमें किसी भी अन्य पदार्थकी अंश मात्र भी अपेक्षा नहीं रहती उसीप्रकार संसारमें जितने भी पदार्थ हैं उन सबकी शक्ति प्रतिनियत है और वह अपनी उत्पत्तिमें किसीकी अपेक्षा न रखनेके कारण स्वाभाविक हैं। विष लवण आदि पदार्थोंमें भी पर पदार्थ—कोदों अन्न काष्ठ आदिकी सामर्थ्यको ग्रहण करनेकी विशिष्ट शक्ति प्रतिनियत और स्वाभाविक है इसलिये उनका परपदार्थोंकी शक्तिको ग्रहण कर उन्हें अपने स्वरूप परिणमावना निर्बाध है। इसरीतिसे जब विष लवण आदिमें भी भोक्तृत्व धर्मका होना सिद्ध है और विष आदिके अंदर रहनेवाला भोक्तृत्व अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये पारिणामिक भी है तब उसे आत्माका ही धर्म बताना वा उसे पारिणामिक भाव न मानना अयुक्त है।

विशेष—वास्तवमें तो आत्मामें भी घी दूध आहार आदिकी सामर्थ्यका ग्रहण करना रूप भोक्तृत्व

आत्माकी प्रतिनियत शक्तिका ही कार्य है परंतु भोगांतराय कर्मका संबंध आत्माके साथ सिद्ध है और उसके क्षयोपशमसे भोक्तृत्व हो सकता है इसलिये उसे भोगांतराय कर्मके क्षयोपशमका कार्य मान लिया है। यदि यहां पर यह कहा जाय कि प्रतिनियत शक्तिके द्वारा ही जब आत्मामें भोक्तृत्व धर्म सिद्ध है तब भोगांतराय कर्मके माननेकी क्या आवश्यकता है ? वह ठीक नहीं । भोगजन्य सुखका अनुभव करना ही वहां भोगांतराय कर्मके क्षयोपशमका कार्य है । जिस आत्माके अंदर भोगांतराय कर्मकी क्षयोपशमरूप लब्धि है वह भोगजन्य सुखका अनुभव करता है । जिसके अंदर नहीं है वह नहीं इसलिये भोगांतराय कर्म व्यर्थ नहीं माना जा सकता ।

पर्यायवत्त्व और पर्याय दोनों एकार्थवाचक हैं। जीव अजीव आदि सब द्रव्योंमें समय समय प्रतिनियत रूपसे पर्यायोंकी उत्पत्ति होती है इसलिये सब द्रव्योंमें रहनेके कारण पर्यायवत्त्व धर्म साधारण है तथा पर्यायवत्त्वकी उत्पत्तिमें सामान्यरूपसे किसी भी कर्मके उदय क्षय आदिकी अपेक्षा नहीं रहती इसलिये वह पारिणामिक है ।

सर्वगतत्त्वका अर्थ सर्वव्यापीपना है। जो पदार्थ सर्वव्यापी नहीं वह असर्वगत है। परमाणु स्कंध आदि पुद्गल द्रव्य असर्वगत हैं। धर्म अधर्म आत्मा आदि द्रव्य परिमित असंख्यात प्रदेशी हैं इसलिये सब द्रव्योंमें रहनेके कारण असर्वगतत्त्व धर्म साधारण है तथा वह अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये पारिणामिक भाव है ।

विशेष—यद्यपि आकाशद्रव्य सब जगह रहनेके कारण सर्वव्यापी है इसलिये उसमें न रहनेके कारण असर्वगतत्व धर्म साधारण नहीं कहा जा सकता परंतु आकाशके लोकाकाश और अलोकाकाश

रूप ये दो भेद माने हैं वे दोनों ही असर्वगत हैं और दोनोंके अंदर असर्वगतत्व धर्म रहता है इसलिये आकाशद्रव्यकी भेदविवक्षाके आधीन यहां असर्वगतत्व धर्मको साधारण माना गया है। धर्म अधर्म आदि द्रव्योंको परिमित असंख्यात प्रदेशी कहा गया है वहांपर यह शंका हो सकती है कि असंख्यात प्रदेशों को परिमित अर्थात् परिमाण किये बिना कैसे रहा जा सकता है। परंतु हम छद्मस्थ—अल्पज्ञानी भले ही उनका परिमाण न कर सकें परंतु केवलज्ञानी कर सकते हैं इसलिये उनके परिमितपनेका कथन यहां केवलज्ञानकी अपेक्षा समझ लेना चाहिये।

कर्मके आधीन जैसा हाथी वा चिउंटी आदिका शरीर मिले उसीके अनुकूल आत्माके प्रदेशोंका होना कर्मोपात्तशरीर प्रमाणानुविधायित्व है। यह धर्म यद्यपि जीव द्रव्यके सिवाय अन्य किसी भी पदार्थ में नहीं रहता इसलिये असाधारण है तथापि अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंकी अपेक्षा रखता है इसलिये पारिणामिक नहीं।

अनादिकालसे अपने अपने संतानरूपी बंधनोंसे जो बद्धपना है वह अनादिसंततिबंधनबद्धत्व धर्म कहा जाता है। जीव द्रव्य अनादिकालसे अपने पारिणामिकचैतन्योपयोग स्वरूप परिणामके संतानरूपी बंधनसे बद्ध है। धर्म द्रव्य गति परिणामके संतानरूपी बंधनसे बद्ध है। अधर्म द्रव्य स्थिति परिणामके संतानरूपी बंधनसे बद्ध है। आकाशद्रव्य सबद्रव्योंको अवकाशदान देनेरूप परिणामसंतानके बंधनसे बद्ध है। काल द्रव्य वर्तना परिणामिक संतानरूप बंधनसे बद्ध है एवं पुद्गल द्रव्य वर्ण गंध रस स्पर्श आदि परिणामोंके संतानरूपी बंधनसे बद्ध है इसरीतिसे समस्त ही द्रव्य अपने अपने संतानरूपी बंधनोंसे बद्ध हैं इसलिये अनादिसंततिबंधनबद्धत्वधर्म सब द्रव्योंमें रहनेवाला होनेसे साधारण है और वह

अपनी उत्पत्तिमें किसी भी कर्मके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये पारिणामिक है। परंतु—

जीवका जो अनादि कर्मसंतति बंधनबद्धत्व धर्म है वह साधारण नहीं क्योंकि अनादिकालीन कर्मसंतति बंधनबद्धपना सिवाय जीवके और किसी पदार्थमें नहीं तथा वह अपनी उत्पत्तिमें कर्मकी निमित्तता रखता है इसलिये वह पारिणामिक नहीं है। यह बात द्वितीय अध्यायके 'अनादिसंबंधे च' ॥ ४१ ॥ और 'सर्वस्य' ॥ ४२ ॥ इन सूत्रोंमें खुलासारूपसे बतलाई गई है।

पुद्गल जीव आदि द्रव्योंमें कोई द्रव्य संख्यातप्रदेशी है कोई असंख्यातप्रदेशी है कोई अनंतप्रदेशी है किंतु ऐसी कोई द्रव्य नहीं जो प्रदेशरहित हो इसरीतिसे समस्त द्रव्योंमें रहनेके कारण प्रदेशवत्व धर्म साधारण है तथा वह अपनी उत्पत्तिमें किसी भी कर्मके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये पारिणामिकभाव है।

रूपका अर्थ स्पर्श रस गंध आदिक है जिन द्रव्योंमें स्पर्श आदिक नहीं रहते वे सब अरूप कहे जाते हैं। जीव धर्म अधर्म आकाश काल इन द्रव्योंमें रूपका संबंध नहीं। सब अरूप हैं इसलिये पुद्गलके सिवाय सबमें रहनेके कारण अरूपत्व धर्म साधारण है तथा वह अपनी उत्पत्तिमें किसी भी कर्मके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये पारिणामिक है।

द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सब द्रव्य नित्य हैं किसीका भी उत्पाद और विनाश नहीं माना गया इसलिये जीव आदि समस्त द्रव्योंमें रहनेके कारण नित्यत्व धर्म साधारण है तथा अपनी उत्पत्तिमें वह कर्मोंके उदय आदिकी कोई अपेक्षा नहीं रखता इसलिये वह पारिणामिकभाव है।

अग्नि आत्मा आदि समस्त पदार्थोंका ऊर्ध्वगमन रूप परिणाम स्वभावसे ही माना है इसलिये

सबमें रहनेके कारण वह साधारण है और अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय क्षय आदि किसीकी भी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये पारिणामिक भाव है । यहांपर कुछ साधारण पारिणामिक भावोंका उल्लेख कर दिया गया है किंतु आत्माके और भी बहुतसे साधारण और पारिणामिकभाव हैं उन सबकी इसीप्रकार योजना कर लेनी चाहिये । शंका—

अनंतरसूत्रनिर्दिष्टोपसंग्रहार्थश्चशब्द इति चेन्नानिष्टत्वात् ॥ १४ ॥

त्रिभेदपारिणामिकभावप्रतिज्ञानाच्च ॥ १५ ॥

'जीवभव्याभव्यत्वानि च' इस सूत्रमें जो च शब्दका उल्लेख किया है उसे अस्तित्व आदि धर्मोंका ग्राहक न मानकर 'गतिजाति शरीरेत्यादि' पहिले सूत्रमें जो गति आदिका उल्लेख किया है उनका ग्राहक मानना चाहिये ? सो ठीक नहीं । पारिणामिकभावका जो लक्षण कहा गया है वह गति आदिमें नहीं घट सकता इसलिये गति आदिको पारिणामिकभाव नहीं माना जा सकता । और भी यह बात है कि—

भावोंकी संख्या प्रतिपादन करनेवाले 'औपशमिक क्षायिकाभावौ' इत्यादि सूत्रमें पारिणामिक भावको तीन ही प्रकारका माना गया है इसलिये च शब्दसे गति जाति आदिका समुच्चय नहीं किया जा सकता । शंका—

गत्यादीनामुभयवत्त्वं क्षायोपशमिकभाववदिति चेन्नान्वर्थसंज्ञाकरणात् ॥ १६ ॥

तथानभिधानात् ॥ १७ ॥ अनिर्मोक्षप्रसंगात् ॥ १८ ॥

जिसतरह क्षायोपशमिक भाव क्षय और उपशमस्वरूप दोनों प्रकारके हैं उसीप्रकार गति जाति

आदि भी औदयिक और पारिणामिक दोनों स्वरूप है तथा जिसतरह केवल क्षायिकभावके भेद जुदे माने हैं और औपशमिक भावके जुदे माने हैं उसीप्रकार केवल औदयिक भावके इक्कीस भेद और पारिणामिक भावके तीन भेद हैं यह कहा जा सकता है। इसरीतिसे गति आदि भी पारिणामिकभाव कहे जा सकते हैं? सो ठीक नहीं। पारिणामिक यहांपर परिणामका अर्थ स्वभाव है। जो भाव वस्तुका स्वभाव स्वरूप हो वह पारिणामिकभाव है। इसरीतिसे पारिणामिक यह अन्वर्थ संज्ञा है गति आदि भाव; जीवके स्वभाव स्वरूप नहीं क्योंकि उनकी उत्पत्तिमें नाम आदि कर्मोंका उदय कारण है इसलिये वे पारिणामिक भाव नहीं हो सकते। जीवत्व आदिकी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय आदिकी कोई अपेक्षा नहीं इसलिये वे पारिणामिक भाव हैं। तथा—

जिसतरह ज्ञान आदि क्षायोपशमिक भाव है इसलिये उनका क्षायोपशमिक नामसे उल्लेख किया गया है उसीप्रकार यदि गति जाति आदि भी मिले हुए औदयिक पारिणामिक स्वरूप होते तो उनका भी औदयिक पारिणामिक नामसे उल्लेख किया जाता परंतु वैसा किया नहीं गया इसलिये मिले हुए क्षायोपशमिक भाव ज्ञान आदिके समान मिले हुए औदयिक पारिणामिक स्वरूप गति जाति आदि भाव नहीं कहे जा सकते। तथा और भी यह सर्वोच्च उत्तर है कि—

पारिणामिक; स्वभाव भाव होनेसे कभी नष्ट नहीं हो सकता। यदि गति आदि भावोंको पारिणामिक भाव मान लिया जायगा तो फिर मोक्ष ही न प्राप्त हो सकेगी क्योंकि जहां गति जाति आदिका संबंध है वह संसार कहा जाता है। पारिणामिक भाव मानने पर गति आदिका संबंध आत्मासे जुदा हो नहीं सकता इसलिये सदा जीवका संसार ही बना रहेगा इसरीतिसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो चुकी

कि सूत्रमें जो च शब्द है वह अस्तित्व आदिका समुच्चायक है, गति आदिका नहीं हो सकता। शंका—

आदिग्रहणमत्र न्याय्यमिति चेन्न त्रिविधपारिणामिकभावप्रतिज्ञाहानेः ॥ १९ ॥

जब अस्तित्व आदिको भी पारिणामिक भाव माना गया है तब 'जीव भव्याभव्यत्वानि च' इस सूत्रमें आदि शब्दका उल्लेख करना चाहिये अर्थात् 'जीव भव्याभव्यत्वादीनि' ऐसा सूत्र पढना चाहिये? सो ठीक नहीं। पारिणामिक भाव तीन प्रकारका है यह ऊपर प्रतिज्ञा की जाचुकी है। यदि सूत्रमें आदि शब्दका उल्लेख किया जायगा तो जीवत्व भव्यत्व अभव्यत्व अस्तित्व कर्तृत्व आदि तीनसे अधिक धर्म पारिणामिक भाव माने जांयगे फिर 'पारिणामिक भाव तीन प्रकारका है' यह प्रतिज्ञाभंग हो जायगी इसलिये सूत्रमें आदि शब्दका ग्रहण नहीं किया जा सकता यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

समुच्चयार्थेपि चशब्दे तुल्यमिति चेन्न प्रधानापेक्षत्वात् ॥ २० ॥

'जीव भव्याभव्यत्वानि च' इससूत्रमें आदि शब्दके उल्लेख करनेपर और उससे अस्तित्व आदि भावोंका भी ग्रहण होनेपर 'पारिणामिक भाव तीन प्रकारके हैं' यह प्रतिज्ञा भंग हो जायगी, यह दोष दिया गया था परंतु यह प्रतिज्ञा तो चशब्दके उल्लेखसे भी भंग हो जाती है क्योंकि चशब्दका अर्थ समुच्चय माना है और उससे भी अस्तित्व आदिका ग्रहण होता है इसलिये चशब्दका उल्लेख न कर आदि शब्दका ही सूत्रमें उल्लेख करना युक्त है? सो ठीक नहीं। सूत्रकारने अपने कंठसे जीवत्व आदि तीन ही पारिणामिक भावोंका उल्लेख किया है इसलिये प्रधानतासे तीन ही पारिणामिक भाव हैं तथा च शब्दसे अस्तित्व आदि साधारण भावोंका ग्रहण है इसलिये वे गौण हैं। पारिणामिक भाव तीन

हैं इसलिये उपर्युक्त प्रतिज्ञा भंग नहीं हो सकती।
प्रकारके हैं यह जो प्रतिज्ञा है वह प्रधानताकी अपेक्षा है इसलिये उपर्युक्त प्रतिज्ञा भंग नहीं हो सकती। आदि प्रधान माने
यदि सूत्रमें आदि शब्दका उल्लेख किया जायगा तो आदिशब्दसे गृहीत अस्तित्व आदि प्रधान माने तद्गुणसंविज्ञान वहुव्रीहि
जायंगे और उपलक्षण होनेसे जीवत्व आदि अप्रधान माने जायंगे। अथवा तद्गुणसंविज्ञान वहुव्रीहि
करनेपर दोनों ही प्रधान होंगे इसलिये उपर्युक्त प्रतिज्ञाकी रक्षा न हो सकेगी। शंका—

मिश्रशब्देना-
सान्निपातिकभावोपसंख्यानमिति चेन्नाभावात् ॥ २१ ॥ मिश्रशब्देना-

क्षिप्तत्वाच्च ॥ २२ ॥ च शब्दवचनात् ॥ २३ ॥

आगममें औपशमिक आदि भावोंके सिवाय एक सान्निपातिक और भी भाव माना है इसलिये
उसका भी 'औपशमिक क्षायिकौ भावौ' इत्यादि सूत्रमें उल्लेख करना चाहिये तथा जिसतरह औपश-
मिक आदि भावोंके भेदसूचक सूत्र कहे गए हैं उसीप्रकार उसका भी भेदसूचक सूत्र कहना चाहिये?
सो ठीक नहीं। औपशमिक आदि भावोंके अतिरिक्त छठा कोई भी सान्निपातिक भाव नहीं इसलिये
प्रधानतासे उसका उल्लेख नहीं किया गया। तथा—

१ अपना और दूसरे पदार्थोंका ग्रहण करना उपलक्षण है। यह पहिले कहा जा चुका है उपलक्षण गौणस्वरूप होता है। २
बहुव्रीहि समासके दो भेद हैं एक तद्गुणसंविज्ञान वहुव्रीहि दूसरी अतद्गुणसंविज्ञान वहुव्रीहि। जिन पदार्थोंका आपसमें समास
हो उन सब पदार्थोंका जहां पर ग्रहण हो वह तद्गुण संविज्ञान वहुव्रीहि है और जहां पर सबका ग्रहण न हो वह अतद्गुण संवि-
ज्ञान वहुव्रीहि है जिसतरह 'लंबकर्णमानय' लंबे कानवाले पुरुषको लाओ यहांपर कानविशिष्ट पुरुष लाया जाता है इसलिये यह
तद्गुण संविज्ञान वहुव्रीहि समास है और यहांपर लंब और कर्ण दोनों शब्दोंकी प्रधानता है तथा 'सागरदृष्टमानय' जिसको सागर
पर देखा हो वा जिसने सागर देखा हो ऐसे पुरुषको लाओ यह अतद्गुण संविज्ञान वहुव्रीहि है क्योंकि यहां पर सागरविशिष्ट
पुरुषका आना नहीं होता। यदि सूत्रमें आदि शब्द माना जायगा और 'जीवभव्याभव्यत्वादीनि' यहांपर तद्गुण संविज्ञान वहु-
व्रीहि मानी जायगी तो सब ही प्रधान होंगे।

यदि यह वात कही जायगी कि सान्निपातिक भाव है उसका अपलाप नहीं किया जा सकता तब सूत्रमें जो मिश्रभावका उल्लेख किया गया है उसमें उसका अंतर्भाव है पृथक् रूपसे उसके उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि मिश्र शब्द तो क्षायोपशमिक भावके ग्रहणार्थ है उससे सान्निपातिक भावका ग्रहण नहीं हो सकता ? सो भी ठीक नहीं।

'औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रो जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च' ऐसा ही सूत्र उपयुक्त था फिर 'मिश्रश्च' यहांपर जो आधिक च शब्दका उल्लेख है वह 'क्षायोपशमिक और सान्निपातिक दोनोंका मिश्र शब्दसे ग्रहण है, यह द्योतित करता है इसलिये जब मिश्र शब्दसे सान्निपातिक भावका प्रतिपादन हो जाता है तब पृथक्रूपसे उसके कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं। शंका—

यदि संसारमें सान्निपातिक भाव है तब ऊपर जो यह कहा गया है कि 'सान्निपातिक भावका अभाव है यह कहना अयुक्त है। यदि कहा जायगा कि सान्निपातिक भाव नहीं है तब आगममें उसका प्रतिपादन क्यों किया गया अथवा मिश्र शब्दसे उसका ग्रहण क्यों माना गया। इसलिये उसकी सत्ता भी मानना और अभाव भी कहना दोनों वातें विरुद्ध हैं ? सो ठीक नहीं। वास्तवमें सान्निपातिक कोई छठा भाव नहीं है इसलिये तो उसका अभाव कहा गया है औपशमिक आदि भावोंका आपसमें संयोग होने पर कुछ भावके भेद माने हैं एवं उन्हें सान्निपातिक भाव मान लिया है इसलिये संयोगजनित भंगोंकी अपेक्षा वह है इसलिये उसका आगममें उल्लेख अथवा मिश्र शब्दसे ग्रहण माना है। इन दोनों पक्षोंमें जिससमय सान्निपातिक भावका अभाव है यह पक्ष है उससमय तो सूत्रमें 'मिश्रश्च' यह जो चकार है उससे मिश्र शब्दका अर्थ क्षय उपशम स्वरूप अर्थात् क्षायोपशमिक भाव द्योतित होता है और

जब 'सान्निपातिक भावकी सत्ता है' यह पक्ष है तब सान्निपातिक भाव और क्षायोपशमिक भाव दोनों भावोंका मिश्र शब्दसे ग्रहण है यह चकार द्योतन करता है इसलिये कोई विरोध नहीं। यद्यपि स्वतंत्र रूपसे सान्निपातिक कोई भाव न हो, तथापि आगममें उसके नामका उल्लेख है इसलिये वार्तिककार यहां कुछ उसके भेद बतलाते हैं—

षड्विंशतिविधः षट्त्रिंशद्विधः एकचत्वारिंशद्विध इत्येवमादिरागमे उक्तः ॥ २४ ॥

सान्निपातिक भावके छब्बीस छत्तीस और इकतालीस भेद भाव आगममें कहे गये हैं। वह आगम वचन इसप्रकार है—

दुग तिग चदु पंचे वय संजोगा होंति सन्निवादेसु। दस दस पंचय एकय भावो छब्बीस पिंडेण ॥ १ ॥
द्वौ त्रयः चत्वारः पंचैव च संयोगा भवंति सन्निपातेषु। दश दश पंच च एकश्च भावाः षड्विंशाः पिंडेन ॥१॥

अर्थात्—दो भावोंके आपसमें संयोग रहने पर दश सान्निपातिक भाव होते हैं। तीनके संयोग रहने पर भी दश, चारके संयोग रहने पर पांच और पांचों भावोंका एक साथ संयोग रहने पर एक इसप्रकार मिलकर सान्निपातिक भावके छव्वीस भेद हैं। इस सान्निपातिक भावके भेदोंका खुलासा इस प्रकार है—

दो भावोंका आपसमें संयोग रहने पर दश सान्निपातिक भाव होते हैं जहां पर औदयिक भाव प्रत्येक संयोगमें प्रधान रूपसे रहता है और शेष औपशमिक आदिमें एक एक छूटता चला जाता है वह पहिला द्विभाव संयोगी भेद होता है। उसके चार भंग माने हैं। उनमें औदयिकोपशमिक सान्निपातिक जीव भाव नामका पहिला भंग है जिसतरह मनुष्य उपशांतक्रोधी यहांपर उपशांतक्रोध होनेसे तो

औपशमिक भाव और मनुष्य कहनेसे—मनुष्य गतिकर्मके उदयसे औदयिक भाव घटित होता है। इसी प्रकार सर्वत्र घटित कर लेना चाहिये।

औदयिक क्षायिक सान्निपातिक नामका दूसरा भंग है जिसतरह जीव क्षीणकषाई है। औदयिक-क्षायोपशमिक जीव भाव नामका तीसरा भंग है जिसतरह मनुष्य पंचेंद्रिय और औदयिकपारिणामिक-सान्निपातिकभाव नामका चौथा भंग है जिसतरह मनुष्य जीव।

यहांपर सान्निपातिक जीव भावका अर्थ संयोग स्वरूप जीवका परिणाम है वह कहीं दो भावोंका संयोग स्वरूप होता है कहीं तीन आदि भावोंका संयोग स्वरूप परिणाम रहता है। उपर्युक्त द्विसंयोगी भेदमें उपशांतक्रोध मनुष्य यह औदयिक और औपशमिकका संयोग स्वरूप परिणाम है। क्षीणकषाय मनुष्य औदयिक और क्षायिकका संयोग स्वरूप परिणाम है इसीप्रकार आगे भी सब जगह समझ लेना चाहिये।

जहांपर औदयिक भावको छोड दिया जाता है। प्रत्येक भंगमें औपशमिक भावका प्रधानतासे संयोग रहता है और शेष क्षायिक आदि तीन भावोंमें एक एक छूटता जाता है वह दूसरा द्विभाव संयोगी भेद है और उसके तीन भंग हैं। उनमें औपशमिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभाव नामका पहिला भंग है जिसतरह उपशांत लोभी दर्शनमोहके क्षीण हो जानेसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि। औपशमिक-क्षायोपशमिकजीवभाव नामका दूसरा भंग है जिसतरह उपशांत मानी आभिनिबोधिकज्ञानी। और औपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभाव नामका तीसरा भंग है जिसप्रकार उपशांतमायाकषाय-वाला भव्य।

जहांपर औपशमिक भाव भी छोड दिया जाता है । प्रत्येक संयोगमें क्षायिकभावका प्रधानतासे ग्रहण रहता है और क्षायोपशमिक और पारिणामिकभावोंमें एक एक छूटता जाता है वहांपर तीसरा द्विभाव संयोगी भेद होता है और उसके दो भंग माने हैं उनमें क्षायिकक्षायोपशमिकजीवभाव नामका पहिला भंग है जिसतरह क्षायिक सम्यग्दृष्टि श्रुतज्ञानी । क्षायिक पारिणामिकजीवभाव नामका दूसरा भंग है जिसतरह क्षीणकषायी भव्य ।

तथा जहांपर क्षायिक भावका भी परित्याग हो जाता है केवल क्षायोपशमिक पारिणामिक रूप संयोग रह जाता है वहांपर एक ही क्षायोपशमिक पारिणामिक सान्निपातिक जीवभाव नामका भंग होता है जिसतरह अवधिज्ञानी जीव है यहांपर अवधिज्ञानी जीवका क्षायोपशमिक और पारिणामिक सान्निपातिक पारिणाम है । इसप्रकार ये द्विभाव संयोगी भंग मिलकर दश हैं ।

तीन भावोंका आपसमें संयोग रहनेपर भी सान्निपातिक भावके दश भेद माने हैं । जहांपर औदयिक और औपशमिक दोनों भावोंका प्रत्येक संयोगमें प्रधानरूपसे ग्रहण रहता है और क्षायिक आदि तीन भावोंमें एक एक भाव ग्रहण किया जाता है वहांपर पहिला त्रिभाव संयोगी भेद माना जाता है और उसके तीन भंग हैं उनमें औदयिकौपशमिक क्षायिक सान्निपातिक जीव भाव नामका पहिला भंग है जिसतरह उपशांत मोह मनुष्य क्षायिक सम्यग्दृष्टि । औदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकसान्निपातिक जीव भाव नामका दूसरा भंग है जिसतरह उपशांतक्रोधी मनुष्य वाग्योगी है और औदयिकौपशमिक-पारिणामिकसान्निपातिक जीव भाव नामका तीसरा भंग है जिसतरह उपशांत मानवाला मनुष्य जीव । जहांपर औपशमिक भावका परित्यागकर औदयिक और क्षायिक भावका ग्रहण हो तथा क्षायोपश-

मिक एवं पारिणामिक भावोंमें एक एकका ग्रहण हो वह दूसरा त्रिभावसंयोगी भेद है और उसके दो भंग माने हैं। उनमें औदयिकक्षायिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावनामका पहिला भंग है जिसतरह क्षीणकषायी मनुष्य श्रुतज्ञानी है। और औदयिकक्षायिकपारिणामिकसान्निपातिकजीव भाव नामका दूसरा भंग है जिसप्रकार जिसका दर्शनमोहकर्म क्षीण हो गया है वह मनुष्य जीव।

जहां पर केवल औदयिक भावका ग्रहण है और औपशमिक एवं क्षायिकका परित्याग है वह तीसरा त्रिभाव संयोगी भेद है और उसका औदयिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीव भाव नामका एक भंग है जिसतरह मनोयोगी मनुष्य जीव।

जहांपर औदयिक भावको छोडकर शेप औपशमिकादि चार भावोंमें एक एकका परित्याग रहे वह चौथा त्रिभाव संयोगी भेद है और उसके चार भंग माने हैं। उनमें औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिक-सान्निपातिक जीव भाव नामका पहिला भंग है जिसतरह जिसका मानकषाय उपशांत हो गया है और दर्शन मोहक्षीण हो गया है ऐसा काय योगी। औपशमिकक्षायिकपारिणामिकसान्निपातिकजीव भाव नामक दूसरा भंग है जिसतरह जिसका भेद उपशांत है वह क्षायिकसम्यग्दृष्टि भव्य। औपशमिक-क्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिक जीव भाव नामका तीसरा भंग है जिसतरह उपाशांत मान-वाला मतिज्ञानी जीव। और क्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिक जीव भाव नामका चौथा भंग है जिसतरह क्षीण मोह पंचेंद्रिय भव्य। इसप्रकार ये त्रिभाव संयोगी भंग भी मिलकर दश हैं। जहांपर औदयिक आदि पांचोंमें एक एकका परित्याग रहे वह चतुर्भाव संयोगी भेद है और उसके पांच भंग हैं। उनमें औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिक जीव भाव नामका

पहिला भंग है जिसप्रकार उपशांतलोभ क्षीणदर्शनमोह पंचेंद्रिय जीव। औदयिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभाव नामका दूसरा भंग है जिसतरह मनुष्य क्षीणकषायी मतिज्ञानी भव्य। औदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभाव नामका तीसरा भंग है जिसप्रकार मनुष्य उपशांत वेद श्रुतज्ञानी जीव। औदयिकौपशमिकक्षायिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभाव नामका चौथा भंग है जिसप्रकार मनुष्य उपशांतरागक्षीणदर्शनमोह जीव। और पांचवां औदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभाव नामका पांचवां भंग है जिसतरह मनुष्य उपशांतमोह क्षायिकसम्यग्दृष्टि अवधिज्ञानी।

जहांपर पांचों भावोंका संयोग है वह पंचभाव संयोगी भेद है और उसका औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिक यह एक भंग है जिसतरह मनुष्य उपशांतमोह क्षायिकसम्यग्दृष्टि पंचेंद्रिय जीव। इसप्रकार यह छब्बीस प्रकारका सान्निपातिक भाव समाप्त हुआ। छत्तीस प्रकारका सान्निपातिक भाव इसप्रकार है—

दो औदयिक भावोंका आपसमें सन्निपात रहनेपर तथा औदयिक भावका औपशमिक आदि चारोंमेंसे एक एकके साथ संयोग रहनेपर पांच भंग होते हैं। उनमें औदयिकौदयिकसान्निपातकजीवभाव नामका पहिला भंग है जिसतरह मनुष्य क्रोधी है। औदयिकौपशमिकसान्निपातिकजीवभाव नामका दूसरा भंग है जिसतरह मनुष्य उपशांत क्रोधी। औदायिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभाव नामका तीसरा भंग है जिसतरह मनुष्य क्षीणकषायी। औदायिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभाव नामका चौथा भंग है जिसतरह क्रोधी मतिज्ञानी। औदायिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभाव नामका पांचवां भंग है जिसतरह मनुष्य भव्य।

दो औपशमिक भावोंका आपसमें संयोग रहनेपर तथा औपशमिक भावका औदयिक आदि चारोंमेंसे एक एकके साथ संबंध रहनेपर भी पांच भंग होते हैं। उनमें औपशमिकौपशमिकसान्निपातिकजीवभाव नामका पहिला भंग है जिसतरह उपशमसम्यग्दृष्टि उपशांतकषाय। औपशमिकौदयिकसान्निपातिकजीवभाव नामका दूसरा भंग है जिसतरह उपशांतकषायी मनुष्य। औपशमिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभाव नामका तीसरा भंग है जिसप्रकार उपशांत क्रोधवाला क्षायिकसम्यग्दृष्टि। औपशमिक क्षायोपशमिक सान्निपातिक जीवभाव नामका चौथा भंग है जिसतरह उपशांत कषायवाला अवधिज्ञानी। और औपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभाव नामका पांचवां भंग है जिसतरह उपशांत दर्शनमोहवाला जीव।

दो क्षायिक भावोंका आपसमें संयोग रहनेपर तथा क्षायिक भावका औदयिक आदि चारों भावोंमें एक एकके साथ संबंध रहनेपर भी पांच भंग होते हैं। उनमें क्षायिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभाव नामका पहिला भंग है जिसतरह क्षायिकसम्यग्दृष्टि क्षीणकषायवाला। क्षायिकौदयिकसान्निपातिक जीवभाव नामका दूसरा भंग है जिसतरह क्षीणकषायवाला मनुष्य। क्षायिकौपशमिकसान्निपातिक जीवभाव नामका तीसरा भंग है जिसतरह क्षायिकसम्यग्दृष्टि उपशांतवेदवाला। क्षायिकक्षायोपशमिक सान्निपातिकजीवभाव नामका चौथा भंग है जिसतरह क्षीणकषायवाला मतिज्ञानी। और क्षायिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभाव नामका पांचवां भंग है जिसप्रकार क्षीणमोहवाला भव्य।

दो क्षायोपशमिक भावोंका आपसमें संयोग रहनेपर तथा क्षायोपशमिक भावके साथ औदयिक आदि चारों भावोंमेंसे एक एकके रहनेपर भी पांच भंग होते हैं। उनमें क्षायोपशमिकक्षायोपशमिकजीव

भाव नामका पहिला भंग है जिसप्रकार संयमी अवधिज्ञानी । क्षायोपशमिकौदायिकसान्निपातिकजीव भाव नामका दूसरा भंग है जिसतरह संयमी मनुष्य । क्षायोपशमिकौपशमिकजीवभाव नामका तीसरा भंग है जिसतरह संयमी उपशांतकषायवाला । क्षायोपशमिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभाव नामका चौथा भंग है जिसप्रकार संयतासंयत क्षायिकसम्यग्दृष्टि और क्षायोपशमिकपारिणामिक सान्निपातिक जीवभाव नामका पांचवां भंग है जिसतरह अप्रमत्तसंयमी जीव ।

दो पारिणामिक भावोंका आपसमें संयोग रहनेपर तथा पारिणामिक भावके साथ औदायिक आदि चारों भावोंमेंसे एक एकका संबंध रहनेपर भी पांच भंग होते हैं। उनमें पारिणामिकपारिणामिकसन्निपातिकजीवभाव नामका पहिला भंग है जिसप्रकार जीव भव्य । पारिणामिकौदायिकसान्निपातिक जीव भाव नामका दूसरा भंग है जिसतरह जीवक्रोधी । पारिणामिकौपशमिक सान्निपातिक जीव भाव नामका तीसरा भंग है जिसप्रकार भव्य उपशांतकषायवाला । पारिणामिकक्षायिकसान्निपातिकजीव भाव नामका चौथा भंग है जिसतरह भव्य क्षीणकषायवाला । और पारिणामिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभाव नामका पांचवां भंग है जिसप्रकार संयमी भव्य । इसप्रकार ये पचीस द्वि भाव संयोगी भंग पहिले कहे हुए दश त्रिभावसंयोगी भंग और एक पंच भावसंयोगी भंग मिलकर छत्तीस भंग हैं।

तथा पहिले चतुर्भावसंयोगी पांच भंग बतलाये हैं। इन छत्तीस भंगोंमें उन पांच भंगोंके जोड देने पर सान्निपातिक भावके इकतालीस भंग हो जाते हैं इसीप्रकार और भी बहुतसे भेद सान्निपातिकभावके हैं वे आगमके अनुसार समझ लेने चाहिये शंका—

औपशमिकाद्यात्मतत्त्वानुपत्तिरतद्भावादितिचेन्न तत्परिणामात् ॥ २५ ॥

औपशमिक आदि जिन भावोंका ऊपर उल्लेख किया गया है वे सब भाव अपनी उत्पत्तिमें कर्मों के बंध उदय और निर्जराकी अपेक्षा रखते हैं इसलिये वे सब पुद्गल द्रव्योंकी पर्याय हैं जो कि आत्मतत्त्वसे सर्वथा वीपरीत हैं अतः औपशमिक आदि भाव जीवके तत्व नहीं कहे जा सकते ? सो ठीक नहीं। जिससमय आत्मा पुद्लद्रव्यकी कर्मरूप विशेष शक्तिके आधिन हो जाता है उससमय वह पुद्गलके रंगमें रंग जानेके कारण जिस जिस पुद्गलके निमित्तसे वह जिस परिणाम स्वरूप परिणत होता है उससमय वह उसी परिणाम स्वरूप हो जाता है। यद्यपि औपशमिक आदि भाव कर्मोंके बंध आदि जनित हैं परंतु आत्मा औपशमिक आदि रूप परिणत होता है इसलिये वे आत्माके ही भाव हैं। कहा भी है——

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं। तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥ १ ॥
परिणमति येन द्रव्यं तत्कालं तन्मयमिति प्रज्ञप्तं। तस्माद्धर्मपरिणत आत्मा धर्मो ज्ञातव्यः ॥ १ ॥

अर्थात् जिसकालमें जो द्रव्य जिस परिणामसे परिणत होता है उस कालमें वह द्रव्य उसी परिणाम स्वरूप होता है यह माना गया है इसलिये आत्मा जिस परिणामसे परिणत होता है उसी परिणाम—स्वरूप, वह कहा जाता है।

वह आत्माका परिणाम अन्यद्रव्यसे असाधारण है—सिवाय आत्माके अन्य किसी भी पदार्थका वैसा परिणाम नहीं होता इसलिये वह आत्मस्वरूप कहा जाता है। औपशमिक आदि भाव सिवाय आत्माके अन्य द्रव्यके परिणाम नहीं, इसलिये उन्हें आत्मतत्व मानना निरापद है। शंका—

अमूर्तत्वादभिभवानुपपत्तिरिति चेन्न तद्विशेषसामर्थ्योपलब्धेश्चैतन्यवत् ॥ २६ ॥

आत्मा अमूर्तिक पदार्थ है और कर्म पौद्गलिक हैं जो कि आत्मास्वरूपसे सर्वथा वहिर्भूत हैं इस-लिये आत्माका पुद्गल स्वरूप कर्मोंसे अभिभव नहीं हो सकता और जब अभिभव ही नहीं सिद्ध होता तव औपशमिक आदि कभी आत्माके परिणाम नहीं कहे जा सकते ? सो ठीक नहीं। जिसप्रकार जो आत्मा अनादि पारिणामिक चैतन्यभावके आधीन है और इसलिये जो चैतन्यवान भी है उस चैतन्य-वान आत्माकी नारकी और मतिज्ञान आदि विशेष पर्याय चैतन्यस्वरूप ही माने जाते हैं उसीप्रकार यह आत्मा अनादिसे कार्माण शरीरके आधीन होनेके कारण कर्मवान और कर्मवान होनेसे मूर्तिमान भी है उस मूर्तिमान आत्माकी गति आदि विशेष सामर्थ्य भी मूर्तिक है इसप्रकार जब अनादि कर्मबंध संतानवान आत्मा मूर्तिक है तथा मूर्तिक पुद्गलीक कर्मोंसे मूर्तिक आत्माका अभिभव हो सकता है तब अमूर्तिक आत्माका पुद्गलस्वरूप कर्मोंसे अभिभव नहीं हो सकता यह कहना व्यर्थ है। तथा—

अनेकांतात् ॥ २८ ॥ सुराभिभवदर्शनात् ॥ २९ ॥

अनादिकालीन बंधसंतानके पराधीन भी यह आत्मा कर्मबंधके साथ एकम एक होनेसे इस अपेक्षासे कथंचित् मूर्तिक है और अपने ज्ञान दर्शनस्वरूपसे कभी भिन्न नहीं होता इसलिये इस अपेक्षा अमूर्तिक भी है। दोनोंकी एक कालमें क्रमसे विवक्षा करने पर कथंचित् मूर्तामूर्त भी और दोनोंकी एक साथ विवक्षा करने पर अवक्तव्य भी है इत्यादि सप्तभंगीमें कथंचित् आत्मा मूर्तिक भी है इसलिये मूर्तिक कर्मपुद्गलोंसे मूर्तिक ही आत्माका अभिभव है अमूर्तिकका नहीं। जो एकांतसे आत्माको सर्वथा मूर्तिक मानता है उसीके मतमें वह दोष है कथंचित् मूर्त और अमूर्त माननेवाले आर्हत मतमें उक्त दोष स्थान नहीं पा सकता तथा और भी यह वात है कि—

जिसतरह मद मोह और भ्रांतिकी करनेवाली शराबके पीनेसे मनुष्यकी स्मृति नष्ट हो जाती है और वह काठके समान निस्तब्ध हो जाता है उसीप्रकार कर्मेंद्रिय हाथ पांव आदिक निस्तब्ध हो जाने पर ज्ञानादि आत्मिक स्वरूपकी प्रकटता न होनेके कारण आत्मा मूर्त बन जाता है इसलिये जब आत्मा मूर्तिक भी है तब पुद्गल कर्मोंसे उसका अभिभव युक्ति सिद्ध है । यदि यहां पर यह शंका की जाय कि——

करणमोहकरं मद्यमिति चेन्न तद्विविधकल्पनायां दोषोपपत्तेः ॥ ३० ॥

नेत्र आदि इंद्रियां पृथिवी आदि मूर्तिक पदार्थोंकी विकारस्वरूप हैं इसलिये मूर्तिक होनेसे उन्हींका शराबसे अभिभव होता है आत्मा अमूर्तिक पदार्थ है इसलिये उसके गुणोंका अभिभव नहीं हो सकता अतः शराबके दृष्टांतसे जो ऊपर आत्माका अभिभव माना है वह व्यर्थ है ? सो ठीक नहीं । विकल्पोंके आधारसे यह दोष यहां ठीक लागू नहीं होता वे विकल्प इसप्रकार हैं——

चक्षु आदि इंद्रियां चेतन पदार्थ हैं कि अचेतन हैं ? यदि उन्हें अचेतन माना जायगा तो शराब अचेतन इंद्रियोंकी व्यामोह करनेवाली नहीं कही जा सकती क्योंकि यदि वह अचेतन पदार्थके व्यामोह करनेवाली भी मानी जायगी तो जिस प्याले आदि पात्रमें वह शराब मौजूद है पहिले उसका व्यामोह होना चाहिये परंतु सो होता दीख नहीं पडता इसलिये इंद्रियोंको अचेतन मानने पर उनका अभिभव सिद्ध नहीं होता । यदि यह कहा जायगा कि वे चेतन हैं तब पृथिवी आदिमें तो चैतन्य स्वभावकी पृथक् रूपसे उपलब्धि है नहीं जिसके संबंधसे इंद्रियोंको चेतन कहा जाय किंतु चेतना (आत्म) द्रव्यके संबंधसे ही इंद्रियोंको चैतन्यस्वरूप माना जाता है वह चैतन्य आत्माका ही गुण होनेसे आत्माका ही

व्यामोह सिद्ध हुआ इसरीतिसे अमूर्तिक होनेसे 'आत्मगुणका शरावसे व्यामोह नहीं हो सकता यह कहना वाधित है।'

यदि यहांपर चार्वाक नास्तिककी ओरसे यह कहा जाय कि अन्न जल हड़ आदि पदार्थोंके एक विलक्षण संयोग हो जानेपर जिसप्रकार मदशक्तिकी प्रकटता हो जाती है उसीप्रकार पृथिवी जल वायु आदिके विलक्षण संबंधसे सुख दुःख आदि आत्मिक गुणोंकी भी अभिव्यक्ति हो जाती है आत्मा कोई पदार्थ भिन्न नहीं ? सो ठीक नहीं । यदि सुख दुःख आदिको पृथिवी आदिके गुण माने जायंगे तो जिसतरह उनके रूप आदि गुण हैं उसीप्रकार सुख दुःख आदि भी होने चाहिये परंतु सो बात नहीं क्योंकि पृथिवी आदिके अवयव आपसमें मिले हों चाहें भिन्न हों उनके गुण रूप आदिकी क्रमसे हानि दीख पडती है—ऐसा कभी नहीं होता जो सर्वथा उनकी नास्ति हो जाय, परंतु शरीरके अवयव चाहे आपसमें मिले हुए हों चाहें भिन्न हों सुख दुःख आदि गुणोंकी उनमें क्रमसे हानि नहीं होती, एक साथ ही नास्ति हो जाती है अर्थात् मृतशरीरमें सुख दुःखकी जरा भी सत्ता नहीं रहती इसलिये रूप आदि गुणोंके साथ वैषम्य होनेसे सुख आदि पृथिवी आदिके गुण नहीं माने जा सकते। और भी यह बात है कि सुख दुःख आदि पृथिवी आदिके गुण माने जायगे तो मृतशरीरमें जिसतरह रूप आदि गुण दीख पडते हैं उसतरह तत्काल मृतशरीरमें सुख दुःख आदि भी दीख पडने चाहिये क्योंकि जीवित शरीरके समान मृतशरीरमें भी पृथिवी आदिका संयोग है । यदि यहांपर यह कहा जाय कि जीवित शरीरमें एक सूक्ष्म भूतस्वरूप पदार्थ था और उसके रहते ही सुख दुःख आदिकी सत्ता थी मृतशरीरमें वह नहीं रहा इसलिये उसमें सुख दुःख आदि नहीं ? सो भी ठीक नहीं। सूक्ष्म स्थूलका

कोई विभाग न कर सामान्यरूपसे सुख दुःख आदिको पृथिवी आदिका गुण माना है मृतशरीरमें सूक्ष्मभूत मत हो स्थूलभूत मौजूद हैं इसलिये सुख दुःख आदिकी उपलब्धि होनी चाहिये परंतु वह नहीं होती इसलिये सुख दुःख आदि पृथिवी आदिके गुण नहीं माने जा सकते। तथा यह भी बात है कि–

यदि सूक्ष्मभूतके नाश हो जानेपर सुख दुःख आदिकी भी उपलब्धि न होगी यह कहा जायगा तब सुख दुःख आदि पृथ्वी आदिके व्यक्ति संबंधी धर्म ही माने जायगे समुदायके तो धर्म न माने जायंगे इसरीतिसे सुख दुःख आदिको समुदायका धर्मपना न होनेके कारण उसकी सिद्धिके लिये जो गुड अन्न आदिके समुदायके धर्म स्वरूप शराबका दृष्टांत दिया गया है वह अयुक्त है अर्थात् समुदायजन्य धर्मका दृष्टांत समुदाय जनित धर्मकी ही सिद्धि कर सकता पृथ्वी आदि व्यक्ति जनितधर्मकी नहीं इसलिये यहां शराबका दृष्टांत विषम दृष्टांत है। तथा और भी यह वात है–

जब सुख दुःख आदि पृथ्वी आदिके गुण हैं तब मृत शरीरमें उनकी उपलब्धि क्यों नहीं होती? इस दोषके परिहारमें नास्तिकने यह कहा है कि सूक्ष्मभूतके रहते ही सुख दुःख आदिकी उपलब्धि होती है। जीवित शरीरमें सूक्ष्मभूत था इसलिये वहांपर सुख दुःख आदिकी उपलब्धि थी, मृतशरीरमें वह नहीं रहा इसलिये वहांपर सुख दुःख आदिकी उपलब्धि नहीं। वहांपर हमारा (जैन सिद्धांतकारका) कहना है कि जिसप्रकार उपर्युक्त दोषकी निवृत्तिकेलिए सूक्ष्मभूतकी सिद्धि की गई है उसप्रकार आत्माकी भी सिद्धि क्यों नहीं मानी जाती अर्थात् उस सूक्ष्मभूतको आत्माके ही नामसे क्यों नहीं कह दिया जाता? इसलिये यह वात अच्छीतरह सिद्ध हो चुकी कि सुख दुःख आदि पृथ्वी जल आदि के धर्म नहीं आत्माके ही धर्म हैं और वह आत्मा पदार्थ सर्वसिद्धांत प्रसिद्ध है। तथा–

ऊपर जो यह कहा गया है कि पृथिवी आदिसे जन्य मूर्तिक इंद्रियोंका ही शरावसे व्यामोह होता है अमूर्तिक आत्मगुणोंका नहीं वहांपर यह पूछना है कि वे नेत्र आदि इंद्रियां वाह्य इंद्रियां हैं कि अंतरंग इंद्रियां हैं। यदि यह कहा जायगा कि वे वाह्य हैं तब तो वे अचेतन हुई और अचेतन पदार्थका व्यामोह होता नहीं यह ऊपर कह दिया जा चुका है। यदि यह कहा जायगा कि वे अंतरंग इंद्रियां हैं तब वहांपर भी यह प्रश्न उठता है कि वे चेतन हैं वा अचेतन हैं। यदि अचेतन माना जायगा तब अचेतन पदार्थका व्यामोह नहीं हो सकता यह पहिले सिद्ध किया जा चुका है। यदि उन्हें चेतन माना जायगा तब उन्हें विज्ञानस्वरूप ही मानना होगा फिर चेतनका ही व्यामोह होना युक्ति सिद्ध हो गया इसरीतिसे "आत्मा अमूर्त है इसलिये कर्मपुद्गलोंसे उसका व्यामोह नहीं हो सकता" यह कहना युक्ति बाधित है। शंका—

यदि आत्माको कर्मोंके उदयके आधीन वा शरावके आवेशके आधीन माना जायगा तो असली स्वरूपके प्रगट न होनेसे उसका अस्तित्व ही कठिन साध्य हो जायगा? सो ठीक नहीं। भले ही कर्मोंके उदय वा शरावके आवेशसे आत्मा अज्ञानी हो जाय परंतु उसके ज्ञानदर्शनरूप स्वरूपकी नास्ति नहीं हो सकती इसलिये उसके निजस्वरूपकी उपलब्धि रहनेके कारण उसकी नास्ति मानना अज्ञान है। इसी विषयका पोषक यह आगमका वचन भी है—

बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो होदि तस्स णाणत्तं, तम्हा अमुत्तिभावो णेयंतो होदि जीवस्स ॥ १ ॥
बंध प्रत्येकत्वं लक्षणतो भवति तस्य नानात्वं तस्मादमूर्तिभावो नैकांतो भवति जीवस्य ॥ १ ॥

अर्थात् कर्मप्रदेश और आत्मप्रदेशोंके आपसमें एकम एक होनेसे भले ही उन दोनोंको एक मान

लिया जाय परंतु लक्षणोंके भिन्न होनेसे दोनों भिन्न भिन्न स्वरूप हैं इसलिये जीवका अमूर्तिकपना एकांतसे नहीं किंतु अनेकांतसे है अर्थात् आत्मा कथंचित् मूर्तिक है कथंचित् अमूर्तिक है सर्वथा न मूर्तिक ही है और न अमूर्तिक ही है।

विशेष—भगवान धर्मनाथके पूर्वभवके जीव राजा दशरथको जिससमय वैराग्य हुआ उससमय वह दैगंबरी दीक्षा धारण करनेके लिये बन जाने लगा। उसका एक सुमंत्र नामका मंत्री चार्वाक मतका अनुयायी था जिससमय उसने अपने मतका तत्त्व बतला कर राजाको बनसे रोकना चाहा उससमय राजाने उसके मतका अच्छी तरह खण्डन किया और दिगंबर दीक्षा धारण करली। यह विषय धर्म शर्माभ्युदयमें इसप्रकार है——

तं प्रेक्ष्य भूपं परलोक सिद्धयै साम्राज्यलक्ष्मीं तृणवत्त्यजंतं।
मंत्री सुमंत्रोऽथ विचित्रतत्त्व चित्रीयमाणामिव वाचमूचे॥ ६२॥
देव त्वदारब्धमिदं विभाति नभःप्रसूनाभरणोपमानं।
जीवाख्यया तत्त्वमपीह नास्ति कुतस्तनी तत्परलोकवार्ता॥ ६३॥
न जन्मनः प्राङ् न च पंचतायाः परोविभिन्नेऽवयेव न चांत।
विशन्न निर्यन्न च दृश्यतेऽस्माद्भिन्नो न देहादिव कश्चिदात्मा॥ ६४॥
किं त्वत्र भूर्वह्निजलानिलानां संयोगतः कश्चन यंत्रवाहः।
गुडान्नपिष्टोदकधातकीनामुन्मादिनी शक्तिरिवाभ्युदेति॥ ६५॥
विहाय तद्दृष्टमदृष्टहेतोर्वृथा कृथाः पार्थिव माप्रयत्नं।

को वा स्तनाग्राण्यवधूय धेनो र्दुग्धं विदग्धो ननु दोग्धि शृंगं ॥ ६६ ॥

अर्थात् मंत्री सुमंत्रने राजा दशरथको परलोकके सुभीतेके लिये जिससमय विशाल राज्य लक्ष्मीको जीर्ण तृणके समान छोडते देखा वह विनयपूर्वक सामने आया और आश्चर्यकारी तत्त्वसे भरा हुआ इसप्रकार वचन कहने लगा—प्रभो! आपने जो यह कार्य करना प्रारम्भ किया है मुझे तो यह आकाशके फूलसे बनाया गया हार सरीखा जान पडता है क्योंकि जब संसारमें जीव नामका ही कोई पदार्थ नहीं तब उसके आधीन परलोकका अस्तित्व तो सर्वथा विरुद्ध है। महाराज! न तो जीव पदार्थ शरीरके पहिले देखा गया। न वादमें देखा गया। न शरीरके खण्ड खण्ड कर देनेपर बीचमें देखा गया। प्रवेश करता और निकलता हुआ भी नहीं देखा गया इसलिये मेरा तो यह निश्चय है कि शरीरसे भिन्न कोई भी आत्मा पदार्थ नहीं किंतु जिसप्रकार गुड अन्न आटा जल हड़ आदिके विलक्षण संबंधसे मद शक्ति व्यक्त हो जाती है उसीप्रकार पृथिवी अग्नि जल और पवनके संबंधसे उत्पन्न एक विलक्षण शक्ति जान पडती है उसीको लोगोंने आत्मा मान रक्खा है। इसलिये हे कृपानाथ! इस इष्ट विशाल साम्राज्य विभूतियोंमें लात मार कर अदृष्ट नेत्रोंसे नहीं दीख पडनेवाले परलोकके लिये जो आपका प्रयत्न है वह विकल्प है क्योंकि संसारमें ऐसा कोई भी विद्वान पुरुष नहीं देखा जो दूधकी आशासे गायके स्तनोंको न दुहकर उसके सींग दुहे। आपका विशाल विभूतिको छोडकर परलोकके लिये उद्योग करना स्तनोंको छोड कर गायके सींगोंको दुहना है इसलिये आप वनमें न जाकर इसी साम्राज्य विभूतिका उपभोग करें। राजा दशरथको यह सिद्धांत कब सह्य था बस—

श्रुत्वेत्यवादीन्नृपतिर्विधुन्वन्भानुस्तमांसीव च तद्वचांसि।

अपार्थमर्थं वदतः सुमंत्र नामापि ते नूनमभूदपार्थं ॥ ६७ ॥
जीवः स्वसंवेद्य इहात्मदेहे सुखादिवद्बाधकविप्रयोगात ।
काये परस्यापि स बुद्धिपूर्वव्यापारदृष्टेः स्व इवानुमेयः ॥ ६८ ॥
तत्कालजातस्य शिशोरपास्य प्राग्जन्मसंस्कारमुरोजपाने ।
नान्योऽस्ति शास्ता तदपूर्वजन्मा जीवोऽयमित्यात्मविदा न वाच्यं ॥ ६९ ॥
ज्ञानैक संवेद्य ममूर्तमेनं मूर्ता परिच्छेत्तुमलं न दृष्टिः ।
व्यापार्थमाणापि कृताभियोगैर्भिनत्ति न व्योम शितासियष्टिः ॥ ७० ॥
संयोगतो भूतचतुष्टयस्य यज्जायते चेतन इत्यवादि ।
मरुज्वलत्पावकतापिताम्भः स्थाल्यामनेकांत इहास्तु तस्य ॥ ७१ ॥
उन्मादिका शक्तिरचेतना या गुडादिसंबंधभवान्यदर्शि ।
सा चेतने ब्रूहि कथं विशिष्ट दृष्टांतकक्षामधिरोहतीह ॥ ७२ ॥
तस्मादमूर्तश्च निरत्ययश्च कर्ता च भोक्ता च सचेतनश्च ।
एकः कथंचिद्विपरीतरूपादवैहि देहात्पृथगेव जीवः ॥ ७३ ॥
निसर्गतोऽप्यूर्ध्वगतिः प्रसह्य प्राकर्मणा हंत गतीर्विचित्राः ।
स नीयते दुर्धरमारुतेन हुताशनस्येव शिखाकलापः ॥ ७४ ॥
तदात्मनः कर्मकलंकमूल मुन्मूलयिष्ये सहसा तपोभिः ।
मणेरनर्घस्य कुतोऽपि लग्नं को वा न पंकं परिमार्ष्टि तोयैः ॥ ७५ ॥

अर्थात–जिसतरह सूर्यकी किरणें अंधकारको तितर वितर कर देती हैं उसीप्रकार मंत्रि सुमंत्रके वचनोंको तितर वितर करनेवाले राजा दशरथने उत्तर दिया। भाई सुमंत्र! तेरे नामका अर्थ तो अच्छी तरह विचार करनेवाला है परंतु तूने जो इससमय मिथ्या बात कही है उससे तेरे नामका अर्थ भी मुझे मिथ्या जान पडता है। भाई! 'जिसप्रकार' अहं सुखी अहं दुःखी' इस स्वसंवेदन प्रत्यक्षमें सुख दुःख का भान विना किसी बाधक प्रमाणके होता है उसीप्रकार अपने शरीरमें 'अहं अहं' इस आकारसे आत्माका भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है कोई भी इसका बाधक प्रमाण नहीं इसरीतिसे अपनेको स्वयं अपने शरीरमें आत्माका अस्तित्व जान पडता है और दूसरेके शरीरमें बुद्धि पूर्वक क्रियाओंके देखनेसे अर्थात् 'विना आत्माके रहते शरीरसे ऐसी क्रियायें नहीं हो सकतीं' इस अनुमान प्रमाणसे उसे जान लिया जाता है। देखो उत्पन्न होते ही मनुष्य गाय भैंस आदिका बच्चा दूध पीने लग जाता है उससमय सिवाय पूर्वजन्मके संस्कारके उसे दूध पीनेकी रीति बतलानेवाला कोई नहीं। यदि उसकी आत्मा इस जन्मके पहिले न होती तो वह एकदम नये कामको कभी नहीं कर सकता था इसलिये विद्वान मनुष्य को यह कभी न कहना चाहिये कि जीव अपूर्व जन्मा है पहिले इसका अस्तित्व ही न था। जिसप्रकार पैनी तलवार मूर्तिक पदार्थ है चाहे कितने भी प्रयत्नसे घुमाई जाय अमूर्तिक आकाशके खंड वह नहीं कर सकती उसीप्रकार यह जीव एक ज्ञानके ही द्वारा जाना जाता है और अमूर्त है इसलिये मूर्तिक नेत्र इंद्रिय कभी इसे नहीं देख सकती। पृथ्वी आदि भूतोंके विलक्षण संयोगसे आत्माकी उत्पत्ति होती है यह कहना व्यभिचारदोष ग्रस्त है क्योंकि जिस बटलोईमें पवनसे जलती हुई अग्निसे तपा हुआ जल भरा है वहांपर भी चारों भूतोंका समुदाय है इसलिये वहां भी चेतनकी उत्पत्ति होनी

चाहिये परंतु दीख नहीं पडती इसलिये पृथ्वी आदि भूत चेतनकी उत्पत्तिमें कारण नहीं हो सकते । भाई ! तुमने जो गुड अन्न आदिके संबंधसे होनेवाली अचेतन मद शक्तिका दृष्टांत चेतनकी उत्पत्तिमें दिया है उसे तुम्हीं विचारो कि क्या वह दृष्टांत विषम होनेसे यहां उपयुक्त है ? कभी नहीं । इसलिये अब यह अवश्य मानना होगा कि यह आत्मा अमूर्तिक आविनाशी कर्ता भोक्ता सचेतन और एक पदार्थ है। तथा अपने स्वरूपसे सर्वथा विपरीत शरीरसे सर्वथा पृथक् है। इस आत्माका ऊर्ध्वगमन स्वभाव है परंतु स्वभावसे ऊपरको जानेवाली अग्निकी शिखा जिसप्रकार प्रचंड पवनके वेगसे इधर उधर झुकरा जाती है उसीप्रकार कर्मके प्रबलवेगसे यह जीव भी खेदकारी अनेक प्रकारका गमन करता है । इस लिये जिसप्रकार अमूल्य मणिपर लगेहुए कीचडको हरएक व्यक्ति जलसे धोकर साफ करदेता है उसी-प्रकार मेरी आत्मापर जो कर्मोंकी कालिमा लगी हुई है उसे अवश्य ही अब मैं प्रचंड तपोंसे सर्वथा भिन्न करूंगा। सर्ग ४ पृष्ठ २९ ।

अनादिकालसे कर्मबंधके कारण कर्म और आत्माका एकम एक रहनेपर भी लक्षणके भेदसे भेद माना गया है परंतु अभीतक आत्माका क्या लक्षण है ? यह नहीं प्रतिपादन किया गया इसलिये सूत्रकार अब अत्माका लक्षण बतलाते हैं--

उपयोगोलक्षणं ॥ ८ ॥

अर्थ—चैतन्यके साथ रहनेवाले आत्माके परिणामका नाम उपयोग है वह उपयोग ही जीवका लक्षण है। वार्तिककार उपयोग शब्दका स्पष्ट अर्थ करते हैं--

वाह्याभ्यंतरहेतुद्वयसन्निधाने यथासंभवमुपलब्धुश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः ॥ १ ॥

वाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके कारणोंका यथासंभव सान्निधान रहनेपर चैतन्य गुणके साथ साथ रहनेवाला जो कोई आत्माका परिणाम है उसका नाम उपयोग है। यहांपर दो जिसके अवयव हों वह द्वय कहा जाता है। वाह्य और अभ्यंतरके भेदसे कारण दो प्रकारका है। शंका—

वाह्य और अभ्यंतर इन दो नामोंके उल्लेखसे ही कारणको द्विविधपना सिद्ध था फिर द्वित्व अर्थ को प्रतिपादन करनेवाले 'द्वय' शब्दका उल्लेख व्यर्थ है? सो ठीक नहीं। वाह्य कारण भी दो प्रकारका है। अभ्यंतर कारण भी दो प्रकार है इसप्रकार वाह्य अभ्यंतर दोनोंमें प्रत्येक कारणके दो दो भेद हैं यह प्रतिपादन करनेके लिये द्वय शब्दका उल्लेख किया गया है और वह इसप्रकार है——

वाह्य कारण आत्मभूत और अनात्मभूतके भेदसे दो प्रकारका है। जिन नेत्र आदि इंद्रियोंका आत्माके साथ संबंध है और जिनके स्थानका परिमाण विशिष्ट नामकर्मके उदयसे परिमित है वे नेत्र आदि इंद्रियां आत्मभूत नामका वाह्य कारण है तथा अनात्मभूत वाह्य कारण प्रदीप आदि है। अंतरंग कारण भी आत्मभूत अनात्मभूतके भेदसे दो प्रकारका है वहांपर चिंता विचार आदिका आलंबन रूप मनोवर्गणा। वचनवर्गणा और कायवर्गणा स्वरूप अंतरंग रचना विशेष रूप जो द्रव्य योग है वह आत्मस्वरूपसे भिन्न होनेके कारण अनात्मभूत अभ्यंतर कारण है और उस द्रव्य योगसे होनेवाला वीर्यांतराय और ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मके क्षयोपशमसे जायमान जो आत्माका प्रसादस्वरूप परिणाम भाव योग है वह आत्मस्वरूप होनेके कारण आत्मभूत अभ्यंतर कारण है। वाह्य और अभ्यंतर दोनों प्रकारके कारणोंका सान्निधान उपलब्धिके कर्ता आत्माके होना ही चाहिये यह नियम नहीं किंतु यथासंभव उनकी उपलब्धि मानी है और वह इसप्रकार है।

विना दीपक आदिकी सहायताके बहुतसे जीवोंको नेत्र आदि इंद्रियोंके द्वारा घट पट आदि पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता इसलिये उनके ज्ञानमें दीपक आदि कारणोंका सन्निधान उपयुक्त है परंतु बाघ बिल्ली आदि बहुतसे जीवोंको पदार्थोंके जाननेमें दीपक आदिकी सहायता नहीं लेनी पडती इसलिये उनके ज्ञानमें दीपक आदिका सन्निधान उपयुक्त नहीं। पदार्थोंके ज्ञानमें चक्षु आदि इंद्रियोंके भी कारणपनेका नियम नहीं क्योंकि जो जीव पंचेंद्रिय है उनकी पांचों इंद्रियां पदार्थोंके ज्ञानमें कारण होती हैं। जो विकलेंद्रिय हैं उनकी चार तीन वा दो इंद्रियां कारण पडती हैं और जो एकेंद्रिय हैं उनकी एक ही स्पर्शन इंद्रिय कारण पडती है। ज्ञानकी उत्पत्तिमें मन वचन कायरूप योग भी नियमितरूपसे कारण नहीं क्योंकि जो जीव असैनी पंचेंद्रिय हैं उनके मनोयोग नहीं होता। सैनी पंचेंद्रियोंके तीनों योग कारण होते हैं। एकेंद्रिय जीव, विग्रहगतिवाले जीव, तथा समुद्धात दशाको प्राप्त भगवान सयोगकेवली एक काययोग ही कारण पडता है। तथा इसीतरह द्रव्ययोगसे जायमान भाव मन वचन कायस्वरूप भावयोग भी नियमित रूपसे ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण नहीं क्योंकि उपर्युक्त द्रव्ययोगके समान असैनी जीवोंके भाव मनोयोग कारण नहीं एकेंद्रिय आदि जीवोंके केवल भावकाययोग ही कारण है शेष भावयोग नहीं संज्ञी पंचेंद्रियोंके तीनों प्रकारके भावयोग ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण होते हैं। तथा क्षीणकषाय गुणस्थानमे पहिले पहिले क्षायोपशमरूप भाव है और उसके बाद क्षायिकभाव है। इसप्रकार बाह्य और अभ्यंतर कारणोंके यथासम्भव सन्निधान रहते जिसप्रकार सुवर्णमयी कडे बाजूबंध और कुण्डल आदि विकार सुवर्णका अनुविधान करनेवाले हैं—सुवर्णसे भिन्न नहीं उसीप्रकार जो परिणाम अनादिकालीन आत्माके चैतन्य स्वभावका अनुविधान करनेवाला अर्थात् चैतन्य स्वरूप है उसका नाम उपयोग है। शंका—

चैतन्यको सुख दुःख मोहस्वरूप माना गया है। उसके अनुविधान करनेवाले सुख दुःख क्रोध आदि ही परिणाम होंगे इसलिये यहांपर इन्हीं परिणामोंको उपयोग मानना पडेगा परंतु उपयोगके भेद आगे ज्ञान और दर्शन माने हैं इसलिये यहांपर पूर्वापर विरोध जान पडता है ? सो ठीक नहीं। चैतन्य आत्मा का एक सामान्य धर्म है। पुद्गल आदि द्रव्योंमें चैतन्यका अभाव है इसलिये वे जीव नहीं कहे जाते तथा उस चैतन्यके ज्ञान दर्शन आदि भेद हैं इसरीतिसे चैतन्य शब्द ज्ञान दर्शन आदिके समुदायका वाचक है। सुख आदि उमी समुदायके अवयव हैं इसलिये कहीं कहीं पर उन्हें भी चैतन्य कहनेमें कोई हानि नहीं क्योंकि यह नियम है कि जो शब्द समुदायरूप अर्थका वाचक है वह अवयव स्वरूप अर्थ को भी कहता है। यहांपर चैतन्य शब्द ज्ञान दर्शन आदि समुदायको कहता है वही अवयव स्वरूप सुख आदिका भी वाचक है। इसरीतिसे जब सुख आदि तथा ज्ञान दर्शन सब ही चैतन्यके भेद हैं तब सुख दुःख क्रोध आदि स्वरूप ही उपयोग पदार्थ है ज्ञान दर्शनस्वरूप नहीं, यह कहना बाधित है। उपयोगके ज्ञान और दर्शन भेद आगे कहे जांयगे। सूत्रमें जो लक्षण शब्द है उसका अर्थ वार्तिककार बतलाते हैं—

परस्पर व्यातिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणं ॥ २ ॥

बंध स्वरूप परिणामके द्वारा आपसमें एक दूसरेके अनुप्रविष्ट हो जानेसे एकम एक रहनेपर भी जिसके द्वारा भिन्नता जानी जाय वह लक्षण कहा जाता है जिसतरह बंधरूप परिणामके द्वारा सोना

१। 'व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणं' यथाग्नेरौष्ण्यं। परस्पर मिली हुई वस्तुओंमेंसे किसी एक वस्तुको भिन्न करनेमें जो कारण हो उसका नाम लक्षण है जिसप्रकार अग्नि उष्ण है यहांपर पदार्थसमूहसे अग्निको जुदा करनेवाला उष्णत्व है इसलिये वह लक्षण है।

चांदी भले ही एकम एक हो जांय तथापि उनके असाधारण धर्म—पीला सफेद स्वरूप वर्ण और प्रमाण आदि उनकी जुदाईमें कारण हैं इसलिये वे लक्षण हैं। शंका—

अलक्षणमुपयोगो गुणगुणिनोरन्यत्वमिति चेन्नोक्तत्वात् ॥ ३ ॥

जिसप्रकार उष्णता गुण है और अग्नि गुणी है उसीप्रकार ज्ञान आदि गुण और आत्मा गुणी है। गुणका लक्षण जुदा माना गया है और गुणीका लक्षण जुदा माना गया है इसलिये लक्षणके भेदसे आत्मा और ज्ञान आदि गुणोंको आपसमें भिन्न मानना चाहिये ? सो ठीक नहीं। जिसप्रकार उष्णता को अग्निका स्वभाव माने विना अग्निका निश्चय नहीं किया जा सकता उसी प्रकार यदि ज्ञान आदि गुणोंको आत्माका स्वभाव न माना जायगा—आत्मासे भिन्न माना जायगा तो आत्मापदार्थका भी निश्चय न हो सकेगा यह वात खुलासारूपसे ऊपर वता दी गयी है इसलिये आत्मा और ज्ञान आदि गुणोंका सर्वथा भेद सिद्ध नहीं हो सकता। यदि यहांपर फिर यह शंका की जाय कि—

लक्ष्यलक्षणभेदादिति चेन्नानवस्थानात् ॥ ४ ॥

गुणीको लक्ष्य माना गया है और गुणको लक्षण माना गया है। लक्ष्यसे लक्षणको भिन्न होनाही चाहिए इसलिए लक्ष्य लक्षणके भेदसे आत्मा और गुणका आपसमें भेद मानना आवश्यक है। सो ठीक नहीं। क्योंकि वहांपर यह प्रश्न उठता है कि जिस लक्षणसे लक्ष्य जाना जाता है उस लक्षणका कोई अन्य लक्षण है कि नहीं है। यदि यह कहा जायगा कि उसका कोई लक्षण नहीं है वह लक्षण—स्वरूप रहित है तो जिसप्रकार मैढककी चोटी वा गधेके सींग असंभव पदार्थ हैं इसलिए इनका अभाव है उसीप्रकार लक्षणका भी अभाव कहना पड़ेगा और जव लक्षण पदार्थ ही संसारमें न रहेगा तव किसी

लक्ष्यका भी निश्चय न हो सकेगा। यदि यह कहा जायगा कि उसका दूसरा लक्षण है तब वह भी अपने लक्ष्यसे अन्य कहना पडेगा उसका भी दूसरा लक्षण होगा वह भी अपने लक्ष्यसे अन्य कहना पडेगा इसप्रकार अप्रामाणिक अनेक पदार्थोंकी कल्पनासे अनवस्था दोष होगा। इसरीतिसे अनवस्थाके भयसे लक्ष्य लक्षणका सर्वथा भेद नहीं माना जा सकता एवं जब लक्ष्य लक्षणका सर्वथा भेद सिद्ध नहीं तब ज्ञान आदि गुण भी आत्मासे सर्वथा भिन्न सिद्ध नहीं हो सकते। और भी यह वात है कि—

आदेशवचनात् ॥ ५ ॥

लक्ष्य और लक्षणके कथंचित् अभेदसे आत्मा और ज्ञान आदि गुण एक हैं और दोनोंके नाम भेद आदि जुदे जुदे हैं इसलिए वे दोनों आपसमें भिन्न भी हैं यह अनेकांत सिद्धांतकी आज्ञा है इसलिए लक्ष्य और लक्षणके भेद रहनेसे आत्मा और ज्ञान सर्वथा भिन्न भिन्न पदार्थ हैं यह यहांपर सर्वथा एकांती दोष लागू नहीं हो सकता। यदि यहांपर यह कोई शंका करे कि—

नोपयोगलक्षणो जीवस्तदात्मकत्वात् ॥ ६ ॥ विपर्यय प्रसंगात् ॥ ७ ॥ नातस्तत्सिद्धेः ॥ ८ ॥

संसारमें यह एक सामान्य नियम प्रचलित है कि जो पदार्थ जिस स्वरूप होता है वह उसी स्वरूपसे उपयुक्त नहीं होता, किंतु अपनेसे भिन्न स्वरूपसे उपयुक्त होता है जिसप्रकार दूधका स्वरूप दूध है वह कभी अपने स्वरूपसे उपयुक्त नहीं देखा गया। आत्माको भी ज्ञान आदि गुणस्वरूप माना गया है इसलिए वह भी ज्ञान आदिसे उपयुक्त नहीं कहा जा सकता इसरीतिसे ज्ञान आदिको जो जीवका उपयोग माना गया है वह बाधित है। और भी यह वात है कि—

ज्ञानसे अभिन्न जीव ही ज्ञानस्वरूपसे उपयुक्त होता है दूध आदि अपने दूध आदि स्वरूपसे नहीं

यदि यही माना जायगा तो यह भी विपरीत और परको अनिष्ट कल्पना की जा सकती है कि दूध आदि पदार्थ ही दूध आदि पदार्थोंके साथ उपयुक्त होते हैं, जीव अपने ज्ञानस्वरूपसे उपयुक्त नहीं होता इसरीतिसे अभिन्न रहनेपर भी यदि एक जगह उपयोगकी कल्पना इष्ट और निर्दोष मानी जायगी तो दूसरी जगह अनिष्ट और सदोष भी उसकी कल्पना जवरन इष्ट और ठीक माननी होगी तथा बलवान युक्तिके अभावमें क्षीर आदिमें उपयोगकी कल्पना हो जानेसे और जीवमें उसका प्रतिषेध हो जानेसे अनिष्ट पदार्थ सिद्ध होगा। सारार्थ—यह है कि उपयोग शब्दका अर्थ संबंधित होनेका है। जो पदार्थ आपसमें सर्वथा भिन्न होते हैं उन्हींके अंदर उपयोगका व्यवहार हो सकता है सर्वथा अभिन्न पदार्थोंमें नहीं। आत्मा और ज्ञान आदि पदार्थ सर्वथा अभिन्न हैं इसलिए उनमें उपयोगका व्यवहार नहीं हो सकता ? सो ठीक नहीं। जहांपर सर्वथा भेद है वहांपर उपयोगका व्यवहार नहीं हो सकता जिसतरह आकाश रूप आदि गुणोंसे सर्वथा भिन्न है इसलिए 'आकाश रूप आदि गुणोंसे उपयुक्त है' यह व्यवहार नहीं होता किंतु जहांपर कथंचित् अभेद है वहींपर उपयोगका व्यवहार होता है। आत्मा और ज्ञानका आपसमें अभेद संबंध है इसलिए 'आत्मा ज्ञान आदिसे उपयुक्त है' यह व्यवहार निरापद है। तथा दूध दूधस्वरूप है इसलिए अपने स्वरूपसे वह उपयुक्त नहीं हो सकता' यह जो कहा गया था वह भी ठीक नहीं क्योंकि अभेद संबंध रहनेसे वहांपर भी उपयोगका व्यवहार है और वह इसप्रकार है—

गाय भैंस आदि दूधवाले जीवों द्वारा खाए गए तृण जल आदि पदार्थ दूधस्वरूप परिणत हो जाते हैं यह सर्व सम्मत बात है। वहांपर तृण जल आदि कारणोंके द्वारा जिससमय दूध अपने दूध-स्वरूप परिणामके सन्मुख होता है उसीसमयमे उसका दूध नाम पड जाता है एवं दूधस्वरूप परिणमन

होनेकी जो उसके अंदर शक्ति है वह उससे अभिन्न है उस अभिन्न शक्तिसे वह दूधस्वरूप परिणत हो जाता है इसलिये दूधका अपने ही स्वरूपसे परिणत होना जिसप्रकार यहां युक्त माना जाता है उसी प्रकार आत्मा भी अपनी ज्ञानादि स्वभावरूप शक्तिसे अभिन्न है उसी शक्तिके आधीन होकर वह घट पट आदि पदार्थोंके अवग्रहज्ञान स्वरूप परिणामसे परिणत होता है इसलिये उसका भी अवग्रहज्ञान स्वरूप परिणामसे परिणत होना ठीक है। उस अवग्रह आदिका ही नाम उपयोग है। यदि ज्ञान आदि उपयोगका परिणमन न माना जायगा तो आत्माका स्वस्वरूप न सिद्ध होनेसे उसका अभाव ही हो जायगा और आत्माके अभावमें उपयोग पदार्थ भी सिद्ध न हो सकेगा इसलिये आत्माका उपयोग लक्षण मानना अयुक्त नहीं तथा——

उभयथापि त्वद्वचना सिद्धेः ॥ ९ ॥

अनेकांतवाद समन्वित भगवान अर्हंतके सिद्धांतको न समझकर शंकाकारने जो यह कहा था कि 'जो पदार्थ जिस स्वरूप होता है उसका उसस्वरूपसे परिणाम नहीं होता' वह भी अयुक्त है क्योंकि जहांपर किसी वातका खंडन किया जाता है वहांपर अपने पक्षकी सिद्धि की जाती है और परपक्षमें दूषण दिखाये जाते हैं परंतु शंकाकार जो पदार्थ जिस स्वरूपसे है उसी स्वरूपसे तो उसका परिणाम मानता नहीं इसलिये उसके मतमें ये दोनों ही वातें असिद्ध हैं और उनकी असिद्धि इसप्रकार है——

जिसप्रकार ज्ञान गुणका 'जानपना' यह परिणाम माना जाता है उसीप्रकार जो अपना वचन स्वपक्षका साधन और परपक्षका दूषण स्वरूप है उसका भी 'अपने पक्षको सिद्धकरना' और 'दूसरेके पक्षको दूषितकरना' यह परिणाम है। जो वादी उपयोगको आत्मस्वरूप नहीं मानता उससे भिन्न

स्वीकार करता है उसके स्वपक्षका साधन और परपक्षका दूषणस्वरूप वचनका अपनेपक्षका सिद्धकरना और परपक्षको दूषितकरना रूप परिणाम नहीं हो सकता क्योंकि जो पदार्थ जिस स्वरूप होता है उसका उस स्वरूपसे परिणाम नहीं होता 'स्वपक्ष साधन और परपक्ष दूषणस्वरूप अपने वचनका स्वपक्षको सिद्ध करना और परपक्षको दूषित करना रूप परिणाम है इसलिये वह भी नहीं बन सकता परंतु जिस-प्रकार वादीको दूधका दही परिणाम इष्ट है क्योंकि वह दूधसे भिन्न है किंतु दूधका दूधस्वरूपसे परिणमन होना इष्ट नहीं क्योंकि वहांपर अभेद है उसी प्रकार वादीका जो स्वपक्षसाधन रूप वचन है उसका स्वपक्षका सिद्ध करना यह तो परिणाम होगा नहीं क्योंकि वह स्वपक्षसाधनस्वरूप वचनसे अभिन्न है किंतु परपक्षका दूषित करना यही परिणाम होगा क्योंकि वह स्वपक्षसाधनरूप वचनसे भिन्न है इसलिये 'उपयोग आत्मासे भिन्न होता है' इस स्वपक्ष सिद्धिमें जो साधक कारण कहे गये हैं वे स्वपक्षको सिद्ध करनारूप स्वस्वरूपसे परिणत न होनेके कारण ठीक नहीं। तथा इसी प्रकार वादीका जो परपक्ष दूषण रूप वचन है उसका भी 'परपक्षको दूषितकरना' यह तो परिणाम होगा नहीं क्योंकि वह परपक्षदूषण स्वरूप वचनसे अभिन्न है किंतु स्वपक्षका सिद्धकरना यहीं परिणाम होगा क्योंकि वह परपक्षदूषण स्वरूप वचनसे भिन्न है इसलिये 'उपयोग' आत्मासे अभिन्न होता है' इस परपक्षमें जो दूषण दिये गये हैं वे स्वरूपसे परिणत न होनेके कारण अयुक्त हैं। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

स्वपक्षका साधक और परपक्षका दूषक भी वचन 'अपने पक्षको सिद्ध करना और परपक्षको दूषित करना रूप अपनी पर्यायोंसे परिणत होता है ऐसा हम मानते हैं तब यह जो तुमने कहा है कि उपयोग, आत्मस्वरूप नहीं होता भिन्नही होता है । यदि उसे आत्मस्वरूप माना जायगा तो उसका उपयोग

स्वरूपसे परिणाम नहीं हो सकता इसलिये आत्माका ज्ञानादिस्वरूपसे परिणमन मानना ठीक नहीं यह कहना बाधित है किंतु स्वपक्षसाधक परपक्षदूषक स्वरूप वचनका अपने पक्षको सिद्ध करना और परपक्षको दूषितकरना रूप अभिन्न भी परिणामको जिसप्रकार वादी मानता है उसीप्रकार आत्माका भी उपयोग परिणाम मानना चाहिये । तथा—

स्वसमयविरोधात् ॥ १० ॥

'जो पदार्थ जिस रूपसे है उस रूपसे उसका परिणाम नहीं होता' यदि नास्तिक वादीको यह इष्ट है तब उसने रूप रस आदि गुणस्वरूप पृथिवी जल तेज और वायु इन चार महाभूतोंको जो माना है उनका रूप आदि स्वरूपसे परिणाम न होगा क्योंकि रूप आदि पृथिवी आदिके ही परिणाम हैं उनसे भिन्न नहीं । किंतु नास्तिक मतमें सफेद काला आदि रूप, खट्टा मीठा चरपरा आदि रसादिस्वरूप विशेष परिणाम उनका माना है इसलिये यह माननेसे कि जो पदार्थ जिस स्वरूप होता है उसका उसरूपसे परिणाम नहीं होता पृथिवी आदिका विशिष्ट रूप आदि परिणाम जो उनके शास्त्रमें स्वीकार किया है वह नहीं बनता यह उनके आगमका विरोध है । तथा यह भी बात है कि—

केनचिद्विज्ञानात्मकत्वात् ॥ ११ ॥

विज्ञानाद्वैतवादी; आत्माको सर्वथा विज्ञानस्वरूप मानता है अन्य पर्याय स्वरूप नहीं इसलिये 'जो पदार्थ जिस स्वरूपसे है उस रूपसे उसका परिणाम नहीं होता' यह सिद्धांत उसीके मतमें लागू हो सकता है क्योंकि आत्माका एक ही विज्ञान स्वरूप होनेसे यदि वह अन्य किसी पर्यायस्वरूप परिणत माना जायगा तो उसका केवल विज्ञानस्वरूप ही नष्ट हो जायगा । यदि यहां यह कहा जायगा कि

ज्ञानस्वरूप आत्मा तो आर्हत सिद्धांतमें भी माना गया है इसलिये वहांपर भी आत्माका ज्ञानस्वरूपसे परिणमन नहीं बन सकता, विज्ञानवादीके ही मतमें यह दोष क्यों दिया गया ? सो ठीक नहीं। जैन-सिद्धांतमें आत्माकी अकेली विज्ञान ही पर्याय नहीं मानी गई दर्शन सुख आदि भी पर्यायें स्वीकार की गई हैं। जिससमय विज्ञान पर्यायकी विवक्षा की जायगी उससमय आत्मा विज्ञानस्वरूप है और जिस समय उससे भिन्न किसी पर्यायकी विवक्षा की जायगी उससमय उस पर्यायस्वरूप है इसरीतिसे कथंचित् तत्स्वरूप और कथंचित् अतत्स्वरूप आत्मा पदार्थके माननेसे उसका परिणमन होना अबाधित है क्योंकि अनेक पर्यायस्वरूप आत्माको माननेपर कुछ न कुछ उसकी पर्याय सदा पलटती माननी ही होगी अन्यथा वह अनेक पर्यायस्वरूप नहीं कहा जा सकता किंतु जिनके मतमें सर्वथा एक विज्ञानस्वरूप ही आत्मा है अथवा अन्य किसी एक ही स्वरूप है उनके मतमें आत्माका परिणमन नहीं बन सकता क्योंकि दूसरे किसी पर्यायस्वरूप परिणत होनेपर उसका विज्ञान वा अन्य कोई निश्चित स्वरूप कायम नहीं रह सकता तथा इसरीतिसे जब आत्माका परिणमन ही सिद्ध नहीं हो सकता तब उसके अंदर द्रव्यका लक्षण न घटनेसे आत्मा पदार्थ ही सिद्ध नहीं हो सकता। तथा—

तदात्मकस्य तेनैव परिणामदर्शनात् क्षीरवत् ॥ १२ ॥

दूधका पतलापन मीठा सफेद आदि स्वभाव है उस स्वभावको न छोडकर जिससमय उसका गुड चीनी आदि पदार्थोंके साथ संबंध होता है उससमय उसके गुड मिश्रित दूध चीनी मिश्रित दूध आदि नाम हो जाते हैं। तथा जिससमय वह गौके थनसे निकलता है उससमय गरम और थोडी देरी वाद ठंडा हो जाता है। पुनः अग्निके संबंधसे वह गरम और गाढा हो जाता है फिर थोडी देर वाद ठंडा

हो जाता है इसरीतिसे उसका गरम दूध ठंडा दूध मीठा दूध आदि नामोंसे संसारमें व्यवहार होता है और वह अपने दूधस्वभावको न छोडकर अपने दूधस्वरूपसे ही परिणत होता रहता है। यदि वह अपने दूधस्वरूपसे न परिणमे तो गरम दूध ठंडा दूध आदि व्यवहारोंमें जो दूध नाम सुन पडता है वह न सुन पडे उसीप्रकार इस आत्माका भी ज्ञान आदि उपयोग स्वरूप है। अपने उपयोग स्वरूपको न छोडकर सदा इसका ज्ञानस्वरूपसे परिणमन होता रहता है इसरीतिसे जो पदार्थ जिस स्वरूप होता है जब उसका उसी रूपसे परिणाम होता दीख पडता है तब ज्ञान भी आत्माका स्वरूप है इसलिए ज्ञान-स्वरूपसे उसका परिणमन होना बाधित नहीं। तथा सर्वोपरि बात यह है कि—

अतश्चैतदेवं यदि हि न स्यान्निष्परिणामत्वप्रसंगोऽर्थस्वभावसंकरो वा ॥ १३ ॥

जो पदार्थ जिस रूपसे है यदि उस रूपसे उसका परिणाम न माना जायगा तो सब पदार्थ अपरिणामी ठहरेंगे। अपरिणामी कहने पर उन्हें सर्वथा नित्य माना जायगा, जो पदार्थ सर्वथा नित्य होता है उसमें क्रिया कारकका व्यवहार नहीं होता इसरीतिसे जीव जानता है देखता जीता है, पुद्गल उत्पन्न होता है इत्यादि सभी संसारका व्यवहार लुप्त हो जायगा। यदि सब पदार्थोंका स्वरूपसे परिणाम न मानकर पररूपसे परिणाम माना जायगा तो एक पदार्थ दूसरे पदार्थस्वरूप मानना होगा इसरीतिसे समस्त पदार्थोंके स्वभावोंका सांकर्य होनेसे किसी भी पदार्थका कोई भी प्रतिनियत स्वभाव न ठहरेगा। यदि यहांपर दोनों पक्ष ही स्वीकार किए जांय कि स्वस्वरूपसे भी परिणमन होता है और पररूपसे भी परिणमन होता है तो उनका स्वस्वरूपसे परिणाम होता है यह बात सिद्ध हो गई। इसरीतिसे स्वस्वरूप उपयोगरूपसे, जब आत्माका परिणाम युक्ति सिद्ध है तब उपयोग लक्षण उसका बाधित नहीं। यदि यहांपर बौद्ध यह शंका करे कि—

उपयोगलक्षणानुपपत्तिर्लक्ष्याभावात् ॥ १४ ॥

मिली हुई वस्तुओंमें किसी खास पदार्थको जुदा करनेवाला लक्षण होता है और जिसका वह लक्षण किया जाता है वह लक्ष्य माना जाता है यह बात ऊपर लिखी जा चुकी है। यह नियम है जो लक्ष्य संसारमें विद्यमान होता है उसीका लक्षण किया जाता है अविद्यमानका नहीं। जिसतरह 'दंडी देवदत्तः' यहांपर लक्ष्य देवदत्त नामका पुरुष विद्यमान है इसलिये उसका दंड लक्षण उपयुक्त है किंतु शशविषाण बांझका पुत्र आकाश पुष्प आदि पदार्थ संसारमें विद्यमान नहीं इसलिये उनका लक्षण नहीं किया जा सकता। यहांपर आत्मा लक्ष्य और उपयोग लक्षण माना गया है जब आत्मा ही पदार्थ संसारमें सिद्ध नहीं तब उसका उपयोग लक्षण सिद्ध नहीं हो सकता। आत्माका अभाव क्यों है इसकी पूर्ति नीचेकी वार्तिकसे होती है—

तदभावश्चाकारणत्वादिभिः ॥ १५ ॥ सत्यपि लक्षणत्वानुपपत्तिरनवस्थानात् ॥ १६ ॥

संसारमें जितने भी पदार्थ देखे गये हैं सब ही कारणवान देखे गये हैं। आत्मा भी पदार्थ है परंतु उसका कारण कोई भी निश्चित नहीं इसलिये जिसप्रकार मेढककी चोटीका उत्पादक कोई भी कारण न सिद्ध रहनेसे उसका अभाव है उसीप्रकार आत्मपदार्थका भी उत्पादक कोई कारण नहीं इसलिये उसका भी अभाव है। अथवा आत्मा पदार्थ हो तो भी उसका जो उपयोग लक्षण माना है वह नहीं बन सकता क्योंकि जो पदार्थ अनवस्थित है वह लक्षण नहीं कहा जाता है। उपयोगको ज्ञान दर्शनस्वरूप माना है और वह क्षणिक है इसलिये अवस्थित न रहनेके कारण वह लक्षण नहीं कहा जा सकता इस-रीतिसे 'देवदत्तका घर कौन है' ऐसे पूछनेपर उत्तर मिलता है कि जिसके नीचे काक बैठा है वही देव-

दत्तका घर है' यहांपर जिसप्रकार जबतक काक बैठा है तबतक देवदत्तका घर है और काकके उडजाने
पर देवदत्तका घर नष्ट हो जाता है उसीप्रकार क्षणविनाशीक ज्ञान और दर्शनस्वरूप आत्माके मानने
पर जबतक ज्ञान और दर्शन है तबतक आत्मा है और जब उनका नाश होगा उससमय आत्माका भी
नाश होगा क्योंकि स्वस्वरूप उपयोगके अभावमें आत्माका भी अभाव हो जाता है इसरीतिसे आत्मा
का उपयोग लक्षण नहीं बन सकता ? इसका समाधान वार्तिककार देते हैं—

आत्मनिन्हवो न युक्तः साधनदोषदर्शनात् ॥ १७ ॥ हेतुरयमसिद्धो विरुद्धोऽनैकांतिकश्च ॥ १८ ॥

'नास्त्यात्मा अकारणत्वान्मंडूकशिखंडवत्' अर्थात् आत्मा कोई पदार्थ नहीं क्योंकि उसका कोई
कारण सिद्ध नहीं जिसतरह मैढककी चोटी । इस अनुमानसे आत्माका अभाव किया जाता है परंतु
वह ठीक नहीं क्योंकि यहांपर जो 'अकारणत्वात्' यह हेतु है वह असिद्ध विरुद्ध और अनैकांतिक रूप
जो हेतुके दोष माने गये हैं उनसे दुष्ट है । और वह इसप्रकार है—

नरक देव आदि पर्यायें आत्मद्रव्यसे भिन्न नहीं, आत्मद्रव्यस्वरूप ही हैं और नरक आदि पर्यायों-
के उत्पादक कारण मिथ्यादर्शन अविरति आदि शास्त्रमें वर्णित हैं इसरीतिसे जब आत्माका उत्पादक
कारण सिद्ध है तब अकारणत्वरूप हेतु आत्मारूप पक्षमें न रहनेके कारण स्वरूपासिद्ध है । तथा जो

१—'असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः ॥ २२ ॥ अध्याय ६ । जिसकी सत्ताका पक्षमे अभाव हो वा निश्चय न हो उसे असिद्ध कहते हैं
अर्थात् जिस हेतुका स्वरूपही नहीं बन सके उसे स्वरूपासिद्ध कहते हैं और जिसकी सत्ताका पक्षमें निश्चय न हो वह संदिग्धासिद्ध
है । जिसतरह शब्द परिणामी है क्योंकि वह चाक्षुष नेत्रका विषय है यहांपर शब्दरूप पक्षमें न रहनेके कारण चाक्षुपत्व हेतु स्वरूपा-
सिद्ध है। क्योंकि शब्दका चाक्षुपस्वरूप ही नहीं बनता तथा जिसको धूमका यथार्थरूपसे ज्ञान नहीं उससे यह कहना कि यहां

वादी सभी पदार्थ सकारणक हैं यह मानकर और आत्मद्रव्यका कोई भी उत्पादक कारण न जानकर उसे नहीं मानता उसके मतमें आत्मद्रव्य तो प्रसिद्ध है नहीं पर्याय पदार्थ ही प्रसिद्ध हैं एवं एक पर्यायके आश्रय दूसरी पर्याय नहीं रहती यह नियम उसे इष्ट है तब 'अकारणपना' भी पदार्थकी पर्याय है इस-लिए उसकी आश्रय कोई भी पर्याय न होनेके कारण अकारणत्व हेतु आश्रयासिद्ध[1] है। तथा—

द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा घट पट आदि द्रव्य अकारण भी हैं और विद्यमान भी हैं। जो विद्यमान है वह सदा रहनेवाला है उसका कभी भी नाश और उत्पाद नहीं होता इसलिये उसकेलिये कारणोंकी आवश्यकता नहीं पडती किंतु जो पदार्थ अविद्यमान रहता है उसीकेलिए कारणोंकी आवश्यकता पडती है क्योंकि कार्यकी उत्पत्तिकेलिये योग्य कारणोंका रहना नियमित है तथा ऐसा कोई द्रव्य देख भी नहीं गया जो नित्य विद्यमान हो और कारणवान भी हो इसरीतिसे जब नित्य और विद्यमान पदार्थ ही नियमसे अकारणक होता है तब उपर्युक्त अनुमानमें नास्तित्वसे विरुद्ध आस्तित्वके साथ व्याप्ति होनेसे अकारणत्व विरुद्ध[2] हेत्वाभास है। तथा—

अग्नि है क्योंकि धूवां है यह संदिग्धासिद्ध है क्योंकि मूर्ख मनुष्य बटलोईमें भाप देखकर यह संदेह कर बैठता है कि यहांपर धूवां है या नहीं। इसलिए पक्षमें हेतुका निश्चय न रहनेसे मुग्धबुद्धि पुरुषकी अपेक्षा धूम हेतु यहांपर संदिग्धासिद्ध है। परीक्षामुख।

१—जैनसिद्धांतमें असिद्धहेत्वाभासके स्वरूपासिद्ध और संदिग्धासिद्ध ये दो ही भेद माने हैं परंतु परसिद्धांतमें—

आश्रयासिद्धिराद्या स्यात्स्वरूपासिद्धिरप्यथ। व्याप्यत्वासिद्धिरपरा स्यादसिद्धिरतस्त्रिधा ॥ ७६ ॥ मुक्तावली।

इस कारिकाके अनुसार आश्रयासिद्धि स्वरूपासिद्धि और व्याप्यत्वासिद्धि ये तीन भेद हैं। जिस हेतुका आश्रय सिद्ध न हो वह आश्रयासिद्ध हेत्वाभास है।

२—विपरीतनिश्चितभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् ॥ २९ ॥ अध्याय ६। जिस हेतुका अविनाभाव संबंध (व्याप्ति)

मैढककी शिखा वा आकाशपुष्प आदि पदार्थ संसारमें आसिद्ध हैं तथापि असत् प्रतीतिमें कारण होनेसे काल्पनिक सत्ता उनकी संसारके अंदर मानी गई है परंतु उनके उत्पादक कारण कोई नहीं इस-लिये वे अकारणक हैं इसरीतिसे द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा सत् पदार्थ घट पट आदि रूप पक्ष और असत् स्वरूप मैढककी शिखा आदि विपक्ष दोनोंमें रहनेके कारण अकारणत्व हेतु अनैकांतिक—व्यभि-चारी है । तथा—

साध्यसे विपरीतके साथ निश्चित हो उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं जिसतरह शब्द परिणामी नहीं है क्योंकि वह कृतक है। यहांपर कृतकत्वहेतुकी व्याप्ति अपरिणामित्वसे विपरीत परिणामित्वके साथ है क्योंकि जो कृतक होता है वह नियमसे परिणामी (अनित्य) ही हो सकता है अपरिणामी [नित्य] नहीं इसलिये साध्यसे विपरीतके साथ व्याप्ति रहनेसे यहां कृतकत्व हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है।

१—विपक्षेऽप्यविरुद्ध वृत्तिरनैकांतिकः ॥ ३० ॥ अध्याय ६ । जो हेतु पक्ष सपक्ष विपक्ष तीनोंमें रहे वह अनैकांतिक हेत्वाभास है । उसके दो भेद हैं एक निश्चितवृत्ति दूसरा शंकितवृत्ति । उनमें "निश्चितवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् घटवत् । आकाशे नित्ये-ऽप्यस्य निश्चयात् ॥ ३१ ॥ जो हेतु विपक्षमें निश्चयरूपसे रहै उसे निश्चितवृत्ति अनैकांतिक कहते हैं जिसप्रकार शब्द अनित्य है क्योंकि प्रमेय है जैसे घडा । यहांपर प्रमेयत्व हेतु निश्चित विपक्षवृत्ति अनैकांतिक है क्योंकि वह नित्य पदार्थ आकाश आदिमें निश्चित रूपसे रहता है "शंकितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात् । सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधात् । जो हेतु विपक्षमें संशयरूपसे रहे उसे शंकि-तवृत्ति अनैकांतिक कहते हैं जिसप्रकार सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि बोलनेवाला है यहांपर वक्तृत्व हेतु शंकितविपक्षवृत्ति अनैकांतिक है क्योंकि एक जगह सर्वज्ञ और वक्तृत्व रह सकते हैं आपसमें दोनोंका विरोध नहीं । प्रकृतमें आत्माके अभावका साधक अकारणत्व हेतु निश्चितविपक्षवृत्ति अनैकांतिक है पर मतमें—

आद्यः साधारणस्तु स्यादसाधारणको पर. । तथैवानुपसंहारी त्रिधानैकांतिको भवेत् ॥ २७–२८ ॥ मुक्तावली ।

साधारणानैकांतिक असाधारणानैकांतिक अनुपसंहारीअनैकांतिक ये तीन भेद अनैकांतिकहेत्वाभासके माने हैं। उपर्युक्त अकारणत्व हेतु इस मतानुसार साधारणानैकांतिक है।

'मेढककी शिखाके समान' यह जो आत्माकी नास्तित्वसिद्धिमें दृष्टांत दिया गया है उसमें साध्य-नास्तित्व और साधन—अकारणत्व, ये दोनों नहीं रहते इसलिये उपर्युक्त दृष्टांत साध्य साधनसे रहित है और वह इस प्रकार है—

अनेक प्रकारके कर्मोंके बंधके आधीन होकर नाना योनियोंमें भ्रमणकर जिससमय यह नित्य अविनाशी जीव मेढक पर्याय धारण करता है उससमय मेढक कहा जाता है फिर वही जीव अपने कर्मानुसार युवतिस्त्रीकी पर्याय जब धारण करता है उससमय युवति कहा जाता है, यहांपर मेढक और युवतिस्त्री दोनों पर्यायोंका धारण करनेवाला एक ही जीव है इसलिये एक जीवके संबंधसे वहां जो मेढक था वही यह शिखंडक (लंबी चोटीको धारण करनेवाला युवतिके शरीरका धारक जीव) है ऐसा प्रत्यभिज्ञान (सादृश्य ज्ञान होता है इसरीतिसे एक जीवके संबंधके आधीन प्रत्यभिज्ञानबलसे मंडूक-शिखंडकी सिद्धि हो जानेपर उसका अस्तित्व संसारके अंदर है । तथा पुद्गलको अनादि अनंत परि-णाम स्वरूप मानना है इसलिये युवतिके द्वारा खाया गया आहार जिससमय केशस्वरूप परिणत हो जाता है उससमय उससे युवतिकी चोटीकी उत्पत्ति होती है इसरीतिसे मंडूकशिखंडकी उत्पत्तिमें युवति द्वारा खाया गया आहार आदि कारण होनेसे वह सकारणक भी है । इसप्रकार मंडूक शिखंडका अस्तित्व और सकारणत्व सिद्ध हो जानेसे उसमें नास्तित्व और अकारणत्वरूप साध्य साधन धर्मोंका अभाव हो गया अतः आत्माके नास्तित्व सिद्ध करनेमें मंडूक शिखंड दृष्टांत नहीं हो सकता इसीप्रकार बंध्यापुत्र और शशविषाण आदिमें भी अस्तित्व और सकारणत्वकी सिद्धि होनेसे आत्माके नास्तित्व सिद्ध करनेमें वे भी दृष्टांत नहीं हो सकते । उनका अस्तित्व और सकारणत्व इसप्रकार समझ लेना चाहिये—

कर्मोंके जालमें फंसकर संसारमें भ्रमण करनेवाला यह जीव जिससमय वंध्यास्त्रीकी पर्याय धारण करता है उससमय यह वंध्या कहा जाता है। फिर अपने कर्मानुसार जिससमय यह पुत्रवतीस्त्रीकी पर्याय धारण करता है उससमय वही पुत्रवतीस्त्री कहा जाता है। यहांपर वंध्या और पुत्रवतीस्त्री दोनों पर्यायोंको धारण करनेवाला एक ही जीव है इसलिये एक ही जीवके संबंधसे जो वंध्यास्त्री थी वही यह पुत्रवती स्त्री है यह यहां प्रत्यभिज्ञान होता है। दोनों पर्यायोंमें जीव एक ही है इसलिये पुत्रवतीस्त्रीका पुत्र भी वंध्याका पुत्र कहा जा सकता है इसलिये वंध्याके पुत्रका आस्तित्व संसारके अंदर मौजूद है। तथा वह रज वीर्य आदि कारणोंसे उत्पन्न होता है इसलिये वह सकारणक भी है इसरीतिसे जब वंध्याके पुत्रका आस्तित्व और सकारणत्व सिद्ध है तब नास्तित्व और अकारणत्वरूप साध्य साधनरूप धर्मके अभावसे वह आत्माकी नास्तित्व सिद्धिमें दृष्टांत नहीं हो सकता। इसीप्रकार—

कर्मोंके जालमें फसकर अनेक योनियोंमें भ्रमण करनेपर जिससमय यह जीव शशाकी पर्याय धारण करता है उससमय शशा कहा जाता है। फिर अपने कर्मानुसार जिससमय वह गौकी पर्याय धारण करता है उससमय वही गौ कहा जाता है। यहांपर शशा और गौ दोनों पर्यायोंका धारण करनेवाला एक ही जीव है। इसलिये एक जीवके संबंधसे जो शशा था वही गौ है यह प्रत्यज्ञान यहां होता है। दोनों पर्यायोंका धारकजीव एकही है इसलिये गौके सींग भी शशाके सींग कहे जा सकते हैं इसप्रकार शशविषाणका अस्तित्व संसारके अंदर मोजूद है तथा उसकी उत्पत्ति गायके द्वारा खाये-गये आहारआदिसे होती है इसलिये वह सकारणक भी है। इसरीतिसे जब शशविषाणका आस्तित्व और सकारणत्व संसारमें सिद्ध है तब नास्तित्व और अकारणत्वरूप साध्य साधनके अभावसे आत्मा

की नास्तित्व सिद्धिमें वह दृष्टांत नहीं बन सकता। इसीतरह नरविषाण तुरंगविषाण आदि भी समझ लेने चाहिये। शंका—

मंडूक शिखंड बंध्यापुत्र शशविषाण आदिमें उपर्युक्त रीतिसे अस्तित्व और सकारणत्वकी सिद्धि होजाने पर नास्तित्व और अकारणत्वरूप साध्य साधनके अभावसे वे आत्माकी नास्तित्वसिद्धिमें दृष्टांत नहीं हो सकते यह बात मानी परंतु आकाश कुसुममें तो उसरीतिसे अस्तित्व और सकारणत्वकी व्यवस्था नहीं हो सकती इसलिए 'नास्यात्मा अकारणत्वात्' इस अनुमानमें आकाशकुसुम दृष्टांत हो सकता है सो ठीक नहीं। वनस्पति नाम कर्मके उदयसे जीव और पुद्गलके समुदायस्वरूप वृक्षकी उत्पत्ति होती है वहांपर जो पुद्गल द्रव्य पुष्पस्वरूप परिणत है वह यद्यपि वृक्षकी अपेक्षा भिन्न है तो भी वृक्षसे व्याप्त होनेसे जिसप्रकार वहां वृक्षका पुष्प यह व्यवहार होता है उसीप्रकार वह पुष्प आकाशसे

---

१ यथा—वनस्पतिनामकर्मोदयापादितविशेषस्य वृक्षस्य पुष्पमिति व्यपदिश्यते, पुष्पभावेनपरिणतपुद्गलद्रव्यस्य तादृशवृक्षापेक्षया भिन्नत्वेऽपि तेन व्याप्तत्वात्। तथा—आकाशेनापि पुष्पस्य व्याप्तत्वं समानमित्याकाशकुसुममिति व्यपदेशो युक्तः। अथ मल्लिकाकृतोपकारापेक्षया मल्लिकाकुसुममितिव्यपदिश्यते नत्वाकाशकुसुममिति कुसुमस्याकाशेनोपकाराभावात्। इति चेन्न। आकाशकृतावगाहनरूपोपकारमादायाकाशकुसुममिति व्यपदेशस्य दुर्वारत्वात्। किं च वृक्षात्प्रच्युतमपि कुसुममाकाशान्न प्रच्यवत इति नित्यमेवाकाशसंबंधो वर्तते। यदि च मल्लिकालताजन्यत्वात् मल्लिका कुसुममित्युच्यते तदाकाशस्यापि सर्वकार्येष्ववकाश प्रदत्वेन कारणत्वादाकाशकुसुममिति व्यवहारो दुर्वारः। अथाकाशापेक्षया पुष्पस्य भिन्नत्वान्नाकाशकुसुममिति व्यवहारः। इति चेत् भिन्नत्वं किं कथंचित् सर्वथा वा। आद्ये मल्लिकाकुसुममित्यपि व्यवहारो माभूत्, मल्लिकापेक्षया कथंचिद्भिन्नत्वात्पुष्पस्य। अन्त्ये त्वाकाशापेक्षया पुष्पस्य सर्वथा भिन्नत्वमसिद्धं, द्रव्यत्वादिना कथंचिदभेदस्यापि सद्भावात्। तस्मात् मल्लिकाकुसुमाकाशकुसुममित्यनयोर्न कोऽपि विशेषः। सप्तभंगी तरंगिणी पृष्ठ संख्या ५७।

सकता है इसरीतिसे आकाशके पुष्प
भी व्याप्त है इसलिए वहांपर आकाशका पुष्प यह भी व्यवहार हो सकता है इसरीतिसे आकाशके पुष्प
का अस्तित्व सिद्ध ही है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—
पुष्प पर वृक्षका उपकार है इसलिए वृक्षका पुष्प यह व्यवहार उपयुक्त है। आकाशका तो पुष्पपर
कोई उपकार नहीं इसलिए आकाशका पुष्प यह व्यवहार नहीं हो सकता? सो ठीक नहीं। सब द्रव्योंको
अवकाश दान देना आकाशद्रव्यका उपकार है। पुष्पको वह अवकाश दान देता है इसलिए अवकाश
दानस्वरूप आकाश कृत उपकारकी अपेक्षा 'आकाशका पुष्प' यह व्यवहार भी निरापद है। तथा यह
भी बात है कि प्रत्युत वृक्षकी अपेक्षा आकाशके साथ ही पुष्पका नित्य संबंध है क्योंकि वृक्षने पुष्प
जब नीचे गिर जाता है उससमय उससे संबंध छूट जाता है परंतु आकाश सर्वत्र व्यापक है इसलिए
आकाशसे कभी पुष्पके संबंधका विच्छेद नहीं होता इसलिए आकाशका पुष्प यही व्यवहार बलवान्
है। "यदि यहांपर ऊपरसे यह शंका की जाय कि पुष्प वृक्षसे जन्य है इसलिए कार्य होनेसे वृक्षका पुष्प
यही व्यवहार हो सकता है। आकाशमे वह जन्य नहीं इसलिए उसका कार्य न होनेसे आकाशका पुष्प
यह व्यवहार नहीं हो सकता? सो भी अयुक्त है। क्योंकि प्रत्येक पदार्थको अवकाश प्रदान करनेने
आकाश सब पदार्थोंका कारण है इसलिए आकाशका पुष्प यह व्यवहार मिथ्या नहीं कहा जा सकता।"
यदि यहांपर यह शंका फिर उठाई जाय कि—
आकाशसे पुष्प भिन्न पदार्थ है इसलिए 'आकाशका पुष्प' यह व्यवहार नहीं हो सकता किंतु
'वृक्षका पुष्प' यही व्यवहार ठीक है। यह कथन भी युक्त नहीं। नाम संख्या स्वलक्षण आदिकी अपेक्षा
सब जगह शब्दोंकी योजना मानी है। यदि नाम आदिके भेदसे पुष्पका आकाशसे भेद माना जायगा

तो वैसा भेद तो वृक्षसे भी पुष्पका हैं इसलिए यदि आकाशका पुष्प यह व्यवहार अयुक्त कहा जायगा तो वृक्षका पुष्प यह व्यवहार भी अयुक्त मानना पडेगा। सार यह है कि—

यदि पुष्प सर्वथा आकाशसे भिन्न होता तब तो 'आकाशका पुष्प' यह व्यवहार नहीं हो सकता था परंतु द्रव्यत्व वस्तुत्व प्रमेयत्व आदि धर्मोंसे पुष्पके साथ आकाशका साधर्म्य है इसलिए 'आकाशका पुष्प' यह व्यवहार कभी बाधित नहीं कहा जा सकता। यदि नाम आदि जन्य भेदकी अपेक्षा 'आकाश का पुष्प' इस व्यवहारमें बाधा डाली जायगी तो वह भेद तो पुष्पका वृक्षके साथ भी है इसलिए 'वृक्षका पुष्प यह व्यवहार भी बाधित मानना पडेगा। इसरूपसे जब आकाशकुसुमका अस्तित्व सिद्ध है और उसके उत्पादक कारण भी जल पवन वृक्ष आदि मौजूद हैं तब अस्तित्व और सकारणत्व दोनोंके रहते नास्तित्व और अकारणत्व रूप साध्य साधन उसमें नहीं रह सकते इसलिए आत्माके नास्तित्व सिद्ध करने पर गगनकुसुम भी दृष्टांत नहीं हो सकता। और भी यह बात है कि—

'नास्त्यात्मा अकारणत्वात् मंडूकशिखंडवत्' इस अनुमानमें जो मंडूक शिखंड दृष्टांत दिया है उसके बलसे विज्ञानाद्वैतवादीको आत्माका प्रतिषेध इष्ट है परंतु बाह्य पदार्थों के आकार परिणत जो विज्ञान है उसके विषय मंडूक शिखंड शशविषाण गगनकुसुम आदि भी हैं इसरूपसे जब विज्ञानाद्वैतवादीके मतकी ही अपेक्षा बाह्य अर्थाकार परिणतविज्ञानके विषयभूत मंडूक शिखंड आदि पदार्थोंका अस्तित्व सिद्ध है और कारण भी उनके निश्चित हैं तब उपर्युक्त अनुमानमें कहे गये नास्तित्व और अकारणत्वरूप साध्य साधनरूप धर्मोंका मंडूकशिखंड आदिमें अभाव रहनेसे वे आत्माकी नास्तिता सिद्ध करनेमें दृष्टांत नहीं हो सकते। इसरीतिसे विज्ञानाद्वैतवादीके मतानुसार ही जब मंडूकशिखंड

आदिका दृष्टांतपना सदोष है तब आत्माका अभाव नहीं कहा जा सकता अतः 'नास्त्यात्मा अकारणत्वात् मंडूकशिखडवत्' यह अनुमान नहीं अनुमानाभास है। शंका—

उक्त अनुमान दुष्ट होनेसे न आत्माकी नास्तिताका साधक हो परंतु 'नास्त्यात्मा अप्रत्यक्षत्वात् शशशृंगवत' अर्थात् आत्मा कोई पदार्थ नहीं क्योंकि वह प्रत्यक्षके अगोचर है जिसप्रकार शशाके सींग' यह अनुमान दुष्ट नहीं इसलिये यह आत्माकी नास्तिता सिद्ध करनेमें समर्थ है ? सो भी ठीक नहीं। यहांपर जो 'अप्रत्यक्षत्वात्' यह हेतु है वह भी असिद्ध विरुद्ध और अनैकांतिकरूप हेतुके दोषोंसे दुष्ट है और वह इसप्रकार है—

पांचों ज्ञानोंमें केवलज्ञान समस्त द्रव्य और पर्यायोंको विषय करनेवाला माना है। वह शुद्ध आत्माको विषय करता है इसलिये केवलज्ञानकी अपेक्षा शुद्ध आत्माका प्रत्यक्ष है। तथा कर्म नोकर्मोंके बंधके पराधीन संसारी आत्माका ज्ञान अवधि और मनःपर्यय ज्ञानके द्वारा भी होता है इसलिये इन दो ज्ञानोंकी अपेक्षा संसारी आत्मा भी प्रत्यक्ष है। इसरीतिसे जब केवलज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इन तीन ज्ञानोंके प्रत्यक्ष आत्मा है तब उपर्युक्त अनुमानमें अप्रत्यक्षत्व हेतु आत्मारूप पक्षमें न रहनेके कारण असिद्ध है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि 'अप्रत्यक्षत्वात्' इस हेतुमें जो प्रत्यक्ष शब्द है उसका अर्थ इंद्रियजन्य प्रत्यक्ष है, केवलज्ञानादिजन्य प्रत्यक्ष नहीं। तथा इंद्रियोंसे आत्माका प्रत्यक्ष होता नहीं इसलिये अप्रत्यक्षत्वरूप हेतु आत्मामें रहनेके कारण असिद्ध नहीं हो सकता ? सो ठीक नहीं। इंद्रियजन्य ज्ञानको परोक्ष माना गया है प्रत्यक्ष नहीं और वह इसप्रकार है—

'अप्रत्यक्षा घटादयोऽग्राहकनिमित्तग्राह्यत्वात् धूमाद्यनुमिताग्निवत्' घट पट आदि पदार्थ प्रत्यक्ष-

ज्ञानके विषय नहीं क्योंकि अग्राहक जो इंद्रियांरूप कारण उनसे घटपट आदिका ग्रहण होता है जिस तरह धूम आदिसे अनुमित अग्नि। अर्थात् जिसतरह धूम आदिसे अनुमित अग्नि परोक्ष है उसीप्रकार इंद्रियोंसे ग्रहण किये गये घट पट आदि भी परोक्ष हैं। यदि यहांपर यह कहा जाय कि 'अग्राहकनिमित्त ग्राह्यत्वात्' इस हेतुमें अग्राहकपना इंद्रियोंका आसिद्ध है एवं उसकी आसिद्धता होनेसे वह असद्धेतु होनेके कारण उससे घट पट आदिकी अप्रत्यक्षसिद्धि वाधित है? सो ठीक नहीं। क्योंकि 'अग्राहकाणींद्रियं तद्विगमेऽपि गृहीतस्मरणाद्गवाक्षवत्' इंद्रियां अग्राहक हैं क्योंकि उनके नष्ट हो जानेपर भी जिस पदार्थका ग्रहण हो चुका है उसका स्मरण होता है जिसतरह गवाक्षका। अर्थात् नेत्र आदि इंद्रियोंके नष्ट होजाने पर भी पहिले देखे हुए गवाक्ष आदिका स्मरण होता है यदि इंद्रियां ही घट पट आदिकी ग्राहक होतीं तो स्मरणके द्वारा पहिले देखे हुए घट पट आदिका ग्रहण नहीं होता किंतु इंद्रियोंके साथ ही वह स्मरण नष्ट हो जाता परंतु नष्ट नहीं होता इसलिये इंद्रियोंको ग्राहक न मानकर आत्माको ही ग्राहक मानना पडेगा इसरीतिसे जब यह बात सिद्ध हो चुकी कि इंद्रियोंके अग्राहक होनेसे उनसे जायमान ज्ञानप्रत्यक्ष नहीं, परोक्ष है जब अप्रत्यक्षत्वरूप हेतुकी आत्मामें सत्ता सिद्ध न होनेसे जो ऊपर आसिद्ध दोष दिया गया था उसका परिहार नहीं हो सकता एवं आसिद्ध दोषसे दूषित हेतु साध्यकी सिद्धिमें समर्थ नहीं माना जाता इसलिये अप्रत्यक्षत्व हेतुसे आत्माका नास्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। तथा—

'न प्रत्यक्ष इति अप्रत्यक्षः' इसप्रकार यहां नञ् समास है। पर्युदास और प्रसज्यके भेदसे वह नञ् समास दो प्रकारकी मानी गई है। उनमें अपने सदृशका ग्रहण करनेवाला पर्युदास नञ् है

१ द्वौ नञौ च समाख्यातौ पर्युदास प्रसज्यकौ। पर्युदासः सदृग्ग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत् ॥ १ ॥

और सर्वथा निषेधरूप अर्थ प्रसज्यका है। 'अप्रत्यक्ष यहांपर प्रत्यक्षादन्यः' अप्रत्यक्ष अर्थात् प्रत्यक्षभिन्न प्रत्यक्ष सदृश यह पर्युदास अर्थ है कि 'प्रत्यक्षो न भवति इत्यप्रत्यक्षः' अर्थात् सर्वथा प्रत्यक्ष है ही नहीं, यह प्रसज्य प्रतिषेधरूप अर्थ है। यदि 'प्रत्यक्षादन्यः, अप्रत्यक्षः' यह पर्युदास प्रतिषेध माना जायगा तो अन्यत्व दो पदार्थोंके अंदर रहनेवाला धर्म है अर्थात् जहांपर दो पदार्थ रहते हैं वहींपर 'यह इससे अन्य है' ऐसा व्यवहार होता है और उससे प्रत्यक्षसे भिन्न दूसरी वस्तु (आत्मा) का अस्तित्व जाना जाता है इसरीतिसे 'अप्रत्यक्षत्व' हेतु यहां अस्तित्वका ही साधक होनेसे जब उसकी व्याप्ति साध्यरूप नास्तित्वसे विपरीत आस्तित्वके साथ है तब वह विरुद्धहेत्वाभास रहनेके कारण आत्माकी नास्तिता सिद्ध नहीं कर सकता। यदि प्रसज्य प्रतिषेध माना जायगा तो जिस पदार्थका निषेध किया जाता है उस पदार्थके रहते ही उसका निषेध हो सकता है सर्वथा असत् पदार्थका निषेध नहीं हो सकता। जब आत्माके प्रत्यक्षका निषेध किया जायगा तब उसका किसी न किसी रूपसे प्रत्यक्ष भी मानना पडेगा। इस रूपसे प्रतिषेध्य पदार्थके रहनेपर ही उसका निषेध हो सकता है इस नियमके अनुसार जब आत्मा अस्तिका विषय है तब कथंचित् उसके प्रत्यक्ष रहनेपर अप्रत्यक्षत्व हेतु उसमें नहीं रह सकता इसलिये इस प्रसज्य प्रतिषेधमें भी वह फिर असिद्धहेत्वाभास है। तथा—

जो हेतु विपक्षमें भी रहता है वह अनैकांतिक हेत्वाभास माना जाता है। अप्रत्यक्षत्व हेतु असत् स्वरूप शशशृंग आदि विपक्षमें भी विद्यमान है क्योंकि उनका प्रत्यक्ष न होनेसे उन्हें अप्रत्यक्ष माना गया है

अर्थात्—पर्युदास और प्रसज्यके भेदसे नञ् समास दो प्रकारका है जहांपर अपने समान वस्तुका ग्रहण होता है वहां पर्युदास नय मानी जाती है और जहांपर सर्वथा प्रतिषेध अर्थ होता है वहां प्रसज्य नय मानी जाती है।

ज्ञानके विषय नहीं क्योंकि अग्राहक जो इंद्रियांरूप कारण उनसे घटपट आदिका ग्रहण होता है जिस
[illegible] परोक्ष है उसीप्रकार
[illegible] विज्ञान आदिमें भी वह विद्यमान है क्योंकि वादी विज्ञान आदिको अप्रत्यक्ष मानता है
[illegible] सत्स्वरूप विज्ञानादि पक्ष और असत्स्वरूप शशविषाण आदि [illegible] रहनेके कारण अप्रत्यक्षत्व हेतु अनेकांतिकहेत्वाभास है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

विज्ञान आदिका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है और योगियोंका प्रत्यक्ष भी [illegible] लिये विज्ञान आदिके रहनेपर अप्रत्यक्षत्व हेतुका वहांपर अभाव है। तब आत्मा[illegible] क्या आपत्ति है। क्योंकि आत्मा भी 'अहं अहं' इस स्वसंवेदन प्रत्यक्षके गोचर है और [illegible] आदिके ज्ञान का विषय है। इसरीतिसे जब अप्रत्यक्षत्व हेतु असिद्ध विरुद्ध और अनेकांतिकरूप दोषों से दुष्ट है तब उससे आत्माका नास्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। तथा—

उपर्युक्त अनुमानमें शशशृंग दृष्टांत दिया गया है उसमें पूर्वोक्त रीतिसे प्रत्यक्षत्व और अस्तित्व ही सिद्ध है इसलिये नास्तित्व और अप्रत्यक्षत्वरूप साध्यसाधनरूप धर्मोंके अभावसे वह आत्माकी नास्तित्व सिद्धिमें कारण नहीं बन सकता इसलिये उसके बलसे आत्माकी नास्तिताकी सिद्धि बाधित है। और भी यह बात है कि—

संसारमें जितने भी वाक्यार्थ हैं सब ही विधि और प्रतिषेध स्वरूप हैं। ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो सर्वथा निषेधका ही विषय हो किंतु जो भी पदार्थ होगा वह विधि और निषेध दोनों स्वरूप ही होगा। जिसतरह 'कुरवका अरक्तश्वेताः' कुरवक जातिके वृक्ष रक्तवर्ण और श्वेतवर्णसे रहित हैं। यहां पर रक्तवर्ण और श्वेतवर्णका निषेध किया गया है इसलिये वे रक्त ही हैं वा श्वेत ही हैं, यह भी नहीं कहा जा सकता। साथमें वे अवर्ण हैं—उनमें कोई वर्ण नहीं यह भी नहीं कहा जा सकता इसरीतिसे

जिसप्रकार रक्त और श्वेत वर्णोंकी अपेक्षा कुरवक जातिके वृक्षोंकी नास्ति रहते भी वर्ण सामान्यकी अपेक्षा उनकी नास्ति नहीं है, अर्थात् रक्त और श्वेत वर्णोंसे भिन्न वर्ण वाले कुरवक जातिके वृक्ष हैं। उसीप्रकार वस्तु परस्वरूपसे नहीं है ऐसा निषेध रहनेपर भी वह स्वस्वरूपसे भी नहीं है यह बात असिद्ध है किंतु स्वस्वरूपसे उसका होना ही निश्चित है। कहा भी है—

अस्तित्वमुपलब्धिश्च कथंचिदसतः स्मृतेः। नास्तितानुपलब्धिश्च कथंचित्सत एव ते ॥ १ ॥
सर्वथैव सतो नेमौ धर्मौ सर्वात्मदोषतः। सर्वथैवासतो नेमौ वाचां गोचरतात्ययात् ॥ २ ॥

कथंचित् असत् पदार्थका भी स्मरण होता है इसलिये अस्तित्व और उपलब्धि धर्म कथंचित् असत् पदार्थके माने हैं। कथंचित् सत् पदार्थकी ही नास्ति और अनुपलब्धि होती है असत्की नहीं इसलिये नास्तिता और अनुपलब्धि कथंचित् सत् पदार्थकी ही मानी है। अस्तित्व और उपलब्धि जो ये दो धर्म सत् पदार्थके माने हैं वे कथंचित् रूपसे माने गये हैं सर्वथा रूपसे नहीं क्योंकि यदि सर्वथा रूपसे उन्हें माना जायगा तो सर्वात्म दोष होगा अर्थात् सत्पदार्थका कभी विनाश और उत्पत्ति न होगी और न कभी उसका अप्रत्यक्ष होगा किंतु उसे हमेशा विद्यमान और प्रत्यक्ष ही मानना पडेगा जो कि बाधित है। तथा कथंचित् असत् पदार्थके जो नास्तित्व और अनुपलब्धि धर्म माने हैं वे भी कथंचित् रूपसे ही हैं सर्वथा रूपसे नहीं क्योंकि यदि उन्हें सर्वथा रूपसे मान लिया जायगा तो असत् पदार्थ भी वचनका बिषय होता है इसलिये वचनविषयत्वेन उसका अस्तित्व और उपलब्धि मानी है परंतु अब सर्वथा रूपसे जब उसकी नास्तिता और अनुपलब्धि (अप्रत्यक्ष) माना जायगा तो असत् पदार्थ वचनका विषय नहीं हो सकेगा। इसरीतिसे 'नास्त्यात्मा अप्रत्यक्षत्वात्' इस अनुमानमें आत्मामें जो

नास्तित्व और अप्रत्यक्षत्व बताया गया है वह कथंचित् रूपसे ही है सर्वथारूपसे नहीं इसलिये कथंचित् रूपसे आत्माका आस्तित्व और प्रत्यक्षत्व सिद्ध होनेसे उपर्युक्त अनुमान अनुमानाभास ही है। तथा—

जिसतरह अस्तित्व और प्रत्यक्षत्वके विना वस्तु अवस्तु मानी जाती है उसीप्रकार नास्तित्व और अप्रत्यक्षत्वके विना भी वह अवस्तु है। क्योंकि जिसप्रकार अस्तित्व और प्रत्यक्षत्व वस्तुके धर्म हैं उस-प्रकार नास्तित्व और अप्रत्यक्षत्व भी वस्तुके ही धर्म हैं इसलिये नास्तित्व और अप्रत्यक्षत्व इन दो धर्मों के विना माने भी धर्मी वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती किंतु आस्तित्व और प्रत्यक्षत्वके समान प्रत्येक वस्तुमें नास्तित्व और अप्रत्यक्षत्व धर्म भी मानने पडेंगे इसरीतिसे उपर्युक्त अनुमानके पक्षस्वरूप आत्मा-में नास्तित्व और अप्रत्यक्षत्वके विना माने भी उसकी सिद्धि नहीं हो सकती इसलिये आत्माको कथं-चित् अस्तित्वस्वरूप कथंचित नास्तित्वस्वरूप कथंचित् प्रत्यक्षत्वस्वरूप कथंचित् अप्रत्यक्षत्वस्वरूप ही मानना ठीक है इसरीतिसे आत्माका सर्वथा नास्तित्व और अप्रत्यक्षत्व नहीं वन सकनेसे उसकी सर्वथा नास्ति नहीं मानी जाती। इसीप्रकार एकांतवादियोंके अकारणत्व और अप्रत्यक्षत्वके समान और भी अनेक हेतु आत्माकी अस्तित्व सिद्धिमें मान रक्खे हैं उन्हें भी इन्हीं हेतुओंके समान सदोष समझ लेना चाहिये। क्योंकि आत्माका अभाव कोई भी हेतु सिद्ध नहीं कर सकता। आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि इसप्रकार है—

ग्रहणविज्ञानासंभविफलदर्शनाद्ग्रहीतृसिद्धिः ॥ १९ ॥

ग्रहण—इंद्रियां और ज्ञानमें नहीं होनेवाला फल (कार्य) दीख पडता है उस फलका कारण सिवाय

आत्माके और कोई पदार्थ नहीं हो सकता इसलिये उस फलसे आत्माका अस्तित्व अबाधित है। वार्तिकमें जो ग्रहण शब्द है उसका अर्थ—जिनकी उत्पत्ति पूर्वकालमें संचय किये गये कर्मोंके आधीन है। भिन्न भिन्न स्वभावोंकी सामर्थ्यके अनुसार जिनका भेद है और जो क्रमसे रूप रस गंध स्पर्श और शब्दको ग्रहण करनेवाली हैं ऐसी चक्षु रसना घ्राण स्पर्शन और श्रोत्र ये पांच इंद्रियां हैं। इन इंद्रियोंके संबंधसे जायमान ज्ञानका नाम विज्ञान है तथा आत्माके स्वभावस्थानोंका जानना और विषयोंका ग्रहण करना यह यहां असंभवि फल लिया गया है। यह असंभवि फल चैतन्यस्वरूप है इसका कारण चेतन और नित्य पदार्थ ही हो सकता है अचेतन और क्षणिक पदार्थ नहीं। इंद्रियां अचेतन और क्षणिक पदार्थ मानी गई हैं इसलिये वे उस फलकी कारण नहीं हो सकतीं। विज्ञान भी उस फलका कारण नहीं हो सकता क्योंकि उसको एक ही पदार्थका ग्रहण करनेवाला माना है तथा उत्पत्तिके वाद ही नष्ट हो जानेके कारण वह क्षणिक भी है। तथा वह फल विना ही किसी कारणके अकस्मात् उत्पन्न हो यह भी नहीं। इसलिये आत्माके स्वभावस्थानोंके ज्ञान और विषयोंकी प्रतिपत्तिमें कारण इंद्रिय और ज्ञानसे भिन्न कोई पदार्थ है, वस वही आत्मा है। इस रूपसे आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि निर्बाध है। और भी यह बात है कि—

अस्मदात्मास्तित्वप्रत्ययस्य सर्वविकल्पेष्विष्टसिद्धेः ॥ २० ॥

'आत्मा है' यह जो हमारी प्रतीति है वह चाहे संशयस्वरूप हो चाहे अनध्यवसायस्वरूप हो चाहे विपर्ययस्वरूप हो वा सम्यक्स्वरूप हो किसी भी विकल्पस्वरूप हो सब विकल्पोंमें हमारे इष्ट आत्माकी सिद्धि निर्बाध है और वह इसप्रकार है—

'आत्मा है' यह प्रतीति संशयस्वरूप नहीं कही जा सकती क्योंकि आत्माके अस्तित्वका सबको निश्चय है इसलिये वह निर्णयस्वरूप ही है। यदि कदाचित् उसे संशयरूप मान भी लिया जाय तो विना किसी वस्तुको आलंबन किये संशयज्ञान नहीं हो सकता यह नियम है। जब उक्त प्रतीतिको संशयात्मक माना जायगा तब आत्माको आलम्बन मानना ही होगा इसरीतिसे उक्त प्रतीतिके संशयात्मक होनेपर भी आत्माकी अस्तित्व सिद्धि निरापद है। तथा उक्त प्रतीति अनध्यवसाय स्वरूप नहीं मानी जा सकती क्योंकि जिसप्रकार जात्यंध पुरुषको रूपका अनध्यवसाय होता है और बधिरको शब्दका अनध्यवसाय होता है उसप्रकार आत्माका किसीको अनध्यवसाय नहीं होता किंतु 'आत्मा है' यह अनादिकालीन निश्चय अवाधित है। यदि 'आत्मा है' इस प्रतीतिको विपरीत माना जायगा तो 'पुरुषमें यह स्थाणु है' ऐसी विपरीत प्रतीतिमें स्थाणु पदार्थ जिसप्रकार संसारमें प्रसिद्ध है इसीलिये उसका पुरुषमें आरोप किया जाता है अन्यथा असिद्ध होनेसे उसका आरोप नहीं हो सकता था उसीप्रकार किसी पदार्थमें 'यह आत्मा है' ऐसी विपरीत प्रतीतिमें भी आत्मा पदार्थको सिद्ध मानना पडेगा क्योंकि अन्यत्र सिद्ध ही पदार्थका किसीमें आरोप हो सकता है असिद्धका नहीं इसरीतिसे 'आत्मा है' इस प्रतीतिको विपरीत प्रतीति माननेपर भी आत्माकी सिद्धि निर्बाध है। यदि उस प्रतीतिको सम्यक्प्रतीति माना जायगा तो 'आत्मा है' यह सिद्धांत अविवाद है इसरीतिसे 'आत्मा है' इस प्रतीतिको संशय आदि विकल्प-

१—किंच—अस्मदादेरात्मास्तीति समत्ययः संशयो विपर्ययो यथार्थनिश्चयो वा स्यात्? संशयश्चेति सिद्धः प्रागात्मा अन्यथा तत्संशयायोगात्। कदाचिदप्रसिद्धस्थाणुपुरुषस्य प्रतिपत्तुस्तत्संशयायोगात्। विपर्ययश्चेत्तथाप्यात्मसिद्धिः कदाचिदात्मनि विपर्ययस्य तन्निर्णयपूर्वकत्वात्। ततो यथार्थनिर्णय एवायमात्मसिद्धिः। श्लोकवार्तिक पृष्ठ संख्या ३२१।

स्वरूप मानने पर भी किसीप्रकार आत्माकी नास्ति नहीं कही जा सकती तब 'आत्मा तत्त्व है' यह हमारा पक्ष निश्शंक रूपसे सिद्ध है। यदि यहांपर विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध शंका करै कि—

संतानादिति चेन्न तस्य संवृतिसत्त्वाद् द्रव्यसत्त्वे वा संज्ञाभेद मात्रं ॥ २१ ॥

संतान नामका एक पदार्थ है। उसे एक और अनेकक्षणपर्यंत ठहरनेवाला माना है वही इंद्रिय तज्जनित ज्ञान आत्म स्वभावके स्थानोंका ज्ञान और घट पट आदि वा रूप रस आदिकी प्रतिपत्तिका आधार मान लिया जायगा आत्मा पदार्थके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं? सो ठीक नहीं। जो पदार्थ वास्तविक न होकर कल्पित होता है उससे विशेषकी प्रतीति नहीं होती। संतान पदार्थको वास्तविक न मान विज्ञानाद्वैतवादियोंने कल्पितमाना है इसलिये वह आत्मस्वभावोंके स्थानज्ञान आदि विशेष प्रतीतियोंका आधार नहीं हो सकता। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

हम संतानको कल्पित पदार्थ न मानकर वास्तविक और द्रव्यस्वरूप पदार्थ मानेंगे। ऐसा माननेसे वह विशेष प्रतीतियोंका आश्रय बन सकता है कोई दोष नहीं? इसका उत्तर यह है कि जब उसे वास्तविक और द्रव्यस्वरूप ही मान लिया तब संतान कहो तो और आत्मा कहो तो नाममात्रका ही भेद हुआ अर्थमें कोई भेद नहीं हुआ इसलिये फिर उसे आत्मा ही कहना ठीक है। इसरीतिसे आत्माकी सिद्धि निराबाध है। इसप्रकार विज्ञानाद्वैतवादीने अकारण और अप्रत्यक्षत्व हेतुओंके बलपर जो आत्माका नास्तित्व सिद्ध करना चाहा था दोनों हेतुओंको सदोष बताकर उसका अच्छीतरह खंडन कर दिया गया तथा आत्माका अस्तित्व भी खुलासा रूपसे सिद्ध कर दिया गया। अब ऊपर जो यह कहा गया था कि 'आत्माके रहते भी उपयोग उसका लक्षण नहीं हो सकता है क्योंकि वह 'अनवस्थान क्षणिक है उसपर कुछ विचार किया जाता है—

उपयोग पदार्थ अनवस्थित है क्षण भरमें विनष्ट हो जानेवाला है इसलिये वह आत्माका लक्षण नहीं हो सकता यह कहना ठीक नहीं क्योंकि उपयोग पदार्थका न तो सर्वथा नाश हो सकता है और न अवस्थान ही हो सकता है किंतु पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा विद्यमान रहनेपर भी उसकी उपलब्धि नहीं होती इसलिये उसका कथंचित् विनाश माना है और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सदा उसका सद्भाव रहता है इसलिये कथंचित् उसका अवस्थान माना है इसरूपसे जब उपयोगका कथंचित् अवस्थान सिद्ध है तब उसे आत्माका लक्षण माननेमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं हो सकती। तथा—

तदुपरमाभावाच्च ॥ २२ ॥ सर्वथाविनाशे पुनरनुस्मरणाभावः ॥ २३ ॥

उपयोगको ज्ञानदर्शन स्वरूप माना है। यह नियम है प्रतिक्षण कोई ज्ञान पर्याय उत्पन्न होती है और कोई नष्ट होती है। उपयोगकी परंपराका कभी भी नाश नहीं होता इसलिये आत्माका उपयोग लक्षण बाधित नहीं कहा जासकता।

यदि उपयोग पदार्थका सर्वथा नाश माना जायगा तो जिस पदार्थका पहिले प्रत्यक्ष हो चुका है उसका स्मरण होता है अब वह नहीं हो सकेगा क्योंकि स्मरण भी उपयोग स्वरूप ही है तथा यह नियम है कि जो पदार्थ पहिले प्रत्यक्षका विषय हो चुका है उसीका स्मरण होता है किंतु जिस पदार्थका पहिले प्रत्यक्ष नहीं हुआ है अथवा किसी अन्य आत्माने प्रत्यक्ष किया है उसका स्मरण नहीं होता तथा जब स्मरणका ही नाश हो जायगा तब जितना भी लोकका व्यवहार है वह समस्त स्मरण ज्ञानके आधीन है, स्मरणके नाशके साथ फिर उसका भी नाश हो जायगा परंतु वैसा होता नहीं इसलिये उपयोगका सर्वथा नाश नहीं माना जा सकता किंतु कथंचित् उसका अवस्थान है इसरीतिसे उसे आत्माका लक्षण माननेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

उपयोगसंबंधो लक्षणमिति चेन्नान्यत्वे संबंधाभावात् ॥ २४ ॥

जिसतरह दंड देवदत्तसे जुदा है इसलिये उसे लक्षण न मान, उसके संयोगको लक्षण माना गया है। यदि दंडको ही लक्षण माना जायगा तो जिसकालमें दंड देवदत्तसे जुदा पडा हुआ है उससमय भी वह लक्षण मानना पडेगा जो कि बाधित है। उसीप्रकार उपयोग भी आत्मासे भिन्न पदार्थ है इसलिये उसे लक्षण न मानकर उसके संबंधको लक्षण मानना चाहिये इसरीतिसे क्रियावान गुणवान और समवायिकारण हो वह द्रव्य है यह द्रव्यका लक्षण कहा गया है वह ठीक है क्योंकि संयोगस्वरूप गुणवान होनेसे आत्मामें द्रव्यका लक्षण निर्बाध है ? सो ठीक नहीं। यदि उपयोगरूप गुणको द्रव्यसे भिन्न माना जायगा तो बिना किसी संबंधके 'उपयोग आत्माका गुण है' यह नहीं कहा जा सकता। संबंध कोई सिद्ध है नहीं यह बात ऊपर अच्छीतरह कही जा चुकी है इसलिये उपयोगको आत्मभूत मानकर ही उसे लक्षण मानना निर्दोष है। भिन्न होकर वह आत्माका लक्षण नहीं कहा जा सकता ॥ ८ ॥

'उपयोगो लक्षणं' इससूत्रमें जो उपयोग पदार्थका उल्लेख किया गया है सूत्रकार उसके भेद बतलाते हैं—

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥

अर्थ—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगके भेदसे वह उपयोग दो प्रकारका है। उनमें मति श्रुत अवधि मनःपर्यय केवल कुमति कुश्रुत और कुअवधिके भेदसे ज्ञानोपयोग आठ प्रकारका है एवं चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन अवधिदर्शन केवलदर्शनके भेदसे दर्शनोपयोग चार प्रकारका है। उपयोग दो प्रकारका किसरूपसे है ? इस बातको वार्तिककार बतलाते हैं—

साकारानाकारभेदाद्विविधः ॥ १ ॥

साकार और अनाकारके भेदसे वह उपयोग दो प्रकारका है । जिस उपयोगमें कुछ आकार-भेद, विषय हो वह साकार उपयोग है और उसका अर्थ ज्ञान है एवं जिसमें कोई भी आकार विषय न हो वह अनाकार उपयोग है और उसका अर्थ दर्शन है ।

अभ्यर्हितत्वाज्ज्ञानग्रहणमादौ ॥ २ ॥ संख्याविशेषनिर्देशात्तन्निश्चयः ॥ ३ ॥

यद्यपि दर्शन ज्ञानसे पूर्वकालमें होनेवाला है इसलिए स द्विविधोऽष्टेत्यादि सूत्रमें दर्शनका पहिले प्रयोग होना न्यायप्राप्त है तथापि ज्ञान पदार्थोंका निश्चायक है और दर्शनका अर्थ केवल देखना है इस रीतिसे दर्शनकी अपेक्षा ज्ञान पूज्य होनेसे उसीका पहिले प्रयोग किया गया है जिसमें थोडे स्वर होते हैं और जो पूज्य होता है उसीका पहिले प्रयोग होता है यह व्याकरणका सिद्धांत है । दर्शनकी अपेक्षा ज्ञानमें थोडे स्वर हैं और उपर्युक्त रीतिसे पूज्य भी है इसलिए उसीका पहिले प्रयोग उपयुक्त है । यदि यहांपर यह कहा जाय कि ज्ञान और दर्शनका सूत्रमें तो उलेख है नहीं फिर "ज्ञानका पहिले ग्रहण करना चाहिए" यह कैसे कहा जा सकता है । सो ठीक नहीं । सूत्रमें अष्टभेद और चतुर्भेद यह संख्याविशेषका उलेख किया गया है वहांपर अष्टसंख्याका पहिले उलेख है और ज्ञानदर्शनमें आठ भेद ज्ञानके ही माने हैं इसलिए सूत्रमें ज्ञानका आदिमें ग्रहण निर्बाध सिद्ध है शंका—

'संख्याया अल्पीयस्याः' जो शब्द अल्प संख्याका वाचक होता है उसका प्रयोग पहिले होता है यह व्याकरणका नियम है । जिसतरह 'चतुर्दश' यहांपर दशकी अपेक्षा चार संख्या अल्प है इसलिए चतुरशब्दका पहिले प्रयोग किया गया है । आठ और चारमें भी चार संख्या अल्प है इसलिए वहांपर

चतुरशब्दका ही पहिले प्रयोग करना ठीक है इसरीतिसे 'अष्टचतुर्भेदः' इसकी जगह पर 'चतुरष्टभेदः'
ऐसा पाठ पढना चाहिए? सो ठीक नहीं। जो पूज्य होता है उसका पहिले निपात होता है यह बात
ऊपर कह दी जा चुकी है। दर्शनकी अपेक्षा ज्ञान पूज्य है और सूत्रमें अष्टशब्दसे उसीका संबंध है इस-
लिए कोई दोष नहीं।

मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान केवलज्ञान कुमतिज्ञान कुश्रुतज्ञान कुअवधिज्ञान ये
आठ भेद ज्ञानोपयोगके हैं। तथा चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन अवधिदर्शन और केवलदर्शन ये चार भेद दर्श-
नोपयोगके हैं। मतिज्ञान आदिके लक्षणोंका पहिले विस्तारसे वर्णन कर दिया गया है। तथा 'अवग्रह
ज्ञानसे दर्शनपदार्थ भिन्न नहीं' इस शंकाका खंडनकर उसकी भिन्नता अच्छी तरह ऊपर सिद्ध कर दी
गई। जो पुरुष छद्मस्थ-अल्पज्ञानी हैं उनके पहिले दर्शन पीछे ज्ञान इसप्रकार ज्ञान और दर्शनका होना
क्रमसे माना गया है और भगवान केवलीके उन दोनोंका एक साथ होना स्वीकार किया गया है॥१॥

आत्माके परिणामस्वरूप और समस्त आत्माओंमें सामान्यरूपसे रहनेवाले उपयोगगुणसे युक्त उप-
योगी जीवोंके दो भेद हैं, इस बातको सूत्रकार बतलाते हैं—

१—दंसणपुव्व णाणं छदमत्थाणं ण दोणिण उवओगा। जुगवं जह्मा केवलि णाहे जुगवं तु ते दोवि॥ ४४॥
छद्मस्थ जीवोंके दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है क्योंकि छद्मस्थोंके ज्ञान और दर्शन ये दोनों उपयोग एक समयमें नहीं होते तथा
जो केवली भगवान हैं उनके ज्ञान तथा दर्शन ये दोनों ही उपयोग एक समयमें होते हैं। इसका भी कारण यह है कि जो ज्ञान मन
पूर्वक होता है वह क्रमसे ही होता है। अतींद्रिय ज्ञान युगपत् होता है। इसलिये संसारी जीवोंका ज्ञान क्रमसे होता है। केवलीके
युगपत् होता है। द्रव्यसंग्रह।

संसारिणोमुक्ताश्च ॥ १० ॥

अर्थ–संसारी और मुक्तोंके भेदसे जीव दो प्रकारके हैं। जो जीव कर्मसहित हैं। कर्मोंकी पराधीनताके कारण अनेक जन्म मरणोंको करते हुए संसारमें भ्रमण करते रहते हैं वे संसारी कहे जाते हैं और जो समस्त कर्मोंको काटकर मुक्त हो गये हैं उनको मुक्तजीव या सिद्धजीव कहते हैं। वार्तिककार संसारका लक्षण वतलाते हैं–

आत्मोपचितकर्मवशादात्मनो भवांतरावाप्तिः संसारः ॥ १ ॥

ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय मोहनी आयु नाम गोत्र और अंतरायके भेदसे कर्म आठ प्रकारका है तथा प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेश रूप बंधोंके भेदसे और भी उसके अनेक भेद माने हैं। इन आठों कर्मोंका आत्मा संचय करता रहता है उन कर्मोंके द्वारा आत्माका जो एक भवसे दूसरे भवमें जाना है उसका नाम संसार है । वार्तिकमें जो दो वार आत्मा शब्दका ग्रहण है उसका तात्पर्य यह है कि कर्मोंका कर्ता आत्मा है और उन कर्मोंसे जायमान फलका भोक्ता भी आत्मा ही है । अन्य कोई भोक्ता नहीं।

सांख्योंका सिद्धांत है कि सत्त्व रज और तम स्वरूप प्रकृति कर्मोंकी करनेवाली है और पुरुष आत्मा उनके फलोंका भोक्ता है ? सो ठीक नहीं। जिसप्रकार घट पट आदि अचेतन हैं इसलिये वे पुण्य पाप रूप कर्मोंके कर्ता नहीं उसीप्रकार प्रकृति भी अचेतन पदार्थ है इसलिये वह भी कर्मोंके करनेवाली नहीं मानी जा सकती। तथा पुरुषको जो प्रकृति द्वारा उपार्जित कर्मोंके फलका भोक्ता माना है वह भी ठीक नहीं क्योंकि परपदार्थ प्रकृति आदि सदा रहने वाले हैं यदि उनके द्वारा उपार्जित कर्मोंके फलका

भोक्ता आत्मा माना जायगा तो हमेशा आत्मा सुख दुःख ही भोगता रहेगा कभी भी उसकी मोक्ष न होगी एवं अपने द्वारा जो कार्य किया गया है उसका नाश हो जायगा क्योंकि स्वयं उसका फल नहीं भोगा जा सकता इसलिये जो कर्ता है वही भोक्ता है—कर्तासे अन्य कोई भोक्ता नहीं यही सिद्धांत निर्दोष है।

द्रव्य क्षेत्र काल भव और भावके भेदसे संसार पांच प्रकारका है। इन्हींको पंच परावर्तन कहते हैं इनका स्वरूप सर्वार्थसिद्धि संस्कृत टीकामें विस्तारसे वर्णित है तथापि थोडासा खुलासा स्वरूप हम यहां लिखे देते हैं—

बंधदि मुंचदि जीवो पडिसमयं कम्मपुग्गला विविहा।
णोकम्मपुग्गलावि य मिच्छत्तकसायसंजुत्तो ॥ ६७ ॥ स्वा० का० अ०।

मिथ्यात्व और कषाय भावोंसे संयुक्त यह जीव प्रतिसमय कर्म और नोकर्म पुद्गलोंका बांधता और छोडता है इसीका नाम द्रव्यसंसार वा द्रव्यपरिवर्तन है। सारार्थ—द्रव्यपरिवर्तनके दो भेद हैं। एक नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन दूसरा कर्मद्रव्यपरिवर्तन। नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन इसप्रकार है—

किसी जीवने स्निग्ध रूक्ष वर्ण गंधादिकके तीव्र मंद मध्यम भावोंमेंसे यथासंभव भावोंसे युक्त औदारिकादि तीन शरीरोंमेंसे किसी शरीर संबंधी छह पर्याप्तिरूप परिणमनके योग्य पुद्गलोंका एक समयमें ग्रहण किया। पीछे द्वितीयादि समयोंमें उस कर्मकी निर्जरा कर दी। पीछे अनंतवार अगृहीत पुद्गलोंको ग्रहण कर छोड दिया। अनंतवार मिश्रद्रव्यको ग्रहण कर छोड दिया। अनंतवार गृहीत-को ग्रहण कर छोड दिया जब वही जीव उनही स्निग्ध रूप आदि भावोंसे युक्त उनही पुद्गलोंको जितने समयमें ग्रहण करे उतने काल समुदायको एक नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन कहते हैं।

पूर्वमें ग्रहण किये हुए परमाणु जिस समयप्रबद्धरूप स्कंधमें हों उसे गृहीत कहते हैं। जिस समयप्रबद्धमें ऐसे परमाणु हों कि जिनका जीवने पहिले कभी ग्रहण न किया हो उसे अग्रहीत कहते हैं। जिस समयप्रबद्धमें दोनों प्रकारके परमाणु हों उसे मिश्र कहते हैं। यहांपर यह शंका नहीं करनी चाहिये कि जब अनादिकालसे कर्मपुद्गलोंको जीव ग्रहण करता चला आरहा है तब उसके द्वारा अगृहीत परमाणुओंका लोकमें होना असंभव है। क्योंकि अगृहीत परमाणुओंको भी लोकमें अनंतानंत माना गया है। संपूर्ण जीवराशीका समयप्रबद्धके प्रमाणसे गुणा करनेपर जो लब्ध आवे उसका अतीतकालके समस्त समयप्रमाणसे गुणा करनेपर जो लब्ध आवे उनसे भी अनंतगुणा पुद्गलद्रव्य है।

अगृहीतग्रहण गृहीतग्रहण और मिश्रग्रहणके भेदसे नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनका काल तीन प्रकारका माना गया है। गोम्मटसारजीकी दोनों संस्कृत टीका वा सम्यग्ज्ञानचंद्रिका नामकी भाषा टीकामें इस विषयको अच्छीतरह स्पष्ट किया है। थोडासा यंत्रपूर्वक खुलासा उसका इसप्रकार है—

द्रव्यपरिवर्तनका यंत्र।

०	०	×	०		×	०	०	[illegible]	०	०	×	[illegible]	०	×	०	[illegible]	१
×	×	०	×	×	०	×	×	१	×	×	०	×	×	०	×	×	१
×	×	[illegible]	×	×	१	×	×	०	×	×	[illegible]	×	×	१	×	×	०
१	१	×	[illegible]	१	×	१	१	०	१	१	×	१	१	×	१	१	०

इस यंत्रमें शून्यसे अगृहीत (×) इस हंसपदके चिह्नसे मिश्र और एकके अंकसे गृहीत समझना चाहिए तथा दो बार लिखनेसे अनंतवार समझ लेना चाहिए। इस यंत्रसे यह बात आसानीसे जान ली जाती

है कि निरंतर अनंतबार अगृहीतका ग्रहण हो चुकनेपर एकबार मिश्रका ग्रहण होता है। मिश्रग्रहण के बाद फिर निरंतर अनंतबार अगृहीतका ग्रहण होचुकनेपर एकबार मिश्रका ग्रहण होता है। इसही क्रमसे अनंतबार मिश्रका ग्रहण हो चुकनेपर अगृहीत ग्रहणके अनंतर एकबार गृहीतका ग्रहण होता है। इसके बाद फिर उसीतरह अनंतबार अगृहीतका ग्रहण होचुकनेपर एकबार मिश्रका ग्रहण और मिश्रग्रहणके बाद फिर अनंतबार अगृहीतका ग्रहण होकर एकबार मिश्रका ग्रहण होता है। तथा मिश्रका ग्रहण अनंतबार होचुकनेपर अनंतबार अगृहीतका ग्रहण करके एकबार फिर गृहीतका ग्रहण होता है। इसही क्रमसे अनंतबार गृहीतका ग्रहण होता है। यह अभिप्राय सूचित करनेकेलिए ही प्रथम पंक्तिमें पहिले तीन कोठोंके समान दूसरे भी तीन कोठे किए हैं अर्थात् इस क्रमसे अनंतबार गृहीतका ग्रहण होचुकनेपर नोकर्म पुद्गल परिवर्तनके चार भेदोंमेंसे प्रथम भेद समाप्त होता है इसके बाद दूसरे भेदका प्रारंभ होता है—

यहांपर अनंतबार मिश्रका ग्रहण होनेपर एकबार अगृहीतका ग्रहण, फिर अनंतबार मिश्रका ग्रहण होनेपर एकबार अगृहीतका ग्रहण इसही क्रमसे अनंतबार अगृहीतका ग्रहण होकर अनंतबार मिश्रका ग्रहण करके एकबार गृहीतका ग्रहण होता है। जिस क्रमसे एकबार गृहीतका ग्रहण किया उस ही क्रमसे अनंतबार गृहीतका ग्रहण हो चुकनेपर नोकर्म पुद्गल परिवर्तनका दूसरा भेद समाप्त होता है।

इसके बाद तीसरे भेदमें अनंतबार मिश्रका ग्रहण करके एकबार गृहीतका ग्रहण होता है। फिर अनंतबार मिश्रका ग्रहण करके एकबार गृहीतका ग्रहण इस क्रमसे अनंतबार गृहीतका ग्रहण होचुकने पर अनंतबार मिश्रका ग्रहण करके एकबार अगृहीतका ग्रहण होता है। जिसतरह एकबार अगृहीतका

ग्रहण किया उसही तरह अनंतबार अगृहीतका ग्रहण होनेपर नोकर्मपुद्गलपरिवर्तनका तीसरा भेद समाप्त होता है।

इसके बाद चौथे भेदका प्रारंभ होता है। इसमें प्रथमही अनंतबार गृहीतका ग्रहणकर एकबार मिश्रका ग्रहण होता है। इसके बाद फिर अनंतबार गृहीतका ग्रहण होनेपर एकबार मिश्रका ग्रहण होता है। इसतरह अनंतबार मिश्रका ग्रहण होकर पीछे अनंतबार गृहीतका ग्रहणकर एकबार अगृहीत का ग्रहण होता है। जिसतरह एकबार अगृहीतका ग्रहण किया उसही क्रमसे अनंतबार अगृहीतका ग्रहण होचुकनेपर नोकर्मपुद्गल परिवर्तनका चौथा भेद समाप्त होता है।

इस चतुर्थ भेदके समाप्त होचुकनेपर नोकर्मपुद्गलपरिवर्तनके प्रारंभके प्रथम समयमें वर्ण गंध आदिके जिस भावसे युक्त जिस पुद्गलद्रव्यको ग्रहण किया था उसही भावसे युक्त उस शुद्ध गृहीतरूप पुद्गलद्रव्यको जीव ग्रहण करता है। इस सबके समुदायको नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन कहते हैं और इसमें जितना काल लगे उसका नाम नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनकाल है।

इसही तरह दूसरा कर्मपुद्गलपरिवर्तन भी होता है। विशेषता इतनीही है कि जिसतरह नोकर्म-द्रव्यपरिवर्तनमें नोकर्मपुद्गलोंका ग्रहण होता है उसीतरह यहांपर कर्मपुद्गलोंका ग्रहण होता है, क्रममें अंशमात्र भी विशेषता नहीं। जिसतरहके चार भेद नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनके होते हैं उसीतरह कर्मद्रव्य-परिवर्तनमें चार भेद होते हैं। इन चार भेदोंमें अग्रहीतग्रहणका काल सबसे अल्प है। उससे अनंतगुणा काल मिश्रग्रहणका है। उससे भी अनंतगुणा गृहीतग्रहणका जघन्य काळ है। उससे अनंतगुणा गृहीत-ग्रहणका उत्कृष्ट काल है।

क्षेत्रपरिवर्तनके दो भेद हैं एक स्वक्षेत्रपरिवर्तन दूसरा परक्षेत्रपरिवर्तन । एक जीव सर्वजघन्य
अवगाहनाको जितने उसके प्रदेश हों उतनी बार धारणकर पीछे एक एक प्रदेश अधिक अधिककी
अवगाहनाओंको धारण करते करते महामत्स्यकी उत्कृष्ट अवगाहना पर्यंत अवगाहनाओंको जितने
समयमें धारण कर सके उतने कालसमुदायको एक स्वक्षेत्र परिवर्तन कहते हैं।

कोई जघन्य अवगाहनाका धारक सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव लोकके अष्ट मध्य प्रदेशों
को अपने शरीरके अष्ट मध्य प्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ, पीछे वही जीव उसी रूपसे उसीस्थानमें दूसरी
तीसरीबार भी उत्पन्न हुआ । इसीतरह घनांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण जघन्य अवगाहनाके
जितने प्रदेश हैं उतनीबार उसीस्थानपर क्रमसे उत्पन्न हुआ और श्वासके अठारहवें भागप्रमाण क्षुद्र
आयुको भोगकर मरणको प्राप्त हुआ । पीछे एक एक प्रदेशके अधिक क्रमसे जितने कालमें संपूर्ण
लोकको अपना जन्मक्षेत्र बना ले उतने काल समुदायको एक परक्षेत्र परिवर्तन काल कहते हैं।

कोई जीव उत्सर्पिणीके प्रथम समयमें पहिलीबार उत्पन्न हुआ उसीतरह दूसरीबार दूसरी उत्सर्पिणी-
के दूसरे समयमें उत्पन्न हुआ, एवं तीसरी उत्सर्पिणीके तीसरे समयमें तीसरीबार उत्पन्न हुआ । इसी क्रमसे
उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणीके बीस कोडाकोडी सागरके जितने समय हैं उनमें उत्पन्न हुआ एवं इसी
क्रमसे मरणको प्राप्त हुआ इसमें जितना काल लगे उतने कालसमुदायको एक काल परिवर्तन कहते हैं।

कोई जीव दश हजारवर्षके जीतने समय हैं उतनीबार जघन्य दश हजारवर्षकी आयुसे प्रथम नरकमें
उत्पन्न हुआ, पीछे एक एक समयके अधिकक्रमसे नरकसंबंधी तेतीससागरकी उत्कृष्ट आयुको क्रमसे
पूर्णकर अंतर्मुहूर्तके जितने समय हैं उतनीबार जघन्य अंतर्मुहूर्तकी आयुसे तिर्यंच गतिमें उत्पन्न होकर

वहांपर भी नरकगतिके समान एक एक समयके अधिक क्रमसे तिर्यंच गति संबंधी तीन पल्यकी उत्कृष्ट आयुको पूर्ण किया। पीछे तिर्यग्गतिके समान मनुष्य गतिकी भी तीन पल्यकी उत्कृष्ट आयुको पूर्ण किया उसके बाद दश हजार वर्षके जितने समय हैं उतनीवार जघन्य दश हजारवर्षकी आयुसे देवगतिमें उत्पन्न होकर पीछे एकएक समयके अधिक क्रमसे इकतीससागरकी उत्कृष्ट आयुको पूर्ण किया। विशेष—यद्यपि देवगतिमें उत्कृष्ट आयु तेतीससागरकी है तथापि यहां इकतीस सागरकी आयुका ही ग्रहण किया गया है क्योंकि मिथ्यादृष्टि देवकी उत्कृष्ट आयु इकतीससागर तक ही होती है और इन परिवर्तनोंका निरूपण मिथ्यादृष्टि जीवकी अपेक्षा ही है सम्यग्दृष्टि तो अर्धपुद्गलपरावर्तनका जितना काल है उससे अधिक संसारमें नहीं रहता। इसक्रमसे चारों गतियोंमें भ्रमणकरनेमें जितनाकाल लगे उतने कालको एक भवपरिवर्तनका काल कहते हैं। तथा इतने कालमें जितना भ्रमण किया जाय उसका नाम भव परिवर्तन है।

योगस्थान अनुभागबंधाध्यवसायस्थान कषायाध्यवसायस्थान स्थिति—स्थान इन चारके निमित्तसे भाव परिवर्तन होता है। प्रकृति और प्रदेश बंधको कारण भूत आत्माके प्रदेश परिस्पंदरूप योगके तरतम रूप स्थानोंको योगस्थान कहते हैं। जिनकषायके तरतमरूप स्थानोंसे अनुभाग बंध होता है उनको अनुभागबंधाध्यवसायस्थान कहते हैं। स्थितिबंधको कारणभूत कषायपरिणामोंको कषायाध्यवसायस्थान वा स्थितिबंधाध्यवसायस्थान कहते हैं। बंधरूप कर्मकी जघन्य आदि स्थितिको स्थितिस्थान कहते हैं। इनका परिवर्तन दृष्टांत द्वारा इसप्रकार है——

श्रेणिके असंख्यातवें भाग प्रमाण योग स्थानोंके होजानेपर एक अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होता

है और असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागबंधाध्यवसायस्थानोंके हो जानेपर एक कषायाध्यवसायस्थान होता है तथा असंख्यात लोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थानोंके हो जानेपर एक स्थिति स्थान होता है इसक्रमसे ज्ञानावरण आदि समस्त मूल प्रकृति वा उत्तर प्रकृतियोंके समस्त स्थानोंके पूर्ण होने पर एक भाव परिवर्तन होता है। जैसे किसी पर्याप्त मिथ्यदृष्टि संज्ञी जीवके ज्ञानावरण कर्मकी अंतःकोडाकोडी सागरप्रमाण जघन्य स्थितिका बंध होता है यही यहांपर जघन्यस्थितिस्थान है इसलिये इसके योग्य विवक्षित जीवके जघन्य ही अनुभागबंधाध्यवसायस्थान जघन्य ही कषायाध्यवसायस्थान और जघन्य ही योग स्थान होते हैं। यहां से ही भाव परिवर्तनका प्रारंभ होता है अर्थात् इसके आगे श्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण योगस्थानोंके क्रमसे हो जानेपर दूसरा अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होता है। इसके बाद फिर श्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण योगस्थानोंके क्रमसे हो जानेपर तीसरा अनुभाग बंधाध्यवसायस्थान होता है। इस ही क्रमसे असंख्यातलोकप्रमाण अनुभाग बंधाध्यवसायस्थानोंके हो जानेपर दूसरा कषायाध्यवसायस्थान होता है। जिस क्रमसे दूसरा कषायाध्यवसायस्थान हुआ उसही क्रमसे असंख्यात लोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थानोंके हो जानेपर जघन्य स्थितिस्थान होता है। जो क्रम जघन्य स्थितिस्थानमें बताया वही क्रम एक एक समय अधिक द्वितियादि स्थिति स्थानोंमें समझ लेना चाहिये। तथा इसी क्रमसे ज्ञानावरणके जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट तक समस्त स्थितिस्थानोंके हो जानेपर और ज्ञानावरणके स्थितिस्थानोंकी तरह क्रमसे संपूर्ण मूल वा उत्तरप्रकृतियोंके समस्त स्थिति स्थानोंके पूर्ण हो जानेपर एक भावपरिवर्तन होता है। इस परिवर्तनमें जितनाकाल लगे उसका नाम भाव परिवर्तनकाल है। पांचो परिवर्तनोंके लिये यह नियम है कि जहांपर क्रम भंग होगा वहांपर वह गणना

में सामिल न किया जायगा। इसप्रकार यह संक्षेपसे द्रव्यादि पांचो परिवर्तनोंका स्वरूप है। इनकाकाल उत्तरोत्तर अनंत अनंत गुणा है।

स येषामस्ति ते संसारिणः॥ २ ॥ निरस्तद्रव्यभावबंधा मुक्ताः॥ ३ ॥

यह पंचपरावर्तनरूप संसार जिनके हो वे संसारी जीव कहे जाते हैं। द्रव्यबंध और भावबंधके भेदसे बंधतत्त्व दो प्रकारका है। ज्ञानावरण आदि कर्म स्वरूप और नोकर्मस्वरूप परिणत पुद्गल द्रव्यका नाम द्रव्यबंध है और क्रोध मान राग द्वेष आदि परिणत आत्मा भाव बंध है। जिन पवित्र आत्माओंने दोनों प्रकारके बंधोंका त्याग कर दिया है वे मुक्त हैं। शंका—

द्वंद्वनिर्देशो लघुत्वादिति चेन्नार्थांतरप्रतीतेः॥ ४ ॥

'संसरिणो मुक्ताश्च' यहांपर वाक्यरूपसे सूत्रका उल्लेख न कर संसारिणश्च मुक्ताश्च 'संसारिमुक्ताः' ऐसा द्वंद्वसमास मानना चाहिये लाभ यह है कि च शब्द न कहना पडेगा इसलिये लाघव होगा तथा सूत्रका जो अर्थ है उस अर्थमें किसीप्रकारकी बाधा भी न होगी? सो ठीक नहीं। संसारी और मुक्त दोनों शब्दोंमें मुक्त शब्द पूज्य और अल्पाक्षर है इसलिये द्वंद्वसमास करनेपर मुक्त शब्दका ही पूर्व-निपात होनेसे मुक्त संसारिणः' ऐसा सूत्र करना पडेगा तथा "मुक्तः संसारो येन भावेन स मुक्तसंसारः, तद्वंतो मुक्तसंसारिणः" अर्थात् जिस स्वरूपसे संसारका छूटजाना हो वह मुक्तसंसार और उससे विशिष्ट मुक्तसंसारी है यह मुक्तसंसारी शब्दका अर्थ होगा एवं उससे ज्ञानदर्शनस्वरूप उपयोगवान मुक्तसंसारी अर्थात् सिद्ध जीव ही कहे जांयगे संसारी जीव न कहे जांयगे इसरीतिसे द्वंद्व समास माननेपर इस दूसरे अर्थकी प्रतीतिसे विपरीत अर्थ होगा अतः द्वंद्व समास न मानकर 'संसारिणो मुक्ताश्च' यह वाक्यार्थ ही उपयुक्त है। यदि यहां पर फिर यह शंका की जाय कि—

समुच्चयाभिव्यक्त्यर्थं चशब्दोऽनर्थक इति चेन्नोपयोगस्य गुणभावप्रदर्शनार्थत्वात् ॥ ५ ॥

'संसारिणो मुक्ताश्च' यहां पर चशब्दका अर्थ समुच्चय माना है तथा "आपसमें विशेषण विशेष्य रूपकी अपेक्षा न कर अनेक शब्दोंका वाक्यमें भिन्न भिन्न रूपसे रहना" यह समुच्चय शब्दका अर्थ है यहांपर भी संसारी और मुक्त दोनों शब्द भिन्न भिन्न हैं यह बात बतलानेकेलिये सूत्रमें चशब्दका उल्लेख किया गया है परंतु जिसप्रकार 'पृथिव्यप्तेजोवायुः' इस वाक्यमें पृथिवी आदि शब्दोंका आपसमें विशेषण विशेष्य भाव नहीं है तथा अर्थ भी जुदा जुदा है इसलिये वे भिन्न भिन्न माने जाते हैं उसीप्रकार 'संसारिणो मुक्ताः' यहांपर भी आपसमें विशेषण विशेष्य भाव नहीं तथा अर्थ भी जुदा है इसलिये संसारी और मुक्त दोनों शब्द भिन्न भिन्न हैं अतः उनमें भेद प्रकट करनेकेलिए समुच्चयार्थक चशब्दका उल्लेख करना व्यर्थ है ? सो ठीक नहीं। चशब्दके समुच्चय और अन्वाचय ये दोनों अर्थ हैं तथा एकको प्रधान और दूसरोंको गौण बतलाना यह अन्वाचय शब्दका अर्थ है। सूत्रमें जो चशब्द है उसका अर्थ यहां अन्वाचय है और एक जगह उपयोग गौणरूपसे रहता है और एक जगह मुख्यरूपसे रहता है यह वहां पर चशब्द द्योतन करता है इसरीतिसे 'भैक्ष्यं चर देवदत्तं चानय' अर्थात् भिक्षाका आचरण करो और देवदत्तको ले आओ इस अन्वाचयके प्रसिद्ध उदाहरणमें जिसप्रकार भिक्षाका आचरण करना प्रधान है और देवदत्तका लाना गौण है उसीप्रकार संसारी और मुक्त जीवोंमें संसारी जीव प्रधानतासे उपयोगवान है और मुक्तजीव गौणरूपसे उपयोगवान है यह चशब्दसे प्रदर्शित अर्थ है। यदि यहां पर यह शंका हो कि संसारी जीवोंमें उपयोगकी मुख्यता क्यों और मुक्त जीवोंमें क्यों नहीं ? उसका समाधान वार्तिककार देते हैं—

परिणामांतरसंक्रमाभावात्, ध्यानवत् ॥ ६ ॥

एकाग्ररूपसे चिंताका निरोध होना ध्यान है। जहां पर चिंता है वहींपर उसका निरोध कहा जा सकता है। छद्मस्थ जीवोंमें चिंता और तज्जन्य विक्षेप होते हैं इसलिये मुख्यरूपसे उन्हींके उसका निरोध हो सकता है इसलिये ध्यान शब्दका अर्थ प्रधानतासे छद्मस्थोंमें है तथा केवलियोंमें चिंताका अभाव है इसलिये वास्तविकरूपसे उनके चिंताका निरोध भी नहीं कहा जा सकता किंतु छद्मस्थोंके समान कर्मों का झडना रूप ध्यानका फल उनके भी मौजूद है इसलिये ध्यान उनमें व्यवहारसे है उसीप्रकार एक परिणामसे दूसरे परिणामस्वरूप पलट जाना उपयोग शब्दका अर्थ है। यह पलटन संसारी जीवोंके प्रतिसमय होती रहती है इसलिये उनमें प्रधानतासे उपयोग है तथा मुक्त जीवोंमें जो उपयोग है वह उपलब्धिस्वरूप है संसारी जीवोंके समान उनके उपयोगमें पलटन नहीं होती इसलिये उनमें उपयोग गौणरूपसे माना है। इसरीतिसे संसारी जीवोंमें मुख्यरूपसे और मुक्त जीवोंमें गौणरूपसे जब उपयोग की सत्ता सिद्ध है तब अन्वाचयार्थक चशब्दका सूत्रमें उल्लेख निरर्थक नहीं।

संसारिग्रहणमादौ वहुविकल्पत्वात्तत्पूर्वकत्वाच्च स्वसंवेद्यत्वाच्च ॥ ७ ॥

मुक्त जीवोंकी अपेक्षा संसारी जीवोंके गति आदि बहुतसे भेद हैं तथा मुक्त जीवोंकी अपेक्षा संसारी जीव पहिले हैं क्योंकि पहिले संसारी हैं उसके वाद मुक्त हैं एवं संसारी जीवोंके गति आदि परिणामोंका अनुभव ज्ञान होता है मुक्त जीवोंकी किसी भी पर्यायका अनुभव नहीं होता क्योंकि वे अत्यंत परोक्ष हैं इसरीतिसे मुक्तजीवोंकी अपेक्षा संसारी जीव बहुत भेदवाले हैं मुक्तजीवोंसे पहिले हैं और स्वसंवेद्य अर्थात् स्वसंवेदन प्रत्यक्षके विषय हैं इसलिये सूत्रमें पहिले मुक्तजीवोंका उल्लेख न कर संसारी जीवोंका उल्लेख किया गया है।

विशेष—सूत्रमें संसारीजीवोंको पाहिले कहनेकेलिए वार्तिककारने वहुविकल्पत्व तत्पूर्वक और स्वसंवेद्यत्व ये तीन हेतु दिये हैं। वहांपर यह प्रश्न उठता है कि एकही हेतुका कहना उपयुक्त था तीन हेतुओं का क्यों उलेख किया गया ? उसका खुलासा इसप्रकार है—यदि 'वहुविकल्पत्व' यही हेतु दिया जाता तो उससे इष्टसिद्धि नहीं हो सकती थी क्योंकि सूचीकटाह न्यायके अनुसार जिसके थोडे भेद होते हैं उसका पहिले प्रयोग किया जाता है और जिसके बहुत भेद होते हैं उसका पीछे प्रयोग किया जाता है। संसारीकी अपेक्षा मुक्तजीवोंके अल्प भेद हैं इसलिए वहुविकल्पत्वहेतुके उलेख रहनेपर भी पहिले मुक्तजीवोंका ही सूत्रमें ग्रहण करना पडता। यदि तत्पूर्वकत्व यह हेतु दिया जाता तब भी संसारी जीवोंका प्रथम ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि यद्यपि मुक्तजीवोंकी अपेक्षा संसारीजीव पहिले हैं तथापि जो अभ्यर्हित और अल्पाक्षर होता है इसीका पहिले प्रयोग होता है यह नियम बलवान है। इसरीतिसे संसारीकी अपेक्षा मुक्तही अभ्यर्हित और अल्पाक्षर है इसलिए मुक्तशब्दहीका सूत्रमें पहिले ग्रहण करना पडता। किंतु स्वसंवेद्यत्वहेतुके कहनेसे कोई दोष नहीं क्योंकि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष संसारी जीवोंका ही होता है मुक्तजीवोंका नहीं इसलिए स्वसंवेदन प्रत्यक्षके विषयभूत संसारीजीवोंके अस्तित्वके आधीन मुक्तजीवोंका आस्तित्व होनेसे सूत्रमें संसारीजीवोंका ही आदिमें ग्रहण उपयुक्त है ॥ १० ॥

जिनका स्वभाव अशुभकर्मोंसे जायमान फलोंके अनुभवन करनेका है। जिनका संसारका परिभ्रमण नहीं छूटा है और पूर्वोपार्जित नामकर्मके उदयसे जायमान जिनके बहुतसे भेद हैं वे जीव सैनी असैनीके भेदसे दो प्रकारके हैं इसबातको सूत्रकार बतलाते हैं—

समनस्कामनस्काः ॥ ११ ॥

अर्थ—समनस्क और अमनस्कके भेदसे संसारीजीव दो प्रकारके हैं। जिनके मन है वे समनस्क-सैनी हैं और जिनके मन नहीं वे अमनस्क-असैनी हैं।

मनके संबंध और असंबधसे संसारीजीव दो प्रकारके हैं। द्रव्यमन और भावमनके भेदसे मन भी दो प्रकारका है। उनमें जिस मनकी उत्पत्ति पुद्गलविपाकी कर्मके उदयसे होती है वह द्रव्यमन है और जो वीर्यांतराय और नो इंद्रियावरण कर्मके उदयसे होनेवाली आत्माकी विशुद्धि है वह भावमन है। जो जीव उस मनसे संयुक्त हैं वे समनस्क और उससे रहित हैं वे अमनस्क हैं। इसप्रकार समनस्क और अमनस्कके भेदसे संसारी जीव दो प्रकारके हैं शंका—

द्विविधजीवप्रकरणाद्यथासंख्यप्रसंगः ॥ १ ॥ इष्टमिति चेन्न सर्वसंसारिणां समनस्कत्वप्रसंगात् ॥ २ ॥

संसारी और मुक्तके भेदसे पहिले जीवोंके दो भेद कह आए हैं। उन दोनों भेदोंका इस सूत्रमें संबंध होनेपर संसारीजीव समनस्क हैं और मुक्तजीव अमनस्क हैं ऐसा यथासंख्य क्रमसे अर्थ होसकता है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि संसारीजीव सैनी और मुक्तजीव असैनी हैं यह अर्थ हमें इष्ट ही है? सो ठीक नहीं। एकेंद्रिय द्वींद्रिय त्रींद्रिय चतुरिंद्रिय और असंज्ञिपंचेंद्रिय जीवोंके मनका संबंध नहीं माना गया है। यदि सामान्यरूपसे संसारीजीवोंको समनस्क कहा जायगा तो उक्त एकेंद्रिय आदि सबही जीवोंको भी समनस्क कहना पडेगा जिससे सिद्धांतमें जो उन्हें अमनस्क माना है उसका व्याघात हो जायगा इसलिए समस्त संसारीजीवोंको समनस्क नहीं कहा जा सकता। यथासंख्य क्रमका वार्तिककार उत्तर देते हैं—

पृथग्योगप्रक्रमे संसारिसंप्रत्ययः ॥ ३ ॥ उपरिष्टसंसारिवचनप्रत्यासत्तेश्च ॥ ४ ॥

यदि 'समनस्कामनस्काः' इससूत्रमें संसारी और मुक्त दोनोंका संबंध रहता तो 'संसारिणो मुक्ताश्च समनस्कामनस्काः' ऐसा एक ही सूत्र कहते परंतु दो सूत्र पृथक् पृथक् कहे गये हैं इसलिये जाना जाता है कि इस सूत्रमें संसारियोंका ही ग्रहण है मुक्तोंका ग्रहण नहीं इसलिये संसारी समनस्क और मुक्त अमनस्क हैं इस विपरीत अर्थकी यहां कल्पना नहीं की जा सकती। और भी यह बात है कि— आगे 'संसारिणस्त्रसस्थावराः' इस सूत्रमें संसारी शब्दका ग्रहण किया गया है वह समीपमें भी है इसलिये 'समनस्काऽमनस्का' इस सूत्रमें उसका संबंध होनेपर समनस्क और अमनस्क ये दो भेद संसारी जीवोंके ही हैं यही अर्थ होगा मुक्त शब्दका इससूत्रमें संबंध नहीं हो सकता। शंका—

तदभिसंबंधेयथासंख्यप्रसंगः ॥ ५ ॥ इष्टमेवेतिचेन्न सर्वत्रसानां समनस्कत्वप्रसंगात् ॥ ६ ॥

यदि 'संसारिणस्त्रसस्थावराः' इस सूत्रमें कहे गये संसारि शब्दका 'समनस्कामनस्काः' इस सूत्रमें संबंध किया जायगा तो उस सूत्रमें तो त्रस और स्थावर शब्दका भी उल्लेख किया गया है इसलिये उनका संबंध भी इस सूत्रमें होगा तब यथासंख्य क्रमसे त्रस समनस्क हैं और स्थावर अमनस्क हैं यह इस सूत्रका अर्थ मानना पडेगा। यदि यहांपर यह कहा जायगा कि त्रस समनस्क हैं और स्थावर अमनस्क हैं यह अर्थ इष्ट ही है? सो ठीक नहीं। यदि सब त्रसोंको समनस्क कहा जायगा तो द्वींद्रिय तेइंद्रिय चतुरिंद्रिय और असंज्ञिपंचेंद्रिय भी त्रस हैं उन्हें भी समनस्क कहना होगा परंतु आगममें उन्हें समनस्क नहीं माना है इसलिये सब ही त्रस जीवोंको समनस्क कहना अनिष्ट है। इस यथासंख्य क्रमका वार्तिककार समाधान देते हैं—

नानाभिसंबंधात् ॥ ७ ॥ इतरथान्यतरत्र संसारिग्रहणे सतीष्टार्थत्वादुपरि संसारिग्रहणमनर्थकं ॥ ८ ॥

संबंधका करना इच्छाके आधीन है। यहांपर संसारि शब्दके संबंध ही की इच्छा है त्रस और स्थावरके संबंधकी नहीं इसलिये 'समनस्कामनस्काः' इस सूत्रमें संसारीकाही संबंध है। यदि 'संसारिणस्त्रसस्थावराः' इस सूत्रके संसारी शब्दके संबंधके समान त्रस और स्थावर शब्दका भी 'समनस्कामनस्काः' इस सूत्रमें संबंध रहता तब "समनस्कामनस्काः संसारिणस्त्रसस्थावराः" ऐसा एक ही सूत्र बनाना ठीक था परंतु वैसा नहीं बनाया इसलिये जान पडता है कि यहांपर त्रस और स्थावर शब्दका संबंध इष्ट नहीं अथवा—

संसारिणो मुक्ताश्च, समनस्कामनस्काः, संसारिणस्त्रसस्थावराः, इन तीनों सूत्रोंका एक योग नहीं किया इसलिये जान पडता है कि पहिले सूत्रके संसारि और मुक्त शब्दोंका तथा आगे सूत्रके त्रस और स्थावर शब्दोंका 'समनस्कामनस्काः' इस सूत्रमें संबंध नहीं किंतु केवल संसारी शब्दका ही संबंध है। अन्यथा यदि संसारी और मुक्त एवं त्रस और स्थावर शब्दोंके साथ भी इसका संबंध माना जायगा तो "संसारिमुक्ताः समनस्कामनस्कास्त्रसस्थावराः" ऐसा एक योग करना ही ठीक होता ऐसा होनेसे समनस्कामनस्काः' इस सूत्रकी आदि वा अंतमें एक जगह संसारि शब्दके उल्लेखसे ही अभीष्ट अर्थ सिद्ध हो जाता फिर 'संसारिमुक्ताः' यहांपर कहे गये संसारि शब्दसे अभीष्ट सिद्धि होनेपर 'संसारिणस्त्रसस्थावराः' इससूत्रमें संसारि शब्दका ग्रहण अनर्थक ही था। परंतु वैसा अर्थ सिद्धांतानुकूल नहीं इसलिये जैसा सूत्रोंका निर्माण है वैसा ही ठीक है।

आदौ समनस्कग्रहणमभ्यर्हितत्वात् ॥ ९ ॥

समनस्क कहनेपर समस्त इंद्रियोंका ग्रहण होता है इसलिये अमनस्ककी अपेक्षा समनस्क अभ्य-हित होनेसे 'समनस्कामनस्काः' इस सूत्रमें समनस्क शब्दका पहिले प्रयोग किया गया है ॥ ११ ॥

अपने द्वारा उपार्जन किये गये कर्मोंके अनुसार पाई हुई पूर्ण इंद्रिय और अपूर्ण इंद्रियोंकी अपेक्षा जिनके त्रस स्थावर रूप दो भेद हैं और कार्माण शरीरके आधीन जिनके अवस्था विशेष नियमित हैं उन संसारी जीवोंका अब सूत्रकार उल्लेख करते हैं—

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२ ॥

अर्थ—त्रस और स्थावरके भेदसे संसारी जीव दो प्रकारके हैं। उनमें द्वींद्रिय त्रींद्रिय चौइंद्रिय और पंचेंद्रिय जीवोंकी त्रस संज्ञा है और एकेंद्रियजीव स्थावर कहे जाते हैं। वार्तिककार त्रस और स्थावर शब्दका अर्थ बतलाते हैं—

त्रसनामकर्मोदयापादितवृत्तयस्त्रसाः ॥ १ ॥

जीवविपाकी अर्थात् जिसका फल जीवको ही भोगना पडता है ऐसे त्रसनामकर्मके उदयसे जिस विशेष पर्यायकी प्रकटता होती है उस पर्यायका नाम त्रस है। शंका—

त्रसेरुद्वेजनाक्रियस्य त्रसाइति चेन्न गर्भादिषु तदभावादत्रसत्वप्रसंगात् ॥ २ ॥

त्रस शब्दकी सिद्धि त्रसी उद्वेग धातुसे है और उसका अर्थ उद्वेजन—भयभीत होकर भाग जाना, माना है इसलिये 'त्रस्यंतीति त्रसाः' जो जीव डर कर भागनेवाले हों वे त्रस हैं यही त्रस शब्दका अर्थ मानना चाहिये ? सो ठीक नहीं। जो जीव गर्भके अंदर वा अंडेके भीतर रहनेवाले हैं अथवा मूर्छित और सोये हुए हैं वे भयके वाह्य कारणोंके उपस्थित होजानेपर भी भयभीत हो भागते नहीं और वे सब

त्रस जीव हैं। यदि भयसे भागनेवाले जीव त्रस कहे जांयगे तो जो भयसे भागनेवाले होंगे वे ही त्रस कहे जांयगे, गर्भस्थ आदि जीवोंको त्रस नहीं कहा जायगा इसलिये ये 'जो जीव त्रसनामकर्मके उदयके वशीभूत हैं वे त्रस हैं' यही त्रस शब्दका अर्थ निर्दोष है किंतु जो भयसे भाग जानेवाले हैं वे त्रस हैं' यह अर्थ ठीक नहीं। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

जब त्रस शब्दके व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थका ग्रहण न किया जायगा तब 'त्रस्यंतीति त्रसाः' इसरूपसे उसकी सिद्धि बाधित है। सो ठीक नहीं। जिसतरह 'गच्छतीति गौः' यहांपर जो चले वह गौ है, यह व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ स्वीकार न कर पशु विशेषरूप गौ अर्थ ही प्रधानतासे लिया जाता है और गोशब्द की सिद्धिके लिए 'गच्छतीति गौः' यह केवल व्युत्पत्ति मानी जाती है उसीतरह त्रसशब्दकी सिद्धिके लिए 'त्रस्यंतीति त्रसाः' यह केवल व्युत्पत्ति प्रदर्शन है इस व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थकी यहां प्रधानता नहीं इसलिए 'जो जीव त्रस नामकर्मके वशीभूत हों वे त्रस हैं' यही त्रस शब्दका अर्थ निर्दोष है।

स्थावरनामकर्मोदयोपजनिताविशेषाः स्थावराः ॥ ३ ॥

जीवविपाकी स्थावर नामकर्मके उदयसे जो विशेष पर्याय प्रगट हो उस पर्यायका नाम स्थावर है। शंका—

स्थानशीलाः स्थावरा इति चेन्न वाय्वादीनामस्थावरत्व प्रसंगात् ॥ ४ ॥

स्थावर शब्दकी सिद्धि स्था गतिनिवृत्तौ धातुसे है और स्था धातुका अर्थ ठहरना है इसलिए 'तिष्ठंतीति स्थावराः' अर्थात् जो ठहरें वे स्थावर हैं यही स्थावर शब्दका अर्थ समझना चाहिए। सो ठीक नहीं पवन अग्नि और जलकी एक देशसे दूसरे देशमें गमनक्रिया देखी जाती है। यदि जो ठहरनेवाले

हैं वे ही स्थावर हैं यही स्थावर शब्दका अर्थ माना जायगा तो जो पदार्थ ठहरने वाले हैं वे ही स्थावर कहे जांयगे, पवन आदि स्थावर न कहे जा सकेंगे। यदि यहांपर यह कहा जाय कि जब स्थावर शब्दका व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ न लिया जायगा तब 'तिष्ठतीतिस्थावराः' इस रूपसे उसकी सिद्धि बाधित है? सो ठीक नहीं। यह केवल व्युत्पत्तिमात्र प्रदर्शन है। व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थकी यहां प्रधानता नहीं किंतु रूढिकी विशेषतासे जो अर्थ प्रसिद्ध है उसीकी यहां प्रधानता है। वह रूढि सिद्ध अर्थ 'जो जीव स्थावर नामकर्मके उदयसे हों वे स्थावर हैं' यही है इसलिए यहां इसी अर्थका ग्रहण है। यदि यहांपर वादी यह कहे कि—

इष्टमेवेति चेन्न समयार्थानवबोधात् ॥ ५ ॥

स्थावर शब्दका यदि स्थानशील अर्थ किया जायगा तो पवन आदि चलनक्रिया परिणत पदार्थ स्थावर न कहे जा सकेंगे यह ऊपर दोष दिया गया है परंतु उनको स्थावर न होना हमें इष्ट ही है इसलिए जो ठहरने वाले हों वे ही स्थावर हैं यही स्थावर शब्दका अर्थ ग्रहण करना चाहिए? सो ठीक नहीं। वादीको सिद्धांतके अभिप्रायका यथार्थज्ञान नहीं क्योंकि सिद्धांतमें सत्प्ररूपणाके कायानुवाद प्रकरणमें दो इंद्रियको आदि लेकर अयोग केवली पर्यंत जीवोंको त्रस माना है। एकेंद्रिय जीवोंको कहीं भी त्रसपनेका विधान नहीं। यदि पवन अग्नि आदि कायके जीवोंको त्रस माना जायगा तो आगमविरोध होगा क्योंकि ये एकेंद्रिय जीव हैं इसलिए जो जीव त्रस और स्थावर नामकर्मके उदयसे हों वे ही त्रस और स्थावर हैं यही त्रस और स्थावर शब्दका निर्दोष अर्थ है किंतु भयसे भाग जाने वाले त्रस और ठहरने वाले स्थावर यह अर्थ नहीं स्थावर नामकर्मका उदय पवनकाय आदि जीवोंके है इसलिए वे स्थावर ही हैं। अन्यथा जो बैठे हुए मनुष्य पशु आदि हैं वे भी स्थावर सिद्ध होंगे—

त्रसग्रहणमादावल्पाचतरत्वादभ्यर्हितत्वाच्च ॥ ६ ॥

त्रसकायके जीवोंमें मतिज्ञान आदि वा चक्षुदर्शन आदि आठों उपयोग होते हैं और स्थावरकायके जीवोंके मतिज्ञान श्रुतज्ञान और चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन ये चार ही उपयोग होते हैं इसलिए स्थावर जीवोंकी अपेक्षा त्रस जीव अभ्यर्हित हैं तथा स्थावर शब्दकी अपेक्षा त्रस शब्द अल्पअक्षरवाला भी है इसरीतिसे अल्पाक्षर और अभ्यर्हित होनेसे 'संसारिणस्त्रसस्थावराः' इस सूत्रमें स्थावर शब्दसे पहिले त्रसशब्दका उल्लेख किया गया है ॥ १२ ॥

संसारी जीवोंका सामान्य और विशेषरूपसे भेदज्ञान हो चुका परंतु उनके विशेष भेद जो त्रस और स्थावर हैं उनके विशेषका ज्ञान नहीं हुआ इसलिए उनका ज्ञान कराना चाहिए। उनमें एकेंद्रिय स्थावर जीवोंके विषयमें विशेष वक्तव्य न होनेसे आनुपूर्वी क्रमसे विभागकर अर्थात् आनुपूर्वी क्रमका उल्लंघन करके पहिले सूत्रकार स्थावर जीवोंके भेद प्रतिपादन करते हैं—

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयःस्थावराः ॥ १३ ॥

पृथ्वीकायिक जलकायिक तेजःकायिक वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पांच भेद स्थावर जीवोंके हैं। स्थावर जीवोंके नियमसे एक स्पर्शन इंद्रिय ही होती है इसलिये पृथिवीकायिक आदि सब जीव एकेंद्रिय हैं।

नामकर्मोदयनिमित्ताः पृथिव्यादयः संज्ञाः ॥ १ ॥

पृथिवी काय आदि स्थावर नाम कर्मके भेद हैं। उनके उदयसे जीवोंके पृथिवी अप् आदि नाम हैं। यद्यपि 'प्रथते इति पृथिवी' अर्थात् जो फैलनेवाली हो वह पृथिवी है 'आप्नुवंतीति आपः' जो चारों ओरसे

भर जानेवाला है वह जल हो, इत्यादिरूपसे पृथिवी आदिका व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ प्रथन आदि क्रियाओं से उपलक्षित है परंतु उस अर्थकी यहां अविवक्षा है किंतु रूढि सिद्ध जो उनका अर्थ है उसीका यहां ग्रहण है। आगममें पृथिवी आदिमेंसे प्रत्येकके चार चार भेद माने हैं और वे इस प्रकार हैं——

पृथिवी पृथिवीकाय पृथिवीकायिक और पृथिवी जीव ये चार भेद पृथिवीके हैं । उनमें अचेतन स्वभावसिद्ध परिणामसे रचित और कठिनता आदि गुणस्वरूप पृथिवी कही जाती है। अचेतन होनेसे इसके पृथिवीकायिक नाम कर्मका उदय नहीं हो सकता इसलिये यह अपनी प्रथन–विस्तार रूप क्रियासे ही उपलक्षित है। अथवा पृथिवी शब्दका संबंध आगेके तीन भेदोंके साथ भी है इसलिये 'पृथिवी' यह एक सामान्य नाम ही है। कायका अर्थ शरीर है। पृथिवीकायिक जीवने जिस शरीरको छोड दिया है वह पृथिवीकाय कहा जाता है । यह मरे हुए मनुष्य आदिके कायके समान है । 'पृथिवीकायोऽस्यास्तीति पृथिवीकायिकः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार जो जीव उस पृथिवीकायसे संबद्ध है वह पृथिवीकायिक है। तथा जिस जीवके पृथिवीकागिक नाम कर्मका उदय है परंतु पृथिवीको कायस्वरूपसे ग्रहण न कर वह कार्माण काय योगमें ही विद्यमान है वह पृथिवी जीव है ।

इसीतरह अप् अप्काय अप्कायिक और अप् जीव ये चार भेद जलके, तेज तेजकाय तेजकायिक और तेज जीव ये चार भेद तेजके, वायु वायुकाय वायुकायिक और वायु जीव ये चार भेद वायुके एवं वनस्पति वनस्पतिकाय वनस्पतिकायिक और वनस्पति जीव ये चार भेद वनस्पतिके समझ लेने चाहिये एवं जिसप्रकार पृथिवीके भेदोंमें अर्थकी योजना कर आये हैं उसीप्रकार शास्त्रानुसार इनके अर्थोंकी भी कल्पना कर लेनी चाहिये ।

सुखगृहणहेतुत्वात्स्थूलमूर्तित्वादुपकारभूयस्त्वाच्चादौ पृथिवीगृहणं ॥ २ ॥

पृथिवी पदार्थके विद्यमान रहते घडे कलश आदिसे जलका सुख पूर्वक ग्रहण होता है । सरवा (मृतपात्र) आदिसे अग्निका और चर्मघट–मुसक आदिसे पवनका सुखपूर्वक ग्रहण होता है इसलिये घडे आदि पदार्थोंके द्वारा जल आदिके सुखपूर्वक ग्रहण करनेमें पृथिवी कारण है । विमान मकान प्रस्तार आदि स्थूल परिणाम भी पृथिवीके ही हैं इसलिये सब पदार्थोंमें पृथिवीकी ही मूर्ति स्थूल है तथा जलसे स्नान आदिका करना उपकार माना है अग्निसे पकाना सुखाना और प्रकाश करना आदि, पवनसे खेद पसीना आदिका दूर करना और वनस्पतिसे भोजन वस्त्र आदि उपकार माना है परंतु जल आदिसे होनेवाला यह समस्त उपकार पृथिवीके विद्यमान रहते ही हो सकता है क्योंकि विना पृथिवीके जल आदि किस जगह रह कर उपकार कर सकते हैं ? इसलिये जल आदिकी अपेक्षा पृथिवीका ही बहुत बडा उपकार है । इसप्रकार जल आदिके सुखपूर्वक ग्रहणमें कारण स्थूल मूर्तिवाली और अधिक उपकारवाली होनेके कारण सूत्रमें जल आदिकी अपेक्षा सबसे पहिले पृथिवी शब्दका ही उल्लेख किया गया है ।

तदनंतरमपां वचनं भूमितेजसोर्विरोधादाधेयत्वाच्च ॥ ३ ॥

तेज, भूमिका नाशक है इसलिये भूमि और तेजके वीचमें जलका व्यवधान किया गया है इस प्रकार पृथिवी और तेजके विरोधके कारण तथा जलकी आधार पृथिवी है और आधेय जल है इसलिये जलके आधेय होनेके कारण पृथिवीके वाद जलका उल्लेख किया गया है ।

ततस्तेजोगृहणं तत्परिपाकहेतुत्वात् ॥ ४ ॥

पृथिवी और जल दोनोंके परिपाकका कारण तेज है इसलिये जलके वाद सूत्रमें तेजका उल्लेख किया गया है।

तेजोऽनंतरं वायुग्रहणं तदुपकारत्वात् ॥ ५ ॥

पवनका स्वभाव तिरछा चलना माना है। वह प्रेरणाकर तेजका उपकार करती है इसलिए तेजके बाद वायुका ग्रहण है।

अंते वनस्पतिग्रहणं सर्वेषां तत्प्रादुर्भावे निमित्तत्वादनंतगुणत्वाच्च ॥ ६ ॥

वनस्पति-वृक्ष आदिकी उत्पत्तिमें पृथिवी जल आदि सभी कारण पडते हैं तथा पृथिवीकायिक आदिकी अपेक्षा वनस्पतिकायिक जीवोंको अनंतगुणा माना है इसलिए सूत्रमें सबके अंतमें वनस्पति शब्दका ग्रहण किया गया है। इसप्रकार पृथिवी जल तेज वायु और वनस्पतिके भेदसे स्थावरजीव पांच प्रकारके हैं और इन पांचों ही प्रकारके स्थावरोंके स्पर्शनइंद्रिय कायबल उच्छ्वासनिश्वास और आयु ये चार प्राण माने हैं ॥ १३ ॥

अब सूत्रकार त्रस जीवोंके विषयमें कहते हैं—

द्वींद्रियादयस्त्रसाः ॥ १४ ॥

अर्थ—दो इंद्रियको आदि लेकर पंचेंद्रियपर्यंत जीवोंकी त्रस संज्ञा है।

आदिशब्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षातो व्यवस्था ॥ १ ॥

ऊपर अर्थ बतलाए गए हैं उनमें यहां प्रकार सामीप्य व्यवस्था आदि बहुतसे आदि शब्दके व्यवस्था अर्थका ग्रहण है । दोइंद्रिय तेइंद्रिय चौइंद्रिय और पंचेंद्रिय जीव आगममें त्रस नामसे व्यव-

स्थित हैं 'द्वे इंद्रिये यस्य सोऽयं द्वींद्रियः, स आदिर्येषां ते द्वींद्रियादयः' अर्थात् जिनके दो इंद्रिय हों वे द्वींद्रिय और द्वींद्रिय जिनकी आदिमें हों वे द्वींद्रियादि हैं, यह सूत्रमें स्थित द्वींद्रियादि शब्दकी व्युत्पत्ति है। शंका–

अन्यपदार्थनिर्देशाद्द्वींद्रियाग्रहणं ॥ २ ॥ न वा तद्‌गुण संविज्ञानात् ॥ ३ ॥

द्वींद्रियादि यहांपर ऊपर बहुव्रीहि समास बतलाया गया है बहुव्रीहि समासमें अन्य पदार्थ प्रधान और वाक्यगत पदार्थ गौण माने जाते हैं। यहांपर भी अन्य पदार्थ प्रधान और द्वींद्रिय पदार्थ उपलक्षण हैं इसलिए जिसप्रकार 'पर्वतादीनि क्षेत्राणि' अर्थात् पर्वत आदि क्षेत्र हैं यहांपर क्षेत्रके ग्रहणसे पर्वतका ग्रहण नहीं होता उसीप्रकार 'द्वींद्रियादि' यहांपर भी द्वींद्रिय शब्दका ग्रहण नहीं हो सकता इसलिए द्वींद्रिय जीव त्रस न कहे जा सकेंगे ? सो ठीक नहीं। बहुव्रीहि समासके तद्‌गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि और अतद्‌गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि ये दो भेद माने हैं यदि अतद्‌गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि मानी जायगी तब 'द्वींद्रियादि' यहांपर द्वींद्रियका ग्रहण नहीं किया जा सकता किंतु यहां तो तद्‌गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास मानी गई है इसलिए 'शुक्लवाससमानय' अर्थात् जिसके वस्त्र सफेद हों उसे ले आओ, यहांपर जिसप्रकार शुक्लवासस शब्दका भी ग्रहण किया जाता है उसीप्रकार द्वींद्रियादि यहांपर भी द्वींद्रिय शब्दके ग्रहणमें कोई आपत्ति नहीं। तथा और भी यह बात है कि–

अवयवेन विग्रहे सति समुदायस्य वृत्त्यर्थत्वाद्वा ॥ ४ ॥

विग्रह अवयवोंके साथ होता है और समासका अर्थ समुदायगत माना जाता है। इसलिए जिसतरह 'सर्वादि सर्वनाम' अर्थात् सर्व आदि शब्द सर्वनाम संज्ञक हैं यहांपर उपलक्षणभूत भी सर्वशब्दको

सर्वनामके अंतर्भूत माना है उसीप्रकार द्वींद्रियादि यहांपर उपलक्षणभूत भी द्वींद्रियका अंतर्भाव त्रस-कायमें है इसलिए द्वींद्रिय जीवोंको त्रसकाय मानना बाधित नहीं कहा जासकता। यदि कदाचित यहां पर यह शंका की जाय कि समासका अर्थ समुदायनिष्ठ माननेसे जब उपलक्षणस्वरूप भी द्वींद्रियोंका ग्रहण त्रसोंमें कर लिया है तब 'पर्वतादीनि क्षेत्राणि' यहांपर भी पर्वत शब्दका क्षेत्रोंमें अंतर्भाव करना चाहिए। यहां पर्वत पदार्थका परित्याग क्यों? सो ठीक नहीं। पर्वतका क्षेत्रोंमें अंतर्भाव हो ही नहीं सकता क्योंकि पर्वतको क्षेत्र नहीं माना गया इसलिए उसका क्षेत्रोंमें ग्रहण नहीं माना है। द्वींद्रियका तो त्रसोंमें अंतर्भाव आगमसिद्ध है इसलिए उसका त्रसोंमें अंतर्भाव करनेमें कोई आपत्ति नहीं। इसप्रकार द्वींद्रिय तेइंद्रिय चतुरिंद्रिय और पंचेंद्रिय इन चारप्रकारके जीवोंकी त्रस संज्ञा है। द्वींद्रियादि जीवोंके प्राणोंकी संख्या इसप्रकार है—

स्पर्शन इंद्रिय रसना इंद्रिय वचनबल कायबल उच्छ्वासनिश्वास और आयु ये छह प्राण इंद्रिय जीवों के होते हैं। इन छह प्राणोंमें घ्राण इंद्रियके अधिक जोडदेनेपर सात प्राण तेइंद्रिय जीवके होते हैं। इन्हीं सातोंमें चक्षु इंद्रिय अधिक जोडदेनेपर आठप्राण चौइंद्रिय जीवोंके होते हैं। इन्हीं आठोंमें श्रोत्र इंद्रिय अधिक जोड देनेपर नौ प्राण असंज्ञी पंचेंद्रिय तिर्यंचोंके होते हैं। तथा मनोबल अधिक दश प्राण संज्ञी पंचेंद्रिय तिर्यंच, मनुष्य देव और नारकियोंके माने हैं॥ १४॥

द्वींद्रियादयस्त्रसाः' इससूत्रमें आदि शब्दसे इंद्रियोंका निर्देश किया है परंतु वे कितनी हैं यह नहीं बतलाया गया इसलिये सूत्रकार अब उन इंद्रियोंकी इयत्ता बतलाते हैं—अथवा इस सूत्रकी उत्थानिका इसप्रकार भी है —

बहुतसे पंडितमन्य वादियोंमें कोई पांच इंद्रिय मानते हैं कोई छह इंद्रिय मानते हैं और कोई (सांख्यमती)[1] ग्यारह इंद्रिय मानते हैं उन अनिष्ट मतोंके खंडनार्थ इंद्रियां पांच ही हैं अधिक नहीं यह नियम प्रतिपादन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पंचेंद्रियाणि ॥ १५ ॥

अर्थ—सब इंद्रियां पांच हैं। वार्तिककार इंद्रिय शब्दका अर्थ बतलाते हैं—

इंद्रस्यात्मनोलिंगमिंद्रियं ॥ १ ॥ इंद्रेण कर्मणा सृष्टमिति वा ॥ २ ॥

इंद्रका अर्थ परमैश्वर्यका भोगनेवाला परमेश्वर है। कर्म बंधनोंमें जिकडे रहनेके कारण यद्यपि संसारी आत्मा परमेश्वर नहीं है तथापि उसके होनेकी उसके अंदर शक्ति मौजूद है इसरीतिसे कर्मबंधनोंमें फसा रहनेपर भी इंद्रनामके धारक उपभोग करनेवाले एवं स्वयं पदार्थोंके ग्रहण करनेमें असमर्थ आत्माको पदार्थोंके देखने और जाननेरूप उपयोगमें सहायता पहुंचानेवाला जो लिंग हो उसे इंद्रिय कहते हैं। अथवा—

अपने द्वारा उपार्जन किये गये कर्मोंके द्वारा यह आत्मा देवेंद्र आदि पर्यायोंमें तथा तिर्यंच आदि पर्यायोंमें इष्ट अनिष्ट पदार्थोंका अनुभव करता है इसलिये कर्मका भी नाम इंद्र है। उस इंद्र—कर्म द्वारा

---

१ सांख्यसिद्धांतकारने बुद्धींद्रिय और कर्मेंद्रियके भेदसे मूलभेद इंद्रियोंके दो माने हैं। उनमें—

बुद्धींद्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि। वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेंद्रियाण्याहुः ॥ २६ ॥

इस कारिकाके अनुसार चक्षु श्रोत्र घ्राण रसना और त्वक् ये पांच बुद्धींद्रिय, वचन हाथ पांव गुदा और लिंग ये पांच कर्मेंद्रिय एवं मन इसप्रकार ग्यारह इंद्रिया मानी हैं। सा० त० कौ०।

होनेवाली जो कोई विशेष पर्याय है उसका नाम इंद्रिय है । इंद्रियके स्पर्शन रसना आदि पांच भेद हैं उनका आगे उल्लेख किया जायगा। शंका—

मनोऽपींद्रियमिति चेन्नानवस्थानात् ॥ ३ ॥ इंद्रियपरिणामाच्च प्राक् तद्व्यापारात् ॥ ४ ॥

कर्मोंसे मलिन निस्सहाय आत्मा बिना मनकी सहायताके पदार्थोंके विचार करनेमें असमर्थ है इसलिये पदार्थोंके चिंतवन करनेमें मन कारण पडता है तथा नो इंद्रियावरणकर्मके क्षयोपशमसे मनकी उत्पत्ति मानी है इसलिये वह कर्मजनित है इसरीतिसे इंद्रियके जो ऊपर लक्षण बतलाये हैं वे दोनों मनके अंदर घटजानेसे उसे भी इंद्रिय कहना चाहिये ? सो ठीक नहीं। जिसप्रकार चक्षु आदि इंद्रियोंके रहनेका स्थान प्रतिनियत है उसप्रकार मनके रहनेका कोई प्रतिनियतस्थान नहीं दीख पडता इसलिये प्रतिनियत स्थानके अभावसे वह अनिंद्रिय ही है इंद्रिय नहीं कहा जा सकता तथा—

संसारमें यह बात प्रतीति सिद्ध है कि जिस मनुष्यको सफेद रूप आदिके देखनेकी इच्छा होती है वा खट्टा मीठा आदि रस चाखनेकी अभिलाषा होती है वह पाहिले मनसे यह विचार लेता है कि मैं ऐसा रूप देखूंगा वा ऐसा रस चाखूंगा उसी विचारके अनुसार चक्षु आदि इंद्रियां इष्ट रूप रस आदि विषयों में व्यावृत होती हैं इस रीतिसे नेत्र आदि इंद्रियों द्वारा होनेवाले रूप आदि ज्ञानसे पाहिले ही जब मन का व्यापार है तब चक्षु आदि इंद्रियोंमें और मनमें विषमता रहनेसे चक्षु आदिके समान मनः इंद्रिय नहीं कहा जा सकता किंतु वह अनिंद्रिय ही है। शंका—

कर्मेंद्रियोपसंख्यानमितिचेन्नोपयोगप्रकरणात् ॥ ५ ॥ अनिंद्रियत्वं वा तेषामनवस्थानात् ॥ ६ ॥

जिसतरह रूप रस आदि पदार्थोंके ज्ञानमें कारण स्पर्शन आदि बुद्धींद्रियां मानी गई हैं उसीप्रकार

वचन कहना रखना बैठना आदि क्रियाओंमें कारण वाक् पाणि पाद पायु और उपस्थ ये पांच कर्मेंद्रिय भी मानी गयी हैं इसलिये स्पर्शन आदि इंद्रियोंके साथ वाक् पाणि आदि कर्मेंद्रियोंका भी उल्लेख करना चाहिये ? सो ठीक नहीं। यहांपर ज्ञान दर्शन स्वरूप उपयोगका प्रकरण चल रहा है इसलिये जो इंद्रियां ज्ञान दर्शन स्वरूप उपयोगमें कारण हैं उन्हींका यहां उल्लेख किया जा सकता है। स्पर्शन आदि इंद्रियां उपयोगमें कारण हैं इसलिये उन्हींका यहां ग्रहण है वाक् पाणि आदि इंद्रियां उपयोगमें कारण नहीं इसलिये उनका यहां ग्रहण नहीं है। इसलिये अप्रकृत होनेसे वाक् आदि इंद्रियोंका यहां उल्लेख नहीं किया गया। तथा और भी यह बात है कि—

जो पदार्थ ज्ञान और दर्शनस्वरूप उपयोगमें कारण हो उसीका नाम इंद्रिय माना है। स्पर्शन आदि इंद्रियां उपयोगमें कारण हैं इसलिये उन्हें इंद्रिय मानना युक्त है। वाक पाणि आदि उपयोगमें कारण नहीं इसलिये उन्हें इंद्रिय नहीं कहा जा सकता यदि यहांपर 'जो क्रियाकी साधन हों वे इंद्रिय हैं' यह इंद्रिय सामान्यका लक्षण किया जायगा तो यद्यपि बोलना आदि क्रियाओंकी कारण होनेसे वाक् आदि इंद्रियां कहे जांयगे परंतु क्रियाके साधन तो मस्तक आदि सब ही अंग उपांग हैं। सबोंको इंद्रिय कहना पडेगा फिर किसको इंद्रिय कहना किसको न कहना अथवा वाक् पाणि आदि पांचको कर्मेंद्रिय कहना औरोंको न कहना यह अवस्था ही न बन सकेगी इसलिये 'जो क्रियाकी साधन हों वे इंद्रिय हैं यह इंद्रिय सामान्यका लक्षण न मानकर 'जो उपयोगमें कारण हों वे इंद्रिय हैं' यही इंद्रिय का लक्षण मानना चाहिये। उपयोगका कारण स्पर्शन आदि ही हैं इसलिये वे ही इंद्रिय कही जा सकती हैं वाक् पाणि आदि उसके साधन नहीं इसलिये उन्हें इंद्रिय नहीं कहा जा सकता तथा इस-

रीतिसे जब वाक् आदिमें इंद्रियपना सिद्ध नहीं तब यहां इंद्रियप्रकरणमें उनका ग्रहण भी नहीं किया जा सकता ॥ १५ ॥

भोक्ता आत्माको इष्ट अनिष्टरूप विषयोंकी उपलब्धि करानेवाली और उपर्युक्त सामर्थ्यविशेषसे निश्चित भेदवाली जो इंद्रियां हैं उनमें हरएकके कितने भेद हैं। सूत्रकार यह बतलाते हैं—

द्विविधानि ॥ १६ ॥

अर्थ—पांचों इंद्रियोंमें प्रत्येक इंद्रियके द्रव्येंद्रिय और भावेंद्रियके भेदसे दो दो भेद हैं।

विधिशब्दस्य प्रकारवाचिनो ग्रहणं ॥ १ ॥

विध-युक्त-गत और प्रकार ये चारों शब्द समान अर्थके वाचक हैं इसलिए यहांपर विध शब्दका अर्थ प्रकार है। द्वौविधौ येषां तानि द्विविधानि-द्विप्रकाराणि यह द्विविध शब्दका अर्थ पूर्ण विग्रह है। वे दोनों प्रकार द्रव्येंद्रिय और भावेंद्रिय हैं ॥ १६ ॥

सूत्रकार द्रव्येंद्रियका स्वरूप निरूपण करते हैं—

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येंद्रियं ॥ १७ ॥

अर्थ—निर्वृत्ति और उपकरणके भेदसे द्रव्येंद्रिय दोप्रकारका है।

निर्वृत्त्यत इति निर्वृत्तिः ॥ १ ॥ द्वेधा बाह्याभ्यंतर भेदात् ॥ २ ॥

नामकर्मके उदयसे जो रचना विशेष हो उसे निर्वृत्ति कहते हैं और वह बाह्यनिर्वृत्ति और अंतरंग निर्वृत्तिके भेदसे दो प्रकारकी है।

तत्र विशुद्धात्मप्रदेशवृत्तिराभ्यंतरा ॥ ३ ॥

उत्सेधांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण विशुद्ध आत्मप्रदेशोंका जो भिन्न भिन्न रूपसे नेत्र आदि इंद्रियोंके मसूर आदि आकार और प्रमाणस्वरूप परिणत होना है वह अंतरंग निर्वृत्ति है। तथा—

तत्र नामकर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयो बाह्या ॥ ४ ॥

उन्हीं आत्माके विशुद्ध प्रदेशोंमें इंद्रियोंके नामसे कहे जानेवाले भिन्न भिन्न आकारोंके धारक संस्थान नामकर्मके उदयसे होनेवाले अवस्थाविशेषसे युक्त जो पुद्गलपिंड है वह बाह्य निर्वृत्ति है।

विशेष—आत्माके प्रदेशोंका इंद्रियोंके आकार परिणत होना अभ्यंतरनिर्वृत्ति है और पुद्गल परमाणुओंका नासिका आदि इंद्रियोंके आकार परिणत हो जाना बाह्यनिर्वृत्ति है। जिसतरह—मसूरके समान आकारवाली नेत्र इंद्रियमें नेत्रेंद्रियके आकाररूप जितने आत्माके प्रदेश विद्यमान हैं वे अभ्यंतर निर्वृत्ति कहे जाते हैं और उस नेत्र इंद्रियके आकार जितने पुद्गलके परमाणु समूहरूपसे विद्यमान हैं उन्हें बाह्य निर्वृत्ति कहते हैं।

उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरणं ॥ ५ ॥ तद्द्विविधं पूर्ववत् ॥ ६ ॥

जो निर्वृत्तिका सहायक हो वह उपकरण है और वह बाह्य और अभ्यंतर उपकरणके भेदसे दो प्रकारका है।

---

१ 'केवल आत्मप्रदेशोंका' यह अर्थ समझ लेना चाहिये।

यवनालमसूरातिमुक्तेन्द्वर्धसमाः क्रमात्। श्रोत्राक्षिघ्राणजिह्वाः स्युः स्पर्शनं नैकसंस्थिति ॥ ५० ॥ त० सा० पृष्ठ ६९।

कानोंका यवकी मध्य नालीकासा आकार होता है, नेत्रका मसूरके समान, नाकका तिल पुष्पके समान, जीभका अर्धचंद्रके समान और स्पर्शन इंद्रियका अनेक प्रकारका आकार होता है।

तत्राभ्यंतरं शुक्लकृष्णमंडलं वाह्यमक्षिपत्रपक्ष्मद्वयादि ॥ ७ ॥

मसूरके आकार नेत्रेंद्रियका जो भीतर सफेदभाग और काला गोलक है वह अभ्यंतर उपकरण है और पलक भापणी आदि वाह्य उपकरण हैं। यह नेत्रेंद्रिय संबंधी निर्वृत्ति और उपकरणका स्वरूप बतलाया है इसीप्रकार स्पर्शन आदि इंद्रियोंके विषयमें भी योजना कर लेनी चाहिए।

सूत्रकार अब भावेंद्रियका स्वरूप बतलाते हैं—

लब्ध्युपयोगौ भावेंद्रियं ॥ १८ ॥

अर्थ—लब्धि और उपयोग ये दो भेद भावेंद्रियके हैं वार्तिककार सूत्रमें जो लब्धि शब्द है उसपर विचार करते हैं—

प्राप्त्यर्थक डुलभष् धातुसे क्ति प्रत्यय करनेपर लब्धि शब्द बना है। यहांपर यदि यह शंका हो कि—षिद्भिदादिभ्योऽङ्। २—३—१०१। जिन धातुओंका षकार अनुबंध गया है उनसे और भिद् आदि धातुओंसे कर्तामें न होकर भावमें स्त्रीलिंगमें अङ् प्रत्यय होता है, यह जैनेंद्र व्याकरणका सूत्र है। डुलभष् धातुका ष् अनुबंध गया है इसलिए उससे अङ् प्रत्यय ही होना चाहिए और जॄष धातुसे जिसतरह जरा बनता है और त्रपुषसे त्रपा बनता है उसीप्रकार लभष् धातुसे भी लभा ही बना चाहिए, क्ति प्रत्यय कर जो 'लब्धि' शब्द बनाया है वह अशुद्ध है? सो ठीक नहीं। 'अनुबंधकृतमनित्यं' अनुबंधके आधीन जो कार्य होता है वह अनित्य अर्थात् कहीं होता है कहीं नहीं होता। यह भी व्याकरणका ही नियम है अतः डुलभष् धातुसे अङ् प्रत्ययका जो विधान है वह भी ष् अनुबंधके आधीन है इसलिए वह होना ही चाहिए यह नियमरूपसे नहीं कहा जा सकता इसरीतिसे जब लभ धातुसे अङ् प्रत्ययका कोई निय-

मित विधान नहीं तब उससे क्ति प्रत्ययका भी संभव होनेसे लब्धि शब्द भी शुद्ध ही है। तथा—'वर्णानुपलब्धौ वा तदर्थगतेः' इत्यादि स्थलोंपर व्याकरणशास्त्रमें लब्धि शब्दका उपयोग भी किया गया है। यदि लब्धि शब्द अशुद्ध होता तो उपर्युक्त स्थलपर लब्धि शब्दका प्रयोग नहीं किया जाता। अथवा—

स्त्रियां क्तिः। २-३-८०। कर्तासे रहित भावलकारमें वर्तमान धातुसे स्त्रीलिंगमें क्ति प्रत्यय होता है। तथा लभादिभ्यश्च। २-३-८१। लभ आदि धातुओंसे भी उपर्युक्त अवस्थामें क्ति प्रत्यय होता है। ये भी जैनेंद्र व्याकरणके ही सूत्र हैं इसलिए डुलभष् धातुसे क्ति प्रत्ययका विधान अयुक्त न होनेसे लब्धि शब्द कभी असाधु नहीं कहा जा सकता। 'लभादिभ्यश्च' यहांपर लभ आदि धातुओंका ग्रहण इच्छानुकूल है। इसरीतिसे सूत्रमें स्थित लब्धि शब्दके अशुद्ध न होनेपर लब्धिका लाभ अर्थ निर्दोष है। वार्तिककार लब्धि शब्दका खुलासा अर्थ बतलाते हैं—

इंद्रियनिर्वृत्तिहेतुः क्षयोपशमविशेषो लब्धिः ॥ १ ॥

जिसके बलसे आत्मा द्रव्येंद्रियकी रचनामें प्रवृत्त हो ऐसे ज्ञानावरण कर्मके विशेषक्षयोपशमका नाम लब्धि है। अर्थात् द्रव्येंद्रियकी रचनाका कारण आत्माका जो ज्ञानावरण कर्मका विशेषक्षयोपशमरूप परिणाम है उसका नाम लब्धि है।

तन्निमित्तः परिणामविशेष उपयोगः ॥ २ ॥

ज्ञानावरण कर्मके उस विशिष्ट क्षयोपशमसे जायमान जो आत्माका परिणाम विशेष है उसका नाम उपयोग है। इसप्रकार लब्धि और उपयोग दोनों स्वरूप भावेंद्रिय है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

उपयोगस्य फलत्वादिंद्रियव्यपदेशानुपपत्तिरिति चेन्न कारणधर्मस्य कार्यानुवृत्तेः ॥ ३ ॥

उपयोगको ज्ञानदर्शन स्वरूप माना है। वह इंद्रियोंका फल है क्योंकि उसकी उत्पत्ति इंद्रियोंसे होती है किंतु इंद्रियस्वरूप नहीं परंतु यहांपर उपयोगको भावेंद्रिय माना है इसलिए यह अयुक्त है। सो ठीक नहीं। कार्य भी लोकमें कारण माना गया है जिसतरह घटाकार परिणतज्ञान घटसे जायमान होनेसे घटका कार्य है तथापि उस विज्ञानको घट कह दिया जाता है उसीप्रकार उपयोग यद्यपि इंद्रियों से जायमान होनेसे उनका फल है तथापि वह इंद्रिय, कहा जा सकता है इसलिए उपयोगको भावेंद्रिय माननेमें कोई आपत्ति नहीं। तथा—

शब्दार्थसंभवाच्च ॥ ४ ॥

ऊपर 'इंद्रियस्य लिंगं वा इंद्रेण सृष्टं' अर्थात् जो आत्माका लिंग हो और कर्मद्वारा रचा गया हो वह इंद्रिय है, यह जो इंद्रिय शब्दका अर्थ कह आए हैं वह प्रधानतासे उपयोगके अंदर ही घटता है क्योंकि ज्ञान दर्शनस्वरूप उपयोग आत्माका लिंग भी है और कर्मसे रचित भी है। इसलिए उपयोगको भावेंद्रिय मानना अयुक्त नहीं ॥ १८ ॥

'इंद्रियां पांच हैं' यह ऊपर संख्यामात्र इंद्रियोंकी बतलाई है परंतु उन पांचोंके नाम क्या क्या हैं? और उनका आनुपूर्वीक्रम क्या है? यह विशेष नहीं बतलाया सूत्रकार अब उसे बतलाते हैं—

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥ १९ ॥

अर्थ—स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु और श्रोत्र ये पांच इंद्रियां हैं। स्पर्शनका अर्थ त्वक्, रसनाका जीभ, घ्राणका नाक, चक्षुका नेत्र श्रोत्रका अर्थ कान है।

स्पर्शनादीनां करणसाधनत्वं पारतंत्र्यात् कर्तृसाधनत्वं च स्वातंत्र्याद्बहुलवचनात् ॥ १ ॥

स्पृश आदि धातुओंसे युट् प्रत्यय करनेपर स्पर्शन आदि शब्दोंकी सिद्धि होती है। लोकमें इंद्रियों की स्वकार्यके करनेमें परतंत्रता अनुभवमें आती है इसलिये स्पर्शन आदि करण साधन हैं क्योंकि जिससमय इंद्रियोंकी परतंत्रत्वेन विवक्षा की जाती है और आत्माका स्वातंत्र्य माना जाता है उससमय 'अनेनाक्ष्णा अहं सुष्ठु पश्यामि' (इस आंखके द्वारा मैं अच्छी तरह देखता हूं) 'अनेनकर्णेनाहं सुष्ठु शृणोमि' (इस कानसे मैं अच्छीतरह सुनता हूं) ऐसा संसारमें व्यवहार होता है। यदि उन्हें करण साधन न माना जाय तो इसरूपसे संसारमें व्यवहार नहीं हो सकता इसरीतिसे वीर्यांतराय और स्पर्शन रसना आदि भिन्न भिन्न इंद्रियावरण कर्मोंके क्षयोपशमसे एवं अंगोपांग नामक नामकर्मके बलसे जिसके द्वारा आत्मा पदार्थोंका स्पर्श करे वह स्पर्शन इंद्रिय है। जिसके द्वारा स्वाद ले वह रसना, जिसके द्वारा सूंघे वह घ्राण, जिसके द्वारा देखे वह चक्षु और जिसके द्वारा सुने वह श्रोत्र यह स्पर्शन आदि इंद्रियोंकी करण साधन व्युत्पत्ति है तथा—

लोकमें इंद्रियोंकी स्वकार्यके प्रति स्वतंत्रता रूपसे भी विवक्षा है इसलिये वे कर्तृसाधन भी हैं क्योंकि 'इदं मे अक्षि सुष्ठु पश्यति' (यह मेरा नेत्र अच्छी तरह पदार्थोंको देखता है) और 'अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोति' (यह मेरा कान अच्छी तरह सुनता है) यह संसारमें व्यवहार होता है। यदि उन्हें कर्तृ-साधन न माना जायगा तो इसरूपसे संसारमें व्यवहार नहीं हो सकता। इसरीतिसे उपर्युक्त वीर्यांतराय और स्पर्शन रसन आदि भिन्न भिन्न इंद्रियावरणकर्मोंके क्षयोपशमसे एवं अंगोपांग नामक नामकर्मके बलसे जो स्वयं पदार्थोंका स्पर्श करे वह स्पर्शन है। स्वयं रसोंको चखे वह रसना, स्वयं गंधवाले पदार्थोंको

सूंघे वह घ्राण, स्वयं पदार्थोंको देखे वह चक्षु और स्वयं शब्दोंको सुने वह श्रोत्र इंद्रिय है। इसप्रकार
स्पर्शन आदि इंद्रियोंकी यह कर्तृसाधन व्युत्पत्ति है।

यदि यहांपर यह शंका की जाय कि युट् प्रत्ययका विधान कर्तामें ही होता है करणमें नहीं इसलिये
जहांपर स्पर्शन आदिकी कर्तृसाधन व्युत्पत्ति होगी वहींपर स्पृश आदि धातुओंसे युट् प्रत्यय करनेपर
स्पर्शन आदि शुद्ध माने जा सकते हैं किंतु करणसाधन व्युत्पत्तिमें उनकी सिद्धि नहीं हो सकती इस-
लिये करण साधन अर्थमें जो स्पृश आदि धातुओंसे युट् प्रत्ययका विधान किय गया है वह अयुक्त है?
सो ठीक नहीं। कर्तामें जो युट् प्रत्ययका विधान माना है वह बहुलतासे है अर्थात् कहींपर कर्तामें
होता है और कहीं पर करण साधन अर्थमें भी होता है इसलिये करणसाधन अर्थमें भी युट् प्रत्ययका
विधान युक्त होनेपर स्पर्शन आदिकी कारण साधन व्युत्पत्ति अयुक्त नहीं।

श्वेतांबर ग्रंथोंमें 'स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणींद्रियाणि' ऐसा सूत्र पाठ है परंतु वह युक्त नहीं
क्योंकि—

आधिकृतत्वादिंद्रियाणीत्यवचनं ॥ २ ॥

'पंचेंद्रियाणि' इस सूत्रमें इंद्रिय शब्दका उल्लेख किया गया है। 'जितने भर सूत्र हैं सोपस्कार हुआ
ही करते हैं'। इसलिये उस सूत्रसे स्पर्शनरसनेत्यादि सूत्रमें इंद्रिय शब्दकी अनुवृत्ति होनेसे पुनः इंद्रिय
शब्दका कथन करना व्यर्थ है। वार्तिककार स्पर्शन आदि इंद्रियोंके क्रमिक कथनपर विचार करते हैं—

स्पर्शनग्रहणमादौ शरीरव्यापित्वात् ॥ ३ ॥ सर्वसंसारिषूपलब्धेश्च ॥ ४ ॥

पांचो इंद्रियोंमें स्पर्शन इंद्रिय समस्त शरीरको व्याप्त कर रहती हैं इसलिये सूत्रमें सबसे पहिले

स्पर्शन इंद्रियका ग्रहण है । तथा 'वनस्पत्यंतानामेकं' अर्थात् पृथिवीको लेकर वनस्पतिपर्यंत समस्त जीवोंके एक ही स्पर्शन इंद्रिय होती है, इससूत्रमें एक शब्दसे स्पर्शन इंद्रियका ही ग्रहण किया जाय इसलिये पांचो इंद्रियोंमें स्पर्शन इंद्रियका सबसे पहिले ग्रहण किया गया है । तथा यह भी बात है कि–

जितनेभर भी संसारमें जीव हैं सबके स्पर्शन इंद्रिय विद्यमान है इसलिये समस्त संसारी जीवोंमें विद्यमान रहनेसे नाना जीवोंकी अपेक्षा व्यापी रहनेके कारण सूत्रमें स्पर्शन इंद्रियका पहिले उल्लेख किया गया है ।

ततो रसनघ्राणचक्षुषां क्रमवचनमुत्तरोत्तराल्पत्वात् ॥ ५ ॥ श्रोत्रस्यांते वचनं बहूपकारित्वात् ॥ ६ ॥

स्पर्शन इंद्रियके वाद रसना घ्राण और चक्षुका जो कथन किया गया है उसमें उत्तरोत्तर अल्पता कारण है और वह इसप्रकार है–

सबसे थोडे चक्षु इंद्रियके प्रदेश हैं । उससे संख्यात गुणे श्रोत्र इंद्रियके प्रदेश हैं । उससे कुछ विशेष अधिक घ्राणेंद्रियके हैं । उससे असंख्यातगुणे रसना इंद्रियके हैं और उससे अनंतगुणे स्पर्शन इंद्रियके हैं । इसरीतिसे रसना इंद्रियके प्रदेशोंकी अपेक्षा घ्राण इंद्रियके और घ्राण इंद्रियके प्रदेशोंकी अपेक्षा चक्षु इंद्रियके प्रदेश कम होनेसे रसनाके वाद घ्राणका और घ्राणके वाद चक्षुका सूत्रमें उल्लेख किया गया है । यदि यहां पर यह शंका की जाय कि–

जब सब इंद्रियोंकी अपेक्षा चक्षु इंद्रियके प्रदेश कम हैं तब सब इंद्रियोंके अंतमें चक्षु इंद्रियका ही पाठ रखना ठीक है ? श्रोत्रका सबके अंतमें पाठ क्यों रक्खा गया ? सो ठीक नहीं । श्रोत्र इंद्रियके बलसे उपदेशको सुनकर मनुष्य हितकी प्राप्ति और अहितके परिहारमें प्रवृत्त होते हैं इसलिये समस्त इंद्रियोंकी

अपेक्षा श्रोत्र इंद्रिय अधिक उपकारी होनेसे उसका सब इंद्रियोंके अंतमें पाठ रक्खा है । यदि यहां पर यह शंका हो कि—

रसनमपि वक्तृत्वेनेति चेन्नाभ्युपगमात् ॥ ७ ॥ श्रोत्रप्रणालिकापादितोपदेशात् ॥ ८ ॥

चक्रवर्ती आदिके अभ्युदय और मोक्ष रूप पदार्थोंके उच्चारणमें एवं पठन पाठन आदिमें रसना इंद्रिय भी प्रधान कारण है । विना जीभके अभ्युदय आदि पदार्थोंका उच्चारण एवं पठन पाठन आदि हितकारी बातें सिद्ध नहीं हो सकतीं इसलिये इन बातोंमें श्रोत्रके समान रसना भी अधिक उपकारी होनेसे सब इंद्रियोंके अंतमें रसना इंद्रियका ही पाठ रखना आवश्यक है ? सो ठीक नहीं । जब वादीने रसना इंद्रियको अधिक उपकारी बतलाते हुए श्रोत्रको भी अधिक उपकारी स्वीकार कर लिया है तब वादकी समाप्ति हो चुकी क्योंकि जब श्रोत्र और रसना दोनों ही बहूपकारी हैं तब श्रोत्रका अंतमें पाठ न रख रसनाका रखना चाहिये वा रसनाका अंतमें पाठ न रख श्रोत्रका रखना चाहिये यह विवाद ही नहीं उठ सकता । जिसका अंतमें पाठ रख दिया गया उसीका ठीक है इसलिये बहूपकारी होनेसे रसनाका अंतमें पाठ रखना चाहिये यह शंका निर्मूल है । अथवा—

रसनाकी अपेक्षा श्रोत्र ही बहूपकारी है क्योंकि श्रोत्ररूपी नालिका द्वारा उपदेश सुननेके बाद ही रसनाका बोलनेकेलिये व्यापार होता है इसरीतिसे रसनाकी अपेक्षा जब श्रोत्र ही बहूपकारी पदार्थ है तब सबके अंतमें उसीका पाठ न्याय प्राप्त है । यदि यहांपर यह शंका हो कि—

सर्वज्ञे तदभाव इति चेन्नेंद्रियाधिकारात् ॥ ९ ॥

छद्मस्थ पुरुषके श्रोत्रेंद्रियके बलसे दूसरेसे उपदेश सुनकर भले ही बोलना हो परंतु सर्वज्ञ तो

श्रोत्रेंद्रियके बलसे परसे उपदेश ग्रहणकर बोलता नहीं किंतु वह तो केवलज्ञानावरणकर्मके सर्वथा नाश हो जानेपर जब अतींद्रिय केवलज्ञानको प्राप्त कर लेता है उससमय केवल रसना इंद्रियोंके सहायता मात्रसे वक्ता होकर समस्त शास्त्रीय पदार्थोंका वर्णन करता है इसरीतिसे रसनाके वक्तृत्वव्यापारमें जब श्रोत्र इंद्रिय कारण न पडी तब श्रोत्र इंद्रियकी अपेक्षा रसना ही बहुपकारी सिद्ध हुई इसलिये समस्त इंद्रियों के अंतमें रसना इंद्रियका ही ग्रहण युक्ति सिद्ध है ? सो ठीक नहीं। यहांपर इंद्रियोंका अधिकार चल रहा है। जहांपर सर्वथा इंद्रियोंके द्वारा किया जानेवाला हित अहितका उपदेश संभव है उन्हींकी अपेक्षा यह कहा गया है कि श्रोत्रके द्वारा उपदेश श्रवण कर रसना इंद्रियसे बोला जाता है किंतु जिनके इंद्रियों-का व्यापार आवश्यक ही नहीं उनके लिये यह नियम नहीं। छद्मस्थ जीवोंमें श्रोत्र इंद्रियके द्वारा उप-देश श्रवणके बाद ही रसना इंद्रियसे बोलना होता है इसलिये उनके लिये ही यह नियम है। सर्वज्ञको लक्ष्यकर यह कथन नहीं किया गया इसलिये उसकी अपेक्षा यह नियम न होनेसे कोई दोष नहीं। अथवा——

एकैकवृद्धिक्रमज्ञापनार्थं च स्पर्शनादि ग्रहणं ॥ १० ॥

आगे 'कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि' कीडा चिंउटी भौंरा और मनुष्य आदिके क्रमसे एक एक इंद्रिय अधिक है यह कहा गया है वहांपर इंद्रियोंकी क्रमसे वृद्धि बतलानेके लिये स्पर्शनके बाद रसना रसनाके बाद घ्राण इत्यादि क्रमसे सूत्रमें इंद्रियोंका उल्लेख किया गया है।

एषां च स्वतस्तद्वतश्चैकत्वपृथक्त्वं प्रत्यनेकांतः ॥ ११ ॥

स्पर्शन आदि इंद्रियोंकी आपसमें तथा इंद्रियवान् आत्मासे भिन्नता और अभिन्नता अनेकांत

रूपसे मानी गई है इसलिये इंद्रियां आपसमें अथवा इंद्रियवान्‌से कथंचित् अभिन्न भी हैं और कथंचित् भिन्न भी हैं और वह इसप्रकार हैं—

ज्ञानावरणकर्मकी क्षयोपशमरूप शक्ति पांचो इंद्रियोंकी उत्पत्तिमें समानतासे कारण है इसलिये जिससमय उस शक्तिके अभेदकी विवक्षा की जायगी उससमय शक्तिके एक होनेसे स्पर्शन आदि पांचो इंद्रियां एक हैं और वह ज्ञानावरणकर्मकी क्षयोपशमरूपशक्ति प्रतिनियत भिन्न भिन्न स्वरूप मानी जायगी अर्थात् स्पर्शन इंद्रियकी उत्पत्तिमें स्पर्शनेंद्रियावरणकर्मकी क्षयोपशमरूप शक्ति कारण है रसना इंद्रियकी उत्पत्तिमें रसनेंद्रियावरणकर्मकी क्षयोपशमशक्ति कारण है इत्यादिरूपसे प्रत्येक इंद्रिय-की उत्पत्तिमें क्षयोपशम रूप शक्तिको भिन्न भिन्नरूपसे स्वीकार किया जायगा उससमय शक्तिके भेदसे स्पर्शन आदि इंद्रियां भी भिन्न भिन्न हैं। अथवा—

समुदायी—अवयव, समुदायसे भिन्न नहीं किंतु समुदाय स्वरूप ही माने जाते हैं और वह समुदाय एक पदार्थ माना गया है इसलिये स्पर्शन आदि समस्त इंद्रियांरूप अवयव, समुदायस्वरूप शरीर पदार्थसे भिन्न नहीं इसरीतिसे अवयवोंकी अभेद विवक्षा माननेपर द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा स्पर्शन आदि इंद्रियां एक हैं और जब स्पर्शन इंद्रियके अवयव भिन्न हैं। रसनाके भिन्न हैं इसप्रकार अवयवोंकी भेद विवक्षा है उससमय पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा स्पर्शन आदि इंद्रियां भिन्न भिन्न हैं। अथवा—

इंद्रियजन्य ज्ञान उनका नाम तथा प्रवृत्ति निवृत्तिकी जहांपर अभेदरूपसे विवक्षा है अर्थात् ज्ञान आदिको जुदा जुदा नहीं माना जाता वहांपर स्पर्शन आदि पांचो इंद्रियां एक हैं और जहांपर स्पर्शन इंद्रिय जन्य ज्ञान अथवा उनके नाम उनका ज्ञान और प्रवृत्ति निवृत्तिका भेद है उनसे जायमान ज्ञान

आदिको जुदा जुदा माना जाता है उससमय स्पर्शन आदि इंद्रियां भिन्न भिन्न हैं। इसप्रकार यह इंद्रियोंकी आपसमें भेद और अभेदकी व्यवस्था कही गयी है। इंद्रियवान पदार्थोंसे इंद्रियोंके भेद और अभेदकी व्यवस्था इसप्रकार है—

जिसतरह अग्निसे तप्तायमान लोहके पिंडस्वरूप ही अग्नि परिणमित हो जाती है—लोहेके पिंडसे भिन्न नहीं दीख पडती इसलिये वहां लोहेका पिंड और अग्नि दोनों एक माने जाते हैं उसीप्रकार बाह्य और अंतरंग दोनों कारणोंसे आत्मा भी चैतन्यस्वरूप इंद्रिय पर्यायसे परिणमित है इसलिये आत्मा और इंद्रिय दोनों एक हैं। इस रूपसे द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा इंद्रियां इंद्रियवान् आत्मासे कथंचित् अभिन्न हैं और किसी एक इंद्रियके नष्ट हो जानेपर वा न रहनेपर भी आत्मा विद्यमान रहता है—इंद्रियके अभावमें उसका अभाव नहीं रहता इस अपेक्षा इंद्रियवान आत्मासे कथंचित् इंद्रियोंका भेद भी है अथवा पर्यायीसे पर्याय पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा भिन्न माने हैं। यहां पर भी पर्यायी आत्मा और पर्याय इंद्रियां हैं इसलिये पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा कथंचित् भेद रहनेसे भी इंद्रियवान् आत्मासे कथंचित इंद्रियोंका भेद है। घट पदार्थके समान यदि इंद्रियोंको सर्वथा आत्मासे भिन्न माना जायगा तो आत्माको अनिंद्रिय कहना पडेगा इसीतरह यदि सर्वथा अभिन्न माना जायगा तो इंद्रिय रूपसे जो संसारमें इंद्रियोंका व्यवहार हो रहा है वह न होगा इसलिये इंद्रियवान् आत्मासे कथंचित् भेद और अभेद ही मानना युक्तियुक्त है। अथवा—

जिससमय आत्मा और इंद्रिय इसप्रकार दोनों नामोंका अभेद माना जायगा उससमय इंद्रियवान् आत्मा पदार्थ और इंद्रिय दोनोंका अभेद है और जिससमय दोनों नामोंको भिन्न भिन्न माना जायगा उससमय

आत्मा और इंद्रिय दोनोंका भेद है। इसप्रकार आत्मा और इंद्रियोंका कथंचित् भेदाभेद ही युक्तिसिद्ध है। इसरीतिसे उपर्युक्त हेतुओंके बलसे इंद्रियोंका वा आपसमें वा इंद्रियवानआत्मासे जिसप्रकार कथंचित् एकत्व और कथंचित् अनेकत्व व्यवस्थित है उसीप्रकार कथंचित् एकानेकत्व कथंचित् अवक्तव्यत्व आदि भंग भी समझ लेने चाहिये ॥ १९ ॥

सूत्रकार स्पर्शन आदि पांचों इंद्रियोंका अब विषय प्रदर्शन करते हैं—

स्पर्शरसगंधवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥ २० ॥

अर्थ—स्पर्श रस गंध वर्ण और शब्द ये पांच क्रमसे उन पांचों इंद्रियोंके विषय हैं। इनमें स्पर्शन इंद्रियका विषय स्पर्श अर्थात् छूना है। रसना इंद्रियका विषय रस अर्थात् स्वाद लेना है। घ्राणइंद्रियका विषय सुगंधि दुर्गंधि सूंघना है। नेत्रइंद्रियका विषय वर्ण अर्थात् रंग है और श्रोत्र इंद्रियका विषय शब्दोंका सुनना है।

स्पर्शादीनां कर्मभावसाधनत्वं द्रव्यपर्यायविवक्षोपपत्तेः ॥ १ ॥

जिससमय द्रव्यकी विवक्षा की जायगी उससमय स्पर्श आदि कर्म साधन हैं और जिससमय पर्यायकी विवक्षा की जायगी उससमय भाव साधन हैं। उसका खुलासा इसप्रकार है—

जहांपर प्रधानतासे द्रव्यकी विवक्षा है वहांपर स्पर्शन आदि द्रव्यसे भिन्न नहीं इसलिए इंद्रियोंसे वहांपर द्रव्यहीके साथ संबंध होता है अतः प्रधानतासे द्रव्यकी विवक्षा रहनेपर जिसके द्वारा स्पर्श (छूना) किया जाय वह स्पर्श, जिसके द्वारा चखा जाय वह रस, जिसके द्वारा संघा जाय वह गंध,

जिसके द्वारा वर्णन किया जाय वह वर्ण और जिसके द्वारा सुना जाय वह शब्द है । इसप्रकार स्पर्श आदिकी कर्म-साधन व्युत्पत्ति है । तथा—

जिससमय प्रधानरूपसे पर्यायकी विवक्षा है उससमय द्रव्य और पर्यायोंका आपसमें भेद रहनेसे जो उदासीन रूपसे मौजूद भाव है उसीका कथन किया जाता है इसलिए पर्यायोंकी प्रधानरूपसे विवक्षा रहनेपर जो स्पर्श स्वरूप हो वह स्पर्श, जो रसस्वरूप हो वह रस, जो गंधस्वरूप हो वह गंध, जो वर्ण-स्वरूप हो वह वर्ण और जो शब्दस्वरूप हो वह शब्द इसप्रकार स्पर्श आदिकी भावसाधन व्युत्पत्ति है । इसरीतिसे द्रव्य और पर्यायोंकी विवक्षामें स्पर्श आदिकी कर्म और भावसाधन दोनों प्रकारकी व्युत्पत्ति अविरुद्ध है । शंका—

परमाणु अत्यंत सूक्ष्म अतींद्रिय पदार्थ है । जिसका स्पर्श किया जाय वह स्पर्श जो चखा जाय वह रस, यदि इसप्रकार स्पर्श आदिकी व्युत्पत्ति मानी जायगी तो परमाणुके अंदर रहनेवाले स्पर्श आदिमें तो यह व्युत्पत्ति घट नहीं सकती इसलिए वहांपर स्पर्श आदि व्यवहार न हो सकेगा ? सो ठीक नहीं । जो गुण कारणमें होता है वह कार्यमें भी नियमसे रहता है । स्थूल स्कंध आदि परमाणुके कार्य हैं और परमाणु उनके उत्पादक कारण हैं । स्कंध आदिमें स्पर्श आदि साक्षात् अनुभवमें आते हैं वे पर-माणुओंमें स्पर्श आदिके माने विना नहीं हो सकते इसलिए स्कंध आदिमें स्पर्श आदिके साक्षात्कारसे परमाणुओंमें भी अनुमानद्वारा उनकी सत्ता सिद्ध होनेसे परमाणुओंमें स्पर्श आदिका व्यवहार अबाधित है यहांपर यह न कहना चाहिए कि स्थूल स्कंधोंमें जो स्पर्श आदि हैं उनकी उत्पत्ति परमाणुगत स्पर्श

क्योंकि जो पदार्थ असत् है उसकी उत्पत्ति नहीं हो
आदिसे नहीं है किंतु वहांपर वे स्वतः ही उत्पन्न हैं। सकती। यदि परमाणुओंमें स्पर्श आदि न मानकर स्थूलस्कंधोंमें स्वतः उनकी उत्पत्ति मानी जायगी
तो वह बाधित किंवा असंभव कल्पना समझी जायगी। हां! यद्यपि परमाणुगत स्पर्श आदिको असम-
र्थतासे इंद्रियां ग्रहण नहीं कर सकतीं इसलिए वे इंद्रियोंके अग्राह्य हैं तथापि रूढिवलसे परमाणुगत स्पर्श
आदिका व्यवहार बाधित नहीं। तदर्थाः, तेषामर्थाः तदर्थाः, यहांपर तत् शब्दसे इंद्रियोंका ग्रहण है
अर्थात् स्पर्श आदि इंद्रियोंके विषय हैं। शंका—

तदर्था इति वृत्त्यनुपपत्तिरसमर्थत्वात् ॥ २ ॥ न वा गमकत्वान्नित्यसापेक्षेषु संबंधिशब्दवत् ॥ ३ ॥

वाक्यगत जो अवयव समर्थ होते हैं उन्हींका आपसमें समास होता है। असमर्थ अवयवोंका
समास नहीं होता। तथा जो अवयव दूसरे पदार्थोंकी अपेक्षा रखते हैं वे असमर्थ कहे जाते हैं। 'तदर्थाः'
इस वाक्यमें रहनेवाला तत् शब्द इंद्रियोंकी अपेक्षा रखता है इसलिए असमर्थ है। इसरीतिसे 'तेषामर्थाः'
तदर्थाः यह जो तदर्थ शब्दका षष्ठीतत्पुरुष समास ऊपर कहा गया है वह अनुचित है? सो ठीक नहीं।

जहांपर गमकता रहती है वहांपर भी समास हो जाता है तथा वह गमकपना जिसतरह सदा
अपेक्षा रखनेवाले संबंधी शब्दोंमें माना जाता है उसीप्रकार जितने भी नित्यसापेक्ष-सदा अपेक्षा रखने
वाले शब्द हैं उन सबमें माना जाता है इसरीतिसे देवदत्तका गुरुकुल वा देवदत्तका गुरुपुत्र, यहांपर

१—नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति। (२४) [वृहत्स्वयंभूस्तोत्र]
'नासतो विद्यतेभावो नाभावो विद्यते सतः' [अन्यत्र]
असतः प्रादुर्भावे द्रव्याणामिह भवेदनंतत्वं। को वारयितुं शक्तः कुंभोत्पत्ति मृदाद्यभावेऽपि ॥ १० ॥ [पंचाध्यायी]

संबंधी शब्दोंमें जिसतरह गुरुशब्द सदा शिष्यकी अपेक्षा रखनेके कारण नित्यसापेक्षी और नित्य-सापेक्षी होनेसे शिष्यका बोधक है इसलिये वहांपर निर्बाधरूपसे समास हो जाता है उसीतरह 'तदर्थाः' यहांपर यद्यपि सामान्य अर्थका वाचक और विशेषकी आकांक्षा रखनेवाला तत् शब्द इंद्रियोंकी अपेक्षा रखता है तथापि वह नित्यसापेक्षी है एवं नित्यसापेक्षी होनेसे वह गमक है इसलिये गमक होनेसे वहां पर 'तेषामर्थास्तदर्थाः' इस षष्ठी तत्पुरुष समासके होनेमें किसीप्रकारकी बाधा नहीं हो सकती। इस-रीतिसे जो सापेक्ष होता है वह असमर्थ होता है। असमर्थ अवयवोंका कभी समास हो नहीं सकता 'तदर्थाः' यहांपर भी तत् शब्द असमर्थ है उसका भी समास नहीं हो सकता यह जो ऊपर कहा गया था वह निर्मूल सिद्ध हो गया।

स्पर्शादीनामानुपूर्व्येण निर्देश इंद्रियक्रमाभिसंबंधार्थः ॥ ४ ॥

स्पर्शके बाद रस, रसके बाद गंध, गंधके बाद वर्ण और वर्णके बाद शब्द यह जो आनुपूर्वी क्रमसे सूत्रमें स्पर्श आदिका उल्लेख किया गया है वह 'इंद्रियोंके साथ स्पर्श आदिका क्रमसे संबंध है' यह द्योतन करता है अर्थात् स्पर्शन इंद्रिय स्पर्शको, रसना इंद्रिय रसको, घ्राण इंद्रिय गंधको, चक्षु इंद्रिय वर्णको और श्रोत्र इंद्रिय शब्दको क्रमसे ग्रहण करती है यह यहां तात्पर्य है। स्पर्श रसन आदि सामा-न्यरूपसे पुद्गल द्रव्यके गुण हैं परंतु नैयायिक और वैशेषिकमतावलंबियोंने इन गुणोंके विषयमें एक विशेषरूपसे कल्पना कर रक्खी है और वह इसप्रकार है—

पृथिवीमें रूप रस गंध और वर्ण ये चारों गुण रहते हैं। जलमें रूप रस और स्पर्श ये तीन ही गुण रहते हैं गंध गुण उसमें नहीं माना तथा उसे बहनेवाला और स्निग्ध भी माना है। तेजमें रूप और

स्पर्श ये दो ही गुण माने हैं गंध और रसका उसमें अभाव है और वायुमें केवल स्पर्श ही गुण माना है
शेष गुणोंकी वहांपर योग्यता नहीं इसलिये उनका अभाव है। परंतु नैयायिक आदिका यह मानना
ठीक नहीं क्योंकि इन चारों गुणोंका आपसमें साहचर्य संबंध है। जहांपर एक होगा वहां शेष गुणोंके
अविभाग प्रतिच्छेद–गुणांश कम होनेके कारण वे व्यक्त भले ही न हों परंतु उनका अभाव नहीं कहा
जा सकता। अनुमान प्रमाणसे स्पर्श आदि गुणोंमें किसी एक व्यक्त गुणके साथ शेष गुणोंकी भी सत्ता
मानी है और वह इसप्रकार है–

'रूपादिमान् वायुः स्पर्शवत्त्वाद्घटवत्'। जिसतरह घटमें स्पर्श है इसलिये उसमें रूप आदि भी हैं
उसीप्रकार वायुमें भी स्पर्श है अतः उसमें भी रूप आदि हैं। सदा सहचारी स्पर्श गुणके रहते वायुमें रूप
आदिका अभाव नहीं कहा जा सकता। 'तेजोऽपि रसगंधवद् रूपवत्त्वाद् गुडवत्' जिसतरह गुडमें रूप है
इसलिये उसमें रस और गंध भी है उसीप्रकार तेजमें भी रूप है अतः उसमें भी रस और गंध है। रूपके
रहते रस और गंधका उसमें अभाव नहीं कहा जा सकता। 'आपोऽपि गंधवत्यः रसवत्त्वादाम्रफलवत्'
जिसप्रकार आम्रफलमें रस है इसलिये उसमें गंध भी है उसीप्रकार जलमें भी रस है इसलिये उसमें भी
गंध है रसके मौजूद रहते जलमें गंधका अभाव नहीं कहा जा सकता। तथा जल आदिमें प्रत्यक्षरूपसे
गंध आदि गुणोंकी प्रतीति होती है इसलिये गंध आदि गुणोंका उनमें अभाव नहीं हो सकता। यदि
यहांपर यह शंका की जाय कि–

गंध आदि जल आदिके निजी गुण नहीं, वे पृथिवीके ही निजी गुण हैं किंतु पृथिवीके परमाणुओंका
संयोग जल आदिके साथ रहता है इसलिये संयोगवश पृथिवीके गुण जलके जान पडते हैं? सो ठीक नहीं।

"गंध आदि पृथिवीके परमाणुओंके ही गुण हैं जल आदिके निजीगुण नहीं किंतु पृथिवीके संबंधसे वे जल आदिके भी जान पडते हैं" इसबातका साधक कोई भी विशेष हेतु नहीं इसलिये पार्थिव परमाणुओंके संबंधसे जल आदिमें गंध आदिकी प्रतीति होती है जल आदिके गंध आदि निजी गुण नहीं यह कहना भ्रमपूर्ण है। वार्तिककार अपनी सम्मति प्रगट करते हैं कि—

हम तो यह कहते हैं कि जिस गुणकी जिस पदार्थमें उपलब्धि है वह गुण उसी पदार्थका है किसी अन्य पदार्थके संयोगसे उसमें उस गुणकी प्रतीति नहीं होती। यदि कोई विशेष हेतु न देकर पार्थिव परमाणुओंके संयोगसे ही जल आदिमें गंध आदिकी उपलब्धि जबरन मानी जायगी तब उनमें गंध आदिके समान रस आदिकी उपलब्धि भी जबरन मान लेनी चाहिये इसरीतिसे संयोगसे ही रस आदिकी भी प्रतीति जल आदिमें हो जायगी, रस आदिको उनके निजी गुण माननेकी कोई आवश्यकता नहीं। इसलिये जल आदिके रस आदि जिसप्रकार निजी गुण हैं उसीप्रकार गंध आदि भी उनके निजी गुण हैं किंतु रस आदिके समान उनकी व्यक्ति न होनेसे उनकी उपलब्धि नहीं होती यही मानना युक्तियुक्त है।

नैयायिक आदि सिद्धांतकारोंने पृथिवी जल आदिको भिन्न भिन्न जातीय पदार्थ मान रक्खा है परंतु वे पुद्गलस्वरूप होनेसे पुद्गल ही हैं क्योंकि जो पृथिवी है वह निमित्त कारणोंके बलसे द्रवित (बहता) दीख पडता है। बहने स्वरूप स्वभावका धारक जलकरका—ओलेके पत्थर वा बरफके रूपमें कठिन दीख पडता है और वह करका भी द्रवित होती दीख पडती है। तेज भी मषी (राखी) आदि रूपमें दीख पडता है और पवनके अंदर भी रूप आदि गुण अनुभवसिद्ध हैं इसरीतिसे जब पृथिवी

आदि सब द्रव्योंके परमाणु और स्कंध अपनी पुद्गल जातिको न छोडकर निमित्त कारणके बलसे
आपसमें सब रूप, अर्थात् पृथिवी जलरूप, जल पृथिवीरूप, तेज पृथिवीरूप आदि परिणमते दीख
पडते हैं तब पृथिवी आदिको भिन्न भिन्न द्रव्य मानना अयुक्त है। यदि यहांपर यह शंका की
जाय कि–

जब वायु आदिमें रूप आदिकी सत्ता मानी जायगी तो वहां पर रूप आदिका ज्ञान कैसे होगा ?
तो वहांपर प्रश्नके वदलेमें यह प्रश्न है कि परणाणुओंमें भी रूप आदिकी सत्ता मानी है वहांपर रूप
आदिका ज्ञान कैसे हो जाता है ? यदि यहांपर यह उत्तर दिया जायगा कि परमाणुओंके कार्यस्वरूप
स्थूल स्कंध आदिमें रूप आदि दीख पडते हैं। वे रूप आदि परमाणुओंमें रूप आदि विना माने हो नहीं
सकते इसलिये इस अनुमान प्रमाणके बलसे परमाणुओंमें रूप आदि स्वीकार कर लिये जाते हैं तब
वहांपर भी परमाणुओंमें रूप आदिके रहने पर उसके कार्यस्वरूप वायुमें वे न हों यह बात असम्भव है
इसलिये परमाणुओंमें अनुमानप्रमाणसे रूप आदिकी सत्ता मानने पर वायुमें भी अनुमानप्रमाणसे रूप
आदिका होना निर्बाध है।

तेषां च स्वतस्तद्वतश्चैकत्वं पृथक्त्वं प्रत्यनेकांतः ॥ ५ ॥

स्पर्श आदि गुणोंकी आपसमें वा स्पर्श आदि युक्त पदार्थोंसे अभिन्नता और भिन्नता अनेकांत
रूपसे मानी गई है इसलिये वे आपसमें वा स्पर्शादिभाव पदार्थोंसे कथंचित् अभिन्न और कथंचित् भिन्न
हैं। बहुतसे वादी स्पर्श आदिको सर्वथा एक ही मानते हैं। अन्य बहुतसे वादी उन्हें सर्वथा भिन्न ही
मानते हैं परंतु वह ठीक नहीं क्योंकि यदि सर्वथा स्पर्श आदिको एक ही माना जायगा–उनका आपसमें

भेद न स्वीकार किया जायगा; तो जिससमय ठंडे गरम आदि स्पर्शका ज्ञान हो रहा है उससमय खट्टे मीठे आदि रसका और गंध आदिका भी ज्ञान होना चाहिये क्योंकि स्पर्श आदि सब एक हैं स्पर्शादिको यदि स्पर्शादिमान्‌से अभिन्न माना जायगा तो स्पर्शादि ही रहेंगे या स्पर्शादिमान् ही रहेंगे यदि स्पर्शादि-मान् वस्तु ही मानी जायगी तो स्पर्शादि लक्षणोंके अभाव हो जानेसे लक्ष्य वस्तु भी नहीं सिद्ध होगी। यदि स्पर्शादि ही माने जांयगे तो विना स्पर्शादिमान् पदार्थोंके निराधार स्पर्शादि कहां ठहरेंगे इसलिए उनका अभाव हो जायगा। यदि स्पर्श आदिको आपसमें सर्वथा भिन्न माना जायगा तो जिसतरह रूप गुणसे घटका आकार भिन्न है इसलिए जिससमय रूपका ज्ञान होता है उससमय घटके आकार का ज्ञान नहीं होता उसीप्रकार जिससमय स्पर्शका ज्ञान होगा उससमय रूप आदिका ग्रहण होगा ही नहीं तब स्पर्श रस आदि अनेक गुणस्वरूप घट न होनेके कारण 'अयं घटः स्पृष्टः' मैंने इस घटका स्पर्श किया, यह व्यवहार न होगा इसलिए स्पर्श आदि गुणोंका सर्वथा भेद वा अभेद युक्तिसिद्ध नहीं।

तथा स्पर्शवान् आदि पदार्थोंसे यदि स्पर्श आदि गुणोंको सर्वथा अभिन्न माना जायगा तो वह अभेदस्वरूप स्पर्शादिमान् पदार्थ कहा जायगा वा स्पर्श आदि गुण कहे जांयगे। यदि स्पर्शादिमान् पदार्थ कहा जायगा तो यह नियम है कि लक्षणके अभावमें लक्ष्यका भी अभाव माना जाता है। स्पर्शा-दिमान् पदार्थके स्पर्श आदि लक्षण हैं यदि उन्हें न माना जायगा तो स्पर्शादिमान् पदार्थ भी सिद्ध न हो सकेगा। यदि वह अभेद स्पर्श रस आदि गुणस्वरूप ही माना जायगा, स्पर्शादिमान् पदार्थस्वरूप न माना जायगा तो स्पर्श आदि गुण; विना किसी आधारके रह नहीं सकते इसलिए निराधार होनेसे स्पर्श आदिका अभाव ही हो जायगा इसरीतिसे स्पर्शादिमान् पदार्थ और स्पर्श आदि गुणोंका आपसमें

सर्वथा अभेद नहीं माना जा सकता। यदि कदाचित् स्पर्शादिमान् पदार्थ और स्पर्श आदि गुणोंका सर्वथा भेद माना जायगा तब दोनों ही पदार्थोंका अभाव हो जायगा क्योंकि भिन्न भिन्नरूपसे दोनों पदार्थ कहीं भी देखे सुने नहीं गये। इसप्रकार स्पर्श आदि गुणोंका आपसमें वा स्पर्शादिमान् पदार्थसे सर्वथा भेद किंवा अभेद न मानकर कथंचित् भेद और अभेद ही मानना युक्तिसिद्ध है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

स्पर्श रस आदि गुणोंका भिन्न भिन्न रूपसे ग्रहण होता है इसलिए वे भिन्न भिन्न ही हैं एक नहीं? सो भी ठीक नहीं। जिनका भिन्नरूपसे ग्रहण होता है वे भिन्न होते हैं यदि यह व्याप्ति निर्दोष हो तब तो यह माना जा सकता है कि 'स्पर्श आदि गुणोंका भिन्न भिन्न रूपसे ग्रहण है इसलिये वे भिन्न हैं' किंतु शुक्ल कृष्ण रक्त आदि पदार्थोंमें संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग परत्व अपरत्व कर्म सत्ता गुणत्व आदि हैं तो आपसमें भिन्न भिन्न धर्म, परंतु उन सबका रूपके साथ समवाय संबंध रहनेसे चक्षुसे ग्रहण अभिन्न रूपसे ही होता है इस रूपसे यहांपर अभिन्न रूपसे ग्रहण होनेपर भी जब संख्या परिमाण आदि भिन्न भिन्न हैं तब जिनका भिन्न रूपसे ग्रहण होता है वे भिन्न होते हैं यह व्याप्ति व्यभिचारित हो गई इसलिये स्पर्श आदिका भिन्न रूपसे ग्रहण होनेपर वे भिन्न भिन्न ही हैं यह कहना ठीक नहीं। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

पदार्थका नाम भी उसका निज तत्त्व (स्वरूप वा लक्षण) है जहां पर उसका भेद होगा वहां पर उसके भेदसे पदार्थोंका भी भेद माना जायगा। स्पर्श रस आदि गुणोंके स्पर्श रस आदि नाम भिन्न भिन्न हैं इसलिये नामोंके भेदसे स्पर्श आदि गुण भी भिन्न भिन्न पदार्थ हैं, एक नहीं हो सकते? सो

भी ठीक नहीं। यदि पदार्थोंका भेद नामोंके भेदपर निर्भर हो तब तो स्पर्श आदि नामोंके भेदसे स्पर्श आदि गुणोंका भेद युक्तियुक्त माना जाय परंतु वैसा तो है नहीं क्योंकि द्रव्य गुण और कर्म यहां पर नामोंका अभेद रहते भी पदार्थोंका भेद माना गया है अर्थात् द्रव्य यह नाम एक है तथापि द्रव्योंके पृथिवी आदि अनेक भेद हैं। गुण यह नाम एक है तथापि रूप आदि उसके भेद अनेक हैं एवं कर्म यह नाम एक है तो भी उत्क्षेपण अवक्षेपण आदि उसके भेद अनेक हैं। इसरीतिसे द्रव्य आदिमें नामके एक रहनेपर भी जब पदार्थोंका भेद है तब 'नामोंके भेदसे पदार्थ भिन्न भिन्न माने जाते हैं' यह व्याप्ति सिद्ध न हो सकी इसलिये स्पर्श रस आदि नामोंके भेदसे स्पर्श आदि गुणोंका भेद नहीं माना जा सकता। यदि कदाचित् यहांपर यह शंका की जाय कि—

द्रव्य गुण और कर्ममें प्रत्येकको जो अनेक अनेक बतलाया है वह युक्त नहीं किंतु वे एक ही एक हैं? सो भी ठीक नहीं। महान अहंकार पंचतन्मात्रा आदि स्वरूप परिणत होनेवाले और पृथक् रूपसे अनुपलब्ध सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुणमें प्रत्येकको सांख्योंने अनेक अनेक प्रकारका माना है। यदि द्रव्य गुण कर्ममें प्रत्येकको एक एक माना जायगा तो सत्त्वगुण आदिमें भी प्रत्येकको एक एक मानना पडेगा। जिससे सत्त्वगुण आदिमें प्रत्येकको अनेक प्रकार माननेकी प्रतिज्ञा छिन्न भिन्न हो जायगी। यदि यहांपर यह कहा जायगा कि वे एक ही एक हैं तब उनमें व्यक्त और अव्यक्त स्वरूपके भेदसे जो कल्पना की गई है वह व्यर्थ हो जायगी इसलिये स्पर्श आदि नामोंके भेदसे जो स्पर्श आदि गुणोंके सर्वथा भेदकी शंका की गई थी वह खंडित हो गई। वास्तवमें जहांपर द्रव्यकी विवक्षा है वहांपर स्पर्श आदि गुण स्पर्शादिमान् पदार्थसे भिन्न नहीं इसलिये द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा वे कथंचित् एक

स्वरूप हैं और जहांपर पर्यायोंकी विवक्षा है वहांपर स्पर्श रस आदि पर्यायें भिन्न भिन्न हैं एवं पर्यायी स्पर्शादिमान् पदार्थ भिन्न हैं इसलिये पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा वे कथंचित् अनेक हैं । इसीतरह आगेके पांच भंगोंकी भी यहां योजना कर लेनी चाहिये ॥ २० ॥

स्पर्शन आदि इंद्रियोंके समान मनका कोई निश्चित स्थान नहीं इसलिये वह इंद्रिय नहीं कहा जा सकता इसरूपसे ऊपर मनको इंद्रियपनेका निषेध किया गया है। वहांपर यह शंका उठती है कि वह अनिंद्रियस्वरूप मन, ज्ञानदर्शनस्वरूप उपयोगका उपकारक है या नहीं ? यदि यह कहा जायगा कि मन का सहारा बिना लिये इंद्रियोंकी अपने अपने विषयोंमें प्रयोजनीय प्रवृत्ति नहीं हो सकती इसलिये मन; उपयोगमें अवश्य ही उपकारी है तब वहां यह कहना है कि—अपने अपने विषयोंमें इंद्रियोंकी सहायता मात्र करना ही मनका कार्य है अथवा और कुछ भी उसका कार्य है ? उत्तरमें इंद्रियोंके उपकारके सिवाय अन्य भी मनका कार्य है ऐसा स्वीकार कर सूत्रकार उस अन्यकार्यको बतलाते हैं—

श्रुतमनिंद्रियस्य ॥ २१ ॥

मनका विषय श्रुतज्ञानका विषय पदार्थ है।

अर्थ—मनका विषय श्रुतज्ञानका विषय पदार्थ है।

वृत्त्यर्थ—सूत्रमें जो श्रुतशब्द है उससे श्रुतज्ञानके विषयभूत पदार्थका ग्रहण है। उसको मन विषय करता है क्योंकि जिसने श्रुतज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम प्राप्त कर लिया है ऐसे आत्माके, मनके आश्रयसे जायमान ज्ञानकी श्रुतज्ञानके विषयभूत पदार्थमें प्रवृत्ति होती है अथवा श्रुत शब्दका अर्थ श्रुतज्ञान है वह मनसे होता है इसलिये मन पूर्वक होनेसे वह श्रुतज्ञान ही मनका कार्य है। इसप्रकार

इंद्रियोंके व्यापारकी अपेक्षा न कर श्रुतज्ञानका उत्पन्न करना, मनका स्वतंत्र प्रयोजन वा कार्य है। अर्थात् श्रुतज्ञान मतिपूर्वक ही होता है।

श्रुतं श्रोत्रेंद्रियस्य विषय इति चेन्न श्रोत्रेंद्रियग्रहणे श्रुतस्य मतिज्ञानव्यपदेशात् ॥ १ ॥

श्रुतको मनका विषय बताया गया है परंतु वह श्रोत्र इंद्रियका विषय है इसलिये श्रुतज्ञानको मनका स्वतंत्र कार्य मानना अयुक्त है? सो ठीक नहीं श्रोत्र इंद्रियसे जायमान ज्ञानको मतिज्ञान माना है। यदि श्रुतका श्रोत्र इंद्रियसे ग्रहण माना जायगा तो वह मतिज्ञान ही कहा जायगा श्रुतज्ञान नहीं कहा जा सकता। इसलिये यहांपर यह व्यवस्था है कि—

जहांपर श्रोत्र इंद्रियसे ग्रहण हो वह तो मतिज्ञान है उसके अवग्रह ईहा आदि भेद ऊपर कह दिये जा चुके हैं और उसके बाद उस मतिज्ञानपूर्वक जो जीव अजीव आदिके स्वरूपका ग्रहण होना है वह श्रुतज्ञान है। तथा वह श्रुतज्ञान सिवाय मनके अपनी उत्पत्तिमें किसी भी इंद्रियकी सहायताकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये वह स्वतंत्र रूपसे मनका कार्य है। इसरीतिसे 'श्रुतज्ञानके विषयभूत पदार्थ वा स्वयं श्रुतज्ञानका श्रोत्र इंद्रियसे ग्रहण होता है अनिंद्रियस्वरूप मनसे नहीं' यह कथन निर्हेतुक है ॥ २१ ॥

इंद्रियोंके नाम बतला दिये गये। उनके स्पर्श रस आदि विषयोंका भी वर्णन कर दिया गया परंतु किस किस इंद्रियका कौन कौन स्वामी है यह अभीतक नहीं बतलाया इसलिये अब उनके स्वामियोंके वर्णन करते समय, सूत्रकार सबसे पहिले कही गई स्पर्शन इंद्रियका स्वामी बतलाते हैं—

वनस्पत्यंतानामेकं ॥ २२ ॥

अर्थ—वनस्पति काय है अंतमें जिनके उन जीवोंके अर्थात् पृथिवीकायिक अप्कायिक तेजःकायिक

वायुकायिक और वनस्पतिकायिक इन पांचो प्रकारके जीवोंके पहिली स्पर्शन इंद्रिय ही होती है अर्थात् ये पांच एकमात्र स्पर्शन इंद्रियके धारक स्थावर जीव हैं।

अंतशब्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षातोऽवसानगतिः ॥ १ ॥

अंतशब्दके अनेक अर्थ माने हैं जिसप्रकार वस्त्रांतः वसनांतः अर्थात् वस्त्रका अवयव यहांपर अंत शब्दका अर्थ अवयव है। उदकांतं गतः-उदक समीपे गतः अर्थात् जलके समीप गया यहांपर अंतशब्द का समीप अर्थ है। संसारांतं गतः-संसारावसानं गतः अर्थात् संसारके अंतको प्राप्त हुआ यहांपर अंत-शब्दका अवसान अर्थ है। सूत्रमें जो अंत शब्द है उसके अवसान अर्थकी यहां विवक्षा है वनस्पत्यंतानां-वनस्पत्यवसानानां, अर्थात् जिनके अंतमें वनस्पति है ऐसे पृथिवीकायिक आदि जीवोंके 'एक इंद्रिय है'।

सामीप्यवचने हि वायुत्रससंप्रत्ययप्रसंगः ॥ २ ॥

यदि 'वनस्पत्यंतानां' यहांपर अंतशब्दका समीप अर्थ माना जायगा तो 'पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः' इस सूत्रमें या तो वनस्पतिशब्दके पास वायुशब्द पठित है इसलिए उसका ग्रहण होगा या उसके आगेके सूत्रमें पासही त्रसकायका उल्लेख है इसलिए उसका ग्रहण होगा। पृथिवी आदिका किसी प्रकारसे ग्रहण नहीं हो सकता इसलिए यहांपर अंतशब्दका समीप अर्थ न ग्रहणकर अवसान ही अर्थ ग्रहण करना चाहिए। उससे पृथिवीकायिकको आदि लेकर वनस्पति पर्यंत जीवोंमें स्पर्शन इंद्रियका स्वामीपना निर्बाध है।

अंतशब्दस्य संबंधिशब्दत्वादादिसंप्रत्ययः ॥ ३ ॥

अंतशब्दको संबंधी वा सापेक्ष शब्द माना है। इसलिए वह अपनेसे पूर्व रहनेवाले शब्दोंकी अपेक्षा रखता है एवं जहां पर अंतशब्दका प्रयोग रहता है वहांपर अर्थतः आदि शब्दकी प्रतीति रहती है इस लिए यहांपर पृथिवीसे आदि लेकर वनस्पति पर्यंत जीवोंके एक स्पर्शन इंद्रिय ही होती है, यह अर्थ समझ लेना चाहिए। शंका—

अवशिष्टैकेंद्रियप्रसंगोऽविशेषात् ॥ ४ ॥ न वा प्राथम्यवचने स्पर्शनसंप्रत्ययात् ॥ ५ ॥

एक शब्द सामान्यरूपसे एक संख्याका वाचक है तथा सूत्रमें ऐसा कोई विशेष भी नहीं कहा गया है जिससे एक शब्दसे अमुक ही इंद्रियका ग्रहण हो इसलिए पृथिवीको आदि लेकर वनस्पति पर्यंत जीवोंमें स्पर्शन आदि इंद्रियोंमेंसे कोई एक इंद्रिय हो सकती है, केवल स्पर्शनं इंद्रिय ही नहीं हो सकती ? सो ठीक नहीं। एक शब्दका अर्थ प्राथम्य है। सूत्रमें जिस इंद्रियका पहिले कथन होगा उसीका यहां पर ग्रहण किया जायगा। स्पर्शनरसनेत्यादि सूत्रमें स्पर्शन इंद्रियका पहिले उल्लेख किया गया है इसलिए यहांपर एकशब्दसे उसीका ग्रहण है इसरीतिसे पृथिवीकायको आदि देकर वनस्पतिकाय पर्यंत जीवोंके एक स्पर्शन इंद्रिय ही होती है अन्य कोई इंद्रिय नहीं यह कथन निर्दोष है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि एक शब्दका प्राथम्य अर्थ होता ही नहीं इसलिए उससे प्रथमोद्दिष्ट स्पर्शन इंद्रियका ग्रहण नहीं हो सकता ? सो ठीक नहीं। क्योंकि एको गोत्रे-प्रथमो गोत्रे, अर्थात् गोत्रमें प्रथम, यहांपर एकशब्दका प्रथम अर्थ प्रसिद्ध है इसलिए कोई दोष नहीं। स्पर्शन इंद्रियकी उत्पत्ति इसप्रकार है—

वीर्यांतराय और स्पर्शनेंद्रियावरण कर्मके क्षयोपशम रहनेपर रसना आदि शेष इंद्रियसंबंधी सर्व-घातीस्पर्धकोंके उदय रहने पर शरीर और अंगोपांग नामकर्मके लाभ रहनेपर तथा एकेंद्रिय जाति

नामक नामकर्मके उदय रहनेपर स्पर्शन इंद्रियकी उत्पत्ति होती है इसप्रकार पृथिवीकायिक आदि स्थावर जीव स्पर्शन इंद्रियके स्वामी हैं यह बात निरूपण कर दी गई ॥ २२ ॥

अब रसना आदि इंद्रियोंके स्वामियोंका निरूपण करते हैं—

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥ २३ ॥

अर्थ—लट चिउंटी भौंरा मनुष्य आदिके क्रमसे एक एक इंद्रिय बढती हुई है। अर्थात् लट (गिडार) आदिके स्पर्शन और रसना ये दो इंद्रियां हैं। चिउंटी आदिके स्पर्शन रसना और घ्राण ये तीन इंद्रियां हैं। भौंरा आदि जीवोंके स्पर्शन रसन घ्राण और नेत्र ये चार इंद्रियां हैं तथा मनुष्य देव नारकी और गौ आदिके पांचो ही इंद्रियां हैं।

एकैकमिति वीप्सानिर्देशः ॥ १ ॥

एक शब्दका दो बार उच्चारण करनेसे 'एकैकं' यह यहां वीप्सानिर्देश है।

बहुत्वनिर्देशः सर्वेंद्रियापेक्षः ॥ २ ॥

'एकैकवृद्धानि' यहांपर जो बहुवचनका निर्देश किया गया है वह सब इंद्रियोंकी अपेक्षा है। एकैकं वृद्धमेषां तानि एकैकवृद्धानि अर्थात् एक एक इंद्रिय अधिक है यह 'एकैकवृद्धानि' पदका विग्रह है यहां पर यह शंका उठती है कि एकैकवृद्धानि इस वाक्यका एक एक इंद्रिय अधिक है यह जो अर्थ माना है वहां अधिकपना पहिलेकी इंद्रियोंमें है कि उत्तरकी इंद्रियोंमें है अर्थात् स्पर्शन इंद्रिय रसना अधिक कही जायगी कि रसना इंद्रिय स्पर्शन अधिक कही जायगी ? इस शंकाकी निवृत्ति वार्तिककार करते हैं—

असंदिग्धं स्पर्शनमेकैकेन वृद्धमित्यादिविशेषणात् ॥ ३ ॥

कृमिपिपीलिकेत्यादि सूत्रमें स्पर्शन इंद्रियकी अनुवृत्ति आ रही है इसलिये उसे लेकर एक एक इंद्रिय अधिक है यह यहांपर विशेषता है। अर्थात् जिनके दो इंद्रियां हैं उनके स्पर्शन इंद्रिय रसना अधिक है जिनके तीन इंद्रियां हैं उनके स्पर्शन और रसना घ्राण इंद्रिय अधिक है इत्यादि अर्थ है इसलिये उपर्युक्त संदेह यहां नहीं हो सकता। एकैकवृद्ध इतने शब्दके कहनेसे स्पर्शनादि इंद्रियां एकैकवृद्ध हैं, यह अर्थ कैसे होगा? उसका समाधान—

वाक्यांतरोपप्लवात् ॥ ४ ॥

जो वाक्य निर्बंधनस्थान अर्थात् निर्णीतप्रायः रहता है उसके साथ दूसरे शब्दका संयोग हो जाता है। जिसतरह 'अक्षः' यह निर्णीत वाक्य है उसके साथ भक्ष्यतां, भज्यतां, दीव्यतां, इन दूसरे दूसरे शब्दोंका उपप्लव—संयोग, हो जाता है अर्थात् 'अक्षो भक्ष्यतां' बहेडा खाओ। अक्षो भज्यतां गाढीका धुरा तोड दो। अक्षो दीव्यतां जूवा खेलो यह वहांपर अन्य वाक्योंके संयोगसे अर्थसमन्वय कर लिया जाता है। उसीतरह एक एक वृद्ध है यह वाक्य निर्णीतप्रायः है। उस निर्णीतप्राय वाक्यसे लट आदिके रसना अधिक स्पर्शन इंद्रिय है। चिंउटी आदिके घ्राण अधिक स्पर्शन और रसना इंद्रियां हैं। भौंरा आदिके नेत्र अधिक स्पर्शन रसना और घ्राण इंद्रियां हैं मनुष्य आदिके श्रोत्र अधिक स्पर्शन रसना घ्राण और नेत्र इंद्रियां हैं इसप्रकार दूसरे दूसरे वाक्योंका संयोग कर लिया जाता है। इसरीतिसे स्पर्शन, रसना इंद्रिय अधिक है इत्यादि अर्थसमन्वय निर्दोष है।

आदिशब्दः प्रकारे व्यवस्थायां वा वेदितव्यः ॥ ५ ॥

---

१ जिन शब्दोंका ज्ञान अनेकार्थक है उनका प्रकरणवश दूसरे शब्दोंका प्रयोग करनेसे उनका अर्थ स्वयं घटित हो जाता है।

'मनुष्यादीनां' यहां पर जो आदि शब्द सूत्रमें कहा गया है उसके यहां पर प्रकार (भेद) और व्यवस्था दोनों अर्थ हैं। जिससमय यहां पर आगमकी विवक्षा नहीं की जायगी उससमय तो 'कृम्यादयः—कृमिप्रकाराः' अर्थात् 'कृमि आदिक' यह अर्थ है और जिससमय आगमकी विवक्षा की जायगी उससमय आदि शब्दका अर्थ व्यवस्था है क्योंकि किन किनके कौन कौन इंद्रिय है यह बात आगममें अच्छी तरह व्यवस्थित है। रसना आदि इंद्रियोंकी उत्पत्ति स्पर्शन इंद्रियके समान उत्तरोत्तर सर्वघातिया-स्पर्धकोंके उदय रहनेपर समझ लेनी चाहिये अर्थात्—

वीर्यांतराय और रसनेंद्रियावरण कर्मका क्षयोपशम, घ्राणादि इंद्रिय संबंधी सर्वघातिया स्पर्धकोंका उदय, शरीर और अंगोपांगनामक नाम कर्मका बल एवं द्वींद्रिय जाति नाम कर्मके उदय रहनेपर रसना इंद्रियकी उत्पत्ति होती है। वीर्यांतराय और घ्राणेंद्रियावरण कर्मका क्षयोपशम चक्षु आदि इंद्रियसंबंधी सर्वघातिया स्पर्धकोंका उदय शरीर और अंगोपांग नाम कर्मका बल एवं त्रींद्रिय जाति नाम कर्मके उदय रहनेपर घ्राण इंद्रियकी उत्पत्ति होती है। वीर्यांतराय और चक्षु इंद्रियावरण कर्मका क्षयोपशम श्रोत्रेंद्रिय संबंधी सर्वघातिया स्पर्धकोंका उदय, शरीर और अंगोपांग नामक नाम कर्मका बल एवं चतुरिंद्रिय जाति नामक नाम कर्मके उदय रहनेपर चक्षु इंद्रियकी उत्पत्ति होती है। तथा वीर्यांतराय और श्रोत्रेंद्रियावरण कर्मका क्षयोपशम शरीर और अंगोपांग नामक नाम कर्मका बल और पंचेंद्रिय जाति नामक नामकर्मके उदय रहनेपर श्रोत्र इंद्रियकी उत्पत्ति होती है ॥ २३ ॥

संसारी जीवोंके त्रस और स्थावर दो भेद हैं वे कह दिये गये। उन्हींके पांच इंद्रियोंके भेदसे पांच भेद हैं वे भी कह दिये गये संज्ञी नामका पंचेंद्रिय जीवोंका भेद नहीं कहा, सूत्रकार अब उसे कहते हैं—

संज्ञिनः समनस्काः ॥ २४ ॥

अर्थ—जो जीव मनसहित हैं वे संज्ञी कहे जाते हैं।

मन पदार्थका ऊपर व्याख्यान कर दिया गया है। जिन जीवोंके उस मनकी विद्यमानता हो वे जीव संज्ञी कहे जाते हैं। शंका—

समनस्कग्रहणमनर्थकं संज्ञिशब्देन गतत्वात् ॥ १ ॥ हिताहितप्राप्तिपरिहारयोर्गुणदोषविचारणात्मिका संज्ञा ॥ २ ॥ व्रीह्यादिपठादिनिसिद्धिः ॥ ३ ॥ न वा शब्दार्थव्यभिचारात् ॥ ४ ॥

'संज्ञिनः समनस्काः' इस सूत्रमें जीवके संज्ञी और समनस्क ये दो विशेषण माने हैं वहां पर संज्ञी और समनस्क दोनोंका समान अर्थ रहनेपर संज्ञी विशेषण ही पर्याप्त है समनस्क विशेषण देनेकी कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि यह पदार्थ हितकारी है और यह अहितकारी है। हितकी प्राप्ति होनेपर यह गुण प्राप्त होता है और अहितकी प्राप्ति होनेपर यह दोष होता है इसप्रकारका जो विचार है वही संज्ञा है और यही कार्य मनका भी है संज्ञा शब्दका व्रीह्यादिगणमें पाठ होनेसे 'व्रीह्यादिभ्यश्च' इस सूत्रसे इन प्रत्यय करनेपर संज्ञी शब्द सिद्ध हुआ है इसरीतिसे संज्ञी और समनस्क जब दोनों शब्द समान अर्थके वाचक हैं तब संज्ञी कहना ही पर्याप्त है समनस्क विशेषणकी कोई आवश्यकता नहीं? सो ठीक नहीं। हितकी प्राप्ति और अहितके परिहारमें क्रमसे गुण और दोषोंकी विचारणा रूपही यदि संज्ञा शब्दका अर्थ हो तब तो संज्ञी शब्दका प्रयोग ही उपयुक्त है समनस्क शब्दके उल्लेखकी कोई आवश्यक्ता नहीं परंतु संज्ञा शब्दके तो नाम आदि अनेक अर्थ हैं जो कि सैनी असैनी दोनोंमें घट जाते हैं इसलिये असैनीमें भी चले जानेके कारण संज्ञित्व लक्षण व्यभिचरित है। खुलासा इसप्रकार है—

यदि संज्ञा शब्दका अर्थ रूढि 'नाम' माना जायगा तो वह सैनी असैनी समस्त प्राणियोंमें प्रतिनियत है। उससे असैनी जीवोंकी निवृत्ति नहीं हो सकती इसलिए असैनी जीवोंको भी संज्ञी कहना पडेगा। 'संज्ञानं संज्ञा' भले प्रकार जानना संज्ञा है इस व्युत्पत्तिके बलसे यदि उसका अर्थ ज्ञान माना जायगा तो वह ज्ञान भी सैनी असैनी सब प्रकारके जीवोंमें विद्यमान है इसलिए इस अर्थके माने जाने पर भी केवल संज्ञी शब्दके उल्लेखसे असैनी जीवोंकी व्यावृत्ति नहीं हो सकती, उन्हें भी संज्ञी कहना पडेगा इसलिए सैनी जीव ही संज्ञी कहे जांय इस निर्धारणकेलिए समनस्क पदका ग्रहण सार्थक है। यदि कदाचित् यहांपर यह कहा जाय कि—

आहारादिसंज्ञेति चेन्नानिष्टत्वात् ॥ ५ ॥

संज्ञा शब्दके नाम वा ज्ञान अर्थ माननेपर संज्ञित्व लक्षण असैनी जीवोंमें भी घट जानेपर वे भी संज्ञी कहे जा सकते हैं परंतु हम तो आहार भय मैथुन और परिग्रह यह अर्थ संज्ञी शब्दका मानते हैं वह असैनी जीवोंमें नहीं घट सकता इसलिए कोई दोष नहीं हो सकता ? सो ठीक नहीं। आहार भय मैथुन और परिग्रह संज्ञाएं भी समस्त संसारी जीवोंके विद्यमान हैं इसलिए संज्ञा शब्दका आहार आदि अर्थ माननेपर भी असैनी जीवोंकी व्यावृत्ति नहीं हो सकती। असैनी जीवोंको संज्ञी मानना आगमविरुद्ध होनेसे अनिष्ट है इसलिए इस अनिष्टताके परिहारकेलिए सूत्रमें समनस्क पदका उल्लेख सार्थक है।

तथा समनस्क शब्दका उल्लेख न कर यदि सूत्रमें केवल संज्ञी शब्दका ही उल्लेख किया जायगा और संज्ञी शब्दका अर्थ हित अहितकी परीक्षा करनेवाला माना जायगा तो जो जीव गर्भ वा अंडेके

भीतर हैं वा मूर्छित वा सोए हुये हैं वे भी हित अहितकी परीक्षासे शून्य हैं इसलिए वे भी संज्ञी न कहे जांयगे किंतु समनस्क पदके उल्लेख रहनेपर तो जो मनसहित हैं वे संज्ञी हैं यह अर्थ होगा। गर्भस्थ आदि जीव भी मनसहित हैं इसलिए वे भी निर्बाधरूपसे संज्ञी कहे जांयगे अतः समनस्क शब्दका उल्लेख सार्थक है ॥ २४ ॥

यदि संसारी जीवोंके हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार मनके ही द्वारा होना माना जायगा तो जो आत्मा अपने पूर्व शरीरको छोडकर नवीन शरीरके पानेकेलिए उद्यत है अर्थात् विग्रहगतिमें विद्यमान है वहांपर तो मनका संबंध है नहीं फिर वहांपर बुद्धिपूर्वक गमनक्रिया कैसे होगी। इसका उत्तर स्वरूप सूत्रकार सूत्र कहते हैं—विग्रहगतावित्यादि अथवा इस सूत्रकी उत्थानिका इसप्रकार भी है—

मनवाले समनस्क जीव विचारपूर्वक ही कार्य करते हैं यदि यही सिद्धांत सुदृढ है तब जिससमय आत्मा पूर्व शरीरको छोडकर दूसरे नवीन शरीरके पानेकी अभिलाषासे उपपाद क्षेत्रकी ओर अभिमुख हो प्रवृत्ति करता है उससमय उसके मन तो माना नहीं गया फिर वहांपर बुद्धिपूर्वक उसकी गमनक्रिया कैसे है? सूत्रकार इस बातका समाधान देते हुए सूत्र कहते हैं—

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥ २५ ॥

नवीन शरीर धारण करनेकेलिए जो गमन किया जाता है उसका नाम विग्रहगति है उस विग्रहगतिमें कार्माण शरीरका योग है अर्थात् कार्माण योगसे ही जीव एक गतिसे दूसरी गतिमें गमन करता है। वार्तिककार विग्रहगति शब्दका अर्थ बतलाते हैं—

विग्रहो देहस्तदर्था गतिर्विग्रहगतिः ॥ १ ॥

औदारिक वैक्रियिक आहारक आदि नामकर्मके उदयसे औदारिक आदि शरीरोंकी रचनामें समर्थ अनेक प्रकारके पुद्गलोंको जो ग्रहण करे अथवा जिसके द्वारा उसतरहके अनेक प्रकारके पुद्गल ग्रहण किए जांय उसे विग्रह कहते हैं और उसका अर्थ शरीर है। उस शरीरकेलिए जो गति की जाय वह विग्रहगति कही जाती है। शंका—

तदर्थ[2] अर्थ वलि हित सुख और रक्षित शब्दोंके साथ विकल्पसे चतुर्थी समासका विधान माना है। तथा तादर्थ्यमें वहीं समास होता है जहांपर प्रकृतिका विकार माना गया है जिसतरह 'यूपाय दारु यूपदारु' अर्थात् यह दारुकी लकडी स्तंभकेलिए है, यहांपर दारुरूप प्रकृतिका यूप विकार है। किंतु जहां पर प्रकृतिका विकार नहीं रहता वहांपर तादर्थ्यमें चतुर्थी समास नहीं होता जिसतरह रंधनाय स्थाली अर्थात् यह बटलोई रांधनेकेलिए है, यहांपर रंधनस्थाली यह समासघटित प्रयोग नहीं होता क्योंकि यहां प्रकृतिका विकार नहीं। 'विग्रहाय गतिः, विग्रहगतिः' यहांपर भी तादर्थ्यरूप अर्थमें चतुर्थी मानी है परंतु यहांपर प्रकृतिका विकार नहीं इसलिए यहांपर चतुर्थी समास बाधित है? सो ठीक नहीं। अश्व-

१–विग्रहो हि शरीरं स्यात्तदर्थं या गतिर्भवेत्। विशीर्णपूर्वदेहस्य सा विग्रहगतिः स्मृता ॥ ९६ ॥ जीव जिससमय दूसरा नवीन शरीर धारण करनेकेलिए प्रवृत्त होता है उससमय पहिले शरीरका परित्यागकर ही प्रवृत्त होता है। तत्त्वार्थसार पृष्ठ ८४। विग्रहका अर्थ शरीर है। उस शरीरकेलिए जो गमन किया जाता वह विग्रहगति कही जाती है।

२–'चतुर्थी तदर्थार्थवलिहितसुखरक्षितैः' चतुर्थ्यंतार्थाय यत्तद्वाचिनार्थादिभिश्च चतुर्थ्यंतं वा प्राग्वत् (समस्यते) तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव एव गृह्यते बलिरक्षितग्रहणाज्ज्ञापकात्। यूपाय दारु यूपदारु। नेह रंधनाय स्थाली। [सिद्धांतकौमुदी पृष्ठ ७१।

घासादि शब्दोंमें 'अश्वाय घासः, अश्वघासः' अर्थात् घोडेकेलिए घास है यहांपर जिसप्रकार प्रकृतिके विकारके न रहते भी तादर्थ्यरूप अर्थमें समास माना है उसीप्रकार 'विग्रहगतिः' यहांपर भले ही प्रकृति का विकार न हो तथापि तादर्थ्य अर्थमें चतुर्थीसमास बाधित नहीं हो सकता। 'विग्रहाय गतिः' जिस समय यह वाक्य रहता है उससमय तो चतुर्थी विभक्तिसे तादर्थ्यरूप अर्थ स्पष्टतया बाधित होता है। अथवा—

विरुद्धो गृहो विगृहो व्याघात इति वा ॥ २ ॥ विगृहेण गतिर्विगृहगतिः ॥ ३ ॥

विरुद्ध जो ग्रह है उसे विग्रह कहते हैं। विग्रहका नाम व्याघात है। उस व्याघातका अर्थ पुद्गलाधाननिरोध है अर्थात् अनेक प्रकारके पुद्गल जिसमें आकर इकट्ठे हों वह पुद्गलाधान—शरीर कहा जाता है उसका छूट जाना पुद्गलाधाननिरोध है। उस पुद्गलाधानानिरोधपूर्वक जो गति है उसका नाम विग्रहगति है अर्थात् जिससमय जीव मरता है उससमय जो वह गमन करता है वह पुद्गलाधान-निरोधपूर्वक शरीरको छोडकर ही गमन करता है।

विशेष—अश्वघास आदिके समान विग्रहगति यहांपर तादर्थ्यरूप अर्थमें चतुर्थीतत्पुरुष समास कहकर पुनः जो 'विग्रहेण गतिः, विग्रहगतिः' यह तृतीया तत्पुरुष समास माना है उसका खास मतलव यह है कि कई एक वैयाकरणोंने जहां प्रकृतिका विकार होगा वहीं तादर्थ्यरूप अर्थमें चतुर्थी समासको इष्ट माना है किंतु जहांपर प्रकृतिका विकार नहीं वहांपर उसे इष्ट नहीं माना इसीलिये प्रकृतिका विकृति भाव न रहनेसे अश्वघास आदि स्थलोंपर चतुर्थी तत्पुरुष न मानकर उन्होंने षष्ठी समास माना

१ 'अश्वघासादयस्तु षष्ठीसमासा.' अर्थात् अश्वघास आदि शब्दोंमें षष्ठीतत्पुरुष समास है। सिद्धांत कौमुदी पृष्ठ७१।

है इसलिये 'विग्रहगति' यहांपर चतुर्थी समासमें अरुचि प्रकटकर सर्व सम्मत तृतीया समासका वार्ति-
ककारने उल्लेख किया है।

कर्मेति सर्वशरीरप्ररोहणसमर्थं कार्मणं ॥ ४ ॥ योग आत्मप्रदेशपरिस्पंदः ॥ ५ ॥

कर्मनिमित्तो योगः कर्मयोगः ॥ ६ ॥

समस्त शरीरोंकी उत्पत्तिमें कारण कार्माण शरीर है इसलिये सूत्रमें जो कर्म शब्द है उसका अर्थ यहां कार्माण शरीर लिया गया है। कायवर्गणा भाषावर्गणा आदिके निमित्तसे जो आत्माके प्रदेशोंके अंदर हलन चलन होना है उसका नाम योग है। यह योग विग्रह गतिमें कार्माणशरीरके द्वारा होता है। उसी योगके द्वारा विग्रह गतिमें आत्माके कर्मोंका आदान तथा मनरहित भी उस आत्माकी नवीन शरीर धारण करनेके लिये गति ये दोनों कार्य होते हैं ॥ २५ ॥

वास्तविक नहीं किंतु पुद्गलके परमाणुओंके संबंधसे काल्पनिक ऐसे आकाशके प्रदेशोंमें रहने-वाले जीव और पुद्गल जिससमय एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें जानेकेलिये उद्यत होते हैं उससमय वे प्रदेशोंके क्रमसे गमन करते हैं कि प्रदेशोंके अक्रमसे ? इसबातके निश्चयार्थ सूत्रकार कहते हैं—

---

१ जीवस्य विग्रहगतौ कर्मयोगं जिनेश्वराः। प्राहुर्देहांतरप्राप्तिकर्मग्रहणकारणं ॥ ९७ ॥

योगोंकी चंचलता हुए बिना शरीरसंबंधी कुछ भी हीनाधिकता नहीं होने पाती इसलिये विग्रहगतिमें भी कोई योग होना चाहिये। विग्रहगतिमें कर्मादान—कर्मबंधका कार्य और नवीन शरीर धारण करना कार्य ये दो कार्य होते हैं जो कि किसी योगकी अपेक्षा रखते हैं। दूसरा कोई योग वहां हो नहीं सकता इसलिये उक्त दोनों कार्योंका साधक कार्माण योग ही है ऐसा भगवान जिनेश्वरने कहा है कर्मोंके पिंडका नाम कार्माण शरीर है इसीका अवलंबन लेकर आत्मा वहां उक्त दोनों कार्य करता है। तत्वार्थसार।

अनुश्रेणि गतिः ॥ २६ ॥

जीव और पुद्गलोंका गमन आकाशके प्रदेशोंकी श्रेणीके अनुकूल होता है श्रेणी (प्रदेशोंकी पंक्ति वा क्रम) को छोडकर विदिशारूप गमन नहीं होता। भावार्थ—मृत्यु होनेपर नवीन शरीर धारण करनेके लिये जो जीवोंका गमन होता है वह आकाशके प्रदेशोंकी श्रेणीमें ही होता है अन्य प्रकार नहीं। वार्तिककार श्रेणिशब्दका अर्थ बतलाते हैं—

आकाशप्रदेशपंक्तिः श्रेणिः ॥ १ ॥

लोकके मध्य भागसे लेकर ऊपर नीचे और तिरछे अनुक्रमसे रचनास्वरूप आकाशके प्रदेशोंकी जो पंक्ति है उसका नाम श्रेणी है।

अनोरानुपूर्व्ये वृत्तिः ॥ २ ॥

अनुशब्दका अर्थ आनुपूर्व्य है। श्रेणीके आनुपूर्वी क्रमसे जो हो वह अनुश्रेणि कहा जाता है। अर्थात् जीव और पुद्गलोंका जो गमन होता है वह श्रेणिके आनुपूर्वी क्रमसे होता है प्रतिकूलरूपसे नहीं। शंका—

जीवाधिकारात्पुद्गलासंप्रत्यय इति चेन्न गतिग्रहणात् ॥ ३ ॥

यहांपर जीवोंका अधिकार चल रहा है इसलिये पुद्गलोंकी श्रेणिके आनुपूर्वी क्रमसे गति होती है यह कहना अयुक्त है ? सो ठीक नहीं। यहांपर गतिका भी प्रकरण चल रहा है। यदि जीवोंकी ही अनुश्रेणि गति इष्ट होती तो 'अनुश्रेणि गतिः' यहांपर गतिशब्दका उल्लेख करना व्यर्थ था क्योंकि

'विग्रहगतौ कर्म योगः, इससूत्रसे गतिकी अनुवृत्ति चली ही आती परंतु गति शब्दका ग्रहण किया गया है इसलिये जान पडता है जितने भी गतिमान पदार्थ हैं सबोंकी यहां अनुश्रेणि गति इष्ट है। समस्त द्रव्योंमें जीव और पुद्गल ये दो ही द्रव्य गतिमान हैं इसलिये जीवके समान पुद्गलकी भी श्रेणिके आनुपूर्वी क्रमसे गति बाधित नहीं। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

क्रियांतरे निवृत्त्यर्थं गतिगृहणमिति चेन्नावस्थानाद्यसंभवात् ॥ ४ ॥

'अनुश्रेणि गतिः' यदि इस सूत्रमें गति शब्दका ग्रहण नहीं किया जाता तो सोना बैठना आदि अन्य क्रियाओंका भी ग्रहण होता इसलिये उन क्रियाओंकी निवृत्तिकेलिये सूत्रमें गति शब्दका उल्लेख किया गया है ? सो ठीक नहीं। जो जीव विग्रहगतिमें विद्यमान है उसके बैठना सोना उठना आदि क्रियायें असंभव हैं इसलिये बैठना सोना आदि क्रियाओंकी निवृत्तिकेलिए सूत्रमें गतिशब्दका उल्लेख मानना भ्रांति है किंतु श्रेणिके आनुपूर्वी क्रमसे जीवोंके समान पुद्गलोंकी भी गति होती है यही वहां गति शब्दके ग्रहणका तात्पर्य है। अथवा—

उत्तरसूत्रे जीवगृहणाच्च ॥ ५ ॥

'अविग्रहा जीवस्य' इस आगेके सूत्रमें जीव शब्दका उल्लेख किया गया है यदि जीव और पुद्गल दोनोंकी श्रेणिके अनुकूल गति न मानी जाती तो यहां पर जीव शब्दका ग्रहण व्यर्थ था क्योंकि यहां जीवका ही अधिकार चल रहा है इसलिये अविग्रहरूप गति जीवकी ही समझी जाती। परंतु अनुवृत्तिकी योग्यता रहते भी जो जीव शब्दका ग्रहण किया गया है उससे जान पडता है कि श्रेणिके अनुकूल गति जीव और पुद्गल दोनोंकी है। इसरीतिसे जब जीव और पुद्गल दोनोंकी श्रेणिके अनु-

कूल गति सिद्ध है तब 'आविग्रहस्वरूप' गति जीवकी ही गानी जाय पुद्गलकी नहीं इस बातके द्योत-
नार्थ उत्तर सूत्रमें जीव शब्दका ग्रहण सार्थक है। शंका—

विश्रेणिगतिदर्शनान्नियमायुक्तिरिति चेन्न कालदेशनियमात् ॥ ६ ॥

सदा मेरुकी प्रदक्षिणा देनेवाले चंद्र[1] सूर्य आदि ज्योतिषी देव, मंडलिक (मंडलाकार घूमती हुई
वायु) और मेरु आदिकी प्रदाक्षिणा करते समय विद्याधरोंकी गति श्रेणिके प्रतिकूल दीख पडती है
इसलिये जीव और पुद्गलोंकी श्रेणिके अनुकूल ही गति होती है यह नियम नहीं बन सकता ? सो
ठीक नहीं। सर्वथा जीव और पुद्गलोंकी श्रेणिके अनुकूल ही गति होती है यह वहां पर नियम नहीं
किंतु अमुक काल अमुक देशमें श्रेणिके अनुकूल गति होती है इसप्रकार काल और देशकी अपेक्षासे
नियम है और वह इसप्रकार है—

मरणके समय एक भवसे दूसरे भवमें जिससमय जीवोंका गमन होगा उससमय नियमसे उनकी
गति श्रेणिके अनुकूल ही होगी तथा जिससमय मुक्त जीवोंका ऊर्ध्वगमन होगा उससमय उनकी निय-
मसे श्रेणिके अनुकूल ही गति होगी इसप्रकार जीवोंकी अपेक्षा यह कालका नियम है तथा जिससमय
ऊर्ध्वलोकसे अधोलोक जाना होगा, अधोलोकसे ऊर्ध्वलोक, तिर्यक्लोकसे अधोलोक वा ऊर्ध्वलोक
जाना होगा वहां पर नियमसे श्रेणिके अनुकूल ही गति होगी यह जीवोंकी अपेक्षा देशका नियम है।
यहां पर जिस काल वा जिस देशका उल्लेख किया गया है उस काल और उस देशमें तो श्रेणिके अनु-
कूल ही गतिका विधान है किंतु इनसे भिन्न काल और देशोंमें वह नियम नहीं।

१ 'चक्रादीनां' यह भी पाठ है वहा पर सुदर्शनचक्र आदि अर्थ समझ लेना चाहिये।

तथा पुद्गलोंकी भी लोकके अंततक जो गति है वह भी श्रेणिके अनुकूल ही है अर्थात्–जिस समय पुद्गलका शुद्ध परमाणु एक समयमें चौदह राजू गमन करता है वह श्रेणिरूप ही गमन करता है किंतु अन्य अवस्थामें उसकी गति भजनीय है अर्थात् वह श्रेणिके अनुकूल भी गमन कर सकता है प्रतिकूल भी, कोई नियम नहीं। श्रेणिके प्रतिकूल जो गति होगी वह भ्रमण रेचन आदि स्वरूप होगी इसलिए संसारमें भ्रमण रेचन आदि गतियोंकी सिद्धि भी निर्बाध है ॥ २६ ॥

जो प्राणोंसे जीवे उसका नाम जीव है इस व्युत्पत्तिकी अपेक्षा यद्यपि संसारी ही जीव हैं तथापि पूर्वभावप्रज्ञापननयकी अपेक्षा होनेवाले व्यवहारसे अथवा रूढि बलसे जिन्होंने समस्त कर्म बंधनोंको नष्ट कर दिया है ऐसे मुक्त भी जीव कहे जाते हैं ऐसा निर्धारण कर सूत्रकार मुक्तजीवोंके विषयमें विशेष निरूपण करते हैं–

अविग्रहा जीवस्य ॥ २७ ॥

मुक्तजीवकी गति मोडेरहित सीधी होती है अर्थात् मुक्तजीव एक समयमें सीधा सात राजू ऊंचा गमन करता हुआ सिद्धक्षेत्रमें चला जाता है इधर उधर नहीं मुडता है।

विग्रह व्याघात और कौटिल्य ये तीनों समानार्थ वाचक शब्द हैं। उसका अर्थ मोडा है। जिस गतिमें मोडे न खाने पडें वह अविग्रह गति कही जाती है। यह मोडारहित गति मुक्तजीवके होती है। मोडारहित गति मुक्तजीवोंकी होती है, यह कैसे जाना जाता है? इसका समाधान वार्तिककार देते हैं–

उत्तरत्र संसारिग्रहणादिह मुक्तगतिः ॥ १ ॥

आगेके 'विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः' इस सूत्रमें संसारी शब्दका पाठ है उसकी सामर्थ्यसे

यहां मुक्तजीवोंकी मोडारहित गति कही गई है। अन्यथा यहांपर संसारी जीवोंका प्रकरण चल रहा था इसलिए अनुवृत्तिके बलसे ही 'संसारी' सिद्ध था पुनः संसारीग्रहण व्यर्थ ही था। शंका—

दूसरी श्रेणिमें चला जाना विग्रह शब्दका अर्थ है और उसका अभाव श्रेणिके अनुकूल गमन करनेसे सिद्ध है। मुक्तजीव सीधा ऊपर जानेसे उसकी गति श्रेणिके अनुकूल ही है इसरीतिसे मुक्त जीवकी मोडा-रहित गति 'अनुश्रेणि गतिः' इसी सूत्रसे सिद्ध थी फिर 'अविग्रहा जीवस्य' इस सूत्रका निर्माण निष्प-योजन है ? सो ठीक नहीं। जीव और पुद्गलोंकी कहींपर श्रेणिके प्रतिकूल भी गति होती है इस प्रयो-जनको सूचित करनेकेलिए इस सूत्रका निर्माण किया गया है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि

वहांपर काल और देशके नियमका ग्रहण किया गया है और उस काल नियममें मुक्त जीवोंके ऊर्ध्व गमन करते समय श्रेणिके अनुकूल गति बतलाई गई है इसलिए मुक्तजीवोंकी मोडारहित गति 'अनुश्रेणि गतिः' इस सूत्रमें सिद्ध रहनेपर पुनः इस सूत्रका प्रतिपादन निरर्थक ही है ? सो भी ठीक नहीं। काल और देशका नियम सूत्रमें तो कहा नहीं गया किंतु इसी सूत्रके द्वारा वहांपर उस नियमकी सिद्धि है इसलिए 'अनुश्रेणि गतिः' इस सूत्रमें काल और देशकी नियमसिद्धिका साधक होने से 'अविग्रहा जीवस्य' यह सूत्र निष्प्रयोजन नहीं ॥ २७ ॥

शरीररहित मुक्त जीवोंकी लोकके अग्रभाग पर्यंत मोडारहित गति एकसमय मात्र कही गई है परंतु संसारी जीवोंकी गतिका कोई उल्लेख नहीं किया गया इसलिये वहांपर यह शंका होती है कि संसारी जीवोंकी गति मोडासहित है अथवा मुक्त जीवोंके समान मोडारहित है ? इसका समाधान सूत्रकार करते हैं—

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥ २८ ॥

संसारी जीवकी गति चारसमयसे पहिले पहिले विग्रहवती—मोडेवाली है। सारार्थ—संसारी जीवकी एक समय वा दो तीन समय पर्यंत भी गति होती है। अर्थात् पहिले समयमें ही जब वह शरीर धारण कर लेता है उससमय उसे कोई मोडा नहीं लेना पडता किंतु दूसरे समयमें एक मोडा तीसरे समयमें दो मोडा और चौथे समयसे पहिले पहिले वह तीसरा मोडा लेकर कहीं न कहीं अवश्य नवीन शरीर धारण कर लेता है फिर वह शरीररहित नहीं रहता।

कालपरिच्छेदार्थं 'प्राक्चतुर्भ्यः' इतिवचनं ॥ १ ॥

समय शब्दका अर्थ आगे कहा जायगा। 'चार समयके पहिले पहिले मोडेवाली गति होती है' यह कालकी मर्यादा सूचित करनेके लिये सूत्रमें 'प्राक् चतुर्भ्यः' इस पदका उल्लेख है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि चारसमयसे ऊपर मोडावाली गति क्यों नहीं होती? वह ठीक नहीं क्योंकि चार समयसे ऊपर मोडे की योग्यता ही नहीं, और वह इसप्रकार है। जिसतक पहुंचनेमें सबसे अधिक मोडे लेने पडें उस क्षेत्रको निष्कुट क्षेत्र माना है उसका अर्थ तिर्यक् क्षेत्र वा लोकका अग्रकोण है। इस निष्कुट क्षेत्रमें पहुंचनेके लिये आनुपूर्वी ऋजु श्रेणीका अभाव रहनेसे इषुगति नहीं होती इसलिये तीन मोडेवाली गतिके द्वारा निष्कुट क्षेत्रमें जाया जाता है। इसरीतिसे जो जीव निष्कुटक्षेत्रमें उत्पन्न होनेका इच्छुक है वह तीन मोडे लगाकर वहां उत्पन्न होता है। तीन मोडोंसे अधिक वह मोडे नहीं लगाता क्योंकि निष्कुट क्षेत्रमें उत्पन्न होनेके लिये सबसे अधिक तीन मोडे खाने पडते हैं उससे भिन्न

१ 'लोकाग्रकोणं निष्कुटक्षेत्रं।' सर्वार्थसिद्धि टिप्पणी पृष्ठ १०१

ऐसा कोई उपपाद क्षेत्र नहीं जिसमें जानेके लिये चार या पांच मोडोंके लेनेकी आवश्यकता पडे इसलिये चार आदि मोडोंका अभाव है तथा जब अधिकसे अधिक तीन ही मोडा लिये जा सकते हैं तब चार समयसे अधिक समयके मानने की भी कोई आवश्यकता नहीं। तीन मोडाओंके लिये चारसमयसे पहिले पहिलेहीका काल पर्याप्त है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

चौथे समयसे पहिले पहिलेका समय ही तीन मोडोंके लिये क्यों पर्याप्त माना गया अधिक काल क्यों नहीं लगता? सो ठीक नहीं। जिसप्रकार साठी चावलोंके पकनेका काल परिमित है। उस परिमित कालसे कम वा अधिक कालमें उनका परिपाक नहीं माना गया उसीप्रकार विग्रहगतिमें अधिकसे अधिक तीन मोडोंके लिये जो समय निर्दिष्ट किया है वही समय पर्याप्त है उससे अधिक वा कम समय की वहां आवश्यकता नहीं।

चशब्दः समुच्चयार्थः ॥ २ ॥

सूत्रमें जो चशब्द है वह उपपादक्षेत्रमें जानेके लिये संसारी जीवोंकी सीधी भी गति होती है और मोडेवाली कुटिल भी गति होती है इसप्रकार दोनोंतरहकी गतिओंके समुच्चयके लिये है। शंका—

आङ्ग्रहणं लध्वर्थमिति चेन्नाभिविधिप्रसंगात् ॥ ३ ॥

आङ् उपसर्गका अर्थ भी मर्यादा है। इसलिये 'प्राक्चतुर्भ्यः' इसकी जगह 'आचतुर्भ्यः' यह कहना चाहिये। 'आचतुर्भ्यः' कहनेसे भी 'चारसमयसे पहिले पहिले' यही अर्थ होगा। तथा एक अक्षर का लाघव भी होगा जिसे सूत्रकारके मतमें एक महान फल माना गया है? सो ठीक नहीं। आङ् उपसर्गके ईषत् क्रियायोग मर्यादा और अभिविधि ये चार अर्थ माने हैं। यदि आङ्का अभिविधि—

व्याप्ति, अर्थ मान लिया जायगा तो चार समयको व्याप्तकर विग्रहवाली गति होती है यह भी अर्थ होगा। यह अर्थ इष्ट है नहीं क्योंकि चार समयसे पहिले पहिले ही विग्रहगतिका समय माना है इसलिये 'आचतुर्भ्यः' न कहकर 'प्राक्चतुर्भ्यः' यही पाठ इष्टार्थसाधक है। पुनः शंका—

उभयसंभवे व्याख्यानान्मर्यादासंप्रत्यय इति चेन्न प्रतिपत्तेर्गौरवात् ॥ ४ ॥

यद्यपि मर्यादा और अभिविधि दोनों अर्थोंमें आङ् उपसर्ग है तथापि 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः' व्याख्यानसे विशेष प्रतिपत्ति होती है अर्थात् व्याख्यानके अनुकूल ही शब्दका अर्थ मान लिया जाता है, यह एक नियम है। यहांपर चार समयसे पहिले पहिले विग्रहवाली गति होती है यह मर्यादार्थक व्याख्यान चल रहा है इसलिये आङ्का यहांपर मर्यादारूप अर्थ ही गृहीत होनेपर 'आचतुर्भ्यः' यही कहना फलप्रद है। सो ठीक नहीं। 'आचतुर्भ्यः' ऐसा कहनेपर आङ्के मर्यादा और अभिविधि दोनों अर्थोंका उपस्थित होना फिर व्याख्यानबलसे उसका 'मर्यादा' अर्थ स्थिर रखना ऐसे कहनेसे उसके अर्थकी प्रतिपत्तिमें गौरव है इसलिये उच्चारण करते समय ही खुलासारूपसे अर्थप्रतिपत्ति होनेके लिये 'प्राक्चतुर्भ्यः' यही कहना उपयुक्त है।

विग्रहगतिमें सीधी गति, एक मोडावाली गति, दो मोडावाली गति, तीनमोडावाली गति इसप्रकार ये चार गतियां होती हैं। आगममें क्रमसे इन गतियोंकी इषुगति पाणिमुक्तागति लांगलिकागति और गोमूत्रिका गति इसप्रकार चार संज्ञा मानी हैं चारो गतिओंमें इषुगति मोडारहित है और शेष गतियां मोडारहित हैं। इषुगति आदिका स्पष्टार्थ इसप्रकार है—

जिसप्रकार अपने लक्ष्यस्थान तक बाणकी गति सीधी होती है उसीप्रकार संसारी और सिद्ध

जीवोंकी जो मोडारहित सीधी गति होती है उसे इषुगति कहते हैं। इस इषुगतिमें एकसमय लगता है। अर्थात् एकही समयमें शरीर छोडना और दूसरा शरीर ग्रहण करना ये सब कार्य हो जाते हैं। इसीलिए इषुगतिमें संसारी जीव अनाहारक नहीं हैं। जिसतरह हाथसे तिरछी ओर फेंके हुए पदार्थकी गति एक मोडा लेकर होती है उसीप्रकार संसारी जीवकी जो गति एक मोडा लेकर हो वह पाणिमुक्तागति कहलाती है और इस गतिमें दो समय लगते हैं। जिसतरह लांगल-हलमें दो जगह मोड रहती है उसी तरह जिस गतिमें दो मोडे लेने पडें उसे लांगलिकागति कहते हैं और उसके होनेमें तीन समय लगते हैं। तथा जिसप्रकार गौके मूत्रमें बहुत मोडे रहते हैं उसीप्रकार जिस गतिमें तीन मोडे लेने पडें वह गोमूत्रिकागति है और इसके होनेमें चार समय लगते हैं। चारों गतियोंमें पहिली इषुगति संसारी और मुक्त दोनो प्रकारके जीवोंके होती है परंतु शेष गतियां केवल संसारी जीवोंके ही होती हैं॥ २८ ॥

जब मोडेवाली गतियोंकी व्यवस्था चार समय तक मानी है तब जो गति मोडारहित है वह कितने समयमें संपन्न होती है इस बातको सूत्रकार कहते हैं—

एकसमयाऽविग्रहा ॥ २९ ॥

मोडारहित गति एक समयमात्र ही होती है। इसीको ऋजुगति वा इषुगति कहते हैं।

१—अविग्रहैकसमया कथितेषुगतिर्जिनैः। अन्या द्विसमया प्रोक्ता पाणिमुक्तैकविग्रहा ॥ १०० ॥
द्विविग्रहां त्रिसमयां प्राहुर्लांगलिकां जनाः। गोमूत्रिका तु समयैश्चतुर्भिः स्यात्त्रिविग्रहा ॥ १०१
भगवान जिनेंद्रद्वारा कही गई मोडारहित इषुगति एकसमयमें होती है। एक मोडावाली पाणिमुक्तागति दोसमयमें, दो मोडेवाली लांगलिका तीन समयमें और तीन मोडावाली गोमूत्रिका गति चार समयमें होती है। तत्त्वार्थसार पृष्ठ ८५।

अधिकृतगतिसामानाधिकरण्यात्स्त्रीलिंगानिर्देशः ॥१॥

यहांपर ऊपरसे गति शब्दकी अनुवृत्ति आरही है। गति शब्द स्त्रीलिंग है इसलिए 'अविग्रहा' यह यहांपर विशेषणमें स्त्रीलिंगका निर्देश किया है। जिसमें एक समय लगे वह एकसमया कहलाती है। जिसमें एक भी विग्रह-मोडा न लगे वह अविग्रहा कही जाती है। गतिमान जीव और पुद्गलकी मोडारहित गति लोकके अग्र भाग पर्यंत भी एक ही समयमें निष्पन्न हो जाती है। नैयायिक वैशेषिक आदिकी ओरसे शंका—

आत्मनोऽक्रियावत्त्वासिद्धेरयुक्तमिति चेन्न क्रियापरिणामहेतुसद्भावाल्लोष्ठवत् ॥ २ ॥

आत्मा सर्वगत (सर्वत्र रहनेवाला विभु) और निष्क्रिय है। उसके कोई क्रिया हो ही नहीं सकती इसलिए उसके गतिरूप क्रियाकी कल्पना निरर्थक है ? सो भी ठीक नहीं। जिसतरह लोष्ठ (ढेला) स्वयं क्रियारूप परिणमन करनेकी शक्तियुक्त है और वाह्य एवं अंतरंग दोनों प्रकारके कारणोंके मिल जानेपर वह एक देशसे दूसरे देशमें जाने स्वरूप गमनक्रिया करता देखा जाता है उसीप्रकार आत्मा भी क्रियापरिणामी है और कर्मके अनुसार वह जैसा शरीर धारण करता है उसीके अनुकूल क्रियाका करता अनुभवमें आता है तथा जिससमय शरीर आदि कर्मोंका संबंध छूट जाता है उससमय भी जिस प्रकार दीपककी शिखामें स्वाभाविक क्रिया होती रहती है उसीप्रकार आत्मामें भी प्रतिक्षण क्रिया होती रहती है इसरीतिसे जब क्रिया आत्माका स्वभाव है तब वह निष्क्रिय नहीं कहा जा सकता और उसमें गतिरूप क्रियाकी कल्पना निर्हेतुक नहीं मानी जा सकती।

सर्वगतत्वे तु संसाराभावः ॥ ३ ॥

जो पदार्थ सर्वगत होता है उसमें हलन चलन आदि क्रियाएं नहीं हो सकतीं। यदि आत्माको सर्वगत माना जायगा तो उसमें क्रिया तो कोई हो न सकेगी फिर एक गतिसे दूसरी गतिमें जानारूप जो संसार है उसका ही अभाव हो जायगा इसलिए आत्माको सर्वगत नहीं माना जा सकता ॥ २९ ॥

बंधसंतानकी अपेक्षा अनादि और कर्मोंके संचयकी अपेक्षा सादि ऐसे द्रव्य क्षेत्र काल भव और भाव रूप पांच प्रकारके परिवर्तनोंके रहनेपर तथा मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद आदि कर्मोंके उत्पादक कारणोंके उपस्थित रहने पर उपयोगस्वरूप यह आत्मा सदा निरवच्छिन्नरूपसे कर्मोंको ग्रहण करता रहता है यह सामान्यरूपसे आगमका सिद्धांत है। वहां पर यह शंका होती है कि क्या विग्रहगतिमें भी आत्मा आहारक अर्थात् तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता रहता है। इसलिये वहांपर नियमस्वरूप वचन सूत्रकार कहते हैं—

एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः ॥ ३० ॥

विग्रहगतिवाला जीव एकसमय दोसमय और तीनसमयतक अनाहारक है अर्थात् जघन्यसे जघन्य एकसमयतक जीव अनाहारक रहता है और अधिकसे अधिक तीनसमयतक, चौथेसमयमें नवीन शरीर धारणकर वह नियमसे आहारक बन जाता है फिर अनाहारक नहीं रहता।

समयसंप्रत्ययः प्रत्यासत्तेः ॥ १ ॥

'एकसमयाऽविग्रहा' इस पहिले सूत्रमें समयशब्दका उल्लेख किया गया है। प्रत्यासन्न होनेसे उसकी इस सूत्रमें अनुवृत्ति है इसलिये 'एकसमय दोसमय तीनसमय पर्यंत' यह यहां अर्थ है। शंका—

'जिसका प्रधानरूपसे उल्लेख रहता है उसीकी अखंडरूपसे अनुवृत्ति होती है। 'एकसमयाऽविग्र

यहांपर 'एकसमय' इस समस्तपदका खंडरूप होनेसे समय शब्द गौण है इसलिये उसकी इस सूत्रमें अनुवृत्ति नहीं हो सकती ? सो ठीक नहीं। 'एकं द्वौ त्रीन्' ये तीनों संख्यावाचक शब्द यहांपर विशेषण हैं। इनके लिये कोई न कोई विशेष्य अवश्य होना चाहिये। वह विशेष्य यहां दूसरा कोई संभव हो नहीं सकता इस सामर्थ्यसे यहांपर समय शब्दका संबंध कर लिया गया है। इसलिये एकसमय दो समय तीनसमय पर्यंत विग्रहगतिमें जीव अनाहारक होते हैं यह अर्थ यहां निरापद् है।

वाशब्दोऽत्र विकल्पार्थो ज्ञेयः ॥ २ ॥

सूत्रमें जो वाशब्द है उसका अर्थ विकल्प है और विकल्प यथेष्ट अर्थका द्योतक है इसलिये एक समय दो समय वा तीन समय जहां जैसी योग्यता रहती है उसीके अनुसार वहां जीव अनाहारक रहता है यह यहां तात्पर्य है। शंका—

सप्तमीप्रसंग इति चेन्नात्यंतसंयोगस्य विवक्षितत्वात् ॥ ३ ॥

'एक दो तीन समय तक जीव अनाहारक रहता है' यहां पर आहार क्रियाका अधिकरण काल है। तथा जहां पर अधिकरण अर्थ होता है वहां पर सप्तमी विभक्ति होती है इसलिये 'एकं द्वौ त्रीन्' यहां पर 'एकस्मिन् द्वयोः त्रिषु' यह सप्तमी विभक्ति होनी चाहिये ? सो ठीक नहीं। यहां पर कालकृत अत्यंत संयोगकी विवक्षा है अर्थात् एक समय दो समय और तीन समयोंमें अखंडरूपसे अनाहारक रहता है किसी एक खंडमें नहीं यह यहां पर विवक्षा है तथा यह नियम है कि जहांपर कालकृत अत्यंत

१ सप्तम्यधिकरणे च। २ ३। ३६। अधिकरण अर्थमें सप्तमी विभक्ति होती है। आधारोऽधिकरणं। १-४-४५। अधिकरण का अर्थ आधार है। सिद्धांतकौमुदी पृष्ठ ६५।

संयोग रहता है वहां पर भले ही अधिकरण अर्थ विद्यमान हो तथापि वहां सप्तमी विभक्तिकी बाधक द्वितीया विभक्ति ही होती है । इसलिये एकं द्वौ त्रीन्वेत्यादि यहां पर द्वितीया विभक्तिका निर्देश ही निर्दोष है ।

त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्गलग्रहणमाहारः ॥ ४ ॥

यहां पर तीन शरीरोंसे औदारिक वैक्रियिक और आहारक इन्हीं तीन शरीरोंका ग्रहण है तैजस और कार्माण शरीरोंका ग्रहण नहीं क्योंकि जबतक संसारका अंत नहीं होता तबतक अनादि कालसे सदा इनका प्रत्येक जीवके साथ संबंध[2] रहता है और हमेशा ये अपने योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करते रहते हैं इसलिये इन दोनों शरीरोंके योग्य जो पुद्गलोंका ग्रहण होता है उसकी आहारक संज्ञा नहीं किंतु औदारिक वैक्रियिक आहारक ये तीन शरीर तथा आहारादिकी अभिलाषाके कारणभूत आहार शरीर इंद्रिय निश्वासोच्छ्वास भाषा और मन ये छह पर्याप्तिके योग्य जो पुद्गलोंका ग्रहण है उसका नाम आहार है । इनमें—

विग्रहगतावसंभवादाहारकशरीरानिवृत्तिः[3] ॥ ५ ॥ शेषाहाराभावो व्याघातात् ॥ ६ ॥

१—कालाध्वनोरत्यंतसंयोगे । २–३–५ । काल और मार्गका जहांपर अत्यंत संयोग रहता है वहांपर द्वितीया विभक्ति होती है । कालकृत अत्यन्त संयोगका उदाहरण यथा—मासमधीते—अखंडरूपसे मासभर पढता है । यहां पर कालकृत अत्यन्त संयोगसे 'मासे' की जगह 'मासं' यह द्वितीया विभक्ति है । 'मासस्य द्विरधीते' मासमें दोवार पढता है यहां पर अत्यन्त संयोगके अभावसे द्वितीया विभक्ति नहीं । २—अनादिसम्बन्धे च । ४१ । सर्वस्य । ४२ । तत्त्वार्थ सूत्र अ० २ । ३—शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं-प्रमत्तसंयतस्यैव । ४९ । तत्त्वार्थसूत्र अ० २ ।

आहारक शरीर ऋद्धिधारी प्रमत्त गुणस्थानवर्ती ऋषियोंके ही होता है अन्य किसीके नहीं होता इसलिये असंभव होनेके कारण विग्रहगतिमें उसका अभाव होनेसे उसके योग्य पुद्गलोंका ग्रहणरूप आहार नहीं हो सकता । तथा—

औदारिक वैक्रियिक और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलोंका ग्रहणरूप जो आहार है वह कुटिल-गति—मोडेवाली गतिसे आहत—रुक जानेके कारण बाधित हो जाता है इसरीतिसे उसका विग्रहगतिमें अभाव है । इसलिये औदारिक वैक्रियिक और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलोंका ग्रहणरूप भी आहार विग्रहगतिमें नहीं हो सकता । खुलासा तात्पर्य इसप्रकार है—

जिसतरह वर्षाकालमें उदय होनेवाले मेघसे निकले हुए जलमें पडा हुआ गरम लोहेका बाण उस जलके ग्रहण करनेमें समर्थ होनेके कारण उस जलको खींचता है उसीप्रकार यद्यपि आठ प्रकारके कर्म-पुद्गलोंके सूक्ष्मपरिणामसे परिणत और वृद्धिको प्राप्त जो मूर्त्तिमान कार्माण शरीर उसके निमित्तसे पूर्वशरीरकी निवृत्तिरूप मारणांतिक समुद्घातवाला और दुःखसे तप्तायमान यह जीव जिससमयमें नवीन शरीरको धारण करनेकेलिए गमन कर रहा है उससमय आहारक है तथापि कुटिल गति करते समय यह एक दो और तीन समय तक अनाहारक रहता है इसरीतिसे कुटिलगतिके कारण उपर्युक्त आहारकी योग्यता न रहनेके कारण विग्रहगतिमें एकसमय दोसमय वा तीनसमय तक जीवका अना-हारक रहना युक्तियुक्त है । वहांपर—

जिससमय इसकी एकसमयवाली इषुगति होती है उससमय यह उपर्युक्त आहारका अनुभव करता हुआ ही जाता है इसलिए एकसमयवाली इषुगतिमें यह आहारक है । जिससमय इसकी एकमोडेवाली

और दो समयोंमें होनेवाली इसकी पाणिमुक्तागति होती है उससमय उसके पहिले समय मोडाके कारण यह जीव अनाहारक रहता है और दूसरे समयमें उपयुक्त आहारको ग्रहण करलेनेके कारण आहारक हो जाता है। जिससमय इसकी दोमोडेवाली और तीन समयोंमें समाप्त होनेवाली लांगलिका नामकी गति होती है उससमय दोमोडे लगानेके कारण पहिले और दूसरे समयमें तो यह अनाहारक रहता है और तीसरे समयमें उपयुक्त आहार ग्रहण करनेके कारण आहारक कहा जाता है तथा जिस समय इसकी तीन मोडेवाली चार समयोंमें समाप्त होनेवाली गोमूत्रिकागति होती है उससमय तीनमोडे लगानेके कारण एक दो और तीन समयतक तो यह जीव अनाहारक रहता है और चौथे समयमें उपर्युक्त आहार ग्रहण करनेके कारण आहारक कहा जाता है। इसप्रकार कमसेकम एकसमय और अधिकसे अधिक तीन समयतक यह जीव अनाहारक रहता है पश्चात् नियमसे आहारक हो जाता है यह वात खुलासारूपसे विस्तृत हो चुकी ॥ ३० ॥

जिसकी समस्त क्रियां शुभ अशुभरूप फलको देनेवाले कार्माण शरीरसे उपकृत हैं, पूर्वोपार्जित कर्मोंके फलोंको भोगनेके लिये जिसका गमन श्रेणिके अनुकूल है, नानाप्रकारके कर्मोंसे जो व्याप्त है एवं मोडेवाली और मोडारहित इसप्रकार दो गतियोंके आधीन जिसका दूसरे देशमें जाना निश्चित है ऐसे जीवके नवीन दूसरे शरीरकी रचनास्वरूप जन्मके भेद सूत्रकार वतलाते हैं —

संमूर्छनगर्भोपपादा जन्म ॥ ३१ ॥

नवीन शरीरका धारण करना जन्म है और वह संमूर्छन, गर्भ और उपपादके भेदसे तीन प्रकार है अर्थात् संमूर्छनजन्म गर्भजन्म और उपपादजन्म ये तीन जन्मके भेद हैं।

समंततो मूर्छनं संमूर्छनं ॥ १ ॥

मूर्छनका अर्थ अवयवोंका बन जाना है। तीनों लोकोंमें योग्य द्रव्य क्षेत्र काल और भावरूप सामग्रीके निमित्तसे जो ऊपर नीचे और तिरछे चारों ओरसे शरीरके अवयवोंका बन जाना है उसे संमूर्छन कहते हैं।

शुक्रशोणितगरणाद् गर्भः ॥ २ ॥ मात्रोपभुक्ताहारात्मसात्करणाद्वा ॥ ३ ॥

जहांपर पिताके शुक्र और माताके रजका मिलना हो उसका नाम गर्भ है अथवा माताके द्वारा खाए गए आहारको जहांपर आत्मसात् किया जाय अर्थात् माताके आहारको अपना आहार बनाया जाय अथवा उस आहारका जहांपर मिश्रण हो उसे गर्भ कहते हैं।

उपेत्य पद्यतेऽस्मिन्नित्युपपादः ॥ ५ ॥

जिसमें आकार उत्पन्न हों वह उपपाद कहा जाता है। उपपूर्वक पद गतौ धातुसे 'हलः। २।३।११८ इस सूत्रसे अधिकरण अर्थमें घञ् प्रत्यय करनेपर उपपाद शब्दकी सिद्धि हुई है। जिस स्थानपर देव और नारकी उत्पन्न होते हैं उस स्थानकी यह विशेष संज्ञा है। इस रीतिसे संमूर्छन गर्भ और उपपाद ये तीन प्रकारके जन्म संसारी जीवोंके हैं।

संमूर्छनग्रहणमादावतिस्थूलत्वात् ॥ ५ ॥

सब शरीरोंकी अपेक्षा संमूर्छनज शरीर अत्यन्त स्थूल है इसलिये सबसे पहिले सूत्रमें संमूर्छन

१। हलः २-३-११८। हलंताद्वोः करणाधिकरणयोः पुंसौ घञ् स्यात्। जैनेन्द्र-व्याकरण। इसकी जगहपर हलश्च ३-३-१२१। हलन्ताद् घञ् स्यात्। यह सूत्र पाणिनीय व्याकरणमें है।

शब्दका उल्लेख किया है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—वैक्रियिक शरीरकी अपेक्षा गर्भज शरीर भी अत्यन्त स्थूल है इसलिये संमूर्छन और गर्भ दोनों शब्दोंमें किसका पूर्वनिपात न्याय प्राप्त होगा। इसका समाधान वार्तिककार देते हैं—

अल्पकालजीवित्वात्संमूर्छनं ॥ ६ ॥ तत्कार्यकारणप्रत्यक्षत्वात् ॥ ७ ॥

गर्भज और औपपादिक जीवोंकी अपेक्षा संमूर्छनज जीव थोडे काल जीनेवाले हैं इस अपेक्षासे संमूर्छन शब्दका पूर्वनिपात किया गया है और भी यह वात है कि—

गर्भ और उपपाद जन्मोंका कार्य कारण भाव प्रत्यक्ष नहीं है किंतु अनुमानगम्य है परन्तु संमूर्छन जन्मका कारण मांस आदि और कार्य संमूर्छनज शरीर इस जन्ममें और परजन्ममें दोनों जगह प्रत्यक्ष है इस अपेक्षा भी गर्भ और उपपादसे संमूर्छनका उल्लेख पहिले किया गया है।

तदनंतरं गर्भग्रहणं कालप्रकर्षनिष्पत्तेः ॥ ८ ॥

संमूर्छन जन्मकी अपेक्षा गर्भजन्मकी उत्पत्तिमें अधिक कालकी आवश्यकता पडती है इसलिये संमूर्छन जन्मके अनंतर न्यायप्राप्त गर्भजन्मका उल्लेख किया गया है।

उपपादग्रहणमंते दीर्घजीवित्वात् ॥ ९ ॥

संमूर्छनज और गर्भज जीवोंकी अपेक्षा औपपादिक जीवोंका जीवन दीर्घकालीन है इसलिए सबके अंतमें उपपाद जन्मका उल्लेख किया गया है। जन्मोंका भेद कैसे हो जाता है? वार्तिककार इस विषयको स्पष्ट करते हैं—

अध्यवसायविशेषात्कर्मभेदे तत्कृतो जन्मविकल्पः ॥ १० ॥

अध्यवसायका अर्थ परिणाम है और उसके असंख्येयलोकमात्र भेद हैं। परिणामोंके कार्य कर्मबंधके भेद हैं और कर्मबंधोंके फल जन्मभेद हैं क्योंकि कारणके अनुकूल ही लोकमें कार्य दीख पडता है। शुभ अशुभ जिसप्रकारका कर्म होता है उसीके अनुकूल जन्मोंकी उत्पत्ति होती है। शंका—

प्रकारभेदाज्जन्मभेद इति चेन्न तद्विषयसामान्योपादानात्॥ ११ ॥

सूत्रमें जन्म पदार्थ विशेष्य और संमूर्छन आदि उसके विशेषण हैं इसलिए उन दोनोंका आपसमें सामानाधिकरण्य संबंध है। यह नियम है। जहांपर सामानाधिकरण्य रहता है वहांपर समानवचन होता है जिसतरह 'जीवादयः पदार्थाः' यहांपर परस्परमें विशेषण विशेष्यभाव एवं सामानाधिकरण्य संबंध है इसलिए दोनों जगह समान वचन है। 'संमूर्छनगर्भोपपादाः' यहांपर भी संमूर्छन आदिके अनेक होने से बहुवचन है इसलिए 'जन्म' यहांपर भी बहुवचन होना चाहिए? सो ठीक नहीं। जिसप्रकार 'जीवादयस्तत्त्वं' यहांपर जीव आदिका विषयभूत सामान्य, तत्त्व शब्दसे कहा गया है इसलिए 'तत्त्वं' यहांपर एकवचन है उसीप्रकार संमूर्छन आदिका विषयभूत सामान्यका भी यहां जन्म शब्दसे कथन है इसलिए 'जन्म' यह एकवचनांत प्रयोगका ही उल्लेख है इसरीतिसे सामान्यकी अपेक्षा कथन होनेसे यहां उक्त दोष लागू नहीं हो सकता ॥ ११ ॥

जिसका ऊपरसे आधिकार चला आरहा है और जो संसारी जीवोंकी विषयोपभोगरूप उपलब्धिके अधिष्ठान-शरीरका कारण है उस जन्मके योनिभेदोंका सूत्रकार वर्णन करते हैं—अर्थात् संसारी जीवोंको विषयभोगोंकी प्राप्तिके आधारभूत शरीरकी उत्पत्तिमें जो कारण है उस जन्मके योनिभेदोंका वर्णन करते हैं—

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥ ३२ ॥

सचित्त शीत संवृत, इनसे उलटी अचित्त अशीत (उष्ण) विवृत, मिली हुई सचित्ताचित्त शीतोष्ण संवृतविवृत इसप्रकार क्रमसे ये संमूर्छन आदि जन्मोंकी नव योनियां वा उत्पत्तिस्थान हैं।

आत्मनः परिणामविशेषश्चित्तं ॥ १ ॥

चैतन्यस्वरूप आत्माके परिणामविशेषका नाम चित्त है। जिस योनिमें वह चित्त हो वह सचित्त-योनि है।

शीत इति स्पर्शविशेषः ॥ २ ॥

शीत स्पर्शोंका अन्यतम भेद है। तथा शुक्ल आदि शब्द जिसप्रकार गुणके भी वाचक हैं और गुणवान पदार्थके भी वाचक हैं उसीप्रकार शीत शब्द भी शीतगुण और शीतगुणविशिष्ट पदार्थ दोनों का वाचक है इसलिए यहांपर शीतगुणविशिष्ट पदार्थ भी शीत शब्दका अर्थ है।

संवृतो दुरुपलक्ष्यः ॥ ३ ॥

जिसका देखना बडी कठिनतासे हो ऐसे ढके हुए प्रदेशका नाम संवृत है। 'सम्यग्वृतः संवृतः'- जो भलेप्रकार ढका हुआ हो वह संवृत है यह संवृतशब्दका विग्रह है।

सेतराः सप्रतिपक्षाः ॥ ४ ॥

जो अपने विरोधियोंसे विशिष्ट हों वे सेतर कहे जाते हैं। सचित्त शीत संवृत इन तीनोंके विरोधी अचित्त उष्ण और विवृत हैं।

मिश्रग्रहणमुभयात्मकसंग्रहार्थं ॥ ५ ॥

सूत्रमें जो मिश्र ग्रहण है वह सचित्ताचित्त शीतोष्ण और संवृतविवृत इन उभयस्वरूप युगलोंके ग्रहण करनेकेलिये है।

चशब्दः प्रत्यकसमुच्चयार्थः ॥ ६ ॥ न चांतरेणापि तत्प्रतीतेः ॥ ७ ॥

'मिश्राश्च' यहांपर जो चशब्द है वह सचित्त आदि प्रत्येकके समुच्चयके लिये है अत एव 'सचित्त शीत संवृत और अचित्त उष्ण विवृत और मिश्र ये प्रत्येक योनि हैं' यह अर्थ होता है यदि चशब्दका उल्लेख नहीं किया जाता तो मिश्र, सचित्त आदिका ही विशेषण होता और उससे जिस समय सचित्त शीत संवृत और अचित्त उष्ण विवृत आपसमें मिल जाते हैं उसीसमय योनियां कहे जाते हैं यह विरुद्ध अर्थ हो जाता परंतु चशब्दके करनेपर सचित्त आदि प्रत्येक भी योनि हैं और आपसमें मिले हुये भी हैं यह स्पष्ट आगमानुकूल अर्थ उपलब्ध होता है इसलिये चशब्दका उल्लेख वहां सार्थक है। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—

'पृथिव्यप्तेजोवायुः' यहांपर च शब्दके न रहनेपर भी जिसप्रकार पृथिवी अप् तेज और वायु इस-प्रकार समुच्चयरूप अर्थ होता है उसीप्रकार सचित्त आदिमें भी समुच्चयरूप अर्थ बिना चशब्दके हो सकता है फिर चग्रहण करना निरर्थक है? सो ठीक नहीं। यदि चशब्दका उल्लेख न किया जायगा तो मिश्र, सचित्त आदिका विशेषण होगा तब जिससमय सचित्त आदि आपसमें मिलेंगे उससमय योनि कहे जायगे किंतु भिन्न भिन्न नहीं कहे जायगे यह विपरीत अर्थ ही सूत्रका मानना पडेगा इसलिये चशब्दका ग्रहण निरर्थक नहीं। यदि फिर भी यह कहा जाय कि चशब्द न भी कहा जाय तथापि उसका विशेषण स्वरूप अर्थ न लेकर समुच्चय अर्थ ही लिया जायगा इसलिये विशेष प्रयोजन न होनेसे चशब्दका उल्लेख करना व्यर्थ ही है? इसका समाधान सूत्रकार करते हैं—

इतरयोनिभेदसमुच्चयार्थस्तु ॥ ८ ॥

सूत्रमें जो योनिके भेद बतलाये हैं उनसे भिन्न भी बहुतसे भेद हैं उनके समुच्चयके लिये सूत्रमें च-
शब्दका उल्लेख है। सचित्त आदि योनिभेदोंसे अतिरिक्त भेद कौन हैं वे आगे कहे जांयगे।

एकशो ग्रहणं क्रमामिश्रप्रतिपत्त्यर्थं ॥ ९ ॥

सचित्ताचित्त शीतोष्ण संवृतविवृत इसप्रकार क्रमिक मिश्ररूप अर्थ जाननेके लिये सूत्रमें 'एकशः'
पदका उल्लेख किया गया है। 'एकशः' यह न कहा जाता तो सचित्तशीत संवृतअचित्त इत्यादि विप-
रीतरूप मिश्र अर्थका भी बोध होता। 'एकैक इति एकशः' यहांपर एकशब्दसे वीप्सा अर्थमें शस्
प्रत्यय करनेपर एकशः शब्दकी सिद्धि है।

तद्ग्रहणं क्रियते प्रकृतापेक्षार्थं ॥ १० ॥

ऊपर कहे गये संमूर्छन आदिकी ये योनियां हैं यह अर्थ प्रकट करनेकेलिए सूत्रमें तत् शब्दका
प्रतिपादन है। 'तेषां योनयस्तद्योनयः' यह तद्योनि शब्दका विग्रह है।

यूयत इति योनिः ॥ ११ ॥ सचित्तादिद्वंद्वे पुंवद्भावाभावो भिन्नार्थत्वात् ॥ १२ ॥

न वा योनिशब्दस्योभयलिंगत्वात् ॥ १३ ॥

जिसमें जीव जाकर उत्पन्न हो उसका नाम योनि है। यह योनि शब्द स्त्रीलिंग है इसलिये उसके
विशेषणस्वरूप सचित्त आदि शब्द भी स्त्रीलिंग हैं इसरीतिसे सचित्ताश्च शीताश्च संवृताश्च सचित्तशीत-
संवृताः यहां पर पुंवद्भाव नहीं होना चाहिये अर्थात् उसकी जगह 'सचित्ताशीतासंवृताः' ऐसा प्रयोग
होना चाहिये क्योंकि जहांपर समानलिंगक (पुंल्लिग ही) आश्रय रहता है वहींपर पुंवद्भाव होता है

किंतु जहां पर विभिन्नलिंगक आश्रय होता है वहां पर पुंवद्भाव नहीं होता । योनि शब्द स्त्रीलिंगक होनेसे यहां पर योनिरूप आश्रय विभिन्नलिंगक अतएव विभिन्नार्थक है समानलिंगक किंवा समानार्थक आश्रय नहीं इसलिये उपर्युक्त पुंवद्भाव बाधित है ? सो ठीक नहीं । योनि शब्द पुलिंग स्त्रीलिंग दोनों लिंग है। यहां पर वह पुलिंग ही है इसलिये समानलिंगक आश्रय हो जानेसे यहां पुंवद्भावका प्रतिषेध नहीं हो सकता। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—

योनिजन्मनोरविशेष इति चेन्नाधाराधेयभेदाद्विशेषोपपत्तेः ॥ १४ ॥

जिससमय आत्मा देवरूप जन्मपर्याय वा नारकी रूप जन्मपर्यायसे परिणत होता है उससमय वही औपपादिक कहलाता है और वही योनि कही जाती है इसलिये योनि और जन्म दोनो एक हैं, भिन्न भिन्न नहीं ? सो ठीक नहीं। सचित्त आदि योनियोंका है आधार जिसको ऐसा आत्मा संमूर्छन आदि जन्मके कारण शरीर आहार और इंद्रियादिके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है इसलिये योनि आधार और जन्म आधेय है इसरीतिसे आधार और आधेयका भेद रहनेसे योनि और जन्म एक नहीं कहे जा सकते।

सचित्तग्रहणमादौ चेतनात्मकत्वात् ॥ १५ ॥

सचित्तका अर्थ चेतनात्मक पदार्थ है । चेतनात्मक पदार्थ समस्त लोकमें प्रधान माना जाता है इसलिये सूत्रमें सबसे पहिले सचित्त पदका उल्लेख किया गया है ।

तदनंतरं शीताभिधानं तदाप्यायनहेतुत्वात् ॥ १६ ॥

सचेतन पदार्थोंकी वृद्धि वा उत्पत्तिमें प्रधान कारण शीत पदार्थ है अर्थात् जहां पर विशेष ठंडी

रहती है वहांपर अगणित जीवोंकी उत्पत्ति और वृद्धि होती है इसलिए जीवोंकी उत्पत्तिमें प्रधान कारण होनेसे सचित्तके बाद शीत पदका उल्लेख किया गया है।

अंत संवृतग्रहणं गुप्तरूपत्वात् ॥ १७ ॥

जो पदार्थ गुप्त रहता है वह स्पष्टरूपसे नहीं दीखता किंतु क्रियासे ग्राह्य रहता है संवृत भी गुप्त-रूप प्रदेशका नाम है इसलिए वह भी क्रियाग्राह्य है अर्थात् कार्यसे ग्राह्य होता है स्पष्टरूपसे नहीं देखा जा सकता इसरीतिसे गुप्तरूप रहनेके कारण संवृत शब्दका अंतमें उल्लेख किया गया है। शंका—

एक एव योनिरिति चेन्न प्रत्यात्मं सुखदुःखानुभवनहेतुसद्भावात् ॥ १८ ॥

समस्त संसारी जीवोंकी एकही योनि मान लेनी चाहिए भिन्न भिन्न योनियोंके माननेकी क्या आवश्यकता है? सो ठीक नहीं। प्रत्येक आत्मामें शुभ अशुभ परिणाम भिन्न भिन्न हैं। शुभ अशुभ परि-णामोंसे जायमान कर्मबंध भी भिन्न भिन्न है उस कर्मबंधके द्वारा प्रत्येक आत्माको सुख दुःखका भिन्न भिन्नरूपसे अनुभव होता है इसलिए भिन्न भिन्नरूपसे सुख दुःखके अनुभवकी अपेक्षा योनियोंके भी बहुतसे भेद माने गये हैं।

तत्राचित्तयोनिका देवनारकाः ॥ १९ ॥

देव और नारकियोंके उपपादस्थानके पुद्गलप्रचय अचित्त हैं इसलिए देव और नारकी अचित्त योनिवाले हैं।

गर्भजा मिश्रयोनयः ॥ २० ॥

जो जीव गर्भसे जायमान—गर्भज हैं वे सचित्ताचित्तस्वरूप मिश्रयोनिके धारक हैं क्योंकि उनकी

उत्पत्तिके स्थानस्वरूप माताके उदरमें जो वीर्य और रज अचित्त पदार्थ हैं उनका संबंध सचेतन आत्माके साथ है।

शेषास्त्रिविकल्पाः ॥ २१ ॥

औपपादिक और गर्भजोंसे शेष जो संमूर्छनज जीव हैं उनमें कोई सचित्त योनिवाले हैं कोई अचित्त योनिवाले हैं और कोई सचित्ताचित्तस्वरूप मिश्रयोनिवाले हैं इस प्रकार उनमें तीनों भेद हैं। उनमें साधारण शरीर एक दूसरेके आश्रयसे रहते हैं इसलिये वे सचित्तयोनिवाले हैं बाकीके कोई जीव अचित्त योनिवाले तो कोई मिश्रयोनिवाले हैं।

शीतोष्णयोनयो देवनारकाः ॥ २२ ॥

देव और नारकियोंमें बहुतोंके उपपाद स्थान उष्ण होते हैं और बहुतोंके शीत रहते हैं इसलिये वे शीत योनिवाले भी होते हैं और उष्ण योनिवाले भी होते हैं।

उष्णयोनिस्तेजस्कायिकः ॥ २३ ॥

जो जीव अग्निकायिक हैं उनकी उत्पत्तिका स्थान नियमसे उष्ण ही रहता है इसलिये वे नियम से उष्ण योनिवाले ही हैं।

इतरे त्रिप्रकाराः ॥ २४ ॥

देव नारकी और अग्निकायिक जीवोंसे भिन्न जो जीव हैं उनमें बहुतसे शीत योनिवाले होते हैं बहुतसे उष्ण योनिवाले होते हैं और बहुतसे शीतोष्णस्वरूप मिश्रयोनिवाले होते हैं इस प्रकार उनमें शीत आदि तीनों प्रकारकी योनियोंका संभव है।

देवनारकैकेंद्रियाः संवृतयोनयः ॥ २५ ॥

देव नारकी और एकेंद्रिय जीव संवृतयोनिवाले हैं अर्थात् जिस स्थानपर इनकी उत्पत्ति होती है वह स्थान ढका हुआ रहता है उघडा हुआ नहीं।

विकलेंद्रिया जीवा विवृतयोनयो वेदितव्याः ॥ २६ ॥

जो जीव विकलेंद्रिय हैं अर्थात् दो इंद्रिय तेइंद्रिय और चौइंद्रिय हे वे विवृतयोनिवाले हैं—उनकी उत्पत्तिका स्थान उघडा—खुला रहता है।

मिश्रयोनयो गर्भजाः ॥ २७ ॥

जो जीव गर्भज हैं वे संवृत विवृतरूप मिश्रयोनिवाले होते हैं अर्थात् उनकी उत्पत्तिका स्थान कुछ ढका तो कुछ उघडा हुआ रहता है ।

तद्भेदाश्चशब्दसमुच्चिताः प्रत्यक्षज्ञानिदृष्टा इतरेषामागसगम्याश्चतुरशीतिशतसहस्रसंख्याः ॥ २८ ॥

जिनका आपसका भेद कर्मोंके भेदके आधीन है ऐसे उपर्युक्त योनियोंके चौरासी लाख भेद हैं। केवलज्ञानी अपने दिव्य नेत्रसे इन भेदोंको देखते हैं और अल्पज्ञानी मनुष्य आगमके द्वारा उन्हें जानते हैं। ये सभी भेद सचित्तशीतेत्यादि सूत्रमें आए हुए चशब्दसे ग्रहण किए जाते हैं। वे योनियोंके चौरासी लाख भेद इस प्रकार हैं—

नित्यनिगोत (द) और अनित्य निगोतोंमें प्रत्येकके सात सात लाख योनिभेद हैं। यहांपर जो जीव भूत भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालोंमें त्रस पर्यायके अयोग्य हैं—कभी भी त्रस नहीं हो सक्ते वे नित्यनिगोद जीव कहे जाते हैं और जिन्होंने त्रस पर्यायको प्राप्त कर लिया है अथवा आगे जाकर

प्राप्त करेंगे वे अनित्य निगोद जीव हैं। तथा पृथ्वी अप् तेज वायुमें भी प्रत्येकके सात सात लाख योनि भेद हैं वनस्पतिके दश लाख, दोइंद्रिय तेइंद्रिय और चौइंद्रियोंमेंसे प्रत्येकके दो दो लाख, इस प्रकार छह लाख, देव नारकी पंचेंद्रिय–तिर्यंचोंमेंसे प्रत्येकके चार चार लाख और मनुष्योंके चौदह लाख योनि-भेद हैं। इस प्रकार सब मिलकर ये चौरासी लाख भेद योनियोंके हैं। गोम्मटसारजीमें कहा भी है—

णिच्चिदरधादुसत्त य तरुदसवियलिंदिएसु छच्चेव।
सुराणिरयातिरियचउरो चोद्दसमणुए सदसहस्सा॥ ८९॥
नित्येतरधातुसप्त च तरुदशाविकलेंद्रियेषु षट् चैव।
सुरनिरयातिर्यक्चतस्रः चतुर्दश मनुष्ये शतसहस्राः॥ ८९॥

नित्यनिगोद इतरनिगोद पृथिवी जल अग्नि वायु इन प्रत्येककी सात सात लाख, वनस्पतिकी दश लाख, द्वींद्रिय तेइंद्रिय चतुरिंद्रियमेंसे प्रत्येककी दो दो लाख इसप्रकार विकलेंद्रियोंकी मिलकर छह लाख, देव नारकी और पंचेंद्रिय तिर्यंच इनमें प्रत्येककी चार चार लाख, मनुष्यकी चौदहलाख सब मिलकर चौरासी लाख योनि होती हैं। (जीवकांड)॥ ३२॥

विशेष–आकार योनि और गुण योनिके भेदसे योनि दो प्रकारकी है यहांपर ये गुणयोनिकी अपेक्षा भेद माने हैं आकार योनिके तीन भेद हैं–शंखावर्त, कूर्मोन्नत और वंशपत्र। शंखावर्तयोनिमें गर्भ नहीं ठहरता। कूर्मोन्नतयोनिमें तीर्थंकर चक्रवर्ती बलभद्र और उनके भाइयोंके सिवाय कोई उत्पन्न नहीं होता और वंशपत्रयोनिमें बाकीके गर्भ जन्मवाले सब जीव पैदा होते हैं।

उपर्युक्त नौ प्रकारके योनि भेदोंसे जटिल संमूर्छन गर्भ और उपपाद इन तीनों प्रकारके जन्मोंका

सामान्यरूपसे सबही प्राणियोंके होनेका प्रसंग आया इसलिये किन जीवोंके कौन कौनं जन्म होते हैं ? सूत्रकार इसबातका खुलासा करते हैं—

जरायुजांडजपोतानां गर्भः ॥ ३३ ॥

जरायुज अंडज और पोत इन तीनप्रकारके जीवोंका गर्भजन्म होता है।

जालवत्प्राणिपरिवरणं जरायुः ॥ १ ॥

जालके समान चारो ओरसे जो जीवका ढकनेवाला हो और जिसके चारो ओर मांस और रक्त हो वह जरायु कहा जाता है।

शुक्रशोणितपरिवरणमुपात्तकाठिन्यं नखत्वक्सदृशं परिमंडलमंडं ॥ २ ॥

जौ नखकी छालके समान कठिन हो, वीर्य और रजसे आच्छादित हो और गोलाकार हो उसका नाम अंड है।

संपूर्णावयवः परिस्पंदादिसामर्थ्योपलक्षितः पोतः ॥ ३ ॥

बिना किसी आवरणके ही जिसके शरीरके अवयव पूर्ण हों और योनिसे निकलते ही जो हलन चलन करनेमें समर्थ हो उसका नाम पोत है। जो जीव जरायुमें उत्पन्न हों वे जरायुज और जो अंडेसे पैदा हों वे अंडज हैं अर्थात्—जो जीव जालके समान मांस और रुधिरसे व्याप्त एक प्रकारकी थैलीसे लिपटे हुए पैदा होते हैं उनको जरायुज कहते हैं। माताके रज और पिताके वीर्यसे बने हुए नखकी त्वचाके समान कठिन गोलाकार आवरणरूप अंडेसे जो उत्पन्न हों वे अंडज कहे जाते हैं और जिनके ऊपर जरा वा अंडा कुछ भी आवरण नहीं होता, माताके उदरसे निकलते ही जो चलने फिरने लगते

हैं वे पोत हैं। 'जरायुजाश्च अंडजाश्च पोताश्च जरायुजांडजपोताः, तेषां जरायुजांडजपोतानां' यह जरायुजांडजपोतका विग्रह है।

पोतजा इत्ययुक्तमर्थभेदाभावात् ॥ ४ ॥

कोई कोई लोग 'पोतजाः' ऐसा पाठ मानते हैं परन्तु वह अयुक्त है क्योंकि पोतके अन्दर कोई अन्य पदार्थ उत्पन्न होनेवाला हो यह बात नहीं किंतु ऊपर जो पोतका अर्थ लिखा गया है वही उन्हें पोतज शब्दका भी अर्थ इष्ट है इसलिये जब पोतज और पोत दोनों समानार्थक हैं तब पोत शब्दका पाठ ही लाभकारी और निर्दोष है। शंका—

आत्मा पोतज इति चेन्न तत्परिणामात् ॥ ५ ॥

जो पोतमें उत्पन्न हुआ हो वह पोतज है। पोतमें आत्मा उत्पन्न होता है इसलिये पोतजका अर्थ आत्मा हो जानेसे अर्थभेद हो गया सो ठीक नहीं। पोतरूप परिणामसे परिणत आत्मा ही पोत कहा जाता है आत्मासे भिन्न पोत कोई पदार्थ नहीं इसरीतिसे पोत और पोतज दोनोंका समान ही अर्थ है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि जिसप्रकार जरायुमें उत्पन्न होनेके कारण आत्माको जरायुज कहा जाता है उसीप्रकार पोतमें उत्पन्न होनेके कारण पोतज कहना भी उचित है सो ठीक नहीं। क्योंकि जरायुके समान पोत कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। इसरीतिसे जब पोतज और पोत दोनों ही समानार्थक हैं तब सूत्रमें पोत शब्दका पाठ ही उपयुक्त है।

जरायुजग्रहणमादावभ्यर्हितत्वात् ॥ ६ ॥ क्रियारंभशक्तियोगात् ॥ ७ ॥

केषांचिन्महाप्रभावत्वात् ॥ ८ ॥ मार्गफलाभिसंबंधात् ॥ ९ ॥

अंडज आदि जीवोंकी अपेक्षा जरायुज जीव उत्कृष्ट हैं इसलिये सूत्रमें सबसे पहिले जरायुज शब्दका उल्लेख किया है। यहांपर यह शंका न करनी चाहिये कि अंडज आदिकी अपेक्षा जरायुज जीव क्यों उत्कृष्ट हैं? क्योंकि एक तो अंडज और पोत जीवोंकी अपेक्षा जरायुज जीवोंमें बोल चाल और अध्ययन आदि क्रियाओंकी विशेषता है अर्थात् जिसरीतिसे जरायुज बोल चाल वा अध्ययन अध्यापन आदि कार्य कर सकते हैं उसरीतिसे अंडज आदि जीव नहीं। दूसरे चक्रवर्ति वासुदेव काम-देव आदि प्रभावशाली पुरुष जरायुज जीवोंमें ही होते हैं अंडज आदिमें नहीं। तीसरे मोक्षके मार्गस्व-रूप सम्यग्दर्शनादि और मोक्षसुखका संबंध जरायुज जीवोंके ही होता है, अंडज आदिके नहीं इस-रीतिसे भाषा अध्ययन आदिकी विशेषतासे जरायुज जीव ही अंडज आदि जीवोंकी अपेक्षा उत्कृष्ट हैं इसलिये सूत्रमें जरायुज शब्दका ही सबसे पहिले उल्लेख किया गया है।

तदनंतरमंडजग्रहणं पोतेभ्योऽभ्यर्हितत्वात् ॥ १० ॥

पोत जीवोंकी अपेक्षा अंडज जीव उत्कृष्ट हैं क्योंकि अंडजोंमें जो शुक सारिका आदि पक्षी हैं उनमें पोत जीवोंकी अपेक्षा अक्षरोंकी उच्चारणक्रिया आदिकी विशेषता है—वे स्पष्टतया उच्चारण करने में कुशल होते हैं इसलिये सूत्रमें जरायुज शब्दके वाद अंडज शब्दका उल्लेख किया है। शंका—

उद्देशवन्निर्देश इति चेन्न गौरवप्रसंगात् ॥ ११ ॥

उद्देशके समान ही निर्देश होना चाहिये अर्थात् जिसका पहिले सामान्य कथन हो उसका व्याख्यान भी पहिले होना चाहिये 'संमूर्छनगर्भोपपादा जन्म' इससूत्रमें उद्देशस्वरूप संमूर्छन शब्दका सबसे पहिले उल्लेख किया गया है इसलिये यहां पर भी संमूर्छन जन्मवालोंका सबसे पहिले कथन करना चाहिये

सबसे पीछे क्यों किया गया ? सो ठीक नहीं । एकेंद्रिय दोइंद्रिय तेइंद्रिय चतुरिंद्रिय जीवोंका और पंचेंद्रियोंमें कोई कोई तिर्यंच वा मनुष्योंका संमूर्छन जन्म माना है । यदि इस संमूर्छन जन्मका सब जन्मोंकी अपेक्षा पहिले वर्णन किया जायगा तो इस अर्थका द्योतक एक बडा सूत्र करनेसे शास्त्र गौरव होगा इसलिये गर्भज औरऔपपादिकोंका पहिले कथन कर उनसे बाकी बचे जीवोंका संमूर्छन जन्म है इस लाघवपूर्वककथन करनेके लिये क्रम भंगकर सबसे पीछे संमूर्छन जन्मवाले जीवोंका उल्लेख किया गया है ।

सिद्धे विधिरवधारणार्थः ॥ १२ ॥

जो बात सिद्ध रहती है उसका फिरसे कथन करना किसी न किसी नियमका सूचक होता है । जरायुज अंडज आदिका सामान्यरूपसे गर्भजन्म सिद्ध ही था फिर जो 'जरायुजांडजपोतानां गर्भः' इस सूत्रसे उनका फिरसे गर्भ जन्मका विधान किया गया है वह जरायुज अंडज और पोत जीवोंका ही गर्भ जन्म होता है अन्य किसीका नहीं इस नियमका द्योतक है । यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—जरायुज आदिके ही गर्भजन्म होता है ऐसे नियमकी जगह उनके गर्भ ही जन्म होता है यह नियम क्यों नहीं किया जाता ? सो ठीक नहीं । यदि जरायुज अंडज और पोत जीवोंके गर्भ ही जन्म होता है यह नियम किया जायगा तो इनसे भिन्न बाकीके जीवोंके भी गर्भ जन्मका प्रसंग होगा परंतु वह

१—यदि हि जरायुजादीनां गर्भ एवेत्यवधारणं स्यात् तदा जरायुजादयो गर्भनियताः स्युः, गर्भस्तु तेष्वनियत इति देवनारकेषु शेषेषु स प्रसज्येत । यदा तु जरायुजादीनामेवेत्यवधारणं तदा तेषु गर्भाभावो विभाव्यत इति युक्तो जरायुजादीनामेव गर्भः । श्लोकवार्तिक पृष्ठ ३३६ ।

इष्ट नहीं क्योंकि शेष जीवोंके 'शेषाणां संमूर्छनं' इस आगेके सूत्रसे संमूर्छन जन्म ही माना है इसलिये जरायुज अंडज और पोत जीवोंके गर्भ ही जन्म होता है ऐसा नियम न मानकर 'उनके ही गर्भजन्म होता है' यही नियम मानना वास्तविक स्वरूपकी सिद्धिमें कारण है ॥ ३३ ॥

यदि जरायुज अंडज और पोत जीवोंके गर्भ जन्मका निश्चय है तब उपपाद जन्म किन जीवोंका होता है। इस शंकाका समाधान सूत्रकार करते हैं–

देवनारकाणामुपपादः ॥ ३४ ॥

भवनवासी आदि चारो प्रकारके देव और नारकियोंका उपपाद जन्म होता है।

देवादिगत्युदय एवास्य जन्मेति चेन्न शरीरनिर्वर्तकपुद्गलाभावात् ॥ १ ॥

मनुष्य हो वा तिर्यंच आयुके क्षीण हो जानेपर जिससमय वह कार्माण काययोगमें विद्यमान रहता है उससमय देव आदि गतियोंके उदयसे देव आदि संज्ञा हो जाती है इसरीतिसे उस कार्माणकाययोग रूप अवस्थाको जन्म मान लेना चाहिए, उपपाद जन्मको पृथक्रूपसे माननेकी कोई आवश्यकता नहीं। सो ठीक नहीं। जहांपर देव वा तिर्यंच आदिके शरीरकी रचना हो वहीं देव आदि जन्मका मानना इष्ट है। कार्माणकाययोग अवस्थामें जीव अनाहारक रहता है इसलिए उससमय देव आदिके शरीरकी रचना संभव नहीं इस अवस्थाको जन्म नहीं माना जा सकता किंतु उससे भिन्न उपपाद नामका जन्म है और वह देव एवं नारकियोंके ही होता है ॥ ३४ ॥

गर्भ और उपपाद जन्मवाले जरायुज आदि जीवोंसे भिन्न अवशिष्ट जीवोंके कौनसा जन्म होता है ? इस बातका उल्लेख सूत्रकार करते हैं–

शेषाणां संमूर्च्छनं ॥ ३५ ॥

शेष अर्थात् गर्भ और उपपाद जन्मवाले जीवोंसे बाकी रहे हुए संसारी जीवोंका संमूर्छन जन्म है।

उभयत्र नियमः पूर्ववत् ॥ १ ॥

जरायुज अंडज और पोत जीवोंके ही गर्भजन्म होता है अन्यके नहीं जिसप्रकार यह ऊपर नियम कर आए हैं उसीप्रकार देव और नारकियोंके ही उपपाद जन्म होता है अन्यके नहीं। शेषोंका ही संमूर्छन जन्म होता है अन्यका नहीं यहां पर भी दोनों जगह यह नियम समझ लेना चाहिये। 'शेषाणां संमूर्छनं' इस सूत्रमें जो शेष शब्दका उल्लेख किया गया है उससे यहां पर जन्मोंका ही नियम है जन्मवान् जीवोंका नियम नहीं क्योंकि जरायुज अंडज और पोत जीवोंके ही गर्भ होता है, देव और नारकियोंके ही उपपाद जन्म होता है ऐसे नियमके रहनेपर गर्भ और उपपाद दोनों जन्मोंका तो नियम हो जाता है अर्थात्–इनके सिवाय अन्यके गर्भ और उपपाद नहीं होसकते परंतु 'जरायुज आदिके गर्भ ही वा उपपाद ही जन्म होता है संमूर्छन नहीं' यह नियम नहीं होता इसलिए शेष ग्रहण किया गया है। शेष ग्रहण करनेसे 'शेषोंके ही संमूर्छन जन्म होता है जरायुज आदिके नहीं' यह नियम होनेसे जरायुज वा देव आदिके उसकी योग्यता नहीं हो सकती। यदि जन्मवाले जीवोंका भी नियम माना जायगा तो जरायुज अंडज और पोतोंके गर्भ ही जन्म होता है देव और नारकियोंकें उत्पाद ही जन्म होता है' इस रीतिसे गर्भ और उपपादका तो नियम होगा नहीं किंतु जरायुज आदिका ही नियम होगा तब जहांपर संमूर्छन वा अन्य किसी जन्मका संभव होगा वहांपर नियमसे संमूर्छन ही जन्म होगा और कोई जन्म नहीं हो सकता फिर 'शेषाणां संमूर्छनं' इस सूत्रमें शेष शब्द व्यर्थ ही हो जायगा इसलिए यहांपर जरा-

युज आदिके ही गर्भ आदि होते हैं यह जन्मोंका ही नियम मानना चाहिए, जन्मवानोंका नहीं। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

जरायुज आदिके ही गर्भ आदि होते हैं वा जरायुज आदिके गर्भ आदि ही होते हैं इसप्रकार जन्म और जन्मी दोनोंके नियमोंको यहां हम स्वीकार करते हैं ऐसा करनेपर जरायुज आदिके गर्भ और उपपाद अव्यभिचरितरूपसे हो सकते हैं अर्थात् जरायुज आदिके ही गर्भ उपपाद होते हैं ऐसा जन्मोंका नियम माननेपर यद्यपि उनके संमूर्छन जन्मका भी संभव होता है परंतु उनके गर्भ उपपाद ही जन्म होते हैं यह जन्मवालोंका जब नियम माना जायगा तब उनके संमूर्छन जन्मका संभव नहीं हो सकता इसरीतिसे जरायुज आदिके निर्दोषरूपसे गर्भ और उपपाद निश्चित है और उनसे बचे जितने जीव हैं उनके बिना किसी प्रकारका उल्लेख करनेपर भी संमूर्छन जन्म अर्थतः सिद्ध है फिर 'शेषाणामेव संमूर्छनं' यह सामान्य कथन होनेसे उस कथनकेलिए 'शेषाणां संमूर्छनं' इस सूत्रका आरंभ व्यर्थ है ? सो ठीक नहीं। उपर्युक्त जन्मोंके नियमकी जो कल्पना की गई है वह 'शेषाणां संमूर्छनं' इस सूत्रके शेष शब्दकी ध्वनिसे की गई है। वह ध्वनि एक ही प्रकारका नियम ध्वनित कर सकती है दोनों प्रकारके नियमोंके द्योतनमें उसकी सामर्थ्य नहीं इसलिए यहांपर दोनों नियमोंमें एकही कोई नियम अंगीकार करना होगा तथा शेष शब्दकी ध्वनिसे जब ऊपर नियमकी प्रकटता हुई है तब जन्मोंके नियममें ही शेष शब्दकी सामर्थ्य है जन्मवानोंके नियममें नहीं इसलिए जन्मोंके नियमके निर्धारण रहनेपर 'शेषाणां संमूर्छनं' इस सूत्रका आरंभ सार्थक है व्यर्थ नहीं ॥ ३५ ॥

गर्भ आदि तीन प्रकारके जन्म और अनेक भेदोंसे युक्त नौ प्रकारकी योनियोंके धारक संसारी

जीवोंके शुभ अशुभ कर्मोंसे रचित और कर्मबंधके फलके अनुभवके स्थान शरीर कितने हैं ? सूत्रकार उन्हें गिनाते हैं—

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ॥ ३६ ॥

औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस और कार्मण ये पांच प्रकारके शरीर हैं।

शीर्यंत इति शरीराणि, घटाद्यतिप्रसंग इति चेन्न नामकर्मनिमित्तत्वाभावात् ॥ १ ॥

जो नष्ट होनेवाले हों वे शरीर हैं। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि जो नष्ट होनेवाले हों वे शरीर हैं, तो नष्ट होनेवाले तो घट पट आदि पदार्थ भी हैं इसलिये उन्हें भी शरीर मानना पडेगा। सो ठीक नहीं। जिसकी उत्पत्तिमें शरीर नाम कर्मका उदय कारण होगा वह शरीर कहा जा सकता है अन्य नहीं। औदारिक आदिकी उत्पत्तिमें शरीर नाम कर्मका उदय कारण है इसलिये वे ही शरीर कहे जा सकते हैं घट आदिकी उत्पत्तिमें शरीर नाम कर्मका उदय कारण नहीं इसलिये वे शरीर नहीं कहे जा सकते। इसप्रकार नामकर्मकी निमित्तताके विना घट आदिको शरीर कहना बाधित है। शंका—

विग्रहाभाव इति चेन्न रूढिशब्देष्वपि व्युत्पत्तौ क्रियाश्रयात् ॥ २ ॥

यदि शरीर नामकर्मके उदयसे शरीर संज्ञा मानी जायगी तो 'शीर्यंत इति शरीराणि' ऐसा विग्रह नहीं बन सकता ? सो ठीक नहीं। गो शब्द यद्यपि रूढ है तो भी 'गच्छतीति गौः' जो चले उसका नाम गाय है इस व्युत्पत्तिके अनुसार वह गमन क्रियाका आधार माना जाता है उसीप्रकार यद्यपि शरीर भी रूढि शब्द है तथापि 'शीर्यंत इति शरीराणि' जो नष्ट हों वे शरीर हैं इस व्युत्पत्तिके अनुसार वह

भी नष्ट होनारूप क्रियाका आधार है इसलिये 'शीर्यंत इति शरीराणि' इस शरीर शब्दके विग्रहका अभाव नहीं कहा जा सकता। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

शरीरत्वादिति चेन्न तदभावात् ॥ ३ ॥

शरीरत्व धर्मको नैयायिक आदिने अवांतर जातिस्वरूप माना है इसलिये उस शरीरत्वका जहां सम्बन्ध हो उसे ही शरीर मानना चाहिये नामकर्मके निमित्तसे उसकी उत्पत्ति मानना अयुक्त है ? सो ठीक नहीं। वास्तवमें तो शरीरत्व जाति कोई पदार्थ नहीं। यदि वह पदार्थ हो भी तो नैयायिकोंने उसे पदार्थका स्वभाव न मानकर उससे भिन्न माना है इसलिये जिसप्रकार उष्णत्व जातिको अग्निका स्वभाव न मानकर उससे भिन्न माननेपर अग्नि पदार्थका निश्चय नहीं हो सकता उसीप्रकार शरीरत्वको भी यदि शरीरसे भिन्न माना जायगा तो उसके अस्तित्वका भी निश्चय नहीं हो सक्ता। पदार्थसे सर्वथा भिन्न जातिके सम्बन्धकी कल्पनाका पहिले अच्छीतरह खण्डन कर दिया गया है इस रीतिसे शरीरत्वके सम्बन्धसे शरीर पदार्थका मानना बाधित है किन्तु नामकर्मका उदय ही उसकी उत्पत्तिमें कारण है।

उदारात्स्थूलवाचिनो भवे प्रयोजने वा ठञ् ॥ ४ ॥

उदारका अर्थ स्थूल है उससे 'भव' अर्थमें वा प्रयोजन अर्थमें ठञ् प्रत्यय करनेपर औदारिक शब्द की सिद्धि हुई है। 'उदारे भवं वा उदारं प्रयोजनं यस्य तत् औदारिकं' यह उसकी व्युत्पत्ति है। अर्थात् इंद्रियोंसे देखने योग्य स्थूल शरीरको औदारिक शरीर कहते हैं।

विक्रियाप्रयोजनं वैक्रियिकं ॥ ५ ॥

अणिमा महिमा आदि आठ प्रकारकी ऋद्धियोंके द्वारा एक अनेक छोटा बडा आदि अनेक

प्रकारसे शरीरका हो जाना विक्रिया है। जिसका प्रयोजन विक्रिया हो वह वैक्रियिक शरीर है। अर्थात् जिसमें अनेक प्रकारके स्थूल सूक्ष्म हलका भारी इत्यादि विकार होनेकी योग्यता हो उसका नाम वैक्रियिक शरीर है।

आह्रियते तदित्याहारकं ॥ ६ ॥

सूक्ष्म पदार्थके निर्णयकेलिए वा असंयम दूर करनेकेलिए प्रमत्त गुण स्थानवर्ती मुनियोंके जो प्रगट होता है उसे आहारक शरीर कहते हैं—

तेजोनिमित्तत्वात्तैजसं ॥ ७ ॥

जो तेजका कारण हो वा जिसमें तेज रहता हो वह तैजस शरीर कहा जाता है।

कर्मणामिदं कर्मणां समूह इति वा कार्मणं ॥ ८ ॥

ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंका जो कार्य हो वा कर्मोंका समूह हो उसका नाम कार्मण शरीर है। कर्म और उनका समूह यद्यपि अभिन्न पदार्थ है तथापि कथंचित् भेदविवक्षा मानकर यहां उनके समूहको कार्मण शरीर कह दिया गया है। शंका—

सर्वेषां कार्मणत्वप्रसंग इति चेन्न प्रतिनियतौदारिकादिनैमित्तत्वात् ॥ ९ ॥

यदि कर्मोंके कार्य वा कर्मोंके समूहको कार्मण शरीर माना जायगा तो औदारिक आदिको भी कार्मण शरीर कह देना पडेगा क्योंकि औदारिक आदि शरीर भी कर्मोंके कार्य वा कर्मोंके समूहरूप हैं इसरीतिसे केवल कार्मण शरीर मानना ही ठीक है औदारिक आदि भेदोंके गिनानेकी कोई आव-

श्यकता नहीं ? सो ठीक नहीं । औदारिकशरीर नामकर्म वैक्रियिकशरीर नामकर्म इत्यादि भिन्न भिन्न नामकर्मके भेद माने हैं इसलिए उनके उदयके भेदसे औदारिक आदि शरीरोंका भेद है । तथा—

तत्कृतत्वेऽप्यन्यत्वदर्शनाद् घटादिवत् ॥ १० ॥

मिट्टीरूप कारणके अभेद रहनेपर भी जिसप्रकार घडा सरवा आदि पदार्थोंका नाम और स्वरूप आदिके भेदसे भेद दीख पडता है उसीप्रकार कर्मरूप कारणका भलेही अभेद रहे तथापि नाम और स्वरूप आदिके भेदसे औदारिक आदि भिन्न भिन्न ही हैं । तथा—

तत्प्रणालिकया चाभिनिष्पत्तेः ॥ ११ ॥

कार्मण शरीरके द्वारा औदारिक वैक्रियिक आदि शरीरोंकी उत्पत्ति होती है इसलिए कार्मण शरीर कारण और औदारिक आदि शरीर कार्य हैं इसरीतिसे कार्य कारणके भेदसे औदारिक आदि शरीरों को कार्मण शरीर नहीं कहा जा सकता । अथवा—

विस्रसोपचयेन व्यवस्थानात् क्लिन्नगुडरेणुश्लेषवत् ॥ ११ ॥

जिसप्रकार गीले गुडमें धूलिके कण स्वाभाविक परिणामसे आकर मिल जाते हैं उसीप्रकार स्वाभाविक परिणामसे औदारिक आदि भी कर्ममें विद्यमान रहते हैं सर्वथा कर्म स्वरूप नहीं इसलिये कार्मण और औदारिक आदि शरीरोंमें आधार आधेयका भेद रहनेपर वे भिन्न भिन्न ही हैं अर्थात् औदारिकादि शरीर तो नोकर्म हैं और कार्मण शरीर कर्म है इसलिये वर्गणाओंके भेदसे उनमें परस्पर भेद है ।

कार्मणमसान्निमित्ताभावादिति चेन्न निमित्तनिमित्तिभावात्तस्यैव प्रदीपवत् ॥ १२ ॥

कार्मण शरीर नहीं माना जा सकता क्योंकि संसारमें जिसके निमित्तकारण हैं वही पदार्थ सत माना जाता है किंतु जिसके कारण नहीं है वह खरविषाणके समान असत् है? सो ठीक नहीं । जिस-प्रकार दीपक स्वयं प्रकाश्य और प्रकाशक दोनों स्वरूप है अर्थात् अपनेको प्रकाशित करनेमें स्वयं ही वह कारण और प्रकाशित होनेसे स्वयं ही वह कार्य है उसीप्रकार कार्मण शरीर भी निमित्त निमित्ती–कारण कार्य दोनों स्वरूप है अर्थात् जिसप्रकार वह औदारिक आदि शरीरोंका उत्पादक है उसीप्रकार वह अपना भी उत्पादक होनेसे स्वयं कारण और उत्पन्न होनेसे स्वयं ही कार्य है इसरीतिसे कारण और कार्यस्वरूप होनेसे कार्मण शरीर असत्पदार्थ नहीं कहा जा सकता । तथा–

मिथ्यादर्शनादिनिमित्तत्वाच्च ॥ १४ ॥ इतरथा ह्यनिर्मोक्षप्रसंगः ॥ १५ ॥

शास्त्रोंमें मिथ्यादर्शन अविरति आदिको कार्मण शरीरका कारण बतलाया है इसलिये 'कार्मण शरीरका कोई निमित्त नहीं है अतः वह कोई पदार्थ नहीं' यह कहना असिद्ध है । तथा यह नियम है जिसका उत्पादक कारण नहीं होता वह नित्य पदार्थ माना जाता है नित्यका विनाशक कारण कोई हो नहीं सकता इसलिये उसका सर्वदा आस्तित्व रहता है । यदि कार्मण शरीरका कोई भी उत्पादक कारण न माना जायगा तो उसका कभी भी विनाश न हो सकेगा सदा उसका आत्माके साथ संबंध रहेगा इसरीतिसे सर्वदा कर्मोंके जालमें जकडे रहनेके कारण किसी भी आत्माको कभी भी मुक्तिलाभ न हो सकेगा इसलिये कार्मण शरीर अकारण है–उसका उत्पादक कोई भी निमित्त कारण नहीं यह बात असिद्ध है । यदि यहांपर यह आशंका हो कि–

अशरीरं विशरणाभावादिति चेन्नोपचयापचयधर्मवत्त्वात् ॥ १६ ॥

जिसप्रकार औदारिक आदि शरीर घटते घटते नष्ट हो जाते हैं उसतरह कार्मण शरीर घटता घटता नष्ट होता नहीं दीख पडता इसलिये 'शीर्यंत इति शरीराणि' जो घटते घटते नष्ट हो जांय वे शरीर हैं इस व्युत्पत्तिके आधीन कार्माण शरीरको शरीर नहीं कहा जा सकता ? सो ठीक नहीं। निमित्त कारणोंके द्वारा सर्वदा कर्मोंका आगमन और विनाश होता रहता है इसलिये घटना वढनारूप कार्य औदारिक आदिके समान कार्मण शरीरमें भी है इसलिये ' कार्मण शरीर, शरीर नहीं कहा जा सकता ' यह कहना अयथार्थ है ।

तद्ग्रहणमादाविति चेन्न तदनुमेयत्वात् ॥ १७ ॥

औदारिक आदि समस्त शरीरोंका आश्रय कार्मण शरीर है क्योंकि कार्मण शरीरके आधार औदारिक आदि शरीरोंकी रचना है इसलिये सबसे पहिले सूत्रमें कार्मण शरीरका उल्लेख करना चाहिये ? सो ठीक नहीं । जिस प्रकार घट पट आदि कार्योंके देखनेसे उनके आश्रय परमाणुओंका अनुमान कर लिया जाता है क्योंकि विना परमाणुओंके घट आदिका होना असंभव है उसीप्रकार औदारिक आदि कार्योंके देखनेसे उनके आश्रयस्वरूप कार्मण शरीरका भी अनुमान कर लिया जाता है क्योंकि विना कार्मण शरीरके औदारिक आदि शरीरका होना असंभव है कारण कार्यलिंगक होता है—कार्यसे उस का आस्तित्व जान लिया जाता है इसरीतिसे अनुमानसाध्य होनेसे कार्मण शरीरका सबसे पहिले सूत्र में उल्लेख नहीं किया जा सकता ।

तत एव कर्मणो मूर्तिमत्त्वं सिद्धं ॥ १८ ॥

औदारिक आदि मूर्तिमान् कार्य हैं और उनकी उत्पत्ति कर्मोंसे मानी है इसलिये कर्म भी मूर्तिक पदार्थ हैं यह बात स्वतः सिद्ध है। सारार्थ–कार्यमें जितने गुण दीख पडेंगे वे सब कारणके गुण माने जांयगे क्योंकि कारणके अनुकूल ही कार्य होता है। कर्मोंके कार्य औदारिक आदिमें मूर्तिकपना दीख पडता है इसलिये उनके कारण कर्ममें भी मूर्तिकपना स्वभावसिद्ध है। इस रीतिसे नैयायिक आदिने जो अदृष्ट–धर्म अधर्मरूप गुणसे जो औदारिक आदि शरीरोंकी उत्पत्ति मान रक्खी है वह मिथ्या है क्योंकि अदृष्ट अमूर्तिक, आत्माका गुण और निष्क्रिय पदार्थ है उससे मूर्तिक और क्रियावान् औदारिक आदि शरीरोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

औदारिकग्रहणमादावतिस्थूलत्वात् ॥ १९ ॥

सब शरीरोंमें औदारिक शरीर अत्यन्त स्थूल इंद्रियोंका विषय है इसलिये सबसे पहिले सूत्रमें औदारिक शरीरका उल्लेख किया गया है।

उत्तरेषां क्रमः सूक्ष्मक्रमप्रतिपत्त्यर्थः ॥ २० ॥

औदारिककी अपेक्षा वैक्रियिक, वैक्रियिककी अपेक्षा आहारक इत्यादि क्रमसे उत्तरोत्तर शरीर सूक्ष्म हैं यह बात बतलानेके लिये सूत्रमें औदारिकके बाद वैक्रियिक, वैक्रियिकके बाद आहारक इत्यादि क्रमका उल्लेख है। 'परं परं सूक्ष्मं' इस सूत्रसे वैक्रियिक आदि शरीरोंकी सूक्ष्मता स्वयं सूत्रकार आगे बतलावेंगे ॥ ३६ ॥

जब औदारिक शरीर इंद्रियोंसे जाना जाता है तब वैक्रियिक आदि शरीरोंका इंद्रियोंसे ज्ञान क्यों नहीं होता? इसका समाधान सूत्रकार देते हैं–

परं परं सूक्ष्मं ॥ ३७ ॥

औदारिकसे आगे आगेके शरीर सूक्ष्म हैं अर्थात् औदारिकसे वैक्रियिक, वैक्रियिकसे आहारक, आहारकसे तैजस, और तैजससे कार्मण शरीर सूक्ष्म है।

परशब्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षातो व्यवस्थार्थगतिः ॥ १ ॥

पर शब्दके अनेक अर्थ हैं 'पूर्वः परः' पहिलेका और पश्चात्का, यहांपर परशब्दका अर्थ व्यवस्था है। परपुत्रः, परभार्येति (अन्य पुत्रोऽन्यभार्येति) यह पुत्र दूसरा है और यह स्त्री दूसरी है, यहांपर परशब्द अन्य अर्थका वाचक है। परामियं कन्या, अस्मिन् कुटुंबे प्रधानमिति, यह कन्या इस कुटुंबमें प्रधान है यहांपर पर शब्दका अर्थ प्रधान है। परं धाम गतः (इष्टं धाम गतः) वह अपने इष्ट स्थानको चला गया यहांपर पर शब्दका अर्थ 'इष्ट' है परन्तु यहांपर पर शब्दका अर्थ व्यवस्था इष्ट है अर्थात् पश्चात् पश्चात्के सूक्ष्म हैं।

पृथग्भूतानां शरीराणां सूक्ष्मगुणेन वीप्सानिर्देशः ॥ २ ॥

नाम स्वरूप प्रयोजन आदिके भेदसे भिन्न जो औदारिक आदि शरीर हैं उनका यहां सूक्ष्मगुणके साथ 'परंपरं' यह वीप्साका निर्देश है। अर्थात् आगे आगेके शरीर सूक्ष्म हैं यह यहांपर वीप्सा निर्देशका तात्पर्य है ॥ ३७ ॥

१। 'सकलधर्मप्रत्यायनेच्छा वीप्सा' जितने पदार्थोंको लक्ष्यकर बात कही जाय उन समस्त पदार्थोंका ज्ञान करा देनेकी इच्छा वीप्सा है। न्यायकौमुदी।

औदारिकसे आगेके शरीर यदि उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं तो उनके प्रदेश भी उत्तरोत्तर कम होने चाहिए। इस विपरीत शंकाका सूत्रकार परिहार करते हैं—

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥ ३८ ॥

प्रदेशोंकी अपेक्षा तैजस शरीरसे पहिले पहिलेके शरीर असंख्यात गुणे हैं अर्थात् औदारिक शरीरमें जितने प्रदेश हैं उनसे असंख्यातगुणे वैक्रियिक शरीरमें है और वैक्रियिक शरीरसे असंख्यात गुणे आहारक शरीरमें हैं।

प्रदेशाः परमाणवः ॥ १ ॥

जो भिन्न भिन्न अंशरूप विभक्त हों उन्हें प्रदेश कहते हैं। घट आदिमें अवयवरूपसे वे कहे जाते हैं और उनका अर्थ परमाणु है। अथवा जिनके द्वारा भिन्न भिन्न अंश किए जांय उन्हें प्रदेश कहते हैं आकाश आदि द्रव्योंके क्षेत्रोंका विभाग प्रदेशोंके द्वारा ही होता है।

प्रदेशेभ्यः प्रदेशतः ॥ २ ॥ प्रदेशैर्वा प्रदेशतः ॥ ३ ॥

'अपादानेऽहीयरुहोः' इस सूत्रसे पंचम्यंत प्रदेशशब्दसे तस् प्रत्यय करनेपर 'प्रदेशतः' शब्द सिद्ध हुआ है अथवा व्याकरणमें तस्का जहांपर प्रकरण चला है वहांपर 'आद्यादिभ्य उपसंख्यानं' यह वार्तिक है उसका 'आदि प्रभृति शब्दोंसे तस् प्रत्यय होता है' यह अर्थ है यहांपर आद्यादि गणमें प्रदेश शब्दको मानकर तृतीयांत प्रदेश शब्दसे तस् प्रत्यय करनेपर 'प्रदेशतः' यह सिद्ध हुआ है।

१—'अपादानेऽहीयरुहोः' ४-२-६२ हीयरुहवर्जितस्य धोः संबंधिन्यपादाने कारिहिता तदंतात्तसिर्वा भवति ग्रामादागच्छति ग्रामतः। जैनेन्द्रलघुवृत्ति।

संख्यानातीतोऽसंख्येयः ॥ ४ ॥

संख्याका अर्थ गणना है। जिसकी गणना न हो सके वह असंख्येय कहा जाता है और जो असंख्यातसे गुणित हो वह असंख्येयगुण है।

परंपरमित्यनुवृत्तेः प्राक्तैजसादिति वचनं ॥५॥

'परं परं सूक्ष्मं' इस सूत्रसे यहांपर 'परं परं' इसकी अनुवृत्ति है अर्थात् आगे आगेके शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्येय असंख्येयगुणे हैं परंतु यह प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्येयगुणपना कार्मण शरीर पर्यंत भी प्राप्त होगा इसलिए मर्यादा सूचित करनेकेलिए 'प्राक् तैजसात्' यह वचन है अर्थात् तैजस शरीरसे पहिले पहिलेके शरीरोंमें यह प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्येयगुणपना है आगेके शरीरोंमें नहीं।

प्रदेशत इति विशेषणमवगाहक्षेत्रनिवृत्त्यर्थं ॥ ६ ॥

यहां पर प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्येयगुणपना है अवगाहकी अपेक्षा नहीं अर्थात् 'पहिले पहिले शरीरोंकी अपेक्षा आगे आगेके शरीरोंमें प्रदेश अधिक अधिक हैं किंतु अवगाहनाकी अधिकता नहीं' यह बात बतलानेकेलिए सूत्रमें 'प्रदेशतः' यह विशेषण दिया गया है। यहां पर गुणकार पल्यका असंख्यातवां भाग है इसरीतिसे औदारिकसे वैक्रियिक शरीरके असंख्यातगुणे प्रदेश हैं। वैक्रियिकसे आहारकके असंख्यातगुणे प्रदेश हैं, सूत्रका यह स्पष्ट अर्थ है। शंका—

उत्तरोत्तरस्य महत्त्वप्रसंग इति चेन्न, प्रचयविशेषादयःपिंडतूलनिचयवत् ॥ ७ ॥

जब उत्तरोत्तर शरीरोंमें असंख्यात असंख्यातगुणे प्रदेशोंकी अधिकता है तब उनका परिमाण भी अधिक होना चाहिये ? सो ठीक नहीं। जिसप्रकार लोहेके पिंडमें अधिक परमाणु रहते हैं परंतु आपसमें

बंधकी सघनतासे उसका परिमाण अल्प ही रहता है तथा रुईके पिंडमें कम परमाणु रहते हैं परंतु उनका संयोग आपसमें शिथिल रहता है इसलिये उसका परिमाण अधिक होता है । उसीप्रकार यद्यपि उत्तर उत्तर शरीर अधिक अधिक प्रदेशवाले हैं परंतु बंधकी सघनतासे उनका परिमाण अधिक नहीं हो सकता इसलिये प्रदेशोंकी अधिकतासे परिमाणकी भी अधिकता होनी चाहिए यह शंका निर्मूल है ॥ ३८ ॥

तैजससे पहिले पहिलेके शरीर असंख्यात असंख्यातगुणे हैं यह ऊपर कहा गया है परंतु तैजस और कार्मणके विषयमें कुछ नहीं कहा गया इसलिये वहांपर शंका होती है कि क्यों उन दोनोंके प्रदेश समान हैं वा कुछ विशेष है ? इस शंकाका समाधान सूत्रकार करते हैं—

अनंतगुणे परे ॥ ३९ ॥

शेषके तैजस और कार्मण ये दो शरीर अनंतगुणे परमाणुवाले हैं अर्थात्—आहारक शरीरसे अनंतगुणे तैजस शरीरमें हैं और तैजस शरीरसे अनंतगुणे परमाणु कार्मण शरीरमें हैं।

इस सूत्रमें प्रदेशतोऽसंख्येयगुणमित्यादि सूत्रसे 'प्रदेशतः' शब्दकी अनुवृत्ति है तथा अभव्योंका अनंतगुणा और सिद्धोंका अनंतवा भाग यहां गुणकार है इसलिये यहां पर यह संबंध है कि प्रदेशोंकी अपेक्षा आहारकसे तैजस शरीर अनंतगुणा है और तैजससे कार्मण शरीर अनंतगुणा है। शंका—

अनंतगुणत्वादुभयोस्तुल्यत्वमिति चेन्नानंतस्यानंतविकल्पत्वात् ॥ १ ॥

तैजस और कार्मण जब दोनों शरीर अनंत अनंतगुणे कहे गये हैं तव दोनों समान ही हो गये ?

सो ठीक नहीं। जिसतरह संख्यातके संख्याते भेद माने हैं उसीप्रकार अनंतके भी अनंत भेद माने हैं। इसलिये अनंतके भी अनंत भेद होनेसे तैजस और कार्मण दोनों समान नहीं कहे जा सकते किंतु तैजससे कार्मण शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षा अनंतगुणा है।

आहारकादुभयोरनंतगुणत्वमिति चेन्न परंपरामित्यभिसंबंधात् ॥ २ ॥

आहारक शरीरसे तैजस और कार्मण शरीर अनंतगुणे जान पडते हैं तैजससे कार्मण अनंतगुणा नहीं इसलिये आहारकसे जब दोनों समानरूपसे अनंतगुणे हैं तब दोनों समान ही हुए? सो भी ठीक नहीं 'परं परं सूक्ष्मं' इस सूत्रसे यहांपर 'परं परं' की अनुवृत्ति आरही है इसलिये आगे आगेके अनंतगुणे हैं अर्थात् आहारकसे तैजस शरीर अनंतगुणा है और तैजससे कार्मण शरीर अनंतगुणा है, यह यहां तात्पर्य है इसलिये उपर्युक्त शंका ठीक नहीं। शंका—

परस्मिन् सत्यारातीयस्यापरत्वात् परापर इति निर्देशः ॥ ३ न वा बुद्धिविषयव्यापारात् ॥ ४ ॥

सब शरीरोंके अंतमें रहनेके कारण कार्मण शरीर पर है और उसके समीपमें कहे जानेके कारण तैजस शरीर अपर है इसलिए "अनंतगुणे परे" 'परे'के स्थानपर परापरे ऐसा निर्देश करना चाहिए केवल पर शब्दके उल्लेखसे तैजस कार्मण दोनों शरीरोंका उल्लेख नहीं हो सकता? सो ठीक नहीं। तैजस शब्दके बाद कार्मण शब्दका उल्लेख है इसरीतिसे शब्दोंके उच्चारणकी अपेक्षा तैजस और कार्मणको यहां पर नहीं कहा गया है किंतु बुद्धिमें तैजस और कार्मणको तिरछा बराबर रखकर आहारकसे वे दोनों पर हैं ऐसा समझकर उन दोनोंको पर माना है इसरीतिसे जब परशब्दसे तैजस और कार्मण दोनों का ग्रहण सिद्ध है तब 'परे'के स्थानपर 'परापरे' निर्देशकी कोई आवश्यकता नहीं। अथवा—

व्यवहिते वा परशब्दप्रयोगात् ॥ ५ ॥

पर शब्दका प्रयोग व्यवधान रहते भी होता है जिसतरह 'परा पाटलिपुत्रान्मथुरेति' अर्थात् पटनासे मथुरा परे है । यहां पटनासे अनेक ग्रामोंसे व्यवहित भी मथुराको पर मान लिया जाता है उसीप्रकार आहारकसे पर तैजस और तैजससे व्यवहित भी कार्मणको पर माना गया है इसलिए 'परे' निर्देश ही कार्यकारी है । शंका—

बहुद्रव्योपाचितत्वात्तदुपलब्धिप्रसंग इति चेन्नोक्तत्वात् ॥ ६ ॥

जब अनंत अनंत प्रदेशोंके समूहरूप तैजस और कार्मण शरीर माने हैं तब बहुत द्रव्यवाले होनेसे उनका इंद्रियोंसे ग्रहण होना चाहिए ? सो ठीक नहीं । ऊपर कह दिया गया है कि अनेक परमाणुवाले होनेपर भी बंधकी विशेषतासे तैजस और कार्मणका सूक्ष्म परिणाम होता है इसलिए उनका ग्रहण नहीं हो सकता ॥ ३१ ॥

बाण मूर्तिमान द्रव्योंका पिंडस्वरूप है इसलिए जिसप्रकार पर्वत आदिसे उसकी गतिका निरोध हो जाता है—वह आगे नहीं जा सकता उसीप्रकार तैजस और कार्मण शरीर भी अनंते अनंते मूर्तिमान परमाणुओंके पिंड हैं 'और संसारी जीवके सदाकाल उनका संबंध रहता है यह आगे कहा जायगा' इसलिए उनके संबंधसे संसारी जीवोंके भी जाने योग्य गतिका निरोध होगा अर्थात् अगणित व्यवधान करनेवाले पदार्थोंके विद्यमान रहते वे स्वर्ग नरक आदि स्थानोंपर गमन न कर सकेंगे । सूत्रकार समाधान देते हैं कि सो ठीक नहीं क्योंकि ये दोनों ही शरीर—

अप्रतीघाते ॥ ४० ॥

तैजस और कार्मण दोनों शरीर अप्रतीघात हैं अर्थात् वलवान भी मूर्तिमान पदार्थसे इनका रुकना नहीं होता।

प्रतीघातो मूर्त्यंतरेण व्याघातः ॥ १ ॥ तदभावः सूक्ष्मपरिणामादयःपिंड तेजोऽनुप्रवेशवत् ॥ २ ॥

मूर्तिक पदार्थसे मूर्तिक पदार्थका रुकजाना प्रतीघात है। अग्निका परिणमन सूक्ष्म है इसलिए कठिन भी लोहेके पिंडमें सूक्ष्म परिणमनके कारण जिसप्रकार अग्निका प्रवेश नहीं रुकता उसीप्रकार तैजस और कार्मण शरीरका परिणमन भी सूक्ष्म है इसलिए वज्रपटल आदि कैसे भी कठिन पदार्थ क्यों न बीचमें पडें, दोनों शरीरोंका रुकना नहीं होता—वे निरवच्छिन्नरूपसे प्रवेश कर जाते हैं इसलिए वे तैजस और कार्मण दोनों शरीर अप्रतिघात कहे जाते हैं। शंका—

वैक्रियिकाहारकयोरप्यप्रतिघात इति चेन्न सर्वत्र विवक्षितत्वात् ॥ ३ ॥

वैक्रियिक और आहारक शरीरोंका भी सूक्ष्म परिणमन होनेसे प्रतिघात नहीं होता फिर तैजस और कार्मणको ही अप्रतिघात क्यों कहा गया वैक्रियिक और आहारकको क्यों नहीं कहा गया ? सो ठीक नहीं। लोकके अन्त पर्यंत तैजस और कार्मण शरीरोंका कहीं भी प्रतिघात नहीं होता। वैक्रियिक और आहारक शरीरोंका वैसा अप्रतिघात नहीं किंतु उनका प्रतिघात हो जाता है इसलिये इस सर्वत्र गमनकी विशेष विवक्षासे तैजस और कार्मण शरीरोंको अप्रतिघात कहा है ॥ ४० ॥

१—केवली और श्रुतकेवलीके विना जिसका समाधान न हो सके ऐसी तत्त्वविषयक गूढ शंका हो जानेपर उसकी निवृत्तिके लिये प्रमत्त गुणस्थानवर्ती संयमीके आहारक शरीरकी प्रकटता होती है और जहां केवली या श्रुतकेवली विराजते हैं वहां तक

तैजस और कार्मणमें अप्रतिघातरूप ही विशेष है कि और भी कुछ विशेष है। ऐसी शंका होने पर सूत्रकार कहते हैं 'अनादिसंबंधे चेति।' अथवा इस सूत्रकी उत्थानिका इसप्रकार भी है—आत्मा अनादि है और शरीर सादि है। अनादि और नित्य आत्माका शरीरके साथ सम्बन्ध किस कारणसे है? सूत्रकार इस शंकाका समाधान देते हैं—

अनादिसम्बन्धे च ॥ ४१ ॥

ये दोनों शरीर आत्मासे अनादि कालसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं अर्थात् जबतक जीवोंका संसारमें रहना होता है तबतक बराबर इन शरीरोंका उसके साथ सम्बन्ध रहता है। तथा सादि सम्बन्ध भी रहता है।

चशब्दो विकल्पार्थः ॥ १ ॥ बंधसंतत्यपेक्षयानादिः संबंधः सादिश्च विशेषतो बीजवृक्षवत् ॥ २ ॥

सूत्रमें जो चशब्द है उसका अर्थ विकल्प है और तैजस और कार्मण इन दोनों शरीरोंका आत्मा के साथ अनादि और सादि दोनों प्रकारका संबंध है यह उसका प्रयोजन है। दोनों सम्बन्धोंकी व्यवस्था इसप्रकार है—

जिस समय बीजसे वृक्ष, वृक्षसे बीज, बीजसे वृक्ष, वृक्षसे बीज इस प्रकार सामान्यरूपसे कार्य कारणरूप सम्बन्धकी विवक्षा की जाती है उस समय बीज और वृक्षका कार्य कारणरूप अनादि संबंध

जाकर फिर आहारक शरीर लौट आता है। केवलियोंकी स्थिति ढाई द्वीपसे बाहिर नहीं होती इसलिये आहारक शरीरका गमन अधिकसे अधिक ढाई द्वीप पर्यंत ही है। मनुष्योंका वैक्रियिक शरीर मनुष्यलोक पर्यंत ही गमन करता है तथा देवोंका त्रसनाली पर्यंत गमन करता है अधिक नहीं इसलिये ये दोनों शरीर तैजस और कार्मण शरीरोंके समान सर्वत्र अप्रतिघाती नहीं। अ० प्र०

माना जाता है और जिस समय अमुक बीजसे अमुक वृक्ष, अमुक वृक्षसे अमुक वीज इसप्रकार विशेष रूपसे कार्य कारणकी विवक्षा मानी जाती है उस समय वीज और वृक्षका वह संबंध सादि माना जाता है उसीप्रकार जिस समय आत्माके साथ तैजस कार्मण शरीरोंके निमित्त नैमित्तिक संबंधकी सामान्यरूपसे विवक्षा की जाती है उस समय आत्मा और तैजस कार्मणका अनादि सम्बन्ध है क्योंकि अनादि कालसे ऐसा कोई भी समय नहीं वीता जिसमें तैजस कार्मणकी आत्मासे जुदाई हुई हो, और जिस समय अमुक तैजस कार्मणका अमुक अवस्थापन्न आत्माके साथ संबंध है इसप्रकार विशेष विवक्षा है उस समय उनका आपसमें निमित्त नैमित्तिक संबंध सादि है। इसप्रकार सामान्य और विशेषकी अपेक्षा आत्मा और तैजस कार्मणका अनादि सादि दोनों प्रकारका संबंध युक्तिसिद्ध है।

एकांतेनादिमत्वेऽभिनवशरीरसंबंधाभावो निर्निमित्तत्वात् ॥ ३ ॥ मुक्तात्माभावप्रसंगश्च ॥ ४

जो कोई एकांतसे तैजस और कार्मणका सादि संबंध स्वीकार करता है उसके मतानुसार जिस कालमें आत्माके साथ तैजस और कार्मणका संबंध नहीं है उसकालमें आत्माको शुद्ध मानना पडेगा। शुद्ध आत्मा कभी तैजस कार्मण शरीरका कारण नहीं वन सकता इसलिये कारणके अभावसे फिर तैजस कार्मण शरीरका संबंध नहीं हो सकता इसरीतिसे तैजस कार्मण शरीरोंका सादि संबंध नहीं वन सकता। और भी यह बात है कि—

यदि जबरन आत्माके साथ तैजस कार्मणका सादि संबंध माना जायगा तो वह विना कारणके अकस्मात् होगा फिर जो मुक्तात्मा है उसके भी वह आकस्मिक संबंध मानना पडेगा इसरीतिसे शरीरका संबंध होनेसे मुक्तात्माओंका ही अभाव होगा। तथा—

एकांतेनानादित्वे चानिर्मोक्षप्रसंगः ॥ ५ ॥

यदि तैजस और कार्मणका आत्माके साथ सर्वथा अनादिसंबंध ही माना जायगा तो जिसप्रकार आकाश पदार्थ अनादि है उसका अंत नहीं होता उसी प्रकार तैजस कार्मणका संबंध भी अनादि होनेसे उसका भी नाश न हो सकेगा फिर वह कार्य कारण संबंध भी न कहा जायगा इसरीतिसे तैजस कार्मण शरीरों की कभी भी नास्ति न होनेसे आत्माका मोक्ष ही न हो सकेगा इसलिये तैजस कार्मणका आत्माके साथ सर्वथा अनादि संबंध मानना अयुक्त है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

बीज और वृक्षका भी अनादि संबंध है किंतु अग्निके द्वारा बीज और वृक्षके भस्म हो जानेपर जिसप्रकार उनका अनादि भी संबंध नष्ट हो जाता है उसीप्रकार तैजस कार्मणका अनादि संबंध नष्ट हो सकता है इसलिये मोक्षका अभाव नहीं हो सकता ? सो भी ठीक नहीं। बीर्य और वृक्षका कार्य कारण संबंध सर्वथा अनादि नहीं किंतु जिससमय सामान्यकी विवक्षा की जायगी उससमय अनादि संबंध है और जिससमय विशेष रूपसे विवक्षा है उससमय सादि है इसरीतिसे ऊपर जो यह कहा गया था कि किसी प्रकारसे अर्थात् सामान्यकी अपेक्षा आत्माके साथ तैजस और कार्मण शरीरका अनादि संबंध है और किसी प्रकारसे अर्थात् विशेषकी अपेक्षा सादि संबंध है यह बात युक्तियुक्त है ॥ ४१॥

तैजस और कार्मण शरीर खास खास जीवोंमें होते हैं वा सामान्यसे सभी जीवोंके होते हैं? सूत्रकार इस शंकाका उत्तर देते हैं—

सर्वस्य ॥ ४२ ॥

तैजस और कार्मण ये दोनों शरीर सामान्यरूपसे समस्त संसारी जीवोंके होते हैं।

सर्वशब्दो निरवशेषवाची ॥ १ ॥

यहांपर सर्व शब्दका 'निरवशेष' अर्थ है अर्थात् ये दोनों शरीर समस्त संसारी जीवोंके होते हैं ।

संसरणधर्मसामान्यादेकवचननिर्देशः ॥ २ ॥

'सर्वस्य' यह जो एकवचनका उल्लेख किया गया है संसरणरूप सामान्य धर्मकी अपेक्षा है अर्थात् तैजस और कार्मण ये दोनों शरीर सामान्यरूपसे सब संसारियोंके होते हैं यदि किसीके वे दोनों शरीर न होंगे तो वह संसारी ही नहीं कहा जा सकता ॥ ४२ ॥

औदारिक आदि पांचो शरीर संसारी जीवोंके होते हैं यह सामान्यरूपसे कहा गया है, एकसाथ कितने तक हो सकते हैं यह नहीं कहा गया। इसलिये जब एकसाथ आत्मामें पांचो शरीरोंका प्रसंग आया तब एक साथ एक आत्माके कितने शरीरोंका संभव हो सकता है यह बात बतलानेकेलिए सूत्रकार कहते हैं—

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ४३ ॥

इन दोनों शरीरोंको आदि लेकर एक जीवके एकसाथ चार शरीर तक हो सकते हैं। अर्थात् दो हों तो तैजस कार्मण होते हैं। तीन हों तो औदारिक तैजस और कार्मण होते हैं अथवा वैक्रियिक तैजस और कार्मण भी होते हैं और यदि चार हों तो औदारिक आहारक तैजस और कार्मण होते हैं।

तद्ग्रहणं प्रकृतशरीरद्वयप्रतिनिर्देशार्थं ॥ १ ॥

तैजस और कार्मण इन दो शरीरोंका यहां प्रकरण चल रहा है इसलिये सूत्रमें जो तत् शब्द है उससे उन दोनोंका ग्रहण है।

आदिशब्देन व्यवस्थावाचिना शरीरग्रहणं ॥ २ ॥

'तदादीनि' यहां पर आदिशब्दका अर्थ व्यवस्था है और वह पूर्व सूत्रमें व्यवस्थितरूपसे कहे गये शरीरोंका आनुपूर्वी क्रम प्रतिपादन करनेवाला आदि शब्द विशेषण है इसरीतिसे 'ते आदिर्येषां तानि तदादीनि' अर्थात् वे तैजस और कार्मण शरीर जिनकी आदिमें हैं वे तदादि कहे जाते हैं यह तदादि शब्दका स्पष्ट अर्थ है। शंका—

पृथक्त्वादेव तेषां भाज्यग्रहणमनर्थकमिति चेन्न, एकस्य द्वित्रिचतुःशरीरसंबंधविभागोपपत्तेः ॥ ३ ॥

भाज्यका अर्थ—'जुदे जुदे करने चाहिये यह है' औदारिक आदि शरीरोंके जुदे जुदे लक्षण माने गये हैं इसलिये वे स्वयं आपसमें जुदे जुदे होनेसे तथा आत्मासे भी जुदा होनेसे उनकी भिन्नता प्रतिपादन करनेकेलिये भाज्य शब्दका ग्रहण व्यर्थ है ? सो ठीक नहीं। किसी आत्माके तैजस और कार्मण ये दो ही शरीर होते हैं। किसीके औदारिक तैजस और कार्मण वा वैक्रियिक तैजस और कार्मण ये तीन ही शरीर होते हैं और किसीके औदारिक आहारक तैजस कार्मण ये चार शरीर होते हैं इसप्रकार दो तीन और चार शरीरोंकी भिन्नता प्रतिपादन करनेकेलिये सूत्रमें भाज्य पदका उल्लेख किया गया है।

युगपदिति कालैकत्वे ॥ ४ ॥

युगपत् यह निपात शब्द है और उसका अर्थ एक काल है अर्थात् एक आत्माके दो तीन आदिका जो ऊपर नियम बतलाया गया है वह एक कालकी अपेक्षा है—एक कालमें एक आत्माके चारसे अधिक शरीर नहीं हो सकते किंतु कालके भिन्न होनेपर तो पांचों शरीर होते हैं।

आङभिविध्यर्थः ॥ ५ ॥

'आचतुर्भ्यः' यहां पर आङ्का अर्थ अभिविधि है इसलिये चार तक शरीर होते हैं यह अर्थ होता है। यदि मर्यादा अर्थ माना जाता तो चारसे भीतरके शरीर होते हैं यह अर्थ होता जो कि अनिष्ट था। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि एक जीवके पांचो शरीर एक कालमें क्यों नहीं होते? उसका समाधान शास्त्रकार देते हैं–

वैक्रियिकाहारकयोर्युगपदसंभवात् पंचाभावः ॥ ६ ॥

जिस संयमीके आहारक शरीर होता है उसके वैक्रियिक शरीर नहीं होता और जिस देव और नारकीके वैक्रियिक शरीर होता है उसके आहारक शरीर नहीं होता इसप्रकार आहारक और वैक्रियिक शरीरका आपसमें विरोध है इसलिये एक साथ एक जीवके पांचो शरीर नहीं हो सकते ॥ ४३ ॥

शरीरोंकी ही विशेषताके ज्ञानकेलिए और भी सूत्रकार कहते हैं–

निरुपभोगमंत्यं ॥ ४४ ॥

अंतका कार्मण शरीर उपभोगरहित है अर्थात् इंद्रियों द्वारा होनेवाले शब्द आदिके उपभोगसे रहित है।

जो अंतमें हो उसका नाम अंत्य है। 'औदारिकवैक्रियिकेत्यादि' सूत्रके क्रमकी अपेक्षा यहां पर अंत्य शब्दसे कार्मण शरीरका ग्रहण है। सूत्रमें जो निरुपभोग शब्दका उल्लेख किया गया है उससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि कार्मण शरीरसे अतिरिक्त जितने भी शरीर हैं सब सोपभोग हैं। शंका–

कर्मादाननिर्जरासुखदुःखानुभवनहेतुत्वात्सोपभोगमिति चेन्न, विवक्षितापरिज्ञानात् ॥ १ ॥

इंद्रियनिमित्तशब्दाद्युपलब्धिरुपभोगः ॥ २ ॥

कार्मण काययोगके द्वारा कर्मोंका ग्रहण झडना और सुख दुःखका अनुभव होता है इसरीतिसे जब कर्मोंका ग्रहण निर्जरण और सुख दुःखके अनुभवमें कारण कर्म है तब कार्मण शरीर सोपभोगही सिद्ध होता है निरुपभोग नहीं इसलिए उसे निरुपभोग कहना अयथार्थ है? सो ठीक नहीं। इस प्रकरणमें जो उपभोगका अर्थ लिया गया है वह उपभोग कार्मण शरीरमें नहीं क्योंकि 'इंद्रियोंके द्वारा शब्द आदि का ग्रहण होना' यह यहांपर उपभोग शब्दका अर्थ लिया गया है। विग्रहगतिमें भावस्वरूप इंद्रियोंके रहते भी द्रव्यस्वरूप इंद्रियोंकी रचनाका अभाव है इसलिए शब्द आदिका अनुभव न होनेसे कार्मण शरीर निरुपभोग ही है सोपभोग नहीं इसरीतिसे हमारे विवक्षित उपभोगके अर्थको न समझकर जो वादीने कार्मण शरीरको सोपभोग सिद्ध करना चाहा था वह व्यर्थ हुआ। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि तैजस शरीर भी निरुपभोग है क्योंकि उक्त उपभोगका लक्षण उसमें नहीं घटता फिर कार्मणशरीर ही निरुपभोग क्यों कहा गया? उसका समाधान शास्त्रकार देते हैं—

तैजसस्य योगनिमित्तत्वाभावादनधिकारः ॥ ३ ॥

जो शरीर योगमें निमित्त हैं उन शरीरोंमें अन्तका शरीर निरुपभोग है औदारिक वैक्रियिक आहारक और कार्मण ये चार शरीर योगमें कारण हैं इसलिये इन सबके अन्तमें रहनेवाले कार्मण शरीरको निरुपभोग कहा है तैजस शरीर योगका कारण ही नहीं माना गया इसलिये उपभोगके विचारमें उसका अधिकार न होनेसे उसे निरुपभोग नहीं कहा जा सकता। इस रीतिसे जब तैजस शरीरको

१—योगके पन्द्रह भेद हैं उनमें औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिकमिश्र, आहारक, आहारकमि और कार्मण ये सात भेद काययोगके माने गए हैं इनमें तैजसयोग नामका कोई भी भेद नहीं माना गया इसलिए तैजस योगमें कारण नहीं है।

निरुपभोगपना सिद्ध न हो सका तब कार्मण शरीरसे भिन्न सब शरीर सोपभोग हैं इस विवक्षित वात की स्पष्टरूपसे सिद्धि हो गई।

जन्मोंके लक्षण और भेद ऊपर कह दिये गए हैं उनमें होनेवाले जो औदारिक आदि शरीर बतलाए हैं वहांपर यह शंका होती है कि इन पांचों शरीरोंकी उत्पत्ति समानरूपसे है कि कुछ विशेषता है? विशेषता है ऐसा हृदयंगम कर सूत्रकार सबोंकी विशेषता बतलाते हुए पहिले औदारिक शरीरकी विशेषता बतलाते हैं—

गर्भसंमूर्छनजमाद्यं ॥ ४५ ॥

जिसकी उत्पत्ति गर्भ और संमूर्छनजन्मसे है वह औदारिक शरीर है।

जो आदिमें हो वह आद्य कहा जाता है, औदारिक वैक्रियिकेत्यादि सूत्रकी अपेक्षा आद्य शब्दसे यहां औदारिक शरीरका ग्रहण है ॥ ४५ ॥

औदारिक शरीरके बाद सूत्रमें वैक्रियिक शरीरका उल्लेख किया गया है इसलिये वहांपर भी यह शंका होती है कि उसकी उत्पत्ति किस जन्ममें मानी है ? सूत्रकार उसका समाधान देते हैं—

औपपादिकं वैक्रियिकं ॥ ४६ ॥

जिसकी उत्पत्ति उपपाद जन्ममें है वह वैक्रियिक शरीर कहा जाता है।

१—कर्मादानसुखानुभवनहेतुत्वात्सोपभोग कार्मणमिति चेन्न विवक्षितापरिज्ञानात्। इंद्रियनिमित्ता हि शब्दाद्युपलब्धिरुपभोगः तस्मान्निष्क्रांतं निरुपभोगमिति विवक्षितं। तैजसमप्येवं निरुपभोगमस्त्विति चेन्न तस्य योगनिमित्तत्वाभावादनधिकारात्। यदेव हि योगनिमित्तमौदारिकादि तदेव सोपभोगं प्रोच्यते निरुपभोगत्वादेव च कार्मणमौदारिकादिभ्यो भिन्नं निश्चीयते। श्लोकवार्तिक पृष्ठ ३४१।

जो उपपादमें हो अर्थात् देव नारकियोंकी उपपाद शय्यासे उत्पन्न हो वह औपपादिक कहा जाता है 'अध्यात्मादित्वादिकः' इस सूत्रसे उपपाद शब्दसे इक् प्रत्यय करनेपर 'औपपादिक' शब्दकी सिद्धि होती है। इस रीतिसे जो उपपाद जन्ममें हो वह वैक्रियिक शरीर है ॥ ४६ ॥

संयमी आदि मनुष्योंके भी वैक्रियिक शरीरकी उत्पत्ति मानी है। यदि सामान्यरूपसे यही कहा जायगा कि जिस शरीरकी उत्पत्ति उपपाद जन्ममें हो वही वैक्रियिक है तब अनौपपादिक अर्थात् मनुष्योंमें और तिर्यंचोंमें जो वैक्रियिक शरीर होता है वह वैक्रियिक नहीं माना जायगा। सूत्रकार इस विषयकी स्पष्टता करते हैं—

लब्धिप्रत्ययं च ॥ ४७ ॥

वैक्रियिक शरीर लब्धिसे अर्थात् तपोविशेषरूप ऋद्धिप्राप्तिके निमित्तसे भी होता है। 'लब्धिप्रत्ययं च' इस सूत्रमें ऊपरके सूत्रसे वैक्रियिक शब्दकी अनुवृत्ति आती है।

प्रत्ययशब्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षातः कारणगतिः ॥ १ ॥

प्रत्यय शब्दके अनेक अर्थ हैं। 'अर्थाभिधानप्रत्ययाः' अर्थ शब्द और ज्ञान ये तीन पदार्थ हैं यहां पर प्रत्यय शब्दका अर्थ ज्ञान है। 'प्रत्ययं कुरु—सत्यं कुरु इत्यर्थः' सत्य मानो, यहांपर प्रत्यय शब्दका सत्य अर्थ है। 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः प्रत्ययाः' मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद कषाय और योग ये कारण हैं यहांपर प्रत्यय शब्दका अर्थ कारण है। प्रकृतमें भी प्रत्यय शब्दके कारण अर्थकी ही विवक्षा है इसलिये यहांपर भी कारणार्थक प्रत्यय शब्दका ही ग्रहण है।

तपोविशेषर्द्धिप्राप्तिर्लब्धिः ॥ २ ॥

तपके बलसे ऋद्धिकी प्राप्ति होना लब्धि है। जिसकी उत्पत्तिमें लब्धि कारण हो वह लब्धिप्रत्यय कहा जाता है। वार्तिककार लब्धि और उपपाद शब्दका विशेष बतलाते हैं—

निश्चयकादाचित्कीकृतो विशेषो लब्ध्युपपादयोः ॥ ३ ॥

उपपाद, जन्मका कारण है अर्थात् जन्म स्वरूप ही है इसलिये वह तो निश्चयसे होता ही है परंतु लब्धिका होना निश्चय रूपसे नहीं वह कभी होती है और कभी नहीं भी होती है क्योंकि उत्पन्न हुए पुरुषके पीछे तपके विशेष आदिकी अपेक्षा उसकी उत्पत्ति मानी है इसप्रकार नियमित रूपसे उपपाद होता है कादाचित्क रूपसे लब्धि होती है यही विशेषता उपपाद और लब्धिमें है। शंका—

सर्वशरीराणां विनाशित्वाद्वैक्रियिकविशेषानुपपत्तिरिति चेन्न विवक्षितापरिज्ञानात् ॥ ४ ॥

विक्रियाका अर्थ विशेष नाश है वह सब शरीरोंमें समान रूपसे होनेवाला पदार्थ है क्योंकि प्रति समय हर एक शरीरमें घटना बढना और विनाश माना गया है इसरीतिसे जब सब ही शरीर विक्रियाके संबंधसे वैक्रियिक हैं तब वैक्रियिक शरीरमें कोई विशेषता न रहनेपर भी उसे जुदा शरीर मानना अयुक्त है? सो ठीक नहीं। विक्रिया शब्दका जो अर्थ हमें इष्ट है शंकाकारने उसे नहीं समझा, यहांपर विक्रिया शब्दका अर्थ विनाश नहीं किंतु अनेक प्रकारके विकृत आकारोंका धारण करना है खुलासा रूपसे वह इसप्रकार है—

विक्रिया दो प्रकारकी मानी है एक एकत्वविक्रिया दूसरी पृथक्त्वविक्रिया। अपने ही शरीरको सिंह बाघ हंस कुरुर (पक्षि विशेष) रूप परिणमा देना एकत्वविक्रिया है और अपने शरीरका भिन्न मकान मंडप आदि परिणत हो जाना पृथक्त्व विक्रिया है। भवनवासी व्यंतर ज्योतिषी और कल्पवासी

देवोंके वह दोनोंप्रकारकी विक्रिया होती है। सोलहस्वर्गके ऊपरके देवोंमें एकत्व विक्रिया ही होती है और वह भी प्रशस्त ही होती है अप्रशस्त नहीं। छठे नरकतकके नारकियोंका शरीर त्रिशूल चक्र खड्ग मुद्गर फरसा भिंडिमाल आदि अनेक आयुधस्वरूप परिणत हो जाता है इसलिये छठे नरक पर्यंत के नारकियोंके एकत्व ही विक्रिया होती है पृथक्त्वविक्रिया नहीं। सप्तम नरकके नारकियोंका शरीर अनेक प्रकारके आयुधरूप नहीं परिणमता किंतु महागो नामके कीडेके प्रमाण लालवर्ण कुंथु जीवके शरीर स्वरूप परिणमता है इसलिये वहांपर भी एकत्व विक्रिया ही है पृथक्त्व विक्रिया नहीं। तिर्यंचोंमें शरीरका कुमार युवा आदि परिणाम होता है इसलिये वहां भी विशेषरूप एकत्व विक्रिया ही है पृथक्त्व विक्रिया नहीं और मनुष्योंमें तप और विद्या आदिके द्वारा विशिष्ट एकत्व और पृथक्त्व दोनों प्रकार-की विक्रिया होती है इसलिये वहांपर दोनों प्रकारकी विक्रियाओंका विधान है ॥ ४७ ॥

उपर्युक्त लब्धिके द्वारा वैक्रियिक शरीरकी ही उत्पत्ति होती है वा अन्य भी किसी शरीरकी उत्पत्ति होती है ऐसी शंका होनेपर वैक्रियिक शरीरसे भिन्न भी शरीर लब्धिजन्य है ऐसा सूत्रकार बतलाते हैं—

तैजसमपि ॥ ४८ ॥

तैजस शरीर भी ऋद्धि होनेसे प्राप्त होता है इसलिए वह भी लब्धिकारणक है।

औदारिकेत्यादि सूत्रमें वैक्रियिकके बाद आहारक शरीरका उल्लेख किया गया है इसलिए वैक्रि-यिकके बाद आहारक शरीरका ही वर्णन करना चाहिए अनवसरप्राप्त तैजस शरीरका क्यों किया गया वार्तिककार इस शंकाका समाधान देते हैं—

लब्धिप्रत्ययापेक्षार्थं तैजसग्रहणं ॥ १ ॥

इस सूत्रमें लब्धिप्रत्ययकी अनुवृत्ति आती है अर्थात् तैजस शरीर लब्धिकारणक है इसलिए उस अनुवृत्तिकी अपेक्षा आहारकसे पहिले तैजस शरीरका वर्णन किया गया है। यदि पीछे किया जाता तो 'लब्धिप्रत्यय'की अनुवृत्ति नहीं आती ॥ ४८ ॥

अब वैक्रियिक शरीरके बाद जिस शरीरका उल्लेख किया गया है उसके स्वरूप और स्वामीके प्रतिपादन करनेकेलिए सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥ ४९ ॥

आहारक शरीर शुभ कार्यका उत्पादक—कारण होनेसे शुभ है। विशुद्ध कर्मका कार्य होनेसे विशुद्ध है। व्याघातरहित है और प्रमत्तसंयमी मुनिके ही होता है।

शुभकारणत्वाच्छुभव्यपदेशोऽन्नप्राणवत् ॥ १ ॥

अन्न प्राणोंका कारण है और प्राण कार्य हैं तथापि वह जिसप्रकार कारण-प्राण, कह दिया जाता है और 'अन्नं वै प्राणाः' अन्न ही निश्चयसे प्राण हैं ऐसा संसारमें व्यवहार होता है उसीप्रकार आहारक शरीरका उत्पादक कारण आहारक काययोग शुभ है इसलिए आहारक शरीर भी शुभ कहा जाता है।

विशुद्धकार्यत्वाद्विशुद्धाभिधानं कार्पासतंतुवत् ॥ २ ॥

जिसप्रकार तंतु कपासके कार्य हैं और कपास कारण है तथापि उपचारसे कार्यको कारण मान कर तंतुओंको कपास कह दिया जाता है और 'कार्पासा तांतवः' तंतु कपास हैं ऐसा संसारमें व्यवहार होता है उसीप्रकार आहारक शरीर भी विशुद्ध निर्दोष और स्वच्छ पुण्य कर्मका कार्य है इसलिए वह भी शुद्ध कह दिया गया है।

उभयतो व्याघाताभावादव्याघाति ॥ ३ ॥

न तो आहारक शरीरसे दूसरे किसी पदार्थकी रुकावट होती है और न अन्य किसी पदार्थसे आहारक शरीरकी रुकावट होती है इसरीतिसे दोनों प्रकारसे व्याघात न होनेसे आहारक शरीर अव्याघाति है।

चशब्दस्तत्प्रयोजनसमुच्चयार्थः ॥ ४ ॥

आहारक शरीरसे जो जो प्रयोजन सिद्ध होते हैं उनके समुच्चयार्थ सूत्रमें चशब्दका उल्लेख किया गया है। वे प्रयोजन इसप्रकार हैं—

किसी समय कोई विशेष लब्धि प्राप्त हो जाय उससमय उसकी सत्ता जाननेकेलिए आहारक शरीर प्रयोजनीय होता है। किसी समय सूक्ष्म पदार्थके निर्धारणकेलिये आहारक शरीरका प्रयोजन पडता है, असंयम दूर करने अथवा संयमको पालनेकेलिये भी उसका प्रयोजन है। तथा जिससमय भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें तीर्थंकरोंकी विद्यमानता न हो और प्रमत्तसंयमी मुनिको ऐसी तत्त्वविषयक शंका उपस्थित हो जाय कि उसका समाधान केवली वा श्रुतकेवलीके विना न हो सके इसलिये महाविदेह क्षेत्रोंमें जहां कि केवली विराजमान हों वहां उनके जानेकी इच्छा होजाय और यदि मैं औदारिक शरीर से जाऊंगा तो जीवोंका विघातरूप महान असंयम होगा ऐसा विचारकर वह औदारिक शरीरसे जाना उचित न समझें उससमय वह संयमकी रक्षार्थ आहारक शरीरका निर्माण करते हैं इसलिये संयमकी रक्षा भी आहारक शरीरका प्रयोजन है।

आहारकमिति प्रागुक्तस्य प्रत्याम्नायः ॥ ५ ॥

'आहारक शरीर शुभ विशुद्ध और अव्याघाती है' यह बतलानेकेलिये सूत्रमें आहारक शरीरका उल्लेख है।

प्रमत्तसंयतग्रहणं स्वामिविशेषप्रतिपत्त्यर्थं ॥ ६ ॥

जिससमय मुनि आहारक शरीरकी रचनाकेलिये उद्यत होते हैं उससमय वे प्रमत्त हो जाते हैं इसलिये आहारक शरीरका कौन स्वामी है ? यह बतलानेकेलिए सूत्रमें 'प्रमत्तसंयत' शब्दका उल्लेख किया गया है।

इष्टतोऽवधारणार्थमेवकारोपादानं ॥ ७ ॥

'प्रमत्तसंयतस्यैव' यहां पर जो एव शब्दका उल्लेख किया गया है वह प्रमत्तसंयमी मुनिके ही आहारक शरीर होता है अन्यके नहीं, यही समझा जाय किंतु प्रमत्तसंयमीके आहारक ही शरीर होता है औदारिक आदि नहीं इसलिये उसके औदारिक आदि शरीरोंकी निवृत्ति है, यह न समझा जाय इस इष्ट अवधारणकेलिये सूत्रमें एव शब्दका उल्लेख किया गया है।

एषां शरीराणां परस्परतः संज्ञास्वालक्षण्यस्वकारणस्वामित्वसामर्थ्यप्रमाणक्षेत्रस्पर्शनकालांतरसंख्या-
प्रदेशभावाल्पबहुत्वादिभिर्विशेषोऽवसेयः ॥ ८ ॥

औदारिक वैक्रियिक आदि पांचों शरीरोंमें संज्ञा स्वलक्षण स्वकारण स्वामित्व सामर्थ्य प्रमाण क्षेत्र स्पर्शन काल अंतर संख्या प्रदेश भाव और अल्पबहुत्व आदिसे आपसमें भेद माना गया है। जो अर्थ ऊपर कहा गया है और जो नहीं कहा गया है उन दोनोंके संग्रहके लिये अर्थात् शरीरोंकी संज्ञा आदि कुछ बातें कह दी गई हैं और बहुत सी नहीं कही गई हैं उन दोनोंके संग्रहार्थ यह वार्तिक कही गयी है। वह संज्ञा आदिका भेद इसप्रकार है—

जिसप्रकार घट पट आदिके नाम भिन्न भिन्न हैं इसलिए आपसमें उनका भेद है उसीप्रकार औदारिक वैक्रियिक आदिके नाम भी भिन्न भिन्न हैं इसलिए उनका भी आपसमें भेद है। लक्षणकी अपेक्षा भेद इसप्रकार है—जिसका स्वरूप स्थूलता लिये हो वह औदारिक शरीर है। जो अनेक प्रकारके ऋद्धिगुणोंसे युक्त विकारस्वरूप परिणमनेवाला हो वह वैक्रियिक शरीर है। जिनका ज्ञान कठिनतासे हो ऐसे सूक्ष्म पदार्थके स्वरूपका निर्णय करना जिसका लक्षण हो वह आहारक शरीर है। जो शंखके समान श्वेत वर्णका हो वह तैजस शरीर है। उसके दो भेद हैं एक निःसरणस्वरूप दूसरा अनिःसरणस्वरूप। औदारिक वैक्रियिक और आहारक शरीरके अंदर रहनेवाला और शरीरकी दीप्तिका कारण जो शरीर हो वह अनिःसरणात्मक तैजस शरीर है और जो तीक्ष्ण चारित्रके धारक अत्यंत क्रुद्ध यतिके औदारिक शरीरसे आत्मप्रदेशोंके साथ बाहर निकलकर और जलानेयोग्य पदार्थोंको चारो ओरसे वेष्टित कर विद्यमान हो और जिसप्रकार धान्यकी राशि और हरे हरे पदार्थोंसे परिपूर्ण स्थानको अग्नि जला डालती है और जलाकर ही उसका पीछा छोडती है बीचमें नहीं बुझती उसीप्रकार तैजस शरीरने जितने पदार्थोंको जलानेके लिये व्याप्त कर रक्खा है वे जबतक नहीं जल जाते तबतक बहुत कालतक उन पदार्थोंको व्याप्त किये जलाता रहे और जलाकर ही पीछा छोडे वह निःसरणात्मक तैजस शरीर है। तथा समस्त कर्म और शरीरोंका उत्पन्न करना ही जिसका लक्षण हो वह कार्मण शरीर है। इसप्रकार लक्षणोंके भेदसे औदारिक आदि शरीरोंका भेद है।

कारणकी अपेक्षा भेद—औदारिक शरीरकी उत्पत्तिमें औदारिक शरीर नामकर्म कारण है। वैक्रियिक शरीरकी उत्पत्तिमें वैक्रियिक शरीर नामकर्म कारण है। आहारक शरीरकी उत्पत्तिमें आहारक

शरीर नाम कर्म कारण है, तैजस शरीरकी उत्पत्तिमें तैजस नाम कर्म कारण है और कार्मण शरीरकी उत्पत्तिमें कार्मण शरीर नाम कर्म कारण है इसप्रकार कारणके भेदसे औदारिक आदि शरीरोंमें भेद है।

स्वामिभेद–आहारक शरीर तिर्यंच और मनुष्योंके होता है। वैक्रियिक शरीर देव नारकी तेजःकायिकजीव वातकायिकजीव तथा पंचेंद्रिय तिर्यंच और मनुष्योंके होता है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि–

जीव स्थानमें योगोंके भंग वर्णन करते समय सातप्रकारके काययोगोंकी प्ररूपणामें औदारिक काय योग और औदारिक मिश्रकाय योग तिर्यंच और मनुष्योंके कहा गया है और वैक्रियिक काययोग और वैक्रियिक मिश्रकाययोग देव और नारकियोंके कहा गया है परंतु यहांपर वैक्रियिककाययोग और वैक्रियिक मिश्रकाययोगोंको तिर्यंच और मनुष्योंके भी बतलाया है इसलिये यह कथन आगमका विरोधी है? सो ठीक नहीं। अन्य ग्रंथोंमें भी तिर्यंच और मनुष्योंके भी वैक्रियिककाय योग और वैक्रियिक मिश्रकाययोगका उल्लेख किया गया है इसलिये कोई दोष नहीं है। यदि कदाचित् फिर यह शंका उठाई जाय कि–

व्याख्याप्रज्ञप्तिके दंडकोंमें शरीरोंके भंगोंके वर्णन करते समय वायुकायिक जीवोंके सामान्यरूपसे औदारिक वैक्रियिक तैजस और कार्मण ये चार शरीर कहे गये हैं। मनुष्योंके भी ये ही चार शरीर कहे गये हैं। परंतु सूत्रमें वैक्रियिक शरीरको औपपादिक और लब्धिप्रत्यय माना है इसरूपसे सामान्यतासे वह सब मनुष्योंके नहीं हो सकता तथा वायुकायिक जीवोंके भी वैक्रियिक शरीर सामान्यरीतिसे नहीं कहा गया है इसलिये यहांपर आगमके विरुद्ध कथन है? सो भी ठीक नहीं। समस्त देव और

समस्त नारकियोंके सर्वकाल वैक्रियिक शरीरका संबंध रहता है इसलिये प्रधानतासे देव और नारकियोंके वैक्रियिक शरीरका संबंध कहा गया है और तिर्यंच एवं मनुष्योंके लब्धिकारणक वैक्रियिक सर्वकाल नहीं रहता उसका कादाचित्क संबंध—कभी रहता है कभी नहीं रहता है इसलिये उनके वैक्रियिक शरीरका संबंध प्रधानतासे नहीं बतलाया गया यह तो सूत्रका तात्पर्य है और व्याख्याप्रज्ञप्ति दंडकोंमें तिर्यंच और मनुष्योंके चारो शरीरोंका संभव मानकर सामान्यरूपसे उनके अस्तित्वका प्रदर्शन करादिया है इसलिये प्रकरणानुकूल अपने अपने अभिप्रायकी अपेक्षा कथन होनेसे कोई विरोध नहीं तथा आहारक शरीर प्रमत्तसंयमी मुनिहीके होता है और तैजस कार्मण दोनों शरीर समस्त संसारियोंके होते हैं इसप्रकार स्वामियोंके भेदसे भी औदारिक आदि शरीरोंमें भेद है।

सामर्थ्यभेद—औदारिक शरीरकी सामर्थ्य दो प्रकारकी है एक भवकारणक, दूसरी गुणकारणक। तिर्यंचोंमें सिंह अष्टापद आदि और मनुष्योंमें चक्रवर्ती वासुदेव आदिमें सामर्थ्यकी अधिकता और हीनता दीख पडती है यह भवकारणक सामर्थ्य है क्योंकि चक्रवर्ती वा अष्टापद आदिके होते ही वह सामर्थ्य भी प्रगट हो जाती है और तपके बलसे मुनियोंके अंदर जो नाना प्रकारके शरीरोंका धारण रूप एक विशेष सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है वह गुणकारणक सामर्थ्य है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

ऋषियोंके शरीरोंके अंदर जो अत्यधिक सामर्थ्य प्रकट हो जाती है वह तपकी सामर्थ्य है औदारिक शरीरकी सामर्थ्य नहीं? सो ठीक नहीं। विना औदारिक शरीरके केवल तपकी अनेक प्रकारके शरीरोंका धारण करनास्वरूप अनुपम वैसी सामर्थ्य नहीं हो सकती इसलिये वह सामर्थ्य तपकी न मानकर औदारिक शरीरकी ही माननी होगी।

मेरुपर्वतको चल विचल कर देना, समस्त भूमंडलको उलट पुलट देना आदि सामर्थ्य वैक्रियिक शरीरकी है। किसी भी पदार्थके द्वारा शक्तिका प्रतिघात न होना यह आहारक शरीरकी सामर्थ्य है। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—

वज्र पटल आदिसे वैक्रियिक शरीरका भी प्रतिघात नहीं होता इसलिये इसकी सामर्थ्य भी अप्रतिहत है फिर आहारक शरीरको ही अप्रतिहत सामर्थ्यवाला क्यों वतलाया गया है? सो ठीक नहीं। इंद्र सामानिक त्रायस्त्रिंश आदि सभी देव वैक्रियिक शरीरके धारक हैं परंतु उनकी सामर्थ्यमें अधिकता और हीनता है। इंद्रकी सामर्थ्य सबसे अधिक है। उससे कम सामानिक देवोंकी है उससे कम त्रायस्त्रिंश देवोंकी है इत्यादि क्रमसे नीचे नीचेके देवोंमें सामर्थ्यकी हीनता है इसलिये हीनाधिकताके कारण नीचे नीचेके देवोंकी सामर्थ्य ऊपर ऊपरके देवोंकी सामर्थ्यसे प्रतिहत कर दी जाती है तथा अनंतवीर्य नामके यतिने इंद्रकी सामर्थ्यको प्रतिहत कर दिया था ऐसा शास्त्रका उल्लेख भी है इसलिये वैक्रियिक शरीरकी सामर्थ्य प्रतिहत हो जानेके कारण वह अप्रतिहत सामर्थ्यवान् नहीं हो सकता किंतु समस्त आहारक शरीरोंकी सामर्थ्य समानरूपसे है—एक दूसरेसे प्रतिहत नहीं हो सकता इसलिये आहारक शरीर ही अप्रतिहत सामर्थ्यवान् है।

यदि कोपका संबंध होगा तो तैजस शरीर जलाकर खाक करनेकी सामर्थ्य रखता है और यदि प्रसन्नताका संबंध होगा तो अनेक प्रकारके उपकार कर सकता है इसलिये कोप और प्रसन्नताकी अपेक्षा तैजस शरीरकी जलाना और उपकार करना दोनों प्रकारकी सामर्थ्य है और समस्त कर्मोंको अवकाश दान देना यह कार्मण शरीरकी सामर्थ्य है। इसप्रकार सामर्थ्यकी अपेक्षा भी औदारिक आदि शरीरोंमें भेद है।

प्रमाणसे भेद—सूक्ष्म निगोदिया जीवके शरीरका प्रमाण अंगुलके असंख्यातवें भाग होता है इस लिए औदारिक शरीरका सर्व जघन्य प्रमाण तो अंगुलके असंख्यातवें भाग है और आठवें द्वीप नंदीश्वरकी वापिके कमलके शरीरका प्रमाण कुछ अधिक एक हजार योजनका है इसलिए औदारिक शरीरका उत्कृष्ट प्रमाण कुछ अधिक एक हजार योजन है। सर्वार्थसिद्धिके देवोंका वैक्रियिक शरीर एक अरत्नि—हाथ प्रमाण है इसलिए जघन्यरूपसे तो वैक्रियिक शरीरका प्रमाण एक हाथ है और सातवें नरकके नारकियोंके शरीरका प्रमाण पांचसै धनुषका है इसलिए उत्कृष्टरूपसे वैक्रियिक शरीरका प्रमाण पांचसै धनुषका है। तथा देव जंबूद्वीपके समान अपने शरीरकी विक्रिया कर सकते हैं इसलिए विक्रियाकी अपेक्षा उत्कृष्ट शरीर जंबूद्वीपके समान एक लाख योजनप्रमाण है। आहारक शरीरका प्रमाण एकही हाथका (अरत्नि) है। जिस कालमें जितने प्रमाणका औदारिक शरीर धारण किया है जघन्यतासे तो उतना ही तैजस और कार्मण शरीरोंका प्रमाण है और केवलिसमुद्घात अवस्थामें वे समस्त लोकमें फैल जाते हैं इसलिए उत्कृष्टतासे केवलिसमुद्घातकी अपेक्षा तैजस और कार्मणशरीरोंका प्रमाण सर्वलोक—असंख्येय प्रदेश समान है। इसप्रकार यह प्रमाणोंके भेदसे औदारिक वैक्रियिक आदिका आपसमें भेद है।

क्षेत्रसे भेद—औदारिक वैक्रियिक और आहारक शरीरोंका क्षेत्र लोकके असंख्यातवां भाग है और तैजस कार्मण शरीरोंका असंख्यातभाग एवं प्रतर वा लोकपूरण समुद्घातोंमें सर्वलोक है। इसप्रकार यह क्षेत्रके भेदसे औदारिक आदिका भेद है।

स्पर्शनसे भेद—एक जीवकी अपेक्षा औदारिक आदिके स्पर्शका आगे व्याख्यान किया जायगा।

सर्व जीवोंकी अपेक्षा उसका कथन इसप्रकार है–औदारिक शरीरद्वारा तिर्यंचोंसे समस्त लोक स्पृष्ट है और मनुष्योंसे लोकका असंख्यातवां भाग स्पृष्ट है। मूल वैक्रियिक शरीरसे लोकका असंख्यातवां भाग और उत्तर वैक्रियिक शरीरसे आठ राजू और उससे कुछ कम चौदह भाग स्पृष्ट है। और वे इस-प्रकार हैं–

सौधर्मस्वर्गनिवासी देव स्वयं और अन्य देवोंकी सहायताकी प्रधानतासे आरण और अच्युत स्वर्गपर्यंत विहार कर आते हैं इसलिए ऊपर वे छह राजूपर्यंत लोकके क्षेत्रका स्पर्श करते हैं और अपनी ही प्रधानतासे नीचे वालुका पृथ्वी पर्यंत विहार करते हैं इसलिए नीचे दो राजू क्षेत्रका स्पर्श करते हैं इसरीतिसे वे कुछ अधिक आठराजू क्षेत्रका स्पर्श करते हैं। आहारक शरीरसे लोकका असंख्यातवां भाग स्पृष्ट होता है और तैजस एवं कार्मण शरीरोंसे समस्त लोक स्पृष्ट होता है। इसप्रकार यह स्पर्शनके भेदसे औदारिक आदि शरीरोंका भेद है। एक जीवकी अपेक्षा कालके भेदसे औदारिक आदि शरीरोंका भेद आगे कहा जायगा यहांपर अनेक जीवोंकी अपेक्षा भेद कहा जाता है–

कालसे भेद–औदारिकमिश्रको छोडकर केवल औदारिक शरीरका जघन्य काल मनुष्य और तिर्यंचोंके अंतर्मुहूर्तप्रमाण है और उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त कम तीन पल्य प्रमाण है और वह अंतर्मुहूर्तकाल अपर्याप्तकका काल है क्योंकि अपर्याप्त अवस्थामें औदारिकमिश्रकी विद्यमानता रहती है। मूलवैक्रि-यिक और उत्तरवैक्रियिकके भेदसे वैक्रियिक शरीरको दो प्रकारका माना है। उनमें देवोंकी अपेक्षा मूल वैक्रियिक शरीरका जघन्यकाल अपर्याप्तकका अंतर्मुहूर्तकाल घाटि दश हजार वर्ष प्रमाण है और

१–यह वैक्रियिक मिश्रका काल है इसीतरह आगे भी समझ लेना चाहिये।

उत्कृष्टकाल अपर्याप्तकका अंतर्मुहूर्तप्रमाण घाटि तेतीस सागर प्रमाण है। तथा उत्तर वैक्रियिकका जघन्य और उत्कृष्ट दोनों प्रकारका काल अंतर्मुहूर्तप्रमाण है इसीप्रकार नारकियोंका भी समझ लेना चाहिए। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

तीर्थंकरका जन्म और नंदीश्वरके चैत्यालय आदिकी पूजार्थ देवतागण जाते हैं और वहांपर उन्हें अधिक समय तक रहना पडता है तथा उससमय उनका उत्तर वैक्रियिक शरीर ही रहता है क्योंकि मूल वैक्रियिक शरीर उनका कहीं भी नहीं जाता। यदि उत्तर वैक्रियिकका काल अंतर्मुहूर्तप्रमाण माना जायगा तो अधिकसमयसाध्य तीर्थंकरके जन्म आदिमें देवोंका आना न बन सकेगा? सो ठीक नहीं। यद्यपि उससमय उनका उत्तर वैक्रियिक शरीर ही होता है परंतु फिर फिरसे उनकी विक्रियाकी लडी बंधी रहती है वह टूटती नहीं इसलिए अधिक समयसाध्य कार्यके करनेमें भी किसी प्रकारकी बाधा नहीं होती। आहारक शरीरका जघन्य और उत्कृष्ट दोनों प्रकारका काल अंतर्मुहूर्तप्रमाण है। यौगपद्येन तैजस और कार्मण कर्मोंका संतानकी अपेक्षा अभव्योंके अनादि अनंतकाल है और जो भव्य अनंतकालके बाद भी मोक्ष न प्राप्त कर सकेंगे उनके भी अनादि अनंत काल है किंतु जो भव्य मोक्ष प्राप्त करेंगे उनकी अपेक्षा अनादि सांतकाल है तथा एक निषेककी अपेक्षा एक समयमात्र काल है किंतु पृथक्रूपसे तैजसका काल छ्यासठि सागर प्रमाण माना गया है और कार्मण शरीरका सत्तर कोडाकोडी प्रमाणकाल है। इसप्रकार यह कालके भेदसे औदारिक आदि शरीरोंका भेद है। अंतरका अर्थ विरहकाल है। एक जीवकी अपेक्षा तो अंतरके भेदसे औदारिक आदि पांचोंके भेद आगे कहे जांयगे। अनेक जीवोंकी अपेक्षा इसप्रकार है—

१—मोहनीय कर्मकी स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागर प्रमाण मानी है उसकी अपेक्षा यह कथन है। 'सप्ततिर्मोहनीयस्य'

अंतरसे भेद—औदारिकमिश्रको छोडकर केवल औदारिकका जघन्य अंतर अंतर्मुहूर्तप्रमाण है। यहांपर अंतर्मुहूर्तसे औदारिकमिश्रके कालका ग्रहण है और वह अंतर्मुहूर्तप्रमाण अंतर इसप्रकार है—

चारों गतियोंमें भ्रमण करनेवाला जीव तिर्यंच वा मनुष्योंमें उत्पन्न हुआ वहांपर अंतर्मुहूर्तपर्यंत अपर्याप्तक रहकर पीछे पर्याप्त हो अंतर्मुहूर्तकालप्रमाण जीकर मर गया फिर तिर्यंच वा मनुष्योंमें किसी एक पर्यायमें उत्पन्न हुआ और अंतर्मुहूर्तपर्यंत अपर्याप्तक रहकर पीछे पर्याप्तक हो गया इसप्रकार औदारिकका जघन्य अंतर अंतर्मुहूर्तप्रमाण है अर्थात्—यहां पर्याप्त अवस्थासे पहिलेकी अवस्थामें औदारिकमिश्र होता है और जीवके पर्याप्तक होते ही उसका शरीर औदारिक कहा जाता है उस औदारिक शरीरकी प्रकटता अंतर्मुहूर्तके वाद होती है इसलिए औदारिकका जघन्य अंतर अंतर्मुहूर्तप्रमाण है तथा उत्कृष्ट अंतर कुछ अधिक तेतीस सागर प्रमाण है क्योंकि जो मनुष्य तेतीस सागरकी आयुवाले देवोंमें उत्पन्न हुआ और आयुके क्षय हो जानेपर मरकर फिर मनुष्योंमें उत्पन्न हुआ वहां पर अंतर्मुहूर्त तक तो वह अपर्याप्तक ही रहेगा और उसके औदारिकमिश्र शरीर होगा पीछे पर्याप्तक होनेपर उसका औदारिक शरीर कहा जायगा इसलिए अंतर्मुहूर्त अधिक तेतीस सागरके वाद औदारिक शरीरकी प्राप्ति होनेसे उसका उत्कृष्ट अंतर अंतर्मुहूर्त अधिक तेतीस सागर प्रमाण है।

वैक्रियिक शरीरका जघन्य अंतर अंतर्मुहूर्तप्रमाण है क्योंकि मनुष्य वा तिर्यंच मरकर दशहजार वर्षकी आयुवाले देवोंमें उत्पन्न हुआ, वहांकी आयु समाप्तकर फिर मनुष्य वा तिर्यंच होकर और अंतर्मुहूर्तप्रमाण अपर्याप्तकके कालका अनुभवकर फिर देवोंमें उत्पन्न हुआ इसप्रकार अंतर्मुहूर्तके वाद वैक्रियिक शरीरकी प्राप्ति होनेसे वैक्रियिक शरीरका जघन्य अंतर अंतर्मुहूर्तप्रमाण है। तथा वैक्रियिक शरीरका

उत्कृष्ट अंतर अनंतकाल प्रमाण है क्योंकि कोई जीव देवपर्यायसे च्युत होकर और अनंतकाल पर्यंत तिर्यंच और मनुष्योंमें घूमकर फिर देव हुआ वहांपर अपर्याप्तकका काल अंतर्मुहूर्तकालको अनुभवकर वह वैक्रियिक शरीर प्राप्त करता है इसलिए अनंत कालके बाद वैक्रियिक शरीरकी प्राप्ति होनेसे वैक्रियिक शरीरका उत्कृष्ट अंतर अनंतकालका कहा जाता है।

आहारकका जघन्य अंतर अंतर्मुहूर्तकालका है क्योंकि प्रमत्तसंयत मुनि आहारक शरीरकी रचनाकर, अंतर्मुहूर्तपर्यंत उस आहारक शरीर सहित विद्यमान होकर जिसकार्यके लिये उस आहारक शरीरका निर्माण किया गया है उसके कार्यको समाप्त करता है पीछे फिर किसी लब्धिके कारण अंतर्मुहूर्त ठहरकर आहारक शरीरका निर्माण करते हैं। इसरीतिसे अंतर्मुहूर्तके बाद आहारक शरीरका निर्माण होनेसे जघन्य अंतर उसका अंतर्मुहूर्तकाल है और उसका उत्कृष्ट अंतर अंतर्मुहूर्तकम अर्धपुद्गलपरिवर्तनकालका है क्योंकि जिस जीवने अनादिकालीन मिथ्यादर्शन मोह कर्मको उपशमाकर उपशम सम्यक्त्व और संयमको एक साथ प्राप्त किया है जो उपशम सम्यक्त्वसे च्युत होकर वेदकसम्यक्त्वी बन अंतर्मुहूर्त ठहरकर अप्रमत्तगुणस्थानमें आहारक शरीरका बंधकर फिर प्रमत्तगुणस्थानमें आया "क्योंकि आहारक शरीरके बंध होते ही प्रमत्तगुणस्थान हो जाता है यह नियम है" वहांपर आहारक शरीरको रचकर और उसे मूल शरीरमें प्रविष्टकर मिथ्यात्वी बना, वह जीव अंतर्मुहूर्तकम अर्धपुद्गल परिवर्तनकालप्रमाण संसारमें घूमकर मनुष्य हुआ, पूर्वोक्तप्रकारसे सम्यक्त्व पाकर असंयत सम्यग्दृष्टि वा संयतासंयत दोनों गुणस्थानोंमें किसी एक जगहपर दर्शनमोहका क्षयकर और संयमको प्राप्तकर उसने सातवे गुणस्थानमें आहारक शरीरका बंध किया उसीसमय उसका छठा गुणस्थान भी हो गया

उससमय छठे गुणस्थानमें वह जीव आहारक शरीरकी रचना करता है इसलिये यहां आहारक शरीरकी प्राप्ति तकके कालका प्रमाण अंतर्मुहूर्तकम अर्धपुद्गल परावर्तन काल होनेसे; आहारक शरीरका उत्कृष्ट अंतर अंतर्मुहूर्तकम अर्धपुद्गल परावर्तन काल प्रमाण समझना चाहिये। आहारक शरीर जबतक अपना कार्य नहीं करता उसके पहिले चार अंतर्मुहूर्त कहे गये हैं वे इसप्रकार हैं—

दर्शनमोहोपशमसम्यक्त्वके समानकालीन संयम बताया गया है एक तो अंतर्मुहूर्त यह है। दूसरा वेदक सम्यक्त्वका अंतर्मुहूर्त है। तीसरा आहारक बंधका अंतर्मुहूर्त है और चौथा आहारककी रचनाका अंतर्मुहूर्त है। ये चार अंतर्मुहूर्त पहिले हो लेते हैं उसके बाद आहारक शरीरके कार्यका पांचवां अंतर्मुहूर्त है तथा प्रमत्तसे अप्रमत्त और अप्रमत्तसे प्रमत्त इसप्रकार अगणितवार उतरना चढना रूप कार्य को अनुभव करनेवाले जीवके अनेक अंतर्मुहूर्त होते हैं। पश्चात् अधःकरणकी विशुद्धिसे विशुद्ध होकर जीव थोडी देर ठहर जाता है तथा अधःकरणसे आगे अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण सूक्ष्मसांपराय क्षीणकषाय सयोगकेवली और अयोगकेवली गुणस्थान हैं उन सबमें प्रत्येकका काल अंतर्मुहूर्त है। इन समस्त अंतर्मुहूर्तोंका काल मिलाकर जितना काल हो उसकालसे रहित अर्धपुद्गल परिवर्तनकाल आहारक शरीरका उत्कृष्ट अंतर है।

अंतरका अर्थ विहरकाल ऊपर बतला दिया गया है जो पदार्थ सदा विद्यमान रहता है उसका विरहकाल नहीं हो सकता। तैजस और कार्मण शरीरोंका सदा काल जीवके साथ संबंध रहता है इसलिये उनका विरह काल नहीं। इसप्रकार यह अंतरकी अपेक्षा औदारिक आदिका आपसमें भेद है।

संख्यासे भेद—औदारिक शरीर असंख्यात लोकप्रमाण है। वैक्रियिक शरीर असंख्यात श्रेणी

प्रमाण है और वह असंख्यात श्रेणी लोकप्रतरका असंख्यातवां भाग है। आहारक संख्याते हैं और यहां संख्यात चौवन अक्षर प्रमाण लिया गया है। तैजस एवं कार्मण अनंतप्रमाण है और अनंतसे यहांपर अनंतानंतलोक लिया गया है। इसप्रकार यह संख्याके भेदोंकी अपेक्षा औदारिक आदिका आपसमें भेद है।

प्रदेशोंसे भेद—औदारिक शरीरके अनंतप्रदेश हैं और वह अनंत यहां अभव्योंका अनंतगुणा और सिद्धोंका अनंतवां भाग लिया गया है। अनंतके अनंत ही भेद माने हैं इसलिये बाकीके चारो शरीरोंमें उत्तरोत्तर अधिक अधिक प्रदेश समझ लेने चाहिये। शरीरोंमें किस किस प्रकार प्रदेशोंकी अधिकता है यह बात ऊपर विस्तारके साथ कह दी गयी है। अर्थात्—औदारिक शरीरमें जितने प्रदेश हैं उनसे असंख्यात गुणे वैक्रियिक शरीरमें हैं। वैक्रियिक शरीरसे असंख्यातगुणे आहारक शरीरमें हैं। आहारक शरीरसे अनंतगुणे तैजस शरीरमें हैं और तैजस शरीरसे अनंतगुणे कार्मण शरीरमें हैं। इसप्रकार यह प्रदेशोंके भेदसे औदारिक आदि शरीरोंका भेद है।

भावसे भेद—औदारिक शरीर नाम कर्मके उदयसे औदारिक भाव हैं। वैक्रियिक शरीर नाम कर्मके उदयसे वैक्रियिक भाव है। आहारक शरीर नाम कर्मके उदयसे आहारक भाव हैं। तैजस शरीर नाम कर्मके उदयसे तैजस भाव हैं और कार्मण शरीर नाम कर्मके उदयसे कार्मण भाव हैं। इसप्रकार औदारिक आदि शरीरोंके भावोंके भेदसे आपसमें औदारिक आदि शरीरोंका भेद है।

अल्पबहुत्वसे भेद—सबसे थोडे आहारक शरीर हैं। उनसे असंख्येयगुणे वैक्रियिक शरीर हैं यहां पर गुणकार असंख्यात श्रेणि ली गई हैं और वे लोकप्रतरके असंख्यातवें भाग प्रमाण मानी गई हैं।

वैक्रियिक शरीरसे औदारिक शरीर असंख्यात गुणे हैं यहां पर गुणकार असंख्यात लोक प्रमाण माना गया है। औदारिक शरीरसे तैजस और कार्मण अनंतगुणे माने गये हैं। यहां पर सिद्धोंका अनंतगुणा गुणकार है इसप्रकार यह अल्पबहुत्वकी अपेक्षा औदारिक आदि शरीरोंमें आपसमें भेद है ॥ ४९ ॥

आत्माके आश्रित कार्मण शरीरके निमित्तसे होनेवाले शरीरोंके धारक एवं इंद्रियोंके संबंधसे अनेक भेदवाले देव नारकी आदि चारों प्रकारके संसारी जीवोंमें प्रत्येक जीवके क्या तीनों तीनों लिंग होते हैं कि कुछ लिंगोंका नियम है। इस शंकाका समाधान सूत्रकार देते हैं—

नारकसंमूर्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥

नारकी और संमूर्छन जीव नपुंसक होते हैं उनमें कोई भी जीव स्त्रीलिंग और पुंल्लिंग नहीं होता।

धर्मार्थकाममोक्षकार्यनरणान्नराः ॥ १ ॥

धर्म अर्थ काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं इन चारो प्रकारके पुरुषार्थोंको जो करनेवाले हों वे नर कहे जाते हैं।

नरान् कायंतीति नरकाणि ॥ २ ॥ नृणंतीति वा ॥ ३ ॥ नरकेषु भवा नारकाः ॥ ४ ॥

असात वेदनीय कर्मसे होनेवाली शीत उष्णरूप वेदनासे जो जीवोंको रुलावें दुखावें वे नरक हैं। अथवा—

अहोरात्र पापसंचय करनेवाले प्राणियोंको जो अत्यंत दुःख दें—क्षणभर भी सुखके कारण न हों वे नरक हैं। उन नरकोंमें जाकर जो जीव उत्पन्न हों वे नारकी कहे जाते हैं।

१—यहां पर प्रदेशोंको अपेक्षा अल्पबहुत्व नहीं किंतु संख्याकी अपेक्षा अल्पबहुत्व लिया गया है।

संमूर्छनं संमूर्छः स एषामस्तीति संमूर्छिनः ॥ ५ ॥

चारों ओरसे होनेका नाम संमूर्छ है वह संमूर्छ जिन जीवोंके हो अर्थात् जिनकी उत्पत्तिका कोई निश्चित स्थान न हो, जो सब जगह चारो ओर उत्पन्न हों वे संमूर्छी जीव कहे जाते हैं। नारकाश्च संमूर्छिनश्च 'नारकसंमूर्छिनः' यह नारकसंमूर्छी शब्दका विग्रह है।

नपुंसकवेदाशुभनामोदयान्नपुंसकानि ॥ ६ ॥

मोहनीय कर्म दो प्रकारका है एक दर्शनमोहनीय दूसरा चारित्रमोहनीय। चारित्रमोहनीयके भी दो भेद हैं एक कषाय वेदनीय दूसरा नोकषाय वेदनीय। नोकषायवेदनीयके हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्रीवेद पुंवेद और नपुंसकवेद ये नौ भेद हैं। उनमें नपुंसकवेद और अशुभ नामकर्मके उदयसे जो जीव न स्त्री हों और न पुरुष हों वे नपुंसक कहे जाते हैं। यहांपर नारकी और संमूर्छन जीवोंके नपुंसक लिंग ही होता है अन्य कोई लिंग नहीं होता यह नियमस्वरूप कथन है। स्त्री और पुरुषोंके विषयभूत मनोज्ञ शब्दोंका सुनना सुगंधका सूंघना, मनोहर रूपका देखना, इष्ट रसका चाखना और इष्ट स्पर्शका स्पर्शन करनारूप कारणोंसे जायमान कण मात्र भी सुख, नारकी और संमूर्छन जीवोंको नहीं प्राप्त होता ॥ ५० ॥

जब नारकी और संमूर्छन जीवोंके स्त्रीलिंग और पुंल्लिंगका सर्वथा निषेध कर दिया तब यह स्वयं सिद्ध हो गया कि इनसे अवशिष्ट सब जीवोंमें तीनों लिंग होते हैं। परंतु देवोंमें नपुंसकलिंगका सर्वथा अभाव है इसलिए सूत्रकार इस विषयको स्पष्ट किए देते हैं—

न देवाः ॥ ५१ ॥

चारों प्रकारके देव नपुंसक नहीं हैं अर्थात् देवोंमें स्त्रीवेद और पुरुषवेद दो ही वेद होते हैं नपुंसक-वेद नहीं होता।

स्त्रीपुंसविषयनिरतिशयसुखानुभवनाद्देवेषु नपुंसकाभावः ॥ १ ॥

शुभगति नामकर्मके उदयसे होनेवाला जो स्त्रीसंबंधी और पुरुषसंबंधी अनुपम सुख है निरंतर देव उसका भोग करते हैं इसलिए उनके नपुंसक लिंग नहीं होता। देवोंके स्त्री और पुरुष दो ही वेद होते हैं यह बात ऊपर कही जायगी ॥ ५१ ॥

यह समझ लिया कि नारकी और संमूर्छन जीवोंके नपुंसक वेद ही होता है अन्य कोई वेद नहीं होता तथा यह भी समझ लिया कि देवोंके सिवाय स्त्री और पुरुषवेदके नपुंसक वेद नहीं होता परंतु इससे भिन्न जो जीव हैं उनके कौन कौन वेद होते हैं यह नहीं कहा गया, सूत्रकार अब उस विषयको स्पष्ट करते हैं—

शेषास्त्रिवेदाः ॥ ५२ ॥

नारकी देव और संमूर्छन जीवोंसे भिन्न गर्भज तिर्यंच और मनुष्य तीनों वेदवाले अर्थात् पुरुष स्त्री और नपुंसक होते हैं ?

जिनके पुरुष स्त्री और नपुंसक ये तीन वेद हों वे त्रिवेद कहे जाते हैं। त्रयो वेदा येषां ते 'त्रिवेदाः' यह त्रिवेद पदका विग्रह है। स्त्री आदि तीनों वेदोंकी सिद्धि इसप्रकार है—

नामकर्मचारित्रमोहनोकषायोदयाद्वेदत्रयसिद्धिः ॥ १ ॥

नामकर्म और चारित्रमोहनीय कर्मके भेद नोकषाय कर्मके उदयसे स्त्री आदि तीनों भेदोंकी उत्पत्ति होती है 'वेद्यत इति वेदः' जो अनुभव किया जाय उसका नाम वेद है और उसका अर्थ लिंग है । वह लिंग द्रव्यलिंग और भावलिंगके भेदसे दो प्रकारका है। नामकर्मके उदयसे योनि लिंग आदिकी रचना द्रव्यलिंग है और नोकषाय कर्मके उदयसे स्त्री आदि लिंगोंके अनुकूल इच्छाका होना भावलिंग है। स्त्री वेदके उदयसे जिसमें गर्भ ठहरे उसका नाम स्त्री है। पुरुष वेदके उदयसे जो संतानको पैदा करे उसका नाम पुरुष है और गर्भका ठहरना एवं संतान उत्पन्न करनारूप दोनो प्रकारकी सामर्थ्यसे जो विहीन हो वह नपुंसक है।

जिसतरह 'गच्छतीति गौः' जो जावे उसका नाम गाय है यहांपर गमनाक्रिया केवल व्युत्पत्तिके लिये मानी गई है प्रधानरूपसे नहीं। यदि प्रधानतासे मानी जायगी तो जिससमय गाय चलेगी उसी समय गाय कही जायगी सोते बैठते खडे होते समय उसे गाय न कहा जा सकेगा। इसलिये वहां गो-शब्द रूढि है उसीप्रकार स्त्यायतीति स्त्री इत्यादि स्थलोंपर भी गर्भधारण आदि क्रियायें केवल व्युत्पत्ति केलिये हैं प्रधानतासे नहीं, यदि उन्हें प्रधानतासे माना जायगा तो जिससमय गर्भधारण आदि क्रियां होंगी उसीसमय स्त्री आदि कहे जांयगे किंतु बालक और वृद्ध तिर्यंच मनुष्य, तथा देव और कार्मण-काय योगोंमें स्थित जीव जिनमेंकि गर्भधारण और संतान उत्पादनकी सामर्थ्य नहीं उन्हें स्त्रीवेदी वा पुरुषवेदी न कहा जा सकेगा इसलिये स्त्री आदि शब्द रूढि हैं यौगिक नहीं।

स्त्री वेदको अंगारके समान माना है। पुरुषवेदको फूंसकी अग्निके समान माना है और नपुंसक

वेदको ईंटकी अग्नि अर्थात् अवेकी अग्निके समान माना है। सारार्थ पुरुषकी कामाग्नि फूंसकी अग्निके समान जल्दी शांत हो जाती है। अंगारकी अग्नि गुप्त और कुछकाल ठहरनेवाली होती है इसलिये स्त्रीकी कामाग्नि कुछकालतक ठहरनेवाली होती है। जहांपर ईंटे पकाई जाती हैं उस अवेकी आग बहुत कालतक रहती और सर्वदा धधकती रहती है इसलिये नपुंसककी कामाग्नि अधिक काल तक रहती है॥ ५२॥

जन्म योनि शरीर लिंगके भेदसे जिनका आपसमें भेद है और नाना प्रकारके पुण्य और पापोंकी अधीनतासे जिन्हें चारों गतियोंमें शरीर धारण करने पडते हैं ऐसे देव आदिकोंका जो ऊपर उल्लेख किया गया है वे जितनी आयु बांध चुके हैं उतनी आयुके पूर्ण हो जानेपर दूसरे शरीरोंको धारण करते हैं वा आयुके बीचमें ही उन्हें प्राप्त शरीर छोडकर दूसरा शरीर धारण करना पडता है। इस शंकाका समाधान सूत्रकार देते हैं–

औपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः॥ ५३॥

देव नारकी चरमोत्तम देहधारी और असंख्यातवर्षकी आयुवाले जीव, परिपूर्ण आयुवाले होते हैं। अर्थात् किसी भी कारणसे न्यून आयु होकर उनकी अकालमृत्यु नहीं होती।

औपपादिका उक्ताः॥ १॥

जिनका उपपाद जन्म हो वे औपपादिक कहे जाते हैं। देव और नारकियोंका उपपाद जन्म होता है इसलिये देव और नारकी औपपादिक हैं।

चरमशब्दस्यांतवाचित्वात्तज्जन्मनि निर्वाणार्हग्रहणं॥ २॥

चरम शब्दका अर्थ अंतकी पर्याय है । जिन्होंने संसारकी यात्रा तय कर दी है और जो उसी पर्यायसे मोक्ष प्राप्त करते हैं यहां पर चरम शब्दसे उनका ग्रहण है। चरमो देहो येषां ते 'चरमदेहाः' यह यहां पर चरमदेह पदका विग्रह है।

उत्तमशब्दस्योत्कृष्टवाचित्वाच्चक्रधरादिगृहणं ॥ ३ ॥

उत्तम शब्दका अर्थ उत्कृष्ट है । जो उत्कृष्ट हों वे उत्तम कहे जाते हैं । मनुष्य आदिमें चक्रवर्ती आदि उत्तम हैं इसलिये सूत्रमें स्थित उत्तम शब्दसे यहां चक्रवर्ती आदिका ग्रहण है। उत्तमो देहो येषां ते 'उत्तमदेहाः' यह यहां पर 'उत्तमदेह' पदका विग्रह है।

उपमाप्रमाणगम्यायुषोऽसंख्येयवर्षायुषः ॥ ४ ॥

जिनकी आयुकी एक दो आदि संख्यासे गणना न हो सके किंतु उपमाप्रमाण पल्य आदिसे गम्य हो उन्हें असंख्येयवर्षायु कहते हैं और वे उत्तर कुरु आदिमें उत्पन्न होनेवाले तिर्यंच और मनुष्य हैं। अर्थात् असंख्येयवर्षायु शब्दसे भोगभूमियां तिर्यंच और मनुष्योंका ग्रहण है।

वाह्यप्रत्ययवशादायुषो ह्रासोऽपवर्तः ॥ ५ ॥

उपघात-आयुके कमादेनेके वाह्य कारण विष शस्त्र आदिके द्वारा जो आयुका घट जाना है उसका नाम अपवर्त है। जिन जीवोंकी आयु विष शस्त्र आदिसे घट जानेवाली हो वे अपवर्त्य आयुवाले कहे जाते हैं और जिनकी आयु किसी भी विष शस्त्र आदि कारणोंसे घटनेवाली न हो वे अनपवर्त्य आयु-वाले हैं। ऊपर जो औपपादिक और चरमोत्तम देहधारी आदि कहे हैं उनकी आयु विष शस्त्र आदि वाह्य कारणोंके द्वारा घट नहीं सकती इसलिए वे अनपवर्त्य आयुवाले हैं। शंका—

अंत्यचक्रधरवासुदेवादीनामायुषोऽपवर्तदर्शनादव्याप्तिः ॥ ६ ॥ न वा चरमशब्दस्योत्तमविशेषणत्वात् ॥ ७ ॥

लक्ष्यके एक देशमें ही लक्षणका रह जाना अव्याप्ति दोष कहा जाता है। चक्रवर्ती आदि उत्तम देहके धारी सब अनपवर्त्य आयुवाले हैं यहांपर यदि अनपवर्त्यायुपनारूप लक्षण उत्तम देहके धारक चक्रवर्ती आदि सबोंमें संघटित हो जाय तब तो वह निर्दोष माना जा सकता है किंतु बारहवें चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त और नवमें अर्धचक्री (नारायण) कृष्ण एवं इनके सिवाय और भी उत्तम देहधारियोंकी आयु का बाह्य कारणोंसे अपवर्त शास्त्रोंमें कहा गया है इसलिए उत्तम देहधारी ब्रह्मदत्त आदिमें लक्षणके न घटनेके कारण वह अव्याप्ति दोषग्रस्त है? सो ठीक नहीं। यहांपर चरम शब्दका उत्तम शब्द विशेषण है। इसलिए जो चरम और उत्तम देहका धारक होगा वही अनपवर्त्य आयुवाला हो सकता है किंतु जो केवल उत्तम देहका धारक होगा वह अनपवर्त्य आयुवाला नहीं हो सकता। ब्रह्मदत्त और कृष्ण आदिक यद्यपि उत्तम देहके धारक हैं परंतु चरमशरीरी नहीं इसलिए अनपवर्त्यायुरूप लक्षणके लक्ष्य न होनेके कारण उनमें लक्षण न जानेसे कोई दोष नहीं। यदि यहांपर फिर यह शंका की जाय कि—

उत्तमग्रहणमेवेति चेन्न तदानिवृत्तेः ॥ ८ ॥

सूत्रमें उत्तमशब्दका ग्रहण ही उपयुक्त है। उत्तम देहवाले ही अनपवर्त्य आयुवाले होते हैं ऐसे अर्थमें कोई दोष नहीं, चरम शब्दका ग्रहण व्यर्थ ही है? सो ठीक नहीं। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती और कृष्ण आदि भी उत्तम देहके धारक हैं परंतु वे अनपवर्त्य आयुवाले नहीं। यदि सूत्रमें चरम शब्दका ग्रहण न किया जायगा तो ब्रह्मदत्त आदि उत्तम देहके धारकोंमें लक्षण न जानेसे ऊपर कहा हुआ अव्याप्तिदोष

ज्योंका त्यों तदवस्थ रहेगा। इसलिए चरम शब्दका ग्रहण व्यर्थ नहीं। यदि कदाचित् यह शंका की जाय कि—

चरमग्रहणमेवेति चेन्न तस्योत्तमत्वप्रतिपादनार्थत्वात् ॥ ९ ॥

यदि उत्तम देह कहनेपर अव्याप्ति दोष आता है तब चरमदेह शब्द ही कह देना चाहिए। ब्रह्मदत्त और कृष्ण आदि उत्तम शरीरी होनेपर भी चरमशरीरी नहीं इसलिए अव्याप्ति दोषका भी संभव नहीं? सो भी ठीक नहीं। 'चरम देह समस्त देहोंमें उत्तम देह है' इस तात्पर्यके प्रगट करनेकेलिए सूत्रमें उत्तम शब्दका ग्रहण किया गया है इसलिए उसका ग्रहण व्यर्थ नहीं। कहीं कहींपर 'चरमदेहाः' इतना ही पाठ रक्खा है। उत्तम शब्दका उल्लेख ही नहीं किया है।

विशेष—वास्तवमें चरम शरीरका अर्थ यही है कि अब दूसरा शरीर धारण नहीं करना होगा उसी शरीरसे मोक्ष प्राप्त हो जायगी इसलिये जो शरीर मोक्षका साक्षात् कारण है वह स्वयं उत्तम है उसकी उत्तमत्ता प्रगट करनेके लिये किसी भी शब्दकी आवश्यकता नहीं इसलिये वार्तिककारने 'चरमदेहाः' इति केषांचित् पाठः' ऐसा भी कहा है। इसलिये सूत्रमें जो उत्तम शब्दका उल्लेख किया गया वह केवल चरम शरीरके स्वरूप प्रगट करनेके लिये है। इसरीतिसे औपपादिक चरमोत्तमदेहधारी और असंख्यातवर्षकी आयुके धारक अनपवर्त्य आयुवाले हैं यह बात निर्धाररूपसे सिद्ध हो गई। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

अप्राप्तकालस्य मरणानुपलब्धेरपवर्ताभाव इति चेन्न दृष्टत्वादाम्रफलादिवत् ॥ १० ॥

आयुके अंतसमयमें ही मरण होता है बीचमें मरण नहीं हो सकता इसलिये बीचमें ही आयुका अपवर्त

विच्छेद, मानकर औपपादिक आदिसे भिन्न संसारी जीवोंको अपवर्त्य आयुवाला मानना अयथार्थ है ? सो ठीक नहीं। जिसतरह आम्र आदि फलोंका जिससमयमें पाक होना निश्चित है उससे पहिले ही उपायके द्वारा अर्थात् पाल आदिमें रखनेसे बीचमें ही पकजाना दीख पडता है उसीप्रकार मृत्युका जो समय निश्चित है उसके पहिले ही आयुकर्मकी उदीरणाके द्वारा बीचमें ही मरण हो जाता है इसरीतिसे जब आयुकर्मका अपवर्त युक्तिसिद्ध है तब औपपादिक आदिसे भिन्न संसारी जीवोंको अपवर्त्य आयुवाला मानना अयथार्थ नहीं। और भी यह वात है कि—

आयुर्वेदसामर्थ्याच्च ॥ ११ ॥

अष्टांग आयुर्वेद विद्याका जानकार और चिकित्सा करनेमें परम प्रवीण वैद्य यह समझकर कि 'वात आदिके उदयसे शीघ्र ही इसके श्लेष्म आदि विकार उत्पन्न होनेवाला है, वात आदिके उदयके पहिले अप्रकट भी उसे वमन और दस्त आदिके द्वारा नष्ट कर देता है तथा रोगीकी अकाल मृत्यु न हो जाय इसलिये रसायन खानेके लिये भी आज्ञा देता है। यदि अप्राप्तकाल मरण अर्थात अकाल मृत्यु न हो तब उसका रोगीको रसायन खानेकी अनुमति देना निरर्थक ही है क्योंकि अकाल मृत्यु न माने जानेपर रसायन बिना खाये भी रोगी बीचमें नहीं मर सकता परंतु रोगीको रसायन खानेकी अनुमति वैद्यकी निरर्थक नहीं दीख पडती यह सर्वानुभवासिद्ध है इसलिये आयुर्वेद शास्त्रके आधारसे भी औपपादिक आदि जीवोंसे भिन्न संसारी जीवोंकी अकाल मृत्यु मानना युक्तियुक्त है। इसरीतिसे औपपादिक आदिसे भिन्न संसारी जीव अपवर्त्य आयुवाले हैं यह बात निर्विवाद सिद्ध है। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—

दुःखप्रतीकारार्थ इति चेन्नोभयथादर्शनात् ॥ १२ ॥

आयुर्वेदकी चिकित्सा अकालमृत्युके दूर करनेकेलिये नहीं की जाती किंतु रोगजन्य दुःखके दूर करनेके लिये की जाती है ? सो ठीक नहीं। जिनके रोगजन्य कष्ट है उनकी भी चिकित्सा की जाती है और जिनके रोगजन्य कष्ट नहीं है उनकी भी चिकित्सा की जाती है यदि रोगजन्य दुःखके दूर करनेके लिये ही चिकित्सा होती तो जिन्हें कोई क्लेश नहीं है उनकी चिकित्सा नहीं होनी चाहिये थी परंतु होती अवश्य उनकी चिकित्सा है इसालेये आयुर्वेदकी चिकित्सा अकालमृत्युके दूर करनेके लिये ही मानी जायगी इस रीतिसे अकाल मृत्युकी सिद्धि निर्बाध है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

कृतप्रणाशप्रसंग इति चेन्न दत्त्वैव फलं निवृत्तेः ॥ १३ ॥

जब अकालमृत्यु सिद्ध है तब जो कर्म जिस व्यक्तिने किया है उसका उसे विना फल मिले बीचमें उसकी मृत्यु हो जानेसे—किया हुआ कर्म सब व्यर्थ जायगा । इसरीतिसे कृतप्रणाश दोष आता है ? सो ठीक नहीं। जो कार्य नहीं किया गया है उसका तो फल नहीं भोगा जा सकता और जो कार्य किया गया है उसके फलका विनाश नहीं हो सकता । यदि विना किये कार्यका भी फल भोगा जायगा तो मोक्षका अभाव कहना पडेगा क्योंकि अकृत कार्यके फल सुख दुःख आदिका भोग सिद्धोंके भी संभव होगा। तथा जहां सुख दुःखका संभव है वहां संसार है इस रूपसे कोई भी जीव सिद्ध वा मुक्त न कहा जायगा। यदि किये गये कर्मके फलका नाश माना जायगा तो दान पूजा स्वाध्याय आदि क्रियाओंका लोप ही कर देना पडेगा। क्योंकि दान आदिका फल शुभगति आदिकी प्राप्ति है जब शुभगति आदिकी प्राप्ति ही न होगी तब दान आदि क्रिया व्यर्थ ही है इसलिये जो कार्य किया जाता है वह अपना

फल करनेवालेको देकर ही निवृत्त होता है अर्थात् जैसा कार्य किया जायगा नियमसे उसका अनुकूल फल कर्ताको भोगना पडेगा। जो चोरी और हिंसा करेगा उसके अनुकूल दुःखरूप फल उसे भोगना पडेगा और जो देवपूजा आदि शुभकार्य करेगा उसका सुखरूप फल भोगना होगा परंतु हां जिसप्रकार गीले वस्त्रको सिकोडकर रख दिया जाता है तो उस गीलेपनके विनाशका जितना काल निश्चित है उतने कालमें ही जाकर वह गीलापन नष्ट होता है और यदि हवा और धूपमें उस वस्त्रको फैला दिया जाता है तो वीचमें ही उसका गीलापन नष्ट हो जाता है उसीप्रकार विष शस्त्र आदि वाह्य कारणोंके सन्निधान न होनेपर तो आयुका जितना काल निश्चित है उतना ही विद्यमान रहता है और उक्त वाह्य कारणोंके सन्निधान होनेपर कालके पूर्ण न होनेपर बीचमें ही मृत्यु हो जाती है यह विशेष है इसलिये अकालमृत्युका मानना सर्वथा युक्तियुक्त है। विशेष—

अत्रौपपादिकादीनां नापवर्त्यं कदाचन। सोपात्तमायुरीदृक्षाद्दृष्टसामर्थ्यसंगतेः ॥ १ ॥

सामर्थ्यतस्ततोऽन्येषामपवर्त्यं विषादिभिः। सिद्धं चिकित्सितादीनामन्यथा निष्फलत्वतः ॥ २ ॥

बाह्यप्रत्ययानपवर्तनीयमायुःकर्मप्राणिदयादिकारणविशेषोपार्जितं तादृशादृष्टं तस्य सामर्थ्यमुदयस्तस्य संगतिः संप्राप्तिस्ततो भवधारणमौपपादिकादीनामनपवर्त्यमिति सामर्थ्यादन्येषां संसारिणां तद्विपरीतादृष्टविशेषादपवर्त्यं जीवनं विषादिभिः सिद्धं। चिकित्सितादीनामन्यथा निष्फलत्वप्रसंगात्। नह्यप्राप्तकालस्य मरणाभावः खड्गप्रहारादिभिर्मरणस्य दर्शनात्। प्राप्तकालस्यैव तस्य तथा दर्शनमिति चेत कः पुनरसौ कालं प्राप्तोऽपमृत्युकालं वा प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता। द्वितीयपक्षे खड्गप्रहारादिनिरपेक्षत्वप्रसंगः, सकलवहिःकारणविशेषनिरपेक्षस्य मृत्युकारणस्य मृत्युकालव्यवस्थितेः। शस्त्रसंपातादि वहि-

रंगकारणान्वयव्यतिरेकानुविधायिनस्तस्यापमृत्युकालत्रोपपत्तेः । तदभावे पुनरायुर्वेदप्रामाण्याचिकित्सितादीनां क्व सामर्थ्योपयोगः । दुःखप्रतीकारादाविति चेत् तथैवापमृत्युप्रतीकारादौ तदुपयोगोऽस्तु तस्योभयथा दर्शनात् । नन्वायुःक्षयनिमित्तोऽपमृत्युः कथं केनचित्प्रतिक्रियते तर्ह्यसद्वेद्योदयनिमित्तं दुःखं कथं केनचित्प्रतिक्रियतां । सत्यप्यसद्योदयेऽतरंगे हेतौ दुःखं बहिरंगे वातादिविकारे तत्प्रतिपक्षौषधोपयोगोपनीते दुखस्यानुत्पत्तेः प्रतीकारः स्यादिति चेत् तर्हि सत्यपि कस्यचिदायुरुदयेऽतरंगे हेतौ बहिरंगे पथ्याहारादौ विच्छिन्ने जीवनस्याभावे प्रसक्ते तत्संपादनाय जीवनाधानमेवापमृत्योरस्तु प्रतीकारः। सत्यप्यायुषि जीवनस्याभावप्रसक्तौ कृतप्रणाशः स्यात् इति चेत् तर्हि सत्यप्यसद्वेद्योदये दुःखस्योपशमने कथं कृतप्रणाशो न भवेत् ? कटुकादिभेषजोपयोगजपीडामात्रं स्वफलं दत्त्वैवासद्वेद्यस्य निवृत्तेर्न कृतप्रणाशइति चेत, तर्ह्यायुषोऽपि जीवनमात्रं स्वफलं दत्त्वैव निवृत्तेः कृतप्रणाशो माभूत्। विशिष्टफलदानाभावस्तूभयत्र समानः। ततोऽस्ति कस्यचिदपमृत्युश्चिकित्सितादीनां सफलतान्यथानुपपत्तेः, कर्मणामयथाकालविपाकोपपत्तेश्चाम्रफलादिवत् । (श्लोकवार्तिक)

जीवदया आदि कारण विशेषोंसे संचित औपपादिक आदि जीवोंका आयुकर्म अनपवर्तनके योग्य अदृष्टकी सामर्थ्यसे है विष शस्त्र आदि बाह्य कारणोंसे असमयमें नष्ट नहीं हो सकता इसलिए अनपवर्त्य है और इनसे भिन्न समस्त संसारी जीवोंका आयुकर्म विष आदिके द्वारा अपवर्त्य है यह स्वतः सामर्थ्यसिद्ध है। यदि औपपादिक आदिसे भिन्न संसारी जीवोंकी अकालमृत्यु नहीं मानी जायगी तो जो रोगकी निवृत्तिकेलिए चिकित्सा आदि कार्य किए जाते हैं वे निष्फल माने जांयगे क्योंकि आयुका जितना समय निश्चित है उससे पहिले बीचमें तो मृत्यु होगी नहीं फिर इस आशासे कि यह रोगसे

मुक्त हो जी पडेगा, चिकित्सा कराना व्यर्थ है। निश्चित कालके भीतर मरण होता ही नहीं यह भी बात नहीं क्योंकि तलवार आदिसे मृत्यु होती दीख पडती है इसलिए अकालमृत्यु माननी पडेगी। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—

तलवार वा विष आदिके द्वारा जो मरण होता है वह कालप्राप्त ही मरण है अकालप्राप्त नहीं ? सो ठीक नहीं। क्योंकि वहांपर ये दो प्रश्न उठते हैं कि तलवार आदिसे जो मरण होता है वह, सामान्य रूपसे कालमें होता है कि मृत्युके कालमें होता है ? यदि कहा जायगा कि प्राप्तकालमें होता है तब जो बात सिद्ध है उसीको सिद्ध किया क्योंकि सामान्यरूपसे किसी न किसी कालमें अवश्य मरण होगा ही फिर तलवार आदिने क्या सिद्धि की। यदि यह कहा जायगा कि मृत्युके कालमें तलवार आदिसे मरण होता है तब तलवार आदिकी कोई अपेक्षा नहीं क्योंकि तलवार आदि वाह्य कारणविशेषोंसे निरपेक्ष (अंतरंग) मृत्युकारणसे ही मृत्युकालमें मरण हो सकता है, मृत्युकालमें मरणकेलिए तलवार आदि वाह्यकारणोंकी कोई आवश्यकता नहीं किंतु तलवार आदि वाह्यकारणोंका अन्वय व्यतिरेक अकाल मृत्युके साथ है अर्थात् तलवार आदिसे मरण होनेपर अकाल मृत्यु होती है और अकालमृत्युके अभावमें तलवार आदिसे मरण भी नहीं हो सकता। इसलिए जिससमय तलवार आदिसे मरण होगा वह समय अकालमृत्युका माना जायगा। तलवार आदिसे मरना प्रत्यक्ष सिद्ध है इसलिए अकालमृत्युका अभाव नहीं माना जा सकता। यदि अकालमृत्यु संसारमें न मानी जायगी तो आयुर्वेद संबंधी चिकित्साका अभाव मानना पडेगा क्योंकि अकालमृत्युकी रक्षार्थ आयुर्वेदसंबंधी चिकित्सा की जाती है जब अकालमृत्यु ही नहीं तब आयुर्वेदसंबंधी चिकित्सा निरर्थक है। यदि यहांपर यह कहा जायगा कि—

रोगजन्य क्लेशका अभाव करना ही उसका प्रयोजन है तब वहांपर भी यह कहा जा सकता है कि अकालमृत्युका दूर करना ही उसका प्रयोजन मान लेना चाहिये क्योंकि रोग जन्य दुःख और अकालमृत्युका अभाव दोनों ही कार्य चिकित्साके अनुभवमें आते हैं यदि कदाचित् फिर यहांपर यह शंका की जाय कि—

अकालमृत्यु आयुकर्मके क्षयकी कारण है इसलिये चिकित्सा आदिसे उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती तब वहां पर भी यह कहा जा सकता है कि दुःख भी असात वेदनीय कर्मके उदयका कार्य है इसलिये उसका भी चिकित्सा आदिसे प्रतीकार नहीं किया जा सकता। यदि यहांपर यह कहा जाय कि अंतरंग कारण असातवेदनीय कर्मका उदय और वहिरंग कारण बात पित्त आदिके विकारकी उपस्थितिमें दुःख होता है वात आदि विकारकी विरोधी औषाधियां प्रत्यक्षसिद्ध हैं इसलिये उन्हें उपयोगमें लानेपर दुःखकी उत्पत्ति न होनेके कारण उसका प्रतिकार है तो वहांपर भी यह कहा जा सकता है कि अंतरंग कारण आयुकर्मके उदयके रहनेपर और वहिरंग कारण पथ्य आहार आदिके विच्छेद हो जानेपर जीनेकी कोई आशा नहीं रहती उस जीवनकी रक्षार्थ चिकित्सासे जीवनका विद्यमान रखना ही अकालमृत्युका प्रातिकार है इसलिये चिकित्साके फलस्वरूप अकालमृत्युका निषेध नहीं किया जा सकता। यदि यहांपर फिर यह शंका की जाय कि—

आयु कर्मके विद्यमान रहते भी वीचमें ही यदि जीवनके अभावका प्रसंग (अकालमरण) माना जायगा तो कृतप्रणाश दोष अर्थात् अधिक आयुके उपार्जन करनेके लिये तथा सुख भोगनेके लिये जो जो कार्य किया जाता है उसके फलका नाश हो जायगा तब वहांपर भी यह कहा जा सकता है कि

असात् वेदनीय कर्मके विद्यमान रहते भी यदि चिकित्साके बीचमें ही दुःखका उपशम कर दिया जायगा तब भी कृतप्रणाशरूप दोष तदवस्थ है। यदि कदाचित् यहां यह कहा जाय कि—कडवी कसेली आदि औषधों के खानेपर कुछ क्लेश होता है वही क्लेश असात वेदनीय कर्मके उदयका फल है उस फलको देकर असातवेदनीय कर्मके नष्ट हो जानेपर कृतप्रणाश दोष नहीं हो सकता? तब वहांपर भी यह कहा कहा जा सकता है आयुका जीवनमात्र प्रदान करना यही फल है जबतक आयु रहे तबतक जीना यह फल नहीं बस उस जीवनरूप फलको प्रदानकर आयुकर्मके नष्ट हो जानेपर भी कृतप्रणाश दोष नहीं हो सकता। यदि आयुकर्मके किसी विशेष फलकी कल्पना की जायगी तो वह वेदनीय कर्ममें भी मानी जायगी इसलिये विशेष फलका अभाव ही समानरूपसे दोनोंमें मानना पडेगा। इसलिये यह बात सिद्ध हो चुकी कि जिसप्रकार आम आदि फलोंके पाल आदिके संबंधसे बीचमें ही विपाक दीख पडता है अन्यथा उसका पाल आदि लगाना व्यर्थ ही है उसीप्रकार चिकित्सा आदि कार्योंके देखनेसे किसी किसी मनुष्यकी अकालमृत्यु भी निश्चित है अन्यथा चिकित्सा आदिका कराना निष्फल है इसलिये अकालमृत्युका मानना प्रमाणसिद्ध है।

इसप्रकार श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिकालंकारकी भाषाटीकामें दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २ ॥

अथ तृतीयाध्यायः ।

सम्यग्दर्शन आदिके भेदसे मोक्षमार्ग तीन प्रकारका कहा गया है उनमें सबसे प्रथम उद्दिष्ट सम्यग्दर्शनका विषय प्रदर्शन करनेकेलिये जीव आदि पदार्थोंका उपदेश आवश्यक था इसलिये जीव आदि पदार्थोंका निर्देश किया गया । अब उन जीव आदि पदार्थोंके रहनेका स्थान वर्णन करना चाहिये वह स्थान लोक है अर्थात् जीव लोकके भीतर रहते हैं वह लोक अधोलोक मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकके भेदसे तीन प्रकारका है । उनमें क्रमप्राप्त सबसे पहले अधोलोकका वर्णन किया जाता है । अथवा—

जब तक मनुष्यको सुख सामग्री प्राप्त रहती है तब तक उसे दुःखदायी भी विषयभोगोंसे संसारमें वैराग्य नहीं होता किंतु जब दुःख भोगना पडता है उस समय उसे संसारके पदार्थोंसे एक दम संवेग हो जाता है और उससे सर्वथा संबंध छोडनेके लिए वह उद्यत हो जाता है । तीनों लोकोंमें नरकोंमें प्रचंड शीत और उष्णताके कारण तीव्र वेदना है । उसे सुन कर जीवोंको वैराग्य हो जाय और वे अपने आत्मकल्याणार्थ प्रवृत्त हो जांय इसलिये तीनों लोकोंमें सबसे पहले अधोलोकका वर्णन किया जाता है । अथवा—

'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणां' अर्थात् देव और नारकियोंके भवकारणक 'अवधिज्ञान' होता है,

यहांपर नारक शब्दका उल्लेख किया गया है वहांपर यह प्रश्न उठता है कि वे नारकी कौन हैं ? इसलिए नारकियोंके प्रतिपादनके लिये सबसे पहिले वे जहां पर रहते हैं उस स्थानका कथन किया जाता है—

रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभाभूमयो घनांबुवाताकाश-प्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ॥ १ ॥

रत्नप्रभा शर्कराप्रभा वालुकाप्रभा पंकप्रभा धूमप्रभा तमःप्रभा और महातमःप्रभा ये सात भूमियां हैं और क्रमसे एकके नीचे दूसरी दूसरीके नीचे तीसरी इस प्रकार नीचे नीचे तीन वातवलय और आकाशके आश्रय स्थिर हैं अर्थात् समस्त भूमियां घनोदधि वातवलयके आधार हैं। घनोदधिवातवलय घनवातवलयके आधार है। घनवातवलय तनुवातवलयके आधीन है तनुवातवलय आकाशके आधार है और आकाश अपना आधार आप है।

रत्नादीनामितरेतरयोगे द्वंद्वः ॥ १ ॥

रत्नं च शर्करा च वालुका च पंकश्च धूमश्च तमश्च महातमश्च रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहातमांसि, यह यहांपर रत्न शर्करा आदि शब्दोंका आपसमें इतरेतरयोग द्वंद्व समास है।

प्रभाशब्दस्य प्रत्येकं परिसमाप्तिर्भुजिवत् ॥ २ ॥

जिस तरह 'देवदत्त जिनदत्त और गुरुदत्त भोजन करें' यहांपर भुजि क्रियाका देवदत्त आदि सबके साथ संबंध है उसी प्रकार सूत्रमें जो प्रभा शब्द है उसका भी रत्न आदि सबोंके साथ संबंध है। उससे रत्नप्रभा शर्कराप्रभा वालुकाप्रभा धूमप्रभा तमःप्रभा और महातमःप्रभा इस प्रकार भूमियोंके नाम समझ लेना चाहिये।

साहचर्यात्ताच्छब्द्यसिद्धिर्यष्टिवत् ॥ ३ ॥

जिस तरह यष्टिसहचरित अर्थात् जिस पुरुषके हाथमें लकडी होती है उसे बुलाते समय लोग 'ओ लकडी' कह कर पुकारते हैं उसी प्रकार देवदत्तके पास लकडी देख कर देवदत्त यष्टि कह दिया जाता है और यह यष्टि है ऐसा व्यवहार होने लगता है उसी प्रकार चित्र १ वज्र २ वैडूर्य ३ लोहित ४ क्षेमसार ५ गल्व ६ गोमेद ७ प्रवाल ८ ज्योतिरस ९ अंजनमूल १० कांक ११ स्फटिक १२ चंदन १३ वर्वक १४ वकुल १५ और शिलामय १६ इन सोलह प्रकारके रत्नोंकी प्रभाके समान प्रभा होनेसे पहिली भूमिका नाम रत्नप्रभा है। शर्करा—शकरकीसी प्रभावाली होनेसे दूसरी भूमिका नाम शर्कराप्रभा है। वालूके समान प्रभावाली होनेसे तीसरी भूमिका नाम बालुकाप्रभा है। कीचडके समान प्रभावाली होनेसे चौथी पृथिवीका नाम पंकप्रभा है। धूवांके समान प्रभावाली होनेसे पांचवीं भूमिका नाम धूमप्रभा है। अंधकारके समान प्रभावाली होनेसे छठी पृथिवीका नाम तमःप्रभा है और वहल अंधकारके समान प्रभावाली होनेसे सातवीं भूमिका नाम महातमःप्रभा है। शंका—

तमःप्रभेति विरुद्धमिति चेन्न स्वात्मप्रभोपपत्तेः ॥ ४ ॥

तमका अर्थ अंधकार है और प्रभाका अर्थ प्रकाश है इसलिए शीत और उष्णके समान दोनों ही पदार्थ आपसमें विरोधी हैं। क्योंकि तमः प्रभा नहीं हो सकता और प्रभा तम नहीं कही जा सकती इस रीतिसे अंधकारके समान जिसकी प्रभा हो वह तमःप्रभा है यह कहना अयुक्त है। सो ठीक नहीं। प्रभाका अर्थ प्रकाश ही नहीं है किंतु द्रव्योंका निज स्वरूप भी प्रभा कहा जाता है इसीलिए मनुष्य आदिमें यह व्यवहार होता है कि अमुक मनुष्य चिकनी प्रभावाला है और अमुक मनुष्य रूखी प्रभा-

वाला है अर्थात् अमुक पुरुषका चेहरा सफेद कांतिवाला है और अमुकका चेहरा काली कांतिवाला है यहांपर काले मुखमें भी कांति व्यवहार होता है। इस रीतिसे जब तमकी भी प्रभा सिद्ध है तब जिसमें अंधकारकीसी प्रभा हो वह तमःप्रभा भूमि है यह अर्थ बाधित नहीं। शंका—

भेदे रूढिशब्दानामगमकत्वमवयवार्थाभावादिति चेन्न सूत्रस्य प्रातिपादनोपायत्वात् ॥ ५ ॥

अवयवोंके अर्थोंके भेदसे शब्दोंमें भेद माना जाता है। रूढि शब्दोंमें अवयवोंका अर्थ लिया नहीं जाता इसलिये उनका कोई भी भेदक न होनेसे रूढि शब्द आपसमें भिन्न नहीं हो सकते। रत्नप्रभा आदि शब्द भी रूढि हैं। अवयवोंका यहां भी अर्थ नहीं लिया जा सकता इसलिए इनका भी आपसमें भेद नहीं कहा जा सकता। सो ठीक नहीं। रत्नप्रभा आदि संज्ञाशब्दोंका भिन्न भिन्न रूपसे प्रतिपादन करनेवाला सूत्र मौजूद है अर्थात् शब्दकी शक्तिका ग्रहण व्याकरणसे वा उपमान वा कोश वा आप्त-वाक्य वा व्यवहार वा वाक्यशेष अथवा प्रयोजनके सन्निधानसे होता है। यहांपर रत्नप्रभा आदिके भेदका ज्ञापक सूत्र है। तथा सूत्रमें जिस रूपसे शब्दोंका गुंफन किया गया है उसका दूसरे दूसरे शब्द वा वाक्योंका संबंध कर उनके द्वारा भिन्न भिन्न रूपसे अर्थ हो जानेसे रत्नप्रभा आदिका भेद युक्तिसिद्ध है अर्थात् सूत्रमें जो रत्नप्रभा शब्द है वह प्रसिद्ध रत्नोंकी प्रभाके समान प्रभाका धारक होनेसे रत्नप्रभा अर्थका द्योतक है ऐसा दूसरे दूसरे शब्दोंके साथ संबंध हो जानेसे वह शेष छहों नरकोंसे भिन्न सिद्ध हो जाता है इसीतरह शर्कराप्रभा आदिमें भी समझ लेना चाहिये।

भूमिग्रहणमधिकरणविशेषप्रातिपत्त्यर्थं ॥ ६ ॥

जिस तरह स्वर्गपटल पृथिवीका रंचमात्र भी सहारा न लेकर अवस्थित हैं उसतरह नरक अव-

स्थित नहीं किंतु वे पृथिवीके सहारे ही टिके हुए हैं इस प्रकार नरकोंके आधारोंका ज्ञान करानेकेलिये सूत्रमें भूमि शब्दका उल्लेख किया गया है।

घनांब्वादिग्रहणं तदालंबननिर्ज्ञानार्थं ॥ ७ ॥

जो भूमि नरकोंका आलंबन बतलाई गई हैं उनका आलंबन क्या है? यह बात प्रगट करनेकेलिये सूत्रमें 'घनांबुवाताकाशप्रतिष्ठाः' इसशब्दका उल्लेख है। घनमेवांबु घनांबु, घनांबु च वातश्च आकाशं च 'घनांबुवाताकाशानि, तानि प्रतिष्ठा—आश्रयो यासां ताः 'घनांबुवाताकाशप्रतिष्ठाः' यह घनांबुवाताकाश प्रतिष्ठ शब्दका विग्रह है। सार अर्थ यह है कि—रत्नप्रभा आदि समस्त भूमियां घनोदधिवातवलयके आधार हैं। घनोदधिवातवलय घनवातवलयके आधार है। घनवातवलय तनुवातवलयके आधार है। तनुवातवलय आकाशके आधार है और आकाश स्वयं आधार और स्वयं आधेय है उसका कोई अन्य आधार नहीं इसलिये वह अपना आप आधार है।

अर्थात्—घनका अर्थ पुष्ट—सघन है और अंबुका अर्थ जल है जिस वायु मंडलमें सघन जल—उदधि हो वह घनोदधिवातवलय है। जिस वायुमंडलमें केवल सघनता हो वह घनवातवलय है और जो वायुमंडल मोटा न होकर सूक्ष्म हो वह तनुवातवलय है। इन तीनों वातवलयोंमें प्रत्येक बीस बीस हजार

१—वातश्च वातश्च वातौ यह यहांपर एक शेष समास मानी है एक शेष समासका यह नियम है कि समान अनेक शब्दोंमें एक ही शब्द अवशिष्ट रह जाता है अन्यका लोप हो जाता है इसलिये यहापर एक वात शब्दका लोप हो गया है इसलिये घनांबु वात शब्दसे यहापर घनोदधि वात और घनवात समझना चाहिये तथा घन शब्द सामान्य है वह तनुरूप विशेषकी आकांक्षा रखता है इसलिये वात शब्दसे यहा तनुवातका भी ग्रहण है इसप्रकार घनांबुवात शब्द घनोदधि वात घनवात और तनुवात इन तीन वातवलयोंका द्योतक है।

योजन मोटा है इसप्रकार मिलकर तीनो वातवलयोंकी मुटाई साठ हजार योजनकी है। इनमें घनोदधिवातवलयका रंग मूंगके समान है। घनवातका रंग गायके मूत्रके समान है और तनुवातका रंग अव्यक्त है—स्पष्टरूपसे नहीं कहा जा सकता।

रत्नप्रभाकी मुटाई एक लाख अस्सी हजार योजनकी है और उसके खरभाग पंकभाग और अब्बहुलभाग ये तीन भाग हैं। उनमें चित्र वज्र वैडूर्य आदि सोलह प्रकारके रत्नोंकी प्रभासे व्याप्त खर पृथ्वीभाग है वह सोलह हजार योजनका मोटा है "तथा चित्ररत्नकी प्रभासे व्याप्त चित्रा, बज्ररत्नकी प्रभासे व्याप्त वज्रा, वैडूर्यरत्नकी प्रभासे व्याप्त वैडूर्या इत्यादि भिन्न भिन्न सोलह प्रकारके रत्नोंसे व्याप्त चित्रा बज्रा आदि भिन्न भिन्न सोलह पृथिवियां हजार हजार योजन मोटी हैं।" उसके नीचेका पंकबहुलभाग चौरासी हजार योजनका मोटा है और उसके नीचेका अप् बहुलभाग अस्सी हजार योजनका मोटा है।

खरभागकी[1] ऊपर नीचेकी एक एक हजार योजन मोटी दो पृथिवियोंको छोडकर बीचकी चौदह हजार योजन मोटी (और एक राजू लंबी चौडी) चौदह पृथिवियोंमें किंनर किंपुरुष महोरग गंधर्व यक्ष भूत और पिशाच ये सात प्रकारके व्यंतर देवोंके तथा नागकुमार विद्युत्कुमार सुपर्णकुमार अग्निकुमार वातकुमार स्तनितकुमार उदधिकुमार द्वीपकुमार और दिक्कुमार इन नौ प्रकारके भवनवासी देवोंके निवास स्थान हैं। पंकबहुलभागमें असुरकुमार जातिके भवनवासी और राक्षसजातिके व्यंतरोंके

१—खरभाए पंकभाए भावणदेवाण होंति भवणाणि।
वितरदेवाण तहा दुण्ह पि य तिरियलोए वि ॥ १४५ ॥ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा पृष्ठ ८५

निवास स्थान हैं एवं अप् बहुलभागमें प्रथम नरकके बिले हैं जिनमें कि नारकी निवास करते हैं। इस प्रकार मिलकर रत्नप्रभा पृथिवीकी मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजनकी है। तथा शर्करा पृथिवीकी मुटाई बत्तीस हजार योजनकी है इसीप्रकार छठी पृथिवीपर्यंत नीचे नीचेकी पृथिवियोंकी मुटाई चार चार हजार योजन कम कम समझ लेना चाहिये अर्थात् तीसरी बालुका पृथिवीकी मुटाई अट्ठाईस हजार योजनकी है। चौथी पंकप्रभा पृथिवीकी चौवीस हजार योजनकी है। पांचवी धूमप्रभा पृथिवीकी वीस हजार योजनकी है और छठी तमःप्रभा पृथिवीकी सोलह हजार योजनकी मुटाई है तथा उसके आगे सातवीं महातमःप्रभा पृथिवी है उसकी मुटाई आठ-योजनकी है। समस्त पृथिवियोंका तिरछा अंतर असंख्यात कोडाकोडि योजनका है—अर्थात् एक एक राजूका अंतराल प्रत्येक नरकका है।)

यहां इतनी बात और भी समझ लेनी चाहिये कि नरकोंका प्रमाण सात राजूमें[1] कहा है। वहां चित्रा पृथिवीके अधोभागसे दूसरे नरकका अंतर एक राजू है। दूसरेसे एक राजू तीसरेका, तीसरेसे एक राजू चौथेका, चौथेसे एक राजू पांचवेंका, पांचवेंसे एक राजू छठेका और छठेसे एक राजू सातवेंका है इस प्रकार छह राजुओंमें तो नरक हैं और सातवें नरकसे एक राजू पाताल है इन सातों पृथिवियोंकी लंबाई चौडाई लोकके अंतपर्यंत जाननी।

सप्तग्रहणमियत्तावधारणार्थं ॥ ८ ॥

नरकोंकी आधार भूमियां सात ही हैं आठ वा छह नहीं हैं इस प्रकार अधिक और न्यून संख्याकी

१—मेरुस्स हिट्ठभाए सत्तवि रज्जू हवे अहो लोओ।
उड्ढम्हि उड्ढलोओ मेरुसमो मज्झिमो लोओ ॥ १२० ॥ स्वामि० अ० पृष्ठ ७०

अवधिज्ञानकी उत्पत्तिमें भी अंतरंग कारण क्षयोपशम है। वह जैसा जैसा तीव्र मंदभावसे रहता है वैसा वैसा कम अधिक अवधिज्ञान होता है। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि जब भवनिमित्तक अवधिज्ञानमें भी कर्मोंका क्षयोपशम ही कारण है तब उसकी उत्पत्तिमें भवको कारण मानना व्यर्थ है ? सो ठीक नहीं। जिसतरह तिर्यंच और मनुष्योंके अवधिज्ञानमें अहिंसादिक व्रत नियम कारण हैं उसीप्रकार देव और नारकियोंके अवधिज्ञानमें अहिंसादिक व्रत नियम कारण नहीं किंतु देवगति और नरकगतिमें उत्पन्न होनेके साथ ही आपसे आप वहां अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके अनुकूल कर्मोंका क्षयोपशम हो जाता है इसलिये वहां पर जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है उसमें बाह्य कारण भव ही है। शंका—

अविशेषात् सर्वप्रसंग इति चेन्न सम्यगधिकारात् ॥ ५ ॥

भवकारणक अवधि देव और नारकियोंके होता है यह सामान्य कथन है। देवगति और नरकगतिमें सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों प्रकारके नारकी रहते हैं इसलिए मिथ्यादृष्टियोंके भी अवधिज्ञानका विधान सिद्ध होनेसे उनके भी अवधिज्ञान कहना होगा ? क्योंकि भव दोनोंके समान कारण उपस्थित है। सो नहीं। भवप्रत्ययोवधिरित्यादि सूत्रके लिए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका अधिकार है क्योंकि पांचों सम्यग्ज्ञानोंका ही विवेचन क्रमसे किया जा रहा है वह भी मोक्ष मार्ग प्रकरण होनेसे सिद्ध है इसलिए सम्यग्दृष्टी देव नारकियोंके ही अवधिज्ञान हो सकता है मिथ्यादृष्टिके नहीं, उनके विभंग होता है। अथवा इसी अध्यायमें आगे "मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च" मति श्रुत और अवधिज्ञान ये विपरीत ज्ञान भी होते हैं, यह कहा गया है उस संबंधसे सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टी देवों के ही अवधिज्ञान होता है मिथ्यादृष्टियोंके अवधिज्ञान नहीं होता किंतु विभंगावधिज्ञान ही होता है। अथवा

'व्याख्यानाद्विशेषप्रतिपत्तिः' शास्त्रोंमें जैसा वर्णन रहता है उसीके अनुकूल पदार्थ विशेषोंका ज्ञान होता है। शास्त्रोंमें अवधिज्ञान सम्यग्दृष्टियोंके ही कहा है। मिथ्यादृष्टियोंके नहीं इसलिए मिथ्यादृष्टि देव और नारकियोंके अवधिज्ञानका विधान नहीं माना जा सकता। शंका—

आगमे प्रसिद्धेर्नारकशब्दस्य पूर्वनिपात इति चेन्नोभयलक्षणप्राप्तत्वाद्देवशब्दस्य ॥ ६ ॥

जीव आदिके निरूपण करते समय, सत् संख्या आदिके निरूपण करते समय वा अनुयोगके कथन करने पर देवोंकी अपेक्षा नारकियोंका पहिले वर्णन किया है इसलिए 'भवप्रत्ययोवधिः' इत्यादि सूत्रमें भी नारकियोंका ही देवोंसे पहिले उल्लेख करना उचित है? सो नहीं। जिस शब्दमें थोड़े स्वर होते हैं और जो उत्तम होत है उसका पहिले उल्लेख किया जाता है यह व्याकरणका सर्वमान्य सिद्धांत है। नारककी अपेक्षा देव शब्दमें थोड़े स्वर हैं और उसकी अपेक्षा देव शब्द उत्तम भी है इसलिए नारक और देव शब्दोंमें देवका ही पहिले उलेख होगा नारक शब्दका नहीं हो सकता। तथा शास्त्रमें जीव स्थान आदि प्ररूपणाओंमें नारकियोंका पहिले वर्णन है और देवोंका पीछे है इसलिए सूत्रमें देव शब्दका पहिले उलेख न कर नारक शब्दका ही करना चाहिए यह युक्ति भी अनियमित है क्योंकि जिसका शास्त्रमें पहिले वर्णन है उसका जहां कहीं भी उलेख किया जाय वहां सबसे पहिले उलेख करना चाहिए यह कोई नियम नहीं। बहुतसे शब्दोंका शास्त्रोंमें पहिले वर्णन है और उनका पीछे प्रयोग होता दीख पडता है इसलिए पूर्वोक्त व्याकरणके नियमानुसार नारक और देव शब्दोंमें देव शब्दका ही पूर्व उलेख न्यायप्राप्त है।

तीव्र और मंद रूपसे जैसा जैसा क्षयोपशम होता है उसीकी अपेक्षा अवधिज्ञान भी हीन और

अधिक रूपसे वा उत्कृष्ट और जघन्य रूपसे होता है यह ऊपर कहा जा चुका है उसका विस्तृत वर्णन इस प्रकार है—भवनवासी व्यंतर ज्योतिषी और वैमानिक ये देवोंके चार भेद हैं उनमें दश[1]प्रकारके भवनवासियोंके जघन्य अवधि ज्ञानका विषय पच्चीस योजन प्रमाण है अर्थात् जघन्य अवधि ज्ञानके धारक दशों प्रकारके भवनवासी अवधिज्ञानसे पच्चीस योजनसे अधिक नहीं जान सकते। भवनवासी निकायके भेद असुरकुमार देवोंके उत्कृष्ट अवधिज्ञानका विषय नीचेकी ओर असंख्यात कोडाकोडी योजन प्रमाण है और ऊपरकी ओर ऋजु[2]विमानकी चोटी तक है। नागकुमार आदि नौ प्रकारके भवनवासियोंके उत्कृष्ट अवधिज्ञानका विषय नीचेकी ओर असंख्यात हजार योजन प्रमाण है। ऊपरकी ओर मेरु पर्वतकी चोटी तक है और तिरछा असंख्यात हजार योजन प्रमाण है।

किंनर किंपुरुष महोरग गंधर्व यक्ष राक्षस भूत और पिशाचके भेदसे व्यंतर आठ प्रकारके हैं। आठों ही प्रकारके व्यंतरोंका जघन्य अवधिका विषय पच्चीस योजन प्रमाण है। तथा उत्कृष्ट नीचेकी ओर असंख्यात हजार योजन है ऊपरकी ओर अपने अपने विमानोंकी चोटी तक है और तिरछा असंख्यात कोडा कोडी योजन है। ज्योतिषी देवोंका जघन्य अवधिज्ञान नीचे संख्यात योजन प्रमाण है उत्कृष्ट—असंख्यात हजार योजन प्रमाण है। ऊपर अपने विमानकी चोटी तक है। तिरछा असंख्यात कोडाकोडी योजन प्रमाण है।

१—भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः। असुरकुमार १ नागकुमार २ विद्युत्कुमार ३ सुपर्णकुमार ४ अग्निकुमार ५ वातकुमार ६ स्तनितकुमार ७ उदधिकुमार ८ द्वीपकुमार ९ और दिक्कुमार १० ये दश प्रकारके भवनवासी देव हैं तत्त्वार्थ सूत्र अ० ४ सू० १०। २—प्रथम सौधर्मस्वर्गका विमान।

सौधर्म आदि ऊर्ध्व लोकके निवास स्थानोंका नाम विमान है उन विमानोंमें रहने वाले देव वैमानिक कहे जाते हैं। उनमें सौधर्म और ऐशान स्वर्गवासी देवोंके जघन्य अवधिज्ञानका विषय ज्योतिषियोंके उत्कृष्ट अवधिज्ञानका जितना विषय है उतना है उत्कृष्ट अवधिज्ञानका विषय रत्नप्रभाके अंतपर्यंत है। सानत्कुमार और माहेंद्र स्वर्गवासी देवोंके जघन्य अवधिज्ञानका विषय रत्नप्रभाके अंततक है और उत्कृष्ट शर्कराप्रभाके अंतपर्यंत है। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लांतव और कापिष्ठ स्वर्गवासी देवोंके जघन्य अवधिज्ञानका विषय शर्कराप्रभाके अंतपर्यंत है और उत्कृष्ट वालुकाप्रभाके अंतपर्यंत है। शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रार स्वर्गवासी देवोंके जघन्य अवधिज्ञानका विषय वालुकाप्रभाके अंतपर्यंत है और उत्कृष्ट पंकप्रभाके अंतपर्यंत है। आनत प्राणत आरण और अच्युत स्वर्गवासी देवोंके जघन्य अवधिज्ञानका विषय पंकप्रभाके अंतपर्यंत है और उत्कृष्ट धूमप्रभाके अंतपर्यंत है। नौ ग्रैवेयकोंके जघन्य अवधिज्ञानका विषय धूमप्रभाके अंतपर्यंत है और उत्कृष्ट तमःप्रभाके अंतपर्यंत है और नव अनुदिश एवं पांच अनुत्तरविमानवासी देवोंके अवधिज्ञानका विषय लोकनाडी पर्यंत है। तथा सौधर्मस्वर्गवासी देवोंको आदि लेकर अनुत्तरपर्यंत रहनेवाले देवोंके ऊपरका अवधिज्ञानका विषय अपने अपने विमानकी चोटी पर्यंत है और तिरछा असंख्यात कोडाकोडी योजन है। अर्थात् ऊपर नीचे और तिरछा जो भी जघन्य और उत्कृष्ट भेद विशिष्ट अवधिज्ञानका विषय बतलाया गया है वहीं तक अवधिज्ञानसे पदार्थ जाने जा सकते हैं उससे आगेके नहीं। यह क्षेत्रकी अपेक्षा अवधिज्ञानका विषय विभाग कहा गया है अब काल द्रव्य और भावकी अपेक्षा इस प्रकार है—

अवधिज्ञान जितने क्षेत्रका विषय करता है और उसमें जितने आकाशके प्रदेशोंका प्रमाण रहता है

उतने ही संख्या प्रमाण भूत भविष्यत् वर्तमान त्रिकालवर्ती समयोंको अवधिज्ञान विषय करता है। क्षेत्रके प्रदेशोंकी संख्या प्रमाण ही असंख्यात भेदवाले अनंत प्रदेशोंके धारक पुद्गल स्कंधोंको विषय करता है और उतनी ही संख्या प्रमाण कर्म सहित जीवोंको विषय करता है। यह काल और द्रव्य की अपेक्षा अवधिज्ञानके विषयका निरूपण है तथा भावकी अपेक्षा अपने विषयभूत पुद्गल स्कंधोंके रूप आदि भेदोंको एवं जावके परिणाम स्वरूप औदयिक औपशमिक और क्षायोपशमिकको भी विषय करता है। यहांपर यह शंका नहीं करनी चाहिये कि अवधिज्ञानका विषय मूर्तिक पदार्थ है वह अमूर्तिक जीव वा उसके परिणामोंको कैसे जान सकता है? क्योंकि कर्म सहित जीवको वा कर्मके विकारस्वरूप उसके परिणामोंको संसारावस्थामें पानी और दूधके समान एकम एक होनेसे पौद्गलिक—मूर्तिक ही माना है। मूर्तिकको अवधिज्ञान विषय करता ही है इसलिये कोई दोष नहीं। ऊपर लिखे अनुसार नीचेकी ओर ऊपरकी ओर तिरछा इसप्रकार तीनों ओर द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा देवोंमें अवधिज्ञानके विषयका निरूपण कर दिया गया। अब नारकियोंमें तीनों भागोंकी अपेक्षा अवधिज्ञानके विषयका निरूपण किया जाता है—

नारकियोंमें योजन प्रमाण अवधिज्ञान सातवें नरकमें है आधा कोश घटते घटते पहले नरकमें एक कोश प्रमाण रह जाता है। रत्नप्रभा पहिली पृथिवीमें नीचेकी ओर अवधिज्ञानका विषय एक योजन प्रमाण है—एक योजनसे आगेके पदार्थोंको अवधिज्ञान नहीं जान सकता। दूसरी शर्करा पृथिवी

१। 'पणुवीस जोइणाइं' इस ४२५ की गाथासे लेकर अवधिज्ञान प्ररूपणाके अंततक अच्छीतरह गोम्मटसारजीमें इस विषयका वर्णन है।

में नीचेकी ओर अवधिज्ञानका विषय साढे तीन (गंव्यूति) कोस है । तीसरी बालुका प्रभा पृथिवीमें तीन कोस है । चौथी पंकप्रभामें ढाई कोस, पांचवीं धूमप्रभामें दो कोस, छठी तमः प्रभामें डेढ कोस और सातवीं महातमःप्रभामें अवधिज्ञानका विषय नीचेकी और एक कोस है । तथा रत्नप्रभा आदि सब पृथिवियोंके नारकियोंका ऊपरकी ओर अवधिज्ञानका विषय अपने अपने रहनेके बिलोंकी चोटी तक है उससे ऊपरके पदार्थोंको वह विषय नहीं करता और नारकियोंके अवधिज्ञानका तिरछी ओर विषय असंख्यात कोडाकोडी योजन प्रमाण है यह क्षेत्रकी अपेक्षा नारकियोंके अवधिज्ञानका विषय कहा गया है । काल द्रव्य और भावकी अपेक्षा पाहिलेके समान समझ लेना चाहिये अर्थात् नारकियोंका अवधिज्ञान जितने क्षेत्रको विषय करता है और उस क्षेत्रमें जितनी संख्याप्रमाण आकाशके प्रदेश रहते हैं उतनी ही संख्याप्रमाण काल द्रव्य भूत भविष्यत् वर्तमान कालके समय अवधिज्ञानके विषय होते हैं तथा उतनी ही संख्याप्रमाण संख्यात भेद अनंत प्रदेशोंके धारक पुद्गलस्कंध उसके विषय होते हैं और उतनी ही संख्याप्रमाण कर्मविशिष्ट जीव उनके अवधिज्ञानके विषय होते हैं तथा भावकी अपेक्षा अपने

१ । अमरकोष आदिमें गव्यूति शब्दका अर्थ दो कोस ग्रहण किया है परन्तु यहा पर उसका एक कोस ही अर्थ ग्रहण करना चाहिये । गोम्मटसारजीमें भी कोसके हिसाबसे ही नारकियोंके नीचेकी ओर अवधिज्ञानका विषय बतलाया है । यथा—

सत्तमखिदिम्मि कोसं कोसस्सद्धं पवड्ढदे ताव ।

जावय पढमे निरये जोयणमेक्क हवे पुण्णं ॥ ४२३ ॥

सातमी भूमिमें अवधिज्ञानके विषयभूत क्षेत्रका प्रमाण एक कोस है इसके ऊपर आध आध कोसकी वृद्धि तब तक होती है जब तक कि प्रथम नरकमें अवधिज्ञानके विषयभूत क्षेत्रका प्रमाण पूर्ण एक योजन हो जाता है ।

विषय भूत पुद्गलस्कंधोंके रूप आदि भेदोंको और जीवोंके परिणामस्वरूप औदयिक औपशमिक और क्षायोपशमिक भावोंको नारकियोंका अवधिज्ञान विषय करता है। इसप्रकार भवप्रत्यय अवधिज्ञानका निरूपण हो चुका ॥ २१ ॥

यदि भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियोंके होता है तो क्षयोपशमकारणक अवधिज्ञान किनके होता है ? इस विषयमें सूत्रकार कहते हैं—

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणां ॥ २२ ॥

देव और नारकियोंसे अवशिष्ट मनुष्य और तिर्यंचोंके जो अवधिज्ञान होता है वह कर्मोंके क्षयोपशमसे होता है और उसके अनुगामी अननुगामी आदि छह भेद हैं। सूत्रमें जो क्षयोपशम शब्द है उसका अर्थ इसप्रकार है—

अवधिज्ञानावरण कर्मके देशघाती स्पर्धकोंका उदय सर्वघाती स्पर्धकोंका उदयाभावी[1] क्षय और आगामी कालमें उदय आनेवाले सर्वघाती स्पर्धकोंका सदवस्थारूप उपशम ऐसी कर्मकी अवस्थाका नाम क्षयोपशम है। इस कर्मोंके क्षयोपशमसे जायमान अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यंचोंके होता है। विशेष—

शक्तिके जिस अंशका विभाग न हो सके उस अविभागी अंशका नाम अविभाग प्रतिच्छेद है। समान अविभाग प्रतिच्छेदोंके धारक प्रत्येक कर्मपरमाणुका नाम वर्ग है। वर्गोंके समूहको वर्गणा कहते हैं

१—जो कर्म विना फल दिये खिर जाय उसे उदयाभावी क्षय कहते हैं।

और वर्गणाओंका समूह स्पर्धक कहा जाता है। वह स्पर्धक दो प्रकारका है एक देशघाती स्पर्धक दूसरा सर्वघाती स्पर्धक। जो गुणके एक देशको घाते वह देशघाती स्पर्धक है और जो सर्वदेशको घाते वह सर्वघाती स्पर्धक कहा जाता है तथा स्थितिको पूरीकर फल देना उदय है। विना ही फल दिये आत्मासे कर्मके संबंधका छूट जाना उदयाभावी क्षय है और वर्तमान समयको छोडकर आगामी काल में उदय आनेवाले कर्मोंका जो सत्तामें रहना है वह सदवस्थारूप उपशम कहा जाता है। अनंतानुबंधी क्रोध मान माया और लोभ ये चार प्रकृतियां चारित्र मोहनीयकी एवं सम्यक् प्रकृति, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व ये तीन प्रकृतियां दर्शनमोहनीयकी इसतरह ये सात प्रकृतियां सम्यक्त्व गुणकी विरोधी हैं। इन सातोंमें क्रोधादिका अर्थ स्पष्ट है। तथा जिस कर्मके उदयसे सम्यक्त्व गुणका मूल घात तो हो नहीं किंतु चल मल अगाढ आदि दोष उत्पन्न हो जांय वह सम्यक्त्व प्रकृति है। जिस कर्मके उदयसे जीवके अतत्त्व श्रद्धान हो वह मिथ्यात्व प्रकृति है और जिस कर्मके उदयसे ऐसे मिले हुए परिणाम हों जिन्हें न सम्यक्त्वरूप कह सकें और न मिथ्यात्वरूप कह सकें वह सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृति है। उपर्युक्त सात प्रकृतियोंमें अनंतानुबंधी—क्रोध मान माया लोभ, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व ये छह प्रकृतियां सर्वघाती हैं क्योंकि इनसे गुणके सर्वदेशका घात होता है और सम्यक्त्व प्रकृति देशघाती है क्योंकि वह गुणके अंशको घातती है अर्थात् उसके उदय रहनेपर गुणका घात नहीं होता किंतु वह कुछ दोष-युक्त बन जाता है। इस रीतिसे जहांपर अवधिज्ञानावरण कर्मके देशघाती स्पर्धक सम्यक् प्रकृतिका तो उदय—स्थिति पूरी हो जानेपर फल देकर खिर जाना रहे, उक्त क्रोध आदि छह प्रकृतियोंके स्पर्धकोंका उदयाभावी क्षय—विना ही फल दिए खिर जाना, रहे और आगामी कालमें उदय आनेवाले सर्वघाती

स्पर्धकोंका सदवस्थारूप उपशम—सत्तामें रहना हो वह क्षयोपशम है। यह क्षयोपशम शब्दका स्पष्ट अर्थ हुआ। शंका—

शेषग्रहणादविशेषप्रसंग इति चेन्न तत्सामर्थ्यविरहात् ॥ १ ॥

यथोक्तनिमित्तसंनिधाने सति शांतक्षीणकर्मणां तस्योपलब्धेः ॥ २ ॥

सूत्रमें जो शेष शब्द है उसका 'देव और नारकियोंसे जो अन्य हैं वे शेष हैं' यह अर्थ लिया गया है। देव और नारकियोंसे तो सब तिर्यंच और मनुष्य भिन्न हैं इसलिये सभी तिर्यंच और मनुष्योंके अवधिज्ञान होना चाहिये परन्तु सबके होता नहीं इसलिये शेष शब्दका ग्रहण व्यर्थ है ? सो ठीक नहीं। जिनके (तिर्यंच और मनुष्योंमें) अवधिज्ञानके होनेकी सामर्थ्य है उन्हींके अवधिज्ञान होता है सबके नहीं जो जीव असंज्ञी—मनरहित और अपर्याप्त—पर्याप्तियोंकी परिपूर्णतारहित हैं उनके अवधिज्ञानके प्राप्त करनेकी सामर्थ्य नहीं। तथा संज्ञी—मनसहित और पर्याप्त जीवोंमें भी हर एकके अवधिज्ञानकी प्राप्ति की योग्यता नहीं किंतु सम्यग्दर्शन आदि पूर्वोक्त कारणोंके विद्यमान रहते जिनके अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम है उन्हींके अवधिज्ञान होता है। प्रत्येक तिर्यंच वा मनुष्यके अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होता नहीं इसलिये सबके अवधिज्ञान नहीं हो सकता। शंका—ऊपर भवकारणक अवधिज्ञानमें भी क्षयोपशमको कारण कह आए हैं इसलिये जब सर्वत्र अवधिज्ञान क्षयोपशमकारणक ही है—विना क्षयोपशमके नहीं हो सकता तब देव नारकियोंसे भिन्न शेषोंके अवधिज्ञान क्षयोपशमसे होता है यह कहना व्यर्थ है ? उत्तर—

सर्वस्य क्षयोपशमनिमित्तत्वे तद्वचनं नियमार्थमब्भक्षवत् ॥ ३ ॥

जिस तरह जलके पीनेवाले सभी व्यक्ति हैं परन्तु जिसके लिये खासरूपसे यह कहा जाता है कि यह जलका पीनेवाला है वहांपर अनायास ही यह नियम बन जाता है कि 'यह केवल जल ही पीता है' और कोई चीज नहीं खाता पीता अन्यथा उसके लिये 'यह जलका पीनेवाला है' यह प्रयोग व्यर्थ ही है। उसीप्रकार जब सब जीवोंके क्षयोपशमकारणक अवधिज्ञानकी प्राप्ति संभव है तब देव नारकियोंसे अन्य शेषोंके वह क्षयोपशम निमित्तसे होता है यहांपर भी वह अनायास ही नियमसिद्ध हो जाता है कि शेषोंके क्षयोपशमनिमित्तक ही अवधिज्ञान होता है भवनिमित्तक अवधिज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये शेषोंके क्षयोपशमजनित ही अवधिज्ञान होता है इस नियमके लिये उनके क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञानका उल्लेख करना व्यर्थ नहीं।

अनुगाम्यननुगामिवर्धमानहीयमानावस्थितानवस्थितभेदात्षड्विधः ॥ ४ ॥

अनुगामी १ अननुगामी २ वर्धमान ३ हीयमान ४ अवस्थित ५ और अनवस्थितके ६ भेदसे अवधिज्ञान छै प्रकारका है। जिसप्रकार सूर्यका प्रकाश सूर्यके पीछे पीछे चलता है उसीतरह जो अवधिज्ञान जहां आत्मा जाय उसके साथ जाय वह अनुगामी है। सामने खडे हुए प्रश्नकर्ताको उत्तर देनेवाले पुरुषके वचनोंके समान जो अवधिज्ञान वहांका वहीं रह जाय—आत्माके साथ न जाय, वह अननुगामी नामका अवधिज्ञानका भेद है। जिसतरह आपसमें वांसोंके घिस जानेसे उत्पन्न सूखे पत्तोंके ढेरमें लग जानेवाली अग्नि उत्तरोत्तर वढती ही चली जाती है उसीप्रकार जो अवधिज्ञान सम्यग्दर्शन आदि गुणोंकी विशुद्धता रहने पर जितना उत्पन्न हुआ है उससे उत्तरोत्तर असंख्यात लोक प्रमाण वढता ही चला जाय वह वर्धमान

नामका अवधिज्ञानका भेद है। जिसतरह इंधन ज्यों ज्यों समाप्त होता जाता है आग्निकी शिखा भी त्यों त्यों कम होती चली जाती है उसी तरह जो अवधिज्ञान सम्यग्दर्शन गुणकी हीनता और संक्लेश परिणामोंकी वढवारीसे जितना उत्पन्न हुआ था उससे अंगुलके असंख्यातवे भाग पर्यंत कमता चला जाता है वह हीयमान नामका अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान सम्यग्दर्शन आदि गुणोंकी समीपतासे जितने परिमाणसे उत्पन्न हुआ है उतना ही संसारका नाश वा केवलज्ञानकी उत्पत्ति पर्यंत रहता है लिंगके समान—जिसप्रकार शरीरमें तिल वगैरह चिन्ह न्यूनाधिकतारहित तदवस्थ रहते हैं उसीप्रकार जो अवधिज्ञान घटता वढता नहीं, वह अवस्थित नामका अवधिज्ञान है। और जो अवधिज्ञान सम्यग्दर्शन आदि गुणोंकी वृद्धिसे जितना वह वढ सके उतना वढता चला जाता है और उन गुणोंकी हानिसे जितना घट सके उतना घटता चला जाता है वह अनवस्थित नामका अवधिज्ञान है। इस प्रकार यह छह प्रकारका अवधिज्ञान है।

पुनरपरेऽवधेस्त्रयो भेदा देशावधिः परमावधिः सर्वावधिश्चेति ॥ ५ ॥

देशावधि परमावधि और सर्वावधि ये भी तीन भेद अवधिज्ञानके हैं। जघन्य, उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्टके भेदसे देशावधि तीनप्रकारका है। परमावधिके भी जघन्य, उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्ट ये तीन भेद हैं। सर्वावधिका कोई भेद हो नहीं सकता इसलिये वह एकही प्रकारका है। जघन्य देशावधि उत्सेध अंगुलके असंख्यातवे भाग क्षेत्रको विषय करता है। उत्कृष्ट देशावधि समस्त लोकके क्षेत्रको विषय करता है और जो जघन्य देशावधि और उत्कृष्ट देशावधिके क्षेत्रको विषय न कर वीचके क्षेत्रको विषय करनेवाला है वह अजघन्योत्कृष्ट अवधि है और उसके संख्याते भेद हैं। जघन्य परमावधि

का विषय एक प्रदेश अधिक लोकका क्षेत्र है। उत्कृष्ट परमावधिका विषय असंख्यातलोक क्षेत्र प्रमाण है और जघन्य परमावधि और उत्कृष्ट परमावधिसे भिन्न वीचके क्षेत्रको विषय करनेवाला अजघन्यो-त्कृष्ट परमावधि है इसके भी संख्याते भेद हैं। तथा उत्कृष्ट परमावधिके विषयभूत क्षेत्रसे वाहिर असं-ख्यात क्षेत्र प्रमाण सर्वावधिका विषय है।

वर्धमान १ हीयमान २ अवस्थित ३ अनवस्थित ४ अनुगामी ५ अननुगामी ६ प्रतिपाती ७ अप्र-तिपाती ८ ये आठ भेद देशावधि अवधिज्ञानके हैं। वर्धमान १ अवस्थित २ अनवस्थित ३ अनुगामी ४ अननुगामी ५ और अप्रतिपाति ये छह भेद परमावधिके हैं एवं अवस्थित १ अनुगामी २ अननुगामी ३ और अप्रतिपाति ४ ये चार भेद सर्वावधि नामके अवधिज्ञानके हैं। यहांपर आदिके वर्धमान आदिका अर्थ तो जो उपर कहा है वही समझना चाहिये और विजलीके प्रकाशके समान जो विनाशीक हो वह प्रतिपाती है एवं जो इससे विपरीत हो वह अप्रतिपाति है। देशावधि आदिके द्रव्य क्षेत्र काल भावका निरूपण इसप्रकार है—

सर्वजघन्य देशावधिका क्षेत्र उत्सेध अंगुलका असंख्यातवां भाग है, काल आवलीका असंख्या-तवां भाग है, अंगुलके असंख्यातवें भाग क्षेत्रमें जितने प्रदेश हैं उतने प्रदेश प्रमाण उसका द्रव्य है।

---

१ पहिले अनुगामी अननुगामी आदि छह भेद कहे हैं और यहां प्रतिपाती और अप्रतिपाती मिला कर आठ भेद माने हैं इसलिये पूर्वापर विरोध आता है परंतु प्रतिपाती और अप्रतिपातीका अनुगामी अननुगामीमें ही अंतर्भाव होनेसे कोई दोष नहीं है क्योंकि अनुगामीका अर्थ 'साथ जाना है' वही अप्रतिपातीका है। अननुगामीका अर्थ 'साथ नहीं जाना है' वही प्रतिपातीका है। [प्र]तिपाती छूटनेको और अप्रतिपाती नहीं छूटनेको कहते हैं। २ असंख्यात समयकी एक आवली होती है।

उस द्रव्य प्रमाण अनंत प्रदेशोंके धारक असंख्यात स्कंधोंको सर्व जघन्य देशावधिज्ञान जानता है तथा जितने प्रमाण स्कंधोंको देशावधि विषय करता है उन स्कंधोंमें रहनेवाले अनंते रूप रस गंध आदि उसका भाव विषय है। इतने प्रमाण भावमें सर्व जघन्य देशावधि ज्ञानकी प्रवृत्ति है। देशावधि ज्ञानकी प्रवृत्तिका वर्णन इस प्रकार है—

देशावधिके एक प्रदेश अधिक क्षेत्रकी वृद्धि एक जीवकी अपेक्षा नहीं है किंतु नाना जीवोंकी अपेक्षा सर्वलोकपर्यंत एक प्रदेश अधिक क्षेत्रकी वृद्धि है। एक जीवकी अपेक्षा तो विशुद्धता होने पर मंडूकप्लुति[1] न्यायसे सर्व लोकपर्यंत अंगुलके असंख्यातवें भागसे ऊपर एक दम अंगुलके असंख्यात भाग क्षेत्र वृद्धि मानी है तथा नाना जीवोंकी अपेक्षा जो एक प्रदेश अधिक क्षेत्र वृद्धि मानी है वह वहीं तक ही होती है जब तक कि अंगुलका असंख्यातवां भाग समाप्त नहीं होता। उसके आगे नहीं होती। एक जीव वा नाना जीवोंकी अपेक्षा देशावधिकी काल वृद्धि भी जब तक आवलीका असंख्यातवां भाग पूरा न हो तब तक मूल आवलीके असंख्यातवें भागसे कहीं एक समय अधिक, कहीं दो समय अधिक, कहीं संख्यात समय अधिक, और कहीं असंख्यात समय अधिक मानी है। किंतु आवलीके असंख्यातवें भागसे ऊपर देशावधिकी काल वृद्धि नहीं मानी तो इसप्रकारकी क्षेत्र वृद्धि और काल वृद्धि किस प्रकारकी वृद्धिसे होती है? उत्तर—चार प्रकारकी वृद्धिसे—संख्यातभाग वृद्धि १ असंख्यातभाग वृद्धि २ संख्यातगुण वृद्धि ३ असंख्यातगुण वृद्धि ४ इन चार प्रकारकी वृद्धियोंसे ली गई है तथा

१—जिसतरह मैढक कूद कर चलता है क्रम क्रमसे नहीं जाता उसी प्रकार एक जीवकी अपेक्षा जो क्षेत्र वृद्धि मानी है वह एक दम अंगुलके असंख्यातवें भागसे अंगुलके असंख्यातवें भाग मानी है एक प्रदेश दो प्रदेश आदि क्रमसे नहीं मानी।

द्रव्यकी वृद्धि भी इन चार वृद्धियोंसे ली गई है किंतु भाववृद्धिका अनंतभाग वृद्धि असंख्यातभाग वृद्धि संख्यातभाग वृद्धि संख्यातगुण वृद्धि असंख्यातगुण वृद्धि और अनंतगुण वृद्धि छहों प्रकारकी वृद्धिसे ग्रहण है इस प्रकार यह तो द्रव्य क्षेत्र काल भावकी वृद्धि बतलाई गई है उसीसे सर्व लोक पर्यंत वृद्धि समझ लेनी चाहिए। तथा अनंत भाग हानि १ असंख्यात भाग हानि २ संख्यात भाग हानि ३ संख्यात गुण हानि ४ असंख्यात गुण हानि ५ अनंत गुण हानि ६ इस प्रकार हानिके भी छह भेद माने गये हैं। इन छह प्रकारकी हानियोंसे द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी सर्व लोक पर्यंत हानि भी समझ लेनी चाहिये। यहां द्रव्य क्षेत्र आदिकी अपेक्षा जघन्य देशावधिका निरूपण है। अजघन्योत्कृष्ट देशावधिका द्रव्य क्षेत्र आदिकी अपेक्षा निरूपण इस प्रकार है—

जिस अवधिज्ञानका क्षेत्र अंगुलके संख्यातवें भाग है उसका काल आवलिके संख्यातवां भाग है। अंगुलके संख्यातवें भाग क्षेत्रके आकाशके जितनी संख्या प्रमाण प्रदेश हैं उतनी द्रव्य है और पहिले जो भाव शब्दका प्रमाण बताया है उससे अनंतगुणा, असंख्यातगुणा, वा संख्यातगुणा भाव है। जहांपर अवधिज्ञानका क्षेत्र अंगुलप्रमाण मात्र है वहांपर अवधिज्ञानका काल कुछ कम आवली प्रमाण है। द्रव्य और भाव पहिलेके समान हैं अर्थात् अंगुल प्रमाण क्षेत्रके जितनी संख्याप्रमाण प्रदेश हैं उतनी संख्याप्रमाण उसका द्रव्य है और अजघन्योत्कृष्ट अवधिज्ञानके विषयभूत जितने अनंत प्रदेशोंके धारक स्कंध हैं उनके रूप रस आदि भाव हैं। जिस अवधिज्ञानका क्षेत्र अंगुल पृथक्त्व[1] प्रमाण है उसका काल आवलि प्रमाण है। और द्रव्य एवं भाव पहिले समान समझ लेना चाहिए। जिस अवधिज्ञानका क्षेत्र एक हाथ

१—तीनसे ऊपर और नौ के भीतरकी संख्याका नाम पृथक्त्व है।

प्रमाण है उसका काल आवलि पृथक्त्व प्रमाण है। यहांपर भी द्रव्य और भाव पहिलेके समान हैं। जिस अवधिज्ञानका क्षेत्र एक कोश प्रमाण है उसके कालका प्रमाण कुछ अधिक एक उच्छ्वास है और द्रव्य भाव पहिलेके समान हैं। जिस अवधिज्ञानका क्षेत्र एक योजन प्रमाण है उसके कालका प्रमाण भिन्न-मुहूर्त है। द्रव्य और भावका प्रमाण पहिलेके समान है। जिस अवधिज्ञानका क्षेत्र पच्चीस योजन प्रमाण है उसके कालका प्रमाण कुछ कम एक दिन है। द्रव्य और भावका प्रमाण पहिलेके समान है। जिस अवधिज्ञानके क्षेत्रका प्रमाण भरतक्षेत्रके बराबर है उसके कालका प्रमाण आधा मास है। द्रव्य और भावका प्रमाण पहिलेके समान है। जिस अवधिज्ञानके क्षेत्रका प्रमाण जम्बूद्वीपके बराबर है उसके काल का प्रमाण कुछ अधिक एक मास है। द्रव्य और भावका प्रमाण पहिलेके समान है। जिस अवधिज्ञान के क्षेत्रका प्रमाण मनुष्यलोकके समान है उसके कालका प्रमाण एक वर्ष है। द्रव्य और भावका प्रमाण पहिलेके समान है। जिस अवधिज्ञानके क्षेत्रका प्रमाण रुचक नामक तेरहवें द्वीपके अन्तके समान है उसके कालका प्रमाण एक वर्ष पृथक्त्व है। द्रव्य और भावका प्रमाण पहिलेके समान है। जिस अवधि-ज्ञानके क्षेत्रका प्रमाण संख्याते द्वीप समुद्र है उस अवधिज्ञानके कालका प्रमाण संख्याते वर्ष है द्रव्य और भावका प्रमाण पहिलेके समान है जिसका असंख्यातद्वीपसमुद्र क्षेत्र है उस अवधिका काल भी असं-ख्यात वर्ष प्रमाण है। द्रव्य भावका प्रमाण पहलेके समान है। तिर्यंच और मनुष्योंके अजघन्योत्कृष्ट देशावधिका प्रमाण प्रतिपादन कर दिया गया। तिर्यंचोंके द्रव्य क्षेत्र आदिकी अपेक्षा उत्कृष्ट देशावधि का प्रमाण इसप्रकार है—

१ यहांपर प्राचीन भाषाकार पं० पन्नालालजी दूनीवालोंने "ऐसैं जघन्य तथा उत्कृष्ट तिर्यग्क्षेत्र संबंधी मनुष्यनिकौं देशावधि कह्यौ। ऐसा लिखा है।" यह अर्थ असंगत है। क्योंकि पूर्वापर संबंध नहीं बैठता।

तिर्यंचोंके उत्कृष्ट देशावधिके क्षेत्रका प्रमाण असंख्याते द्वीप और समुद्र है। काल असंख्यात वर्षप्रमाण है। द्रव्य तैजसशरीर प्रमाण है और उसकी उत्पत्ति असंख्याते द्वीप समुद्रोंके आकाशके प्रदेशोंके प्रमाण असंख्याती तैजसशरीर वर्गणाओंसे होती है इसलिये उन वर्गणाओंके प्रमाण अनंतप्रदेशोंके धारक असंख्याते स्कंध द्रव्योंको तिर्यंचोंका उत्कृष्ट देशावधि विषय करता है। भावका प्रमाण पहिलेके समान है। तिर्यंच और मनुष्य दोनोंके जघन्य देशावधि होता है। वह ऊपर कहे अनुसार समझ लेना चाहिये। तिर्यंचोंके देशावधि ही होता है परमावधि और सर्वावधि नहिं होते यह नियम है। मनुष्योंका द्रव्यक्षेत्र आदिकी अपेक्षा उत्कृष्ट देशावधि इसप्रकार है—

मनुष्योंके उत्कृष्ट देशावधिका क्षेत्र असंख्याते द्वीप समुद्र है। कालका प्रमाण असंख्यात वर्ष है। असंख्याते द्वीप और समुद्रोंके आकाशके प्रदेशोंकी बराबर असंख्याती ज्ञानावरण आदि कार्माण वर्गणाओंसे कार्माण शरीरकी उत्पत्ति होती है। उस कार्माण शरीरका जितना प्रमाण है उतना मनुष्योंके उत्कृष्ट देशावधिका द्रव्य है और भाव प्रमाण जैसा पहिले कह आए हैं उसीप्रकार है। यह उत्कृष्ट देशावधि मनुष्योंमें संयमी मनुष्योंके ही होता है साधारण मनुष्योंके नहीं यह नियम है। द्रव्य क्षेत्र आदिकी अपेक्षा परमावधिका प्रमाण इसप्रकार है—

जघन्य परमावधिका एक प्रदेश अधिक लोक प्रमाण क्षेत्र है। एक प्रदेश अधिक लोकाकाशके प्रदेशोंकी बराबर एवं जिनका विभाग न हो सके ऐसे समय, काल है। वे समय असंख्याते वर्ष प्रमाण हैं। एक प्रदेश अधिक लोकाकाशके प्रदेशोंकी जितनी संख्या है उस संख्या प्रमाण स्कंध, द्रव्य है और भावका प्रमाण पहिले कहे अनुसार है। विशुद्धताकी विशेषतासे नाना जीव और एक जीव दोनोंकी

अपेक्षा अजघन्योत्कृष्ट परमावधिकी सामान्यरूपसे क्षेत्रकी वृद्धि असंख्यात लोक प्रमाण है और यह असंख्यातलोक पर्यंत क्षेत्रवृद्धि उत्कृष्ट परमावधिके क्षेत्रसे पहिले पहिलेकी समझ लेनी चाहिये तथा असंख्यात लोकमें जो असंख्यात संख्या है वह आवलिके असंख्यातभागप्रमाण है। यहांपर काल द्रव्य और भावका प्रमाण पूर्ववत्–जघन्य परमावधिके काल और भावके निरूपणमें जो रीति वतलाई है उसी के ममान, समझना चाहिये।(यह अजघन्योत्कृष्ट परमावधिके क्षेत्र आदिका प्रमाण है) तथा उत्कृष्ट परमावधिका क्षेत्र लोकअलोकका जितना प्रमाण है उतने प्रमाणवाले असंख्यात लोक है और वे असंख्यातलोक अग्निकायके जीवोंकी संख्याकी वरावर हैं। यहांपर भी काल द्रव्य और भावका प्रमाण पहिले कहे अनुसार हैं। इस प्रकार जघन्य उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्ट यह तीनों प्रकारका परमावधि उत्कृष्ट चारित्रके धारक संयमीके ही होता है अन्यके नहीं। वर्धमान ही होता है, हीयमान नहीं। अप्रतिपाती–सदा रहनेवाला ही होता है प्रतिपाती नहीं होता, छूटता नहीं। लोकप्रमाण असंख्यात लोक क्षेत्रमें तीनों प्रकारका परमावधि जिसके जितने क्षेत्रको लेकर उत्पन्न होता है उसके उतने ही क्षेत्रको लेकर वहांपर निश्चल रूपसे रहता है इसलिये अवस्थित है तथा अनवस्थित भी है परंतु वृद्धिकी अपेक्षा ही अनवस्थित है हानिकी अपेक्षा नहीं। अर्थात् वढता तो रहता है परंतु कम नहीं होता। इसलोक संबंधी दूसरे दूसरे प्रदेशोंमें जानेसे अनुगामी है और परलोकमें साथ नहीं जाता इसलिये अननुगामी है। द्रव्य क्षेत्र आदिकी अपेक्षा सर्वावधिका वर्णन इस प्रकार है—

असंख्यातके असंख्याते ही भेद माने हैं इसलिए उत्कृष्ट परमावधिका जो क्षेत्र कहा है उससे असं-

१ यह सर्वावधिज्ञान निर्विकल्प है इसके देशावधि आदिके समान जघन्य उत्कृष्ट आदि भेद नहीं।

ख्यातगुणा सर्वावधिका क्षेत्र है। काल द्रव्य और भावका प्रमाण परमावधिके समान समझ लेना चाहिए। वह सर्वावधि नामका अवधिज्ञान न वर्धमान है, न हीयमान है, न अनवस्थित है और न प्रतिपाती है किंतु जब तक संयमी पुरुषकी मनुष्य पर्यायका नाश नहीं होता वहांतक सदैव रहता है अतः अवस्थित है। संयमीकी मनुष्यत्व पर्यायके पहिले छूटता नहीं–इसालिए अप्रतिपाती है। दूसरे भवमें साथ साथ जाता नहीं इसालिए अननुगामी है और एक देशसे दूसरे देशमें जाता है इसलिए देशांतरकी अपेक्षा अनुगामी है। सर्वावधि शब्दमें सर्व शब्द समस्त अर्थका वाचक है इसलिए सर्वावधिके द्रव्य क्षेत्र काल और भावके प्रमाणमें परमावधिके द्रव्य क्षेत्र काल और भावका प्रमाण गर्भित हो जाता है इस कारण सर्वावधिके भीतर ही परमावधिके गर्भित हो जानेसे परमावधि भी देशावधि ही है इस रीतिसे वास्तवमें अवधिज्ञानके सर्वावधि और देशावधि ये दो ही भेद युक्तियुक्त हैं।

काल आदिकी वृद्धिका जो ऊपर उल्लेख किया गया है उनमें जिस समय काल वृद्धि होती है उस समय द्रव्य क्षेत्र आदि चारोंकी भी नियमसे वृद्धि होती है। जब क्षेत्रवृद्धि होती है तब काल वृद्धिका कोई नियम नहीं वह होती भी है और नहीं भी होती है किंतु द्रव्य वृद्धि और भावकी वृद्धि तो नियमसे होती है। जिस समय द्रव्यकी वृद्धि होती है उस समय भाव वृद्धि भी नियमसे होती है परंतु क्षेत्र और काल वृद्धिका नियम नहीं–वह होती भी है और नहीं भी होती है। तथा जिस समय भाव वृद्धि होती है उस समय द्रव्य वृद्धि नियमसे होती है परंतु क्षेत्र और कालकी वृद्धिका वहांपर नियम नहीं–वह होती भी है और नहीं भी होती है।

यह क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञानोपयोग कहीं एक क्षेत्र रूपसे और कहीं आधिक क्षेत्र रूपसे

इस तरह दो प्रकारसे होता है । जहांपर क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञानके वाह्य उपकरणस्वरूप श्रीवृषभ स्वस्तिक नंद्यावर्त आदि चिह्नोंमें किसी एक चिह्नकी प्रकटता रहती है वहांपर उसी एक चिह्न-स्वरूप उपयोगस्वरूप उपकरणमें रहनेके कारण अवधिज्ञान क्षेत्रमें रहनेवाला समझा जाता है और जहां श्रीवृषभ स्वस्तिक आदि अनेक शुभ चिह्नोंकी प्रकटता रहती है वहांपर अनेक क्षेत्रमें रहनेवाला कहा जाता है । शंका—

यदि गुणप्रत्यय अवधिज्ञानको शंख स्वस्तिक आदि शुभ चिह्नोंकी अपेक्षा करनेवाला माना जायगा तो उसे पराधीन होनेसे परोक्ष कहना पडेगा परंतु उसे माना स्वाधीन प्रत्यक्ष है इसलिए यहां विरोध आता है ? सो ठीक नहीं । परपना इंद्रियोंमें ही रूढि है अर्थात् जो ज्ञान इंद्रियोंके आधीन है—अपनी उत्पत्तिमें इंद्रियोंकी अपेक्षा रखता है वही पराधीन ज्ञान माना जाता है किंतु शंख स्वस्तिक आदि शुभ चिह्नोंकी अपेक्षा करनेवाला पराधीन नहीं कहा जा सकता । अवधिज्ञान अपनी उत्पत्तिमें इंद्रियोंकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिए उसके विषयमें पराधीनपनेकी शंका नहीं की जा सकती—यहां यह प्रमाण वचन भी है—

१—भवपच्चयगो सुरणिरयाणं तित्थेवि सव्व अंगुत्थो । गुणपच्चयगो णरतिरयाण संखादिचिन्हभवो ॥ ३७० ॥
भवप्रत्ययकं सुरनारकाणां तीर्थेपि सर्वांगोत्थं । गुणप्रत्ययकं नरतिरश्चां शंखादिचिन्हभवं ॥ ३७० ॥
भव प्रत्यय अवधिज्ञान देव नारकी तथा तीर्थंकरोंके होता है और यह ज्ञान समस्त अंगसे होता है । गुणप्रत्यय अवधिज्ञान संज्ञी पर्याप्त मनुष्य तथा संज्ञी पर्याप्त तिर्यंचोंके भी होता है और यह ज्ञान शंखादि चिन्होंसे होता है । भावार्थ—नाभिके ऊपर शंख पद्म वज्र स्वस्तिक कलश आदि जो शुभ चिन्ह होते हैं उस जगहके आत्मप्रदेशोंमें होनेवाले अवधिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे गुणप्रत्यय अवधिज्ञान होता है किंतु भवप्रत्यय अवधि सम्पूर्ण आत्मप्रदेशोंसे होता है । गोम्मटसार जीव०।

इंद्रियाणि पराण्याहुरिंद्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेः परतरो हि सः ॥ १ ॥

अर्थात् पर इंद्रियां हैं। इंद्रियोंसे पर मन है। मनसे पर बुद्धि है और बुद्धिसे परतर आत्मा है। अवधिज्ञान अपनी उत्पत्तिमें आत्माकी अपेक्षा रखता है इसलिए वह स्वाधीन प्रत्यक्ष है, पराधीन परोक्ष नहीं। इस अवधिज्ञानका गोम्मटसार जीवकांडकी अवधिज्ञान प्ररूपणामें विस्तारसे वर्णन है। वहांसे विशेष जान लेना चाहिये ॥ २२ ॥

अवधिज्ञानका वर्णन कर दिया गया। अब क्रमप्राप्त मनःपर्ययज्ञान है उसका भेदपूर्वक लक्षण सूत्रकार कहते हैं—

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥ २३ ॥

जो ज्ञान परके मनमें तिष्ठते हुए रूपी पदार्थोंको जाने वह मनःपर्ययज्ञान है और उसके ऋजुमति और विपुलमति ये दो भेद हैं।

ऋज्वी निर्वर्तिता प्रगुणा च ॥ १ ॥ अनिर्वर्तिता कुटिला च विपुला ॥ २ ॥

मन वचन कायकी सरलता लिए हुए दूसरेके मनमें तिष्ठे हुए पदार्थको जो जाने वह ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान कहा जाता है और परके मनमें तिष्ठनेवाले वचन काय और मनके द्वारा किये गये सरल और कुटिल दोनों प्रकारके रूपी पदार्थोंका जान लेना विपुलमति नामका मनःपर्ययज्ञान है। जिसकी मति—(जानना) ऋज्वी—सरल है, वह ऋजुमति नामका मनःपर्ययज्ञान है और जिसकी मति विपुल—

सरल और कुटिल दोनों प्रकारकी है वह विपुलमति मनःपर्ययज्ञान है। 'ऋजुमतिश्च विपुलमतिश्च ऋजुविपुलमती' यह वहांपर द्वंद्वसमास है। यद्यपि मनःपर्ययज्ञानके ऋजुमति और विपुलमति ऐसे दो भेद हैं इसलिये 'ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः' इस सूत्रमें 'ऋजुमतिविपुलमती' इसप्रकार दो मति शब्दोंका उलेख करना चाहिये परन्तु एक ही मति शब्दके उलेखसे दोनों मति शब्दोंका अर्थ निकल आता है इसलिये एक ही मति शब्दका उलेख किया है। इसप्रकार यह मनःपर्ययज्ञान ऋजुमति और विपुलमति के भेदसे दो प्रकार कह दिया। अब वार्तिककार उसका लक्षण बतलाते हैं—

मनःसंबंधेन लब्धवृत्तिर्मनःपर्ययः ॥ ३ ॥

जिस ज्ञानकी उत्पत्ति वीर्यांतराय और मनःपर्यय ज्ञानावरणका क्षयोपशम एवं अंगोपांग नामक नामकर्मके लाभरूप कारणोंके विद्यमान रहते अपने और पराये मनके संबंधसे होती है उसका नाम मनःपर्ययज्ञान है। शंका—

मतिज्ञानप्रसंग इति चेन्नाऽन्यदीयमनोऽपेक्षामात्रत्वादभ्रे चंद्रव्यपदेशवत् ॥ ४ ॥

जिसप्रकार मन और चक्षु आदि इंद्रियोंके द्वारा चाक्षुष आदि ज्ञान होते हैं और वे मतिज्ञान कहे जाते हैं उसीप्रकार मनःपर्ययज्ञान भी दूसरेके मनकी अपेक्षासे होता है इसलिये वह भी मतिज्ञान ही है मनःपर्ययज्ञान कोई भिन्न ज्ञान नहीं ? सो ठीक नहीं। 'अभ्रे चंद्रमसं पश्य' आकाशमें चंद्रमा देखो, जिस प्रकार यहां आकाश शब्दका प्रयोग आपेक्षिक कारण है किंतु जिस तरह चक्षु आदि इंद्रियां चाक्षुष आदि ज्ञानोंकी उत्पादक कारण हैं उस तरह आकाश चंद्रज्ञानका उत्पादक कारण नहीं। उसी प्रकार 'परके मनमें तिष्ठनेवाले रूपी पदार्थको मनःपर्ययज्ञानवाला जानता है' एतावन्मात्र अर्थके द्योतन

करनेके लिये मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिमें परका मन आपेक्षिक कारण है अर्थात् दूसरेका मन ज्ञातव्य पदार्थका अवलम्बनमात्र है किंतु जिस तरह चक्षु आदि इंद्रियोंसे मतिज्ञान वा केवल मनसे श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है उस तरह परके मनसे मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती इसलिये मनःपर्ययज्ञान मतिज्ञान नहीं कहा जा सकता। अथवा और भी यह वात है कि—

स्वमनोदेशे वा तदावरणकर्मक्षयोपशमव्यपदेशाच्चक्षुष्यवधिज्ञाननिर्देशवत् ॥ ५ ॥

चक्षुके स्थानमें अर्थात् जो चक्षुका स्थान है उसमें रहनेवाले आत्मप्रदेशोंमें अवधिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम हो जानेसे जिस प्रकार नेत्रमें अवधिज्ञान मान लिया जाता है किंतु उस अवधिज्ञानको मतिज्ञान नहीं कहा जाता उसीप्रकार जिस स्थानपर मन रहता है उस स्थानके आत्मप्रदेशोंमें मनःपर्ययज्ञानावरणका क्षयोपशम रहनेपर उन्हें भी मनःपर्ययज्ञान ही कहा जायगा मतिज्ञान नहीं कहा जा सक्ता।

शंका—

मनःप्रतिबंधज्ञानादनुमानप्रसंग इति चेन्न प्रत्यक्षलक्षणाविरोधात् ॥ ६ ॥

जिसतरह धूम और अग्निका अविनाभाव संबंध निश्चित है इसलिये उस संबंधके ज्ञानसे पर्वत आदि स्थलोंमें जहांपर अग्निसे धूम निकल रहा है वहांपर उस धूमसे अग्निका जान लेना अनुमान ज्ञान माना जाता है उसीप्रकार दूसरेका मन और उसमें रहनेवाले पदार्थका आपसमें अविनाभाव संबंध है इसलिये उस संबंधके ज्ञानसे जो मनमें तिष्ठते हुए पदार्थका जान लेना है और जिसे मनःपर्यय कहा जाता है वह अनुमान ज्ञान ही है—अनुमानज्ञानसे भिन्न नहीं। इसरीतिसे जब अनुमानज्ञानमें ही मनःपर्ययका अंतर्भाव है तब मनःपर्ययज्ञानको जुदा मानना निरर्थक है? सो ठीक नहीं। 'इंद्रियानिंद्रियनिर-

पेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षमिति' जिस ज्ञानमें इंद्रिय और मनकी अपेक्षा नहीं। व्याभिचार की भी संभावना नहीं और जो साकार पदार्थका ग्रहण करनेवाला है वह प्रत्यक्ष है। पहिले यह प्रत्यक्ष का लक्षण कहा गया है। मनःपर्ययज्ञानमें यह प्रत्यक्षका लक्षण निरापद रूपसे घट जाता है इसलिये वह प्रत्यक्षज्ञान ही है, परोक्ष अनुमानज्ञान नहीं हो सकता किंतु अनुमान ज्ञानमें प्रत्यक्षका लक्षण घट नहीं सकता इसलिये वह प्रत्यक्षज्ञान नहीं कहा जा सकता क्योंकि—

उपदेशपूर्वकत्वाच्चक्षुरादिकरणानिमित्तत्वाद्वानुमानस्य ॥ ७ ॥

यह अग्नि है और यह धुवां है इस प्रकार किसी मनुष्यके उपदेश—वतानेसे, जानकर, पीछे नेत्र आदि इंद्रियोंके द्वारा धूमके देखनेसे जो अग्नि ज्ञान होता है वह अनुमान कहा जाता है इसलिये अनुमान ज्ञानमें इंद्रियोंकी अपेक्षा रहनेके कारण जब प्रत्यक्षका लक्षण नहीं घटता तब वह प्रत्यक्षज्ञान नहीं कहा जाता। मनःपर्ययज्ञानमें उपदेश इंद्रिय आदिकी अपेक्षा नहीं रहती। उसमें अखंडरूपसे प्रत्यक्षका लक्षण घट जाता है इसलिये वह प्रत्यक्षज्ञान है।

स द्वेधा सूत्रोक्तविकल्पात् ॥ ८ ॥ आद्यस्त्रेधार्जुमनोवाक्कायविषयभेदात् ॥ ९ ॥

"ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः" इस सूत्रमें मनःपर्ययज्ञानके ऋजुमति और विपुलमति ये दो भेद कहे हैं इसलिये ऋजुमति और विपुलमतिके भेदसे मनःपर्ययज्ञान दो प्रकारका है। उनमें आदिके ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानके तीन भेद हैं, वे इसप्रकार हैं—ऋजुमनस्कृतार्थज्ञ—सरल मन द्वारा किये गए अर्थका जाननेवाला १, ऋजुवाक्कृतार्थज्ञ—सरल वचनद्वारा किए गए अर्थका जाननेवाला २ और ऋजुकायकृतार्थज्ञ—सरल कायद्वारा किये गए अर्थका जाननेवाला ३ इन तीनों भेदोंका खुलासा इसप्रकार है—

किसी मनुष्यने मनसे व्यक्त-खुलासारूप पदार्थका चिंतवन किया। धार्मिक वा लौकिक वचनोंको भी भिन्न भिन्न रूपसे उच्चारण किया एवं दोनों लोकके फलकी प्राप्तिके लिये अंग और उपांगोंका पटकना सकोडना और फैलानारूप कायकी चेष्टा भी की किंतु उसके थोडे ही दिन बाद वा बहुत काल बाद उस मनसे विचारे हुए वा वचनसे कहे हुए अथवा शरीरसे किए गये कार्यको भूल जानेके कारण मैंने मन वचन कायसे क्या किया था इस बातके विचारनेके लिए वह असमर्थ हो गया उसके उस प्रकारके मन वचन काय द्वारा किये गये कार्यको चाहैं ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञानवालेसे पूछो चाहैं मत पूछो वह अपने ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञानसे स्पष्ट जान लेता है कि तूने मनसे वह पदार्थ इस रूपसे विचारा था। वचनसे इस प्रकार कहा था और शरीरसे इसप्रकार किया था। यहां पर यह शंका न करना चाहिए कि परके मनमें तिष्ठते हुये पदार्थोंका ऐसा ज्ञान कैसे हो जाता है? क्योंकि आगमका यह वचन है कि—"मनसा मनः परिछिद्य परेषां संज्ञादीन् जानाति इति मनसाऽऽत्मनेत्यर्थः" अर्थात् अपनी आत्मासे चारो ओरसे दूसरेका मन जान कर उसमें तिष्ठने वाले रूपी पदार्थोंको मनःपर्यय ज्ञानवाला जान लेता है, इसलिए मनःपर्ययज्ञान द्वारा परके मनमें तिष्ठनेवाले पदार्थका जान लेना आगमसे अविरोधी होनेके कारण प्रामाणिक है। तथा जिस प्रकार मंच पर बैठनेवाले पुरुषोंको मंच कह दिया जाता है उसी प्रकार आगममें जो यह लिखा है कि 'मनसा मनः परिच्छिद्य' यहांपर भी मन शब्दसे 'पर मनसे विचारे गये मनमें तिष्ठनेवाले चेतन अचेतन सब प्रकारके पदार्थोंका ग्रहण है' अर्थात् मनको जानता है इसका अर्थ यह है कि परके मनमें तिष्ठते हुये समस्त पदार्थोंको जानता है। तथा अपने आत्मासे आत्माको जानकर अपना और परका चिंतवन जीवित मरण सुख दुःख लाभ और अलाभ आदिको भी ऋजु-

मति मनःपर्ययज्ञानी जानता है। किंतु यह नियम है कि जो मनुष्य व्यक्तमना है—अच्छी तरह चिंतवन कर जिन्होंने खुलासा रूपसे मनसे पदार्थोंका निश्चय कर लिया है उन्हीके द्वारा विचारे गए पदार्थोंको ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी जानता है किंतु जो अव्यक्तमना है—अच्छी तरह चिंतवन कर जिन्होंने खुलासा रूपसे पदार्थोंका निश्चय नहीं किया है उनके द्वारा मनसे विचारे हुए पदार्थोंको ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी नहीं जानता। यह द्रव्य और भावकी अपेक्षा ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञानका विषय है। कालकी अपेक्षा ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी जघन्य रूपसे अपने वा अन्य जीवोंके दो तीन भवोंका जाना आना जानता है और उत्कृष्ट रूपसे अपने वा अन्यके आठ सात भवोंका जाना आना जानता है। क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्य रूपसे गव्यूतिपृथक्त्व—तीन कोशसे ऊपर और आठ कोशके भीतरके पदार्थोंको जानता है उससे बाहिरके पदार्थोंको नहीं और उत्कृष्ट रूपसे योजन पृथक्त्व—तीन कोशसे ऊपर और नव कोशके नीचेके पदार्थोंको जानता है उससे बाहिरके पदार्थोंको नहीं।

द्वितीयः षोढा ऋजुवक्रमनोवाक्कायविषयभेदात् ॥ १० ॥

ऋजुमनस्कृतार्थज्ञ[2] १ ऋजुवाक्कृतार्थज्ञ २ ऋजुकायकृतार्थज्ञ ३ वक्रमनस्कृतार्थज्ञ ४ वक्रवाक्कृतार्थज्ञ ५ और वक्रकायकृतार्थज्ञ ६ इस प्रकार विपुलमति मनःपर्ययज्ञान छह प्रकारका है। विपुलमति मनःपर्ययज्ञानसे परके मनमें रहनेवाले ऋजुवक्र—सीधे टेडे, सब प्रकारके रूपी पदार्थोंका ज्ञान होता है। अपने और परके जीवित मरण सुख दुःख लाभ और अलाभ आदिका भी ज्ञान होता है तथा जिस

१—'त्रिसंख्यातोऽधिका नवसंख्यातो न्यूना संख्या पृथक्त्वं' सर्वार्थसिद्धिकी टिप्पणी पृष्ठ सं० ७२। २—इन शब्दोंके अर्थ ऊपर लिखे अनुसार समझ लेना चाहिये।

पदार्थका व्यक्त मन करि चिंतवन किया गया है वा अव्यक्त मन करि चिंतवन किया गया है अथवा नहीं चिंतवन किया गया है आगे जाकर चिंतवन होगा उन सब प्रकारके पदार्थोंको विपुलमति मनः-पर्ययज्ञानी जानता है। यह द्रव्य और भावकी अपेक्षा विपुलमति मनःपर्ययज्ञानके विषयका निरूपण है। कालकी अपेक्षा विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी जघन्य रूपसे सात आठ भवोंके गमन आगमनको जानता है और उत्कृष्ट रूपसे असंख्यात भवोंके गमन आगमनको जानता है। क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्य रूपसे योजनपृथक्त्व–तीन योजनसे ऊपर और आठ योजनके भीतरके पदार्थोंको जानता है और उत्कृष्ट रूपसे मानुषोत्तर पर्वतके भीतरके पदार्थोंको जानता है वाहिरके पदार्थोंको नहीं ॥ २३ ॥

ऋजुमति और विपुलमतिके भेदसे दो प्रकारके मनःपर्यय ज्ञानका वर्णन कर दिया गया। अब उन दोनों प्रकारके भेदोंमें आपसमें क्या विशेषता है? सूत्रकार इसवातको वतलाते हैं—

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २४ ॥

परिणामोंकी विशुद्धता और अप्रतिपात इन दो कारणोंसे ऋजुमति और विपुलमतिमें विशेषता है अर्थात्–ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानकी अपेक्षा विपुलमति मनः पर्ययज्ञानमें अधिक विशुद्धता है तथा ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान बीचमें छूट भी जाता है परंतु विपुलमति मनःपर्ययज्ञान केवलज्ञानके होने तक रहता है–बीचमें नहीं छूटता।

मनःपर्ययज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम होनेपर जो आत्माकी उज्ज्वलताका होना है उसका नाम विशुद्धि है। प्रतिपातका अर्थ गिरना है। उपशांतकषायी मनुष्य चारित्र मोहनीय कर्मकी उत्कटतासे संयमरूपी शिखरसे गिरजाता है इसलिये उसके प्रतिपात माना है। क्षीणकषायी मनुष्यके गिरनेका

कोई कारण है नहीं इसलिये उसके अप्रतिपात है। विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी संयमशिखरसे नहीं गिरता इसलिये वह अप्रतिपात है। 'विशुद्धिश्च अप्रतिपातश्च विशुद्ध्यप्रतिपातौ ताभ्यां विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तयोर्विशेषस्तद्विशेषः' यह सूत्रमें रहनेवाले समस्त पदोंकी व्युत्पत्ति है। शंका—'ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः' इसी सूत्रसे ही ऋजुमति और विपुलमतिका विशेष स्पष्ट है फिर विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यामित्यादि सूत्रका क्यों आरंभ किया गया? उत्तर——

विशेषांतरप्रतिपत्त्यर्थं पुनर्वचनं ॥ १ ॥

पहिले सूत्रमें जो ऋजुमति और विपुलमतिका विशेष बतलाया गया है वह साधारण है। सर्वसाधारणको उससे संतोष नहीं हो सकता इसलिये खास विशेषता बतलानेकेलिये विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यामित्यादि सूत्रका आरंभ किया गया है। शंका——

च शब्दप्रसंग इति चेन्न प्राथमकाल्पिकभेदाभावात् ॥ २ ॥

जिसप्रकार मनःपर्ययज्ञानके ऋजुमति और विपुलमति भेद हैं उसीप्रकार उसके ही विशुद्धि और अप्रतिपात भी भेद हैं यदि यही अभिप्राय है तब तो इससूत्रमें च शब्दका उल्लेख करना चाहिये? सो ठीक नहीं। जिसतरह मनःपर्ययज्ञानके ऋजुमति और विपुलमति भेद हैं उसीप्रकार यदि विशुद्धि और अप्रतिपात भी मनः पर्ययज्ञानके भेद होते तबतो सूत्रमें चशब्द कहना अयुक्त होता। सो तो है नहीं किंतु वे तो ऋजुमति और विपुलमतिके भेद नहीं हैं किंतु स्वरूप विशेष है इसलिये सूत्रमें चशब्दके कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं। विशुद्धिमें ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानकी अपेक्षा विपुलमति मनःपर्ययज्ञान द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा अधिक विशुद्ध है। और वह इसप्रकार है——

अनंतके अनंते भेद माने हैं इसलिये कार्माण द्रव्यके जिस अंतिम अनंतवें भागको सर्वावधिज्ञानने विषय कर रक्खा है उस अनंतवें भागका भी अनंतवां भाग ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानका विषय है और जिस अनंतवें भागको ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानने विषय किया है उसका भी अनंतवां भाग जोकि दूर व्यवहित और सूक्ष्म है वह विपुलमति मनःपर्ययज्ञानका विषय है। इसतरह द्रव्य क्षेत्र और कालकी अपेक्षा विशुद्धि समझ लेनी चाहिये एवं विपुलमति मनःपर्ययज्ञान अत्यंत सूक्ष्म द्रव्यको विषय करता है इसलिये उसका अत्यंत सूक्ष्म पदार्थका विषय करना ही भावकी अपेक्षा विशुद्धि है। जो पुरुष विपुलमति मनःपर्ययज्ञानके स्वामी हैं कषायकी उत्तरोत्तर मंदतासे निरंतर उनका चारित्र प्रवर्धमान—बढा हुआ, रहता है एवं कर्मोंके प्रकृष्ट क्षयोपशमकी विशुद्धता रहती है इसलिये वह अप्रतिपाती—छूटता नहीं, है और ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानके स्वामियोंके कषायोंका उद्रेक रहनेके कारण दिनों दिन चारित्र हीयमान—कम होता चला जाता है, इसलिये वह प्रतिपाती है बीचमें छूट जाता है इसरीतीसे द्रव्य क्षेत्र आदिकी विशुद्धता और प्रतिपाति अप्रतिपातीपनेसे ऋजुमति और विपुलमतिमें विशेषता है ॥ २४ ॥

मनःपर्ययज्ञानके ऋजुमति और विपुलमति भेदोंकी अपेक्षा विशेषता हमने जान ली परन्तु अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें आपसमें क्या विशेष है ? इस बातको सूत्रकार बतलाते हैं—

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः ॥ २५ ॥

विशुद्धि क्षेत्र स्वामी और विषयकी अपेक्षा अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानमें विशेषता है। अर्थात् अवधिज्ञानकी अपेक्षा मनःपर्ययज्ञान विशुद्ध थोड़े क्षेत्रवाला, थोड़े स्वामीवाला और सूक्ष्म विषयवाला है अवधिज्ञान कम विशुद्धिवाला बहुत क्षेत्रवाला बहुत स्वामीवाला और स्थूलविषयवाला है।

सूत्रमें जो विशुद्धि शब्द है उसका अर्थ उज्ज्वलता है। जहांतकके विद्यमान पदार्थोंको जाने वह क्षेत्र है। ज्ञानोंका प्रयोग करनेवाला स्वामी है और विषय नाम ज्ञेयका है। शंका—

अवधिज्ञानान्मनःपर्ययस्य विशुद्ध्यभावोऽल्पद्रव्यविषयत्वादिति चेन्न भूयःपर्यायज्ञानात् ॥ १ ॥

शास्त्रोंमें मनःपर्ययज्ञानकी अपेक्षा अवधिज्ञानका विषय अधिक द्रव्य बतलाया गया है और मनःपर्ययज्ञानका विषय अल्प द्रव्य बतलाया है क्योंकि सर्वावधि ज्ञानके विषयभूत रूपी द्रव्यका अनंतवां भाग मनःपर्ययका द्रव्य बतलाया है तथा यह प्रसिद्ध बात है कि जिसका विषय अधिक द्रव्य होता है वह अधिक विशुद्ध और जिसका विषय कम द्रव्य होता है वह अल्प विशुद्ध कहा जाता है इसलिये अधिक द्रव्यको विषय करनेके कारण मनःपर्ययज्ञानकी अपेक्षा अवधिज्ञान अधिक विशुद्ध है और अल्प द्रव्यको विषय करनेके कारण मनःपर्ययज्ञान अल्प विशुद्ध है। सो ठीक नहीं। संसारमें एक मनुष्य तो ऐसा है जो समस्त शास्त्रोंका व्याख्यान तो कर रहा है परंतु उनका एक देशरूपसे ही व्याख्यान करता है, कहां क्या लिखा है, किसरूपसे लिखा है इसतरह समस्तरूपसे उनके अर्थका व्याख्यान नहीं कर सकता—वैसा करनेमें असमर्थ है। दूसरा मनुष्य ऐसा है कि शास्त्रका तो एकका ही व्याख्यान कर रहा है परंतु प्रत्येक अर्थको जुदा जुदा दर्शा कर समस्तरूपसे अर्थके कहनेमें समर्थ है। इन दोनों प्रकारके मनुष्योंमें पीछेका मनुष्य विशेष विशुद्धज्ञानका धारक समझा जाता है उसीप्रकार यद्यपि मनःपर्ययज्ञान की अपेक्षा अवधिज्ञानका विषय अधिक द्रव्य है परंतु वह उसे एकदेश स्थूलरूपसे जानता है और मनःपर्ययज्ञानका विषय अवधिज्ञानके विषयका अनंतवां भाग है तो भी वह बहुतसी रूप आदि पर्यायोंके साथ समस्त रूपसे जानता है इसलिये अवधिज्ञानकी अपेक्षा मनःपर्ययज्ञान ही अधिक विशुद्ध है।

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानके क्षेत्रका पाहिले वर्णन किया जा चुका है। इसलिये विषय आगे कहेंगे। अब स्वामीके विषयमें विचार करते हैं—

विशिष्टसंयमगुणैकार्थसमवायी मनःपर्ययः ॥ २ ॥

मनःपर्ययज्ञानका अविनाभाव विशिष्ट संयम गुणके साथ है । जहां पर विशिष्ट संयम होगा वहीं मनःपर्ययज्ञान होगा अन्यत्र नहीं । अन्यत्र उसका खुलासा इस रूपसे कहा गया है—

मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्ति मनुष्योंके ही होती है देवें नारकी और तिर्यंचोंमें नहीं होती । मनुष्योंमें भी गर्भज मनुष्योंमें ही होती है संमूर्छनज मनुष्योंमें नहीं होती । गर्भज मनुष्योंमें भी कर्मभूमिके मनुष्योंके ही होती है भोगभूमिके मनुष्योंमें नहीं हो सकती । कर्मभूमिके मनुष्योंमें भी छहो पर्याप्ति पूर्ण होनेसे जो पर्याप्तक हैं उन्हींके होती है, अपर्याप्तकोंके नहीं । पर्याप्तकोंमें भी सम्यग्दृष्टियोंके ही वह उत्पन्न होता है मिथ्यादृष्टि सासदन सम्याग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवर्तियोंके नहीं । सम्यग्दृष्टिओंमें भी जो मनुष्य संयमी हैं उन्हींके होता है असंयत सम्यग्दृष्टि चतुर्थगुणस्थान और संयतासंयत पांचवें गुणस्थानवर्तियों के नहीं । संयमियोंमें भी छठे गुणस्थान प्रमत्तसे बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थान पर्यंत संयमियोंके ही होता है। बारहवें गुणस्थानके आगेके गुणस्थानोंमें रहनेवाले संयमियोंके नहीं । छठे गुणस्थानसे बारहवें गुणस्थान तक होने पर भी जिनका चारित्र कषायोंकी दिनोंदिन मंदतासे दिनोंदिन वर्धमान है—बढनेवाला है उन्हींके होता है किंतु कषायोंकी उत्कटतासे जिनका चारित्र हीयमान है—मंद होता चला जाता है, उनके नहीं होता । प्रवर्धमान चारित्रवालोंमें भी सात प्रकारकी ऋद्धियोंमें जिनके कोई एक ऋद्धि होगी उन्हींके होता है किंतु जिनके कोई प्रकारकी ऋद्धि नहीं है उनके नहीं होता है । तथा ऋद्धि

धारक पुरुषोंमें भी किन्हीं किन्हींके होता है सबोंके नहीं होता इसप्रकार मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिमें विशिष्ट संयमका ग्रहण प्रधान कारण बतलाया है । परंतु अवधिज्ञान देव मनुष्य तिर्यंच और नारकी चारों गतियोंके जीवोंके होता है इस रूपसे अवधि और मनःपर्ययके स्वामियोंका भेद होनेसे भी दोनों ज्ञानोंमें भेद है ॥ २५ ॥

मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधि ज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इस प्रकार चारों प्रकारके ज्ञानोंका वर्णन हो चुका अब क्रमप्राप्त केवल ज्ञान है आर उसका वर्णन होना चाहिए परंतु उसका वर्णन 'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणांतरायक्षयाच्च केवलं' इस सूत्रसे दशवें अध्यायमें किया है । यहांपर किस किस ज्ञानका कितना कितना विषय है ? यह बतलानेकी बडी आवश्यकता है इसलिए यहां क्रमप्राप्त केवलज्ञानका वर्णन न कर सब ज्ञानोंके विषयका वर्णन किया जाता है । उनमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विषय इस प्रकार है—

मतिश्रुतयोर्निबंधो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥ २६ ॥

मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका जाननेका संबंध द्रव्योंकी असर्व–कुछ पर्यायोंमें है । अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान जीवादि छहो द्रव्योंको तो जानते हैं परंतु उनकी समस्त पर्यायोंको नहीं जानते–थोडी थोडी पर्यायोंको ही जान सकते हैं ।

सूत्रमें जो निबंध शब्द है उसका अर्थ संबंध है और 'निबंधनं निबंधः' यह उसकी व्युत्पत्ति है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयका संबंध द्रव्योंकी कुछ पर्यायोंमें है, यह निबंध शब्दके प्रयोगसे स्पष्ट

अर्थ है। शंका—सूत्रमें विषय शब्दका उल्लेख नहीं है इसलिये 'मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयका' यह अर्थ नहीं हो सकता। यदि यह अर्थ करना ही अभीष्ट है तो सूत्रमें विषय शब्दका उल्लेख करना चाहिये। उत्तर—

प्रत्यासत्तेः प्रकृतविषयग्रहणाभि संबंधः ॥ १॥

किसी सूत्रमें कोई शब्द न हो किंतु उसके पहिलेके सूत्रमें उस शब्दका उल्लेख किया गया हो तो योग्यता रहनेपर आगेके सूत्रमें उसकी अनुवृत्ति आ जाती है। 'मतिश्रुतयोरित्यादि' सूत्रमें यद्यपि 'विषय' शब्दका उल्लेख नहीं किया गया है तो भी 'विशुद्धि क्षेत्र स्वामीत्यादि' पास हीके सूत्रमें उसका उल्लेख है इसलिए समीपतासे विषय शब्दकी अनुवृत्ति इस सूत्रमें आजाती है इस रीतिसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयका संबंध' इत्यादि अर्थके होनेमें कोई आपत्ति नहीं। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि विशुद्धि क्षेत्रेत्यादि सूत्रमें जो विषय शब्द है वह पंचम्यंत है इसलिए मतिश्रुतयोरित्यादि सूत्रमें पंचम्यंत विषय शब्दकी ही अनुवृत्ति आ सकती है षष्ठ्यंत विषय शब्दकी अनुवृत्ति नहीं परंतु इस सूत्रमें 'मतिश्रुत विषयस्य' यह षष्ठ्यंत विषय शब्द माना है इसलिए यह अयुक्त है ? सो ठीक नहीं। जहां जैसा अर्थ लिया जाता है वहां वैसी ही विभक्तिका विपरिणाम हो जाता है जिस तरह—'उच्चानि देवदत्तस्य गृहाणि आमंत्रयस्वैनं देवदत्तमिति' देवदत्तके घर ऊंचे हैं उस देवदत्तको पुकार लो यहांपर पहिले 'देवदत्तस्य' यह षष्ठ्यंत देवदत्तका प्रयोग है फिर अर्थके अनुसार विभक्तिका परिवर्तन कर 'देवदत्तं' यह द्वितीयांत रक्खा है। इसी तरह 'देवदत्तस्य गावोऽश्वाहिरण्यमाढ्यो वैधवेयो देवदत्तः' देवदत्तके गाय घोडा और सोना चांदी है इसलिए वह धनवान होकर भी विधवाका पुत्र है। यहांपर भी प्रारंभमें 'देवदत्तस्य'

यह षष्ठ्यंत देवदत्त शब्दका प्रयोग है परंतु अर्थके अनुसार विभक्तिका परिवर्तन कर पीछे 'देवदत्तः' यह प्रथमांतका प्रयोग रक्खा है। मतिश्रुतयोरित्यादि सूत्रमें भी अर्थके अनुसार षष्ठ्यंत विषय शब्दका ही प्रयोग इष्ट है इसलिए पंचम्यंत विषय शब्दका परिवर्तन कर षष्ठ्यंत विषय शब्दके माननेमें कोई दोष नहीं। शंका–मतिश्रुतयोरित्यादि सूत्रमें जो 'द्रव्येषु' पद दिया है वहांपर एक वचनांत द्रव्य शब्दका उल्लेख ही पर्याप्त था बहुवचनांत द्रव्य शब्दका उल्लेख क्यों किया गया ? उत्तर—

द्रव्येष्विति बहुत्वनिर्देशः सर्वद्रव्यपर्यायसंग्रहार्थः ॥ २ ॥ तद्विशेषणार्थमसर्वपर्यायगृहणं ॥ ३ ॥

जीव धर्म अधर्म आकाश काल और पुद्गलके भेदसे द्रव्य छह प्रकारके माने हैं। सूत्रमें कहे गये द्रव्य शब्दसे उन छहों प्रकारके द्रव्योंका ग्रहण हो इसलिए 'द्रव्येषु' यह बहुवचनांत द्रव्य शब्दका प्रयोग किया गया है। तथा मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयभूत द्रव्यके कुछ ही पर्याय हैं सर्वपर्याय वा अनंत पर्याय नहीं यह बतलानेके लिए द्रव्यका असर्वपर्याय यह विशेषण किया है यदि 'द्रव्येषु' इतना मात्र ही कहा जाता और 'असर्वपर्यायेषु' यह उसका विशेषण न दिया जाता तो सब ही द्रव्य सामान्य रूपसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषय हो जाते। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि द्रव्योंकी कुछ ही पर्यायोंको क्यों मतिज्ञान और श्रुतज्ञान विषय करते हैं, सर्व पर्याय वा अनंत पर्यायोंको क्यों नहीं ? उसका समाधान यह है कि रूप आदि पदार्थोंके जाननेमें मतिज्ञान चक्षु आदि इंद्रियोंकी अपेक्षा रखता है। मतिज्ञान जिस द्रव्यको विषय करता है उसके जिन रूप आदि पर्यायोंके जाननेकी चक्षु आदि इंद्रियोंमें शक्ति है उन्हीं रूप आदि पर्यायोंको मतिज्ञान जानता है। उस द्रव्यमें रहने वाले सर्व पर्याय वा अनंत पर्यायोंके जाननेकी चक्षु आदि इंद्रियोंमें शक्ति नहीं इसलिए अपने विषयभूत द्रव्यकी सर्व पर्याय वा

अनंत पर्यायोंको अवधिज्ञान विषय नहीं कर सकता। तथा श्रुतज्ञान भी शब्दकारणक है जितने शब्द होंगे उन्हींको श्रुतज्ञान जान सकता है। शास्त्रोंमें शब्दोंका परिमाण संख्यात माना है और द्रव्यके पर्याय असंख्याते और अनंते माने हैं इसलिए खुलासा रूपसे पृथक् पृथक् सब वा अनंत पर्यायोंको श्रुतज्ञान भी विषय नहीं कर सकता। गोम्मटसार जीवकांडमें यह कहा भी है—

पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिवद्धो ॥ ३३३ ॥
प्रज्ञापनीया भावा अनंतभागस्तु अनभिलाप्यानां।
प्रज्ञापनीयानां पुनः अनंतभागःश्रुतनिवद्धः ॥ ३३३ ॥

अंनभिलाप्य[1] पदार्थोंके अनंतवें भाग प्रमाण प्रज्ञापनीय[2] पदार्थ होते हैं और प्रज्ञापनीय पदार्थोंके अनंतवें भाग प्रमाण श्रुतमें निबद्ध हैं। भावार्थ—जो एकमात्र केवलज्ञान द्वारा जाने जा सकते हैं, किंतु जिनका वचनके द्वारा निरूपण नहीं किया जा सकता ऐसे पदार्थ अनंतानंत हैं। इसतरहके पदार्थोंमें अनंतवें भागप्रमाण वे पदार्थ हैं जिनका वचनके द्वारा निरूपण हो सकता है उनको प्रज्ञापनीय भाव कहते हैं। जितने प्रज्ञापनीय पदार्थ हैं उनका भी अनंतवां भाग श्रुतमें निरूपित है। इसरीतिसे यह वात अच्छीतरह सिद्ध हो गई कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषय द्रव्यके कुछ पर्याय हैं, सब वा अनंत पर्याय नहीं। शंका—

---

१ अनभिलाप्य उन्हें कहते हैं जो सकेत आदिके द्वारा भी नहीं जाने जा सकें ऐसेभाव केवलज्ञानद्वारा ही गम्य हैं। २ प्रज्ञापनीय भाव वे पदार्थ हैं जो दिव्यध्वनि द्वारा तो कहे जा सकते हैं परंतु श्रुत निवद्ध नहीं हैं।

अतींद्रियेषु मतेरभावात्सर्वद्रव्यासंप्रत्यय इति चेन्न नोइंद्रियविषयत्वात् ॥ ४ ॥

मतिश्रुतयोरित्यादिसूत्रमें मतिज्ञानके विषय समस्त द्रव्योंके कुछ पर्याय बतलाये हैं। यदि मतिज्ञान पदार्थोंके जाननेमें इंद्रियोंकी अपेक्षा रक्खेगा तो धर्म अधर्म आदि अतींद्रिय पदार्थोंके जाननेमें इंद्रियां तो समर्थ होंगी नहीं फिर मतिज्ञान सब द्रव्योंको विषय करनेवाला है यह कथन अयुक्त है ? सो ठीक नहीं । मतिज्ञान पदार्थोंके जाननेमें इंद्रिय और मन दोनोंकी अपेक्षा रखता है यद्यपि स्पर्शन आदि इंद्रियां धर्म अधर्म आदि अतींद्रिय द्रव्योंको विषय नहीं कर सकतीं परंतु नो इंद्रियावरण रूप कर्मकी क्षयोपशम रूप विशुद्धि विशिष्ट मनके धर्म अधर्म आदि अतींद्रिय द्रव्य भी विषय हो सकते हैं। इसलिये मनका अवलंबन रखनेवाला मतिज्ञान जब धर्म अधर्म आदिको विषय कर सकता है तब उपर्युक्त शंकाको स्थान नहीं मिल सकता । यदि मतिज्ञानकी प्रवृत्ति धर्म अधर्म आदि अतींद्रिय पदार्थोंमें नहीं होती, रूपी पदार्थोंमें ही होती तो श्रुतज्ञानके साथ मतिज्ञानका उल्लेख न कर एक मात्र रूपी द्रव्यको विषय करनेवाले अवधिज्ञानके साथ उल्लेख करते परंतु वैसा नहीं किया इसलिये स्पष्ट सिद्ध है कि मतिज्ञान ऐंद्रिय और अतींद्रिय दोनों प्रकारके पदार्थोंको विषय करता है और उनमें अतींद्रिय पदार्थोंको जानना उसका मन इंद्रियकी अपेक्षा है। सर्वार्थसिद्धिकार भगवान पूज्यपादने भी यह लिखा है—

"धर्मास्तिकायादीन्यतींद्रियाणि तेषु मतिज्ञानं न प्रवर्तते, अतः सर्वद्रव्येषु मतिज्ञानं वर्तते इत्ययुक्तं। नैष दोषः। अनिंद्रियाख्यं करणमस्ति तदालंबनो नो इंद्रियावरणक्षयोपशम लब्धिपूर्वक उपयोगोऽवग्रहादि रूपः प्रागेवोपजायते ततस्तत्पूर्वं श्रुतज्ञानं तद्विषयेषु स्वयोग्येषु व्याप्रियते"। अर्थात् धर्मास्तिकाय आदि अतींद्रिय पदार्थ हैं । इंद्रियोंकी अपेक्षा रखनेवाले मतिज्ञानकी उनके जाननेमें

प्रवृत्ति हो नहीं सकती इसलिये सब द्रव्योंको मतिज्ञान जानता है यह कहना ठीक नहीं ? उत्तर—धर्मा- स्तिकाय आदि पदार्थोंके ज्ञानमें कारण मन है श्रुतज्ञनावरण कर्मकी क्षयोपशम लब्धिरूप विशुद्धिके रहने पर उससे धर्मास्तिकाय आदि अतींद्रिय पदार्थोंका अवग्रह ईहा आदि स्वरूप उपयोग पहिले हो लेता है उसके वाद अपने योग्य धर्मास्तिकाय आदि अतींद्रिय विषयोंमें श्रुतज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। इसलिये धर्मास्तिकाय आदि अतींद्रिय पदार्थोंका ज्ञान; जब मनसे होता है तब यह मतिज्ञान ही है क्योंकि मनसे भी मतिज्ञान माना है ॥ २६ ॥

मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयका निरूपण कर दिया गया उनके अनंतर नामधारी अवधिज्ञान के विषयका निरूपण सूत्रकार करते हैं—

रूपिष्ववधेः ॥ २७ ॥

अवधिज्ञानके विषयका नियम रूपी पदार्थोंमें है अर्थात् वह पुद्गल द्रव्यकी पर्यायोंको ही जानता है।

रूपशब्दस्यानेकार्थत्वे सामर्थ्याच्छुक्लादिग्रहणं ॥ १ ॥

रूप शब्दके वाच्य अर्थ अनेक हैं। 'रूपरसगंधस्पर्शा इति' रूप रस गंध और स्पर्श, यहांपर रूप शब्द सफेद आदि रंगका वाचक है। 'अनंतरूपमनंतस्वभावमिति' अनंत रूपका धारक है अर्थात् अनंत स्वभाववाला है, यहांपर रूपका अर्थ स्वभाव है परन्तु यहांपर नेत्र इंद्रियके विषयभूत शुक्ल आदि का ही ग्रहण है। किंतु यहांपर उसका स्वभाव अर्थ नहीं लिया जा सकता क्योंकि स्वभाववाले धर्मास्ति काय आदि भी पदार्थ हैं, कोई भी पदार्थ स्वभावसे विहीन नहीं। इसलिये धर्मास्तिकाय आदि अरूपी पदार्थोंका भी ज्ञान अवधिज्ञानसे कहना पडेगा। परन्तु अवधिज्ञानसे सिवा पुद्गल द्रव्यके अन्य अमू-

तिक पदार्थोंका ग्रहण नहीं होता है। इसलिये रूपसे शुक्ल आदि अर्थके माननेमें किसी प्रकारका दोष नहीं।

भूमाद्यनेकार्थसंभवे नित्ययोगोऽभिधानवशात् ॥ २ ॥

रूप जिसके हो वह रूपी कहा जाता है यहांपर व्याकरणसे मत्वर्थी 'इन्' प्रत्यय करनेपर 'रूपिन्' शब्द बना है। मत्वर्थीय इन् प्रत्ययके 'बहुत' आदि अनेक अर्थ होते हैं परन्तु यहां प्रकरणवश उसका नित्ययोग अर्थ लिया गया है इसलिये 'क्षीरिणो वृक्षाः' जिस तरह यहांपर क्षीर शब्दसे होनेवाली मत्वर्थीय 'इन्' प्रत्ययका अर्थ नित्ययोग है और यहां नित्ययोग अर्थ माननेसे जो वृक्ष हमेशा दूधवाले हों वे ही क्षीरी वृक्ष कहे जा सकते हैं अन्य नहीं। उसीप्रकार रूपी यहांपर भी मत्वर्थीय 'इन्' प्रत्ययका नित्ययोग अर्थ है एवं वैसा अर्थ माननेपर जो पुद्गल सदा रूपयुक्त हों—कभी भी जिनसे रूप जुदा न हो सके उनका रूपी शब्दसे ग्रहण है। पुद्गल द्रव्यसे कभी रूप जुदा हो नहीं सकता इसलिये अवधिज्ञान पुद्गल द्रव्यके पर्यायोंको ही विषय करता है यह स्पष्टार्थ है। शंका—यदि रूप शब्दका शुक्ल आदि ही अर्थ किया जायगा तो पुद्गलके पर्याय रूपद्वारसे ही अवधिज्ञानके विषय होंगे, रसादि द्वारसे न हो सकेंगे और शास्त्रमें रस आदिके द्वारा भी पुद्गल-पर्याय अवधिज्ञानके विषय माने हैं इसलिये यहां पर शास्त्रविरोध होता है? उत्तर—

तदुपलक्षणार्थत्वात्तदविनाभाविरसादिग्रहणं ॥ ३ ॥

१=रूपके कहनेसे रूप रस गंध स्पर्श इन चारोंका ग्रहण समझना चाहिए। चारों ही अविनाभावी हैं इसलिये एकके ग्रहणसे सबोंका ग्रहण हो जाता है।

'रूपिष्ववधेः' इस सूत्रमें रूप शब्द उपलेक्षण है इसलिये रूप शब्दके कहनेसे उसके अविनाभावी रस गंध आदिका भी वहां ग्रहण है। इस रीतिसे जब रूप शब्दसे रूप रस आदि समस्त अविनाभावी गुणों का ग्रहण है तब जिस तरह रूपद्वारसे पुद्गलके पर्याय अवधिज्ञानके विषय हैं उसीप्रकार रस आदि द्वारसे भी वे उसके विषय हैं कोई दोष नहीं। शंका—यदि रूप रस आदि द्वारोंसे पुद्गलके पर्यायोंको अवधिज्ञान विषय करता है तब पुद्गलोंके तो सब पर्याय अनंते हैं वे सब अवधिज्ञानके विषय कहने पडेंगे। उत्तर—

असर्वपर्यायगृहणानुवृत्तेर्न सर्वगतिः ॥ ४ ॥

जिसतरह "देवदत्ताय गौ र्दीयतां, जिनदत्ताय कंबलः, इति दीयतामित्याभिसंबध्यते" देवदत्तको गाय दो और जिनदत्तको कंबल दो, यहां पर 'देवदत्ताय गौर्दीयतां' इस वाक्यमें उलेख किये गये 'दीयतां' शब्दका संबंध उत्तर वाक्यमें भी माना जाता है उसीप्रकार 'मतिश्रुतयो' रित्यादि सूत्रमें 'असर्वपर्याय' शब्दका उल्लेख है उसका 'रूपिष्ववधेः' इस सूत्रमें भी संबंध है इसलिये पुद्गलके अनंते पर्याय अवधिज्ञानके विषयभूत नहीं किंतु पुद्गलकी कतिपय पर्यायोंको और जीवके औदयिक औपशमिक क्षायोपशमिक परिणामोंको ही अवधिज्ञान विषय करता है। यहां पर यह शंका न करनी चाहिये कि

१ अजहत्स्वार्थलक्षणयाऽन्यग्राहकं, उपलक्षणं। अजहत्स्वार्थलक्षणा [अपने अर्थको न छोडकर] से जो दूसरे पदार्थोंका ग्रहण करना है उसका नाम उपलक्षण है जिस तरह 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यतां' कौओंसे दहीको रक्षा करो। यहांपर काक शब्द उपलक्षण है इसलिये जितने भी जीव दहीके विघातक है उन सबका काक शब्दसे ग्रहण है उसीप्रकार प्रकृतमें रूप शब्दको भी उपलक्षण माननेसे जितने उस रूपके अविनाभावी रस गंध आदि गुण हैं उन सबका रूप शब्दसे ग्रहण है।

जीवके क्षायिक और पारिणामिक भावोंको तथा धर्मास्तिकाय आदिको क्यों अवधिज्ञान विषय नहीं करता ? क्योंकि रूप रस आदि विशिष्ट ही पदार्थ अवधिज्ञानके विषय होते हैं । क्षायिक और पारिणामिक भाव तथा धर्मास्तिकाय आदि पदार्थ अरूपी हैं इसलिये वे अवधिज्ञानके विषयभूत नहीं हो सकते ॥ २७ ॥

अब मनःपर्ययज्ञानका विषय सूत्रकार बतलाते हैं–

तदनंतभागे मनःपर्ययस्य ॥ २८ ॥

जो रूपी पदार्थ सर्वावधिका विषय है उसके अनंतवें भागको मनःपर्ययज्ञान विषय करता है ॥२८॥

अब सब ज्ञानोंके अंतमें कहे जानेवाले केवलज्ञानके विषयका वर्णन सूत्रकार करते हैं–

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ २९ ॥

केवलज्ञानके विषयका नियम समस्त द्रव्योंकी समस्त पर्यायोंमें है अर्थात् एक एक द्रव्यकी त्रिकालवर्ती अनंतानंत पर्याय हैं सो छहों द्रव्योंकी समस्त अवस्थाओंको केवलज्ञान युगपत्–एक साथ जानता है । यहां पर द्रव्य पदार्थका विवेचन किया जाता है–

स्वपर्यायान् द्रवति द्रूयते वा तैरिति द्रव्यं ॥ १ ॥

जो अपने पर्यायोंको प्राप्त करैं अथवा जिसके द्वारा अपने पर्याय प्राप्त किये जांय उसका नाम द्रव्य है । द्रु धातुसे यत् प्रत्यय करने पर द्रव्य शब्दकी सिद्धि हुई है । यद्यपि यहां यह शंका हो सकती है कि कर्ममें 'यत्' प्रत्यय करने पर द्रव्य शब्द सिद्ध हो सकता है, कर्तामें यत् प्रत्यय कैसे होगा परंतु

वह ठीक नहीं। जिन प्रत्ययोंकी कृत्य संज्ञा है वे बहुलतासे होते हैं। कर्ममें ही होते हैं यह नियम नहीं इसलिये बहुलताकी अपेक्षा कर्ता अर्थमें भी द्रव्य शब्द साधु है।

कथंचिद्भेदसिद्धौ तत्कर्तृकर्मव्यपदेशसिद्धिः ॥ २ ॥ इतरथा हि तदप्रसिद्धेरत्यंताव्यतिरेकात् ॥ ३ ॥

द्रव्य और पर्यायोंमें कथंचित् भेद माननेसे ही कर्ता और कर्मकी व्यवस्था है। यदि उनमें सर्वथा अभेद ही माना जायगा तो सर्वथा अभिन्न द्रव्य पर्यायोंमें कर्ता कर्मकी व्यवस्था नहीं बन सकेगी क्योंकि सर्वथा विशेषरहित अभिन्न ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो विना किसी अन्य शक्तिका अवलंबन किये कर्ता और कर्म कहाया जा सके। द्रव्य और पर्यायोंमें कर्ता कर्मकी व्यवस्था इष्ट है इसलिये उस व्यवस्थाकी सिद्धिके लिए उनमें पर्यायार्थिक नयरूप शक्तिकी अपेक्षा कथंचित् भेद मानना ही होगा। अब पर्यायशब्दका विवेचन किया जाता है—

मिथोभवनं प्रतिविरोध्यविरोधिनां धर्माणामुपात्तानुपात्तहेतुकानां शब्दांतरात्मलाभनिमित्तत्वा-

दर्पितव्यवहारविषयोऽवस्थाविशेषः पर्यायः ॥ ४ ॥

कुछ धर्म आपसमें एक जगह पर रहनेके विरोधी हैं और कुछ अविरोधी हैं तथा कुछ उपात्त हेतुक हैं और कुछ अनुपात्त हेतुक हैं एवं जिनका आत्मलाभ—व्यवहार दूसरे दूसरे शब्दोंके आधीन है इस रीतिसे अपने आत्मलाभमें दूसरे दूसरे शब्दोंकी अपेक्षा रखनेके ही कारण जिनका संसारमें व्यवहार है ऐसे द्रव्यके अवस्था विशेष-धर्मोंका नाम पर्याय है। इसका खुलासा इस प्रकार है—

कुछ धर्म एक साथ नहीं रहते इसलिये वे आपसमें विरोधी हैं। अनेक एक साथ रहते हैं इसलिये

वे अविरोधी हैं। उनमें जीवके अनादि पारिणामिक चैतन्य जीवत्व, द्रव्यत्व, भव्यत्व, अथवा अभव्यत्व ऊर्ध्वगति स्वभाव और अस्तित्व आदिके साथ औदयिक आदिभाव यथासंभव एक साथ होते हैं इसलिये वे आपसमें अविरोधी हैं। तथा नारक तिर्यंच देव मनुष्य स्त्री पुंलिंग नपुंसकलिंग एकेंद्रिय दोइंद्रिय तेइंद्रिय चौइंद्रिय पंचेंद्रिय बाल्य कौमार क्रोध और हर्ष आदि गुण आपसमें एक साथ एक जगहपर नहीं होते इसलिये विरोधी हैं। पुद्गलके अनादि पारिणामिक रूप रस गंध स्पर्श शब्द सामान्य अस्तित्व आदि धर्म, सफेद १ काला २ नीला ३ पीला ४ और लाल ५ ये पांच रंग, तीखा १ आम्ल २ कडवा ३ मीठा ४ और कषेला ५ ये पांच रस, सुगंधि १ दुर्गंधि २ ये दो गंध, कोमल १ कठिन २ भारी ३ हलका ४ ठंडा ५ गरम ६ चिकना ७ और रूखा ८ ये आठ स्पर्श तथा तत वितत आदि छै प्रकारका शब्द इसप्रकार इन पर्यायोंके साथ हरएक दोरूप आदिका एक तीन चार पांच संख्यात अनंतगुणस्वरूप परिणमन हुआ करता है इसलिए इन पर्यायोंके एक साथ एक जगह होनेके कारण वे आपसमें विरोधरहित हैं और सफेद काला नीला तीखा कडवा सुगंध और दुर्गंध आदि पर्यायें परमाणुओंमें स्वभावजनित हैं, प्रयोगजनित नहीं हैं और स्कंधोंमें प्रयत्नजनित भी हैं। स्वभावजनित भी हैं एक साथ परमाणु वा स्कंधोंमें नहीं रहतीं इसलिए वे आपसमें एक दूसरेके विरोधी हैं। इसप्रकार जीव और पुद्गलकी अपेक्षा विरोधी और अविरोधी धर्मोंका स्वरूप वर्णन किया गया है इसी तरह धर्मास्तिकाय आदि द्रव्योंके भी अमूर्तत्व अचेतनत्व असंख्येय प्रदेशत्व गति कारण स्वभाव और अस्तित्व आदि धर्म अगुरु लघु गुणके

१—भव्यत्व तथा अभव्यत्व दोनों एक साथ नहीं रह सकते इसलिए जीवत्व आदिके साथ इन दोनोंमें एक किसीका अविरोध समझना चाहिये।

हानि वृद्धि रूप अनंत विकारोंके साथ तथा स्वप्रत्यय—अपनेसे ही होने वाले और परप्रत्यय-दूसरे निमित्तोंसे होनेवाले, गतिकारणत्व विशेष आदि धर्मोंके साथ आपसमें एक जगह रहनेके कारण विरोधरहित हैं और एक जगह न रहनेके कारण विरोधसहित भी हैं। उपर्युक्त धर्मोंमें बहुतसे औदयिक आदि धर्म द्रव्य क्षेत्र काल और भावरूप कारणोंसे उत्पन्न होते हैं इसलिए उपात्त हेतुक—सकारणक है, और जिनका कभी भी विकार नहीं हो सकता—चेतनसे अचेतनरूप नहीं परिणत हो सकते, ऐसे पारिणामिक चैतन्य आदि भावोंका कोई भी उत्पादक कारण नहीं इसलिए वे अनुपात्तहेतुक—अकारणक हैं इसप्रकार उन उपात्तहेतुक और अनुपात्तहेतुक विरोधी अविरोधी धर्मोंके आत्मलाभ—व्यवहारमें निमित्त कारण दूसरे दूसरे शब्द हैं इसीलिए यह चेतन है यह नारकी वा बालक है यह व्यवहार होता है इस रीतिसे जो द्रव्यके अवस्थाविशेष—धर्म द्रव्यार्थिक नयके विषय न होकर पर्यायार्थिक नयके विषय हैं और व्यवहार ऋजुसूत्र और शब्द नयसे जिनका संसारमें व्यवहार होता है उन धर्मोंका ही नाम पर्याय है।

तयोरितरेतरयोगलक्षणो द्वंद्वः ॥ ५ ॥

सूत्रमें जो 'द्रव्यपर्याय' शब्द है उसका 'द्रव्याणि च पर्यायाश्च द्रव्यपर्यायाः' यह इतरेतरयोग नामका द्वंद्व समास है। शंका—

द्वंद्वेऽन्यत्वं प्लक्षन्यग्रोधवदिति चेन्न तस्य कथंचिद्भेदेपि दर्शनात् गोत्वगोपिंडवत् ॥ ६ ॥

जो पदार्थ आपसमें भिन्न होते हैं उनका इतरेतर योग द्वंद्व समास होता है जिसतरह 'प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च प्लक्षन्यग्रोधौ' यहांपर प्लक्ष और न्यग्रोध दोनों भिन्न भिन्न पदार्थ हैं इसलिए इनका आपसमें इतरेतर योग द्वंद्व समास है। द्रव्य पर्याय शब्दमें भी इतरेतर योग द्वंद्व माना है इसलिए द्रव्य और

पर्याय शब्द भी आपसमें सर्वथा भिन्न होने चाहिए। सो ठीक नहीं। गोपिंडसे गोत्व पदार्थ सर्वथा भिन्न नहीं कथंचित् भिन्न है, तो भी गोत्वं च गोपिंडश्च 'गोत्वगोपिंडौ' यह वहां पर इतरेतर योग द्वंद्व समास होता है उसीतरह पर्याय भी द्रव्यसे कथंचित् भिन्न है इसलिए वहांपर इतरेतर योग नामका द्वंद्व समास बाधित नहीं। इस प्रकार कथंचित् भेद पक्षमें भी इतरेतर योग द्वंद्व समास होता है तब उपर्युक्त शंकाके आधार पर द्रव्य और पर्यायोंको सर्वथा भिन्न मानना निर्हेतुक है।

नैयायिक और वैशेषिकोंने सामान्य और विशेष पदार्थोंको सर्वथा भिन्न माना है इसलिए यदि उनकी ओरसे यहां यह शंका हो कि गोत्व सामान्य और गोपिंड विशेष इन दोनोंका इतरेतर योग द्वंद्व समास साध्यसम है अर्थात् सर्वथा आपस में भिन्न भिन्नोंका है इसलिए गोत्व और गोपिंडमें कथंचित भेद मान कर जो कथंचित् भेद पक्षमें इतरेतर योग द्वंद्वका संभव निर्दोष कहा है वह अयुक्त है ? सो ठीक नहीं। सामान्य और विशेष दोनों पदार्थ आपसमें अभिन्न हैं यह पहिले कहा जा चुका है। इसलिए उनको आपसमें सर्वथा भिन्न मानना बाधित है। इस रीतिसे कथंचित् भिन्न पदार्थोंमें भी जब इतरेतर योग द्वंद्व होता है तब द्रव्य पर्याय शब्दमें इतरेतर योग द्वंद्व मानना बाधित नहीं कहा जा सकता। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

द्रव्यगृहणं पर्यायविशेषणं चेन्नानर्थक्यात् ॥ ७ ॥ द्रव्याज्ञानप्रसंगाच्च ॥ ८ ॥

'द्रव्यपर्याय' शब्दमें 'द्रव्याणां पर्यायाः द्रव्यपर्यायाः' द्रव्योंकी पर्याय, यह षष्ठी तत्पुरुष समास कर द्रव्य; पर्यायका विशेषण है ? सो ठीक नहीं। पर्याय सिवा द्रव्यके अन्य पदार्थके नहीं हो सकते। यदि द्रव्यको पर्यायका विशेषण माना जायगा तो फिर पर्याय शब्दका उल्लेख ही उपयुक्त है, द्रव्य शब्द

का उल्लेख करना व्यर्थ है। इसलिये 'द्रव्याणां पर्यायाः द्रव्यपर्यायाः ऐसा षष्ठी तत्पुरुष समास न मानकर द्रव्याणि च पर्यायाश्च द्रव्यपर्यायाः यह इतरेतरयोग द्वंद्व मानना ही ठीक है तथा षष्ठी तत्पुरुष समास उत्तर पदार्थ ही प्रधान होता है इसलिये षष्ठी तत्पुरुष माननेसे पर्यायोंको ही मुख्यता आवेगी द्रव्यकी मुख्यता नहीं रहेगी इसलिये इतरेतर द्वंद्व ही उपयुक्त है। यदि यहांपर भी यह शंका की जाय कि—

जैन सिद्धांतमें पर्यायोंके समुदायको द्रव्य माना है। पर्यायोंसे भिन्न द्रव्य कोई पदार्थ नहीं इसलिये केवलज्ञानसे जब समस्त पर्याय जान ली जायगी तब उनसे भिन्न कोई द्रव्य पदार्थ तो वाकी बचेगा नहीं फिर पर्यायोंसे भिन्न द्रव्य शब्दका ग्रहण निरर्थक है? सो ठीक नहीं। यदि वादी द्रव्य और पर्यायोंका भेद मानता है तब तो पर्यायसे भिन्न द्रव्य शब्दका उल्लेख कार्यकारी है और यदि उसे पर्याय स्वरूप ही मानता है तब पर्यायोंके जाननेसे उसका भी ज्ञान हो सकता है कोई दोष नहीं। यह विषय ऊपर विस्तारसे निरूपण भी कर दिया है इसलिये द्रव्य और पर्यायोंका कथंचित् भेद मान 'द्रव्य पर्याय शब्दका इतरेतरयोग द्वंद्व माना है वह सार्थक है। यदि यहांपर भी यह शंका की जाय कि पर्यायसे भिन्न जब द्रव्य पदार्थ कोई चीज नहीं तब 'द्रव्यपर्याय' शब्दका द्वंद समास माननेपर भी द्रव्य ग्रहण व्यर्थ ही है? सो भी ठीक नहीं। यदि सर्वथा द्रव्य और पर्यायोंका अभेद संबंध सिद्ध हो, तब तो अवश्य ही द्रव्य शब्दका उल्लेख व्यर्थ है किंतु नाम संख्या और लक्षणोंके भेदसे द्रव्य और पर्यायोंका कथंचित् भेद माना है इसलिये कथंचित् भेद होनेसे द्रव्य शब्दका उल्लेख निरर्थक नहीं। अन्यथा संसारमें जो यह 'द्रव्य, द्रव्य' व्यवहार होता है वह द्रव्यके न कहने पर न होगा इसरीतिसे जब द्रव्य पर्यायोंका कथंचित् भेद है तब सर्वथा पर्यायस्वरूप द्रव्य मानकर द्रव्य शब्दका उल्लेख व्यर्थ नहीं हो सकता और

न सर्वथा अभेदपक्षमें 'द्रव्यपर्याय' शब्दका द्वंद्व समास ही हो सकता इसलिये कथंचित् भेद पक्षमें 'द्रव्याणि च पर्यायाश्च द्रव्यपर्यायाः' यह इतरेतर योग द्वंद्वसमास निर्दोष है शंका—'सर्वद्रव्यपर्यायेषु यहां पर बहुवचनांत शब्दका उल्लेख किया है इसलिये बहुवचनके उल्लेखसे ही जब बहुत से द्रव्य और पर्यायोंका ग्रहण हो जायगा तब वहांपर सर्व शब्दका ग्रहण व्यर्थ ही है ? उत्तर—

सर्वगृहणं निरवशेषप्रतिपत्त्यर्थं ॥ ९ ॥

लोकाकाश और अलोकाकाशमें रहनेवाले भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालोंके विषयभूत द्रव्यों के पर्याय अनंत हैं वे समस्त केवलज्ञानके विषय हैं यह वतलानेकेलिये सर्वद्रव्येत्यादि सूत्रमें सर्व शब्द का ग्रहण किया गया है खास तात्पर्य यहांपर यह है कि लोकाकाश और अलोकाकाशका स्वभाव अनंत है उससे भी पदार्थ अनंतानंत हैं उन सबको स्पष्ट रूपसे केवलज्ञान जानता है यह अपरिमित माहात्म्य केवलज्ञान ही का है यह समझलेना चाहिये। यदि सूत्रमें सर्व शब्दका उल्लेख नहीं होता तो यह अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि बहुवचनके अंदर यह सामर्थ्य है कि उससे बहुतसे पदार्थोंका ग्रहण हो सकता है किंतु यावन्मात्र पदार्थोंको केवलज्ञान विषय करता है यह अर्थ बहुवचनसे नहीं लिया जा सकता ॥ २९ ॥

मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदिके विषयका संबंध अच्छीतरह जान लिया गया परंतु यह वात अभीतक नहीं जानी कि अपने अपने कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले मतिज्ञान आदि ज्ञान एक आत्मामें एक साथ कितने रह सक्ते हैं ? इस वातको सूत्रकार वतलाते हैं—

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ३० ॥

एक जीवके एक साथ एकसे लेकर चार पर्यंत ज्ञान रह सकते हैं अर्थात् यदि किसी जीवके एक ज्ञान हो तो केवलज्ञान होता है। दो ज्ञान हों तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं। तीन ज्ञान हों तो मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान वा मतिज्ञान श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान होते हैं एवं चार हों तो मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये चार होते हैं। सूत्रमें जो एक शब्द है उसका वार्तिककार अर्थ बतलाते हैं—

अनेकार्थसंभवे विवक्षातः प्राथम्यवचन एकशब्दः ॥ १ ॥

एक शब्दके अनेक अर्थ हैं। 'एकं द्वौ बहवः' यहांपर एक शब्दका अर्थ एक संख्या है। एके 'आचार्याः—अन्ये आचार्याः' यहांपर एक शब्दका अर्थ 'अन्य' माना है। 'एकाकिनस्ते विचरंति वीराः' वे वीर पुरुष विना किसीके सहायताके अकेले ही विहार करते हैं। यहांपर एक शब्दका अर्थ 'असहाय' है। 'एकमागमनं—प्रथममागमनं' पहिला आना हुआ, यहांपर एक शब्दका अर्थ पहिला है। 'एकहतां सेनां करोमि—प्रधानहतां सेनां करोमीत्यर्थः' मैं प्रधान द्वारा सेनाको नष्ट कराता हूं, यहांपर एक शब्दका अर्थ 'प्रधान' है। सूत्रमें जो एक शब्द कहा गया है उसका यहां प्रधान अर्थ विवक्षित है। अर्थात् मतिज्ञान आदि लेकर एक आत्मामें एक साथ चार ज्ञान विवक्षित हैं।

आदिशब्दश्चावयववचनः ॥ २ ॥ सामीप्यवचनो वा ॥ ३ ॥

आदि शब्दके भी अनेक अर्थ होते हैं। ब्राह्मणादयश्चत्वारो वर्णाः—ब्राह्मणव्यवस्थाः, ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः, इत्यर्थः। अर्थात्—ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णोंकी ब्राह्मण वर्णके आधीन

व्यवस्था है। यहांपर आदि शब्दका अर्थ व्यवस्था है। 'भुजंगादयः परिहर्तव्याः भुजंगप्रकारा विषवंत इत्यर्थः' सर्प आदि विषवाले जीवोंको दूरसे ही छोड देना चाहिये। यहांपर आदि शब्दका अर्थ प्रकार-भेद है। 'नद्यादीनि क्षेत्राणि-नदीसमीपानीत्यर्थः' नदीके समीप क्षेत्र हैं, यहांपर आदि शब्दका अर्थ समीप है। ऋगादिमधीते-ऋगवयवमधीते इत्यर्थः ऋग्वेदके कुछ भागको पढता है, यहांपर आदि शब्दका अर्थ अवयव है। सूत्रमें जो आदि शब्द दिया है उसका भी अर्थ यहां 'अवयव' विवक्षित है। अर्थात् 'एककी प्रथम-परोक्षज्ञानकी आदि-अवयव-मतिज्ञानको आदि लेकर' यह एकादि शब्दका अर्थ है। अथवा आदि शब्दका अर्थ समीप भी है। मतिज्ञानके समीप श्रुतज्ञान है इसलिये एक शब्दके उल्लेखसे मतिज्ञान और आदिके शब्दके उल्लेखसे श्रुतज्ञानको ग्रहण कर मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको आदि लेकर एक आत्मामें एक साथ चार तक ज्ञान होते हैं यह सूत्रका स्पष्ट अर्थ है। शंका—

मतेर्बहिर्भावप्रसंग इति चेन्नानयोः सदाऽव्यभिचारात् ॥ ४ ॥

आदि शब्दका अर्थ समीप मानकर 'एकस्य आदि एकादिः' ऐसी व्युत्पत्तिसे प्रथम निर्दिष्टके समीपको आदि लेकर यदि यह अर्थ किया जायगा तो प्रथम निर्दिष्ट-मतिज्ञानके समीप श्रुतज्ञान है। इसलिये श्रुतज्ञानको आदि लेकर (एक आत्मामें एक साथ चार ज्ञान होते हैं) यह अर्थ होगा। मति-ज्ञानको आदि लेकर यह अर्थ न हो सकेगा। इसरीतिसे मतिज्ञान छूट जायगा। सो ठीक नहीं। जिस तरह नारद और पर्वतका आपसमें सहचर सम्बंध है-अव्यभिचारितरूपसे नारद और पर्वत एक साथ रहते हैं, इसलिये नारदका नाम लेनेसे पर्वतका ग्रहण और पर्वतका नाम लेनेसे नारदका ग्रहण हो जाता है उसी तरह मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको भी आपसमें अव्यभिचारितरूपसे सहचारीपना है। ऐसा कोई

भी आत्मा नहीं जहांपर दोनों एक साथ न रहें इसलिये जहांपर मतिज्ञानका उल्लेख होगा वहांपर श्रुतज्ञानका भी ग्रहण होगा और जहांपर श्रुतज्ञानका ग्रहण होगा वहांपर मतिज्ञानका भी ग्रहण समझा जायगा। यद्यपि आदि शब्दका समीप अर्थकर 'मतिज्ञानके समीपमें रहनेवाले श्रुतज्ञानको आदि लेकर' ऐसा अर्थ करनेपर मतिज्ञानका ग्रहण नहीं होता तथापि श्रुतज्ञानके ग्रहणसे मतिज्ञानका भी साहचर्य सम्बंधसे वहांपर ग्रहण है इसलिये मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको आदि लेकर एक साथ एक आत्मामें चार ज्ञान तक रह सकते हैं ऐसे अर्थके माननेमें कोई आपत्ति नहीं। शंका—

ततोऽन्यपदार्थे वृत्तावेकस्यादिशब्दस्य निवृत्तिरुष्ट्रमुखवत् ॥ ५ ॥

'एकादिरादिर्येषां तानीमान्येकादीनि' एकादिको आदि लेकर जो ज्ञान हैं वे एकादि कहे जाते हैं, यह यहां पर जो बहुव्रीहि समास है उसमें दो आदि शब्दोंका उल्लेख है इसलिये समस्त पदमें भी दो आदि शब्द रहने चाहिये अर्थात् 'एकाद्यादीनि' ऐसा समस्त पद होना चाहिये ? सो ठीक नहीं। उष्ट्रस्य मुखं उष्ट्रमुखं, उष्ट्रवन्मुखं यस्येति उष्ट्रमुखं अर्थात् जिसका मुख ऊंट सरीखा हो वह उष्ट्रमुख पुरुष कहा जाता है और जिसका मुख ऊंटके मुखवाले पुरुष सरीखा हो वह भी उष्ट्रमुख ही कहा जाता है, यहां पर जिसतरह उष्ट्रमुख शब्दका बहुव्रीहि समास करते समय दो मुख शब्दोंका उल्लेख रहता है और समस्त पदमें एक ही मुख शब्द रह जाता है एक मुख शब्दकी निवृत्ति हो जाती है उसीतरह 'एकादीनि' यहां पर भी दो आदि शब्दोंमें एक ही आदि शब्द रह जाता है एक आदि शब्दकी निवृत्ति हो जाती है।

अवयवेन विग्रहः समुदायो वृत्त्यर्थः ॥ ६ ॥

जिस पदका समास किया जाता है उसका विग्रह तो अवयवोंके साथ होता है और समासका अर्थ समुदायगत माना जाता है । 'एकादीनि' यह समस्त पद है यहां पर विग्रह तो एक, आदि रूप उस पदके अवयवोंके साथ है परंतु मतिज्ञान और 'श्रुतज्ञानको लेकर ज्ञान' (भाज्य हैं) यह समासका अर्थ 'एकादीनि' इस समुदायगत है। सूत्रमें जो 'आचतुर्भ्यः' पद है वह इस नियमकेलिए है कि एक साथ एक आत्मामें चार पर्यंत ही ज्ञान होते हैं सब–पांचों नहीं होते । यदि 'आचतुर्भ्यः' पद सूत्रमें न होता तो एक साथ एक जगह पर पांचो ज्ञानोंका विधान हो जाता । यदि यहां पर यह शंका की जाय कि पांचों ज्ञानोंका क्यों एक साथ संभव नहीं होता ? उसका समाधान इसप्रकार है–

केवलस्यासहायत्वादितरेषां च क्षयोपशमनिमित्तत्वाद्यौगपद्याभावः ॥ ७ ॥

पांचों ज्ञानोंमें केवलज्ञान असहाय ज्ञान है उसे कर्मोंके क्षयोपशमकी सहायताकी अपेक्षा नहीं रहती शेष मतिज्ञान आदि चारों ज्ञानोंको कर्मोंके क्षयोपशमकी अपेक्षा रहती है इसलिये वे असहाय नहीं इस रीतिसे ज्ञानोंमें आपसमें विरोध रहनेके कारण वे एक साथ नहीं हो सकते इसलिये सूत्रमें जो 'आच-तुर्भ्यः' पद है, वह नियामक और सार्थक है। शंका–

नाभावोऽभिभूतत्वादहनि नक्षत्रवदिति चेन्न क्षायिकत्वात् ॥ ८ ॥

जिससमय सूर्यका प्रकाश पृथ्वीमंडल पर पडता है उससमय नक्षत्रोंका प्रकाश दब जाता है किंतु वहां यह नहीं कहा जाता कि नक्षत्रोंकी नास्ति ही हो गई है । उसीतरह जिससमय आत्मामें अत्यंत जाज्वल्यमान केवलज्ञानका उदय होगा उससमय क्षायोपशमिक मतिज्ञान आदिका प्रभाव दब जायगा किंतु केवलज्ञानके साथ उनका आस्तित्व ही नहीं है यह क्योंकि केवलज्ञान सर्वथा निरावरण ज्ञान है

नहीं कहा जा सकता। इसरीतिसे जब केवलज्ञानके साथ साथ क्षायोपशमिक ज्ञान—मतिज्ञान आदिका भी होना युक्ति सिद्ध है तब सूत्रमें 'आचतुर्भ्यः' इस पदसे एक साथ एक आत्मामें मतिज्ञान श्रुतज्ञानको लेकर चार ही ज्ञान होते हैं यह नियमस्वरूप कथन विरुद्ध है ? सो ठीक नहीं। जो स्थान सब जगह शुद्ध हो चुका है वहां पर कोई भाग अशुद्ध नहीं कहा जा सकता उसीप्रकार जब समस्त ज्ञानावरण कर्मका निर्मूल नाश हो चुका है—जरा भी अंश नाशकेलिए वाकी नहीं है तब वहां पर उसका क्षायोपशम कहना बाधित है। ज्ञानावरण कर्मके सर्वथा नाश करने पर केवलज्ञान होता है इसलिये जिस आत्मामें उसका उदय है उसमें मतिज्ञान आदि क्षयोपशामिक ज्ञानोंका रहना नहीं हो सकता। इसलिये एक साथ एक आत्मामें मतिज्ञानको आदि लेकर चारतक ज्ञानोंका जो नियम है वह निर्बाध और निर्दोष है। यदि फिर यहांपर यह शंका की जाय कि—

इंद्रियत्वादिति चेन्नार्षार्थानवबोधात् ॥ ९ ॥

'पंचेंद्रिया असंज्ञिपंचेंद्रियादारभ्य आ अयोगकेवलिन इति, अर्थात् असंज्ञी पंचेंद्रियसे लेकर अयोग केवलीपर्यंत सब जीव पंचेंद्रिय हैं। यह शास्त्रका वचन है। जिनके केवलज्ञान हैं वे भी जब पंचेंद्रिय हैं और उनके पांचों इंद्रियां मौजूद हैं तब इंद्रियोंके कार्य मतिज्ञान आदि क्षायोपशमिक ज्ञान होने चाहिये क्योंकि समर्थ कारण इंद्रियोंके रहते कार्य ज्ञान अवश्यंभावी हैं। इसलिये केवलज्ञानके अस्तित्वकालमें मतिज्ञान आदि नहीं हो सकते यह कहना निर्मूल है? सो ठीक नहीं। तुमने आर्ष रहस्यको नहीं समझा है आर्षमें बतलाया है कि—सयोगकेवली और अयोगकेवलीको जो पंचेंद्रिय बतलाया है वह द्रव्येंद्रिय की अपेक्षा है, भावेंद्रियकी अपेक्षा नहीं क्योंकि जहांपर भावेंद्रियका अस्तित्व है वहांपर समस्त ज्ञाना-

वरण कर्मका क्षय नहीं हो सकता एवं ज्ञानावरणकर्मके निर्मूल क्षयके विना सर्वज्ञपना भी असंभव है। यदि सयोगकेवली और अयोगकेवलीके भावेंद्रियकी सत्ता मानी जायगी तो उनके ज्ञानावरण कर्मका निर्मूल क्षय न हो सकेगा एवं ज्ञानावरण कर्मके निर्मूल क्षयके विना वे सर्वज्ञ भी नहीं कहे जा सकेंगे तथा जहांपर भावेंद्रियकी सत्ता है वहीं पर मतिज्ञान आदि क्षायोपशमिक ज्ञानोंका आविर्भाव होता है, केवल द्रव्येंद्रिय के अस्तित्व कालमें नहीं क्योंकि द्रव्येंद्रियकी सत्ताको निःशक्तिक माना है, वह ज्ञानोंकी उत्पत्तिमें कारण नहीं बन सकती इसलिये जब केवलज्ञानके उदय रहने पर भावेंद्रियका अस्तित्व नहीं रहता तब केवलज्ञानके साथ कारण भावेंद्रियके अभावमें कार्य मतिज्ञानादि नहीं हो सकते अतः 'एक आत्मा में एक साथ मतिज्ञान आदि चार ही ज्ञान हो सकते हैं सब नहीं यह बात निर्बाध है। इसप्रकार उपर्युक्त युक्तिपूर्ण कथनसे यह बात सिद्ध हो चुकी कि यदि एक आत्मामें एकसाथ दो ज्ञान होंगे तो मतिज्ञान श्रुतज्ञान ही होंगे। तीन होंगे तो मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान वा मतिज्ञान श्रुतज्ञान मनःपर्ययज्ञान होंगे और चार होंगे तो मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान होंगे किंतु पांचों ज्ञान एक साथ नहीं हो सकते।

संख्यावचनो वैकशब्दः ॥ १० ॥

अथवा एकादीनि यहांपर जो एक शब्द है उसका अर्थ एकत्व संख्या है। जिन ज्ञानोंकी आदिमें एक हो वे एकादि हैं यह एकादि पदका अर्थ है। वह इसप्रकार है। श्रुतज्ञान दो प्रकारका है एक अक्षरात्मक दूसरा अनक्षरात्मक। अक्षरात्मक श्रुतज्ञान दो, अनेक और बारह प्रकारका है एवं उपदेशपूर्वक होता है, यह ऊपर कहा जा चुका है। वह अक्षरात्मक श्रुतज्ञान भाज्य है—किन्हीं जीवोंके होता है किन्हींके

नहीं, इसलिए अक्षरात्मक श्रुतज्ञानकी अपेक्षा एक आत्मामें अकेला मतिज्ञान भी हो सकता है। दो ज्ञान मतिज्ञान श्रुतज्ञान होते हैं। शेष सब प्रक्रिया पहिलेके समान है। दूसरे दूसरे आचार्योंका कहना है कि एक शब्द असंख्या असहाय और प्रधान अर्थका वाचक है इसलिये एकका अर्थ केवलज्ञान है क्योंकि मतिज्ञान आदि अन्य क्षायोपशमिक ज्ञान असहाय और प्रधान नहीं हो सकते इसरीतिसे एक आत्मामें एक साथ केवलज्ञानको आदि लेकर चार पर्यंत ज्ञान हो सकते हैं यह अर्थ है। यदि एक ज्ञान होगा तो केवलज्ञान ही होगा दो ज्ञान होंगे तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होंगे। तीन होंगे तो मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान वा मतिज्ञान श्रुतज्ञान मनःपर्ययज्ञान होंगे और यदि चार होंगे तो मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान होंगे यह सब प्रक्रिया पूर्ववत् ही है ॥ ३० ॥

जिन मति आदिका ऊपर निरूपण किया गया है उनकी ज्ञान ही संज्ञा है वा और भी कोई संज्ञा है? इस वातको सूत्रकार कहते हैं—

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥ ३१ ॥

मति श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान विपरीत भी होते हैं अर्थात् मति आदि पांचों ज्ञानोंको जो सम्यग्ज्ञान कह आये हैं उनमें आदिके तीन ज्ञान मिथ्याज्ञान भी हो जाते हैं। इस सूत्रमें सम्यक् शब्दकी अनुवृत्ति आ रही है इसलिये सूत्रमें जो विपर्यय शब्द है उसका अर्थ मिथ्या है। च शब्दके अर्थ बहुतसे हैं उनमें यहां समुच्चय अर्थ है इसलिये मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान सम्यग्ज्ञान भी होते हैं और मिथ्याज्ञान भी होते हैं। मतिज्ञान आदि विपरीत ज्ञान क्यों हैं? वार्तिककार इस बातका समाधान करते हैं—

मिथ्यादर्शनपरिग्रहान्मत्यादिविपर्ययः ॥ १ ॥ सरजसकटुकालांबूगतदुग्धवत्स्वगुणविनाशः ॥ २ ॥
पारिणामिकशक्तिविशेषात् ॥ ३ ॥

दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे जो आत्माका मिथ्यादर्शन परिणाम होता है उसके साथ मति आदि ज्ञान भी एक जगह रहते हैं—दोनों एक साथ आत्मामें रहते हैं इसलिये मिथ्यात्वके संबंधसे मतिज्ञान आदि मिथ्याज्ञान कहे जाते हैं । यदि यहां पर यह शंका की जाय कि जिसतरह विष्टागृहमें लगे हुए मणि और सोना आदि कीमती धातुओंके स्वभावका विनाश नहीं होता, अर्थात्—महा निकृष्ट भी विष्टागृहमें लगे रहने पर मणि; मणि ही और सोना; सोना ही रहता है । विष्टाके समान वे निकृष्ट नहीं गिने जाते उसीप्रकार मिथ्यादर्शनके आधार आत्मामें भले ही मतिज्ञान आदिका रहना हो तो भी उनके सम्यक्त्व भावका नाश नहीं हो सकता—सम्यग्ज्ञानके स्थानपर वे मिथ्याज्ञान नहीं कहे जा सकते? सो ठीक नहीं । जिसप्रकार रज सहित कड़वी तूंबीमें रक्खा हुआ दूध अपने मीठे स्वभावको छोड देता है अर्थात् जिसतरह तूंबी कड़वी है उसीप्रकार दूध भी कडवा हो जाता है क्योंकि आधारमें जो दोष होता है वह आधेयमें भी हो जाता है दूधकी आधारभूत तूंबीमें कडवापनका दोष है इसलिये आधेय स्वरूप दूधमें भी वह कडवापन आ जाता है उसीप्रकार मतिज्ञान आदि तीनों ज्ञानोंका आधार मिथ्यादृष्टि आत्मा है इसलिये जब आधार आत्मामें मिथ्यात्व दोष मौजूद है तब वह आधेयस्वरूप आत्मामें भी आवेगा आधारके मिथ्यात्वयुक्त होनेसे मतिज्ञान आदि भी मिथ्या कहे जांयगे इसलिये मिथ्यात्वके साथ एक आधारमें रहनेके कारण मतिज्ञान आदि तीनों ज्ञानोंको मिथ्याज्ञान मानना ही होगा ।

यदि यहां फिर भी यह शंका की जाय कि—आधारमें जो वातें हों वे आधेयमें होती ही हैं यह कोई

एकांत नहीं मणि सुवर्ण आदि उत्तम पदार्थोंका आधार विष्टागृह है परन्तु विष्टागृहके अंदर जो निकृष्टता है वह मणि और सुवर्ण आदिके अंदर नहीं आती। वे अपने उत्तम बहुमूल्य स्वभावको न छोडने के कारण विष्टागृहमें भी उत्तम बहुमूल्य ही माने जाते हैं इसलिये हठात् आत्मामें यह संदेह उठ खडा होता है कि क्या जिसतरह कडवी तूंबीमें रहनेवाला दूध अपने मीठे स्वभावको छोड देता है—कडवा हो जाता है उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि आत्मामें रहनेवाले मतिज्ञान आदि भी मिथ्यात्वके संबंधसे अपना सम्यक्त्व स्वभाव छोडकर मिथ्या हो जाते हैं ? अथवा जिसतरह विष्टागृहमें लगे हुए मणि और सुवर्ण आदि पदार्थ अपना बहुमूल्य स्वभाव नहीं छोडते उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि आत्मामें रहनेपर भी मतिज्ञान आदि अपने सम्यक् स्वभावको नहीं छोडते ? यह नियम है जहांपर संशय रहता है वहां पदार्थका निर्णय होता नहीं। यहांपर संशय विद्यमान है इसलिये मिथ्यात्वके संबंधसे मतिज्ञान आदि तीनों ज्ञान मिथ्याज्ञान हो जाते हैं यह वात प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। सो भी ठीक नहीं। जो पदार्थ परिणमन कराने में समर्थ है उसकी शक्तिकी विशेषतासे अन्यथाभाव—विपरिणमन हो जाता है। तूंबी पदार्थ दूधके विपरिणमन—कडवा बनानेमें समर्थ है इसलिये उसके संबंधसे दूध कडवा हो जाता है। मिथ्यादर्शन भी मतिज्ञान आदि तीनों ज्ञानोंके विपरीत परिणमन—मिथ्याज्ञान बनानेमें समर्थ है इसलिये उसके संबंधसे मतिज्ञान आदि मिथ्याज्ञान हो जाते हैं। विष्टागृह मणि सुवर्ण आदि बहुमूल्य पदार्थोंके विपरीत परिणमनमें समर्थ नहीं इसलिये उनका विकार—विपरीत परिणाम नहीं होता किंतु जो द्रव्य मणि सुवर्ण आदिका भी विपरिणमन करानेवाला है उसके संबंधसे मणि आदिका भी नियमसे विपरिणमन होता है इसलिये यह वात सिद्ध हो चुकी कि जबतक आत्मामें मिथ्यादर्शनका उदय रहता है तबतक उसमें

रहनेवाले मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान मिथ्याज्ञान कहे जाते हैं और जिस समय सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है एवं मिथ्यादर्शनका अभाव हो जाता है उस समय मतिज्ञान आदि सम्यग्ज्ञान कहे जाते हैं इस रीतिसे सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शनके भेदसे मतिज्ञान आदि तीनों ज्ञानोंके इसप्रकार दो दो भेद हो जाते हैं—मतिज्ञान मत्यज्ञान श्रुतज्ञान श्रुताज्ञान अवधिज्ञान और विभंगज्ञान। विशेष—

मत्यादयः समाख्यातास्त एवेत्यवधारणात्।
संगृह्येते कदाचिन्न मनःपर्ययकेवले ॥ ३ ॥
नियमेन तयोःसम्यग्भावनिर्णयतः सदा।
मिथ्यात्वकारणाभावाद्विशुद्धात्मनि संभवात् ॥ ४ ॥
दृष्टचारित्रमोहस्य क्षये वोपशमेऽपि वा।
मनःपर्ययविज्ञानं भवन्मिथ्या न युज्यते ॥ ५ ॥
सर्वघातिक्षयेऽत्यंतं केवलं प्रभवत्कथं।
मिथ्या संभाव्यते जातु विशुद्धिं परमां दधत् ॥ ६ ॥
मतिश्रुतावधिज्ञानत्रयं तु स्यात्कदाचन।
मिथ्येति ते च निर्दिष्टा विपर्यय इहांगिनां ॥ ७ ॥
स च सामान्यतो मिथ्याज्ञानमत्रोपवर्ण्यते।
संशयादि—विकल्पानां त्रयाणां संगृहीयते ॥ ८ ॥
समुच्चिनोति चस्तेषां सम्यक्त्वं व्यावहारिकं।

मुख्यं च तदनुक्तौ तु तेषां मिथ्यात्वमेव हि ॥ ९ ॥
ते विपर्यय एवेति सूत्रे चेन्नावधार्यते ।
चशब्दमंतरेणापि सदा सम्यक्त्वमत्त्वतः ॥ १० ॥
मिथ्याज्ञानं विशेषः स्यादस्मिन्पक्षे विपर्ययं ।
संशयाज्ञानभेदस्य चशब्देन समुच्चयः ॥ ११ ॥ श्लोकवार्तिक पृष्ठ २५५ ।

मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीन ज्ञान ही विपरीत ज्ञान हैं अन्य नहीं, ऐसा 'मतिश्रुताऽवधयः' इत्यादि सूत्रमें निर्धारण है इसलिये विपरीत ज्ञानोंमें मनःपर्यय और केवलज्ञानका ग्रहण नहीं क्योंकि मिथ्यादर्शनके कारणोंके सर्वथा नष्ट हो जानेपर सम्यक्त्व गुणकी प्रकटतासे जिस समय आत्मा विशुद्ध हो जाता है उससमय मनःपर्यय और केवलज्ञानका आत्मामें उदय होता है—विना सम्यक्त्व गुणके उदय नहीं हो सकता इसलिये मिथ्यात्वके संबंधसे सर्वथा दूर रहनेके कारण मनःपर्यय और केवलज्ञान कभी मिथ्या नहीं हो सकते। उन दोनों ज्ञानोंमें जिस समय दर्शन मोहनीय कर्मका सर्वथा क्षय हो जाता है और चारित्र मोहनीय कर्मका उपशम हो जाता है उस समय आत्मामें मनःपर्ययज्ञानका उदय होता है इसलिये मिथ्यात्वके साथ संबंध न रहनेके कारण वह मिथ्याज्ञान नहीं हो सक्ता तथा ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय मोहनीय और अंतराय इन चार घातिया कर्मोंके सर्वथा नष्ट हो जानेपर आत्मामें केवलज्ञानका उदय होता है। उससमय परिपूर्ण विशुद्धता केवलज्ञानमें प्रगट हो जाती है इसलिये वह भी मिथ्याज्ञान नहीं कहा जा सकता। परंतु मतिज्ञान आदि तीन ज्ञान जिससमय मिथ्यात्वके साथ आत्मा

१—मनःपर्ययज्ञान छठे गुणस्थानमें भी हो जाता है इसलिये यह प्रत्याख्यानादि कषायोंके उपशमकी अपेक्षासे कथन है।

में रहते हैं उससमय मिथ्याज्ञान हो जाते हैं इसलिये उन्हें सूत्रमें मिथ्याज्ञान कहा गया है। सामान्य रूपसे विपर्ययका अर्थ मिथ्याज्ञान है तो भी संशय विपर्यय और अनध्यवसाय इन तीनों प्रकारके ज्ञानोंका यहां ग्रहण है। सूत्रमें जो 'च' अव्ययका पाठ है उसका अर्थ समुच्चय है और उससे सूत्रमें मुख्य और व्यवहार दोनों प्रकारके सम्यक्त्वोंका ग्रहण है। यदि 'च' शब्दका उल्लेख सूत्रमें न होता तो मतिज्ञान आदि तीनों ज्ञान, मिथ्याज्ञान ही हैं यही अर्थ होता। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि 'मतिज्ञान आदि विपरीत ही ज्ञान हैं' यदि यह निर्धारण सूत्रके अंदर होता तब तो 'च' शब्दका उल्लेख सार्थक समझा जाता क्योंकि उससे सम्यक्त्वके ग्रहण होनेपर 'मतिज्ञान आदि मिथ्याज्ञान ही होते हैं' इस सिद्धांतविरुद्ध नियमकी जगह वे मिथ्या भी होते हैं और सम्यक् भी होते हैं यह वास्तविक अर्थ होता परंतु 'मतिज्ञान आदि विपरीत ही होते हैं' ऐसा नियम सूत्रमें है नहीं, इसलिये 'च' शब्दके उल्लेखके विना भी जब यह अर्थ हो सकता है कि मतिज्ञान आदि तीन ज्ञान मिथ्याज्ञान भी हैं और सम्यग्ज्ञान भी है तब 'च' शब्दका उल्लेख करना व्यर्थ ही है? सो ठीक नहीं। यदि च शब्दके विना भी 'मतिज्ञान आदि तीनों ज्ञान मिथ्यज्ञान भी हैं और सम्यग्ज्ञान भी हैं' सूत्रका यह अर्थ हो जाता है तब सूत्रमें जो 'विपर्यय' शब्द है उसका मिथ्याज्ञान अर्थ है और 'च' शब्दसे संशय और अनध्यवसायका ग्रहण है अर्थात् मतिज्ञान आदिक संशयादि स्वरूप भी हैं इस अर्थके करनेमें 'च' शब्दका उल्लेख ही प्रधान कारण है इसलिये 'च' शब्दका उल्लेख व्यर्थ नहीं। तथा—

तत्र त्रिधापि मिथ्यात्वं मतिज्ञाने प्रतीयते।
श्रुते च द्विविधं बोध्यमवधौ संशयाद्विना ॥ १२ ॥

तस्येंद्रियमनोहेतुसमुद्भूतिनियामतः ।
इंद्रियानिंद्रियाजन्यस्वभावश्चावधिः स्मृतः ॥ १३ ॥

मतौ श्रुते च त्रिविधं मिथ्यात्वं बोद्धव्यं, मतेरिंद्रियानिंद्रियनिमित्तकत्वनियमात्। श्रुतस्यानिंद्रियनिमित्तकत्वनियमात्। द्विविधमवधौ संशयाद्विना विपर्ययानध्यवसायावित्यर्थः । कुतः ? असंशयादिंद्रियानिंद्रियाजन्यस्वभावः प्रोक्तः संशयो हि चलिताप्रतिपत्तिः किमयं स्थाणुः किं वा पुरुष इति । स च सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षादुभयविशेषस्मरणात् प्रजायते । दूरस्थे च वस्तुनि इंद्रियेण सामान्यतश्च सन्निकृष्टसामान्यप्रत्यक्षत्वं विशेषाप्रत्यक्षत्वं च दृष्टं, मनसा च पूर्वानुभूततदुभयविशेषस्मरणेन । न चावध्युत्पत्तौ क्वचिदिंद्रियव्यापारोऽस्ति मनोव्यापारो वा स्वावरणक्षयोपशमविशेषात्मना सामान्यविशेषात्मनो वस्तुनः स्वविषयस्य तेन ग्रहणात् । ततो न संशयात्मावधिः । विपर्ययात्मा तु मिथ्यात्वोदयाद्विपरीतवस्तुस्वभावश्रद्धानसहभावात् संबोध्यते । तथानध्यवसायात्माप्याशु उपयोगसंहरणाद्विज्ञानांतरोपयोगाद्गच्छत्तृणस्पर्शवदुत्पाद्यते । दृढोपयोगावस्थायां तु नावधिरध्यवसायात्मापि ।

(श्लोकवार्तिक पृष्ठ २५६)

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान इन तीनों ज्ञानोंमें मतिज्ञान इंद्रिय और मनसे होता है इसलिए उसके विपरिणाम संशय विपर्यय और अनध्यवसाय तीनों मिथ्याज्ञान हैं एवं श्रुतज्ञान मन इंद्रियकी सहायतासे होता है इसलिए उसके भी विपरिणाम संशय आदि तीनों मिथ्याज्ञान हैं किंतु अवधिज्ञानके विपरिणाम विपर्यय और अनध्यवसाय ही हैं, संशय नहीं क्योंकि यह 'स्थाणु है वा पुरुष है ?' ऐसी अनेक कोटियोंको स्पर्श करनेवाले ज्ञानका नाम संशय है और जहांपर अंधकार रहनेसे दूरमें स्थित

पदार्थ स्थाणु है वा पुरुष है ऐसा स्पष्ट ज्ञान न होनेसे उन दोनोंमें रहनेवाले ऊर्ध्वता सामान्यका प्रत्यक्ष है, वक्र कोटर आदि स्थाणुके विशेष एवं शिर हाथ आदि पुरुषके विशेषोंका प्रत्यक्ष नहीं किंतु पहिले उनका ज्ञान हो चुका है इसलिए मनके द्वारा उनका स्मरण है इस रीतिसे सामान्यप्रत्यक्ष विशेषाप्रत्यक्ष और विशेषस्मरण है वहींपर संशयज्ञान होनेके कारण इंद्रियोंके आधीन इसकी उत्पत्ति मानी है परंतु अव-धिज्ञानमें इंद्रियोंके व्यापारकी वा मनके व्यापारकी कोई अपेक्षा नहीं क्योंकि उसे इंद्रिय और मनसे अजन्य माना है किंतु अवधिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमकी विशुद्धता रहने पर वह सामान्य विशेष-स्वरूप अपने विषयभूत पदार्थोंको जानता है इसलिए अवधिज्ञानका विपरिणमन संशयस्वरूप नहीं हो सकता लेकिन हां ! मिथ्यात्व नामकर्मके उदयसे विपरीत श्रद्धानस्वरूप मिथ्यादर्शनके साथ अवधिज्ञान रहता है इसलिए वह विपरीत स्वरूप है तथा जिस पदार्थकी ओर अवधिज्ञानका उपयोग लगा हुआ है कारणवश उसका पूरा ज्ञान न होनेके पहिले ही दूसरे किसी ज्ञानके विषयभूत दूसरे ही पदार्थकी ओर उपयोग लग जाय उससमय मार्गमें जाते हुए पुरुषको तृणस्पर्शके ज्ञानके समान अनिश्चयात्मक अवधिज्ञान हो जाता है इसलिए अवधिज्ञानका विपरिणमन अनध्यवसाय स्वरूप भी है किंतु जिससमय जिस पदार्थको अवधिज्ञान विषय कर रहा है उस समय यदि वह उपयोग दृढ होगा तो अवधिज्ञानका अनध्यवसायस्वरूप विपरिणमन नहीं हो सकता ॥ ३१ ॥

जिस तरह सम्यग्दृष्टि मतिज्ञानसे रूप रस आदि पदार्थोंको जानता है उसी तरह मिथ्यादृष्टिको भी मत्यज्ञानसे उनका ज्ञान होता है। जिसतरह श्रुतज्ञानसे घट आदिमें रूप आदिका निश्चय किया जाता है और पर मनुष्योंके लिए उपदेश दिया जाता है उसी तरह श्रुताज्ञानसे भी घटादिके रूप आदिका

निश्चय होता है और पर मनुष्योंको उपदेश दिया जाता है एवं जिसतरह अवधिज्ञानसे रूपी पदार्थोंका निश्चय होता है उसी प्रकार विभंगज्ञानसे भी होता है इस प्रकार मतिज्ञान आदि तीनों सम्यग्ज्ञान एवं मत्यज्ञानादि तीनों मिथ्याज्ञानोंकी पदार्थोंके ग्रहण करनेमें जब अव्यभिचारीरूपसे समानता है तब मतिज्ञान आदि तीनों ज्ञान मिथ्याज्ञान नहीं हो सकते इसलिए 'मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च' इस सूत्रसे जो उन्हें मिथ्याज्ञान बतलाया है वह ठीक नहीं। इस बातका समाधान सूत्रकार देते हैं—

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३२ ॥

उन्मत्त पुरुषके समान सत् असत्रूप पदार्थोंके विशेषका ज्ञान न होनेके कारण स्वेच्छारूप यद्वा तद्वा जाननेके कारण मति आदि तीन मिथ्याज्ञान हैं। अर्थात्—जिसप्रकार शराबी पुरुष भार्याको माता और माताको भार्या समझता है यह उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान है परन्तु किसी समय वह भार्याको भार्या और माताको माता कहता है तो भी उसका वह जानना सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता क्योंकि उसे भार्या और माताके भेदका यथार्थ ज्ञान नहीं उसीप्रकार मिथ्यादर्शनके उदयसे सत और असत् पदार्थका यथार्थ ज्ञान न होनेके कारण कुमति कुश्रुत और कुअवधिज्ञान भी मिथ्याज्ञान हैं।

सच्छब्दस्यानेकार्थसंभवे विवक्षातः प्रशंसार्थग्रहणं ॥ १ ॥

ऊपर 'सत' शब्दके अनेक अर्थ बतला आए हैं उनमें यहांपर प्रशंसार्थक सत् शब्दका ग्रहण है अर्थात् सत् शब्दका अर्थ प्रशस्त ज्ञान है और असत्का अप्रशस्त ज्ञान है। जिस तरह उन्माद दोषसे इंद्रिय और बुद्धिके विक्षिप्त हो जानेसे उन्मत्त पुरुषको विपरीत रूपसे पदार्थ भासमान होने लगते हैं इसलिए गाय और घोडाके भेदका वा लोहा और सोनाके भेदका यथार्थ ज्ञान न होनेके कारण स्वेच्छा-

रूप यद्वा तद्वा जानकर वह गायको घोडा वा घोडाको गाय समझ लेता है अथवा लोहेको सोना और और सोनेको लोहा समझ लेता है तथा कभी कभी गायको गाय और घोडेको घोडा भी कह देता है इसी तरह लोहेको लोहा और सोने को सोना भी कह देता है परंतु कौन गाय है कौन घोडा है? कौन लोहा है कौन सोना है इसप्रकारका विशेष ज्ञान न होनेके कारण उसका अज्ञान ही समझा जाता है उसी प्रकार मिथ्यादर्शनके उदयसे इंद्रियज्ञानके विपरीत हो जानेके कारण मति श्रुत और अवधिसे भी विपरीतरूपसे पदार्थ भासने लगते हैं उससमय भी सत् असत्का कुछ भी विवेक नहीं रहता इसलिये मति आदि तीनों ज्ञान कुमति आदि स्वरूप परिणत हो जाते हैं।

भवत्यर्थग्रहणं वा ॥ २ ॥

अथवा सत् शब्दका अर्थ विद्यमान भी होता है इसलिये सूत्रमें जो सत् असत् शब्द हैं उनमें सत्का अर्थ विद्यमान और असत्का अर्थ अविद्यमान है इसरीतिसे उन्मत्त पुरुषके समान स्वेच्छापूर्वक यद्वा तद्वा जाननेसे विद्यमान रूप आदिको अविद्यमान, अविद्यमान रूपादिको विद्यमान एवं कभी कभी विद्यमान रूपादिको विद्यमान और अविद्यमानोंको अविद्यमान रूपसे जहांपर मति आदिके द्वारा ज्ञान होता है वहां विद्यमान अविद्यमानपनेका कुछ भी भेदज्ञान न होनेसे मति आदि मिथ्याज्ञान हैं। पदार्थोंका विपरीतरूपसे ग्रहण कैसे होता है? इसवातको वार्तिककार वतलाते हैं—

प्रवादिपरिकल्पनाभेदाद् विपर्ययग्रहः ॥ ३ ॥

प्रवादियोंकी कल्पनाओंके भेदसे पदार्थोंका विपरीत रूपसे ग्रहण होता है क्योंकि किन्हीं वादियोंका मत है कि एक मात्र द्रव्य ही पदार्थ है रूप आदि कोई पदार्थ नहीं। दूसरे मानते हैं—संसारमें रूप रस

आदि ही पदार्थ हैं द्रव्य कोई जुदा पदार्थ नहीं। अनेक वादियोंका सिद्धांत है कि द्रव्य पदार्थ भिन्न है और रूप आदि पदार्थ भिन्न हैं। जो द्रव्य पदार्थको ही मानते हैं रूप आदिको स्वीकार नहीं करते उनके मतमें विपरीत रूपसे ग्रहण इस प्रकार है—

जिन वादियोंका यह सिद्धांत है कि संसारमें एकमात्र द्रव्य ही पदार्थ है रूप रस आदि कोई भी भिन्न पदार्थ नहीं उनके मतमें द्रव्य पदार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि गुणवान पदार्थको द्रव्य माना है और वे गुण रूप आदिक हैं। यदि रूप आदि गुणोंका ही अभाव माना जायगा तब लक्षण-गुणोंके अभावसे लक्ष्य द्रव्यकी सिद्धि न हो सकेगी। तथा द्रव्यमें रूप आदि गुणोंका सद्भाव माननेसे भिन्न भिन्न इंद्रियोंसे उस द्रव्यका भिन्न भिन्न रूप आदिके साथ सन्निकर्ष होता है किसी एक इंद्रियसे सब ओरसे द्रव्यका सन्निकर्ष नहीं होता अब वादीके मतानुसार रूप आदि कोई भी पदार्थ न होनेसे द्रव्यमें रूप आदि गुणोंका सद्भाव तो माना नहीं जायगा तब जिस किसी इंद्रियसे द्रव्यका सन्निकर्ष होगा वह सब ओरसे होने लगेगा फिर एक ही इंद्रिय सकल रूपसे द्रव्यकी ग्राहक कहनी पडेगी। इतना ही नहीं जब एक ही इंद्रिय सकल रूपसे द्रव्यकी ग्राहक हो जायगी तब जुदीं जुदीं पांच इंद्रियां मानना व्यर्थ है क्योंकि जब रूप रस आदि जुदे जुदे पदार्थोंका द्रव्यमें सद्भाव माना जाय तब तो जुदे जुदे रूप रस आदिका ग्रहण करनेके लिए पांच प्रकारकी इंद्रियां मानी जांय किंतु वादी सिवाय द्रव्यके रूप आदि पदार्थोंको मानता नहीं इसलिए उसके मतानुसार एक ही इंद्रियसे द्रव्यका सर्वात्मना—सकल रूपसे ज्ञान हो जायगा पांच इंद्रियोंका मानना निरर्थक है। परंतु इंद्रियोंके पांच भेद नहीं हैं वा एक ही इंद्रियसे सर्वात्मना द्रव्यका ज्ञान हो सकता है यह बात देखी नहीं गई और विरुद्ध होनेसे इष्ट भी नहीं

मानी जा सकती इसलिए 'एकमात्र द्रव्य ही पदार्थ है रूप आदि पदार्थ नहीं 'यह सिद्धांतबाधित है इस रीतिसे जो वादी एकमात्र द्रव्यहीको पदार्थ मानता है उसका वस्तुस्वरूपसे विपरीत मानना है।

कोई वादी मानते हैं कि रूप आदि गुण ही पदार्थ हैं, द्रव्य नामका कोई भी संसारमें पदार्थ नहीं। सो भी ठीक नहीं क्योंकि गुण पदार्थ किसी अन्य पदार्थके आश्रय रहता है यह नियम है। रूप आदि गुणोंका आधार द्रव्य माना है। यदि रूप आदिको ही पदार्थ माना जायगा और द्रव्य पदार्थ न माना जायगा तो आधारके अभावमें रूप आदिका भी अभाव हो जायगा और भी यह बात है कि केवल रूप आदि पदार्थोंको ही मानने वाला वादी उन्हें आपसमें भिन्न भिन्न मानता है यदि उन सबका समुदाय माना जायगा तो वह द्रव्य ही होगा क्योंकि समुदाय पदार्थ एक–द्रव्य पदार्थसे जुदा नहीं परंतु वे जुदे जुदे रूप आदि पदार्थ और समुदाय भी आपसमें भिन्न भिन्न पदार्थ हैं इसलिए सबका ही अभाव हो जायगा क्योंकि रूप आदिसे भिन्न समुदाय पदार्थ और समुदाय पदार्थसे भिन्न रूप आदि पदार्थ कभी भी जुदे जुदे देखे सुने नहीं गए। इसलिए 'एकमात्र रूप आदि ही संसारमें पदार्थ हैं' यह बात बाधित है इसरीतिसे जो वादी द्रव्यको पदार्थ न मानकर केवल रूप आदिको ही पदार्थ मानता है उसका भी वस्तुस्वरूपसे विपरीत मानना है।

नैयायिक आदि वादी द्रव्य और रूप आदि दोनों प्रकारके पदार्थोंका मानते हैं और उनका सिद्धांत है कि द्रव्य पदार्थ भिन्न है और रूप आदि पदार्थ भिन्न हैं उनका मानना भी ठीक नहीं क्योंकि रूप आदि गुणोंको द्रव्यका लक्षण माना है और लक्षण, लक्ष्यका स्वरूप होता है। यदि द्रव्य और रूप आदिको आपसमें सर्वथा भिन्न माना जायगा तो द्रव्य और रूप आदिका आपसमें लक्ष्य लक्षण

भाव न बन सकेगा। यदि यहांपर यह उत्तर दिया जाय कि दंड और दंडी पुरुष आपसमें सर्वथा भिन्न हैं तो भी उनका आपसमें लक्ष्य लक्षण भाव है—दंड लक्षणसे तत्काल दंडीका ज्ञान हो जाता है उसीप्रकार द्रव्य और रूप आदिका आपसमें भेद रहने पर भी रूप आदि द्रव्यके लक्षण हो सकते हैं कोई दोष नहीं ? सो ठीक नहीं जो पदार्थ भिन्न भिन्न सिद्ध हों उनका लक्ष्य लक्षणभाव तो भिन्न भिन्न सिद्ध हो सकता है किंतु जो पदार्थ ही नहीं उनका कभी लक्ष्य लक्षण भाव नहीं हो सकता। दंड और दंडी दोनों पदार्थ पृथक् पृथक् सिद्ध हैं इसलिये उन दोनोंका लक्ष्य लक्षण भाव ठीक है द्रव्य और रूप आदि पदार्थ पृथक् पृथक् सिद्ध नहीं इसलिये सर्वथा भेद मानने पर उन दोनोंका आपसमें लक्ष्य लक्षण भाव नहीं बन सकता। इसलिये दंड एवं दंडी द्रव्य एवं रूप आदिमें विषमता होनेसे दंड दंडीके समान द्रव्य और रूपादिमें आपसमें लक्ष्य लक्षण भाव नहीं हो सकता और भी यह बात है कि जो वादी द्रव्य और गुणोंका सर्वथा भेद मानता है उसने रूप आदि गुणोंको अमूर्त माना है यदि रूप आदिको द्रव्यसे सर्वथा भिन्न ही माना जायगा तो अमूर्त होनेके कारण इंद्रियां उन्हें विषय न कर सकेंगी फिर उनका ज्ञान ही न हो सकेगा। यदि यहांपर यह कहा जाय कि यद्यपि रूप आदिसे द्रव्य पदार्थ सर्वथा भिन्न है तो भी रूप आदिके ज्ञान करानेमें वह कारण हो जायगा इसलिए इंद्रियोंसे रूप आदि पदार्थोंका ज्ञान हो सकेगा। सो भी ठीक नहीं, जो पदार्थ सर्वथा भिन्न है वह कारण नहीं हो सकता। नैयायिक आदि वादी रूप आदि पदार्थोंसे द्रव्य पदार्थको सर्वथा भिन्न मानते हैं इसलिए वह रूप आदिके ज्ञान करानेमें कारण नहीं हो सकता। रीतिसे जो वादी द्रव्य और गुणोंका सर्वथा आपसमें भेद मानता है उसका भी वैसा मानना वस्तुसे विपरीत है। और भी यह बात है—

मूलकारणविप्रतिपत्तेः ॥ ४ ॥

बहुतसे वादियोंका घट और रूप आदिके मूल कारणोंमें विवाद है घट आदि पदार्थोंकी उत्पत्तिके कारणोंकी वे भिन्न भिन्न रूपसे कल्पना करते हैं। उनमें सांख्यसिद्धांतकारोंका यह कहना है—

प्रकृतिसे महत्तत्वकी उत्पत्ति होती है। महत्तत्वसे अहंकारकी, उससे अहंकार रूप आदि पंच तन्मात्राओंकी, पंच तन्मात्राओंसे ग्यारह[1] प्रकारके इंद्रियोंकी, इंद्रियोंसे पृथ्वी आदि महाभूतोंकी और महाभूतोंसे मृत्पिंड आदिकी इत्यादि क्रमसे घट पट आदि विश्वरूप संसारकी उत्पत्ति होती है परंतु उनका वैसा कहना ठीक नहीं क्योंकि सांख्य सिद्धांतकारोंने प्रकृति पदार्थको अमूर्तिक निरवयव क्रिया-रहित अतींद्रिय अनंत और अपरप्रयोज्य—स्वाधीन माना है एवं घट पदार्थ मूर्तिक सावयव क्रियासहित इंद्रियोंका विषय सांत आदि है। इसलिए प्रकृतिके स्वभावसे अत्यंत विलक्षण रहनेके कारण घट, प्रकृतिका कार्य नहीं हो सकता। क्योंकि अमूर्तिक आदि स्वभावके धारक कारणसे अत्यंत विलक्षण मूर्तिक स्वभाववाले कार्यकी कभी भी उत्पत्ति नहीं देखी गई। तथा जो पदार्थ किसी कार्यके करनेके लिए परसे प्रेरित रहता है वही अभिप्रायपूर्वक कार्योंको उत्पन्न कर सकता है किंतु जो परसे प्रेरित नहीं है वह वैसा नहीं कर सकता। प्रकृति पदार्थ किसी भी पर पदार्थसे प्रेरित होकर कार्य नहीं करता इसलिए अभिप्रायरहित होनेके कारण वह अभिप्राय पूर्वक घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति नहीं कर सकता इस रीतिसे अमूर्तिक आदि विशेषण विशिष्ट प्रकृतिसे घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति बाधित

१—स्पर्शन रसना आदि बुद्धींद्रिय और पाणिपाद आदि ५ कर्मेंद्रिय और मन मिलाकर ग्यारह इद्रियां सांख्य मतमें मानी गई हैं।

है यदि यहांपर यह कहा जाय कि पुरुषके द्वारा प्रेरित हुई प्रकृति महत्तत्व आदि कार्योंके करनेमें समर्थ है इसलिए प्रकृतिसे घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति हो सकती है कोई दोष नहीं? सो भी अयुक्त है जो पदार्थ क्रियारहित-निष्क्रिय होता है वह अन्य पदार्थको प्रेरणा नहीं कर सकता। पुरुषको सांख्यमतमें निष्क्रिय माना गया है इसलिए महत्तत्व आदि कार्योंकी सृष्टिकेलिए वह प्रकृतिको प्रेरणा नहीं कर सकता। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि प्रकृति ही महत्तत्व आदिकी सृष्टिकेलिए अपनेको प्रेरणा कर-लेगी इसलिए प्रकृतिसे महत्तत्व घट पट आदिकी उत्पत्ति निर्बाध रूपसे हो सकती है कोई दोष नहीं। सो भी अयुक्त है। प्रकृति पदार्थको भी निष्क्रिय माना है इसलिए गमन करनेमें असमर्थ लंगडा पुरुष जिसप्रकार अपनेको ही पकडकर उठकर चलता हुआ नहीं देखा जाता उसीप्रकार स्वयं प्रेरणा आदि क्रियारहित प्रकृति स्वयं अपनेको महत्तत्व आदिकी सिद्धिकेलिए प्रेरणा नहीं कर सकती इसलिए प्रकृतिसे महत्तत्व आदिकी सृष्टि बाधित है। और भी यह बात है कि—

विना प्रयोजन कोई भी किसी कार्यको नहीं करता यह संसार प्रसिद्ध बात है। प्रकृति पदार्थको महदादि पदार्थोंकी सृष्टिसे कोई प्रयोजन नहीं इसलिये उसके द्वारा महदादि सृष्टिका होना युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। यदि यहां पर यह कहा जाय कि महदादि वा घट पट आदि सृष्टिका भोगने-वाला पुरुष है इसलिये पुरुषका भोगरूप प्रयोजनका लक्ष्यकर प्रकृतिके द्वारा महदादि सृष्टिका होना निष्प्रयोजन नहीं। सो भी ठीक नहीं? जो भी कार्य किया जाता है अपने प्रयोजनकेलिये किया जाता है। पुरुषका भोगरूप प्रयोजन प्रकृतिका निज प्रयोजन नहीं इसलिये पुरुषके भोगरूप परप्रयोजनके लिए प्रकृति, महदादि सृष्टिका निर्माण नहीं कर सकती। तथा सृष्टिका भोग पुरुष करता है यह बात

भी अयुक्त है क्योंकि जो पदार्थ नित्य और व्यापक होता है उसका कैसा भी परिणमन नहीं हो सकता। सांख्यसिद्धांतकारोंने आत्माको नित्य और व्यापक माना है इसलिये उसका भोग परिणाम नहीं हो सकता तथा और भी यह बात है कि–

जिस पुरुषको भात खानेकी इच्छा रहती है, भातके बनानेकी क्या क्या क्रियायें हैं ? उसके खानेसे क्या फल प्राप्त होता है ? उसके कौन कौन कारण हैं ? इस बातका जानकार है और चेतन है वही 'चैत्र नामका' पुरुष बनानेकेलिये अग्नि जलाना आदि कार्यका करनेवाला देखा जाता है, अचेतन पदार्थ नहीं। सांख्यसिद्धांतकारोंने प्रकृति पदार्थको चेतन माना नहीं, अचेतन माना है इसलिये उससे महदादि वा घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि यहां पर यह कहा जाय कि प्रकृतिसे महान, महानसे अहंकार इत्यादि जो क्रमसे सृष्टिका विधान है उस क्रमकी आयोजना करनेवाला पुरुष है इसलिये जब उस क्रमकी आयोजना करनेवाला चेतन पुरुष है तब प्रकृतिसे महदादि सृष्टिके होनेमें कोई बाधा नहीं हो सकती। सो ठीक नहीं। पुरुष निष्क्रिय पदार्थ है यह पहिले कहा जा चुका है इस-लिए उसके द्वारा महदादि सृष्टिकी क्रमवार आयोजनारूप क्रिया नहीं हो सकती। इसरीतिसे घट आदि विश्वरूप जगतकी उत्पत्तिमें प्रकृतिको मूलकारण मानना सांख्योंका वस्तुस्वरूपसे विपरीत है। तथा–

अदृष्ट–शुभ अशुभ आदि कर्मोंके संनिधान रहने पर पृथिवी आदि जातिके प्रातिनियत परमाणु जिससमय आपसमें मिल जाते हैं उससमय उन मिले हुए परमाणुओंसे पदार्थांतर भूत–सर्वथा भिन्न घट पट आदि पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है ऐसा भी बहुतसे वादिओंका सिद्धांत है; परंतु वह भी ठीक नहीं। क्योंकि जो पदार्थ सर्वथा नित्य होता है वह किसी भी कार्यको उत्पन्न नहीं कर सकता जिसतरह

परमतके अनुसार आकाश आदि कार्य सर्वथा नित्य माने गये हैं इसलिये उनसे किसी भी कार्यकी उत्पत्ति नहीं मानी। परमाणु पदार्थको भी वादी नित्य मानता है इसलिए घट पट आदि पदार्थोंकी उससे उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि हठात् परमाणुओंसे घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति मानी जायगी तो उन्हें नित्य न मानना होगा क्योंकि सर्वथा नित्य पदार्थ कार्यका उत्पादक नहीं हो सकता। तथा 'प्रतिनियत पृथिवी आदि परमाणुओंसे सर्वथा भिन्न घट आदि कार्योंकी उत्पत्ति होती है' यह बात भी युक्तिबाधित है क्योंकि कारणसे सर्वथा भिन्न कार्यकी कभी भी उत्पत्ति नहीं हो सकती किंतु कारणसे कथंचित् भिन्न ही कार्यकी उत्पत्ति होती है। यदि कारणसे सर्वथा भिन्न ही कार्य की उत्पत्ति मानी जायगी तो किसी किसी परमाणुके समूह रूप कारणमें सूक्ष्मता रहती है वही कार्यमें भी आती है इसलिये वहां पर इंद्रियोंसे प्रत्यक्षता नहीं होती परंतु अब जबकि कारणसे कार्य सर्वथा भिन्न माना जायगा तब परमाणुके समूह रूप कारणमें जो सूक्ष्मता है वह तो कार्यमें आवेगी नहीं फिर उस कार्यकी इंद्रियोंसे प्रत्यक्षता होनी चाहिये इसरीतिसे कार्माण जातिकी वर्गणाओंका नेत्रसे ज्ञान होना चाहिये। इसीतरह परमाणुओंके समूह रूप कारणमें जो महत्त्व (स्थूलत्व) है वह कार्य में आता है तब उसका इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष होता है। अब जबकि कारणसे सर्वथा भिन्न कार्य है तब कारणका धर्म—महत्त्व, कार्यमें आवेगा नहीं फिर परमाणुओंके समूहसे उत्पन्न होनेवाले घटादि कार्योंका प्रत्यक्ष न हो सकेगा। परंतु जहांपर कारणका धर्म सूक्ष्मता कार्यमें रहता है वहांपर इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष नहीं होता, एवं जहां कारणका धर्म—महत्व कार्यमें रहता है वहां पर इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष होता है यह बात वादीको इष्ट और अनुभव सिद्ध है इसलिये कारणसे कार्य भिन्न ही होता है यह कहना बाधित है किंतु कथंचित् भिन्नता ही मानना युक्त है।

'प्रतिनियत पृथिवी आदिके परमाणुओंके समूहसे अर्थांतर भूत घट आदि कार्योंकी उत्पत्ति होती है' यहां पर जो परमाणुओंकी जातिका नियम बतलाकर उनके समूहसे घट आदि कार्योंकी उत्पत्ति मानी है वह भी ठीक नहीं क्योंकि भिन्न भिन्न जातिके परमाणुओंसे भी घट आदि कार्योंकी उत्पत्ति होती है इसलिये कार्योंकी उत्पत्तिमें परमाणुओंकी जातिका नियम नहीं। यदि यहां पर यह कहा जाय कि जहां परमाणुओंकी जाति भिन्न भिन्न रहती है वहां पर उनसे केवल समुदायकी ही उत्पत्ति होती है किसी कार्यका आरंभ नहीं होता तो वहां पर यह समाधान है कि जिन तुल्य जातीय परमाणुओंसे वादी घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति इष्ट मानता है उनसे भी केवल समुदाय की उत्पत्ति होती है कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती इसरीतिसे अदृष्ट आदि कारणोंके रहते प्रतिनियत पृथिवी आदिके परमाणुओंके समूहसे अर्थां-रभूत घट पट आदिकी उत्पत्ति होती है यह मानना युक्तियुक्त नहीं। यदि यहां पर यह कहा जायगा घट आदि कार्योंकी उत्पत्ति आत्मासे हो जायगी ? सो भी अयुक्त है। क्योंकि ऊपर कह दिया गया जो पदार्थ सर्वथा क्रियारहित-और नित्य होता है वह किसी भी कार्यको उत्पन्न नहीं कर सकता रमतमें आत्मा पदार्थ सर्वथा निष्क्रिय और नित्य है इसलिये उससे घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति हो सकती। यदि यह कहा जाय कि अदृष्ट गुणसे घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति होगी ? सो भी है। क्योंकि अदृष्ट गुणको भी निष्क्रिय माना है निष्क्रिय पदार्थसे किसी कार्यकी उत्पत्ति हो नहीं सकती इसलिये अदृष्ट गुण भी घट पट आदिको उत्पन्न नहीं कर सकता। इसरीतिसे जो वादी दृष्ट आदि गुणोंके सन्निधान रहने पर प्रतिनियत पृथिवी आदिके परमाणुसमूहसे वा आत्मा अथवा दृष्टसे घट पट आदिकी उत्पत्ति मानता है उसका भी वस्तुस्वरूपसे विपरीत मानना है।

बौद्धोंका सिद्धांत है कि वर्ण आदि परमाणुओंके समुदायस्वरूप रूप परमाणु यद्यपि अतींद्रिय हैं परंतु जिससमय एकत्र होकर उनका समुदाय हो जाता है उससमय वह समुदाय इंद्रियोंका विषय बन जाता है इसलिये इंद्रियोंके विषयरूप समुदायसे घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति होती है । सो ठीक नहीं । जब हरएक परमाणु अतींद्रिय है—इंद्रियजन्य प्रत्यक्षका विषय नहीं तब उससे अभिन्न घट पट आदि कार्य अतींद्रिय होंगे इसलिये उनका भी इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । तथा—जिन पदार्थोंका इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष है उनका जहांपर यथार्थ रूपसे ज्ञान होता है वहां पर प्रमाण और विपरीत रूपसे ज्ञान होता है वहां प्रमाणाभास इसप्रकार प्रमाण प्रमाणाभासका भेद माना गया है । यदि अतींद्रिय परमाणुओंसे घट पट आदिकी उत्पत्ति मानी जायगी तो उन घट आदिका इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष तो होगा नहीं फिर वादीने जो प्रमाण और प्रमाणाभासका भेद मान रक्खा है वह निरर्थक है । अर्थात् जब पदार्थोंमें इंद्रिय प्रत्यक्ष योग्यता ही नहीं है तब प्रमाण और प्रमाणाभास भेद भी ज्ञानके नहीं बन सकते तथा परमाणु समूहके इंद्रिय प्रत्यक्ष होनेसे जो घट पटादि कार्य अनुभवमें आते थे वे प्रत्यक्ष न होनेसे अनुभवमें नहीं आवेंगे वैसी अवस्थामें कार्यका अभाव होनेसे उनके कारण रूपसे संकलिपत किये गये परमाणु समुदायका भी अभाव समझा जायगा इसलिये घट पट आदिके अभावमें रूप परमाणुओंका भी अभाव कहना होगा और भी यह बात है कि—

बौद्ध लोग रूप परमाणुओंको क्षणिक—क्षणविनाशीक और निष्क्रिय मानते हैं । जो पदार्थ क्षण भरमें नष्ट हो जानेवाला और निष्क्रिय है उससे किसी पदार्थकी उत्पत्ति नहीं हो सकती इसलिए रूप परमाणुओंसे कभी घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । तथा जिन पदार्थोंकी सामर्थ्य

आपसमें भिन्न भिन्न होती है उनसे किसी भी पदार्थकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। बौद्ध लोग रूप परमा-
णुओंको सर्वथा भिन्न भिन्न मानते हैं। जो पदार्थ भिन्न भिन्न होते हैं, उनकी सामर्थ्य भी भिन्न ही रहती
है इसलिए आपसमें रूपपरमाणुओंका संबंध न होनेके कारण उनमें घट पट आदि कार्योंके उत्पन्न करनेकी
सामर्थ्य नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि रूपपरमाणुओंमें घट पट आदिकी उत्पत्तिकेलिए
संबंध आत्मा उत्पन्न कर देगा इसलिए रूपपरमाणुओंसे घट पट आदि कार्योंकी उत्पत्ति हो सकती है
कोई दोष नहीं। सो भी अयुक्त है। क्योंकि क्षणिकवादी बौद्धोंके मतमें आत्मा पदार्थ सिद्ध हो ही नहीं
सकता। जब आत्मा कोई पदार्थ नहीं तब रूपपरमाणुओंमें संबंध भी सिद्ध नहीं हो सकता। इस
रीतिसे बौद्धोंका मानना भी वस्तुस्वरूपसे विपरीत है। यह प्रचलित और मुख्य मुख्य सिद्धांतोंकी
अपेक्षा मूलकारणोंमें विपरीतता बतलाई है परंतु जिसतरह पित्तदोषके तीव्र उदयसे जिस पुरुषकी
जीभका स्वाद बिगड गया है उसको मीठा भी कडवा लगता है उसीप्रकार मिथ्यादर्शनके उदयसे बहुतसे
अन्य वादियोंने भी सत् पदार्थको असत् और असत्को सत् मान रक्खा है इसलिए वस्तुस्वरूपसे सर्वथा
विरुद्ध होनेके कारण उनका भी उसप्रकारसे मानना विपरीत है। इसरीतिसे जब प्रवादियोंकी कल्प-
नाओंके भेदसे वा कार्योंके मूलकारणोंमें विवादसे जब विपर्ययपना सिद्ध है तब वादीने जो यह शंका
की थी कि "जिसप्रकार मतिज्ञान आदि रूप आदि पदार्थोंको विषय करते हैं उसीप्रकार कुमति आदि
भी विषय करते हैं फिर मिथ्यादृष्टिके मति आदि तीन ज्ञानोंको जो विपरीतज्ञान बतलाया है वह ठीक
नहीं—उनमें विपरीतता किसी भी कारणसे नहीं हो सकती" उसका अच्छी तरह खंडन हो गया ॥ ३२॥

सम्यग्ज्ञानके लक्षण भेद और विषय आदिका वर्णन कर दिया गया उसके बाद क्रमप्राप्त चारित्र

है इसलिए उसका वर्णन करना चाहिए परंतु जहां मोक्ष और उसके कारणोंका वर्णन किया गया है वहां चारित्रका भी वर्णन किया गया है अतः चारित्रके वर्णनका क्रम उल्लंघनकर आवश्यक समझ नयोंका वर्णन किया जाता है। चारित्रका यहांपर वर्णन न कर मोक्षप्रकरणमें क्यों किया गया है इसका समाधान यह है कि समस्त कर्मोंका सर्वथा नाश चारित्रमे होता है और समस्त कर्मोंका सर्वथा नाशस्वरूप ही मोक्ष है इसलिए मोक्ष प्राप्तिमें चारित्र प्रधान कारण है क्योंकि व्युपरतक्रिया नामके शुक्लध्यान द्वारा आत्मा जिससमय अनुपम अचिंत्य बल प्राप्त कर लेता है उससमय वह समस्त कर्मोंको मूलसे नष्ट कर डालता है इसलिये जहांपर मोक्षके कारण और मोक्षके स्वरूपका उल्लेख है वहीं पर चारित्रका वर्णन किया गया है। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि जिससमय आत्मा क्षायिक सम्यक्त्व और केवल ज्ञानका धारक बन जाता है उससमय क्षायिक ज्ञान—केवलज्ञानके वाद ही समस्त कर्मोंका नाश होता है इसलिये क्षायिकज्ञान केवल ज्ञान भी जब समस्त कर्मोंके नाशमें कारण है तब चारित्रसे समस्त कर्मोंका नाश होता है यह कहना व्यर्थ है ? सो ठीक नहीं। समस्त कर्मोंका नाश चारित्र से ही होता है क्योंकि यदि क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक ज्ञान समस्त कर्मोंके नाशमें कारण माने जायेंगे तो केवलज्ञानकी उत्पत्तिके वाद ही समस्त कर्मोंका नाश होना चाहिये किंतु वैसा न होकर उन कर्मोंका सर्वथा नाश व्युपरतक्रियानिवृत्ति ध्यान के वाद ही होता है और उसे ही उत्तम चारित्र माना गया है क्योंकि "कर्मादानहेतुक्रियाव्युपरतिश्चारित्रमिति" जो क्रियायें कर्मोंके लानेमें कारण हैं उनका सर्वथा नष्ट हो जाना चारित्र है, अर्थात् व्युपरतक्रियानिवृत्ति चारित्रसे ही समस्त कर्मोंका नाश होता है इसरीतिसे क्षायिक सम्यक्त्व और ज्ञान कारण न होकर जब समस्त कर्मोंके सर्वथा नाशमें साक्षात् कारण चारित्र ही है तब जहां पर मोक्ष

और उसके कारणोंका उल्लेख है वहीं पर चारित्रका वर्णन उपयुक्त है। यदि यहां पर भी चारित्रका वर्णन किया जायगा और जहां पर मोक्ष और ज्ञानके कारणोंका वर्णन है वहां पर भी आवश्यक समझ चारित्रका वर्णन किया जायगा तब दो जगह उसके वर्णनमें ग्रंथ व्यर्थ वढ जायगा इसलिये यहां पर उसका वर्णन अधिक उपयोगी न होनेके कारण वहीं पर उसका वर्णन करना ठीक है। यदि यहांपर भी उसका वर्णन किया जायगा तो जीवादि पदार्थ भी विवेचनीय ठहरेंगे उनका विवेचन भी करना पडेगा।

मतिज्ञान आदिके भेदसे प्रमाणोंका वर्णन कर दिया गया। प्रमाणके एक देशको ग्रहण करनेवाले नय हैं अब उनके वर्णन करनेका क्रम प्राप्त है क्योंकि 'प्रमाणनयैरधिगमः" सूत्रकारके इस वचनसे प्रमाणके वर्णनके वाद नयोंके वर्णनका ही क्रम है इसलिये अब नयोंका वर्णन किया जाता है। सूत्रकार मुख्य मुख्य नयोंके नाम गिनाते हैं—

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः ॥ ३३ ॥

अर्थ—नैगम संग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र शब्द समभिरूढ और एवंभूत ये सात नय हैं।

वृत्ति—ऊपर कह दिया गया है कि शब्द संख्याते हैं इसलिये शब्दोंकी अपेक्षा नयोंके एक आदि संख्याते भेद हैं। यदि अत्यंत सूक्ष्मरूपसे नयोंका भेद बतलाया जाय तो उनके स्वरूपका अच्छीतरह ज्ञान नहीं हो सकता। यदि अत्यंत विस्तारसे उनके भेदोंका निरूपण किया जाय तो अल्पज्ञानी मनुष्य उलझनमें पड जांयगे इसलिये उनका उपकार नहीं हो सकता इसलिये हर एक मनुष्य सुलभतासे नयोंका स्वरूप समझ ले इस कारण सामान्यरूपसे सात भेद बतलाकर उनके स्वरूपका वर्णन किया गया है। यहां पर

नयोंके सामान्य और विशेष दोनों प्रकारके लक्षण बतलाना परमावश्यक है । उनमें सामान्य लक्षण इसप्रकार है—

प्रमाणप्रकाशितोऽर्थविशेषप्ररूपको नयः ॥ १ ॥

प्रकृष्ट, मान—ज्ञानको प्रमाण कहते हैं । वह एक धर्मके द्वारा पदार्थके समस्त धर्मोंको जान लेता है इसलिये सकलको जाननेके कारण उसका अर्थ सकलादेश है । प्रमाणके द्वारा प्रकाशित, अस्तित्व नास्तित्व नित्यत्व अनित्यत्व आदि अनंत धर्मस्वरूप जीव अजीव आदि पदार्थोंके पर्यायोंका जो विशेष रूपसे निरूपण करनेवाला है उसको नय कहते हैं । प्रमाणप्रकाशितोऽर्थेत्यादि नयके लक्षणमें जो 'प्रमाणप्रकाशित' पदका उल्लेख है उसका यह तात्पर्य है कि जो पदार्थ प्रमाणके द्वारा प्रकाशित है उन्हींके पर्यायोंका विशेषरूपसे प्ररूपण करनेवाला नय है किंतु जिन पदार्थोंका प्रकाश प्रमाणाभाससे है उनके पर्यायोंका विशेषरूपसे प्रकाशक नय नहीं । तथा उक्त नयके लक्षणमें रूपक शब्दकी जगह जो प्ररूपक

१ एकधर्मबोधनमुखेन तदात्मकानेकाशेषधर्मात्मकवस्तुविषयकबोधजनकवाक्यत्वं सकलादेशः । वस्तुके किसी एक धर्मके जान लेनेसे उसके द्वारा शेष अनेक धर्मस्वरूप वस्तुको सकलतासे जान लेना सकलादेश है। सप्तभंगीतरंगिणी पृष्ठ १९ । अन्यत्र भी सकलादेशका यह लक्षण किया गया है—'एकगुणमुखेनाशेषवस्तुरूपसंग्रहात्सकलादेशः' अर्थात् वस्तुके एक धर्मके द्वारा उस वस्तुमें रहनेवाले शेष समस्त धर्मोंका ग्रहण—जान लेना सकलादेश है। एक धर्मके उल्लेखसे वस्तुके समस्त धर्मोंका जो ज्ञान होता है उसमें अभेदवृत्ति और अभेदोपचार कारण हैं वहां पर द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा अभेदवृत्ति है क्योंकि द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा कोई धर्म जुदा नहीं सब द्रव्यस्वरूप हैं और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अभेदोपचार है क्योंकि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा परस्पर धर्मोंका भेद रहने पर भी वहां एकत्वका आरोप है।

शब्दका उल्लेख किया है उसका तात्पर्य यह है कि प्रमाणप्रकाशित अनंतधर्मस्वरूप पदार्थोंकी पर्यायोंका जो नयोंसे प्ररूपण है वह निर्दोषरूपसे है अर्थात् नयोंके द्वारा निरूपण किये गये पदार्थमें किसी प्रकारके संशय आदि दोषकी संभावना नहीं रहती। इस रूपसे यह नयका सामान्य लक्षण निर्दोष है।

नयोंके द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक ये दो मूल भेद हैं। जहां पर द्रव्य है ऐसी बुद्धि है वह द्रव्यास्तिक है। यह नय केवल द्रव्यका ही विषय करता है। पदार्थोंके विकार—पर्याय, और अभावको विषय नहीं करता क्योंकि द्रव्यसे अन्य पर्याय और अभाव कोई पदार्थ नहीं। तथा पर्याय है यह जहां पर बुद्धि है वह पर्यायास्तिक है। यह नय केवल जन्म मरण आदि पर्यायोंको ही विषय करता है द्रव्यको नहीं क्योंकि पर्यायोंसे भिन्न कोई द्रव्य पदार्थ नहीं। अथवा जिस नयका अर्थ द्रव्य ही हो, द्रव्यस्वरूप ही होनेके कारण गुण कर्म न हो वह द्रव्यार्थिक है और जिस नयका रूप आदि गुण और उत्क्षेपण आदि कर्म ही अर्थ हो 'पर्यायोंसे भिन्न द्रव्य कोई पदार्थ नहीं इसलिये द्रव्य अर्थ न हो' वह पर्यायार्थिक है। अथवा 'अर्यते गम्यते निष्पाद्यते' जो बनाया जाय, वह अर्थ है इसलिये वह कार्य है और जो 'द्रवति गच्छति इति द्रव्यं' जो प्राप्त करै वह द्रव्य है, यह कारण है। जहां पर द्रव्य ही अर्थ हो अर्थात् कारण ही कार्य हो—कारण और कार्य दोनों एक ही हों भिन्न न हों वह द्रव्यार्थिक है। "यहां पर यह शंका न करनी चाहिये कि कारण और कार्यके आकारमें भेद है इसलिये वे एक नहीं हो सकते क्योंकि जिसप्रकार अंगुलि और उसके पर्व—गांठ दोनों अंगुलिस्वरूप ही हैं अंगुलिसे भिन्न नहीं उसीप्रकार कारण और कार्य दोनों एक स्वरूप हैं, भिन्न नहीं।" तथा जिसकी चारो ओरसे उत्पत्ति हो वह पर्याय है। जिसका अर्थ पर्याय ही हो द्रव्य न हो वह पर्यायार्थिक नय है क्योंकि अतीतकालका द्रव्य विनष्ट

हो चुका और आगामी कालका द्रव्य अभी उत्पन्न नहीं अतः उसका व्यवहार नहीं हो सकता इस लिये कारण और कार्य दोनों नामोंको धारण करनेवाले उस वर्तमान कालीन पर्याय हीको पर्यायार्थिक नय विषय कर सकता है। द्रव्यको नहीं। अथवा 'अर्थनं: अर्थः—प्रयोजनं' अर्थ शब्दका अर्थ प्रयोजन है जिस नयका प्रयोजन द्रव्य ही हो वह द्रव्यार्थिक नय है क्योंकि संसारमें जो द्रव्यकी प्रतीति होती है, जो नाम है एवं द्रव्यके अनुकूल प्रवृत्ति रूप चिह्न हैं उनका लोप नहीं हो सकता। अर्थात् द्रव्यका ज्ञान, द्रव्य संज्ञा और द्रव्यमें प्रवृत्ति इन चिन्होंसे देखे जानेवाले द्रव्यका अपलाप—अभाव नहीं कहा जा सक्ता। तथा जिस नयका प्रयोजन पर्याय ही हो वह पर्यायार्थिक नय है क्योंकि केवल पर्यायको विषय करने के कारण शब्द और ज्ञानकी निवृत्ति और प्रवृत्तिके आधीन जो व्यवहार है उसकी प्रसिद्धि है अर्थात् मृत पिंडसे घट पर्यायकी उत्पत्ति होती है इसलिये मृत पिंड रूप शब्द और उसके ज्ञानकी निवृत्ति एवं घट शब्द और उसके ज्ञानकी प्रवृत्तिरूप जो व्यवहार है वह होता है। यदि पर्यायको विषय करने वाला पर्यायार्थिक नय न हो तो संसारसे घट पट मठ पुत्र पिता आदि व्यवहारोंका लोप ही हो जाय। इस प्रकार यह द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके भेदसे जो दो नयोंके मूल भेद कहे थे उनका विवेचन हो चुका। नैगम आदि जो सात प्रकारके नय ऊपर कहे गये हैं वे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके ही भेद हैं। अब नैगम आदिके विशेष लक्षणोंका वर्णन किया जाता है—

अर्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः[1] ॥ २ ॥

नि उपसर्गपूर्वक गम् धातुसे अच् प्रत्यय करने पर निगम शब्द बना है और निगम शब्दसे कुशल

१ अनभिनिर्वृत्तार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः। सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ७८।

वा भव अर्थमें अण् प्रत्यय करने पर नैगम शब्दकी सिद्धि हुई है। "निगच्छंत्यास्मिन्नीति निगमनमात्रं वा निगमः, निगमे कुशलो भवो वा नैगमः" पदार्थ जिसमें आकर प्राप्त हों वा जो प्राप्त होनामात्र हो उसका नाम निगम है और निगममें जो कुशल हो वा होनेवाला हो वह नैगम है। यहां पर निगम शब्दका अर्थ संकल्प है। इसलिए जो संकल्पमें कुशल होनेवाला हो वह नैगम शब्दका अर्थ है तथा जो पदार्थ वर्तमानमें तयार नहीं है तो भी उसके विषयमें यह संकल्प कर लेना कि वह वर्तमानमें मौजूद है ऐसे संकल्पित अर्थका ग्रहण करनेवाला नैगम नय है प्रस्थ इंद्र गृह गमी आदि स्थलों पर अर्थके संकल्प मात्रका ग्रहण करना ही उस नैगम नयका व्यापार है और वह इस प्रकार है—

हाथमें[2] फरसा लिये किसी पुरुषको पूछा—भाई कहां जाते हो ? उत्तरमें उसने कहा कि—मैं प्रस्थ (एक सेर वजनवाला काष्ठपात्र) लेने जा रहा हूं। यद्यपि काष्ठकी सेर पर्याय अभी तैयार नहीं किंतु जब काष्ठ लावेगा तब उसका सेर बनेगा तथापि लाये जानेवाले काष्ठसे सेर बनानेका संकल्प है इस-लिये नैगम नय की अपेक्षा मैं प्रस्थ—काठका बना सेर, लेने जा रहा हूं यह वचन बाधित नहीं। इसी प्रकार एक मनुष्य काष्ठसे इंद्रकी प्रातिमा बनाना चाहता है अभी वह केवल इंद्रकी प्रतिमा बनानेकी योजना कर रहा है यदि उससे पूछा जाता है कि भाई ! क्या कर रहे हो ? तो उत्तर मिलता है कि मैं इंद्र बना रहा हूं। यद्यपि अभी इंद्रकी प्रतिमा तयारी नहीं है किंतु इंद्रके बनानेका संकल्प है तो भी 'मैं

---

१ संकल्पो निगमस्तत्र भवोऽयं तत्प्रयोजनः। तथा प्रस्थादिसंकल्पस्तदभिप्राय इष्यते ॥ १८ ॥ श्लोकवार्तिक पृष्ठ २६९।

२ कंचित्पुरुषं परिगृहीतपरशुं गच्छंतमवलोक्य कश्चित् पृच्छतीति किमर्थं भवान् गच्छतीति ? स आह प्रस्थमानेतुमिति नासौ तदा प्रस्थपर्यायः सन्निहितः, तदभिनिर्वृत्तये संकल्पमात्रे प्रस्थव्यवहारः। सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ७८।

इंद्र बना रहा हूं' यह वचन नैगम नयकी अपेक्षा बाधित नहीं। इसी प्रकार एक मनुष्य ईंट चूना काठ आदि घरके तयार करनेकी सामग्रीको एकत्र करनेमें संलग्न है यदि उससे पूछा जाता है कि भाई! तुम क्या कर रहे हो? उत्तर मिलता है, घर बना रहा हूं। यद्यपि घर पर्याय अभी निष्पन्न नहीं तथापि उसके बनानेका संकल्प होनेसे 'मैं घर बना रहा हूं' यह वचन नैगम नयकी अपेक्षा बाधित नहीं। इसी प्रकार बहुतसे मनुष्य एक जगह खडे हैं। उनमें किसीने पूछा—भाई! अमुक स्थानपर कौन मनुष्य जा रहा है। उनमेंसे एक मनुष्य जो अभी तक खडा है उत्तर देता है—'मैं जा रहा हूं वहां पर यद्यपि गमन क्रियामें प्रवृत्त नहीं है तथापि नैगम नयकी अपेक्षा उसका 'मै जारहा हूं' यह वचन बाधित नहीं। क्योंकि संसारमें वैसा व्यवहार होता है। समझानेके लिये यहां कुछ इन दृष्टांतोंका उल्लेख किया गया है और भी अनेक दृष्टांत नैगम नयके विषय हैं।

विशेष—एक पुरुष जल लकडी आदि ओदनकी सामग्रीको एकत्र करनेमें लगा हुआ है। जिससमय उससे पूछा जाता है कि भाई क्या कर रहे हो? उत्तर मिलता है—भात पकाता हूं, यद्यपि भात पर्याय अभी निष्पन्न नहीं है किंतु उसके लिये व्यापार किया जारहा है तो भी वैसा संसारमें व्यवहार होनेसे नैगम नयकी अपेक्षा मैं भात पकाता हूं। यह बचन बाधित नहीं। इस दृष्टांतका सर्वार्थसिद्धिमें विशेष रूपसे उल्लेख है।

वार्तिकालंकारकारने जितने भी यहां नैगम नयके विषय दृष्टांत दिये हैं वे सब भविष्यत् काल

१ तथा एधोदकाद्याहरणे व्याप्रियमाणं कश्चित् पृच्छति किं करोति भवानिति? स आह—ओदनम् पचामीति तदोदनपर्यायः सन्निहितः। सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ७८।

की अपेक्षासे हैं परंतु भूत और वर्तमान कालकी अपेक्षा भी समझ लेने चाहिये। जिसतरह "अद्य दीपोत्सवदिने श्रीवर्धमानस्वामी मोक्षं गतः" आज दिवालीके दिन श्रीवर्धमान भगवान मोक्ष पधारे। यहां पर यद्यपि भगवानको मोक्ष गये हजारों वर्ष हो चुके परंतु संसारमें वैसा व्यवहार होता है इसलिये नैगम नयकी अपेक्षा वैसा वचन बाधित नहीं किंतु नैगम नयकी अपेक्षा ठीक समझा जाता है। इसी तरह जो कार्य वर्तमानमें हाथमें करनेकेलिये ले लिया है उसे पूर्ण न होने पर भी पूर्ण कह देना यद्यपि विरुद्ध जान पडता है तथापि संसारमें वैसा व्यवहार है इसलिये नैगम नयकी अपेक्षा वैसा कथन बाधित नहीं। इसलिये नैगम नयके भूत नैगम, भावी नैगम, और वर्तमान नैगम ये तीन भेद माने हैं। जो विषय ऊपर नैगम नयका बताया है यदि वह वर्तमानमें पूर्णतया उपस्थित हो तो वह उसका (नैगम नयका) विषय नहीं हो सकता। शंका—

भाविसंज्ञाव्यवहार इति चेन्न भूतद्रव्यासन्निधानात् ॥ ३ ॥

जो पदार्थ पहिले हो चुका उसको वर्तमानमें मानना भूत संज्ञा व्यवहार कहा जाता है। जो आगे जाकर होनेवाला है उसे वर्तमानमें मानना भावी संज्ञाका व्यवहार है और वर्तमान कालका ही पदार्थ जो अभी पूरा नहीं हुआ है—हो रहा है उसको पूरा कहना वर्तमान संज्ञा व्यवहार है। नैगम नयके जितने भी ऊपर दृष्टांत दिये हैं वे सब भावी संज्ञा व्यवहार हैं क्योंकि प्रस्थ आदि आगे होनेवाले पदार्थों को वर्तमानमें माना गया है इसलिये वे भावी संज्ञा व्यवहार हैं नैगमके विषय नहीं हो सकते? सो ठीक नहीं। जो पुरुष वर्तमानमें राजकुमार है वह आगे जाकर राजा होगा इसलिये वहांपर भावि संज्ञा व्यवहार होता है। जो वर्तमानमें कच्चे चावल हैं वे आगे जाकर भात कहे जाते हैं इसलिये वहां भाविसंज्ञा

व्यवहार है इसरीतिसे जहांपर भूतकालके पदार्थका संबंध है वहीं पर भावि संज्ञा व्यवहारकी प्रवृत्ति है किंतु जहांपर भूत कालके पदार्थके साथ संबंध नहीं वहां पर भावि संज्ञाव्यवहार नहीं होता । नैगम नयका जो विषय बतलाया है उसमें भूत पदार्थके साथ संबंधकी कोई अपेक्षा नहीं है किंतु वहां तो आगे होनेवाले कार्यको देखकर संकल्प मात्रका ग्रहण है इसलिये नैगम नयका विषय भावि संज्ञा व्यवहार नहीं कहा जा सकता । इसका खुलासा यह है कि भावि संज्ञा व्यवहारमें तो कुमारको यह कहते हैं कि यह राजा होनेवाला है परंतु नैगम नयमें—ऐसा नहीं कहते हैं किंतु यह राजा है ऐसा वर्तमानमें भविष्यत्का संकल्प कर उसीका प्रयोग करते हैं । शंका—

उपकारानुपलंभात्संव्यवहारानुपपत्तिरिति चेन्नाप्रतिज्ञानात् ॥ ४ ॥

जहांपर उपकार दीख पडे वहीं कार्य करना ठीक है । भाविसंज्ञाके विषय राजा आदिमें उपकारकी उपलब्धि है क्योंकि कुमार आदिको राजा आदि कहना उपकारस्वरूप है किंतु नैगमनयके विषयमें कोई उपकार जान नहीं पडता इसलिये उसका कोई पदार्थ विषय मानना निरर्थक है । सो ठीक नहीं । हमने यह प्रतिज्ञा कहां की है कि उपकार रहते ही नैगमनयका विषय हो सकता है । किंतु यहां नैगम नयके विषयका दिग्दर्शन कराया गया है परंतु हां ! यह भी बात नहीं कि नैगमनयका विषय उपकार रहित ही है किंतु जहां वह विषय उपकारयुक्त होगा वहां नैगम नयका विषय उपकारसहित भी हो सकता है इसलिये नैगम नयका विषय उपकारशून्य है यह कहना निर्मूल है ।

स्वजात्यविरोधेनैकत्वोपनयात्समस्तग्रहणं संग्रहः ॥ ५ ॥[1]

---

१ स्वजात्यविरोधेनैकध्यमुपनीय-पर्यायाक्रातभेदानविशेषेण समस्तग्रहणात् संग्रहः । सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ७८ ।

बुद्धि, नाम, अनुकूल प्रवृत्ति इन चिन्होंकी समानता रखनेवाला जो सादृश्य है वही जाति है अर्थात्
न पदार्थोंकी प्रतीति समान होगी, नाम भी समान होगा, अनुकूल प्रवृत्ति भी समान होगी ऐसे
ार्थोंके समूहका नाम जाति है। अथवा जहां स्वरूपका अनुगम है जिसप्रकार गोत्व स्वरूप समस्त
ारकी गौओंमें रहता है इसलिये वह जाति है। वह जाति चेतन अचेतन आदि पदार्थ स्वरूप है
न आदि पदार्थोंसे भिन्न नहीं। तथा उसकी प्रवृत्तिमें कारण गोत्व घटत्व द्रव्यत्व सत्व आदि अनेक
्द हैं इसलिये जहां जो शब्द होगा उसीके अनुसार उसका नाम भी भिन्न होगा तथा प्रवृत्ति भी
ी नियत शब्दके अनुसार होगी। वार्तिकमें जो अविरोध शब्द है उसका अर्थ स्वरूपसे न विगना
'स्वा जातिः स्वजातिः स्वजात्या अविरोधः, स्वजात्यविरोधः, तेन' यह संग्रहके लक्षणमें जो स्वजात्य-
ोध शब्द है उसका समास है। एकत्वोपनयका अर्थ एकत्वका उपचार है। इसरीतिसे अपनी जातिके
विरोध होनेपर एकत्व रूपसे जो समस्त भेदोंका ग्रहण कर लेना है उसका नाम संग्रह नय है। यह
हनयके लक्षणका स्पष्ट अर्थ है। संग्रहके सत् द्रव्य घट आदि उदाहरण हैं। 'सत्' ऐसा उच्चारण
ने पर द्रव्य पर्याय और उसके भेद प्रभेद सब सत्तासे अभिन्न हैं इसलिये एक सत्व धर्मसे उन
का ग्रहण हो जाता है। 'द्रव्य' ऐसा उच्चारण करने पर जीव अजीव और उनके भेद प्रभेद जितने
द्रव्य कहे जानेवाले हैं उन सबमें द्रव्यत्व धर्म अभेद रूपसे रहता है—जीव आदि कोई भी द्रव्यत्वसे

१ नैयायिक वैशेषिक दार्शनिकोंने गोत्व आदि जातियां स्वतंत्र मानी हैं वे व्यक्तियोंसे भिन्न सदा व्यापकरूपसे रहती हैं परंतु
जातियोंकी सिद्धि नहीं बनती अनेक दूषण आते हैं, इसलिये जो गौका आकार है वही गोत्व जाति है मनुष्यका आकार है
मनुष्यत्व जाति है, उसीसे समान आकारवाले सब एक जातिवाले समझे जाते हैं।

भिन्न नहीं इसलिये एक द्रव्यत्व धर्मसे सबका ग्रहण हो जाता है। 'घट' ऐसा उच्चारण करने पर नाम स्थापना आदिके भेदसे, मिट्टी सोना आदि कारणोंके भेदसे और वर्ण आकार आदिके भेदसे भिन्न भिन्न भी जितने घट शब्दके वाच्य अर्थ हैं उन सबमें घटत्व धर्म अभेदरूपसे रहता है—ऐसा कोई भी घट नहीं जिसमें घटत्व धर्म न रहता हो इसलिये एक घटत्व धर्मसे जितने भी संसारमें घट हैं उन सबका ग्रहण हो जाता है। इसीतरह पट मठ आदि पदार्थोंका भी संग्रहनयसे ग्रहण समझ लेना चाहिये। संग्रह नय द्रव्यार्थिक नयका ही भेद है और इस नयका विषय भी अभेद है इसलिये यहां पर सत् द्रव्य और घट आदिक शब्द और उसकी प्रतीति समान रूपसे है अर्थात् सत् कहनेसे समस्त सत्तावाले, द्रव्य कहनेसे समस्त द्रव्य और घट कहनेसे समस्त घटोंका समान रूपसे ज्ञान हो जाता है विशेष रूपसे नहीं अर्थात् जिनकी संज्ञा और प्रतीति समान हो वे सब संग्रहनयके विषय पडते हैं। इसरीतिसे सत् शब्दके उल्लेखसे समस्त सत्तावाले, द्रव्य शब्दके उल्लेखसे समस्त द्रव्य और घट आदि शब्दोंके उल्लेखसे समस्त घट आदिका ग्रहण होना जो संग्रहनयका अर्थ कहा गया है वह निर्दोष है। शंका—

संग्रहनयके जो सत् द्रव्य और घट आदि उदाहरण दिये हैं उनमें सत्त्व द्रव्यत्व और घटत्व आदि धर्मोंको द्रव्य आदि स्वरूप माना गया है परंतु सत्त्व आदि धर्म द्रव्य आदिसे भिन्न हैं और सत्त्वके संबंध से सत्, द्रव्यत्वके संबंधसे द्रव्य, घटत्व आदिके संबंधसे घट आदिकी प्रतीति होती है इसलिये सत्त्व आदि धर्मोंको द्रव्य आदि स्वरूप मानना अयुक्त है? सो ठीक नहीं। यदि सत्त्व द्रव्यत्व आदि धर्म और सत् द्रव्य आदि पदार्थोंको सर्वथा भिन्न माना जायगा तो सत्त्व आदि धर्म और द्रव्य आदि पदार्थ दोनों ही सिद्ध न हो सकेंगे क्योंकि द्रव्य आदि पदार्थोंसे भिन्न न तो सत्त्व द्रव्यत्व आदि धर्म देखनेमें

आते हैं और न सत्व द्रव्यत्व आदि धर्मोंसे भिन्न द्रव्य आदि पदार्थ देखनेमें आते हैं। इसलिये ये द्रव्य आदि पदार्थोंसे सत्व आदि धर्म सर्वथा भिन्न नहीं। और भी यह वात है कि—

यदि सत्ताको द्रव्य आदिसे सर्वथा भिन्न मानोगे और सत्ताके संबंधसे उनमें 'सत् सत्' यह प्रतीति और उनका 'सत्' यह नाम माना जायगा तो वहांपर यह प्रश्न है कि द्रव्य आदि पदार्थोंमें जो सत् सत् यह प्रतीति है वा उनका सत् यह नाम है वह सत्ता संबंधसे पहिले है कि पीछे है? यदि यह कहा जायगा कि वह सत्ता संबंधसे पहिले है तव जिसतरह जो पदार्थ स्वयं प्रकाशमान है उसका फिर प्रकाशन करना व्यर्थ है उसीतरह सत्ता संबंधसे पहिले ही द्रव्य आदि पदार्थोंमें 'सत्' 'सत्' यह प्रतीति और उनका सत् नाम प्रसिद्ध है तव उनके साथ सत्ताका संबंध मानना व्यर्थ है क्योंकि द्रव्य आदि पदार्थोंमें 'सत् सत' प्रतीति और उनके 'सत्' नामकी प्रसिद्धिके लिये ही सत्ता संबंधकी आवश्यकता पडती है सो वह सत्ताके विना संबंधके ही हो जाता है इसलिये पीछे से सत्ताका संबंध मानना व्यर्थ है। तथा यह भी वात है कि यदि सत्ता संबंधके पहिले ही द्रव्य आदिमें 'सत् सत्' यह प्रतीति और सत् नाम माना जायगा तो एक अंतरंग और दूसरी वाह्य सत्ता इस प्रकार सत्ताके दो भेद मानने पडेंगे क्योंकि यह वात निश्चित है कि विना सत्ताके रहे द्रव्य आदिमें 'सत, सत्' यह प्रतीति और उनका सत् नाम नहीं कहा जा सकता। सत्ता संबंधके पहिले भी द्रव्य आदिमें सत् सत् यह प्रतीति और सत् नाम माना गया है इसलिये जिसके द्वारा द्रव्य आदिमें 'सत् सत्' प्रतीति और उनका सत् नाम अनुभवमें आता है वह अंतरंग सत्ताका कार्य है अतः जिस सत्ताका पीछेसे संबंध होनेवाला है उससे पहिले ही 'सत् सत्' इस प्रतीति और सत् इस नामकी नियामक अंतरंग सत्ता माननी होगी एवं जिसका पीछेसे संबंध हुआ

है वह वहिरंग सत्ता कहनी पडेगी इसरीतिसे यदि सत्ताके पाहिले ही द्रव्य आदिमें 'सत् सत्' यह प्रतीति और उनका 'सत्' यह नाम माना जाता है तो अंतरंग और वाह्यके भेदसे दो प्रकारकी सत्ता माननी पडती है। यदि यहां पर यह कहा जाय दो सत्ता मान लीं जांय तो भी कोई हानि नहीं ? सो अयुक्त है "सल्लिंगाविशेषाद्विविशेषलिंगाभावाच्चैको भावः" अर्थात् सबमें 'सत् चिन्ह समान है—सभी पदार्थोंकी 'सत् सत्' रूपसे प्रतीति होती है और उनका आपसमें भेद करनेवाला कोई विशेष लिंग है नहीं इसलिये संसारमें एक ही सत् पदार्थ है, इस (आपके) सिद्धान्त वचनका व्याघात हो जायगा क्योंकि यहां इस वचनसे एक ही सत्ता मानी गई है और ऊपर दो प्रकारकी सत्ता सिद्ध होती है इसलिये पूर्वापर विरोध है इस रीतिसे सत्तासंबंधसे पहिले द्रव्य आदिमें 'सत् सत्' यह प्रतीति और उनका 'सत्' यह नाम नहीं सिद्ध हो सकता। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि सत्तासंबंधसे पहिले उनमें 'सत् सत्' यह प्रतीति वा उनका 'सत्' नाम नहीं है किंतु सत्ता संबंधके बाद है तो जबतक उनके साथ सत्ताका संबंध न होगा तब तक द्रव्य आदिकी 'सत् सत्' यह प्रतीति और 'सत्' यह नाम भी न होगा फिर जिसप्रकार गदहे का सींग संसारमें असत् पदार्थ है उस प्रकार सत्तासंबंधसे पहिले द्रव्य आदि पदार्थोंको भी असत् मानना पडेगा। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

हमारे मतमें गुण गुणी जाति द्रव्य आदिका समवाय सम्बंध माना है और वह नित्य है इसलिये उससे द्रव्य आदि पदार्थोंमें 'सत् सत्' यह प्रतीति और उनका 'सत्' यह नाम निर्बाधरूपसे व्यवहार-गोचर हो सकते हैं द्रव्य आदि पदार्थोंके साथ सत्त्व द्रव्यत्व आदिका अभेद संबंध मानना निरर्थक है? सो ठीक नहीं। समवायसंबंध किसी प्रकार सिद्ध ही नहीं हो सकता यह वात पहिले विस्तृतरूपसे

कही जा चुकी है इसलिये उपर्युक्त प्रतीति और नामका व्यवहार समवाय संबंधके आधीन नहीं हो सकता । तथा—

सत्ताके सम्बन्धसे द्रव्यादिका 'सत्' व्यवहार हो जाय परन्तु सत्ताका 'सत्' व्यवहार कैसे होगा? यदि यह कहा जायगा कि किसी दूसरी सत्ताके संबंधसे होगा तो अनवस्था दोष होगा क्योंकि वहांपर भी यह प्रश्न उठेगा कि उस दूसरी सत्ताका कैसे सत् व्यवहार होगा तो वहांपर अन्य तीसरी सत्ताके संबंधसे कहना होगा। यहांपर भी यह प्रश्न उठेगा कि उस तीसरी सत्ताका 'सत्' व्यवहार कैसे होगा तो वहां भी कहना पडेगा कि अन्य चौथी सत्ताके संबंधसे होगा इसप्रकार उत्तरोत्तर सत्ताकी कल्पनाओंके होनेसे अनवस्था दोष होगा। यदि कदाचित् यह कहा जायगा कि द्रव्य आदि पदार्थोंका जो सत् व्यवहार है वह सत्ताके संबंधसे होता है परन्तु सत्ताका जो 'सत्' व्यवहार है सत्ताके सम्बंधके विना ही हो जाता है। वहांपर दूसरी किसी सत्ताके सम्बंधकी अपेक्षा नहीं रहती इसलिये अनवस्था दोष नहीं हो सकता। सो भी ठीक नहीं। इसरूपसे अनवस्था दोषका भले ही परिहार हो जाय परन्तु सत्ताके सत् व्यवहारको यदि स्वयं माना जायगा तो प्रतिज्ञाभंग दोष तयार है। क्योंकि 'सत्' व्यवहार सत्ताके संबंधसे होता है, वादी यह प्रतिज्ञा कर चुका है अब यदि सत्ताके 'सत्' व्यवहारको सत्तासंबंधके विना स्वयं ही मानलेगा तो उपर्युक्त प्रतिज्ञा भंग हो जायगी। इसलिये सत्ताका जो संसारमें 'सत्' व्यवहार है वह परसे वा स्वयं दोनों तरहसे बाधित है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

प्रत्येक पदार्थमें भिन्न २ शक्तियां होती हैं इसलिये द्रव्य आदिमें तो भिन्न भिन्न निमित्तस्वरूप उन शक्तियोंके संबंधसे 'सत्' व्यवहार होगा और सत्तामें विना किसी अन्य निमित्तके स्वयं सत् व्यव-

हार होगा इसलिये उपर्युक्त दोषोंको यहां स्थान नहीं मिल सकता ? सो भी ठीक नहीं। फिर सत्ताके संबंधसे 'सत्' व्यवहार होता है, इस संसर्गवादको छोड देना होगा क्योंकि सत्तामें विना ही अन्य सत्ता के संसर्ग—संबंधके यहां वादी सत व्यवहार स्वीकार कर रहा है। इससे वादीको यह भी मानना पडेगा कि जिसप्रकार सत्ताका व्यवहार, विना पर सत्ताके संबंधके स्वयं होता है उसीप्रकार सत्, द्रव्य, घट इनका भी स्वयं व्यवहार हो जायगा उनके लिये भिन्न जातियोंका संबंध मानना व्यर्थ क्यों नहीं है ? तथा जहां जैसा दोष देखा वहां वैसी ही मनगढंत कल्पना करलेना इच्छामात्र कल्पना कही जाती है यहां पर सत्ताके 'सत्' व्यवहारके लिये अनवस्था प्रतिज्ञाभंग आदि दोष दीख पडे तो उनको दूर करने के लिये द्रव्यादि पदार्थोंमें शक्तिके संबंधसे 'सत्' व्यवहार मान लिया और सत्तामें स्वयं मान लिया यह कल्पना करली परंतु वास्तविक वात क्या है ? यह नहीं विचारा इसलिये अनवस्था आदि दोषोंके दूर करनेके लिये जो द्रव्य आदि पदार्थोंमें भिन्न भिन्न शक्तियोंके संबंधसे सत् व्यवहार माना है और सत्ता में स्वयं 'सत्' व्यवहार की कल्पना की है यह मन गढंत कल्पना कही जायगी जो कि अप्रामाणिक है। तथा और भी यह वात है कि—

भिन्न पदार्थ स्वरूप सत्ताका जो द्रव्य आदिमें रहना माना है 'सोऽस्येति' वह जिसका हो अर्थात् सत्ता जिस पदार्थकी हो इस बहुव्रीहि समासके आधीन माना है वा 'सोऽयं' वह यह है अर्थात् सत्ता स्वरूप है इस कर्मधारय समासके आधीन माना है ? यदि बहुव्रीहि समासके आधीन मानी जायगी तो सत् शब्दसे मत्त्वर्थीय 'मतु' प्रत्ययका विधान होनेसे गोमान् धवमान् जिसप्रकार इन शब्दोंका सिद्ध स्वरूप है उसीप्रकार सत्की जगह पर 'सत्तावान्' यह सिद्धस्वरूप होना चाहिये किंतु 'सद्द्रव्यं' यह जो

संग्रहनयके उदाहरणमें सत् रूपका उल्लेख किया है वह न होना चाहिये । परंतु उल्लेख सत् रूपका ही है इसलिये द्रव्य आदिमें सत्ताका रहना वहुव्रीहि समासके आधीन माने जाने पर मत्वर्थीय प्रत्ययके अर्थको छोड देना पडेगा । यदि कदाचित् यह कहा जाय कि द्रव्य आदिमें सत्ताकी वृत्ति वहुव्रीहि समासके आधीन न मानकर 'सोऽयं' यह कर्मधारय समासके आधीन मानी है तव भी जिसप्रकार 'यष्टिः पुरुषः' दंड ही पुरुष है ऐसे स्थलपर 'यष्टि' ऐसा प्रयोग होता है इसीप्रकार सत्तास्वरूप द्रव्य आदिके हैं यहां पर भी सत्ता शब्दका प्रयोग होगा इसरीतिसे 'सद्द्रव्यं' इत्यादि उदाहरणोंमें सत्ता द्रव्यं इत्यादि कहना चाहिये 'सत् द्रव्यं' यह कहना अयुक्त है। यदि यहां द्रव्यादि पदार्थोंमें कर्मधारय समास के आधीन ही वृत्ति मानकर सत्ताका प्रयोग न कर सत् शब्दका ही प्रयोग किया जायगा तो सत्ता अर्थका त्याग कर देना पडेगा इसरीतिसे द्रव्य आदि पदार्थोंसे सत्ताके भिन्न मानने पर अनेक दोष लागू होते हैं। तथा—

वादी सत्ताको अखंड एक स्वीकार करता है परंतु ऐसा कोई भी दृष्टांत नहीं कि जहां पर एक पदार्थ अनेक पदार्थोंसे संवंध करनेवाला हो। यदि सत्ताको अखंड एक पदार्थ माना जायगा तो उसका अनेक पदार्थोंके साथ संवंध नहीं हो सकता। इसलिये 'सत्ता अखंड एक पदार्थ है' वादीका यह सिद्धांत युक्तिशून्य है। यदि यहां पर यह कहा जाय कि नीली द्रव्य एक है तो भी जिसप्रकार उसका अनेक पदार्थोंके साथ संवंध दीख पडता है—नीली द्रव्य—नील रंगके, संवंधसे वहुतसे पदार्थ नीले हो जाते हैं उसी प्रकार यद्यपि सत्ता एक है तो भी अनेक पदार्थोंके साथ उसका संवंध हो सकता है कोई दोष नहीं? सो भी अयुक्त है। यदि नीली द्रव्य एक अखंड पदार्थ हो तव उसका उदाहरण लिया जा सकता है किंतु

वह तो अनेक है क्योंकि नीलरंगके परमाणु जुदे २ अनेक हैं इसलिये उनका उदाहरण देकर एक सत्ता अनेक पदार्थोंके साथ संबंध करनेवाली नहीं सिद्ध हो सकती। यदि यहांपर भी यह कहा जाय कि नीली द्रव्य अनेक है इसलिये उसका उदाहरण माननेपर न भी एक सत्ता अनेक पदार्थोंसे संबंध करनेवाली सिद्ध हो परंतु नीली द्रव्यमें जो नीलत्व जाति है वह तो एक है और एक ही वह अनेक नीली द्रव्य पदार्थोंसे संबंध करनेवाली है इसलिये नीलत्व धर्मको उदाहरण मान एक भी सत्ता अनेक पदार्थोंसे संबंध करनेवाली सिद्ध हो सकती है। सो भी ठीक नहीं। नीलत्व जाति ही संसारमें सिद्ध नहीं जिसे उदाहरण माना जाय जो दोष सत्ता जातिमें दिये गये हैं वे सब नीलत्व जातिमें भी आते हैं। इसरीतिसे सत्ता एक अखंड पदार्थ है और वह द्रव्यादि पदार्थोंसे भिन्न है, ऐसा मानना बाधित है।

अतो विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः ॥ ६ ॥

जिस पदार्थको संग्रह नयने विषय कर लिया है उसका जो विधिपूर्वक ग्रहण करना है उसका नाम व्यवहार है। संग्रहके लक्षणमें जो विधि शब्द है उसका अर्थ–जिस पदार्थको संग्रह नयने विषय किया है उसीके अनुकूल व्यवहारका होना है। उसका खुलासा इसप्रकार है–संग्रहनय विशेषरूपकी अपेक्षा न कर सामान्य रूपसे पदार्थोंको विषय करता है परंतु विशेषका विना अवलंबन किए व्यवहार हो नहीं सकता इसलिये सामान्यरूपसे जिस पदार्थको संग्रहनयने विषय किया है उससे संसारका व्यवहार न हो सकनेके कारण व्यवहार नय माना गया है। जिस तरह–संग्रहनयका विषय सत् पदार्थ है किंतु सत् शब्दसे संसारका व्यवहार हो नहीं सकता इसलिये जो सत् है वह द्रव्य और गुण है यह व्यवहार नयसे मानना पडता है। तथा संग्रहनयका विषय द्रव्य है उसके जीव और अजीव भेद माने बिना

संसारका व्यवहार नहीं हो सकता इसलिये वह द्रव्य जीव और अजीव है यह व्यवहारसे कहना पडता है। तथा संग्रह नयका विषय जीव और अजीव है। वहां पर जीवके देव नारक आदि भेद माने विना संसारका व्यवहार नहीं हो सकता इसलिये लोक व्यवहारकी सिद्धिके लिये जीव द्रव्यके देव नारक आदि भेद व्यवहारसे मानने पडते हैं। अजीवके घट पट आदि भेद माने विना भी संसारका व्यवहार नहीं चल सकता इसलिये उसके घट पट आदि भेद व्यवहारनयसे मानने पडते हैं। तथा क्वाथ–काढा दवा है यहां पर क्वाथ पदार्थ संग्रहनयका विषय है परंतु सामान्य पदार्थ व्यवहारका विषय नहीं हो सकता एवं सामान्य विशेषस्वरूप ही होता है इसलिये व्यवहारनयसे क्वाथ पदार्थके न्यग्रोधके फल आदि भेद मानने पडते हैं। यहां पर यह शंका न करनी चाहिये कि क्वाथ पदार्थके न्यग्रोधके फल आदि अनंत भेद हैं, इकट्ठे नहीं किये जा सकते इसलिये वे व्यवहारके विषय कैसे हो सकते हैं? क्योंकि उनका इकट्ठा करना तो प्रभू चक्रवर्तीकी भी सामर्थ्यसे वाह्य है–वह भी नहीं कर सकता परंतु संग्रहनयके विषयभूत क्वाथ पदार्थके भेद होनेकी उन सबमें सामर्थ्य है–न्यग्रोधके फल आदि सभी क्वाथ पदार्थके भेद हो सकते हैं इसलिये वे सब व्यवहारनयके विषय हैं। तथा नाम स्थापना द्रव्य ये तीन निक्षेप संग्रहात्मक हैं उनसे संग्रहात्मक वस्तुका ग्रहण होता है उनसे भिन्न भिन्न व्यवहार नहीं हो सक्ता क्योंकि वे तीनों ही जातिवाचक हैं व्यक्ति वाचक नहीं हैं इसलिये व्यवहारकेलिये वर्तमान पर्याय भाव निक्षेप ही समर्थ है उसीका यहां ग्रहण है। इसरीतिसे इस व्यवहारनयका वहांतक विषय समझना चाहिये जहांतक फिर किसीप्रकारका विभाग न हो सके।

सूत्रपातवदृजुसूत्रः ॥ ७ ॥

जिसप्रकार सूतका गिरना सरल होता है उसीप्रकार जो सरल विषयको सूचित करता है उसका नाम ऋजुसूत्र है। यह नय त्रिकालसंबंधी विषयोंको छोडकर वर्तमानकालीन विषयोंको ग्रहण करता है क्योंकि जो पर्याय बीत चुकी अथवा जो पर्याय अभी तयार नहीं—आगे जाकर तयार होगी उन दोनों पर्यायोंसे व्यवहार चल नहीं सकता इसलिये शुद्ध एक समयमात्र ही ऋजुसूत्र नयका विषय माना गया है।

'कषायो भैषज्यं' 'काढा दवा है' यहांपर जिन पदार्थोंका काढा है उन पदार्थोंका अर्क निकलकर जिससमय साक्षात् औषधस्वरूप काढा बन जाता है वही शुद्ध वर्तमानकालीन एक समयवर्ती ऋजुसूत्र नयका विषय है किंतु पहिले ही पहिले जिसका रस अभीतक प्रगट नहीं हुआ—आगे जाकर प्रगट होनेवाला है इसीलिये जो साक्षात् औषध नहीं है वह ऋजुसूत्र नयका विषय नहीं। क्योंकि वह वर्तमान एक समयवर्ती नहीं—भविष्यत् कालकी अपेक्षा रखता है। तथा—

पच्यमान—जो पक रहा है और पक्व—जो पक चुका है यह ऋजुसूत्र नयका विषय है। यहां पच्यमान और पक्वका अर्थ कथंचित् पच्यमान और कथंचित् पक्व यह समझ लेना चाहिये यदि यहां पर यह शंका की जाय कि पच्यमान यह वर्तमान पर्याय और पक्व यह अतीत पर्याय है, दोनोंका एक जगह कैसे समावेश होगा? सो ठीक नहीं। क्योंकि यहां पर उत्तर देते समय यह कहा जा सकता है कि पहिले ही पहिले जबकि समयका कोई विभाग नहीं है उससमय भातका कुछ अंश पका—सीझा है या नहीं! यदि नहीं सीझा है तब द्वितीयादि समयोंमें भी वह नहीं सीझ सकता इसलिये पाकका अभाव ही कहना होगा। परंतु प्रतिक्षण वह सीझता अवश्य है इसलिये बटलोईमें रक्खे हुए चावलोंमें सीझे

और वेसीझेकी अपेक्षा ऋजुसूत्रनयका कथंचित् पच्यमान और कथंचित् पक्व यह विषय बाधित नहीं। यदि यहां पर यह अपेक्षा न मानी जायगी और पच्यमान अवस्था और पक्व अवस्थाका सर्वथा विरोध माना जायगा तो पच्यमान (मिश्रित) कथंचित् पच्यमान और पक्व इसतरह विषयोंके तीन भेद हो जानेसे समय भी तीन प्रकारका मानना होगा परंतु तीनभेदोंको सर्वथा विरुद्ध माननेसे एक समयमें वे तीनों भेद नहीं रह सकते इसलिये कथंचित् पच्यमान और कथंचित् पक्वमें सर्वथा विरोध नहीं माना जा सकता इसलिये यहां यह बात समझ लेनी चाहिये कि किसी पकानेवालेका यह अभिप्राय हो कि जो चावल अच्छी तरह सीझ गये हैं कोई भी कच्चा बाकी नहीं है उसकी अपेक्षा तो अच्छीतरह पके हुए चावल ही पक्व हैं। और जिस पकानेवालेका यह अभिप्राय हो कि वह कुछ सीझे और कुछ वेसीझे कथंचित् पच्यमान और कथंचित् पक्व ऐसे पच्यमान चावलोंको ही पक्व कहना चाहता है उसकी अपेक्षा पच्यमान ही पक्व है। क्योंकि वह पच्यमानोंको ही पक्व मानना सुखप्रद समझता है इसलिये यह बात निश्चित हो चुकी कि ऋजुसूत्र नयका पच्यमान अर्थात् कथंचित् पच्यमान कथंचित् पक्व उदाहरण निर्दोष है तथा पक्व-पक चुकनेके बाद एक समयवर्ती पदार्थ भी ऋजुसूत्र नयका विषय है इसीतरह क्रियमाण कृत (कथंचित् क्रियमाण कथंचित् कृत), भुज्यमान भुक्त (कथंचित् भुज्यमान कथंचित् भुक्त) बध्यमान बद्ध (कथंचित् बध्यमान कथंचित् बद्ध) और सिध्यत् सिद्ध (कथंचित् सिध्यत् कथंचित् सिद्ध) आदि भी ऋजुसूत्रनयके उदाहरण समझ लेने चाहिये। अर्थात् जो किया जा रहा है और जो किया जा चुका है और जो भोगा जा रहा है और जो भोगा जा चुका है जो सिद्ध किया जा रहा है जो सिद्ध किया जा चुका है, ये सब भी ऋजुसूत्रनयके विषय पडते हैं, क्योंकि इन सबोंमें भी कुछ अंशोंमें

वर्तमान पर्यायका ग्रहण होता है, जितने अंशोंमें वर्तमान पर्यायका ग्रहण है उतने ही अंशोंमें ऋजुसूत्रनय की विषयता है इसीलिये कथंचित् पदसे कहा गया है। यहां पर विरोधादि बातोंका खुलाशा पच्यमान पक्कके समान है। तथा—

ऋजुसूत्रनयका विषय प्रस्थ भी है परंतु जिससमय अन्न आदि पदार्थ, सेर—माप द्वारा तुल रहा है उसीसमय प्रस्थ; ऋजुसूत्रनयका विषय हो सकता है परंतु जिससे धान्य तुल चुका अथवा आगे जाकर तुलेगा वह ऋजुसूत्रनयका विषय नहीं हो सकता क्योंकि जो तुल चुका वह भूतकालका विषय है। जो आगे तुलेगा वह भविष्यत् कालका विषय है। भूतकालकी पर्याय और भविष्यत्कालकी पर्याय ऋजुसूत्रनयका विषय है नहीं, किंतु वर्तमानकालकी एक समयवर्ती पर्याय ही उसका विषय है इसलिये भूतकाल वा भविष्यत् कालकी अपेक्षा होनेवाला प्रस्थरूप ऋजुसूत्रनयका विषय होना असंभव है। तथा—

कुंभकारका अभाव ऋजुसूत्रनयका विषय है क्योंकि कुंभको करनेवाला कुंभकार कहा जाता है। जिससमय कुंभकार पुरुष कुंभ—घडा, न बनाकर उसकी शिविक छत्रक आदि पर्याय बना रहा है उस समय वह ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा घडाका बनानेवाला नहीं कहा जा सकता क्योंकि शिविक छत्रक आदि पर्यायोंके आगे जाकर घट पर्याय बननेवाली है इसलिये भविष्यतकालका विषय है; वर्तमान कालका नहीं एवं जिससमय वह घडा बना रहा है उससमय घटकी उत्पत्ति उसके खास अवयवोंसे हो रही है और वही शुद्ध वर्तमानकाल ऋजुसूत्रनयका विषय है किंतु उससमय कुंभकार कुछ नहीं कर रहा है इसलिये ऋजुसूत्रनयका विषय कुंभकार नहीं हो सकता किंतु कुंभकारका अभाव उसका विषय है। तथा—

कोई पुरुष कहींसे आकर बैठा है किसी दूसरेने पूछा—कहो भाई कहांसे आरहे हो ? उससमय उसका यह कहना कि कहींसे नहीं आरहा हूं क्योंकि उससमय सर्वथा गमन क्रियाका अभाव है इसलिये शुद्ध वर्तमानकी अपेक्षा 'इससमय कहींसे नहीं आरहा हूं' यह ऋजुसूत्रनयका विषय है। तथा—

किसी बैठे आदमीको देखकर यह पूछना कि भाई ! इससमय तुम किस स्थान पर हो ? उससमय वर्तमानमें वह जितने आकाशके प्रदेशोंमें मोजूद है उतने ही प्रदेशोंका नाम लेकर कहे कि मैं यहां पर हूं, किसी शहर गांव घर आदिका नाम नहीं ले, वह शुद्ध वर्तमान कालकी अपेक्षा कथन होनेसे ऋजुसूत्रनयका विषय है । अथवा उससमय जितने आत्मप्रदेशोंके आकारमें उसका रहना हो उतने ही प्रमाण आत्म प्रदेशोंका उल्लेखकर वह यह कहे कि मैं यहांपर हूं वह ऋजुसूत्रनयका विषय है क्योंकि उसकी स्थितिका शुद्ध वर्तमान समयमें वही आकार है, अन्य नहीं। तथा—

काक काला है यह ऋजुसूत्रनयका विषय नहीं है।किंतु 'काक काला नहीं है' यह ऋजुसूत्रनयका विषय है क्योंकि यहांपर काक अपने काकस्वरूपका धारक है और कालापन अपने कालेपन स्वरूपका धारक है किंतु कालापन काकस्वरूप (काकका स्वरूप) नहीं। यदि यहांपर यह कहा जाय कि कालापन काकका स्वरूपही है तब कालापन तो भ्रमर आदिके अंदर भी दीख पडता है इसलिये भ्रमर आदिको भी काक कहना पडेगा। फिर भ्रमर आदि जीवोंको काकके नामसे ही पुकारा जायगा—भ्रमर आदिके नामसे नहीं। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि हम कालेपनको काकस्वरूप नहीं मानते किंतु काले ही काकका नाम काक है अन्यवर्णका काक नहीं, यह कहते हैं। यह भी ठीक नहीं। यदि काले वर्णके काकको ही काक माना जायगा तो जो काक सफेद नीले आदि वर्णके धारक हैं उन्हें फिर काक न

कहा जायगा क्योंकि काक पांचों वर्णोंके होते हैं। तथा पित्त हड्डी रक्त आदि सात धातुओंका पिंड स्वरूप काकका शरीर है इनसे भिन्न कोई काक पदार्थ नहीं किंतु पित्तका रंग पीला, हड्डीका रंग सफेद और रक्तका लाल वर्ण माना है। यदि कृष्णवर्ण स्वरूप ही काक माना जायगा तो पीले आदि वर्णोंके धारक पित्त आदिको भी कृष्ण वर्णात्मक ही कहना पडेगा परंतु उसप्रकारका कहना प्रत्यक्ष बाधित है इसलिये काले वर्णका ही काक, काक है यह कहना बाधित है। यदि यहां पर यह कहा जाय कि—

काकका शरीर एक अखंड द्रव्य पदार्थ है उसमें समानाधिकरण संबंधसे पित्त आदि रहते हैं उनके पीले सफेद आदि वर्ण हैं काकसे उनका तादात्म्य संबंध नहीं इसलिये वह कृष्णात्मक ही है? सो भी ठीक नहीं। पित्त हड्डी आदि काक शरीरके पर्याय हैं। पर्याय कभी द्रव्यसे भिन्न हो नहीं सकते वास्तवमें तो पर्याय ही विभिन्न शक्तियोंके धारक द्रव्य पदार्थ हैं उनसे भिन्न द्रव्य कोई चीज नहीं, इसलिये काकके शरीरको एक विभिन्न द्रव्य मानकर पित्त हड्डी आदि द्रव्योंका उसमें समानाधिकरण संबंध मानना बाधित है। यदि यहांपर फिर यह कहा जाय कि—

सफेद लाल पीले आदि सब तरहके काक हों परंतु सबमें प्रधान गुण कृष्ण वर्ण ही है इसलिये कृष्ण गुणकी प्रधानतासे कृष्ण ही काकको काक मानना उचित है। सो ठीक नहीं। यदि कृष्णगुणकी ही प्रधानता मानी जायगी तो पित्त हड्डी आदि पदार्थ पीले सफेद आदि होने पर भी वे भी प्रधानगुण हैं ही तथा और भी यह बात है कि सब गुणोंमें जब केवल कृष्णगुण ही प्रधान है मीठा खट्टा आदि अनेक गुणोंमें कोई प्रधान नहीं तब मधु (शहद) यद्यपि कुछ कषैलापन लिये मीठा होता है परंतु अब उसके मीठे रस गुणका भान न होगा, प्रधानता होनेसे केवल कृष्ण ही कृष्णगुणका भान होगा परंतु

वहां पर कृष्णगुणका भान न होकर मीठापन प्रत्यक्षरूपसे जाना जाता है इसलिये सब गुणोंमें कृष्ण गुण प्रधान नहीं माना जा सकता। तथा और भी यह बात है कि—

जहां पर परोक्षमें कृष्ण काक कहा जाता है वहां पर संशय हो जाता है क्योंकि एक पुरुष कृष्ण काकके विशेषका जाननेवाला है वह किसी दूसरे द्वीपमें पहुंचा और वहांके किसी ऐसे पुरुषके सामने कृष्णकाकके स्वरूपका वर्णन किया जो पुरुष कृष्णकाकको जानता ही नहीं। वस! कृष्णकाकका स्वरूप सुनते ही उसे यह संदेह हो जाता है कि यह मनुष्य जो 'काला काक' कह रहा है वह सब गुणोंमें कृष्ण गुणकी प्रधानता समझ वैसा कह रहा है अथवा कृष्णपना द्रव्यकी पर्याय है यह समझ 'काला काक' कह रहा है? यह निश्चय है कि जहां पर संशय रहता है वहां पर पदार्थका निर्णय नहीं होता इसलिये 'काला काक' ही काक होता है यह कहना बाधित है। ऋजुसूत्रनय शुद्ध वर्तमानकालीन एक समयवर्ती पर्यायको विषय करता है उस एक समयमें काक सामान्य संसारभरके सब काक काले नहीं इसलिये काक सामान्यरूपसे कृष्णात्मक नहीं कहा जा सकता किंतु कृष्ण कृष्णात्मक और काक काकात्मक है इसलिये 'कृष्णकाक' यह ऋजुसूत्र नयका विषय नहीं हो सकता। तथा—

पलाल (पूला) आदिके दाहका अभाव यह भी ऋजुसूत्रनयका विषय है क्योंकि ऋजुसूत्रनयका विषय शुद्ध वर्तमान एक समयमात्र है और पलाल आदि चीजोंके साथ अग्निका संबंध होना उसका सुलगना, स्वयं जलना, जलाना कार्य असंख्याते समयोंका है इसलिये कालका भेद होजानेके कारण पलाल आदिका दाह ऋजुसूत्रनयका विषय नहीं हो सकता और भी यह बात है कि जिससमय दाह हो रहा है उससमय पलाल नहीं किंतु उसकी भस्म पर्याय है और जिससमय पलाल अपने रूपसे पलाल

है उससमय दाह नहीं इसलिये ऋजुसूत्रनयके विषयभूत शुद्ध वर्तमान एक समयमें पलालका दाह बन ही नहीं सकता इसलिये पलालका दाह ऋजुसूत्रनयका विषय नहीं किंतु उसका अभाव ऋजुसूत्रनयका विषय है। यदि यहां पर यह कहा जाय कि 'पलालका दाह होता है' यह कहना इष्ट नहीं किंतु पलाल ही जलता है यह कहा जाता है इसरीतिसे पलाल और दाहका समान समय होनेसे वह ऋजुसूत्रनयका विषय हो सकता है कोई दोष नहीं? सो भी अयुक्त है। क्योंकि समस्त पलाल जले तब तो पलाल और दाहका एक समय हो सकता है किंतु पलालका कुछ अंश जलता है कुछ वाकी रहता है, सबका जलना असंख्याते समयका कार्य है इसलिये पलाल और दाहका शुद्ध वर्तमानकाल एक समयमात्र न होनेसे वह ऋजुसूत्रनयका विषय नहीं हो सकता। यदि यहां पर भी यह शंका की जाय कि—

जो शब्द समुदायस्वरूप समूहवाचक होते हैं उनके कुछ अवयवोंमें कार्य होना समुदायमें होना मान लिया जाता है। यद्यपि पलालके एक देशमें दाह है तब भी वह पलाल समुदायमें मान लिया जायगा इसलिये पलाल और दाहका समान समय होनेसे पलाल दाह ऋजुसूत्रनयका विषय हो सकता है। सो भी अयुक्त है क्योंकि अवयवोंका कार्य, समुदायमें होनेवाला कार्य मान भी लिया जाय तब भी पलालका एक देश तो बिना जला ही अवस्थित है यह ऊपर बतला दिया जा चुका है एवं उस एक देशका जलना असंख्याते समयोंका कार्य है इसलिये अवयवोंका कार्य; समुदायका कार्य मानने पर भी वह ऋजुसूत्रनयका विषय नहीं हो सकता। यदि यहांपर भी यह कहा जाय कि—

जो पदार्थ जलेगा वह क्रम क्रम कर जलेगा एक साथ संपूर्ण पदार्थका जलना नहीं हो सकता इसलिये पलालका एक देश जलने पर संपूर्ण पलालका जलना कहा जा सकता है और उसे शुद्ध वर्त-

मानकालका विषय मानकर ऋजुसूत्रनयका विषय कह सकते हैं । सो भी ठीक नहीं। ऐसा कहनेसे वचनविरोध और तदवस्थ दोष 'जो कि ऊपर बता दिया गया है' दो दोष होते हैं । उनमें वचनविरोध दोष इसप्रकार है—

ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा संपूर्ण पलालका जलना असंभव है इसलिये यदि पलालके एक देशके जलनेसे ही संपूर्ण पलालका जलना माना जायगा तो वादीका वचन प्रतिवादी (जैन) के पक्षका संपूर्ण रूपसे दूषक नहीं हो सकता क्योंकि ऋजुसूत्रनयके विषयभूत शुद्ध वर्तमानकालमें संपूर्ण पलालका यदि जलना सिद्ध हो सके तो 'पलालका जलनारूप' संपूर्ण पक्ष दूषित हो सकता है किंतु उस एक समयमें तो एक देशका जलना ही हो सकता है इसलिये एक पक्षका ही दूषक हो सकता है परंतु वादी संपूर्ण पक्षको दूषित करना चहता है और यहांपर एक पक्ष ही दूषित होता है इसलिये वचनविरोध है। यहां पर यह न कहना चाहिये कि एक देशके दूषित होनेसे समुदाय दूषित माना जायगा इसलिये वचन-विरोध नहीं हो सकता ? क्योंकि एक देशके दूषित होनपर समुदाय दूषित हो जाता है ऐसा सर्वथा सिद्ध करना सामर्थ्यके बाहिर है अतः इस वचनविरोधरूप दोषसे संपूर्ण पदार्थका जलना असंभव होनेसे एक देशके दाहसे संपूर्ण पदार्थका दाह माना जा सकता है यह कहना अयुक्त है। तथा पलालका जो एक देश जल रहा है उससे बाकीका बचा एक देश तदवस्थ है—विना जला हुआ है, और उसका जलना असंख्याते समयोंका कार्य है जो कि शुद्ध वर्तमानकालके एक समयमात्र ऋजुसूत्रनयका विषय हो ही नहीं सकता इसलिये तदवस्थ दोषसे भी पलालका जलना वर्तमानकालीन एक समयवर्ती नहीं कहा जा सकता क्योंकि पलालके अवयव अनेक हैं उनमें यदि कुछ अवयवोंके जलनेसे संपूर्ण पलालका

जलना माना जायगा तो उसीके कुछ अवयवोंके न जलनेसे संपूर्ण पलालका नहीं भी जलना (अदाह) माना जा सकता है। यदि यह कहा जायगा कि कुछ अवयवोंके जलनेसे संपूर्ण पलालमें दाह ही मानेंगे अदाह नहीं मान सकते तो वहां पर यही समानरूपसे उत्तर है कि कुछ अवयवोंमें अदाह—न जलना देखकर संपूर्ण पलालमें अदाह ही क्यों नहीं माना जायगा ? इसरीतिसे यह बात सिद्ध हो चुकी कि ऋजुसूत्रनयके विषयभूत एक समयमें संपूर्ण पलालका जलना नहीं हो सकता इसलिये पलालका जलना ऋजुसूत्रनयका विषय नहीं कहा जा सकता किंतु उसका अभाव ऋजुसूत्रनयका विषय है। इसीप्रकार पानी पीना भोजन करना आदि भी असंख्याते समयोंके कार्य हैं और ऋजुसूत्रनयका विषय एक समयवर्ती पर्याय है इसलिये ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा उनका व्यवहार नहीं हो सकता।

तथा सफेद रंग काला होता है यह भी ऋजुसूत्रनयका विषय नहीं क्योंकि ऋजुसूत्रनय एक समयवर्ती पर्यायको विषय करता है सफेद रंगका काला होना अनेक समयसाध्य बात है इसलिये 'सफेद काला नहीं होता है' यही ऋजुसूत्रनयका विषय मानना चाहिये। शंका—

यदि ऋजुसूत्रनयका विषय वर्तमानकालीन एक समयवर्ती पर्याय ही मानी जायगी तो खाना पीना आदि पर्याय अनेक समयसाध्य हैं इसलिये इस नयकी अपेक्षा जब वे सिद्ध न हो सकेंगे तब संसारसे उनका नाम ही उठ जायगा। सो ठीक नहीं। यहांपर ऋजुसूत्रनयका विषयमात्र दिखाया गया है। खान पान आदि व्यवहारोंकी सिद्धि नैगम आदि जो पहिले नय कह आये हैं उनसे निर्बाधरूपसे होती है। इसलिये कोई दोष नहीं। इसप्रकार यह ऋजुसूत्रनयका व्याख्यान किया गया है।

शपत्यर्थमाह्वयति प्रत्याययतीति शब्दः ॥ ८ ॥ स च लिंगसंख्यासाधनादिव्यभिचारनिवृत्तिपरः ॥ ९ ॥

घट पट आदि शब्दोंके उच्चारण करते ही उन पदार्थोंके जानकार पुरुषको जिसके द्वारा अपने वाच्य पदार्थका ज्ञान हो वह शब्दनय है और लिंग संख्या साधन आदिमें जो व्यवहारनयसे माना हुआ अन्याय है—व्यभिचार है उसके दूर करनेकेलिये है। पुलिंग स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंगके भेदसे लिंगके तीन भेद हैं। एकवचन द्विवचन और बहुवचनके भेदसे संख्या तीन प्रकार है। प्रथम पुरुष मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुष साधन है अथवा युष्मद् और अस्मद् शब्द साधन है। साधनादि यहां पर जो आदि शब्द है उससे काल आदिका ग्रहण है। इन लिंग—काल आदि संबंधी व्यभिचारोंकी निवृत्ति करना ही शब्दनयका विषय है।

स्त्रीलिंगके स्थानपर पुलिंगका कहना और पुलिंगके स्थानपर स्त्रीलिंगका कहना आदि लिंग-व्यभिचार है। जिसतरह—'तारका स्वातिः' स्वाति नक्षत्र तारे हैं। यहांपर तारका शब्द स्त्रीलिंग और स्वाति शब्द पुंल्लिंग है इसलिये स्त्रीलिंगकी जगह पुल्लिंग व्यभिचार है। 'अवगमो विद्या' ज्ञान विद्या है। यहां पर अवगम शब्द पुंल्लिग और विद्या शब्द स्त्रीलिंग है। यहां पर पुल्लिगकी जगह स्त्रीलिंग कहनेसे लिंगव्यभिचार है। 'वीणा आतोद्यं' वीनबाजा आतोद्य कहा जाता है। इस स्थानपर वीणा स्त्रीलिंग और आतोद्य नपुंसकलिंग है इसलिये स्त्रीलिंगकी जगह नपुंसकलिंग कहनेसे लिंग व्यभिचार है। 'आयुधं शक्तिः' शक्ति आयुध है। यहां पर आयुध नपुंसकलिंग और शक्ति स्त्रीलिंग है। यहां पर नपुंसकलिंगकी जगह स्त्रीलिंग कहनेसे लिंग व्यभिचार है। 'पटो वस्त्रं' कपडा वस्त्र है यहां पर पट, पुल्लिग और वस्त्र; नपुंसकलिंग है। पुल्लिगकी जगह नपुंसकलिंग कहनेसे व्यभिचार है। 'द्रव्यं

१ यह दूसरा पक्ष श्लोकवार्तिक और तत्त्वार्थराजवार्तिककी प्राचीन भाषाके अनुसार लिखा गया है।

परशुः' फरसा द्रव्य है। यहां पर द्रव्य शब्द नपुंसकलिंग और परशु पुंल्लिंग है। नपुंसकलिंगकी जगह पुंलिंग कहनेसे लिंग व्यभिचार है।

एक वचनकी जगह द्विवचन, एक वचनकी जगह बहु वचन आदिका कहना संख्याव्यभिचार है जिसतरह—'नक्षत्रं पुनर्वसू' पुनर्वसू नक्षत्र है, यहांपर नक्षत्र शब्द एकवचनांत और पुनर्वसू शब्द द्विवचनांत है। यहांपर एकवचनकी जगह द्विवचन कहनेसे संख्या व्यभिचार है। 'नक्षत्रं शतभिषजः' शतभिषजा नक्षत्र हैं, यहां पर नक्षत्र शब्द एकवचनांत और शतभिषग् शब्द बहुवचनांत है इसजगह एक वचनके स्थानपर बहुवचन कहनेसे संख्या व्यभिचार है। 'गोदौ ग्रामः' गौओंको देनेवाले गाव हैं। यहां पर गोद शब्द द्विवचनांत और ग्राम शब्द एक वचनांत है। इसजगह द्विवचनके स्थानपर एकवचन कहनेसे संख्या व्यभिचार है। 'पुनर्वसू पंच तारकाः' पांच तारे पुनर्वसू हैं। यहां पुनर्वसू शब्द द्विवचनांत और पंचतारका शब्द बहुवचनांत है इसस्थानपर द्विवचनके स्थानपर बहुवचन कहनेसे संख्या व्यभिचार है 'आम्रा वनं' आमके वृक्ष वन हैं, यहांपर आम्र शब्द बहुवचनांत और वन शब्द एक वचनांत है इस जगह बहुवचनके स्थानपर एकवचन कहनेसे संख्या व्यभिचार है तथा 'देवमनुष्या उभौ राशी' देव और मनुष्य ये दो राशि हैं। यहां पर देव मनुष्य शब्द बहुवचनांत और राशि शब्द द्विवचनांत है। इस जगह बहुवचनकी जगह द्विवचन कहनेसे संख्या व्यभिचार है इसकी निवृत्ति शब्दनयसे होती है अर्थात् पुंलिंगके साथ स्त्रीलिंगका प्रयोग करना अथवा एकवचनके साथ बहुवचनका प्रयोगकरना आदि शब्द नयकी अपेक्षा व्यभिचार है।

इसीप्रकार युस्मद् शब्दकी जगह अस्मद् शब्दके प्रयोगको वा अस्मद् शब्दकी जगह युस्मद् शब्द

के प्रयोग अथवा उत्तम[1] पुरुषकी जगह मध्यम पुरुष आदि मानना साधन व्यभिचार है और उसकी निवृत्ति शब्दनयसे है। जिसतरह–'एहि मन्ये रथेन यास्यासि यातस्ते पिता'। अर्थात् जाओ मैं ऐसा समझता हूं कि तुम रथसे जाओगे परंतु अब न जाओगे तुम्हारा पिता चला गया। इस वाक्यके शब्दों का अर्थ तो यह होता है परंतु यहां हास्य होनेसे व्याकरणके नियमानुसार युष्मद्‌की क्रियामें अस्मद्, और अस्मद्‌की क्रियामें युष्मद् हो गया है एवं अर्थ होता है कि तू जो रथसे जाना चाहता था सो उस पर तो तेरा बाप चढकर चला गया यहांपर 'एमि' इस उत्तम पुरुषकी जगह एहि' यह मध्यम पुरुष, 'मन्यसे' इस मध्यम पुरुषकी जगह 'मन्ये' यह उत्तम पुरुष और 'यास्यामि' इस उत्तमकी जगह 'यास्यासि' यह मध्यम पुरुष किया गया है अथवा 'मैं' की जगह 'तू' और 'तू' की जगहपर 'मैं' इसप्रकार युष्मद् अस्मद् शब्दोंके प्रयोगका विपरिवर्तन किया गया है इसलिये यहांपर साधन व्यभिचार है।

इसीप्रकार काल आदिका भी व्यभिचार है और उसकी शब्दनयसे निवृत्ति मानी गई है। वह इसप्रकार है–

भविष्यत् आदि कालोंमें होनेवाले कार्यका भूतकालमें होना मान लेना काल व्यभिचार है। जिस तरह "विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता" जिसने समस्त ब्रह्मांडको देख लिया है ऐसा इसके पुत्र होगा। यहां पर समस्त ब्रह्मांडका देखना भविष्यत् कालका कार्य है उसका भूतकालमें होना मान लिया गया है

१ सर्वार्थसिद्धिमें साधनव्यभिचारः (कारकव्यभिचारः) सेना पर्वतमधिवसति। पुरुषव्यभिचारः एहि मन्ये रथेन यास्यसि नहि यास्यसि यातस्ते पिता, अर्थात् साधनका अर्थ कारक माना है और साधन व्यभिचारका सेना पर्वतमें रहती है यह उदाहरण दिया है। पुरुष व्यभिचार एक जुदा व्यभिचार माना है और उसका एहि मन्ये रथेनेत्यादि उदाहरण दिया है।

इसलिये यहांपर भिन्नकाल—भविष्यत्कालका कार्य, भिन्नकाल—भूतकालमें, कहनेसे कालव्यभिचार है। इसीतरह 'भाविकृत्यमासीत्' आगे होनेवाला कार्य हो चुका यहांपर भी भिन्न कालके कार्यका भिन्न कालमें होना माननेसे काल व्यभिचार है।

उपग्रहका अर्थ परस्मैपद वा आत्मनेपद है। परस्मैपदकी जगह आत्मनेपद कह देना और आत्मनेपदकी जगह परस्मैपद कह देना उपग्रह व्यभिचार है। स्था धातु परस्मैपदी है परंतु उपसर्गके बलसे उसे आत्मनेपदी मान लिया जाता है जैसे 'तिष्ठति' के स्थानपर संतिष्ठते प्रतिष्ठते आदि प्रयोग किये जाते हैं। यहांपर परस्मैपदकी जगह आत्मनेपद कहनेसे उपग्रह व्यभिचार है। इसीतरह 'रमु क्रीडायां' धातु आत्मनेपदी है। वहांपर उपसर्गके बलसे उसे परस्मैपदी मानलिया जाता है जैसे 'रमते' के स्थानपर विरमति उपरमति प्रयोग किये जाते हैं। यहांपर आत्मनेपदको परस्मैपद कहनेसे उपग्रह व्यभिचार है। यह उपग्रह व्यभिचारका कथन सर्वार्थसिद्धिकी[3] टिप्पणी और अर्थप्रकाशिका[4] टीकाके आधारपर है।

---

१ संव्यवप्रात्। १। २। २१। सम् वि अव और प्र उपसर्गसे परे रहनेपर स्था धातुसे आत्मनेपद होता है। जैनेन्द्रव्याकरण।

२ व्याङश्च रमः। १। २। ९५ उपात्। १। २। ९६। वि आङ् परि और उप उपसर्गसे आगे रमु धातु रहने पर परस्मैपद होता है। जैनेन्द्रव्याकरण।

३ अत्र परस्मैपदोपग्रहः अत्र सूत्रं समवप्रविभ्यः। रमु क्रीडायामित्यत्रात्मनेपदोपग्रहः। व्याङ्परिभ्यो रमः इति व्यभिचारसूत्रं। अर्थात् संतिष्ठते प्रतिष्ठते यहां पर परस्मैपद उपग्रह है और परस्मैपदी स्था धातुसे 'समवप्रविभ्यः' इस सूत्रमें वहां उपग्रहका व्यभिचार आत्मनेपद हुआ है। 'रमु क्रीडायां' यहां पर आत्मनेपद उपग्रह है और 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इस सूत्रसे व्यभिचारस्वरूप परस्मैपद हुआ है। सर्वार्थसिद्धि टिप्पणी पृष्ठ ८०।

४ बहुरि आत्मनेपदकूं परस्मैपद भया ऐसे ही उपसर्ग व्यभिचारकूं व्यवहारनय अन्याय माने हैं इस शब्दनयसे समस्त विरोध मिटै है। अर्थप्रकाशिका पृष्ठ ६३।

पं॰पन्नालालजी दूनीवालोंकी टीकामें भिन्न रूपसे लिखा है। इसीप्रकार और भी व्यभिचार समझ लेने चाहिये और उनकी शब्दनयसे व्यावृत्ति जाननी चाहिये। इसका खुलासा यह है कि एकवचनके साथ बहुवचन का पुंलिंगके साथ स्त्रीलिंग या नपुंसक लिंगका इत्यादि प्रकारसे जो संबंध है एवं व्यवहार है उसे व्यवहारनय तो ठीक समझता है उसनयकी अपेक्षा वैसे प्रयोग किये जा सकते हैं व्याकरण भी उन्हीं प्रयोगों के अनुसार सिद्धि करता है परंतु शब्दनयकी प्रधानतासे वे प्रयोग ठीक नहीं हैं। कारण जितने भी शब्द भेद हैं, लिंग भेद हैं, कारकादि भेद हैं वे सब इस नयकी अपेक्षा भिन्न भिन्न अर्थके द्योतक हैं, इसलिये भिन्न अर्थोंका परस्पर संबंध मानना ठीक नहीं है अतएव शब्दनय उस व्यवहारको दूषित—व्यभिचारित समझता है। व्यवहारनयसे भले वे ही ठीक हों।

जितने भर भी लिंग आदि व्यभिचार दोष ऊपर कहे गये हैं वे सभी अयुक्त हैं। वस्तु स्वरूपसे विपरीत बातको सिद्ध करनेवाले हैं क्योंकि भिन्न अर्थका भिन्न अर्थके साथ संबंध हो नहीं सकता। यदि हठात् लिंग व्यभिचार आदिको युक्त माना जायगा तो भिन्न पदार्थका भिन्न पदार्थके साथ संबंध होना युक्त होगा फिर घटको पट और पटको घट भी कह देना पडेगा परंतु वैसा होता नहीं इसलिये समान लिंग समान संख्या और समान साधन आदि शब्दोंका ही आपसमें संबंध होता है इसबातका ज्ञापक शब्दनय है यदि मूलशब्दके लिंग आदि भिन्न होंगे और पर्याय शब्दके भिन्न होंगे तो इसरीति

१ अर संतिष्ठतेकी एवज प्रतिष्ठते कहै अर 'विरमति' की जगह 'उपरमते' कहै सो उपग्रह कहिये उपसर्ग व्यभिचार है। श्लोकवार्तिकाकार भी 'प्रतिष्ठते, स्थानपर 'अवतिष्ठते, कहना और 'विरमति' जगह पर उपरमते, कहना उपग्रह व्यभिचार मानते हैं। भिन्न भिन्न नयोंसे दोनों ही प्रकारके अर्थ प्रामाणीक हैं।

से 'तारका स्वातिः' यहांपर स्त्रीलिंग तारका शब्दके पुंलिंग स्वातिशब्द और नक्षत्रं पुनर्वसू यहां एक-वचनांत नक्षत्र शब्दके द्विवचनांत पुनर्वसू आदि जितने अपर विभिन्नलिंगक आदि पर्याय कहे गये हैं वे लिंग आदि व्यभिचार स्वरूप हैं आपसमें उनका संबंध नहीं हो सकता इसलिये वे शब्दनयके विषय नहीं कहे जा सकते। शंका—

यदि तारका शब्दकी स्वाति पर्याय और नक्षत्र आदि शब्दोंकी पुनर्वसू आदि पर्यायें न मानी जायगीं तो लोक और शास्त्र दोनोंका विरोध होगा क्योंकि संसारमें वैसा व्यवहार दीख पडता है और शास्त्रोंमें व्यवहारनय वैसे प्रयोगोंको ठीक मानता है इसलिये शास्त्रविरोध आता है। इसका उत्तर यह है कि यहांपर शब्दनयका वास्तविक विषय क्या है? इस तत्त्वपर विचार किया गया है। यदि इस तत्त्व विचारसे किसी प्रकारका विरोध जान पडे तो हो, उसकी कोई चिंता नहीं। क्योंकि जो पुरुष ज्ञानवान हैं वे व्यवहारका स्वरूप अच्छीतरह जानते हैं। किस नयका विषय क्या है? वे अच्छीतरह व्यवहार कर सकते हैं इसलिये जिसनयका जो स्वरूप है वह उसी नयसे ठीक है।

विशेष—जिसप्रकार घट पट आदि पदार्थ भिन्न हैं उसीप्रकार जिन शब्दोंके लिंग संख्या आदि भिन्न हैं वे भी आपसमें भिन्न हैं इसलिये शब्दनयकी अपेक्षा जो शब्द भिन्नलिंगक आदि हैं उनका आपसमें संबंध नहीं हो सकता क्योंकि लिंग संख्या आदिके भेदसे वे पदार्थ भी भिन्न भिन्न हैं और अन्य पदार्थोंका अन्य पदार्थोंके साथ संबंध होता नहीं यह सिद्धांतसिद्ध वात है। यदि लिंग आदिके भेदसे भिन्न भी पदार्थोंका जबरन आपसमें संबंध मान लिया जायगा तब घट पट वा घट मठ आदिका भी संबंध युक्त कहना पडेगा फिर घट पट आदि भिन्न भिन्न पदार्थ भी एक मानने होंगे। इसलिये विभिन्न-

लिंगक वा विभिन्नसंख्यक आदि शब्दोंका लिंग आदिके भेदसे भेद होनेके कारण आपसमें संबंध सिद्ध नहीं हो सकता किंतु जो शब्द समानलिंगक जिसतरह 'घटः कुटः' और समानसंख्याक जिसतरह 'नक्षत्रं–ऋक्षं' आदि होंगे उन्हींका आपसमें संबंध हो सकता है यह शब्दनय बतलाता है। इसरीतिसे 'तारका स्वातिः' यहांपर लिंग भेद और नक्षत्रं पुनर्वसू इत्यादि स्थलोंपर वचन आदिके भेदोंसे परस्पर भिन्न होनेके कारण आपसमें संबंध नहीं हो सकता क्योंकि वहां लिंग आदिका व्यभिचार है इसीलिये उनका वैसा व्यवहृत होना शब्दनयकी अपेक्षा वास्तविक नहीं। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि–

तारका शब्दकी पर्याय स्वाति; और नक्षत्र शब्दकी पर्याय पुनर्वसू आदिका व्यवहार संसारमें मोजूद है फिर वहांपर शब्द नयकी अपेक्षा लिंग व्यभिचार आदि दोष नहीं माने जा सकते क्योंकि किसी भी सिद्धांतकारने वहांपर लिंग व्यभिचार आदि दोष स्वीकार कर उनका परिहार नहीं किया है इसलिये जबरन लिंग आदि व्यभिचार दोषोंको प्रकाशित करनेके लिये शब्दनयका मानना निरर्थक है ? सो नहीं। शब्द पदार्थपर व्याकरण शास्त्रकी सत्ता निर्भर है। यदि वैयाकरणोंको शब्दोपजीवी भी कह दिया जाय तो अयुक्त नहीं। जिन जिन व्यभिचार दोषोंका ऊपर उल्लेख किया गया है और उनका प्रकाश करनेवाला एवं रोकनेवाला शब्दनय बताया गया है, शब्दप्राण वैयाकरणोंने भी उन्हें व्यभिचार दोष मान उनका परिहार किया है परंतु वह उनका माना हुआ परिहार सदोष है। विना शब्दनयके माने लिंग व्यभिचार आदि दोषोंका परिहार हो नहीं सकता इसलिये शब्दनय मानना ही होगा। लिंग संख्या आदि संबंधी व्यभिचार दोषोंकी निवृत्तिके लिये वैयाकरणोंने क्या क्या परिहार दिये हैं और वे किसतरह सदोष हैं ? इसविषयमें हम श्लोकवार्तिकके वचन यहां उद्धृत करते हैं–

ये हि वैयाकरण(णाः) व्यवहारनयानुरोधेन "धातुसंबंधे प्रत्ययाः" इति सूत्रमारभ्य विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता भाविकृत्यमासीदित्यत्र कालभेदेऽप्येकपदार्थमादृताः, यो विश्वं द्रक्ष्यति सोऽपि पुत्रो जनितेति भविष्यत्कालेनातीतकालस्य भेदोऽभिमतः तथा व्यवहारदर्शनादिति । तत्र यः (तन्न श्रेयः) परीक्षाया मूलक्षतेः कालभेदेऽप्यर्थस्याभेदेऽतिप्रसंगात् । रावणशंखचक्रवर्तिनोरप्यतीतानागतकालयोरेकत्वापत्तेः । आसीद्रावणो राजा शंखचक्रवर्ती भविष्यतीति शब्दयोर्भिन्नविषयत्वान्नैकार्थतेति चेत् विश्वदृश्वा जनितेत्यनयोरपि माभूत्तत एव । नहि विश्वं दृष्टवानिति विश्वदृशित्वेतिशब्दस्य योऽर्थोऽतीतकालस्य जनितेति शब्दस्यानागतकालः, पुत्रस्य भाविनोऽतीतत्वाविरोधात् । अतीतकालस्याप्यनागतत्वा(त्व)ध्यपरोपादेकार्थताभिप्रेतेति चेत् तर्हि न परमार्थतः कालभेदेऽप्यभिन्नार्थव्यवस्था ।

तथा करोति क्रियते इतिकारकयोःकर्तृकर्मणोर्भेदेऽप्यभिन्नमर्थत एवाद्रियते । स एव करोति किंचित् स एव क्रियते केनचिदिति प्रतीतेरिति तदपि न श्रेयः परीक्षायां । देवदत्तः कटं करोतीत्यत्रापि कर्तृकर्मणोर्देवदत्तकटयोरभेदप्रसंगात् ।

तथा पुष्यं तारकेत्यव्यक्तिभेदेऽपि न कृतार्थभेकमाद्रियते । लिंगमशिष्यं लोकाश्रयत्वादिति । तदपि न श्रेयः । पटः कुटीत्यत्रापि पटकुट्योरेकत्वप्रसंगात्, तल्लिंगभेदाविशेषात् । तथापोऽभ इत्यत्र संख्याभेदेऽप्येकमर्थंजलाख्यमादृता संख्याभेदस्योद्भेदकत्वाद् गुर्वादिवदिति । तदपि न श्रेयः परीक्षायां घटसंस्तव इत्यत्रापि तथाभावानुषंगात् संख्याभेदाविशेषात् ।

एहि मन्ये रथेन यास्यसि, नहि यास्यसि यातस्ते पिता इति साधनभेदेऽपि पदार्थमभिन्नमादृताः । 'प्रहासे मन्यवाचि युष्मन्मन्यतेरस्मदेकवच्च' इति वचनात् । तदपि न श्रेयः परीक्षायां । अहं पचामि त्वं पचसीत्यत्रापि अस्मद्युष्मत्साधनाभेदेऽप्येकार्थत्वप्रसंगात् ।

तथा संतिष्ठते अवतिष्ठते इत्यत्रोपसर्गभेदेऽप्यभिन्नमर्थमाहता उपसर्गस्य धातुमात्रद्योतकत्वादिति। तदपि न श्रेयः। तिष्ठति प्रतिष्ठते इत्यत्रापि स्थितिगतिक्रिययोरभेदप्रसंगात् ततः कालादिभेदाद्भिन्न एवार्थोऽन्यथातिप्रसंगादिति शब्दनयः प्रकाशयति।

धात्वर्थसंबंधी प्रत्यय जिस कालमें कहे गए हैं उनसे भिन्न कालमें भी होते हैं ऐसे अर्थवाले सूत्रका निर्माणकर 'विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता, भाविकृत्यमासीत्' यहांपर जो भविष्यत कालके कार्यको भूतकाल में माननेसे कालका भेद रहनेपर भी भविष्यत् और अतीत कालको वैयाकरण एक मानते हैं और दोनों कालोंके अभेद माननेमें यह हेतु देते हैं कि संसारमें वैसा व्यवहार होता है। परंतु उनका व्यवहारके आधीन दोनों कालोंका अभेद मानना युक्त नहीं। क्योंकि यदि कालोंके स्पष्टरूपसे भेद रहनेपर भी पदार्थोंको एक मान लिया जायगा तो रावण तो भूतकालमें हो चुका, शंख चक्रवर्ती आगे होनेवाला है, यहांपर भी भविष्यत् और भूत दोनों कालोंका भेद है इसलिये यहां पर भी रावण और शंख दोनों पदार्थोंको एक मान लेना चाहिये। यदि यहांपर यह कहा जाय कि 'आसीद्रावणो राजा' रावण हो चुका, 'शंख-चक्रवर्ती भविष्यति' शंखचक्रवर्ती आगे होगा यहांपर रावण और शंख शब्द भिन्न भिन्न विषयवाले होनेसे एक नहीं हो सकते इसलिये रावण और शंखका एक मानना बाधित है। सो ठीक नहीं। 'विश्वदृश्वा' यहां पर दृश्वा शब्दका अर्थ अतीतकाल है और 'जनिता' शब्दका अर्थ भविष्यत्काल है। दोनों ही शब्दोंका आपसमें भिन्न भिन्न अर्थ है इसलिये भविष्यत्कालमें होनेवाला पुत्र अतीतकालमें 'हुआ' नहीं माना जा सकता। यदि यहांपर फिर यह कहा जाय कि अतीतकालमें भविष्यतकालका आरोपकर दोनोंको एक मानकर भविष्यत्कालमें होनेवाला पुत्ररूप कार्य अतीतकालमें हुआ माना जा सकता है

इसलिये दोनों कालोंके एक होनेपर उन दोनोंका कार्य भी एक हो सकता है तो उसका उत्तर यह है कि उपचारसे कालका अभेद मानकर भविष्यतकालके कार्यको भूतकालका कार्य मान भी लिया जाय तब भी वह वास्तविक रूपसे एक नहीं माना जा सकता, औपचारिक ही रहेगा इसरीतिसे वैयाकरण लोगोंने व्यवहाररूप हेतु प्रदर्शनकर जो 'विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनितेत्यादि' यहांपर भूत भविष्यत् दोनों कालोंको एक मानकर भविष्यतकालके कार्यका भूतकालमें होना वास्तविक बतलाया था और व्यभि-चारका परिहार किया था वह असंगत सिद्ध हो गया इसलिये शब्द नयकी अपेक्षा कालभेदसे पदार्थोंका भी भेद होनेके कारण वहां आपसमें संबंध होना बाधित है। तथा–

'करोति' यह कर्तामें प्रत्यय है और 'क्रियते' यह कर्ममें प्रत्यय है यहांपर कर्ता और कर्म कारकका भेद है परंतु वैयाकरणोंका यह कहना है कि "स एव करोति किंचित्, स एव क्रियते केनाचित्" वही कुछ करता है और वही किसीके द्वारा किया जाता है ऐसी संसारमें प्रतीति होती है इसलिये कर्ता कर्म दोनों एक ही हैं। आपसमें एक दूसरेकी पर्याय हो सकते हैं एवं कारक व्यभिचार दोष नष्ट हो जाता है। वह भी अयुक्त है। यदि कर्ता और कर्मका अभेद मान लिया जायगा 'देवदत्तः कटं करोति' देवदत्त चटाई बनाता है यहांपर भी कर्ता देवदत्त और कर्म चटाईको एक मानना पडेगा इसलिये उपर्युक्त प्रतीतिसे कर्ता कर्मको एक मानकर कारक व्यभिचार दोषका परिहार करना वैयाकरणोंका बाधित और अयुक्त है। तथा–

'पुष्यं तारका' यहांपर यद्यपि पदार्थमें भेद नहीं क्योंकि पुष्य नक्षत्र तारकाओंसे जुदा नहीं परंतु पुष्य शब्द नपुंसकलिंग है और तारका शब्द स्त्रीलिंग है इसलिये लिंगके भेदसे आपसमें दोनों शब्दों

को भी भिन्न होनेके कारण उनका आपसमें संबंध नहीं हो सकता इसलिये वहांपर लिंगव्यभिचार युक्त है। यदि इस लिंगव्यभिचारके परिहारकेलिये वैयाकरण यह कहें कि लिंगके भेदसे दो अभिन्न पदार्थों का भेद मानना निरर्थक है क्योंकि लोकव्यवहारसे लिंगभेद पदार्थोंका भेदक नहीं होता इसलिये 'पुष्यं तारका' यहांपर दोनों शब्दोंका संबंध होनेसे लिंगव्यभिचार दूर हो जाता है। सो ठीक नहीं। यदि लिंगभेद होनेपर भी पदार्थ एक समझे जांयगे तो 'पटः कुटी' यहांपर पट और कुटीको भी एक कहना पडेगा क्योंकि पुष्य और तारकाके समान यहांपर भी लिंग भेद है एवं लिंग भेद रहते भी पुष्य और तारकाको जिसप्रकार एक माना जाता है उसीप्रकार पट और कुटीको भी एक मानना चाहिये। इसरीतिसे लिंग भेद रहते भी लोक व्यवहारसे दोनों पदार्थ एक हैं यह जो लिंगव्यभिचारकेलिये वैयाकरणोंका परिहार है वह ठीक नहीं। तथा—

'आपोऽभः' यहांपर अप् शब्द नित्य बहुवचनांत है और अंभः शब्द एक वचनांत है। वचनके भेदसे पदार्थोंका भी भेद हो जाता है इसलिये यहांपर संख्या व्यभिचार दोष है। परन्तु वैयाकरणोंका यहां मानना है कि जिसप्रकार गुरु आदि, पदार्थोंका भेद बतलानेवाले हैं, भेद करनेवाले नहीं उसीप्रकार संख्याभेद भी पदार्थोंके भेदका बतलानेवाला है करनेवाला नहीं इसलिये 'आपोऽभः' यहांपर संख्या-भेद रहते भी पदार्थोंका भेद न होनेसे आपसमें संबंध हो सकता है अतः अप् और जल दोनोंका अभेद होनेसे यहां संख्या व्यभिचार दोष दूर हो जाता है? सो भी ठीक नहीं। यदि संख्याके भेद रहते भी पदार्थ एक माने जांयगे तो घट संस्तव (?) (स्तवन) ये पदार्थ एक हो जांयगे क्योंकि 'आपोऽभः' के समान यहांपर भी संख्याभेद है एवं संख्याभेद रहते भी जिस तरह उन दोनों पदार्थोंको एक माना है ऐसा

इन्हें भी मानना पडेगा। इसलिये सरूथा व्यभिचारकी निवृत्तिके लिये दिया हुआ भी वैयाकरणोंका परिहार कार्यकारी नहीं। तथा—

'एहि मन्ये रथनेत्यादि' यहांपर ('मन्यसे' इस मध्यम पुरुषके स्थानपर 'मन्ये' यह उत्तमपुरुष अथवा) युष्मद् शब्दके (त्वं) प्रयोगके स्थानपर अस्मद् शब्दका (अहं) प्रयोग दिया है। तथा (उत्तम· पुरुष 'यास्यामि' 'एमि' की जगहपर मध्यमपुरुष 'यास्यसि' और एहि अथवा) अस्मद् शब्दके (अहं) प्रयोगकी जगह युष्मद् शब्दका (त्वं) प्रयोग किया है इसलिये यहां साधन व्यभिचार है क्योंकि एक पुरुषकी जगह दूसरा पुरुष कह देना वा युष्मद् शब्दके प्रयोगकी जगह अस्मद् शब्दका प्रयोग वा अस्मद् शब्दकी जगह युष्मद् शब्दका प्रयोग कर देना साधन व्यभिचार है यह ऊपर कह दिया गया है परन्तु वैयाकरण लोग 'प्रहासे मन्यवाचि युष्मन्मन्यतेरस्मदेकवच्च'[1] इस सूत्रानुसार युष्मद् और अस्मद् शब्दके प्रयोगोंको एक मानते हैं और इस तरह अभेद मानकर यहांपर साधन व्यभिचारका परिहार करते हैं। परन्तु उनका वैसा मानना ठीक नहीं क्योंकि साधनके भेद रहते भी यदि पदार्थोंको एक माना जायगा तो 'अहं पचामि त्वं पचासि' यहांपर भी युष्मद् अस्मद्रूप साधनोंका भेद है इसलिये यहांपर भी एक मानना पडेगा फिर भिन्न भिन्न रूपसे जो दो प्रयोग होते हैं वे न हो सकेंगे इसलिये साधन व्यभिचारके दूर करनेके लिये जो वैयाकरणोंने समाधान दिया है वह अयुक्त है। तथा संतिष्ठते की जगह पर अवतिष्ठते कहना उपग्रह व्यभिचार है परन्तु वैयाकरणोंका कहना है कि उपसर्ग केवल

१। प्रहासे मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च ॥ १।४।१०७ ॥ जिस धातुका उपपद मन्य धातु हो और हंसी अर्थ गम्यमान हो तो उस प्रकृतिभूत धातुसे मध्यम और मन्य धातुसे उत्तम पुरुष होता है। पाणिनीय व्याकरण।

धातुके अर्थके द्योतन करनेवाले होते हैं भेद करनेवाले नहीं होते इसलिये उपसर्गोंके भेदके रहते भी अर्थ भिन्न नहीं होता, एक ही रहता है। परन्तु यह उनका कहना ठीक नहीं। क्योंकि यदि उपसर्ग[1] पदार्थोंके अर्थका भेदक नहीं है—धातुका जो अर्थ है उसीका द्योतन करनेवाला है तो 'तिष्ठति' का अर्थ तो ठहरना होता है और 'प्रतिष्ठते' का अर्थ गमन करना होता है। यहांपर स्थिति और गति दोनों क्रियाओंका ऐक्य हो जाना चाहिये परन्तु वैसा हो नहीं सकता इसलिये उपग्रह व्यभिचारकी निवृत्तिके लिये भी जो वैयाकरणोंने परिहार दिया है वह भी बाधित है। इस उपर्युक्त आलोचनासे यह वात सिद्ध हो चुकी कि लिंग आदिके भेदसे पदार्थ भिन्न हैं और उस भेदका प्रकाश करनेवाला शब्दनय है। इसप्रकार यह शब्दनयका वर्णन हो चुका। अब क्रमप्राप्त समभिरूढ नयका स्वरूप कहा जाता है—

नानार्थसमभिरोहणात्समभिरूढः ॥ १० ॥

अनेक अर्थोंको छोडकर प्रधानतासे जो एक ही अर्थमें रूढ—प्रसिद्ध हो—उसी अर्थको विषय करने वाला हो वह समभिरूढ नय है। खुलासा तात्पर्य यह है कि—

जिसतरह तीसरा सूक्ष्मक्रिय नामका शुक्लध्यान अर्थ व्यंजन और योगोंकी पलटनके अभावसे अवीचार और अवीतर्क होनेसे सूक्ष्मकाय योगमें रहनेके कारण सूक्ष्मक्रिय है अर्थात् सूक्ष्मक्रिय ध्यान

---

१ उपसर्गेण धात्वर्थो वलादन्यः प्रतीयते। प्रहाराहारसहारविहारपरिहारवत् ॥ १ ॥

अर्थात् उपसर्गके बलसे जबरन धातुका अर्थ बदल जाता है जिस तरह एक ही हृ धातुका उपसर्ग बलसे प्रहार आहार आदि अनेक अर्थ हो जाते हैं। यदि उपसर्ग अर्थका भेदक न माना जायगा तो इस श्लोकसम्बन्धी सिद्धांतको मिथ्या कहना होगा।

का सूक्ष्मकाय योगमें रहना प्रसिद्ध है उसीप्रकार गोशब्दके यद्यपि वाणी पृथ्वी आदि अनेक अर्थ हैं तो भी दूसरे दूसरे अर्थोंका वाचक न होकर वह गाय शब्दमें ही रूढ है। समभिरूढ नय; रूढ पदार्थको ही विषय करता है इसलिये गो शब्दके केवल गाय ही अर्थको प्रकाशित करना यह समभिरूढ नयका विषय है। यहांपर यह अवश्य समझ लेना चाहिये कि सोती उठती बैठती चलती किसी भी हालतमें चाहे गाय हो वह सब अवस्थावाली गाय समभिरूढ नयका विषय है।

अथवा शब्दोंका जो प्रयोग किया जाता है वह अर्थ ज्ञानके लिये किया जाता है यदि वह अर्थ ज्ञान एक ही शब्दके प्रयोगसे सिद्ध हो जाय तो फिर दूसरे पर्याय शब्दका कहना व्यर्थ है। यदि यह कहा जाय कि एक अर्थके प्रतिपादन करनेवाले अनेक शब्द भी होते हैं इसलिये अर्थ एक ही रहता है परंतु शब्द भेद वहां रहता है उसका यह उत्तर है कि यदि शब्द भेद होगा तो अर्थभेद भी नियमसे होगा क्योंकि 'जितने शब्द भेद हैं उतने ही उनके अर्थ हैं'[1] यह नियम है। जिसतरह यद्यपि इंद्र शक्र पुरंदर आदि शब्द एक ही शचीपति–इंद्र अर्थके कहनेवाले हैं तथापि परमैश्वर्यका भोक्ता होनेसे इंद्र, सामर्थ्यवान होनेसे शक्र और पुरविदारण करनेसे पुरंदर इसप्रकार उन भिन्न भिन्न शब्दोंके भिन्न भिन्न अर्थ हैं। इसरीतिसे पर्यायोंके अनुसार इंद्र शब्दके अनेक अर्थ रहते भी वह रूढ इंद्र (शचीपति) अर्थमें ही है और इस रूढ अर्थको ही समभिरूढ नय विषय करता है। यहांपर यह वात समझ लेनी चाहिये कि चाहैं इंद्र परमैश्वर्यका भोग करे या न करे किसी भी हालतमें हो तब भी वह समभिरूढ नयका विषय है।

१ जित्तियमित्ता सद्दा त्तित्तियमित्ताणि होंति परमत्था:। यावन्मात्राः शब्दाः तावन्मात्राः परमार्था भवंति।

अथवा—जो पदार्थ जहां सर्वथा मौजूद है वहींपर प्रधानतासे रहनेके कारण समभिरूढ कहा जाता है। जिसतरह किसीने पूछा कि—भाई! तुम कहां रहते हो? उत्तर मिला—हम अपनी आत्मामें निवास करते हैं। क्योंकि प्रधानतासे आत्माका रहना आत्मामें ही है दूसरे पदार्थोंमें उसका रहना नहीं हो सकता यदि अन्य पदार्थका अन्य पदार्थमें भी रहना माना जायगा तो ज्ञान आदि वा रूप आदि गुणोंका रहना भी आकाशमें मानना पडेगा इसलिये अन्य पदार्थका अन्य पदार्थमें रहना नहीं हो सकता। अपना अपनेमें ही रहना हो सकता है। इसरीतिसे प्रधानतासे आत्माका रहना आत्मामें ही रूढ है इसलिये दूसरे दूसरे पदार्थोंको छोडकर प्रधानतासे एक पदार्थ—अपनेमें, ही रहनेके कारण आत्मा समभिरूढ नयका विषय है। एवंभूतनयका लक्षण—

येनात्मना भूतस्तेनैवाध्यवसाययतीत्येवंभूतः॥ ११॥

जो पदार्थ जिस स्वरूप अर्थात् अर्थ क्रियासे जिससमय परिणत हो उसका उसीस्वरूप अर्थक्रिया परिणामसे निश्चय करना एवंभूत नयका विषय है। जिसतरह इंद्र शब्दका अर्थ परमेश्वर है जिससमय वह परमैश्वर्यका भोग कर रहा हो उसीसमय उसको इंद्रकहना यह एवंभूतनयका विषय है किंतु जिसका केवल नाममात्र इंद्र है वा जहांपर किसी पदार्थमें इंद्रकी स्थापना है वा जो इससमय इंद्र नहीं आगे जाकर इंद्र होनेवाला है वह समभिरूढ नयका विषय नहीं क्योंकि उपर्युक्त तीनों अवस्थाओंमें परमैश्वर्य का भोग नहीं हो रहा है। इसीप्रकार अन्य शब्दोंमें भी जिस जिस क्षणमें उनकी जिस जिस अर्थ क्रिया का परिणमन हो रहा है उस उस क्षणके उस उस परिणमनकी अपेक्षा एवंभूतनयकी योजना कर लेनी चाहिये यदि अर्थक्रियाकी परिणतिका दूसरा दूसरा काल होगा तो वे एवंभूतनयके विषय नहीं हो सकते।

अथवा—आत्मशब्दका अर्थ स्वरूप भी है इसलिये जिस शब्दका अर्थ जिस स्वरूपसे हो उसका उसी रूपसे होनेका निश्चयकरना एवंभूतनयका विषय है। जिसतरह 'गच्छतीति गौः' जो गमन करै उसका नाम गाय है यह गोशब्दका व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ है । यहांपर जिसतरह जिस मनुष्यके हाथमें दंड हो उसे ही दंडी कहना किंतु पूर्व और उत्तर कालमें उसके हाथमें दंड न रहनेसे दंडी न कहना उसीतरह जिससमय गाय गमन कर रही हो उसीसमय उसे गाय कहना और पूर्व और उत्तर कालमें जब कि वह खडी वा सो रही है उससमय गमन न करनेके कारण गाय न कहना एवंभूतनयका विषय है। इसी प्रकार और शब्दोंमें भी समझ लेना चाहिये ।

अथवा—आत्मशब्दका अर्थ ज्ञान है इसलिये आत्मा जिस क्षणमें जिस पदार्थके ज्ञानसे युक्त हो उसे वही कहना एवंभूतनयका विषय है। जिसतरह जिसक्षणमें आत्मा इंद्र पदार्थके ज्ञानसे परिणत हो रहा है उसे इंद्र कहदेना अथवा जिससमय अग्नि पदार्थके ज्ञानसे परिणत हो रहा है उसे अग्नि कह देना यह एवंभूतनयका विषय है। यहांपर 'एवंभूयत इति' 'ऐसा होना' इस एवंभूतनयके अर्थकी प्रतीति शब्दसे होती है इसलिये शब्द ही एवंभूतनय माना है कारणमें कार्यका उपचार है अर्थात् एवंभूतनयके अर्थकी प्रतीतिमें कारण शब्द है और कार्य एवंभूतनय है। शंका—

१ । समभिरूढ और एवंभूत नयके जो उदाहरण दिये गये हैं उन्हें वहुतसे लोग समान सरीखे जानकर यह शंका कर बैठते है कि इन दोनों नयोंमें क्या भेद है । इसलिये यहां उनका स्पष्टीकरण कर देते हैं—

व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ क्या है इस बातका कुछ भी विचार न कर प्रसिद्ध अर्थका जान लेना समभिरूढ नयका विषय है जिस तरह गोशब्दका व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ 'जो गमन करे उसका नाम गाय है' यह है इसका तो विचार न करना किंतु उसकेवाणी पृथ्वी आदि

दाहकत्वाद्यतिप्रसंग इति चेत्तदव्यतिरेकादातिप्रसंग इति ॥ १२ ॥

यदि अग्निज्ञानसे परिणत आत्माको एवंभूत नयकी अपेक्षा आग्नि कहा जायगा तो जलाना पकाना आदि जितने धर्म अग्निमें हैं वे सब आत्मामें भी मानने पडेंगे इसलिये आत्मा अग्नि नहीं कहा जा सकता ? सो ठीक नहीं । नाम स्थापना आदि जिस स्वरूपसे कहे जाते हैं वे उससे अभिन्न रहते हैं और जिस पदार्थके जो जो धर्म होते हैं वे नियमितरूपसे उसीमें रहते हैं । आत्माका जो अग्नि नाम है उसका आत्माके साथ अभेद है परंतु अग्निके जो जलाना पकाना आदि धर्म हैं वे अग्निमें ही रहते हैं आत्मामें नहीं हो सकते इसलिये नोआगमभाव[2] अर्थात् साक्षात् अग्निमें रहनेवाला दाहकपना आगमभाव अर्थात् औपचारिक अग्निमें नहीं हो सकता । इसरीतिसे यदि आत्माका नाम अग्नि माना जायगा तो अग्निके दाहकत्व आदि धर्म आत्मामें मानने पडेंगे यह जो ऊपर शंका की गई थी वह निर्मूल सिद्ध हो चुकी ।

अनेक अर्थोंमें प्रसिद्ध अर्थ 'गाय' लेना और सब अर्थोंको छोड देना तथा उस गायको सोती उठती वैठती चलती सभी अवस्थाओंमें गाय कहना यह समभिरूढ नयका विषय है । इसी तरह इन्द्र शब्दका व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ परमैश्वर्यका भोगना है इसका तो विचार न करना किंतु शक्तिमान होना, पुरोंका विदारण करना आदि अनेक अर्थोंमें प्रसिद्ध अर्थ परमैश्वर्यका भोगना ही लेना और अर्थ छोड देना एवं उस इन्द्रको परमैश्वर्यका भोग कर रहा हो, वा न कर रहा हो सभी अवस्थाओंमें इन्द्र कहना यह समभिरूढनयका विषय है इसी तरह और भी उदाहरण समझ लेना चाहिये । परंतु—

जहां पर केवल व्युत्पत्तिसिद्ध ही अर्थ विषय हो वह एवंभूत नय है जिस तरह गमन करनेवालीको ही गाय कहना खडी रहनेवाली वा खोनेवालीको न कहना वा जिस समय इन्द्र परमैश्वर्यका भोग कर रहा हो उसी समय इन्द्र कहना अन्य समय इन्द्र न कहना यह एवंभूत नयका विषय है । २ आगम नो आगमका अर्थ नामस्थापनेत्यादि सूत्रमें लिख आये हैं ।

नैगमके बाद संग्रह, संग्रहके बाद व्यवहार इस रूपसे जो नयोंका क्रम है उस क्रमके होनेमें उत्तरोत्तर सूक्ष्मविषयता एवं पूर्व पूर्व नय कारण और उत्तर उत्तर नय कार्य इसप्रकार कार्य कारणभाव कारण है। इन दोनों कारणोंमें उत्तरोत्तर सूक्ष्मविषयतारूप कारण इसप्रकार है—

नैगमनयका जैसा सत्पदार्थमें संकल्प है वैसा ही असत्पदार्थमें संकल्प है इसलिये सत् असत् दोनों प्रकारके पदार्थोंमें संकल्पको विषय करनेके कारण सबसे अधिक विषय नैगमनयका है। संग्रहनयका अभेद-स्वरूप सत्–द्रव्यत्व आदि ही विषय है असत् नहीं है इसलिये नैगमनयकी अपेक्षा संग्रह नयका विषय अल्प है। व्यवहार नय अभेदको विषय न कर सत् द्रव्य आदिके भेदोंको विषय करता है इसलिये संग्रह नयकी अपेक्षा व्यवहारनयका अल्प विषय है। भेदोंमें भी व्यवहार तो त्रिकालवर्ती भेदोंको विषय करता है परंतु ऋजुसूत्रनय शुद्ध वर्तमानकालीन भेदको ही विषय करता है इसलिये व्यवहारकी अपेक्षा ऋजुसूत्रनयका अल्पविषय है। ऋजुसूत्रनय लिंग संख्या आदिका भेद न कर वर्तमान पर्यायको विषय करता है परंतु शब्दनय उस एक पर्यायमें भी लिंग संख्या आदिके भेदसे अर्थका भेद प्रकाशन करता है इसलिये ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा शब्दनयका अल्पविषय है। अर्थात् ऋजुसूत्रनय अर्थ पर्याय और शब्द पर्याय सभीको विषय करता है परंतु शब्दनय केवल शब्द पर्यायको ही विषय करता है। इसलिये ऋजुसूत्र महाविषय और शब्दनय स्वल्पविषय है। शब्दनय लिंग संख्या आदिके भेदसे ही अर्थ भेद मानता है, पर्याय भेदसे अर्थभेद नहीं मानता परंतु समभिरूढ नय भिन्न भिन्न पर्यायोंके भिन्न भिन्न अर्थ होते हैं यह द्योतन करता है इसलिये पर्यायके भेदसे अर्थका भेद मानना समभिरूढ नयका विषय होनेसे शब्दनयकी अपेक्षा समभिरूढ अल्पविषय है अर्थात् शब्दनय नाना शब्दोंके अर्थको ग्रहण करता है परंतु समभिरूढ

नय किसी नियत अर्थको ही द्योतन करता है। समभिरूढनय सोना उठना बैठना आदि अनेक क्रियायुक्त पदार्थको भी द्योतित करता है परंतु एवंभूतनय जिस कालमें जो अर्थ क्रिया हो रही है उसीकी अपेक्षा उस पदार्थको द्योतित करता है इसलिये समभिरूढनयकी अपेक्षा एवंभूतनय अल्पविषय है। तथा कार्य कारणता इसप्रकार है—

नैगमनयके विषयमें ही संग्रहनयकी प्रवृत्ति है इसलिये नैगमनय कारण और संग्रहनय कार्य है। संग्रहनयके विषयमें व्यवहारकी प्रवृत्ति है इसलिये संग्रहनय कारण और व्यवहारनय कार्य है इसीतरह आगे भी पाहिला पहिला नय कारण और उत्तर उत्तर नय कार्य समझ लेना चाहिये इसप्रकार उत्तरोत्तर सूक्ष्मता और आपसमें कार्य कारणता रहनेसे नैगमके बाद संग्रह, संग्रहके बाद व्यवहार इत्यादि क्रम माना गया है। ये सभी नय पूर्व पूर्व महाविरुद्धविषयवाले हैं और उत्तरोत्तर अनुकूल विषयवाले हैं क्योंकि पहिले नयने जितने पदार्थको विषय कर रक्खा है उसको आगेका नय विषय नहीं करता इसलिये पहिला नय विरुद्ध महा विषयवाला है तथा आगेके नयका जो विषय है वह पहिलेके नयमें गर्भित है इसलिये आगेका नय पहिले नयके अनुकूल अल्पविषयवाला है इसप्रकार पूर्व पूर्व महा विरुद्ध विषयवाले एवं

१ यहा पर यह दृष्टांत समझ लेना चाहिये कि किसी नगरमें पक्षी बोलता था उसका बोलना सुन एकने कहा इस नगरमें पक्षी बोलता है। दूसरेने कहा इस नगरमें एक वृक्ष है उस पर पक्षी बोलता है। तीसरेने कहा वृक्षकी बडी डाली पर पक्षी बोलता है। चौथेने कहा छोटी डाली पर बैठ कर बोलता है। पांचवेने कहा डालीके एक देश पर बैठ कर बोलता है। छठेने कहा पक्षी अपने शरीरमें बोलता है। सातवेंने कहा वह अपने कंठमें बोलता है इत्यादि यहां पर जिस प्रकार पक्षीके बोलनेका स्थान पहिले बहुत बडा बतला कर पीछे क्रम क्रमसे अल्प बतलाया गया है उसी प्रकार पहिले नैगम नयका विषय बहुत बतलाया है। फिर क्रम क्रमसे अल्प बतलाया गया है इसलिये नैगम आदि नयोंमें उत्तरोत्तर सूक्ष्मविषयता है।

उत्तरोत्तर अनुकूल विषयके धारक नय अनंत शक्तिस्वरूप द्रव्यकी प्रतिशक्तिकी अपेक्षा भिन्न होते जाते हैं इसलिये नयोंके बहुतसे भेद हैं ।

इसप्रकार जिसतरह आपसमें एक दूसरेकी अपेक्षा करनेवाले तंतू जिस समय बुन जाते हैं उस समय उनकी पट आदि संज्ञा हो जाती है और पुरुषोंके शीतनिवारण आदि प्रयोजनीय कार्योंके सिद्ध करनेमें समर्थ हो जाते हैं किंतु वे ही जब जुदे जुदे रहते हैं उससमय किसी भी प्रयोजनीय कार्यको सिद्ध नहीं कर सकते उसीप्रकार परस्पर सापेक्ष—आपसमें एक दूसरेकी अपेक्षा रखनेवाले और कहीं गौण तो कहीं प्रधानरूपसे विवाक्षित ही नय सम्यग्दर्शनके कारण हैं। यदि वे परस्पर सापेक्ष न होंगे तो कभी सम्यग्दर्शनके कारण नहीं हो सकते । शंका—

निरपेक्ष तंतू शीतनिवारण आदि किसी भी अर्थक्रियाको नहीं करते यह कहना ठीक नहीं क्योंकि कोई कोई तंतू चर्मकी—शरीरके अंशकी रक्षा करनेवाला तथा एक वकलका तंतू वजनके बांधनेमें समर्थ देखा गया है परन्तु नय जब निरपेक्ष होते हैं उस समय इनसे कोई भी अर्थक्रिया सिद्ध नहीं होती इस लिये ऊपर जो तंतुओंका दृष्टांत दिया गया है वह विषम है ? सो ठीक नहीं । निरपेक्ष तंतू पट आदि कार्यरूप होनेमें समर्थ नहीं हो सकते हमारा यह कहना है किंतु वादीने जो चर्म रक्षा करना वा किसी किसी वकलके तंतुओंसे बजनका बांधा जाना कार्य बतलाया है वह पट आदिका कार्य नहीं । वह केवल तंतूमात्रका कार्य है इसलिये हमारे कथनका ठीक तात्पर्य न समझ विषम उदाहरण कहनेका वृथा वादी

१ निरपेक्षा नया मिथ्याः सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ।। १०८ ।। देवागम स्तोत्र अर्थात् परस्पर निरपेक्ष नय मिथ्या हैं और परस्पर सापेक्ष कार्यकारी हैं । हे भगवन् ! आपके मतमें—जिन मतमें सापेक्ष नय ही कार्यकारी वस्तु है ।

ने उपालंभ दिया है। वास्तवमें तो जो वादीने केवल तंतुओंका कार्य बतलाया है वह अपने (तंतु) अवयवोंकी अपेक्षा न कर प्रत्येक तंतू भी उक्त कार्यके करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। इसलिये परस्पर निरपेक्ष रहनेपर कोई भी कार्य नहीं हो सकता यह हमारा कहना कभी बाधित नहीं हो सकता। यदि यहांपर फिर यह शंका की जाय कि—

निरपेक्ष तंतुओंमें शक्तिकी अपेक्षा पट आदि कार्य करनेकी सामर्थ्य है इसलिये निरपेक्ष तंतु पट आदि कार्यस्वरूप कहे जा सकते हैं ? इसका समाधान यह है कि निरपेक्ष नयोंका नाम और उनका भिन्न भिन्न ज्ञान भी सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिमें कारणरूप शक्ति रखता ही है। इसलिये निरपेक्ष भी नय सम्यग्दर्शनके कारण बन सकते हैं इस रीतिसे दृष्टांत और दार्ष्टांत दोनोंमें समानता रहनेसे तंतुओंको उदाहरणको विषम उदाहरण बतलाना असंगत है।

विशेष—सब नयोंके मूलभेद[1] निश्चय और व्यवहार दो हैं निश्चयनयका अभेद विषय है और व्यवहारका भेद विषय है। इन दो ही भेदोंके और सब भेद हैं। निश्चयनयका अर्थ वास्तविक है वस्तुका वास्तविक स्वरूप है वह द्रव्य और पर्याय दो भेदोंमें विभक्त हैं इसलिये निश्चयनयकी सिद्धि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके आधीन मानी है अतः द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दोनों नय सत्यार्थनय हैं। जो नय द्रव्यको विषय करती हैं वे द्रव्यार्थिक और जो पर्यायको विषय करती हैं वे पर्यायार्थिक हैं। नैगम संग्रह और व्यवहार ये तीन नय द्रव्यको विषय करनेवाली हैं इसलिये द्रव्यार्थिक हैं और ऋजु सूत्र आदि चार नय पर्यायोंको विषय करती हैं इसलिये पर्यायार्थिक हैं इस रीतिसे ये सातों नय द्रव्या-

१। णिच्छयववहारणया मूलं भेया णयाण सव्वाणं। णिच्छयसाहणहेओ दव्वय पज्जत्थिआ मुणह ॥ १ ॥

र्थिक और पर्यायार्थिक नयोंके ही भेद हैं। इन्हीं सातोंमें आदिकी चार नय तो गुणोंको विषय करने से अर्थनय कहलाती हैं और अंतकी तीन नय शब्दको विषय करनेसे शब्दनय कहलाती हैं।

व्यवहार नय भेदोंको विषय करता है और उसके सद्भूत व्यवहार असद्भूत व्यवहार और उपचरितासद्भूत व्यवहारके भेदसे तीन भेद हैं जिस नयके द्वारा सत्—ठीक व्यवहार हो अर्थात् जिस वस्तुके जो गुण और पर्याय हैं वे उसीके कहे जांय परंतु भिन्नता से कहे जांय वह सद्भूत व्यवहार नय है। जिसके द्वारा असत् व्यवहार हो अर्थात् अन्यके गुण पर्याय अन्यके कहे जांय वह असद्भूत व्यवहारनय है और जिसके द्वारा औपचारिक असत् व्यवहार हो वह उपचरितासद्भूत व्यवहार नय है।

सद्भूत व्यवहारके—शुद्धसद्भूत व्यवहार और अशुद्धसद्भूत व्यवहारके भेदसे दो भेद हैं शुद्ध गुण और शुद्ध गुणीका भेद कहना जिसतरह जीवके केवलज्ञानादि गुण हैं अथवा शुद्ध पर्याय और शुद्ध पर्यायीका भेद कहना जिसतरह सिद्धजीवकी सिद्धपर्याय है यह शुद्ध सद्भूत व्यवहार है एवं अशुद्ध गुण और अशुद्ध गुणीका भेद कहना जिसप्रकार जीवके मतिज्ञान आदि गुण हैं अथवा अशुद्धपर्याय और अशुद्ध पर्यायीका भेद कहना जिसतरह संसारी जीवकी देव आदि पर्याय हैं यह अशुद्धसद्भूत व्यवहारनय है।

असद्भूतव्यवहार—स्वजात्यसद्भूतव्यवहार १ विजात्यसद्भूतव्यवहार २ और स्वजातिविजात्यसद्भूतव्यवहारके ३ भेदसे तीनप्रकारका है। जिसके द्वारा स्वजातिसंबंधी असत् व्यवहार होता हो वह स्वजात्यसद्भूतव्यवहारनय है जिसप्रकार परमाणु बहुप्रदेशी है। यहांपर बहुप्रदेशी पुद्गल द्रव्य परमाणु का सजातीय है परंतु परमाणु बहुप्रदेशी नहीं, वह एकप्रदेशी ही है इसलिये एकप्रदेशीकी जगह बहु-

प्रदेशी कहनेसे 'परमाणुको बहुप्रदेशी कहना' स्वजात्यसद्भूतव्यवहारनयका विषय है। जिसनयके द्वारा विजातिसंबंधी असद्व्यवहार होता हो वह विजात्यसद्भूतव्यवहार है। जिसप्रकार मतिज्ञान मूर्तिक द्रव्यसे उत्पन्न हुआ है इसलिये मूर्तिक है। यहांपर विजातीय मूर्तिकके संबंधसे अमूर्तिक की जगह मूर्तिक कहनेसे मतिज्ञानको मूर्तिक बतलाना विजात्यसद्भूत व्यवहारनयका विषय है। एवं जिस नयके द्वारा स्वजाति विजाति संबंधी असत् व्यवहार हो वह स्वजातिविजात्यसद्भूत व्यवहारनय है। जिस तरह ज्ञान ज्ञेयमें रहता है। यहांपर ज्ञेयसे जीव अजीव दोनों प्रकारके ज्ञेय पदार्थोंका ग्रहण है। उनमें जीव पदार्थ ज्ञानका सजातीय है और अजीव पदार्थ ज्ञानका विजातीय है दोनोंको ज्ञानका आधार कहना स्वजातिविजात्यसद्भूत व्यवहारनयका विषय है।

उपचरितासद्भूतव्यवहारनयके भी स्वजात्युपचरितासद्भूत व्यवहार १ विजात्युपचरितासद्भूत व्यवहार २ और स्वजातिविजात्युपचरितासद्भूत व्यवहार ३ ये तीन भेद हैं। जिसनयके द्वारा स्व-जातिसंबंधी आरोपित असत् व्यवहार हैं वह व्यवहार उपचरितासद्भूतव्यवहार है जिसप्रकार पुत्र स्त्री आदि मेरे हैं। यहांपर स्त्री पुत्र आत्माकी अपेक्षा स्वजातीय हो। उनको मेरा कहना स्वजातीय आरोपित असत् है इसलिये वह स्वजात्युपचरितासद्भूत व्यवहारनयका विषय है। जिसके द्वारा विजातिसंबंधी आरोपित असत् व्यवहार हो वह विजात्युपचरितासद्भूत व्यवहारनय है जिसप्रकार वस्त्र आभरण आदि मेरे हैं। यहांपर वस्त्र आभरण आदि अचेतन पदार्थ आत्माके विजातीय हैं। उनको मेरा कहना विजातीय आरोपित असत् है इसलिये वह विजात्युपचरितासद्भूत व्यवहार नयका विषय है। एवं जिसनयके द्वारा स्वजाति विजाति दोनों संबंधी आरोपित असत् व्यवहार हो वह स्वजाति-

विजात्यसद्भूत व्यवहारनय है। जिसतरह देश राज्य किला आदि मेरे हैं। यहांपर देश आदिके कहने से उनमें रहनेवाले मनुष्य तिर्यंच आदि जीव और महल कुंवा आदि अजीव दोनों प्रकारके पदार्थोंका ग्रहण है। उनमें मनुष्य आदि आत्माके स्वजातीय और महल कुवां आदि विजातीय हैं इसलिये देश आदि मेरे हैं इस स्थानपर स्वजातीय विजातीय दोनों प्रकारके पदार्थोंको मेरा कहना स्वजातिविजात्युपचरितासद्भूत व्यवहारनयका विषय है। इसप्रकार निश्चय व्यवहार और उनके भेद द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक और नैगम आदि नयोंका संक्षेपरूपसे यहां कुछ वर्णन किया गया है विशेष श्लोकवार्तिक नयचक्र आलापपद्धति आदिसे समझ लेना चाहिये। निश्चयनयके कितने भेद हैं और वे क्यों हैं ? तथा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके कितने भेद हैं। यह सब भी उपर्युक्त ग्रंथोंमें अच्छीतरह खुलासा किया गया है। नय सात ही क्यों हैं ? श्लोकवार्तिककारने यह विषय बहुत ही स्पष्ट किया है और सप्तभंगीमार्गद्वारा नयोंके बहुतसे भेद बतलाये हैं विस्तारके भेदसे यहां नहीं लिखा गया है। असलमें किसी अभिप्राय विशेषको नय कहते हैं, जितने अभिप्राय हो सकते हैं उतने ही नय कहे जा सकते हैं इसलिये अभिप्रायोंके भेद अनंत होनेसे नयवाद भी अनंत हैं। वे स्थूलरूपसे परिगणित किये जाते हैं इसलिये संख्याते नय हैं।

ज्ञानदर्शनयोस्तत्त्वं नयानां चैवं लक्षणं। ज्ञानस्य च प्रमाणत्वमध्यायेऽस्मिन्निरूपितं ॥ १ ॥

१। मुद्रित ग्रन्थोमें 'ज्ञानदर्शनयोस्तत्त्व नयानां चैव लक्षण' यह पाठ मिलता है परन्तु 'तत्त्व' यह जुदा पद कहनेपर कुछ अर्थमें भी अपूर्वता नहीं आती दूसरे प्रथमाध्यायमें तत्त्व पदार्थका भी वर्णन किया गया है यदि यहांपर 'तत्त्वं' यह जुदा पद माना जाता है तो प्रथमाध्यायके वर्णनीय पदार्थोंके उल्लेखमें तत्त्व शब्दका उल्लेख छूट जाता है इसलिये 'तत्त्वनयानां' यह समस्त पाठ अच्छा

यहां पर पहिला अध्याय समाप्त होता है इसलिये उसमें वर्णन किए गये विषयोंका सामान्यरूपसे यहां स्मरण कराया गया है कि इस प्रथमाध्यायमें ज्ञान दर्शन तत्त्व और नयोंके स्वरूप वा लक्षणोंका वर्णन किया गया है और सन्निकर्ष आदिकी प्रमाणताके परिहारपूर्वक ज्ञानकी प्रमाणता बतलाई गई है।

जीयाच्चिरमकलंकब्रह्मा लघुह(व्य)व्वनृपतिवरतनयः।
अनवद्यनिखिलविद्वज्जननुतविद्यः प्रशस्तजनहृद्यः ॥ १ ॥

इसी ग्रंथके अन्य (श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिक) भाषाटीकाकार पं० पन्नालालजी दूनीवालोंने इसपद्यकी संस्कृत टीका लिखी है उसे हम यहां उद्धृत किए देते हैं—

न कलंका अष्टादशदोषाविशेषा यस्य स अकलंकः, बृंहयति वर्धयति प्रजा इति ब्रह्मा। अकलंकश्चासौ ब्रह्मा च अकलंकब्रह्मा—श्रीऋषभदेवः। एतस्य ब्रह्मत्वं कर्मभूमिप्रयोगप्रदर्शकत्वेन बोध्यं, आदिब्रह्मा इति यावत्। स चिरं जीयात्। धर्मस्यानादिनिधनत्वेऽपि उपस्थितावपसर्पिणीप्रारंभे प्रथमरत्नत्रयस्वरूपधारकत्वेन प्रवर्तकत्वेन च तदीयागतसंतानादस्माकं निजस्वरूपोपलब्धिदायकत्वेनासाधारणोपकारकर्तृत्वं विवक्षितं। अत एव चिरं जीयादिति पदस्य संगतिः। कथंभूतः स लघुहव्वनृपतिवरतनयः। अत्र हव्वशब्दः प्राकृतः स च कस्यचिन्नृपतिविशेषस्य वाची स तु द्वितीयार्थे ग्राह्यः। अत्र तु प्रकृतिभूतत्वात् हव्यशब्दग्रहः, तथा च लघुहव्यनृपतिवरतनय इति जातं। अस्यार्थः—हव्यशब्दस्य भोजनवाचकता। हु दानादानयोः इति धातुना निष्पन्नत्वात् "हव्यकव्ये दैवपैत्र्ये अन्ने" इति लिंगानु-

जान पडता है। यदि तत्त्वका अर्थ स्वरूप किया जाय तो जुदा पद रखनेसे भी कोई विरोध नहीं आता है। ज्ञान दर्शनके स्वरूपमें तत्त्वोंका स्वरूप गर्भित हो जाता है। इस दृष्टिसे 'तत्त्व' भी ठीक हो सकता है।

शासनाच्च । तथा च लघु हव्यं यस्य स लघुहव्यः । अंतिमभोगभूमिजकल्पवृक्षोद्भवभोजनकर्तृत्वात् । भोजने लघुत्वं भवति अत्र लघुशब्दः सापेक्षः । कस्माल्लघुः ? इत्याकांक्षायां कर्मभूमिजमनुष्येभ्यः, स चासौ नृपतिः स च लघुहव्यनृपतिः, नाभिराजा इत्यर्थः । तस्य वरः पुत्रः, ऋषभः । पुनः कथंभूतः ? अनवरतनिखिलविद्वज्जननुतविद्यः, निखिलाश्च ते विद्वज्जनाश्च निखिलविद्वज्जना यद्वा विद्वांसो देवा विबुधपर्यायवाचकत्वात् । जनाः मनुष्याः, तैः, अनवरतं नुता प्रस्तुता विद्या केवलज्ञानं यस्य । यद्वा विद्वान् वित्-अवधिज्ञानं, विद्यते यस्य स विद्वान् सौधर्मेंद्रः, जनाः भरतादयः, तैः नुताः—आदरेण गृहीता विद्याः—हेयोपादेयोपदेशा यस्य सः । पुनः कथंभूतः ? प्रशस्तजनहृद्यः—प्रशस्ताः प्रशंसां प्राप्ताः सप्तर्धिप्राप्ताः गणेशा वृषभसेनादयो जनाः द्वादशसभानिवासिनः, तेषां हृदयार्थप्रकाशकत्वात् हृद्यः इत्यर्थः ।

द्वितीयार्थस्त्वयं—अकलंक एव ब्रह्मा, वृंहयति वर्धयति चारित्रं यद्वा वृंहयति सूत्रार्थमिति ब्रह्मा । अकलंकश्चासौ ब्रह्मा च अकलंकब्रह्मा, एतेन शास्त्रकर्ता स्वनाम प्रख्यापयति स चिरं जीयात् । पूर्ववदर्थः । कथंभूतः सः ? लघुहव्वनृपतिवरतनयः—हव्वनृपतेः कनिष्ठपुत्र इति (?) यावत् । पुनः कथंभूतः

१ । आचार्यप्रवर अकलंकदेवके विषयमें जो भी कुछ इतिहास मिलता है उसकी बहुतसे बातें संदेहास्पद है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अकलंक निष्कलक दो सहोदर भाई थे और उन दोनोंमें अकलंकदेव ज्येष्ठ थे इसलिये उक्त पद्यकी संस्कृतटीकासे जो अकलंकदेवको कनिष्ठ पुत्र बतलाया गया है वह सन्देहास्पद जान पडता है ।

अकलंकदेवकी ऐतिहासिक सामग्रीमें उन्हें मन्त्रिपुत्र बतलाया गया है । किसी किसी प्रबल मन्त्रीको राजाकी पदवी रहती है हव्व भी कोई खास परिचय जान पडता है अन्यथा उसके पीछे लघु विशेषण व्यर्थ ही है । वर्तमानमें भी हुलकर महाराज, सेंधिया महाराज आदि प्रसिद्ध ही हैं इसलिये भगवान अकलंकदेवके मन्त्री भी पिताको 'लघुहव्वनृपति' कहनेमें कुछ आपत्ति नहीं जान पडती।

अनवद्यनिखिलविद्वज्जननुतविद्यः–निखिलाः सकला विद्वज्जना निगमदर्शिनः, तैः, अनवरतं निरवच्छिन्नं नुता प्रस्तुता स्याद्वादविद्या यस्य सः; पुनः कथंभूतः प्रशस्तजनहृद्यः–प्रशस्ता जनाः सम्यग्दर्शनोपेता भव्याः, तेषां मनोहारी स्ववचनपीयूषेण संदेहादिहालाहलस्य निराकृतत्वात्।

इस श्लोकसे आशीर्वादात्मक नमस्कार किया गया है। इसके दो अर्थ हैं। उसमें एक अर्थसे भगवान ऋषभदेवको आशीर्वाद दिया गया है और दूसरे अर्थसे वार्तिककार श्रीअकलंकदेवको आशीर्वादका विधान है। पहिला अर्थ इस प्रकार है–

श्रीनाभिराजाके उत्कृष्ट पुत्र, सदा ही इंद्र आदिसे स्तुत, अवधिज्ञान वा केवल ज्ञानके स्वामी, गौतम आदि गणधर और भरत आदि भव्योंके प्यारे, दोषरहित आदि ब्रह्मा, श्रीऋषभदेव भगवान सदा जयवंत रहो। दूसरा अर्थ–लघ्व राजाके कनिष्ठ किंतु उत्कृष्ट पुत्र, सदा बडे बडे विद्वानोंसे स्तुत, स्याद्वाद विद्याके निधान, सम्यग्दर्शनके धारक, भव्य जनोंके प्यारे एवं सूत्रोंके अर्थको वृद्धिंगत करनेके कारण ब्रह्मा श्रीअकलंकदेव चिरकाल जयवंते प्रवर्तो।

इसप्रकार श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिकालंकारकी भाषाटीकामें प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ॥ १ ॥

श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिकालंकार ।

अथ द्वितीयाध्यायः ।

मोक्षशास्त्र ग्रंथमें मोक्षमार्गका निरूपण है उसके कारण सम्यग्दर्शन आदि हैं इसलिये मोक्षमार्गके निकट संबंधी होनेसे उनका इस ग्रंथमें वर्णन किया गया है। प्रथमाध्यायमें सम्यग्दर्शनादिके लक्षण उत्पत्ति और विषय संबंधका वर्णन कर दिया गया है। वहांपर सम्यग्दर्शनका लक्षण 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं' यह कहा जा चुका है और तत्त्वार्थ शब्दसे वहांपर जीव अजीव आदि पदार्थोंका ग्रहण किया गया है। अर्थात जीव आदि पदार्थोंका वास्तविक रूपसे श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। वहांपर यह शंका होती है कि जीव आदि पदार्थोंमें जब सबका श्रद्धान सम्यग्दर्शन कहा गया है तब उनमें प्रथमोद्दिष्ट जीव पदार्थका श्रद्धान करना भी सम्यग्दर्शन वतलाया गया है जीवका श्रद्धान किस स्वरूपसे करना चाहिये जिसके निश्चय ज्ञान, उपासना—आराधना आदिसे वह सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाय। इसकेलिये ग्रंथकार जीवका स्वरूप वतलाते हैं अर्थात् आत्माका स्वभाव वतलाते हैं और वही श्रद्धान करने योग्य है क्योंकि स्वभाव और आत्माका अभेद है इसलिये स्वभावके श्रद्धानसे निर्बाधरूपसे जीवका श्रद्धान हो जाता है। फिर वहांपर शंका होती है कि वह तत्त्व—आत्माका स्वभाव चीज क्या है? उसका सूत्रकार समाधान देते हैं—औपशमिकक्षायिकावित्यादि। अथवा इससूत्रकी उत्थानिका इसप्रकार भी है—

प्रमाण और नयका वर्णन पहिले अध्यायमें कर दिया गया है वे प्रमाण और नय आदि प्रमेयोंके ज्ञान स्वरूप हैं क्योंकि उनसे जीव आदि पदार्थोंका ज्ञान होता है तथा प्रमेय शब्दका अर्थ—जीव अजीव

आदि पदार्थ है। उनमें प्रमेयोंकी आदिमें कहे गये जीव पदार्थका तत्त्व—स्वरूप क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर उसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥ १ ॥

सूत्रार्थ—औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक, और पारिणामिक ये जीवके स्वतत्व अर्थात् निज-भाव हैं सिवाय जीवके अन्य किसी भी पदार्थमें ये नहीं रहते। वार्तिककार प्रत्येकका लक्षण बतलाते हैं—

कर्मणोऽनुद्भूतस्ववीर्यवृत्तितोपशमोऽधःप्रापितपंकवत् ॥ १ ॥

गदले जलमें फिटकडी आदि पदार्थोंके डालनेपर जिसप्रकार कीचड नीचे बैठ जाती है और गदलेपनके अभावसे जल स्वच्छ हो जाता है उसीप्रकार वाह्य अभ्यंतर दोनोंप्रकारके कारणोंसे सत्तामें रहकर भी जिससमय कर्मकी शक्ति उदयमें नहीं आती उससमयमें जो आत्माके अंदर विशुद्धि रहती है उस विशुद्धिका ही नाम उपशम है।

क्षयो निवृत्तिरात्यंतिकी ॥ २ ॥

फिटकीरी आदि पदार्थोंके डालनेसे कीचडके नीचे बैठ जानेपर जिससमय उस नितरे हुए जलको किसी दूसरे स्वच्छ वासनमें ले लिया जाता है उससमय वह जिसप्रकार अत्यंत स्वच्छ कहा जाता है क्योंकि उसमें फिरसे गदले होनेकी संभावना नहीं रहती उसीप्रकार तप आदि वाह्य और अभ्यंतर कारणोंके द्वारा कर्मोंके सर्वथा नाश होजाने पर आत्माके अंदर जो अत्यंत विशुद्धता प्रकट हो जाती है उस अत्यंत विशुद्धिका ही नाम क्षय है। जिन कर्मोंके सर्वथा नाश हो जानेपर यह क्षयरूप विशुद्धता प्रकट होती है फिर वे कर्म किसी हालतमें आत्माके साथ संबंध नहीं कर सकते।

उभयात्मको मिश्रः क्षीणाक्षीणमदशक्तिकोद्रववत ॥ ३ ॥

कोदों एक जातिका धान्यविशेष है वह मादक पदार्थ है जिससमय उसे जलसे धो दिया जाता है उससमय धोनेसे कुछ मद शक्तिके क्षीण हो जाने पर और कुछके तदवस्थ रहने पर जिसप्रकार कोदों पदार्थ मिश्र मद शक्तिका धारक कहा जाता है उसीप्रकार कर्मोंके क्षय करनेवाले कारणोंके उपस्थित रहनेपर कर्मकी कुछ शक्तिके नष्ट हो जानेपर और कुछके सत्तामें मौजूद रहनेपर एवं कुछके उदय रहनेपर जो आत्माकी 'दही गुडके समान' मिली हुई अवस्था होती है उस अवस्थाका नाम मिश्र है।

द्रव्यादिनिमित्तवशात्कर्मणः फलप्राप्तिरुदयः ॥ ४ ॥

द्रव्य क्षेत्र काल आदि कारणोंसे कर्मके पाक होने पर जो फलकी प्राप्ति होना है उसका नाम उदय है।

द्रव्यात्मलाभमात्रहेतुकः परिणामः ॥ ५ ॥

जो भावद्रव्यके स्वरूपकी प्राप्ति करानेमें कारण हो और जिसमें कोई दूसरा निमित्त कारण न हो वह परिणाम कहा जाता है।

तत्प्रयोजनत्वाद् वृत्तिवचनं ॥ ६ ॥

औपशमिक आदि शब्दोंमें प्रयोजन अर्थमें ठञ् प्रत्ययका विधान है। इसलिये जहां पर कर्मोंका उपशम प्रयोजन हो वह औपशमिक भाव है। जहांपर क्षय प्रयोजन हो वह क्षायिक भाव है। जहां पर उदय प्रयोजन हो वह औदयिक और जहांपर परिणाम प्रयोजन हो वह पारिणामिक भाव है। यह औपशमिक आदि शब्दोंकी व्युत्पत्ति है। स्वतत्त्वं इस शब्दका अर्थ यह है—औपशमिक आदिक भाव जीवके असाधारण धर्म हैं। सिवाय जीवके अन्य किसीमें नहीं रहते। और स्वं तत्व स्वतत्त्वं यह उसका समास है। शंका—

व्यासेरौदयिकपारिणामिकग्रहणमादाविति चेन्न भव्यजीवधर्मविशेष-
ख्यापनार्थत्वादादावौपशमिकादिभाववचनं ॥ ७ ॥

उक्त पांचो भावोंमें औदायिक और पारिणामिक भाव सर्वजीव–साधारण हैं–सभी संसारी जीवोंके पाये जाते हैं इसलिये जहां जहां संसारी जीवत्व है वहां वहां औदायिक पारिणामिक भाव हैं इस व्याप्ति से जब सभी संसारी जीवोंके औदायिक और पारिणामिक भाव सदा मौजूद रहते हैं तब औपशमिक क्षायिकावित्यादि सूत्रमें पहिले इन्हीं दोनों भावोंके नामका उल्लेख करना चाहिये औपशमिक आदिका नहीं ? सो ठीक नहीं। मोक्षशास्त्रका बनाना आदि जो भी प्रयत्न हैं वह भव्य जीवोंको मोक्ष तत्वके प्रतिपादनके लिये हैं। औपशमिक आदि तीन भाव भव्यके सिवाय अभव्यके नहीं होते इसलिये औप-शमिक आदि तीनों भाव 'भव्योंके ही होते हैं अभव्योंके नहीं यह प्रकट करनेके लिये सूत्रमें पहिले औपशमिकादिकका उल्लेख किया गया है।

तत्र चादावौपशमिकवचनं तदादित्वात्सम्यग्दर्शनस्य ॥ ८ ॥ अल्पत्वाच्च ॥ ९ ॥

सम्यग्दर्शन रूप पहिले औपशमिक भाव होता है पीछे क्षायोपशमिक और उसके बाद क्षायिक भाव होता है अर्थात् जो कर्म सम्यग्दर्शनके विरोधी हैं अनादि मिथ्यादृष्टिके पहिले उनकी उपशम अवस्था होती है पीछे क्षयोपशम और क्षय अवस्था होती है इसी क्रमकी अपेक्षा सूत्रमें औपशमिक भावका सबसे पहिले उल्लेख किया गया है। और भी यह बात है कि–

उपशम सम्यग्दर्शनका काल अंतर्मुहूर्त है। अंतर्मुहूर्तके समय असंख्यात हैं यदि हर एक समय निरवच्छिन्नरूपसे उपशम सम्यग्दृष्टि इकट्ठे किये जायं तो वे अंतर्मुहूर्त समयमें पल्यके असंख्यात भाग

प्रमाण ही हो सकते हैं अधिक नहीं परंतु क्षायिक और क्षायोपशामिक सम्यग्दृष्टि इनसे बहुत अधिक हैं इसलिये संचयकालकी अपेक्षा क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियोंकी अपेक्षा उपशम सम्यग्दृष्टि थोडे हैं तथा जो अल्प होता है उसका पहिले निपात होता है इसलिये औपशमिक आदिमें पहिले औपशमिक भावका उल्लेख किया गया है। तथा—

ततो विशुद्धिप्रकर्षयुक्तत्वात् क्षायिकः ॥ १० ॥ बहुत्वाच्च ॥ ११ ॥

मिथ्यात्व सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वरूप सम्यग्दर्शनकी विरोधी इन तीनों प्रकृतियोंके सर्वथा नाशसे क्षायिक सम्यक्त्व होता है इसलिये औपशमिक सम्यक्त्वकी अपेक्षा क्षायिक सम्यक्त्वकी विशुद्धता अधिक होनेसे औपशमिक सम्यक्त्वके वाद सूत्रमें क्षायिक सम्यक्त्वका उल्लेख रक्खा है और भी यह वात है कि—

औपशमिक सम्यग्दृष्टियोंकी अपेक्षा क्षायिकसम्यग्दृष्टि अधिक हैं क्योंकि यहां आवलीका असंख्यातवां भाग गुणकार माना है और असंख्यातवें भागके समय असंख्याते ही होते हैं इस नियमानुसार उस गुणकारके असंख्याते समय माने हैं। इस गुणकारसे औपशमिक सम्यग्दृष्टियोंसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि गुणित हैं इसलिये आवलीके असंख्यातवे भाग गुणे होनेसे वे औपशमिक सम्यग्दृष्टियोंसे अधिक हैं। तथा क्षायिक सम्यक्त्वका संचयकाल तेतीससागर प्रमाण माना है और उसमें पहिले समयसे लेकर हर एक समयमें इकट्ठे होनेवाले क्षायिक सम्यग्दृष्टि बहुतसे होते हैं इसलिये उस आवलीके असंख्यातवेंभाग गुणकार प्रमाण उपशम सम्यग्दृष्टि, क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं इसरीतिसे औपशमिक सम्यग्दृष्टियोंकी अपेक्षा क्षायिक सम्यग्दृष्टि अधिक होनेसे सूत्रमें औपशमिकके बाद क्षायिक शब्दका उल्लेख किया गया है।

तदसंख्येयगुणत्वाततदनंतरं मिश्रवचनं ॥ १२ ॥

क्षायिक सम्यग्दृष्टियोंकी अपेक्षा क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि भी असंख्येय गुणे माने हैं। यहांपर इतनी विशेषता है कि—क्षायिक सम्यग्दृष्टियोंसे क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि द्रव्यकी अपेक्षा असंख्येय गुणे हैं भावकी अपेक्षा नहीं क्योंकि विशुद्धिकी अधिकतासे क्षायोपशमिक सम्यक्त्वकी अपेक्षा क्षायिक सम्यक्त्व अनंतगुणा माना है इसलिये भावकी अपेक्षा क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियोंकी अपेक्षा क्षायिक सम्यग्दृष्टि असंख्येयगुणे नहीं माने जा सकते। तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्वका संचयकाल कुछ अधिक छ्यासठि सागर प्रमाण है और उसमें प्रथम समयसे आदि लेकर समय समय कालकी समाप्ति-पर्यंत इकट्ठे होनेवाले बहुतसे क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि होते रहते हैं इसलिये यहांपर भी आवलीके असंख्यातवे भागप्रमाण गुणकार माननेसे क्षायिकसम्यग्दृष्टियोंकी अपेक्षा क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि उस गुणकार प्रमाण हैं। इसप्रकार क्षायिककी अपेक्षा क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियोंके अधिक होनेसे सूत्रमें क्षायिकके बाद मिश्र शब्दका उल्लेख है।

विशेष—सार यह है कि सम्यग्दृष्टियोंमें सबसे थोडे औपशमिक सम्यग्दृष्टि हैं क्योंकि उपशम सम्यक्त्वका काल बहुत कम अंतर्मुहूर्त प्रमाण है। उससे आवलीके असंख्याते भाग गुणे क्षायिक सम्यग्दृष्टि हैं क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्वका काल कुछ अधिक तेतीससागर प्रमाण है। उससे भी आधिक क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि हैं क्योंकि क्षायोपशमिक सम्यक्त्वका काल कुछ अधिक छ्यासठि सागर प्रमाण है। जिसका विषय अल्प होता है उमका पहिले प्रयोग किया जाता है इस नियमानुसार औपशमिकका अल्प विषय होनेसे सबसे पहिले सूत्रमें उसका ग्रहण है उससे कुछ आधिक किंतु क्षायोपशमिक सम्यक्त्वकी

की अपेक्षा अल्पविषय क्षायिकसम्यक्त्व है इसलिये औपशमिकके बाद सूत्रमें क्षायिक शब्दका पाठ है। उसके बाद अधिक विषय होनेसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्वका पाठ रक्खा गया है।

तदनंतगुणत्वादंते द्व्यवचनं ॥ १३ ॥ तैरेव चात्मनः समधिगमात् ॥ १४ ॥ सर्वजीवतुल्यत्वाच्च ॥ १५ ॥

औदयिक और पारिणामिक भाव सर्व जीवोंके पाये जाते हैं इसलिये औपशमिक आदिकी अपेक्षा औदयिक और पारिणामिक अनंत गुणे होनेके कारण सबके अंतमें इन दोनोंका उल्लेख किया गया है। और भी यह बात है कि—

आत्मा पदार्थ अतींद्रिय है उसका ज्ञान मनुष्य तिर्यंच आदि औदयिक भावोंके द्वारा और चैतन्य जीवत्व आदि पारिणामिक भावोंके द्वारा होता है। यदि मनुष्य तिर्यंच वा चैतन्य जीवत्व आदि न हों तो आत्माका ज्ञान ही न हो सकेगा इसलिये सामान्यरूपसे आत्माके ज्ञापक होनेके कारण औदयिक और पारिणामिक भावोंका सबसे अंतमें उल्लेख किया गया है। तथा—

औदयिक और पारिणामिक दोनों भाव समस्त संसारी जीवोंके समान हैं इसलिये भव्य अभव्य दोनों प्रकारके जीवोंके होनेके कारण सामान्य भाव होनेसे सब भावोंके अंतमें उनका उल्लेख किया गया है। शंका—

तत्त्वमिति बहुवचनप्रसंग इति चेन्न भावस्यैकत्वात् ॥ १६ ॥

औपशमिक क्षायिक आदि पांच भाव तत्व हैं यहांपर तत्व शब्द विशेष्य और औपशमिक आदि विशेषण हैं। यह प्रायः नियम है कि विशेषण और विशेष्य दोनोंके लिंग और वचन समान रहते हैं। यहांपर औपशमिक आदि विशेषण बहुत हैं इसलिये तत्व शब्द बहुवचनांत कहना चाहिये 'तत्त्वं' यह

एक वचनांत क्यों कहा गया? सो ठीक नहीं। औपशमिक आदि भले ही अनेक रहें परंतु जीव स्वभाव एक ही है तत्वका अर्थ भी स्वभाव ही है इसलिये 'तत्त्वं' यह एक वचनांत प्रयोग अयुक्त नहीं। यदि यहांपर फिर यह शंका की जाय कि—

फलभेदान्नानात्वमिति चेन्न स्वात्मभावभेदस्याविवक्षितत्वात्; गावो धनमिति यथा ॥ १७ ॥

प्रत्येकमभिसंबंधाच्च ॥ १८ ॥

जब कि औपशमिक आदि स्वभावके ही भेद हैं तब भेदोंके नानापनेसे स्वभाव भी नाना कहने पडेंगे इसलिये स्वभावपदार्थ एक नहीं कहा जा सकता और स्वभाव पदार्थके एक न होनेपर 'तत्त्वं' यह एक वचनांत प्रयोग असाधु है। सो भी ठीक नहीं 'गावो धनं' 'बहुतसी गायें धन हैं' यहांपर धि धातुसे 'यु' प्रत्यय करनेपर धन शब्दकी सिद्धि हुई है। और यहांपर धनस्वरूप गायोंके अनेक रहते भी धन के भेदकी विवक्षा नहीं मानी गई है उसीप्रकार स्वभावके भले ही औपशमिक आदि भेद रहें तो भी उनके भेदसे यहां स्वभावभेदकी विवक्षा नहीं इसलिये 'तत्वं' यह एक वचनांत प्रयोग अयुक्त नहीं। अर्थात् स्वभावोंके नाना भेद होनेपर भी उन सबोंमें जीव स्वभावपना एक है। और भी यह वात है कि—

तत्व शब्दका प्रत्येक औपशमिक आदिके साथ संबंध है अर्थात् जीवका औपशमिक भाव निज-तत्व है। क्षायिक भाव निज तत्व है। क्षायोपशमिकभाव निज तत्व है इत्यादि इसरीतिसे तत्वशब्दका जब प्रत्येकके साथ भिन्न भिन्न संबंध है तब 'तत्व' यह एक वचनांत प्रयोग अनुचित नहीं। शंका—

द्वंद्वनिर्देशो युक्त इति चेन्नोभयधर्मव्यतिरेकेणान्यभावप्रसंगात् ॥ १९ ॥

सूत्रकारने 'औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्वमौदायिकपारिणामिकौ च' ऐसा पढा

है परंतु उतने लंबे चोडे सूत्रकी जगहपर 'औपशमिकक्षायिकमिश्रौदयिकपारिणामिकाः' ऐसा सूत्र बनाना ठीक था। ऐसे सूत्रके बनानेमें दो जगह जो दो शब्द कहने पडे हैं वे भी न कहने पडते बडा भारी लाघव होता जो कि सूत्रकारोंके मतमें महान लाभ माना गया है इसलिये वैसा लम्बा चौडा सूत्र नहीं बनाना चाहिये सो ठीक नहीं। औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्चेत्यादि जैसा सूत्रकारने सूत्र पढा है उसमें चशब्दसे पहले कहे गये औपशमिक और क्षायिक भावोंका अनुकर्षण होता है और उससे औपशमिक और क्षायिक भावोंकी मिली हुई अवस्था मिश्रभाव लिया जाता है किंतु अब वैसा सूत्र न कर यदि औपशमिकक्षायिकमिश्रेत्यादि द्वंद्वगर्भित सूत्र किया जायगा तो चशब्दके अभावमें औपशमिक और क्षायिकका अनुकर्षण न होने पर औपशमिक और क्षायिककी मिली हुई अवस्था तो मिश्रभाव कही नहीं जायगी किंतु उनसे भिन्न अन्य ही दो भावोंकी मिली हुई अवस्था मिश्र कही जायगी जो कि विरुद्ध है इसलिये द्वंद्वगर्भित सूत्र न कह कर जैसा सूत्रकारने सूत्र बनाया है वही ठीक है और उसमें चशब्दसे औपशमिक और क्षायिक भावोंकी मिली हुई अवस्था ही मिश्रभावका अर्थ लिया जा सकता है अन्यका नहीं। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—

क्षायोपशमिकग्रहणमिति चेन्न गौरवात् ॥ २० ॥

औपशमिक और क्षायिक भावोंकी मिली हुई अवस्था ही मिश्रभावका अर्थ लिया जाय इस बातकी रक्षार्थ ही औपशमिकक्षायिकमिश्रेत्यादि द्वंद्वगर्भित सूत्र कहनेका निषेध किया जाता है परंतु यदि मिश्रकी जगह क्षायोपशमिक कह दिया जायगा तो उपर्युक्त आपात्ति नहीं हो सकती इसलिये मिश्र शब्दके स्थानपर क्षायोपशमिक शब्दका उल्लेखकर द्वंद्वगर्भित ही लघुसूत्र करना ठीक है किंतु सूत्रका-

रने जो कहा है वैसे गुरुसूत्रके कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं ? सो भी अयुक्त है। द्वंद्वगर्भित सूत्रके कहे जानेपर दो चकारका तो लाघव अवश्य है परंतु मिश्रकी जगह क्षायोपशमिक कहनेपर चार अक्षर और बढ जाते हैं जो कि महा गौरव है इसलिये यह बात निश्चित हो चुकी कि सूत्रकारने जो बनाया है वही ठीक है उसके स्थानपर अन्य सूत्रके बनानेमें दोष आते हैं।

मध्ये मिश्रवचनं क्रियते पूर्वोत्तरापेक्षार्थं ॥ २१ ॥

औपशमिक और क्षायिक यह युग्म और औदयिक एवं पारिणामिक यह युगल, इन दोनों युगलोंके बीचमें मिश्रभाव पाठ रक्खा है ऐसा करनेसे इतना ही प्रयोजन समझ लेना चाहिये कि भव्यके औपशमिक आदि पांचों भाव होते हैं अर्थात् औपशमिक सम्यक्त्व औपशमिक चारित्र, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व-दर्शन और ज्ञान, एवं क्षायोपशमिक चारित्र, औदयिक और पारिणामिक ये पांचो भाव भव्योंके ही होते हैं और अभव्योंके क्षायोपशमिक औदयिक और पारिणामिक ये तीन ही भाव होते हैं औपशमिक और क्षायिक ये दो भाव नहीं होते। क्षायोपशमिक भावोंमें भी ज्ञान और दर्शन दो ही भाव हो सकते हैं ज्ञान दर्शनसे मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शन समझना चाहिये क्योंकि सम्यग्दर्शनके बिना सम्यग्ज्ञान आदि नहीं होते।

जीवस्येति वचनमन्यद्रव्यनिवृत्त्यर्थं ॥ २२ ॥

सूत्रमें जो जीवस्य यह पद दिया है उसका तात्पर्य यह है कि औपशमिक आदि सब भाव जीवके ही निज तत्व हैं। जीवसे भिन्न अन्य किसी पदार्थके नहीं। यदि जीवस्य यह पद न होता तो अन्यके भी वे स्वभाव कहे जाते। शंका—

स्वभावपरित्यागात्यागयोः शून्यतानिर्मोक्षप्रसंग इति चेन्नादेशवचनात् ॥ २२ ॥

औपशमिक आदि जो आत्माके स्वभाव बतलाये हैं उन्हें आत्मा छोड सकता है या नहीं। यदि यह कहा जायगा कि वे आत्मासे जुदे हो सकते हैं तब जिसप्रकार उष्णता अग्निका स्वभाव है यदि वह अग्निसे जुदा हो जायगा तो अग्निका अभाव होगा उसीप्रकार औपशमिक आदि भी जीवके निज भाव हैं यदि वे जीवसे जुदे हो जांयगे तो जीवका भी अभाव हो जायगा। जीवका ही क्यों यदि सब पदार्थोंके स्वभाव उनसे भिन्न हो जांयगे तो जगत् ही शून्य हो जायगा। कदाचित् यह कहा जायगा कि वे जीवसे जुदे नहीं होते तो फिर औपशमिक आदि भावोंके अंतर्गत क्रोध आदि भी भाव हैं इसलिये क्रोधादिस्वरूप भी सदा आत्मा मानना पडेगा फिर इसकी मोक्ष न हो सकेगी क्योंकि क्रोध आदि समस्त कर्मोंके नाशको मोक्ष माना है। सो ठीक नहीं। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा जीव अनादि पारिणामिक चैतन्य स्वरूप है इसलिये उस नयकी अपेक्षा तो औपशमिक आदि भाव उससे भिन्न हो नहीं सकते और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा वह आदिमान–विनाशीक औदायिक आदि पर्यायस्वरूप है इसलिये इस नयकी अपेक्षा औपशमिक आदि भाव उससे जुदे हो सकते हैं। इसरीतिसे जीव कथंचित् (द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा) स्वस्वभावका अपरित्यागी है। कथंचित (पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा) त्यागी है। क्रमसे दोनों नयोंकी अपेक्षा करनेपर कथंचित् अत्यागी और त्यागी है। एक साथ दोनों नयोंकी अपेक्षा करनेपर कथंचित् अवक्तव्य है इत्यादि सातो भंग समझ लेना चाहिये। जो यह एकांत मानता है कि पदार्थका स्वभाव उससे सर्वथा जुदा हो जाता है अथवा वह उससे कभी भी जुदा नहीं होता उसके मतमें उपर्युक्त दोष लागू हो सकते हैं परंतु जैनसिद्धांत तो अनेकांत वादकी

प्रक्रिया पर निर्भर है—सर्वथा एकांतरूपसे कोई भी तत्व उनके अंदर नहीं माना गया इसलिये उसमें कोई दोष नहीं है। तथा—

अप्रतिज्ञानात् ॥ २४ ॥

यह हमने प्रतिज्ञा ही कहां की है कि स्वभावके परित्याग वा अपरित्यागसे मोक्ष होती है किन्तु हमारा तो यह कहना है कि द्रव्य क्षेत्र आदि मोक्षके वाह्य कारण और प्रकर्षताको प्राप्त सम्यग्दर्शन आदि अंतरंग कारणोंकी मोजूदगीमें ज्ञानावरण दर्शनावरण आठ कर्मोंके परतंत्र आत्मासे जिस समय समस्त कर्मोंका सर्वथा वियोग हो जाता है उस समय उसकी मोक्ष होती है इसलिये स्वभावके परित्याग वा अपरित्यागजन्य जो ऊपर दोष दिया गया है वह यहां लागू नहीं होता। तथा यह जो कहा गया है कि अग्निके उष्ण स्वभावके नष्ट हो जाने पर अग्निका अभाव हो जायगा शून्यता होगी सो भी कहना ठीक नहीं क्योंकि—उष्णता पुद्गलकी ही एक पर्याय है यदि उसका अभाव भी हो जाय तो भी सतरूपसे वा अचेतन रूपसे भस्मा रूप उसकी दूसरी पर्याय प्रगट हो जानेसे पुद्गलकी नास्ति नहीं हो सकती उसका तो अवस्थान रहेगा ही इस कारण शून्यता नहीं कहा जा सकती। तथा और भी यह बात है—

कर्मसंनिधाने तदभावे चोभयभावाविशेषोपलब्धेर्नेत्रवत् ॥ २५ ॥

नेत्रका स्वभाव रूपगुणका प्रत्यक्ष करना है जिस समय वह रूप गुणका साक्षात्कार नहीं करता उससमय उसका रूपोपलब्धि स्वभाव नहीं रहता परंतु स्वभावके परित्याग रहने पर भी नेत्रका अभाव नहीं कहा जा सकता तथा रूपका जानना नेत्रका स्वभाव है और वह रूपोपलब्धिरूप स्वभाव क्षायोपशमिक भाव है। जिससमय ज्ञानावरण कर्मके सर्वथा नष्ट हो जाने पर केवली भगवानके केवलज्ञान

प्रगट हो जाता है उससमय मतिज्ञानके होनेकी योग्यता न रहनेसे भाव नेत्र स्वरूप रूपोपलब्धि स्वभावका अभाव हो जाता है किंतु वहां नेत्रके रूपोपलब्धि स्वभावके नष्ट हो जाने पर भी द्रव्य नेत्रका अवस्थान ही रहता है अभाव नहीं होता इस रीतिसे इन दोनों स्थानों पर जिसप्रकार रूपोपलब्धि रूप स्वभावके नष्ट हो जाने पर भी नेत्र इंद्रियका अभाव नहीं होता उसीप्रकार जिन औदयिक आदि भावोंकी उत्पत्ति कर्मजनित है उनका भले ही नाश हो जाय परंतु क्षायिक भावोंका कभी भी नाश नहीं होता किंतु उनकी प्रगटतासे और भी आत्मामें विशेषता उत्पन्न हो जाती है इस रीतिसे आत्माके क्षायिक भावोंके विद्यमान रहते जब उसका नाश बाधित है तब स्वभावके परित्याग वा अपरित्यागसे आत्माके नाशकी शंका निर्मूल है ॥ १ ॥

जिन औपशमिक आदि भावोंका ऊपर नामोल्लेख किया गया है वे अखण्ड अखण्ड पदार्थ हैं कि उनके भेद भी हैं ? यदि कहा जायगा उनके भेद हैं तब बतलाना चाहिये किसके कितने भेद हैं ? इसलिये सूत्रकार क्रमसे उनके भेदोंका उल्लेख करते हैं । सबसे पहिले औपशमिक आदि भावोंके भेदोंकी संख्या बतलाते हैं—

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमं ॥ २ ॥

अर्थ—दो नौ अठारह इकीस और तीन ये उन पांचों भावोंके क्रमसे भेद हैं । अर्थात् औपशमिकके दो भेद हैं, क्षायिकके नौ, मिश्रके अठारह, औदायिकके इकीस और पारिणामिकके तीन भेद हैं । सूत्रके समास आदि पर वार्तिककार विचार करते हैं—

द्व्यादीनां कृतद्वंद्वानां भेदशब्देन वृत्तिः ॥ १ ॥

सूत्रमें जो 'द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः' यह समस्त पद है वहां पर द्वौ च नव च अष्टादश च एकविंशतिश्च त्रयश्च, 'द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रयः' इस इतरेतर द्वंद्वके करनेके बाद, ते भेदा येषां ते 'द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः' यह बहुव्रीहि समास समझ लेना चाहिये। शंका—

जहांपर तुल्ययोग—समान योग होता है वहींपर इतरेतर योग नामका द्वंद्वसमास होता है भिन्न योग रहनेपर वह नहीं हो सकता। द्वौ च नव च इत्यादि जो ऊपर इतरेतरयोग द्वंद्व माना है वहां पर तुल्ययोग नहीं क्योंकि उपर्युक्त इतरेतर द्वंद्व समासांत पदमें द्वि आदि शब्द संख्येयप्रधान हैं और एकविंशति शब्द संख्यानप्रधान है अर्थात् द्वि आदि शब्द दो आदि संख्याविशिष्ट शब्दोंके कहनेवाले हैं और एकविंशति शब्द संख्यावाचक है इसलिये उपर्युक्त जो इतरेतर द्वंद्व माना है वह अयुक्त है! सो ठीक नहीं। प्रधान भी कभी कभी किसी कारणसे गौण हो जाता है जिसतरह राजा प्रधान है परंतु किसी समय वह किसी अवश्यंभावी कारणसे मंत्री बन जाता है और मंत्रीके कार्यकी फल प्राप्ति होनेपर वह अपने को प्रधान मानता है इसी प्रकार यद्यपि द्वि आदि शब्द संख्येयप्रधान हैं तो भी किसी बलवान कारणके उपस्थित हो जानेपर वे भी संख्यानप्रधान अर्थात् संख्यावाचक मान लिये जाते हैं इसलिये जब कारण विशेषसे संख्याविशिष्ट शब्दोंके वाचक भी द्वि आदि शब्द संख्यावाचक मान लिये जाते हैं तब यहां पर सभी संख्यावाचक शब्द होनेसे तुल्ययोग हो गया फिर उपर्युक्त इतरेतर द्वंद्व समास अयुक्त नहीं कहा जा सकता। परंतु—

संख्येयप्रधान द्वि आदि शब्दोंका संख्यानप्रधान बतलाना यह सब तर्कके बलपर है व्याकरणका सिद्धांत ऐसा नहीं क्योंकि व्याकरणका यह वचन है कि—एकादयः प्राग्विंशतेः संख्येयप्रधाना विंशत्या-

दयस्तु कदाचित्संख्यानप्रधानाः कदाचित्संख्येयप्रधाना इति अर्थात् एक द्वि आदिको ले कर एकोनविं-
शति (उन्नीस) पर्यंत शब्द संख्येयप्रधान हैं और विंशति आदि शब्द कभी संख्यानप्रधान हो जाते हैं
और कभी संख्येयप्रधान भी हो जाते हैं। इस वचनसे द्वि आदि शब्दोंको संख्यानप्रधान नहीं माना
गया। यदि यहां पर यह कहा जाय कि–

द्वि आदि शब्दोंको यद्यपि व्याकरण शास्त्रके अनुसार संख्यानप्रधान नहीं माना जा सकता
तथापि यदि युक्तिबलसे संख्यानप्रधान मान भी लीया जाय तो वे विंशति आदि शब्दोंके समान हो
सकते हैं कोई दोष नहीं सो भी अयुक्त है। क्योंकि द्वि आदि और विंशति आदिको यदि समान मान लिया
जायगा तो संबंधी शब्दोंके साथ विंशति आदि शब्दोंका प्रयोग करने पर जो विभक्ति होती है वही
विभक्ति द्वि आदि शब्दोंके साथ प्रयोग करने पर भी होगी और द्वि संख्याको स्वतः एकपना माना है
इसलिये संख्यानप्रधान ही आनेके कारण एक वचन ही आवेगा जिसतरह 'विंशतिर्गवां' अर्थात् वीस
गाय हैं, यहांपर सख्यानवाचक विंशति शब्दसे एकवचन प्रथमा विभक्तिका विधान है और उसका संबंधी
जो गो शब्द है उससे बहुवचन षष्ठी विभक्तिका विधान है। उसीप्रकार द्वि आदि शब्दोंसे मानना पडेगा
तब 'विंशतिर्गवां' जैसा यह प्रयोग है उसी प्रकार 'षट् गवां' वा 'चत्वारी गवां' इत्यादि प्रयोग भी शुद्ध
मानने पडेंगे इसलिये द्वि नव आदि शब्दोंको संख्यानप्रधान नहीं माना जा सकता इसरीतिसे जब द्वि
आदि शब्द संख्यावाचक नहीं सिद्ध हो सकते तब तुल्य योगके अभावसे उपर्युक्त इतरेतर द्वंद्व अयुक्त
है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि–

यद्यपि व्याकरण शास्त्रके अनुसार द्वि आदिको संख्यावाचक मानना ऊपर विरुद्ध वताया गया है

परंतु उसी व्याकरणशास्त्रमें 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' १।४।२२। इससूत्रमें 'द्व्येकयोः' यहांपर द्वि और एक शब्दका संख्या अर्थमें ही प्रयोग है इसलिये उन्नीसके पहिले पहिले एक दो नौ आदि शब्द संख्यावाचक भी हैं कोई दोष नहीं? सो भी अयुक्त है। क्योंकि जिसप्रकार 'बहुशक्ति कीटकं' कीडा बहुत शक्तिवाला है यहांपर बहु शब्द संख्यावाचक नहीं माना गया, नहीं तो बहुत संख्याका वाचक होनेसे 'बहुशक्तयः कीटकं' यह प्रयोग करना पडता किंतु बहुत्वविशिष्ट समुदायरूप है शक्ति जिसकी ऐसा कीडा है इसप्रकार विशिष्ट समुदायका वाचक होनेसे वह संख्येय ही माना है उसीप्रकार सूत्रमें जो द्वि और एक शब्द है उसका संख्या अर्थ नहीं है किंतु द्वि शब्दका अर्थ 'द्विसंख्याविशिष्ट पदार्थके गौण स्वरूप दो अवयव' यह है और एक शब्दका अर्थ 'एकसंख्याविशिष्ट पदार्थका गौण स्वरूप एक अवयव' यह है। यदि वहांपर दो और एक शब्द संख्यावाचक होते तो द्विशब्दका दो अर्थ और एक शब्दका एक अर्थ मिलकर बहुत होनेसे 'द्व्येकेषां' ऐसा सूत्रमें प्रयोग रहता परंतु वैसा नहीं इसलिये द्वि आदि शब्दोंको संख्यावाचक नहीं माना जा सकता। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि 'द्व्येकयोः' यहांपर द्वि और एक शब्द यद्यपि संख्येयप्रधान हैं तथापि बलवान कारणसे उन्हें संख्या-प्रधान माना जा सकता है। तब फिर वहां पर यह शंका उठती है कि जब द्वि और एक शब्दको संख्यावाचक माना जायगा तब 'द्व्येकयोः' निर्देशकी जगह 'द्वित्वैकत्वयोः' ऐसा होना चाहिये अन्यथा द्विशब्दका अर्थ दो और एक शब्दका अर्थ एक मिलकर बहुत होनेसे 'द्व्येकेषां' ऐसा कहना पडेगा? सो ठीक नहीं। भावप्रत्ययका त्व और तलके विना भी निर्देश गौण और प्रधान-

१ सिद्धांतकौमुदी पृष्ठ १६।

रूपसे मान लिया जाता है इसलिये भावप्रत्ययके विना भी 'द्व्येकयोः' इस निर्देशकी जगह 'द्वित्वै-
कत्वयोः' ऐसे कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं । परंतु ऊपर कहा जा चुका है कि द्वि आदि शब्दों
को संख्यावाचक कहना केवल तर्कके बलपर निर्भर है व्याकरणशास्त्र उन्हें संख्यावाचक माननेमें सहमत
नहीं । इसरीतिसे जब 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' शंकाकारके मतानुसार द्वि और एक शब्दको संख्या-
वाचकपना सिद्ध नहीं हुआ तब तुल्ययोगके अभावसे उपर्युक्त इतरेतर द्वंद्वसमास मानना ठीक नहीं ।
इस बलवान प्रश्नका वार्तिककार समाधान देते हैं—

द्विनवाष्टेत्यादि सूत्रमें जो द्वि आदि शब्द हैं वे संख्येयप्रधान ही हैं एकविंशति शब्द भी संख्येयप्रधान
है क्योंकि विंशति आदि शब्द किसी समय 'संख्यानप्रधान भी होते हैं, किसी समय संख्येय प्रधान भी
होते हैं' यह व्याकरणका सिद्धांत ऊपर कहा जा चुका है । इसरीतिसे जब द्वि आदि सभी शब्द संख्येय
प्रधान हो गये तब तुल्ययोग होनेसे इतरेतर द्वंद्वसमासके माननेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती ।

समास अनेक पदोंका होता है । किसी समासमें दो पदार्थोंमें पूर्वपदार्थ प्रधान रहता है जिस तरह
अव्ययीभावमें, किसी समासमें उत्तरपदार्थ प्रधान रहता है जिसतरह तत्पुरुषमें, किसी समासमें जितने
पदार्थोंका समास किया जाय सभी प्रधान रहते हैं जिसप्रकार द्वंद्वमें और किसी समासमें जिन पदार्थोंके
साथ समास किया जाता है उनसे अन्य ही पदार्थ प्रधान रहते हैं जिसतरह बहुव्रीहि समासमें । यहांपर
जो भेद शब्दके साथ द्विनव आदि पदोंका समास है वहां पर प्रश्न होता है कि वह स्वपदार्थ प्रधान

१ । पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः । उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः । सर्वपदार्थप्रधानो द्वंद्वः । अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः ।
सिद्धांतकौमुदी पृष्ठ ६५ ।

अर्थात् उत्तरपदार्थ प्रधान कर्मधारय समास है कि अन्यपदार्थ प्रधान वहुव्रीहि समास है। यदि यह कहा जायगा कि 'विशेषणं विशेष्येणेति अर्थात् विशेष्यके साथ विशेषणका समास होता है, इस सूत्रसे वहां द्विनवाष्टादशैकविंशातित्रय एव भेदाः, द्विनवाष्टादशैकविंशातित्रिभेदा, यह कर्मधारय समास है तब 'विशेष्य और विशेषणोंमें विशेषणोंका पूर्वनिपात होता है' इस नियमके अनुसार भेद शब्दका पहिले प्रयोग होना चाहिये क्योंकि द्विनव आदि शब्द यहां विशेष्य और भेदशब्द विशेषण है। यहांपर यह शंका न करनी चाहिये कि द्वि आदि शब्द विशेष्य हो ही नहीं सकते क्योंकि 'द्वे यमुने समाहृते इति द्वियमुनं' अर्थात् जहां पर दो यमुना इकट्ठी हों वह द्वियमुन है' इत्यादि पूर्वपदार्थप्रधान अव्ययीभाव समासके स्थलोंपर द्वि आदि शब्दोंको विशेष्य और यमुना आदि शब्दोंको विशेषण माना गया है इसलिये द्विनवाष्टादशैकेत्यादि सूत्रके स्थानपर भेदद्विनवाष्टेत्यादि होना चाहिये ? सो ठीक नहीं। जहांपर 'के द्वे ?' कौन दो हैं। इस सामान्य अर्थका प्रतिभास रहनेपर 'यमुने' 'यमुना नामकी दो नदी हैं' यह विशेष कथन है वहींपर द्वि शब्दको विशेष्य माना गया है किंतु जहांपर पहिलेसे ही 'यमुने' यह कहा जायगा वहांपर द्विवचनके प्रयोगसे 'दो यमुना नदी हैं' यह अर्थ निकल आवेगा फिर द्वि शब्दका प्रयोग व्यर्थ ही है इसरीतिसे जहांपर पहिले ही द्विशब्दका उल्लेख किया जायगा वहां तो विशेष अकांक्षा होनेपर यमुना शब्दके कहनेसे दोनों पद सार्थक हैं किंतु यदि पहिलेसे ही 'यमुने' यह कहा जायगा तब द्वि वचनसे द्वि शब्दका अर्थनिकल जायगा फिर द्वि शब्दका प्रयोग ही व्यर्थ है परंतु वैसी व्यवस्था 'द्विनवाष्टादशेत्यादि' स्थलपर नहीं। यहांपर यदि पहिले 'भेदाः' ऐसा कहाजायगा वहांपर यह

१। कर्मधारय समास तत्पुरुषका ही भेद है।

आकांक्षा होगी कि वे कितने हैं। तब 'द्विनवाष्टादशैकाविंशातित्रयः' अर्थात् वे भेद दो नव आदि हैं यह कहना पडेगा। तथा यदि पहिले 'द्विनवाष्टादशैकाविंशातित्रयः' यह कहा जायगा तो वे कौन हैं? यह संदेह होगा इसलिये उस संदेहकी निवृत्तिके लिये 'भेदाः' अर्थात् भेद हैं यह कहा जायगा इसरीतिसे 'द्वियमुनं' और 'द्विनवाष्टादशैकाविंशातित्रिभेदाः' दोनों दार्ष्टांत और दृष्टांतोंमें जब विषमता है तब भेद शब्दको विशेषण और द्वि आदि शब्दोंको विशेष्य नहीं माना जा सकता। यदि जबरन विशेषण विशेष्य भाव माना ही जायगा तो वह इच्छानुसार होगा इसलिये इच्छानुसार होनेसे भेद शब्दका द्वि नव आदिसे पहिले प्रयोग नहीं हो सकता। और भी यह वात है कि—

विशेषण और विशेष्यमें विशेषणका पूर्व निपात होता है इस सिद्धांतके अनुसार द्वि आदि शब्दों का ही पहिले प्रयोग होगा क्योंकि यह नियम है कि जितने गुणवाचक शब्द होते हैं जातिवाचक शब्दोंके साथ उनका समास होनेपर वे सब विशेषण होते हैं। द्वि आदि शब्द गुणवाचक हैं इसलिये उन्हींका पूर्वनिपात होगा भेद शब्दका पूर्व निपात नहीं हो सकता है।

विशेष—यहां पर यह शंका न करनी चाहिये कि द्वि आदि शब्द गुणवाचक कैसे हैं? क्योंकि जहां पर गुणोंके भेद गिनाये हैं वहां पर संख्याको गुण माना है। द्वि आदिक सब संख्याके भेद हैं इसलिये द्वि नव आदिको गुणपना निर्बाध रूपसे सिद्ध है तथा गुणवाचक शब्द नियमसे विशेषण ही होते हैं क्योंकि व्याकरणका यह सिद्धांत है कि "जातिवाचकशब्दसमभिहारे गुणवाचकस्य शब्दस्य विशेषणत्वमेव नीलघटवत्" अर्थात् जातिवाची संज्ञावाची क्रियावाची और गुणवाचीके भेदसे शब्द चार प्रकारके हैं जहां पर जातिवाचक शब्दोंका गुणवाची शब्दोंके साथ समास होता है वहां पर गुणवाची शब्द

नियमसे विशेषण होते हैं जिसतरह—नीलघट इस समस्तपदमें नील शब्द नील रूपका वाचक है और घट शब्द पृथुबुध्नोदरादि आकारका वाचक है । यहां पर गुणवाचक नील शब्द विशेषण और घट विशेष्य है। इसीप्रकार द्विनवाष्टादशैकविंशातित्रिभेदा यहांपर द्वि आदि शब्द विशेषण और भेद शब्द विशेष्य है। इसलिये भेद शब्दका पहिले प्रयोग नहीं हो सकता ।

इसप्रकार यह कर्मधारय समासकी अपेक्षा कथन किया गया है परंतु 'द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रयो-भेदा येषां त इमे द्विनवाष्टादशैकविंशातित्रिभेदाः' यह यहांपर बहुव्रीहि समास भी है । यहांपर यह शंका न करनी चाहिये कि विशेष्य विशेषणोंमें विशेषणका प्रयोग पहिले होता है इसलिये इस बहुव्रीहि समासमें जब भेद शब्द विशेषण और द्वि आदि शब्द विशेष्य हैं तब भेद शब्दका पहिले प्रयोग क्यों नहीं किया गया ? क्योंकि 'सर्वनामसंख्ययोरुपसंख्यानं' अर्थात् सर्वनाम संज्ञावाचक और संख्या-वाचक जितने भी शब्द हैं (बहुव्रीहि समासमें) उनका प्रयोग पहिले ही होता है, यह व्याकरणका सिद्धांत है। इसलिये द्विनवाष्टादशेत्यादि स्थलपर द्वि आदि शब्द संख्यावाचक होनेसे उन्हींका पूर्व-निपात हो सकता है, भेद शब्दका नहीं ।

यहांपर यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रय एव भेदाः, द्विनवाष्टाद-शैकविंशतित्रिभेदाः, यह कर्मधारय समास कहा जाय तब प्रथमा विभक्तिकी जगह षष्ठीविभक्तिका विपरिणमन कर 'औपशमिकादीनां' ऐसी पूर्व सूत्रसे इस सूत्रमें अनुवृत्ति कर लेनी चाहिये और औप-शमिक आदि भावोंके दो नव आदि भेद होते हैं यह अर्थ समझ लेना चाहिये । तथा जिससमय बहुव्रीहि समास माना जाय उससमय सूत्रमें जैसा निर्देश है वैसा ही उचित है और ऊपर जो बहुव्रीहि समासके आधीन अर्थ लिखा गया है वही ठीक है ।

भेदशब्दस्य प्रत्येकं परिसमाप्तिर्भुजिवत् ॥ २ ॥

जिसतरह 'देवदत्तजिनदत्तगुरुदत्ता भोज्यंतां' अर्थात् देवदत्त जिनदत्त गुरुदत्त सभी भोजन करें, यहांपर भुजि क्रियाका सबके साथ सम्बन्ध है अर्थात् देवदत्त भोजन करो, जिनदत्त भोजन करो और गुरुदत्त भोजन करो यह अर्थ माना जाता है उसीप्रकार 'द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः' यहां पर भी भेद शब्दका संबंध प्रत्येकके साथ है अर्थात् वहां पर दो भेद नो भेद अठारह भेद इकीस भेद और तीन भेद यह अर्थ माना गया है।

यथानिर्दिष्टौपशमिकादिभावाभिसंबंधार्थं द्व्यादिक्रमवचनं ॥ ३ ॥

आनुपूर्व्य—नंबरवार जो क्रम है उसका नाम यथाक्रम है। 'औपशमिकक्षायिकौ भावौ' इत्यादि सूत्रमें औपशमिक आदि भावोंका जिस आनुपूर्वी क्रमसे उल्लेख किया गया है उसी क्रमके अनुसार द्विनव आदिका संबंध है यह प्रकट करनेकेलिये द्विनवाष्टादशेत्यादि सूत्रमें यथाक्रम शब्दका उल्लेख किया गया है। यदि यथाक्रम शब्दका सूत्रमें उल्लेख नहीं किया जाता तो द्विनव आदि भेदोंमें किस भावके कितने भेद हैं यह संदेह हो सकता था इसरीतिसे क्रमसे औपशमिक भावके दो भेद, क्षायिकके नो भेद, मिश्रके अठारह भेद, औदयिकके इकीस भेद और पारिणामिकके तीन भेद हैं यह संपूर्ण सूत्रका समुदित अर्थ है ॥ २ ॥

द्वि नव आदि संख्यावाचक शब्दोंका उल्लेख तो कर दिया गया परंतु उन द्वि आदिके वाच्य विशेष भेद कौन कौन हैं यह नहीं प्रतिपादन किया गया इसलिये सूत्रकार अब उनके भेदोंके नामका उल्लेख करते हैं। सब भावोंके भेदोंके नाम एक साथ कहे नहीं जा सकते इसलिये सब भावोंमें प्रथमोद्दिष्ट औपशमिक भावके भेदोंका उल्लेख किया जाता है—

सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥

अर्थ—औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र दो भेद औपशमिक भावके हैं।

सम्यक्त्व और चारित्रका अर्थ पहिले कहा जा चुका है। दोनों भावोंमें औपशमिकपना क्यों है? इस वातको वार्तिककार वतलाते हैं—

सप्तप्रकृत्युपशमादौपशमिकं सम्यक्त्वं ॥ १ ॥

मोहनीय कर्मके दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयके भेदसे दो भेद हैं। चारित्र मोहनीयके कषायवेदनीय और अकषायवेदनीय ये दो भेद हैं। उनमें कषायवेदनीयके अनंतानुवंधी क्रोध मान माया और लोभ ये चार भेद और दर्शनमोहनीयके सम्यक्त्व मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व ये तीन भेद इन सात प्रकृतियोंके उपशमसे औपशमिक सम्यक्त्व होता है। शंका—

सादि और अनादि दोनों प्रकारके मिथ्यादृष्टि भव्यके औपशमिक सम्यक्त्वका होना वताया गया है परंतु सदा जिसकी आत्मा कर्मोंकी कालिमासे काली रहती है उस अनादि मिथ्यादृष्टिके उक्त प्रकृतियों का उपशम कैसे हो सकता है? इस वातका वार्तिककार समाधान देते हैं—

काललब्ध्याद्यपेक्षया तदुपशमः ॥ २ ॥

१। जिस कर्मके उदयसे सम्यक्त्व गुणका मूल घात तो हो नहीं परन्तु चल मल अगाढ ये दोष उत्पन्न हो जाय वह सम्यक् प्रकृति है। जिस कर्मके उदयसे सम्यग्दर्शनका सर्वथा घातस्वरूप जीवके अतत्त्व श्रद्धान हो वह मिथ्यात्व प्रकृति है और जिस कर्मके उदयसे सम्यग्दर्शनके सर्वथा घातस्वरूप मिले हुए परिणाम हों जिनको कि न सम्यक्त्वरूप कह सकें और न मिथ्यात्वरूप कह सकें वह सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति है। यह मिश्र परिणाम भी वैभाविक भाव ही हैं।

कालल्ब्धि जातिस्मरण आदि कारणोंसे अनादि मिथ्यादृष्टि भव्यके भी उक्त प्रकृतियोंका उप-
शम होता है। उनका खुलासा स्वरूप इस प्रकार है—

कालल्ब्धिके सामान्य कालल्ब्धि कर्मस्थितिकी अपेक्षा कालल्ब्धि आदि भेद हैं। मोक्ष
होनेके लिये अर्धपुद्गलपरावर्तन मात्र काल वाकी रहै अधिक वाकी न रहै उस समय कर्मसे सदा मली-
मस अनादि मिथ्यादृष्टि भी भव्य आत्माके प्रथम सम्यक्त्व (प्रथमोशम सम्यक्त्व)के ग्रहण करनेकी
योग्यता प्रगट हो जाती है—उस समय वह अवश्य ही प्रथमोपशम सम्यक्त्वको ग्रहण कर सकता है यही
पहिली सामान्यकालल्ब्धि कही जाती है। तथा उत्कृष्ट स्थितिवाले वा जघन्य स्थितिवाले कर्मोंके
विद्यमान रहते प्रथम सम्यक्त्वके ग्रहणकी योग्यता नहीं होती किंतु आयु कर्मके विना 'घुणाक्षरन्याय-
से' अंतः कोटाकोटि सागर प्रमाण कर्म उसी कालमें वंधे हों और पहिलेके सत्तामें विद्यमान समस्त
कर्म, परिणामोंकी विशुद्धतासे—संख्यातहजार सागरोपम घाटि अंतःकोडाकोडि सागर प्रमाण हो
गये हों उस समय प्रथम सम्यक्त्व की योग्यता होती है यह दूसरी कर्मस्थितिका नामकी कालल्ब्धि
है। एक भावकी अपेक्षा भी कालल्ब्धि है उसका वर्णन आगे परिवर्तन प्रकरणमें किया जायगा।

कालल्ब्धि यहांपर जो आदि शब्द दिया गया है उससे जातिस्मरण और जिनबिंब आदिके
दर्शन आदिका ग्रहण किया गया है अर्थात् कर्ममलिन भी भव्य आत्माके जातिस्मरण वा जिनबिंब
आदिके देखनेसे उक्त प्रकृतियोंके उपशमसे औपशमिक सम्यक्त्व होता है यह नियम है। जो जीव
भव्य पंचेंद्रिय संज्ञी मिथ्यादृष्टि पर्याप्त और सर्व विशुद्ध (अनिवृत्तिकरणचरमसमयवर्ती) होगा वही
प्रथम सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है जिससमय आत्मा सम्यग्दर्शन प्राप्तिके उन्मुख हो जाता है उससमय

करणत्रय रूप परिणाम वह प्राप्त करता है उनमें अनिवृत्त करणरूप परिणामके उत्पन्न होते ही नियमसे अंतर्मुहूर्तमें सम्यक्त्व प्राप्त होता है इसे ही करणलब्धि कहते हैं किंतु इससे भिन्न जीवमें प्रथम सम्यक्त्व प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं तथा प्रथमोपशम सम्यक्त्वका काल अंतर्मुहूर्त ही है इसलिये जिस जीवके प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है उसके अंतर्मुहूर्त ही वह ठहरता है उसीकालमें वह जीव सत्तामें वैठे हुए मिथ्यात्व कर्मके तीन टुकडे कर डालता है मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति इसके पहले अनादि मिथ्यादृष्टिके पांच प्रकृतियोंका ही उपशम होनेसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है।

दर्शन मोहनीय कर्मका उपशम चारों गतियोंके अंदर होता है । नरकगतिमें पर्याप्तक नारकियोंके ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है अपर्याप्तकोंके नहीं तथा पर्याप्तक नारकियोंके भी अन्तर्मुहूर्तके वाद ही प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है अंतर्मुहूर्तके पहिले नहीं । यह नियम सातो नरकोंके नारकियोंके लिये है । रत्नप्रभा शर्कराप्रभा और वालुकाप्रभा इन तीन नरकोंके निवासी नारकियोंमें किन्हीं नारकियोंके जातिस्मरणसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व हो जाता है और किन्हींके धर्मके श्रवण करनेसे वा तीव्र वेदनासे व्याकुल होनेपर होता है । वाकी पंकप्रभा धूमप्रभा तमःप्रभा महातमःप्रभा इन चार नरकवासी नारकियोंमें किन्हींके जातिस्मरण तो किन्हींके वेदनासे अभिभूत रहने पर प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है । नीचेके चार नरकोंमें धर्मश्रवणका अवसर नहीं मिलता ।

तिर्यंचोंमें भी पर्याप्तक तिर्यंच ही प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति कर सकते हैं अपर्याप्तक नहीं तथा पर्याप्तक भी दिवस पृथक्त्व अर्थात् सात आठ दिनके वाद प्राप्त कर सकते हैं भीतर नहीं । यह नियम द्वीप समुद्रनिवासी जितने भी तिर्यंच हैं सवके लिये है । उनमें किन्हीं तिर्यंचोंके पूर्वजन्मके स्मरणसे

प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है किन्हींकें धर्मके श्रवणसे वा भगवान जिनेंद्रकी शांतिरसमय मुद्रा देखनेसे वह प्राप्त होता है।

मनुष्योंमें भी पर्याप्तक मनुष्य ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं अपर्याप्तक नहीं तथा पर्याप्तकोंमें आठ वर्षके वाद ही प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है पहिले नहीं होता। यह ढाई द्वीपनिवासी सभी मनुष्योंके लिये नियम है। उनमें वहुतसे मनुष्योंके पूर्वजन्मके स्मरणसे प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। बहुतोंके धर्मके श्रवणसे वा भगवान जिनेंद्रकी प्रतिमाके दर्शनसे उसकी प्राप्ति होती है।

देवोंमें भी पर्याप्तक ही देव प्रथमोपशम सम्यक्त्वका लाभ कर सकते हैं अपर्याप्तक नहीं। पर्याप्तकोंमें भी अंतर्मुहूर्तके बाद ही कर सकते हैं पहिले नहीं। यह उपरिम ग्रैवेयक पर्यंत जितने भी देव हैं सबके लिये नियम है। उनमें भवनवासी निकायके देवोंको आदि लेकर वारहवें स्वर्ग सहस्रार पर्यंतके देवोंके पूर्वजन्मका स्मरण धर्मका श्रवण जिनेंद्रकी महिमाका अवलोकन और देवोंकी ऋद्धियोंका निरीक्षण इन चार कारणोंसे प्रथमोपशम सम्यक्त्वका लाभ हो सक्ता है। आनत प्राणत आरण और अच्युत इन चार स्वर्गोंके निवासी देवोंके देवोंकी ऋद्धियोंके निरीक्षणके सिवाय उक्त तीन कारणोंसे प्रथमोपशम सम्यक्त्वका लाभ होता है। नव ग्रैवेयकोंमें पूर्वजन्मका स्मरण और धर्मश्रवण इन दो कारणोंसे सम्यग्दर्शन होता है। इनसे ऊपरके विमानोंके निवासी अर्थात् नव अनुदिश और पंच पचोत्तरविमानवासी देव नियमसे सम्यग्दृष्टी होते हैं। वहांपर सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके लिये किसी भी कारणकी आवश्यकता नहीं होती।

अष्टाविंशतिमोहविकल्पोपशमादौपशामिकं चारित्रं ॥ ३ ॥

अनंतानुबंधि क्रोध मान माया लोभ, अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ, प्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ, संज्वलन क्रोध मान माया लोभ इसप्रकार सोलह कषाय, हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्रीवेद पुंवेद और नपुंसक वेद ये नौ नोकषाय, एवं मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व ये तीन भेद दर्शन मोहनीयके इसप्रकार इन अट्ठाईस प्रकारके मोहनीय कर्मोंके भेदके उपशम रहनेपर औपशमिक चारित्र होता है।

सम्यक्त्वस्यादौ वचनं तत्पूर्वकत्वाच्चारित्रस्य ॥ ४ ॥

आत्मामें पहिले सम्यक्त्व पर्यायकी प्रकटता होती है पीछे चारित्र पर्यायका उदय होता है इसलिये सम्यक्त्वकी प्रकटता चारित्रसे पहिले होनेके कारण 'सम्यक्त्वचारित्रे' इस सूत्रमें सम्यक्त्व शब्दका प्रयोग पहिले किया गया है ॥ ३ ॥

क्षायिक भावको नौप्रकारका बतला आये हैं इसलिये सूत्रकार अब उन नौ भेदोंके नाम गिनाते हैं—

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥ ४ ॥

केवलज्ञान केवलदर्शन क्षायिकदान क्षायिकलाभ क्षायिकभोग क्षायिकउपभोग क्षायिकवीर्य क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र ये नव भेद क्षायिक ज्ञानके हैं। सूत्रमें जो च शब्दका ग्रहण किया गया है उससे यहां पूर्वसूत्रमें कहे गये सम्यक्त्व और चारित्रका ग्रहण है।

ज्ञानदर्शनावरणक्षयात्केवले क्षायिके ॥ १ ॥

ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मके सर्वथा नष्ट हो जानेपर जो केवलज्ञान और केवलदर्शन आत्मा में प्रगट होते हैं उन्हींका नाम यहां क्षायिकज्ञान और क्षायिक दर्शन है।

अनंतप्राणिगणानुगृहकरं सकलदानांतरायक्षयादभयदानं ॥ २ ॥

दानांतराय लाभांतराय भोगांतराय उपभोगांतराय और वीर्यांतरायके भेदसे अंतरायकर्म पांच प्रकारका माना है। उनमें दानांतराय कर्मके सर्वथा नाश होजानेपर प्रगट होनेवाला और भूत भविष्यत वर्तमान समस्त प्राणियोंका उपकार करनेवाला अभयदान क्षायिकदान है।

विशेष—यद्यपि आहार औषध शास्त्र और अभयदानके भेदसे दान चार प्रकारका है परंतु अभयदानके सिवाय तीन दान क्षायोपशमिक हैं, क्षायिक नहीं। अभयदान ही क्षायिकदान है यही केवलियोंके हो सकता है इसलिये क्षायिक भावोंमें दान शब्दके उलेखसे अन्य प्रकारके दानोंका ग्रहण न कर अभयदानको ही क्षायिक दान कहा है।

अशेषलाभांतरायनिरासात् परमशुभपुद्गलानामादानं लाभः ॥ ३ ॥

लाभांतराय कर्मके सर्वथा नष्ट हो जाने पर क्षायिक लाभ प्रगट होता है और कवलाहारके त्यागी केवली भगवानके शरीरको ज्योंका त्यों शक्तिमान रखनेवाले, केवलीके सिवाय अन्य मनुष्योंमें न होनेके कारण असाधारण परमशुभ सूक्ष्म और अनंत पुद्गलोंका जो प्रति समय केवली भगवानके शरीरके साथ संबंध करना है उसीका नाम क्षायिक लाभ है।

औदारिक शरीरकी स्थिति, विना कवलाहारके किंचिन्न्यून पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण मानी है वह इसी क्षायिक लाभके आधीन है इसलिये जो मनुष्य यह शंका करते हैं कि केवलियोंके कवलहार माने विना किंचिन्न्यून पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण स्थिति कैसे रह सकती है? वह उनका कहना निर्मूल है।

कृत्स्नभोगांतरायतिरोभावात्परमप्रकृष्टो भोगः ॥ ४ ॥

समस्त भोगांतराय कर्मके सर्वथा नष्ट हो जाने पर जो अतिशयवान अनंतभोग आत्मामें प्रगट होता है यह क्षायिकभोग है और उसके प्रगट हो जाने पर पंचवर्णमयी सुगंधित पुष्पवृष्टि, अनेक प्रकारकी दिव्य गंधवृष्टि, जहांपर केवली चरण रक्खें वहांपर सात कमलोंकी पंक्तिका होना, सुगंधित धूपका महकना और सुखकारी शीतल पवनका चलना आदि बाह्य अतिशय केवलियोंके प्रगट हो जाते हैं।

निरवशेषोपभोगांतरायप्रलयादनंतोपभोगः क्षायिकः ॥ ५ ॥

उपभोगांतराय कर्मके सर्वथा नष्ट हो जानेपर जो आत्मामें अनंत उपभोग प्रगट होता है वह क्षायिक उपभोग है। आत्मामें उपभोग भावके प्रगट हो जानेपर सिंहासन चौंसठ चमर अशोकवृक्ष तीन छत्र भामंडल गंभीर और स्निग्ध (प्रिय) वचनोंका उच्चारण करनेवाली दिव्यध्वनि और देवदुंदुभि आदि अतिशय केवलियोंके होते हैं।

वीर्यांतरायात्यंतसंक्षयादनंतवीर्यं ॥ ६ ॥

आत्माकी वास्तविक सामर्थ्यके विरोधी वीर्यांतराय कर्मके सर्वथा नष्ट हो जाने पर जो आत्मामें अनंतवीर्य प्रगट होता है उसका नाम क्षायिकवीर्य है। इस अनंतवीर्य भावके उदयसे केवलियोंके ज्ञानमें मूर्तिक अमूर्तिक समस्त पदार्थोंके जाननेकी शक्ति प्रगट हो जाती है।

पूर्वोक्तमोहप्रकृतिनिरवशेषक्षयात्सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ७ ॥

ऊपर कहे गये मिथ्यात्व आदि दर्शनमोहनीयके तीन भेदोंका और चारित्रमोहनीयके पचीस भेदों का जिससमय सर्वथा नाश हो जाता है उससमय सम्यक्त्व और चारित्र गुण आत्मामें प्रगट हो जाते

हैं। अर्थात् मोहनीय कर्मकी अट्ठाईस प्रकृतियोंमें सात प्रकृतियोंके सर्वथा क्षयसे सम्यक्त्व और पचीस भेदोंके सर्वथा नाशसे क्षायिक चारित्र होता है। ऊपर स्पष्टरूपसे सम्यक्त्व और चारित्र दोनों गुणोंकी प्रकटता वर्णन कर दी गयी है। शंका—

दानांतराय आदि कर्मोंके सर्वथा नष्ट हो जानेपर दान लाभ आदि पांचो लब्धियां जब अभय दान आदिके होनेमें कारण मानी गयी हैं तब सिद्धोंमें भी अभयदान आदि मानने चाहिये क्योंकि वहांपर भी दानांतराय आदिका सर्वथा अभाव है फिर जिसतरह अभयदान आदिका कार्य केवलियोंके दीख पडता है उसीप्रकार सिद्धोंके भी दीख पडना चाहिये? सो ठीक नहीं। अभयदान आदि भावोंके होनेमें शरीर नाम कर्मके उदय आदिकी अपेक्षा है। जहांपर शरीर आदि होंगे वहींपर अभयदान आदि रहेंगे किंतु जहांपर शरीर आदिका अभाव रहेगा वहांपर वे नहीं रह सकेंगे। केवलियोंमें अभयदान आदिके होनेमें कारण शरीर है इसलिये उनके अभयदान क्षायिकलाभ आदि भाव होते हैं सिद्ध अशरीर हैं—उनके किसी प्रकारके शरीरका संबंध नहीं इसलिये उनके अभयदान आदि कार्य नहीं हो सकते।

जिसतरह अनंतवीर्यको केवलज्ञान स्वरूप माना है उसीप्रकार अनंत अव्याबाधरूप जो सिद्धोंमें गुण माना है उसी स्वरूप अभयदान आदिको स्वीकार किया गया है अर्थात् जिसप्रकार केवलज्ञानमें ही अनंतवीर्यकी वृत्ति—सत्ता सहयोगरूपसे समाई हुई है उसीप्रकार अव्याबाधरूपसे अभयदानादिकी वृत्ति सिद्धोंमें परिगणित है। यदि कदाचित् यह शंका की जाय कि—

आगममें सिद्धत्व गुणको क्षायिक माना गया है परंतु यहांपर जो क्षायिक भावके भेद गिनाये गये हैं उनमें सिद्धत्व भावको छोड दिया है इसलिये ज्ञान दर्शन आदिके साथ सिद्धत्व नामक क्षायिक

भावको भी गिनाना चाहिये ? सो ठीक नहीं। विशेषोंसे सामान्य भिन्न पदार्थ नहीं किंतु विशेषके उल्लेखसे सामान्यका ग्रहण सुतरां हो जाता है जिसतरह पर्व-पोटरा आदि विशेषोंसे अंगुलि पदार्थ भिन्न नहीं किंतु वह पर्व आदि स्वरूप ही है इसलिये जिसप्रकार पर्व-पोटरा आदि स्वरूप ही अंगुलि पदार्थ है पर्वादिसे भिन्न अंगुलि नहीं है उसीप्रकार केवलज्ञान केवलदर्शन आदि सब क्षायिक भाव स्वरूप ही सिद्धत्व है इसरीतिसे क्षायिकभाव केवलज्ञान आदिका उल्लेख रहनेसे ही जब सिद्धत्व पर्याय का उल्लेख हो जाता है तब क्षायिक भावोंमें सिद्धत्व पर्यायके भिन्न माननेकी कोई आवश्यक्ता नहीं।

क्षायोपशमिक भावके अठारह भेद ऊपर कहे गये हैं सूत्रकार भिन्न भिन्न रूपसे उनका नाम गिनाते हैं—

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपंचभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥ ५ ॥

मति श्रुत अवधि और मनःपर्यय ये चार ज्ञान, कुमति कुश्रुत कुअवधि तीन अज्ञान (कुज्ञान) चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन अवधिदर्शन ये तीन दर्शन, क्षायोपशमिकदान क्षायोपशमिकलाभ क्षायोपशमिकभोग क्षायोपशमिक उपभोग और क्षायोपशमिक वीर्य ये पांच लब्धियां, वेदकसम्यक्त्व, सराग चारित्र और संयमासंयम (देशव्रत) इसप्रकार अठारह प्रकारका क्षायोपशमिकभाव है। इन अठारह भावोंकी प्रकटता आत्मामें कर्मोंके क्षायोपशमसे होती है

चतुरादीनां कृतद्वंद्वानां भेदशब्देन वृत्तिः ॥ १ ॥

चत्वारश्च त्रयश्च त्रयश्च पंच च चतुस्त्रित्रिपंच, ते भेदा येषां ते चतुस्त्रित्रिपंचभेदाः, यह यहांपर द्वंद्वपूर्वक बहुव्रीहि समास है। शंका—

व्याकरणशास्त्रमें द्वंद्वसमासकी अपवाद स्वरूप एक प्रकारकी 'एकशेष' समास मानी है । उसका
तात्पर्य यह है कि समान पदार्थोंका समास करनेपर एकशेष—एक पदार्थ अविशिष्ट रह जाता है और
सब पदार्थोंका लोप हो जाता है जिसतरह 'पुरुषाः' 'पुरुषश्च पुरुषश्च पुरुषश्च पुरुषाः' यह एकशेष समास
है। यहां दो पुरुष शब्दोंका लोप हो जाता है एक पुरुष शब्द अवशेष रह जाता है और उससे प्रथमाके
बहुवचनमें जस् विभक्ति लाकर 'पुरुषाः' यह रूप सिद्ध कर लिया जाता है ।चत्वारश्च त्रयश्च त्रयश्च पंच
च चतुस्त्रित्रिपंच यहांपर जो ऊपर द्वंद्व समासका उल्लेख किया गया है वहांपर उसका अपवादस्वरूप एक-
शेष समास मानलेना चाहिये और 'त्रयश्च त्रयश्च' यहांपर एक त्रि शब्दका लोपकर एकका ही उल्लेख
करना चाहिये ? सो ठीक नहीं । यदि त्रिशब्दका एक शेष मानलिया जायगा तो यह जो भिन्न भिन्न
रूपसे संख्याविशिष्ट अर्थका बोध होता है कि—अज्ञान तीन प्रकारका है दर्शन तीन प्रकारका है, यह न हो
सकेगा क्योंकि एकशेष किये जानेपर सूत्रमें एक ही त्रिशब्दका पाठ होगा वैसी अवस्थामें अर्थमें भ्रम
होनेकी संभावना है दूसरे यदि इस स्थलपर प्रधानतासे एकशेष समास ही रहता और समास न होता
तब तो कदाचित् उपर्युक्त अर्थकी संभावना कर ली जा सकती परंतु यहां तो प्रधान बहुव्रीहि समास
है । एक शेष समास मानलेनेपर भी बहुव्रीहि समासके सामने वह गौण गिना जायगा इसलिये वहांपर
त्रिशब्दका एकशेष समास मानलेने पर दो त्रिशब्दका अर्थ नहीं निकल सकता इसलिये वहां पर द्वंद्व
समास ही मानी जा सकती है एक शेष समासका संभव नहीं हो सकता । तथा—

एकशेष न कर जो त्रि शब्दका पृथक् उल्लेख किया गया है उससे ज्ञान चार प्रकार, अज्ञान
तीन प्रकार, दर्शन तीन प्रकार, लब्धि पांच प्रकार हैं, इस क्रमको सूचित करना भी प्रयोजन है । यदि

प्रथक् रूपसे त्रि शब्दका उल्लेख नहीं किया जाता तो एक ही त्रि शब्दके रहनेसे उपर्युक्त क्रमबद्ध अर्थ स्पष्ट रूपसे सिद्ध नहीं होता इसलिये उक्त क्रमिक अर्थके प्रतिपादनके लिये त्रि शब्दका दो बार उल्लेख करना सार्थक है। शंका—

यथाक्रमवचनं ज्ञानादिभिरानुपूर्व्यसंबंधार्थं ॥ २ ॥

ज्ञान चार प्रकारका अज्ञान तीन प्रकारका दर्शन तीन प्रकारका लब्धि पांच प्रकारकी है इस रूपसे ज्ञान आदि और चार संख्याओंका ऊपर क्रमसे संबंध लगाया गया माना है परंतु सूत्रमें यथाक्रम शब्दके पाठ रहने पर ही वैसा अर्थ हो सकता है। वह यथाक्रम शब्द सूत्रमें पढा नहीं गया इसलिये उपर्युक्त क्रम ठीक नहीं माना जा सकता। सो ठीक नहीं। यदि कोई शब्द किसी सूत्रमें न हो तो पूर्व सूत्रसे उसकी अनुवृत्ति कर ली जाती है। यद्यपि इस सूत्रमें यथाक्रम शब्दका उल्लेख नहीं है तथापि द्विनवाष्टदशेत्यादि पूर्व सूत्रमें उसका पाठ है इसलिये उसकी इस सूत्रमें अनुवृत्ति आ जाने पर उपर्युक्त क्रमिक अर्थमें बाधा नहीं पहुंच सकती। किस कर्मके क्षय और किस कर्मके उपशमसे क्षायोपशमिक भाव होता है वार्तिककार इसका खुलासा करते हैं——

सर्ववातिस्पर्धकानामुदयक्षयात्तेषामेव सदुपशमाद्देशघातिस्पर्धकानामुदये क्षायोपशमिको भावः ॥ ३ ॥

स्पर्धकोंके दो भेद माने हैं एक देशघाति स्पर्धक, दूसरा सर्वघातिस्पर्धक। जिस समय आत्मामें सर्वघाति स्पर्धकका उदय रहता है उससमय अंशमात्र भी आत्मिक गुणकी प्रकटता नहीं रहती इसलिये उसके उदयका सर्वथा अभाव हो जाना क्षय है और उसी सर्वघाती स्पर्धकोंकी शक्तिका अप्रकटतासे उदयमें न आकर जो सत्तामें स्थित रहना है उसका नाम उपशम है। इसप्रकार सर्वघाति स्पर्धकोंका

उदयाभाव क्षय और (उपशम) एवं देशघाती स्पर्धकोंके उदय रहने पर सर्व घातियोंके अभावसे जो भाव आत्माके अंदर प्रकट होता है वह क्षायोपशमिक भाव है। वार्तिककार स्पर्धकका खुलासा अर्थ बतलाते हैं——

अविभागपरिच्छिन्नकर्मप्रदेशरसभागप्रचयपांक्तिक्रमवृद्धिः क्रमहानिः स्पर्धकं ॥ ४ ॥

जो कर्म उदय प्राप्त है उसके प्रदेश अभव्योंसे अनंतगुणे और सिद्धोंके अनंतवें भाग प्रमाण हैं। उनमें सबसे जघन्य गुणवाला प्रदेश ग्रहण किया उसके अनुभाग—रसके वहांतक बुद्धिसे टुकडे कर डाले जिससे फिर उनका विभाग न हो सके उन टुकडोंका नाम अविभाग प्रतिच्छेद है ऐसे अविभाग प्रतिच्छेद जीवराशिसे अनंतगुणे माने हैं उस जघन्य अविभाग प्रतिच्छेदवाले प्रदेशोंके परमाणुओंकी एक राशि बनाई उसीप्रकार फिर जघन्य गुणवाला दूसरा प्रदेश लिया मिलाकर फिर एक राशि करली। इसीप्रकार आगे भी इन्हीं देशोंके समान सर्वजघन्य गुणवाले जितने भी प्रदेश हैं उन सबके अनुभागोंके बुद्धिसे ऐसे टुकडे कर लिये गये जिनका फिर विभाग न हो सके उन सब अविभाग प्रतिच्छेदोंको अपने अपने प्रदेशोंके साथ मिलाकर राशियां कर लीं इसप्रकार उन समान अविभाग प्रतिच्छेदोंके धारक प्रत्येक कर्म प्रदेश (परमाणु) की वर्गसंज्ञा है और वर्गोंके समूहका नाम वर्गणा है।

पहिले जो सर्व जघन्य गुणवाले प्रदेशको ग्रहण किया था उससे अब एक अविभाग प्रतिच्छेद अधिक प्रदेशको ग्रहण किया। उसके पहिलेके ही समान बुद्धिसे टुकडे किये। उन जीव राशिसे अनंतगुणे अविभाग प्रतिच्छेदोंके समान अंश धारण प्रदेशोंकी एक राशि की। उसीप्रकार एक अविभाग प्रतिच्छेद अधिक दूसरा प्रदेश ग्रहण किया और उसे भी वैसा ही किया इसप्रकार जितने भी एक अविभाग

प्रतिच्छेद अधिक प्रदेश थे उनको वैसे ही किया और राशियां करलीं। उन समान अविभाग प्रतिच्छेदों की धारक प्रत्येक कर्मके प्रदेशकी वर्ग संज्ञा है और वर्गोंका समूह वर्गणा है।

इसप्रकार ये पंक्तियां वहांतक करते चले जाना चाहिये जहांतक एक अविभाग प्रतिच्छेद अधिकका लाभ होता चला जाय किंतु जहांपर वह अविभाग प्रतिच्छेदका अधिकपना समाप्त हो जाय बस वहींपर विशेषरहित (समान) क्रमवृद्धि और क्रमहानियुक्त जितनी भी वे सब पंक्तियां हैं उन समस्त पंक्तियोंका समुदाय एक स्पर्धक कहा जाता है।

यहांपर यह समझ लेना चाहिये कि जहां जाकर उस एक अंश अधिक अविभाग प्रतिच्छेदकी समाप्ति हो जाती है वहांसे आगे फिर दो तीन चार संख्याते असंख्याते अविभाग प्रतिच्छेद नहीं मिलते नियमसे अनंतगुणे ही मिलते हैं।

उन अनंतगुणे अधिक अविभाग प्रतिच्छेदोंके धारक प्रदेशोंमें भी सर्व जघन्य गुणवाले प्रदेशको ग्रहण किया उसके अनुभागके पहिलेके समान अविभाग प्रतिच्छेद किए। उसीके समान दूसरा प्रदेश ग्रहण किया उसके अनुभागके भी वैसे ही अविभाग प्रतिच्छेद किये इसीप्रकार जितने भी उतने प्रमाणवाले प्रदेश हैं उन सबोंके अनुभागोंके पहिलेके समान अविभाग प्रतिच्छेद किये और राशियां बना डालीं उन समान अविभाग प्रतिच्छेदोंके धारक प्रत्येक प्रदेशका नाम वर्ग है और वर्गोंके समूहका नाम वर्गणा है। इसके बाद एक अविभाग प्रतिच्छेद अधिक प्रदेश ग्रहण किया और उसके अनुभागके पहिलेके समान अविभाग प्रतिच्छेद कर राशि करली उसीप्रकार उसीके समान दूसरा प्रदेश भी ग्रहण किया और उसके अनुभागके वैसे ही अविभाग प्रतिच्छेद कर राशि कर ली इसप्रकार जितने भी प्रदेश उसी परि-

माणवाले हैं उन सर्वोंके अनुभागोंके पहिलेके समान अविभाग प्रतिच्छेदकर राशियां करलीं, उन समान अविभाग प्रतिच्छेदोंके धारक प्रत्येक प्रदेशका नाम वर्ग और उनके समूहका नाम वर्गणा है। इसरीतिसे ये पंक्तियां वहांतक करते चले जाना चाहिये जहां पर एक अधिककी समाप्ति हो बस जहां पर उस एक अधिककी समाप्ति हो जाय वहींपर समान और क्रमवृद्धि एवं क्रम हानि युक्त जितनी भी पंक्तियां हों उन पंक्तियोंका नाम दूसरा स्पर्धक है।

इसीप्रकार एक अधिककी समाप्ति हो जाने पर अनंतगुणे अविभाग प्रतिच्छेद विशिष्ट प्रदेश मिलेंगे वहांपर भी एक अधिकका क्रम जारी करने पर जब उसकी समाप्ति हो जायगी उससमय अनंतगुणे अविभाग प्रतिच्छेदयुक्त प्रदेश मिलेंगे वहां पर भी पहिलेके समान सब व्यवस्था मानी जायगी इसरीतिसे जहां जहां एक अधिककी समाप्तिका अंतर पडता जाय वहीं वहीं पर स्पर्धक मानना चाहिये । ऐसे ही ऐसे प्रमाणवाले स्पर्धक अभव्योंसे अनंतगुणे और सिद्धोंके अनंतभाग प्रमाण हैं । इन समस्त स्पर्धकोंका समुदाय एक उदयस्थान कहलाता है । इसका खुलासा इतनेमें समझ लेना चाहिये कि जिन कर्म परमाणुओंमें सबसे जघन्य फलदान शक्ति है उसकी संज्ञा एक अविभाग प्रतिच्छेद मान लेना चाहिये, वैसे समान—एक अविभाग प्रतिच्छेद शक्तिवाले जितने कर्म परमाणु होंगे वे सब भिन्न भिन्न वर्गोंके नामसे कहे जाते हैं उन समान शक्ति धारक वर्गों (परमाणुओं) का समूह एक वर्गणा कहलाती हैं, इस एक वर्गणामें अनंते परमाणु होते हैं । अब एक अविभाग प्रतिच्छेदसे ऊपर एक अधिक और अर्थात् दो अविभाग प्रतिच्छेदरूप शक्तिवाले समान कर्म परमाणुओंका पिंड दूसरी वर्गणा कहलाती है इसीप्रकार तीन चार पांच एक एक अधिक शक्तिवाले परमाणु समूहोंकी भिन्न भिन्न वर्गणाएं होती जाती हैं वे सब

क्रमसे अधिक शक्तिधारक परमाणु वर्गणाएं मिलकर स्पर्धक कही जाती हैं, फिर दूसरी वर्गणा तव बनेगी जब कि एक साथ अनंतगुणे अविभाग प्रतिच्छेद अधिक शक्तिवाले समान परमाणुओंका पिंड होगा। फिर उससे एक एक अधिक शक्तिवाले परमाणुओंकी दूसरी तीसरी आदि वर्गणाएं होंगी उनका पिंड दूसरा स्पर्धक होगा यही क्रम आगे जानना चाहिये।

तत्र ज्ञानं चतुर्विधं क्षायोपशमिकमाभिनिबोधकज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं चेति ॥ ५ ॥

वीर्यांतराय श्रुतज्ञानावरण और मतिज्ञानावरण कर्मोंके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय होने पर और सत्तामें उपशम रहनेपर तथा देशघाति स्पर्धकोंके उदय रहनेपर क्षायोपशमिक मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं। तथापि देशघाति स्पर्धकोंका अनुभाग अधिक और अल्परूपसे होता है इसलिये गुणोंके घातनेमें भी कहींपर अधिकता और कहींपर अल्पता हो जाती है जहांपर आत्माके ज्ञानगुणका अधिकतासे घात है वहांपर अधिकज्ञान और जहांपर कुछ अल्पतासे घात है वहांपर स्वल्पज्ञान होता है इसीतरह श्रुतज्ञानकी अपेक्षा जहां कुछ अधिकतासे घात है वहां अल्पश्रुतज्ञान जहां स्वल्पतासे घात है वहां अधिकश्रुतज्ञान होता है इसीप्रकार अवधि मनःपर्यय क्षायोपशमिक ज्ञानोंमें भेद समझना चाहिये।

वीर्यांतराय और अवधिज्ञानावरण कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय होनेपर और सत्तामें उपशम रहनेपर तथा देशघाती स्पर्धकोंके उदय रहने पर क्षायोपशमिक अवधिज्ञान होता है और वीर्यांतराय एवं मनःपर्ययज्ञानावरण कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय रहनेपर और सत्तामें उपशम रहनेपर तथा देशघाती स्पर्धकोंके उदय रहनेपर मनःपर्ययज्ञान होता है। इसप्रकार मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इसप्रकार क्षायोपशमिकज्ञानके चार भेद हैं।

अज्ञानं त्रिविधं मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभंगं चेति ॥ ६ ॥

मतिअज्ञान श्रुतअज्ञान और विभंगज्ञानके भेदसे अज्ञान तीन प्रकारका है। इनको क्षायोपशमिक-
पना मतिज्ञान आदिके समान समझ लेना चाहिये। यहांपर यह शंका न करनी चाहिये कि ज्ञानके ज्ञान
और अज्ञान ये दो भेद कैसे होगये ? क्योंकि जिससमय आत्मामें मिथ्यात्व कर्मका उदय रहेगा उस
समय उसके साथ एक जगह रहनेसे ज्ञान मिथ्या कहा जायगा और जिससमय आत्मामें मिथ्यात्व
कर्मका उदय न रहेगा उससमय ज्ञानका संबंध मिथ्यात्वके साथ न रहनेके कारण वह सम्यग्ज्ञान ही रहेगा
इसका खुलासा वर्णन ऊपर कर दिया जा चुका है।

दर्शनं त्रिविधं क्षायोपशमिकं चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं चेति ॥ ७ ॥

चक्षु दर्शन अचक्षु दर्शन अवधिदर्शनके भेदसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन तीन प्रकारका है।
वीर्यांतराय और चक्षुर्दर्शनावरणके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय रहनेपर और सत्तामें उपशम
रहनेपर तथा देशघाती स्पर्धकोंके उदय होनेपर चक्षुर्दर्शन होता है। वीर्यांतराय और अचक्षुर्दर्शना-
वरणके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय रहनेपर और सत्तामें उपशम रहनेपर तथा देशघाती
स्पर्धकोंके उदय रहनेपर अचक्षुर्दर्शन होता है। एवं वीर्यांतराय और अवधिदर्शनावरण कर्मके सर्वघाती
स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय रहनेपर वा सत्तामें उपशम रहनेपर तथा देशघाती स्पर्धकोंके उदय रहनेपर
अवधिदर्शन होता है।

लब्धयः पंच क्षायोपशमिकाः दानलब्धिर्लाभलब्धिर्भोगलब्धिरुपभोगलब्धिर्वीर्यलब्धिश्चेति ॥ ८ ॥

दानलब्धि लाभलब्धि भोगलब्धि उपभोगलब्धि और वीर्यलब्धिके भेदसे लब्धियां पांच हैं।

दानांतराय कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय रहनेपर और सत्तामें उपशम रहनेपर और देश-घाती स्पर्धकोंके उदय रहने पर दानलब्धि होती है। लाभांतरायकर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय रहनेपर और सत्तामें उपशम रहनेपर तथा देशघाती स्पर्धकोंके उदय रहनेपर लाभलब्धि होती है। इसीतरह भोगांतराय आदि कर्मोंके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय रहनेपर और सत्तामें उपशम रहनेपर तथा देशघाती स्पर्धकोंके उदय रहनेपर भोग आदि लब्धियां होती हैं।

सूत्रमें जो सम्यक्त्व पद दिया है उससे यहां वेदक सम्यक्त्वका ग्रहण है वही क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहा जाता है। अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन सर्वघाती छह प्रकृतियोंके उदयाभावी क्षय और सत्तामें उपशम रहनेपर तथा देशघाती सम्यक्त्व प्रकृतिके उदय रहनेपर जो तत्त्वार्थ श्रद्धान है वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहा जाता है। अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ, अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ, प्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ इन बारह कषाय रूप सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय रहनेपर और सत्तामें उपशम रहनेपर तथा देशघाती संज्वलन क्रोध मान माया लोभोंमेंसे किसी एकके उदय रहनेपर और हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्री-वेद पुंवेद और नपुंसकवेद इन नव नोकषायोंके यथासंभव उदय रहनेपर आत्माका जो निवृत्तिरूप परिणाम है वह क्षायोपशमिक चारित्र है। यहांपर संज्वलन कषायादिकका जितने अंशोंमें उदय है उतने अंशोंमें चारित्रका घात ही समझना चाहिये परंतु क्षायोपशमिक चारित्र पूर्ण चारित्र नहीं है इस-लिये उक्त कर्मोंका उदय रहता ही है परंतु जो चारित्रके बाधक कर्म हैं उनका उपशम रहना जरूरी है। तथा अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ इन आठ कषायरूप

उदय रहनेपर आत्माका कुछ विरत कुछ अविरत मिश्ररूप जो परिणाम है वह संयमासंयम नामका क्षायोपशामिक भाव है। शंका—

सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षय रहनेपर तथा सत्तामें उपशम रहनेपर, प्रत्याख्यानकषायके उदय रहनेपर देशघाती संज्वलन कषायरूप स्पर्धकोंके उदय रहनेपर एवं उक्त नव नोकषायोंके यथासंभव

संज्ञित्वसम्यग्मिथ्यात्वयोगोपसंख्यानमिति चेन्न ज्ञानसम्यक्त्वलब्धिगृहणेन गृहीतत्वात् ॥ ९ ॥

उस उस कर्मके क्षय और उपशमसे जो भाव होते हैं वे क्षायोपशामिक भाव कहे जाते हैं। क्षायो-
पशमिक भावके मतिज्ञान आदि अठारह भेद सूत्रकारने वतलाये हैं परंतु कर्मोंके क्षय और उपशमसे
संज्ञित्व सम्यग्मिथ्यात्व और योग भी होते हैं इसलिये क्षायोपशामिक भाव होनेसे इनका भी सूत्रमें उल्लेख
करना चाहिये? सो ठीक नहीं। मतिज्ञान आदि जो क्षायोपशामिक भावके भेद कहे गये हैं उन्हींमें संज्ञित्व
आदिका अंतर्भाव हो जाता है और वह इसप्रकार है—

संज्ञित्वका अर्थ मन विशिष्टपना है। जिस मतिज्ञानमें नोइंद्रियावरण कर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा
रहेगी उस मतिज्ञानमें संज्ञित्व भावका समावेश है। पंचेंद्रिय सैनी जीवके जो मतिज्ञान होगा उसमें नो-
इंद्रियावरण कर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा है इसलिये सैनी पंचेंद्रियके मतिज्ञानमें संज्ञित्वका अंतर्भाव है।
संज्ञित्वभावके जुदे गिनानेकी कोई आवश्यकता नहीं। सूत्रमें जो सम्यक्त्व नामका क्षायोपशामिक भाव
गिनाया गया है उसमें सम्यग्मिथ्यात्व भावका समावेश है क्योंकि जिसप्रकार जलविशिष्ट भी दूधका
संसारमें 'दूध' व्यवहार प्रसिद्ध है अर्थात् मिले हुए भी दोनों पदार्थोंमें दूधका ही ग्रहण होता है उसी
प्रकार सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनोंका मिश्ररूप पदार्थ सम्यग्मिथ्यात्व है इसका भी सम्यक्त्वके नामसे

ग्रहण हो सकता है इसरीतिसे सम्यक्त्वके ग्रहणसे जब सम्यग्मिथ्यात्वका ग्रहण युक्तिसिद्ध है तब उसे जुदा क्षायोपशमिक भाव गिनाना ठीक नहीं। योगको वल माना गया है। वल और वीर्य दोनों एक चीज है इसलिये क्षायोपशमिक भावोंमें ग्रंथकारने वीर्यलब्धि भाव गिनाया है उसमें ही योग भावका समावेश हो जाता है उसके जुदे गिनानेकी कोई आवश्यकता नहीं।

अथवा ज्ञानाज्ञानेत्यादि सूत्रमें 'च' शब्दका ग्रहण है। चशब्दका व्याकरणशास्त्रके अनुसार समुच्चय अर्थ भी होता है इसलिये जितने क्षायोपशमिक भावोंका सूत्रमें उल्लेख नहीं किया गया है चशब्द से उनका समुच्चय कर लेना चाहिये। शंका—

संज्ञी और असंज्ञीके भेदसे पंचेंद्रिय जीव दो प्रकारके माने हैं। जिन जीवोंके नोइंद्रियावरण कर्मका क्षयोपशम है वे संज्ञी कहे जाते हैं और जिनके उसका क्षयोपशम नहीं वे असंज्ञी कहे जाते हैं परंतु पंचेंद्रियपनेके, सबमें समानरूपसे रहने पर किसीके नोइंद्रियावरण कर्मका क्षयोपशम होता है किसीके नहीं होता है यह भेद कैसे हो जाता है? उसका उत्तर यह है कि—एकेंद्रिय जाति आदिको नाम कर्म माना है इसलिये जिसप्रकार जहांपर एकेंद्रिय जातिका उदय रहता है वहांपर एकेंद्रिय जाति नामकर्मका क्षयोपशम रहता है और जहांपर दो इंद्रिय आदि जातियोंका सद्भाव रहता है वहां पर दो इंद्रिय जाति आदि नाम कर्मोंका क्षयोपशम रहता है उसीप्रकार संज्ञिजातिको भी नामकर्म माना है और जहांपर उसका सद्भाव रहता है वहीं पर नोइंद्रियावरण कर्मका क्षयोपशम रहता है अन्यत्र नहीं संज्ञी पंचेंद्रिय जीवोंमें संज्ञि नामकर्मका क्षयोपशम है इसलिये उन्हींके नोइंद्रियावरण कर्मका क्षयोपशम है। असंज्ञी पंचेंद्रियोंके संज्ञि नाम कर्मका क्षयोपशम नहीं इसलिये उनके उसका क्षयोपशम नहीं ॥ ५ ॥

ऊपर औदयिक भावको इक्कीस प्रकार बतला आए हैं सूत्रकार अब उन भेदोंको गिनाते हैं—

**गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतु-
स्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥ ६ ॥**

मनुष्यगति देवगति नरकगति और तिर्यंचगति ये चार गति, क्रोध मान माया लोभ ये चार कषाय, स्त्रीवेद पुंवेद नपुंसकवेद ये तीन लिंग, मिथ्यादर्शन अज्ञान असंयम असिद्धत्व एवं पीत पद्म शुक्ल कृष्ण नील और कापोत ये छह लेश्या ये सब मिला कर इक्कीस भेद औदयिक भावके हैं।

गतिश्च कषायश्च लिंगं च मिथ्यादर्शनं च अज्ञानं च असंयतश्च असिद्धश्च लेश्याश्च, गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याः। यह यहांपर इतरेतरयोग द्वंद्वसमास है। चत्वारश्च चत्वारश्च त्रयश्च एकश्च एकश्च एकश्च एकश्च षट् च 'चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषट्' ते भेदा येषां ते चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः। यह यहां पर द्वंद्वपूर्वक बहुव्रीहि समास है। इस समासमें यहां पर दो वार चतुर शब्दका प्रयोग और चार वार एक शब्दका प्रयोग करनेसे यह शंका हो सकती है कि यहांपर द्वंद्वसमासका अपवाद स्वरूप एक शेष समास होना चाहिये। परंतु इसका समाधान ज्ञानाज्ञानेत्यादि सूत्रमें विस्तारसे दे दिया गया है वही यहांपर समझ लेना चाहिये इसलिये यहां पर एक शेष समास नहीं किया गया। वार्तिककार गति आदि शब्दोंका अब खुलासा अर्थ लिखते हैं—

गतिनामकर्मोदयादात्मनस्तद्भावपरिणामाद्गतिरौदयिकी ॥ १ ॥

जिस कर्मके उदयसे आत्मा नारकी आदि हो वह गति नामका नाम कर्म है और वह नरकगति तिर्यग्गति मनुष्यगति और देवगतिके भेदसे चार प्रकारका है। नरकगति नामक नामकर्मके उदयसे

आत्माका नारकी होना नारक नामका औदयिकभाव है। तिर्यग्गति नामक नामकर्मके उदयसे आत्माका तिर्यंच होना तिर्यक् नामका औदयिक भाव है। मनुष्यगति नामक नामकर्मके उदयसे आत्माका मनुष्य होना मनुष्य नामका औदयिकभाव है और देवगति नामक नाम कर्मके उदयसे आत्माका देव हो जाना देव नामका औदयिकभाव है। इसप्रकार गतिसामान्य नामकर्मके उदयसे आत्माका भिन्न भिन्न देव आदि गतिस्वरूप परिणत होना सामान्यगति नामका औदयिकभाव कहा जाता है।

चारित्रमोहोदयात्कलुषभावः कषाय औदयिकः ॥ २ ॥

आत्माको जो कषे विपरिणमावे उसका नाम कषाय है। कषायवेदनीय नामक चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे आत्माका जो क्रोध आदि कलुषतारूप परिमन होता है वह कषाय नामका औदयिक भाव है। उसके क्रोध मान माया लोभ ये चार भेद हैं और उनके अनंतानुबंधी अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान और संज्वलन ये भेद हैं।

वेदोदयापादितोऽभिलाषविशेषो लिंगं ॥ ३ ॥

स्त्री आदि वेदोंके उदयसे स्त्रीको पुरुषके साथ, पुरुषको स्त्रीके साथ और नपुंसकको स्त्री पुरुष दोनोंके साथ रमण करनेकी जो इच्छा हो जाना उसका नाम, लिंग है। वह लिंग दो प्रकारका है एक द्रव्यलिंग दूसरा भावलिंग। नामकर्मके उदयसे होनेवाले वाह्य रचना विशेषका नाम द्रव्यलिंग है। वह पुद्गल का परिणाम है और यहांपर आत्माके परिणामोंका प्रकरण चल रहा है इसलिये सूत्रमें जो लिंग शब्दका उल्लेख किया गया है उसका अर्थ द्रव्यलिंग नहीं लिया जा सकता किंतु आत्माका परिणाम स्वरूप भावलिंग है। वह भावलिंग स्त्री पुरुष और नपुंसक तीनोंकी आपसमें रमण करनेकी इच्छारूप है और

नोकषायरूप चारित्र मोहनीयके उदयसे एवं स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुंसकवेदके उदयसे उसकी प्रकटता होती है इसलिये भावलिंग औदयिकभाव है।

दर्शनमोहोदयात्तत्त्वार्थाश्रद्धानपरिणामो मिथ्यादर्शनं ॥ ४ ॥

जीव आदि पदार्थोंका श्रद्धान करना आत्माका स्वभाव है और उस स्वभावका विघात करनेवाला दर्शन मोहनीयकर्म है। दर्शन मोहनीयकर्मके उदयसे प्रथमाध्यायमें कहे गये जीव अजीव आदिका वास्तविक रूपसे श्रद्धानका न होना मिथ्यादर्शन नामका औदायिक भाव है।

ज्ञानावरणोदयादज्ञानं ॥ ५ ॥

मेघपटलसे आच्छन्न हो जानेपर तेज स्वभाववाले भी सूर्यका तेज जिसप्रकार प्रगट नहीं होता उसीप्रकार ज्ञानावरण कर्मके उदय रहने पर ज्ञानस्वरूपवाले भी आत्माके जो ज्ञानगुणका प्रगट न होना है अर्थात् अज्ञान बना रहना है वह अज्ञान औदयिक भाव है। इसका खुलासा इसप्रकार है——

जो जीव एकेंद्रिय हैं उनके रसनेंद्रियजन्य सर्वघातिस्पर्धक रूप मतिज्ञानावरण कर्मके उदयसे रसका, घ्राणेंद्रियजन्य सर्वघाति स्पर्धकरूप मतिज्ञानावरण कर्मके उदयसे गंधका, श्रोत्रेंद्रियजन्य सर्वघाति स्पर्धकरूप मतिज्ञानावरण कर्मके उदयसे शब्दका और चक्षुरिंद्रियजन्य सर्वघाति स्पर्धकरूप मतिज्ञानावरण कर्मके उदयसे रूपका ज्ञान नहीं होता इसलिये उनके वह रस आदिका अज्ञान औदयिक भाव है। जो जीव दो इंद्रिय हैं उनके घ्राण आदि इन्द्रियजन्य भिन्न भिन्न सर्वघाति स्पर्धक स्वरूप मतिज्ञानावरण कर्मके उदयसे गंधादिका ज्ञान नहीं होता इसलिये उनका वह गंध आदिका अज्ञान औदयिक भाव है। जो जीव तेइंद्रिय हैं उनके श्रोत्र आदि इंद्रिय सर्वघाति स्पर्धक स्वरूप भिन्न भिन्न मतिज्ञानावरण कर्मके

उदयसे शब्द आदिका ज्ञान नहीं होता इसलिये उनका वह शब्द आदिका अज्ञान औदयिकभाव है।

शुक और सारिका आदि पक्षी जो कि स्पष्ट रूपसे अक्षरोंका उच्चारण कर सकते हैं उन्हें छोडकर तिर्यंचोंमें तथा जो स्पष्टरूपसे अक्षरोंका उच्चारण नहीं कर सकते ऐसे कुछ मनुष्योंमें सर्वघाति स्पर्धक स्वरूप अक्षर श्रुतावरण कर्मके उदयसे अक्षरात्मक श्रुतकी रचना नहीं होती इसलिये उनका अक्षर श्रुतका अज्ञान औदयिकभाव है।

तथा असंज्ञित्व भाव भी औदयिक भाव है। यद्यपि औदयिक भावके भेदोंकी गणना करते समय उसका उल्लेख नहीं किया गया है तथापि अज्ञानभावके अंदर ही उसका अंतर्भाव है क्योंकि सर्व-घाति स्पर्धकस्वरूप नो इंद्रियावरण कर्मके उदय रहनेपर कौन पदार्थ हितकारी है और कौन अहित-कारी है इसप्रकार परीक्षा करनेकी शक्तिका न रखना ही असंज्ञित्व है और वह अज्ञान स्वरूप ही है इसलिये यहां असंज्ञित्व नामक औदयिक भावकी पृथक् उल्लेख करनेकी आवश्यकता नहीं।

इसीतरह सर्वघाति स्पर्धकस्वरूप अवधिज्ञानावरण कर्मके उदय रहनेपर जो अवधिज्ञानके विषय भूत पदार्थोंका न जानना रूप अज्ञान है वह औदयिक भाव है। सर्वघाति स्पर्धकरूप मनःपर्यय ज्ञाना-वरण कर्मके उदय रहनेपर मनःपर्ययज्ञानके विषयभूत पदार्थोंका अज्ञान भी औदयिक भाव है। तथा सर्वघाती स्पर्धकस्वरूप केवल ज्ञानावरणकर्मके उदय रहनेपर केवलज्ञानके विषयभूत पदार्थोंका अज्ञान भी औदयिक भाव है।

चारित्रमोहोदयादनिवृत्तिपरिणामोऽसंयतः ॥ ६ ॥

सर्वघाति स्पर्धकस्वरूप चारित्र मोहनीयकर्मके उदयसे असंयत नामका औदयिक भाव होता है

और उसका अर्थ जीवोंका मारना और स्पर्श रस आदि इंद्रियोंके विषयोंमें राग और द्वेषका रखना है। अर्थात् आत्मामें असंयत भावके उदयसे जीवोंके मारनेमें और स्पर्श रस आदि इंद्रियोंके विषयोंमें सदा राग और द्वेष बना रहता है। उसकी निवृत्ति नहीं होती।

कर्मोदयसामान्यापेक्षोऽसिद्धः ॥ ७ ॥

अनादिकालसे कर्मोंके पराधीन आत्माके सामान्य रूपसे समस्त कर्मोंके उदय रहनेपर असिद्धत्व पर्याय होती है। उनमें मिथ्यादृष्टिगुणस्थानको आदि लेकर सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानपर्यंत जीवोंके आठो कर्मोंके उदयसे असिद्धत्व भाव होता है। उपशांतकषाय और क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती जीवोंके मोह-नीय कर्मोंके सिवा सात कर्मोंके उदयसे असिद्धत्वभाव होता है और सयोग एवं अयोग केवलीके वेद-नीय आयु नाम और गोत्र इन चार अघातिया कर्मोंके उदयसे असिद्धत्व भाव होता है इसप्रकार कर्म-सामान्यके उदय रहनेपर असिद्धत्वभावके होनेपर वह औदयिक भाव है।

कषायोदयरंजिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या ॥ ८ ॥

क्रोध आदि कषायोंके उदयसे रंगी हुई जो मन वचन और कायरूप योगोंकी प्रवृत्ति है उसका नाम लेश्या है। वह लेश्या द्रव्यलेश्या और भावलेश्याके भेदसे दो प्रकारकी है। यहांपर आत्माके भावों का प्रकरण चलरहा है इसलिये सूत्रमें जो लेश्या शब्द है उससे आत्माके भावस्वरूप भावलेश्याका ही ग्रहण है द्रव्यलेश्याका नहीं क्योंकि जिन कर्मोंका विपाक पुद्गलद्रव्यके अंदर होता—अर्थात् शरीर आदि पुद्गलद्रव्यको फल भोगना पडता है उन पुद्गलविपाकी कर्मोंके उदयसे द्रव्यलेश्याकी उत्पत्ति होती है इस-लिये द्रव्यलेश्या आदिक भाव न होनेके कारण उसका ग्रहण नहीं। शंका—

आत्माके प्रदेशोंकी हलन चलन रूप क्रियाका नाम योगप्रवृत्ति है वह वीर्यलब्धि स्वरूप ही है
क्योंकि जिस योगके द्वारा आत्मामें हलन चलन होगा उस योगके योग्य वीर्यका रहना आत्मामें आव-
श्यक है और उस वीर्यलब्धिको ऊपर क्षायोपशमिक भाव बता दिया गया है तथा कषायको औदयिक
भावोंमें गिनाया गया है। उस वीर्यलब्धि और कषायोंसे भिन्न लेश्या कोई पदार्थ नहीं फिर उसका सूत्र
में पृथक् उल्लेख करना व्यर्थ है? सो ठीक नहीं। कषायके उदयकी तीव्र और मंद अवस्थाकी अपेक्षा
कषाय और लेश्याओंमें आपसमें भेद है इसरीतिसे जब कषाय और लेश्या भिन्न भिन्न पदार्थ सिद्ध हैं
तब औदयिक भावोंमें लेश्याओंका पृथक्रूपसे गिनाना अयुक्त नहीं।

वह लेश्या कृष्ण नील कपोत पीत पद्म और शुक्लके भेदसे छह प्रकारकी है। यद्यपि लेश्या एक ही
पदार्थ है तथापि आत्माके परिणामकी विशेष अशुद्धिकी अपेक्षा उसके कृष्णलेश्या आदि व्यावहारिक
नाम हैं अर्थात् जहांपर आत्मपरिणामोंमें हद दर्जेकी कालिमा रहेगी वहांपर कृष्णलेश्या यह व्यवहार
होगा। जहांपर उससे कुछ कम कालिमा रहेगी वहांपर नीललेश्या व्यवहार होगा। जहांपर उससे भी
कम रहेगी वहांपर कपोतलेश्या, उससे भी कम रहनेपर पीतलेश्या उससे भी कम रहनेपर पद्मलेश्या और
बहुत कम रहनेपर शुक्ललेश्या यह व्यवहार होगा। शंका—

उपशांतकषाय गुणस्थानवर्ती क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती और सयोगकेवलियोंके शुक्ललेश्या होती

१। इसका चित्रमय दृष्टांत जगह जगह मंदिरोंमें वर्तमानमें दीख पड़ता है। चित्रमें छह लेश्याओंके स्थान पर छ मनुष्य
रक्खे गये हैं और एक फलसंयुक्त वृक्ष बनाकर फलोंके खानेकेलिये उन छहो मनुष्योंके उत्तरोत्तर कालिमाकी कमीको लिये हुए
जुदे जुदे भावोंका दिग्दर्शन कराया गया है।

है ऐसा आगमका वचन है। परंतु वहांपर कषायोंके उपशांत वा सर्वथा क्षीण हो जानेसे उसके द्वारा अनुरंजन हो नहीं सकता इसलिये लेश्या सामान्य औदायिक भाव नहीं कहा जा सकता ? सो ठीक नहीं। नैगमनयका एक पूर्वभावप्रज्ञापन भेद माना है और जो बात पहिले थी किंतु वर्तमानमें नहीं है उसका वर्तमानमें होना मान लेना यह उस नयका विषय है। यद्यपि उपर्युक्त तीनों गुणस्थानोंमें योगोंकी प्रवृत्ति कषायोंसे अनुरंजित नहीं है तथापि पूर्वभावप्रज्ञापननयकी अपेक्षा जो पाहिले योगोंकी प्रवृत्ति कषायोंसे अनुरंजित थी वह अब भी है ऐसा उपचारसे मान लिया जाता है इसरीतिसे उपशांत कषाय क्षीणकषाय और सयोगकेवलीगुणस्थानोंमें होनेवाली शुक्लेश्यामें भी जब लेश्याका लक्षण घट जाता है तब कोई दोष नहीं। चौदहवें अयोगकेवलिगुणस्थानमें लेश्याका अभाव है क्योंकि वहांपर योग प्रवृत्ति नहीं है। इसलिये अयोग केवलियोंको अलेश्य माना है। शंका——

१। जोगपउत्तीलेस्सा कसाय उदयाणु रंजिया होई ॥ ४८९ ॥
अयदोत्ति छल्लेस्साओ सुहतियलेस्सा हु देसविरदतिये।
तत्तो सुक्का लेस्सा अजोगिठाणं अलेस्सं तु ॥ ५३१ ॥
योगप्रवृत्तिर्लेश्या कषायोदयानुरंजिता भवति ॥ ४८९ ॥
असयत इति षट् लेश्याः शुभत्रयलेश्या हि देशविरतत्रये।
ततः शुक्ला लेश्या अयोगिस्थानमलेश्यं तु ॥ ५३१ ॥

कषायोदयसे अनुरंजित योगोंकी प्रवृत्तिका नाम लेश्या है। उसके छह भेद हैं। उनमें चतुर्थ गुणस्थानपर्यंत छहो लेश्या होती हैं। देशविरत प्रमत्तविरत अप्रमत्तविरत इन तीन गुणस्थानोंमें तीन शुभ लेश्या ही होती हैं। अपूर्व करणसे लेकर सयोगकेवली गुणस्थान पर्यंत एक शुक्लेश्या ही होती है और अयोगकेवली गुणस्थान लेश्यारहित है। (गोम्मटसार जीवकांड)

जो भाव कर्मोंके उदयसे हों उन्हें औदायिक भाव माना है। सूत्रकारने उन औदायिक भावोंके केवल इक्कीस ही भेद गिनाये हैं परंतु उनके और भी भेद हैं और वे इसप्रकार हैं—जिसप्रकार ज्ञानावरण कर्मके उदयसे होनेवाला अज्ञान भाव औदायिक है उसी प्रकार दर्शनावरण कर्मके उदयसे अदर्शन निद्रा निद्रानिद्रा प्रचला आदि, वेदनीय कर्मके उदयसे सुख दुःख, नोकषाय वेदनीयके उदयसे हास्य रति अरति आदि छह भाव, आयु कर्मके उदयसे भव धारण करना भाव, उच्चगोत्रके उदयसे उच्चगोत्र परिणाम, नीचगोत्रके उदयसे नीचगोत्र परिणाम और नामकर्मके उदयसे जाति आदिक भाव होते हैं इसलिये ये भी सब औदायिक भाव हैं परंतु इनको सूत्रमें भिन्न भिन्न रूपसे गिनाया नहीं गया इसलिये सूत्रमें कमी कही जायगी। यदि कदाचित् यह कहा जाय कि यहांपर आत्माके भावोंका प्रकरण चल रहा है इसलिये शरीर आदि कुछ भाव हों भी तो भी वे पुद्गलविपाकी कर्मके उदयसे जायमान हैं इसलिये यहां सूत्रमें उनका ग्रहण नहीं किया जा सकता? सो ठीक नहीं। क्योंकि बहुतसे जीवविपाकी होनेसे जाति आदिक आत्माके भी भाव हैं इसलिये उनका ग्रहण तो सूत्रमें होना चाहिये। विना उन्हें ग्रहण किये सूत्रकी कमी पूरी नहीं हो सकती इसवातका वार्तिककार खुलासा रूपसे उत्तर देते हैं—

मिथ्यादर्शनेऽदर्शनावरोधः ॥ ९ ॥

सूत्रमें जो मिथ्यादर्शनका उल्लेख किया गया है उसमें अदर्शनका अंतर्भाव है तथा निद्रा निद्रानिद्रा आदिक भाव भी दर्शनावरण सामान्य कर्मके उदयसे होते हैं इसलिये उनका भी मिथ्यादर्शनके अंदर ग्रहण है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि जीव आदि पदार्थोंको याथात्म्यरूपसे श्रद्धानका न होना मिथ्यादर्शन कहा गया है और यहांपर जो अदर्शन है उसका अर्थ न दीखना है। एकदम

भिन्न अर्थ है इसलिये मिथ्यादर्शनमें अदर्शनका अंतर्भाव नहीं हो सकता तथा जब अदर्शनका ही अभाव नहीं हो सकता तब निद्रानिद्रा निद्रा आदिका अंतर्भाव हो ही नहीं सकता इसलिये मिथ्यादर्शनमें अदर्शन आदिका अंतर्भाव कहना अयुक्त है। सो ठीक नहीं । जहांपर सामान्यका निदर्शन किया जाता है वहांपर विशेषोंका ग्रहण हो जाता है। अदर्शन शब्द सामान्य अर्थका वाचक है उसका एक विशेष अर्थ—जीवादि पदार्थोंका यथार्थ रूपसे श्रद्धान न करना, यह भी है और दूसरा विशेष अर्थ—'नहीं देखना' यह भी है इसरीतिसे अप्रतिपत्ति—नहीं देखना और मिथ्यादर्शन इन दोनों ही विशेष अर्थोंका वाचक जब अदर्शन शब्द है तब मिथ्यादर्शनके कहनेसे अदर्शनका ग्रहण हो सकता तथा अदर्शनके समान निद्रा आदिका भी ग्रहण हो सकता है इसलिये औदयिक भावोंमें पृथक् रूपसे उनको गिनानेकी कोई आवश्यकता नहीं।

लिंगग्रहणे हास्यरत्याद्यंतर्भावः सहचारित्वात् ॥ १० ॥

जिसप्रकार पर्वतके उल्लेख करनेसे नारदका और नारदके उल्लेख करनेसे पर्वतका ग्रहण हो जाता है क्योंकि दोनोंका आपसमें सहचरित संबंध है कभी भी उनका जुदा जुदा रहना नहीं माना गया। उसीप्रकार नोकषाय वेदनीयके भेद हास्य रति आदि, लिंगके साथ ही प्रतिपादित हैं इसलिये साहचर्य संबन्धसे लिंगके उल्लेख रहने पर उनका भी ग्रहण किया जा सकता है। इसरीतिसे जब सूत्रमें लिंग शब्दका ग्रहण रहनेसे हास्य आदिका उसीमें अंतर्भाव हो जाता है तब उनके पृथक् रूपसे औदयिक भावमें नाम गिनानेकी कोई आवश्यकता नहीं।

गतिग्रहणमघात्युपलक्षणं ॥ ११ ॥

जिसतरह 'काकेभ्यो रक्षतां सर्पिः' काकोंसे घीकी रक्षा करो यहांपर काक शब्द उपलक्षण माना है और उस उपलक्षण माननेसे जितने भी जीव घीके विनाशक हों उन सबसे घीकी रक्षा करो यह उस वाक्यका भाव है उसीप्रकार सूत्रमें जो गति शब्द है वह भी अघाति कर्मोंका उपलक्षण है । उसके उपलक्षण होनेसे अघातिया कर्मोंके उदयसे जो भी उत्पन्न होनेवाले भाव हैं उन सबका गति शब्दसे ग्रहण है इसलिये नाम कर्मके उदयसे होनेवाले जाति आदि औदयिकभाव वेदनीय कर्मके उदयसे होने-वाले सुख और दुःख रूप औदयिकभाव, आयुकर्मके उदयसे होनेवाला भवधारण रूप भाव और गोत्रकर्मके उदयसे होनेवाले नीचगोत्र ऊंचगोत्ररूप भाव सबोंका गतिमें अंतर्भाव है । इसरीतिसे जब जीवविपाकी कर्मोंके उदयसे होनेवाले अदर्शन आदि आत्माके औदयिक भावोंका मिथ्यादर्शन आदिमें अंतर्भाव युक्तिसिद्ध है सब अदर्शन आदि औदयिक भावोंका सूत्रमें उल्लेख न रहने पर सूत्रके बनानेमें कमी समझी जायगी यह शंका निर्मूल हो गई ।

यहांपर द्विनवाष्टादशेत्यादि सूत्रसे यथाक्रम शब्दकी अनुवृत्ति आ रही है । उसके बलसे गति चार प्रकारकी है । कषाय चार प्रकारके हैं । लिंग तीन हैं इत्यादि आनुपूर्वी क्रमसे अर्थकी प्रतीति हो जाती है इसलिये गतिकषायेत्यादि सूत्रमें 'यथाक्रम' शब्दके कहनेकी कुछ आवश्यकता नहीं ॥ ६ ॥

पारिणामिक भावको तीन प्रकारका कह आये हैं । सूत्रकार अब उसके तीनों भेदोंको भिन्न भिन्न रूपसे गिनाते हैं—

जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ—जीवत्व भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन भेद पारिणामिक भावके हैं ।

अन्यद्रव्यासाधारणात्त्रयः पारिणामिकाः ॥ १ ॥

जीवत्व भव्यत्व अभव्यत्व ये तीन पारिणामिक भाव आत्माके सिवाय अन्य किसी भी द्रव्यमें न रहनेके कारण आत्माके विशेष भाव हैं । ये तीनों भाव पारिणामिक क्यों हैं वार्तिककार इस बातको स्पष्ट करते हैं—

कर्मोदयक्षयोपशमक्षयोपशमानपेक्षत्वात् ॥ २ ॥

जिन भावोंकी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय क्षय उपशम और क्षयोपशम कारण नहीं पडते वे पारिणामिक भाव कहे जाते हैं । जीवत्व भव्यत्व अभव्यत्वरूप भावोंकी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय क्षय उपशम क्षयोपशम कारण नहीं पडते किंतु ये जीव द्रव्यके स्वरूप हैं—अनादिकालसे उक्त भावोंका स्वरूप संबंध जीवके साथ बराबर चला आया है कितना भी बलवान आत्माके साथ कर्मोंका संबंध हो जाय इन भावोंका विपरिणाम नहीं हो सकता इसलिये जीवके गुण स्वरूप ही होनेके कारण, जीवत्व आदि पारिणामिक ही भाव हैं । शंका—

आयुर्द्रव्यापेक्षं जीवत्वं न पारिणामिकमिति चेन्न पुद्गलद्रव्यसंबंधे सत्यन्यद्रव्यसामर्थ्याभावात् ॥ ३ ॥

सिद्धस्याजीवत्वप्रसंगात् ॥ ४ ॥

अनादि कालसे आत्माका परिणाम होनेसे जीवत्व भावको पारिणामिक भाव बताया है परंतु वह ठीक नहीं किंतु आयुकर्मके उदयसे जो जीवे उसका नाम जीव है इसरीतिसे आयुकर्मके उदयके आधीन जीवत्वकी उत्पत्ति होनेसे उसे औदायिक भाव ही मानना ठीक है पारिणामिक भाव नहीं हो सकता ? सो ठीक नहीं । पुद्गल द्रव्यके संबंधसे अन्य द्रव्यकी—जीव द्रव्यकी सामर्थ्य नहीं प्रगट हो सकती । जीवत्व

जीवकी सामर्थ्य विशेष है। उसका पुद्गलीक आयुकर्मके उदयसे जीवमें प्रगट होना असंभव है। यदि कदाचित् जबरन पुद्गलीक आयुकर्मके उदयसे जीवमें जीवत्व शक्तिकी प्रकटता मानी जायगी तो आयुकर्मका संबंध तो धर्म अधर्म आदि अचेतन द्रव्योंके साथ भी है। उसके संबंधसे उनमें भी जीवत्व शक्तिकी प्रकटता मान लेनी चाहिये और उन्हें चेतन कहना चाहिये परंतु उनमें वैसा नहीं हो सकता इसलिये आयुकर्मके उदयसे जीवत्व भावकी प्रकटता नहीं हो सकती किंतु वह पारिणामिक ही भाव है। और भी यह बात है कि—

यदि आयुकर्मके उदयसे ही जीवत्व भाव माना जायगा तो सिद्धोंमें जीवत्वकी नास्ति कहनी पडेगी क्योंकि उनके आयुकर्मका संबंध नहीं है इसलिये उन्हें अजीव कहना पडेगा परंतु सिद्धोंमें जीवत्व भावकी नास्ति नहीं इसलिये उसकी उत्पत्ति आयुकर्मके आधीन न मानकर वह पारिणामिक भाव ही मानना पडेगा। शंका—

जीवे त्रिकालविषयविग्रहदर्शनादिति चेन्न रूढिशब्दस्य निष्पत्त्यर्थत्वात् ॥ ५ ॥

जो जीता है पहिले जीया और आगे जीवेगा इसप्रकार जीव शब्दका तीनों कालसंबंधी विग्रह दीख पडता है तथा यहांपर जीव शब्दका अर्थ प्राण धारण करनेवाला है। प्राण धारण करनेमें कर्मकी अपेक्षा करनी पडती है इसरीतिसे जब जीवत्व भाव कर्मापेक्ष सिद्ध होता है तब वह पारिणामिक भाव नहीं हो सकता? सो ठीक नहीं। जितने भी रूढिशब्द हैं उनकी भूत भविष्यत् वर्तमान कालके आधीन जो भी क्रिया है, वे केवल उन्हें सिद्ध करनेकेलिये हैं उनसे जो अर्थ द्योतित होता है वह नहीं लिया जाता। जिसतरह गोशब्दका व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ 'गच्छतीति गौः' अर्थात् जो जावे वह गाय है, यह है

परंतु यहां इस व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थका आदर न कर रूढिसिद्ध सास्नादिविशिष्ट गाय ही अर्थ लिया गया है। जीव शब्दकी भी सिद्धि करते समय तीनों कालसंबंधी उसकी व्युत्पत्ति की जाती है और उस व्युत्पत्तिसे जीव शब्दका अर्थ प्राण धारण करनेवाला होता है परंतु यहांपर जीव शब्दका यह व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ नहीं लिया गया किंतु रूढ अर्थ चैतन्य ही लिया गया है। उस चैतन्य भावकी प्रकटताके लिये किसी भी कर्मकी अपेक्षा नहीं पडती इसलिये जीवत्व पारिणामिक ही भाव है। अथवा—

चैतन्यमेव वा जीवशब्दस्यार्थः ॥ ६ ॥

जीव शब्दका अर्थ चैतन्य ही है और अनादिकालसे जीवद्रव्यका उसी रूप होना ही उसमें निमित्त कारण है और कोई कर्म निमित्त कारण नहीं इसलिये जीवत्व पारिणामिक ही भाव है।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामेन भविष्यतीति भव्यः ॥ ७ ॥

भविष्यतीति भव्यः जो आगे होनेवाला हो वह भव्य है इस व्युत्पत्तिके आधार पर भव्य और अभव्यका प्रायः भविष्यत काल ही विषय है उसीके अनुसार जो आत्मा आगामी कालमें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप परिणत होनेवाला है वह भव्य है ऐसे अर्थका द्योतन करनेवाली यहां भव्य संज्ञा मानी गई है।

तद्विपरीतोऽभव्यः ॥ ८ ॥

जो आत्मा कभी भी आगामी कालमें सम्यग्दर्शनादि पर्यायोंसे परिणत होनेवाला न हो वह अभव्य है। यह जो भव्य और अभव्यका भेद है वह किसी कर्मके आधीन नहीं किंतु वैसी भेदव्यवस्था जीवके स्वभावके ही आधीन है इसलिये भव्य और अभव्य दोनों भाव पारिमाणिक हैं। शंका—

योऽनंतनापि कालेन न सेत्स्यत्यसावभव्य एवेति चेन्न भव्यराश्यंतर्भावात् ॥ ९ ॥

भव्योंमें भी बहुतसे जीव ऐसे माने गये हैं जिन्हें अनंतकालके वाद भी मोक्ष नहीं मिल सकती।
जो अभव्य है उनके लिये भी यह कहा गया है कि वे भी अनंतकालके वाद भी मोक्ष नहीं प्राप्त कर
सकते इसरीतिसे भव्य और अभव्योंको जब मोक्षकी प्राप्तिमें कालकी तुल्यता है तब वे भव्य भी अभव्य
ही हैं। यदि यह कहा जायगा कि भव्योंकी सिद्धि हो जाती है तब अभव्योंकी सिद्धि भी हो सकती है
फिर अंतमें सबकी सिद्धि हो जाने पर एक दिन समस्त जगत जीवशून्य कहा जा सकता है इसलिये
जो अनंतकालके बाद भी सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकते उन्हें भी अभव्य ही कहना चाहिये ? सो ठीक
नहीं। कनकपाषाण एक प्रकारका पत्थर होता है जो कालांतरमें सुवर्णस्वरूप परिणत हो जाता है।
यहांपर जो कनकपाषाण अनंतकालके बाद भी सुवर्णस्वरूप परिणत न होगा उसको भी जिसप्रकार
कनकपाषाण ही माना जाता है क्योंकि उसमें सुवर्णस्वरूप परिणत होनेकी शक्ति है और कारण
कलापके मिल जाने पर वह नियमसे एकदिन सुवर्णरूप परिणत होगा किंतु उस अन्धपाषाण अर्थात्
वह कभी सुवर्णरूप परिणत होगा ही नहीं ऐसा पाषाण, नहीं माना जाता उसीप्रकार जिस भव्यको
अनंतकालके वाद भी मोक्ष नहीं प्राप्त होगी वह भी भव्य ही है क्योंकि भले ही उसके मोक्षकी प्राप्ति न
हो परंतु उसमें उसके प्राप्त करनेकी शक्ति विद्यमान है और कारण कलापके मिल जाने पर अवश्य ही
उसे मोक्ष प्राप्त हो सकती है इसलिये वह अभव्य नहीं कहा जा सकता। अथवा और भी यह बात है
कि जिस आगामीकालका समावेश अनंतकालमें न होगा वह आगामी काल ही न कहा जायगा यह
वात नहीं किंतु अनंतकालके वाहिरका भी काल आगामीकाल है। इसरीतिसे जो भव्य अनंतकालके

भीतरके आगामीकालमें सिद्धि लाभ न कर सकेगा वह उसके वाहिरके आगामीकालमें करेगा आगामी
कालपना नष्ट नहीं हो सकता। परंतु अभव्य कभी भी सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता इसलिये कथंचित्
कालकी तुल्यता समझ भव्यको अभव्यके समान वताना निर्मूल है। अर्थात् भव्यमें मोक्षप्राप्तिकी शक्ति
है अभव्यमें शक्ति भी नहीं है। सारांश यहां यह है कि—

जो जीवात्मा अनंतकालके बाद भी सिद्धि न प्राप्त कर सके किंतु उसके अंदर मोक्ष प्राप्त करनेकी
सामर्थ्य हो और योग्य कारण कलापसे उस सामर्थ्यके प्रगट हो जानेकी जिसमें योग्यता हो वह भव्य
ही है किंतु जिसके अंदर मोक्ष प्राप्त करनेकी सामर्थ्य ही न हो मोक्ष प्राप्तिके योग्य कारण कलापके
मिलने पर भी जो कभी गुण प्राकट्यकी योग्यता नहीं रखता हो वह अभव्य ही है। कालकी कथंचित्
समानता मिल भी जाय तो भी भव्य, अभव्य नहीं कहा जा सकता।

भावस्यैकत्वनिर्देशो युक्त इति चेन्न द्रव्यभेदाद्भावभेदसिद्धेः ॥ १० ॥

'जीवभव्याभव्यत्वानि' यहांपर जीवश्च भव्यश्च अभव्यश्च जीवभव्याभव्याः इस द्वंद्व समासके करने
के बाद जीव आदिके भावकी विवक्षा रहने पर तेषां भावा जीवभव्याभव्यत्वानि ऐसी सिद्धि है। यहां
पर यह शंका होती है कि उपर्युक्त द्वंद्वसमासके बाद भावकी विवक्षा रहने पर 'जीवभव्याभव्यानां भावः,
जीवभव्याभव्यत्वं' यह एक वचन कहना चाहिये था जीवभव्याभव्यात्वानि यह बहुवचन क्यों किया
गया ? परंतु वह ठीक नहीं। जब जीव अभव्य आदि भिन्न भिन्न है तव उनके भाव भी भिन्न भिन्न ही
होने चाहिये, तथा भावप्रत्यय रहने पर एक ही वचन होता है यह कोई नियम भी नहीं इसलिये जीव
आदि द्रव्योंके भेदसे जब भावभेद होना अयुक्त नहीं भावमें एक वचनका कहना भी नियमरूप नहीं

तब 'जीवभव्याभव्यानां भावा, जीव भव्याभव्यत्वानि' यह निर्देश ठीक ही है। यहांपर त्व प्रत्ययका संबंध जीव आदि प्रत्ययके साथ है इसलिये जीवत्व भव्यत्व अभव्यत्व यह भिन्न भिन्न रूपसे समझ लेना चाहिये।

द्वितीयगुणग्रहणमार्षोक्तत्वादितिचेन्न तस्यनयापेक्षत्वात् ॥ ११ ॥

सासादन नामक द्वितीयगुणस्थानसंबंधी सासादनसम्यग्दृष्टिभावको आगममें पारिणामिक भाव बतलाया है उसीको लक्ष्यकर शंकाकार यह शंका करता है कि जब द्वितीयगुणस्थान संबंधी सासादनसम्यग्दृष्टि भावको आगममें पारिणामिकभाव बतलाया है तब जीव आदि पारिणामिक भावोंके साथ उसे भी कहना चाहिये क्योंकि जीव आदिकी तरह कर्मोंकी अपेक्षा रहित वह भी साधारण पारिणामिक भाव है? सो ठीक नहीं। सासादनसम्यग्दृष्टिभाव अपनी उत्पत्तिमें मिथ्यात्वकर्मके उदय क्षय और उपशमकी अपेक्षा नहीं करता इसलिये इस अपेक्षा तो उसे पारिणामिक भाव माना है परंतु अपनी उत्पत्तिमें अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभके उदयकी अपेक्षा रखता है इसलिये वह औदयिकभाव भी माना गया है इसरीतिसे जब साध्य—किसी एक अपेक्षासे उसका पारिणामिकपना है सर्वथा पारिणामिकपना नहीं किंतु जीवत्व आदि जो पारिणामिक भावके भेद बताये हैं वे किसी भी अपेक्षा पारिणामिकके सिवाय अन्यभावके भेद नहीं हो सकते इसलिये सासादनसम्यग्दृष्टिभावकी जीवत्व आदिके साथ गणना नहीं हो सकती। सूत्रमें जो च शब्द है उसका प्रयोजन वार्तिककार बतलाते हैं—

अस्तित्वान्यत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वपर्यायवत्वासर्वगतत्वानादिसंततिबंधनबद्धत्व
प्रदेशवत्वारूपत्वनित्यत्वादिसमुच्चयार्थश्चशब्दः ॥ १२ ॥

आस्तित्व अन्यत्व कर्तृत्व भोक्तृत्व पर्यायवत्व असर्वगतत्व अनादिसंततिबंधनबद्धत्व प्रदेशवत्व अरूपत्व नित्यत्व आदि भाव भी पारिणामिक भाव हैं उनके संग्रह करनेके लिये सूत्रमें च शब्दका उल्लेख किया गया है। शंका—जब आस्तित्व आदि पारिणामिक भाव हैं तब जीवत्व आदिके समान सूत्रमें उनका उल्लेख करना चाहिये ? उत्तर—

अन्यद्रव्यसाधारणत्वादसूत्रिताः ॥ १३ ॥

'जीवभव्याभव्यत्वानि च' इस सूत्रमें जो पारिणामिकभाव आत्माके ही असाधारण भाव हैं उनका उल्लेख है किंतु जो भाव आत्मा और उससे भिन्न भी द्रव्योंमें रहनेवाले हैं उनका ग्रहण नहीं। आस्तित्व आदि जो भाव हैं वे आत्मा और उससे भिन्न भी द्रव्योंमें रहनेवाले हैं इसलिये वे साधारण हैं इसलिये सूत्रमें उनका उल्लेख न कर च शब्दमें उनका संग्रह किया गया है आस्तित्व आदि धर्म किसप्रकार साधारण और पारिणामिक हैं उनका खुलासा इसप्रकार है—

आस्तित्व भाव जीव आदि छहों द्रव्योंमें रहनेवाला है इसलिये वह साधारण है तथा अपनी उत्पत्तिमें वह कर्मोंके उदय क्षय उपशम और क्षयोपशमकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये पारिणामिक है। प्रत्येक द्रव्य आपसमें भिन्न भिन्न है इसलिये अन्यत्व धर्म छहों द्रव्योंमें रहनेके कारण साधारण है तथा अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय क्षय आदिकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये पारिणामिक है। सब ही अपनी अपनी क्रियाओंके करनेमें स्वतंत्र हैं कर्ता स्वतंत्र ही होता है इसरीतिसे कर्तृत्व धर्म सब द्रव्योंमें रहनेके कारण साधारण है और अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये पारिणामिक है। शंका—

एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें जाना क्रिया है । यह क्रिया जीव और पुद्गलमें बन सकती है क्योंकि समस्त द्रव्योंमें जीव और पुद्गलको ही जैनसिद्धांतमें क्रियावान माना गया है । इसलिये उन दोनोंमें तो क्रियाका कर्तृत्व रह सकता है धर्म अधर्म आदिमें कोई क्रिया हो नहीं सकती इसलिये उनमें क्रियाका कर्तृत्व सिद्ध नहीं हो सकता इसरीतिसे कर्तृत्व धर्म सब द्रव्योंमें रहनेवाला साधारण नहीं कहा जा सकता ? सो ठीक नहीं । धर्म आदि द्रव्योंमें गमन क्रिया विषयक कर्तृत्व न भी हो तथापि अस्ति आदि विशेष क्रियाविषयक कर्तृत्व है ही इसरीतिसे सामान्यरूप अपनी अपनी योग्य क्रियाओंका कर्तृत्व जब सब द्रव्योंमें है तब कर्तृत्व धर्म साधारण है और अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये वह पारिणामिक भाव है । पुनः शंका—

आत्माके प्रदेशोंका हलन चलन होना योग कहा गया है । उसका कर्तृत्व साधारण धर्म नहीं क्योंकि सिवाय आत्माके वह किसी भी अन्य द्रव्यमें नहीं रहता तथा अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय आदिकी अपेक्षा न करनेके कारण वह पारिणामिक भाव है इसलिये असाधारण और पारिणामिक होनेसे जीवत्व आदिके साथ उसका सूत्रमें उल्लेख करना चाहिये ? सो ठीक नहीं यह ऊपर कहा जा चुका है कि जिसकी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं वह पारिणामिक भाव है । योगोंके कर्तृत्वमें क्षयोपशमकी अपेक्षा है इसलिये असाधारण होने पर भी योगोंका कर्तृत्व क्षायोपशमिक ही

१ वीर्यांतरायक्षयोपशमसद्भावे सति औदारिकादिसप्तविधकायवर्गणान्यतमालंबनापेक्षया आत्मप्रदेशपरिस्पंदः काययोगः । शरीर नामकर्मोदयापादित वाग्वर्गणालंबने सति वीर्यांतरायमत्यक्षराद्यावरण क्षयोपशमापादिताभ्यंतरवाग्लब्धिसांनिध्ये वाक्परिणामाभिमुखस्यात्मनः प्रदेशपरिस्पंदो वाग्योगः । अभ्यंतरवीर्यांतरायनोइंद्रियावरणक्षयोपशमात्मकमनोलब्धिसन्निधाने बाह्यनिमित्तमनोवर्गणालंबने च सति मनःपरिणामाभिमुखस्यात्मनः प्रदेशपरिस्पंदो मनोयोगः ।

भाव है पारिणामिक भाव नहीं। यद्यपि पुण्य और पापका कर्तृत्व सिवाय जीवके और किसी भी द्रव्यमें
नहीं इसलिये असाधारण होनेसे उनके विषयमें यह कहा जा सकता है कि जीवत्व आदि जीवके असा-
धारण भावोंमें उसकी गणना करनी चाहिये परंतु उसके पुण्य और पापकी उत्पत्ति कर्मोंके उदय और
क्षायोपशमके आधीन है इसलिये पारिणामिक भाव न होनेके कारण उसकी जीवत्व आदि जीवके
पारिणामिक भावोंके साथ गणना नहीं हो सकती। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—
मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद कषाय योग पुण्य और पापको बंधका कारण बताया गया है। उनमें
मिथ्यादर्शनभावकी उत्पत्ति दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे होती है इसलिये अपनी उत्पत्तिमें कर्मके उदय
की अपेक्षा रखनेके कारण वह पारिणामिकभाव नहीं हो सकता। अविरति प्रमाद और कषायोंकी

औदारिक औदारिककायमिश्र, वैक्रियिक वैक्रियिकमिश्र, आहारक आहारकमिश्र और
अर्थात्—वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशम रहनेपर औदारिक औदारिककायमिश्र, वैक्रियिक वैक्रियिकमिश्र, आहारक आहारकमिश्र और
कार्माण इन सात काय वर्गणाओंमें अन्यतम किसी वर्गणाकी अपेक्षासे जो आत्माके प्रदेशोंका हलन चलन होना है उसका नाम काय
योग है। शरीर नाम कर्मके उदयसे होनेवाली वचन वर्गणाके आलंबन रहनेपर वीर्यांतरायकर्म और मत्यक्षरादि आवरणोंकी क्षायो-
पशम रूप वाग्लब्धिके सन्निधानमें वचन परिणामके अभिमुख आत्माके प्रदेशोंका जो हलन चलन होना है वह वाग्योग है। तथा
जहांपर वीर्यांतराय और नो इन्द्रियावरण कर्मका क्षायोपशमरूप मनोलब्धिका सन्निधान तो अंतरंग कारण हो और मनोवर्गणाका
आलंबन वाह्य कारण हो वहां पर मनरूप परिणामके अभिमुख आत्माका जो हलन चलन होना है वह मनोयोग है। सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ
संख्या १८३।

१ सतावेदनीय तिर्यग् मनुष्य देव आयु, उच्चगोत्र आदि अडसठि प्रकृति पुण्यप्रकृति हैं। और चार घातिया कर्मोंकी सैंतालिस
कृति, असातावेदनीय नरकायु नीचगोत्र और नामकर्मकी पचास प्रकृति इसप्रकार ये सौ पाप प्रकृति हैं। ये पुण्य और पाप दोनों
प्रकारकी प्रकृतियां अपने अपने कर्मोंके उदय और क्षयोपशमसे होती हैं।

उत्पत्तिमें चारित्रमोहनीयकर्मका उदय कारण है इसलिये वे भी अपनी उत्पत्तिमें कर्मके उदयकी अपेक्षा रखनेके कारण पारिणामिक भाव नहीं हो सकते। योग अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखते हैं यह बात ऊपर कही जा चुकी है इसलिये वे भी पारिणामिकभाव नहीं कहे जा सकते परंतु पुण्य और पापका कर्तृत्व आत्मा सिवाय किसी भी अन्य द्रव्योंमें नहीं रहता एवं अनादिकालीन पारिणामिक चैतन्य भावके सन्निधानमें इसकी उत्पत्ति होती है इसलिये अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय आदिकी अपेक्षा न रखनेके-कारण पुण्य और पाप कर्तृत्व पारिणामिक भाव है और असाधारण भी है इसलिये इसकी गणना जीवत्व आदि भावोंके साथ पृथक् रूपसे होनी चाहिये ? सो ठीक नहीं। यदि अनादि कालीन पारिणामिक चैतन्य भावको पुण्य पापकी उत्पत्तिमें कारण माना जायगा तो सदाकाल आत्मामें पुण्य पापकी उत्पत्ति होती रहेगी फिर सिद्धोंके भी पुण्य पापकी उत्पत्ति कहनी पडेगी क्योंकि उनकी उत्पत्तिका कारण चैतन्य सिद्धोंके अंदर भी विराजमान है। तथा पुण्य पापकी उत्पत्तिका कारण चैतन्य सब संसारी जीवोंके समान है इसलिये सामान्यरूपसे सबोंके एकसमान पुण्य पापका कर्तृत्व होना चाहिये। परंतु ऐसा होता नहीं इसलिये असाधारण होनेपर भी पुण्य और पापको कर्तृत्व पारिणामिक भाव नहीं माना जा सकता किंतु कर्मोंके उदय और क्षयोपशमके आधीन उसकी उत्पत्ति है इसलिये उसे औदयिक और क्षायोपशमिक भाव मानना ही युक्त है।

भोक्तृत्व और भोग दोनों एक हैं और शक्तिकी अधिकतासे परपदार्थोंकी शक्तिको ग्रहण करनेका सामर्थ्य रखना भोक्तृत्व शब्दका अर्थ है। जिसतरह—आत्मा अपनी शक्तिकी अधिकतासे पर द्रव्य स्वरूप घी दूध आदि आहारकी शक्ति ग्रहण कर लेता है इसलिये वह भोक्ता है और उसके अन्दर

भोक्तृत्व धर्म है । अचेतन भी विष पदार्थ अपनी विशिष्ट शक्तिसे कोदों आदि द्रव्योंकी सामर्थ्यको
हरण कर अपने स्वरूप परिणमा लेता है इसलिये वह भोक्ता है और उसके अन्दर भोक्तृत्व धर्म है।
तथा लवण आदि द्रव्य अपनी सामर्थ्यकी अधिकतासे काष्ठ पत्थर आदि पदार्थोंको लवण स्वरूप
परिणमा देते हैं इसलिये वे भोक्ता हैं और उनके अंदर भोक्तृत्व धर्म है इसीप्रकार सब पदार्थोंमें अपनी
अपनी योग्यताके अनुसार भोक्तृत्व धर्म समझ लेना चाहिये इसरीतिसे हरएक पदार्थमें रहनेके कारण
भोक्तृत्व (भोग) साधारण भाव है और अपने होनेमें वह किसी भी कर्मके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं
रखता—अनादिकालसे हरएक पदार्थका वैसा स्वभाव चला आया है इसलिये वह पारिणामिकभाव है।
यहांपर इतना विशेष समझ लेना चाहिये कि हरएक पदार्थमें रहनेवाला भोगसामान्य पारिणामिकभाव
है किंतु आत्माका जो विशेष भोक्तृत्व धर्म है वह पारिणामिक नहीं किंतु वह भोगांतराय कर्मके क्षयोप
शमसे होता है इसलिये क्षायोपशमिकभाव है आत्माके सिवाय अन्य पदार्थके साथ कर्मोंका संबंध हो
नहीं सकता इसलिये सामान्यसे भोक्तृत्व धर्म पारिणामिक है।

वीर्यांतराय कर्मका क्षयोपशम और अंगोपांग नामक नाम कर्मके बलसे आत्मा शुभ अशुभ कर्मोंके
फलोंके उपभोगनेमें समर्थ होता है। शुभ और अशुभ कर्मोंके फलोंका उपभोगना ही आत्माका उपभो-
क्तृत्व (उपभोग) धर्म है । यह उपभोक्तृत्व धर्म साधारण नहीं क्योंकि सिवाय आत्माके किसी भी
अन्य पदार्थके अंदर यह धर्म नहीं रहता । तथा अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखता
है इसलिये पारिणामिक भाव भी नहीं। शंका—

ऊपर भोक्तृत्व सामान्यको साधारण और पारिणामिक बतलाया है और शक्तिकी अधिकतासे

पर पदार्थकी सामर्थ्यको हरण कर लेना भोक्तृत्व शब्दका अर्थ प्रतिपादन किया गया है परंतु आत्माके अंदर तो भोगांतराय कर्मकी क्षयोपशम रूप विशिष्ट शक्ति मौजूद है। उसके द्वारा वह घी दूध आहार आदिकी शक्तिको खींच सकता है। तथा वीर्यांतराय कर्मकी क्षयोपशमरूप शक्तिके द्वारा घी दूधको पचा सकता है इसलिये उसके अंदर तो भोक्तृत्व धर्म कहा जा सकता है परंतु विष लवण आदि पदार्थोंमें तो भोगांतराय कर्मकी क्षयोपशमरूप शक्ति सिद्ध हो नहीं सकती इसलिये उनमें भोक्तृत्व धर्म सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिये सिवाय आत्माके जब किसी पदार्थमें भोक्तृत्व धर्म सिद्ध नहीं हो सकता तथा आत्मामें जो भोक्तृत्व धर्म है वह भोगांतराय कर्मके क्षयोपशमसे जायमान होनेके कारण पारिणामिक नहीं कहा जा सकता तब सब पदार्थोंमें भोक्तृत्व धर्म मानकर उसे पारिणामिक कहना अयुक्त है। सो ठीक नहीं। जिसतरह सूर्यका प्रताप प्रतिनियत है उसकी उत्पत्तिमें किसी भी अन्य पदार्थकी अंश मात्र भी अपेक्षा नहीं रहती उसीप्रकार संसारमें जितने भी पदार्थ हैं उन सबकी शक्ति प्रतिनियत है और वह अपनी उत्पत्तिमें किसीकी अपेक्षा न रखनेके कारण स्वाभाविक हैं। विष लवण आदि पदार्थोंमें भी पर पदार्थ—कोदों अन्न काष्ठ आदिकी सामर्थ्यको ग्रहण करनेकी विशिष्ट शक्ति प्रतिनियत और स्वाभाविक है इसलिये उनका परपदार्थोंकी शक्तिको ग्रहण कर उन्हें अपने स्वरूप परिणमावना निर्वाध है। इसरीतिसे जब विष लवण आदिमें भी भोक्तृत्व धर्मका होना सिद्ध है और विष आदिके अंदर रहनेवाला भोक्तृत्व अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं रखता इसीलिये पारिणामिक भी है तब उसे आत्माका ही धर्म बताना वा उसे पारिणामिक भाव न मानना अयुक्त है।

विशेष—वास्तवमें तो आत्मामें भी घी दूध आहार आदिकी सामर्थ्यका ग्रहण करना रूप भोक्तृत्व

आत्माकी प्रतिनियत शक्तिका ही कार्य है परंतु भोगांतराय कर्मका संबंध आत्माके साथ सिद्ध है और उसके क्षयोपशमसे भोक्तृत्व हो सकता है इसलिये उसे भोगांतराय कर्मके क्षयोपशमका कार्य मान लिया है। यदि यहां पर यह कहा जाय कि प्रतिनियत शक्तिके द्वारा ही जब आत्मामें भोक्तृत्व धर्म सिद्ध है तब भोगांतराय कर्मके माननेकी क्या आवश्यकता है ? वह ठीक नहीं । भोगजन्य सुखका अनुभव करना ही वहां भोगांतराय कर्मके क्षयोपशमका कार्य है । जिस आत्माके अंदर भोगांतराय कर्मकी क्षयोपशमरूप लब्धि है वह भोगजन्य सुखका अनुभव करता है । जिसके अंदर नहीं है वह नहीं इसलिये भोगांतराय कर्म व्यर्थ नहीं माना जा सकता।

पर्यायवत्त्व और पर्याय दोनों एकार्थवाचक हैं। जीव अजीव आदि सब द्रव्योंमें समय समय प्रतिनियत रूपसे पर्यायोंकी उत्पत्ति होती है इसलिये सब द्रव्योंमें रहनेके कारण पर्यायवत्त्व धर्म साधारण है तथा पर्यायवत्त्वकी उत्पत्तिमें सामान्यरूपसे किसी भी कर्मके उदय क्षय आदिकी अपेक्षा नहीं रहती इसलिये वह पारिणामिक है।

सर्वगतत्त्वका अर्थ सर्वव्यापीपना है। जो पदार्थ सर्वव्यापी नहीं वह असर्वगत है। परमाणु स्कंध आदि पुद्गल द्रव्य असर्वगत हैं। धर्म अधर्म आत्मा आदि द्रव्य परिमित असंख्यात प्रदेशी है इसलिये सब द्रव्योंमें रहनेके कारण असर्वगतत्त्व धर्म साधारण है तथा वह अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये पारिणामिक भाव है।

विशेष—यद्यपि आकाशद्रव्य सब जगह रहनेके कारण सर्वव्यापी है इसलिये उसमें न रहनेके कारण असर्वगतत्व धर्म साधारण नहीं कहा जा सकता परंतु आकाशके लोकाकाश और अलोकाकाश

रूप ये दो भेद माने हैं वे दोनों ही असर्वगत हैं और दोनोंके अंदर असर्वगतत्व धर्म रहता है इसलिये आकाशद्रव्यकी भेदविवक्षाके आधीन यहां असर्वगतत्व धर्मको साधारण माना गया है। धर्म अधर्म आदि द्रव्योंको परिमित असंख्यात प्रदेशी कहा गया है वहांपर यह शंका हो सकती है कि असंख्यात प्रदेशों को परिमित अर्थात् परिमाण किये बिना कैसे रहा जा सकता है। परंतु हम छद्मस्थ—अल्पज्ञानी भले ही उनका परिमाण न कर सकें परंतु केवलज्ञानी कर सकते हैं इसलिये उनके परिमितपनेका कथन यहां केवलज्ञानकी अपेक्षा समझ लेना चाहिये।

कर्मके आधीन जैसा हाथी वा चिउंटी आदिका शरीर मिले उसीके अनुकूल आत्माके प्रदेशोंका होना कर्मोपात्तशरीर प्रमाणानुविधायित्व है। यह धर्म यद्यपि जीव द्रव्यके सिवाय अन्य किसी भी पदार्थमें नहीं रहता इसलिये असाधारण है तथापि अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंकी अपेक्षा रखता है इसलिये पारिणामिक नहीं।

अनादिकालसे अपने अपने संतानरूपी बंधनोंसे जो बद्धपना है वह अनादिसंततिबंधनबद्धत्व धर्म कहा जाता है। जीव द्रव्य अनादिकालसे अपने पारिणामिकचैतन्योपयोग स्वरूप परिणामके संतानरूपी बंधनसे बद्ध है। धर्म द्रव्य गति परिणामके संतानरूपी बंधनसे बद्ध है। अधर्म द्रव्य स्थिति परिणामके संतानरूपी बंधनसे बद्ध है। आकाशद्रव्य सबद्रव्योंको अवकाशदान देनेरूप परिणामसंतानके बंधनसे बद्ध है। काल द्रव्य वर्तना परिणामिक संतानरूप बंधनसे बद्ध है एवं पुद्गल द्रव्य वर्ण गंध रस स्पर्श आदि परिणामोंके संतानरूपी बंधनसे बद्ध है इसरीतिसे समस्त ही द्रव्य अपने अपने संतानरूपी बंधनोंसे बद्ध हैं इसलिये अनादिसंततिबंधनबद्धत्वधर्म सब द्रव्योंमें रहनेवाला होनेसे साधारण है और वह

अपनी उत्पत्तिमें किसी भी कर्मके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये पारिणामिक है। परंतु–

जीवका जो अनादि कर्मसंतति बंधनबद्धत्व धर्म है वह साधारण नहीं क्योंकि अनादिकालीन कर्मसंतति बंधनबद्धपना सिवाय जीवके और किसी पदार्थमें नहीं तथा वह अपनी उत्पत्तिमें कर्मकी निमित्तता रखता है इसलिये वह पारिणामिक नहीं है । यह बात द्वितीय अध्यायके 'अनादिसंबंधे च' ॥ ४१ ॥ और 'सर्वस्य' ॥ ४२ ॥ इन सूत्रोंमें खुलासारूपसे बतलाई गई है।

पुद्गल जीव आदि द्रव्योंमें कोई द्रव्य संख्यातप्रदेशी है कोई असंख्यातप्रदेशी है कोई अनंतप्रदेशी है किंतु ऐसी कोई द्रव्य नहीं जो प्रदेशरहित हो इसरीतिसे समस्त द्रव्योंमें रहनेके कारण प्रदेशवत्त्व धर्म साधारण है तथा वह अपनी उत्पत्तिमें किसी भी कर्मके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये पारिणामिकभाव है।

रूपका अर्थ स्पर्श रस गंध आदिक है जिन द्रव्योंमें स्पर्श आदिक नहीं रहते वे सब अरूप कहे जाते हैं। जीव धर्म अधर्म आकाश काल इन द्रव्योंमें रूपका संबंध नहीं। सब अरूप हैं इसलिये पुद्गलके सिवाय सबमें रहनेके कारण अरूपत्व धर्म साधारण है तथा वह अपनी उत्पत्तिमें किसी भी कर्मके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये पारिणामिक है।

द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सब द्रव्य नित्य हैं किसीका भी उत्पाद और विनाश नहीं माना गया इसलिये जीव आदि समस्त द्रव्योंमें रहनेके कारण नित्यत्व धर्म साधारण है तथा अपनी उत्पत्तिमें वह कर्मोंके उदय आदिकी कोई अपेक्षा नहीं रखता इसलिये वह पारिणामिकभाव है।

अग्नि आत्मा आदि समस्त पदार्थोंका ऊर्ध्वगमन रूप परिणाम स्वभावसे ही माना है इसलिये

सबमें रहनेके कारण वह साधारण है और अपनी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय क्षय आदि किसीकी भी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये पारिणामिक भाव है । यहांपर कुछ साधारण पारिणामिक भावोंका उल्लेख कर दिया गया है किंतु आत्माके और भी बहुतसे साधारण और पारिणामिकभाव हैं उन सबकी इसीप्रकार योजना कर लेनी चाहिये । शंका—

अनंतरसूत्रनिर्दिष्टोपसंग्रहार्थश्चशब्द इति चेन्नानिष्टत्वात् ॥ १४ ॥

त्रिभेदपारिणामिकभावप्रतिज्ञानाच्च ॥ १५ ॥

'जीवभव्याभव्यत्वानि च' इस सूत्रमें जो च शब्दका उल्लेख किया है उसे अस्तित्व आदि धर्मोंका ग्राहक न मानकर 'गतिजाति शरीरेत्यादि' पहिले सूत्रमें जो गति आदिका उल्लेख किया है उनका ग्राहक मानना चाहिये ? सो ठीक नहीं । पारिणामिकभावका जो लक्षण कहा गया है वह गति आदिमें नहीं घट सकता इसलिये गति आदिको पारिणामिकभाव नहीं माना जा सकता । और भी यह बात है कि——

भावोंकी संख्या प्रतिपादन करनेवाले 'औपशमिक क्षायिकाभावौ' इत्यादि सूत्रमें पारिणामिक भावको तीन ही प्रकारका माना गया है इसलिये च शब्दसे गति जाति आदिका समुच्चय नहीं किया जा सकता । शंका—

गत्यादीनामुभयवत्त्वं क्षायोपशमिकभाववदिति चेन्नान्वर्थसंज्ञाकरणात् ॥ १६ ॥

तथानभिधानात् ॥ १७ ॥ अनिर्मोक्षप्रसंगात् ॥ १८ ॥

जिसतरह क्षायोपशमिक भाव क्षय और उपशमस्वरूप दोनों प्रकारके हैं उसीप्रकार गति जाति

आदि भी औदयिक और पारिणामिक दोनों स्वरूप है तथा जिसतरह केवल क्षायिकभावके भेद जुदे
माने हैं और औपशमिक भावके जुदे माने हैं उसीप्रकार केवल औदयिक भावके इक्कीस भेद और
पारिणामिक भावके तीन भेद हैं यह कहा जा सकता है। इसरीतिसे गति आदि भी पारिणामिकभाव
कहे जा सकते हैं ? सो ठीक नहीं। पारिणामिक यहांपर परिणामका अर्थ स्वभाव है। जो भाव वस्तुका
स्वभाव स्वरूप हो वह पारिणामिकभाव है। इसरीतिसे पारिणामिक यह अन्वर्थ संज्ञा है गति आदि
भाव; जीवके स्वभाव स्वरूप नहीं क्योंकि उनकी उत्पत्तिमें नाम आदि कर्मोंका उदय कारण है इसलिये
वे पारिणामिक भाव नहीं हो सकते। जीवत्व आदिकी उत्पत्तिमें कर्मोंके उदय आदिकी कोई अपेक्षा
नहीं इसलिये वे पारिणामिक भाव हैं। तथा—

जिसतरह ज्ञान आदि क्षायोपशमिक भाव है इसलिये उनका क्षायोपशमिक नामसे उल्लेख किया
गया है उसीप्रकार यदि गति जाति आदि भी मिले हुए औदयिक पारिणामिक स्वरूप होते तो उनका
भी औदयिक पारिणामिक नामसे उल्लेख किया जाता परंतु वैसा किया नहीं गया इसलिये मिले हुए
क्षायोपशमिक भाव ज्ञान आदिके समान मिले हुए औदयिक पारिणामिक स्वरूप गति जाति आदि
भाव नहीं कहे जा सकते। तथा और भी यह सर्वोच्च उत्तर है कि—

पारिणामिक; स्वभाव भाव होनेसे कभी नष्ट नहीं हो सकता। यदि गति आदि भावोंको पारिणामिक
भाव मान लिया जायगा तो फिर मोक्ष ही न प्राप्त हो सकेगी क्योंकि जहां गति जाति आदिका संबंध
है वह संसार कहा जाता है। पारिणामिक भाव मानने पर गति आदिका संबंध आत्मासे जुदा हो नहीं
सकता इसलिये सदा जीवका संसार ही बना रहेगा इसरीतिसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो चुकी

कि सूत्रमें जो च शब्द है वह अस्तित्व आदिका समुच्चायक है, गति आदिका नहीं हो सकता। शंका—

आदिग्रहणमत्र न्याय्यमिति चेन्न त्रिविधपारिणामिकभावप्रतिज्ञाहानेः ॥ १९ ॥

जब अस्तित्व आदिको भी पारिणामिक भाव माना गया है तब 'जीव भव्याभव्यत्वानि च' इस सूत्रमें आदि शब्दका उल्लेख करना चाहिये अर्थात् 'जीव भव्याभव्यत्वादीनि' ऐसा सूत्र पढना चाहिये ? सो ठीक नहीं। पारिणामिक भाव तीन प्रकारका है यह ऊपर प्रतिज्ञा की जाचुकी है। यदि सूत्रमें आदि शब्दका उल्लेख किया जायगा तो जीवत्व भव्यत्व अभव्यत्व अस्तित्व कर्तृत्व आदि तीनसे अधिक धर्म पारिणामिक भाव माने जांयगे फिर 'पारिणामिक भाव तीन प्रकारका है' यह प्रतिज्ञाभंग हो जायगी इसलिये सूत्रमें आदि शब्दका ग्रहण नहीं किया जा सकता यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

समुच्चयार्थेपि चशब्दे तुल्यमिति चेन्न प्रधानापेक्षत्वात् ॥ २० ॥

'जीव भव्याभव्यत्वानि च' इससूत्रमें आदि शब्दके उल्लेख करनेपर और उससे अस्तित्व आदि भावोंका भी ग्रहण होनेपर 'पारिणामिक भाव तीन प्रकारके हैं' यह प्रतिज्ञा भंग हो जायगी, यह दोष दिया गया था परंतु यह प्रतिज्ञा तो चशब्दके उल्लेखसे भी भंग हो जाती है क्योंकि चशब्दका अर्थ समुच्चय माना है और उससे भी अस्तित्व आदिका ग्रहण होता है इसलिये चशब्दका उल्लेख न कर आदि शब्दका ही सूत्रमें उल्लेख करना युक्त है ? सो ठीक नहीं। सूत्रकारने अपने कंठसे जीवत्व आदि तीन ही पारिणामिक भावोंका उल्लेख किया है इसलिये प्रधानतासे तीन ही पारिणामिक भाव हैं तथा च शब्दसे अस्तित्व आदि साधारण भावोंका ग्रहण है इसलिये वे गौण हैं। पारिणामिक भाव तीन

प्रकारके हैं यह जो प्रतिज्ञा है वह प्रधानताकी अपेक्षा है इसलिये उपर्युक्त प्रतिज्ञा भंग नहीं हो सकती। यदि सूत्रमें आदि शब्दका उल्लेख किया जायगा तो आदिशब्दसे गृहीत अस्तित्व आदि प्रधान माने जायंगे और उपलक्षण[1] होनेसे जीवत्व आदि अप्रधान माने जांयगे। अथवा तद्गुणसंविज्ञान[2] बहुव्रीहि करनेपर दोनों ही प्रधान होंगे इसलिये उपर्युक्त प्रतिज्ञाकी रक्षा न हो सकेगी। शंका—

सान्निपातिकभावोपसंख्यानमिति चेन्नाभावात् ॥ २१ ॥ मिश्रशब्देना-

क्षिप्तत्वाच्च ॥ २२ ॥ च शब्दवचनात् ॥ २३ ॥

आगममें औपशमिक आदि भावोंके सिवाय एक सान्निपातिक और भी भाव माना है इसलिये उसका भी 'औपशमिक क्षायिकौ भावौ' इत्यादि सूत्रमें उल्लेख करना चाहिये तथा जिसतरह औपशमिक आदि भावोंके भेदसूचक सूत्र कहे गए हैं उसीप्रकार उसका भी भेदसूचक सूत्र कहना चाहिये ? सो ठीक नहीं। औपशमिक आदि भावोंके अतिरिक्त छठा कोई भी सान्निपातिक भाव नहीं इसलिये प्रधानतासे उसका उल्लेख नहीं किया गया। तथा—

१ अपना और दूसरे पदार्थोंका ग्रहण करना उपलक्षण है। यह पहिले कहा जा चुका है उपलक्षण गौणस्वरूप होता है। २ बहुव्रीहि समासके दो भेद हैं एक तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि दूसरी अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि। जिन पदार्थोंका आपसमें समास हो उन सब पदार्थोंका जहां पर ग्रहण हो वह तद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि है और जहां पर सबका ग्रहण न हो वह अतद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि है जिसतरह 'लंबकर्णमानय' लंबे कानवाले पुरुषको लाओ यहांपर कानविशिष्ट पुरुष लाया जाता है इसलिये यह तद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि समास है और यहांपर लंब और कर्ण दोनों शब्दोंकी प्रधानता है तथा 'सागरदृष्टमानय' जिसको सागर पर देखा हो वा जिसने सागर देखा हो ऐसे पुरुषको लाओ यह अतद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि है क्योंकि यहां पर सागरविशिष्ट पुरुषका आना नहीं होता। यदि सूत्रमें आदि शब्द माना जायगा और 'जीवभव्याभव्यत्वादीनि' यहांपर तद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि मानी जायगी तो सब ही प्रधान होंगे।

यदि यह वात कही जायगी कि सान्निपातिक भाव है उसका अपलाप नहीं किया जा सकता तब सूत्रमें जो मिश्रभावका उल्लेख किया गया है उसमें उसका अंतर्भाव है पृथक् रूपसे उसके उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि मिश्र शब्द तो क्षायोपशमिक भावके ग्रहणार्थ है उससे सान्निपातिक भावका ग्रहण नहीं हो सकता? सो भी ठीक नहीं।

'औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रो जीवस्य स्वतत्वमौदयिकपारिणामिकौ च' ऐसा ही सूत्र उपयुक्त था फिर 'मिश्रश्च' यहांपर जो अधिक च शब्दका उल्लेख है वह 'क्षायोपशमिक और सान्निपातिक दोनोंका मिश्र शब्दसे ग्रहण है, यह द्योतित करता है इसलिये जब मिश्र शब्दसे सान्निपातिक भावका प्रतिपादन हो जाता है तब पृथक्रूपसे उसके कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं। शंका—

यदि संसारमें सान्निपातिक भाव है तब ऊपर जो यह कहा गया है कि 'सान्निपातिक भावका अभाव है यह कहना अयुक्त है। यदि कहा जायगा कि सान्निपातिक भाव नहीं है तब आगममें उसका प्रतिपादन क्यों किया गया अथवा मिश्र शब्दसे उसका ग्रहण क्यों माना गया। इसलिये उसकी सत्ता भी मानना और अभाव भी कहना दोनों वातें विरुद्ध हैं? सो ठीक नहीं। वास्तवमें सान्निपातिक कोई छठा भाव नहीं है इसलिये तो उसका अभाव कहा गया है औपशमिक आदि भावोंका आपसमें संयोग होने पर कुछ भावके भेद माने हैं एवं उन्हें सान्निपातिक भाव मान लिया है इसलिये संयोगजनित भंगोंकी अपेक्षा वह है इसलिये उसका आगममें उल्लेख अथवा मिश्र शब्दसे ग्रहण माना है। इन दोनों पक्षोंमें जिससमय सान्निपातिक भावका अभाव है यह पक्ष है उससमय तो सूत्रमें 'मिश्रश्च' यह जो चकार है उससे मिश्र शब्दका अर्थ क्षय उपशम स्वरूप अर्थात् क्षायोपशमिक भाव द्योतित होता हैं और

जब 'सान्निपातिक भावकी सत्ता है' यह पक्ष है तब सान्निपातिक भाव और क्षायोपशमिक भाव दोनों भावोंका मिश्र शब्दसे ग्रहण है यह चकार द्योतन करता है इसलिये कोई विरोध नहीं। यद्यपि स्वतंत्र रूपसे सान्निपातिक कोई भाव न हो, तथापि आगममें उसके नामका उल्लेख है इसलिये वार्तिककार यहां कुछ उसके भेद बतलाते हैं—

षड्विंशतिविधः षट्त्रिंशद्विधः एकचत्वारिंशद्विध इत्येवमादिरागमे उक्तः ॥ २४ ॥

सान्निपातिक भावके छब्बीस छत्तीस और इकतालीस भेद भाव आगममें कहे गये हैं। वह आगम वचन इसप्रकार है—

दुग तिग चदु पंचे वय संजोगा होंति सन्निवादेसु। दस दस पंचय एकय भावो छब्बीस पिंडेण ॥ १ ॥
द्वौ त्रयः चत्वारः पंचैव च संयोगा भवंति सन्निपातेषु। दश दश पंच च एकश्च भावाः षड्विंशाः पिंडेन ॥१॥

अर्थात्—दो भावोंके आपसमें संयोग रहने पर दश सान्निपातिक भाव होते हैं। तीनके संयोग रहने पर भी दश, चारके संयोग रहने पर पांच और पांचों भावोंका एक साथ संयोग रहने पर एक इसप्रकार मिलकर सान्निपातिक भावके छब्बीस भेद हैं। इस सान्निपातिक भावके भेदोंका खुलासा इस प्रकार है—

दो भावोंका आपसमें संयोग रहने पर दश सान्निपातिक भाव होते हैं जहां पर औदयिक भाव प्रत्येक संयोगमें प्रधान रूपसे रहता है और शेष औपशमिक आदिमें एक एक छूटता चला जाता है वह पहिला द्विभाव संयोगी भेद होता है। उसके चार भंग माने हैं। उनमें औदयिकोपशमिक सान्निपातिक जीव भाव नामका पहिला भंग है जिसतरह मनुष्य उपशांतक्रोधी यहांपर उपशांतक्रोध होनेसे तो

औपशमिक भाव और मनुष्य कहनेसे—मनुष्य गतिकर्मके उदयसे औदयिक भाव घटित होता है। इसी प्रकार सर्वत्र घटित कर लेना चाहिये।

औदयिक क्षायिक सान्निपातिक नामका दूसरा भंग है जिसतरह जीव क्षीणकषाई है। औदयिक-क्षायोपशमिक जीव भाव नामका तीसरा भंग है जिसतरह मनुष्य पंचेंद्रिय और औदयिकपारिणामिक-सान्निपातिकभाव नामका चौथा भंग है जिसतरह मनुष्य जीव।

यहांपर सान्निपातिक जीव भावका अर्थ संयोग स्वरूप जीवका परिणाम है वह कहीं दो भावोंका संयोग स्वरूप होता है कहीं तीन आदि भावोंका संयोग स्वरूप परिणाम रहता है। उपर्युक्त द्विसंयोगी भेदमें उपशांतक्रोध मनुष्य यह औदयिक और औपशमिकका संयोग स्वरूप परिणाम है। क्षीणकषाय मनुष्य औदयिक और क्षायिकका संयोग स्वरूप परिणाम है इसीप्रकार आगे भी सब जगह समझ लेना चाहिये।

जहांपर औदयिक भावको छोड दिया जाता है। प्रत्येक भंगमें औपशमिक भावका प्रधानतासे संयोग रहता है और शेष क्षायिक आदि तीन भावोंमें एक एक छूटता जाता है वह दूसरा द्विभाव संयोगी भेद है और उसके तीन भंग हैं। उनमें औपशमिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभाव नामका पहिला भंग है जिसतरह उपशांत लोभी दर्शनमोहके क्षीण हो जानेसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि। औपशमिक-क्षायोपशमिकजीवभाव नामका दूसरा भंग है जिसतरह उपशांत मानी आभिनिबोधिकज्ञानी। और औपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभाव नामका तीसरा भंग है जिसप्रकार उपशांतमायाकषाय-वाला भव्य।

जहांपर औपशमिक भाव भी छोड दिया जाता है । प्रत्येक संयोगमें क्षायिकभावका प्रधानतासे ग्रहण रहता है और क्षायोपशमिक और पारिणामिकभावोंमें एक एक छूटता जाता है वहांपर तीसरा द्विभाव संयोगी भेद होता है और उसके दो भंग माने हैं उनमें क्षायिकक्षायोपशमिकजीवभाव नामका पहिला भंग है जिसतरह क्षायिक सम्यग्दृष्टि श्रुतज्ञानी। क्षायिक पारिणामिकजीवभाव नामका दूसरा भंग है जिसतरह क्षीणकषायी भव्य ।

तथा जहांपर क्षायिक भावका भी परित्याग हो जाता है केवल क्षायोपशमिक पारिणामिक रूप संयोग रह जाता है वहांपर एक ही क्षायोपशमिक पारिणामिक सान्निपातिक जीवभाव नामका भंग होता है जिसतरह अवधिज्ञानी जीव है यहांपर अवधिज्ञानी जीवका क्षायोपशमिक और पारिणामिक सान्निपातिक पारिणाम है। इसप्रकार ये द्विभाव संयोगी भंग मिलकर दश हैं।

तीन भावोंका आपसमें संयोग रहनेपर भी सान्निपातिक भावके दश भेद माने हैं। जहांपर औद-यिक और औपशमिक दोनों भावोंका प्रत्येक संयोगमें प्रधानरूपसे ग्रहण रहता है और क्षायिक आदि तीन भावोंमें एक एक भाव ग्रहण किया जाता है वहांपर पहिला त्रिभाव संयोगी भेद माना जाता है और उसके तीन भंग हैं उनमें औदयिकौपशमिक क्षायिक सान्निपातिक जीव भाव नामका पहिला भंग है जिसतरह उपशांत मोह मनुष्य क्षायिक सम्यग्दृष्टि । औदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकसान्निपातिक जीव भाव नामका दूसरा भंग है जिसतरह उपशांतक्रोधी मनुष्य वाग्योगी है और औदयिकौपशमिक-पारिणामिकसान्निपातिक जीव भाव नामका तीसरा भंग है जिसतरह उपशांत मानवाला मनुष्य जीव। जहांपर औपशमिक भावका परित्यागकर औदयिक और क्षायिक भावका ग्रहण हो तथा क्षायोपश-

मिक एवं पारिणामिक भावोंमें एक एकका ग्रहण हो वह दूसरा त्रिभावसंयोगी भेद है और उसके दो भंग माने हैं। उनमें औदयिकक्षायिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभावनामका पहिला भंग है जिसतरह क्षीणकषायी मनुष्य श्रुतज्ञानी है। और औदयिकक्षायिकपारिणामिकसान्निपातिकजीव भाव नामका दूसरा भंग है जिसप्रकार जिसका दर्शनमोहकर्म क्षीण हो गया है वह मनुष्य जीव।

जहां पर केवल औदयिक भावका ग्रहण है और औपशमिक एवं क्षायिकका परित्याग है वह तीसरा त्रिभाव संयोगी भेद है और उसका औदयिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीव भाव नामका एक भंग है जिसतरह मनोयोगी मनुष्य जीव।

जहांपर औदयिक भावको छोडकर शेष औपशमिकादि चार भावोंमें एक एकका परित्याग रहै वह चौथा त्रिभाव संयोगी भेद है और उसके चार भंग माने हैं। उनमें औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिक-सान्निपातिक जीव भाव नामका पहिला भंग है जिसतरह जिसका मानकषाय उपशांत हो गया है और दर्शन मोहक्षीण हो गया है ऐसा काय योगी। औपशमिकक्षायिकपारिणामिकसान्निपातिकजीव भाव नामक दूसरा भंग है जिसतरह जिसका भेद उपशांत है वह क्षायिकसम्यग्दृष्टि भव्य। औपशमिक-क्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिक जीव भाव नामका तीसरा भंग है जिसतरह उपाशांत मान-वाला मतिज्ञानी जीव। और क्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिक जीव भाव नामका चौथा भंग है जिसतरह क्षीण मोह पंचेंद्रिय भव्य। इसप्रकार ये त्रिभाव संयोगी भंग भी मिलकर दश हैं। जहांपर औदयिक आदि पांचोंमें एक एकका परित्याग रहे वह चतुर्भाव संयोगी भेद है और उसके पांच भंग हैं। उनमें औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिक जीव भाव नामका

पहिला भंग है जिसप्रकार उपशांतलोभ क्षीणदर्शनमोह पंचेंद्रिय जीव। औदयिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभाव नामका दूसरा भंग है जिसतरह मनुष्य क्षीणकषायी मतिज्ञानी भव्य। औदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभाव नामका तीसरा भंग है जिसप्रकार मनुष्य उपशांत वेद श्रुतज्ञानी जीव। औदयिकौपशमिकक्षायिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभाव नामका चौथा भंग है जिसप्रकार मनुष्य उपशांतरागक्षीणदर्शनमोह जीव। और पांचवां औदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभाव नामका पांचवां भंग है जिसतरह मनुष्य उपशांतमोह क्षायिकसम्यग्दृष्टि अवधिज्ञानी।

जहांपर पांचों भावोंका संयोग है वह पंचभाव संयोगी भेद है और उसका औदयिकौपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकपारिणामिक यह एक भंग है जिसतरह मनुष्य उपशांतमोह क्षायिकसम्यग्दृष्टि पंचेंद्रिय जीव। इसप्रकार यह छव्वीस प्रकारका सान्निपातिक भाव समाप्त हुआ। छत्तीस प्रकारका सान्निपातिक भाव इसप्रकार है—

दो औदयिक भावोंका आपसमें सन्निपात रहनेपर तथा औदयिक भावका औपशमिक आदि चारोंमेंसे एक एकके साथ संयोग रहनेपर पांच भंग होते हैं। उनमें औदयिकौदयिकसान्निपातकजीवभाव नामका पहिला भंग है जिसतरह मनुष्य क्रोधी है। औदयिकौपशमिकसान्निपातिकजीवभाव नामका दूसरा भंग है जिसतरह मनुष्य उपशांत क्रोधी। औदायिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभाव नामका तीसरा भंग है जिसतरह मनुष्य क्षीणकषायी। औदायिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभाव नामका चौथा भंग है जिसतरह क्रोधी मतिज्ञानी। औदायिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभाव नामका पांचवां भंग है जिसतरह मनुष्य भव्य।

दो औपशमिक भावोंका आपसमें संयोग रहनेपर तथा औपशमिक भावका औदयिक आदि चारोंमेंसे एक एकके साथ संबंध रहनेपर भी पांच भंग होते हैं। उनमें औपशमिकौपशमिकसान्निपातिकजीवभाव नामका पहिला भंग है जिसतरह उपशमसम्यग्दृष्टि उपशांतकषाय। औपशमिकौदयिकसान्निपातिकजीवभाव नामका दूसरा भंग है जिसतरह उपशांतकषायी मनुष्य। औपशमिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभाव नामका तीसरा भंग है जिसप्रकार उपशांत क्रोधवाला क्षायिकसम्यग्दृष्टि। औपशमिक क्षायोपशमिक सान्निपातिक जीवभाव नामका चौथा भंग है जिसतरह उपशांत कषायवाला अवधिज्ञानी। और औपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभाव नामका पांचवां भंग है जिसतरह उपशांत दर्शनमोहवाला जीव।

दो क्षायिक भावोंका आपसमें संयोग रहनेपर तथा क्षायिक भावका औदयिक आदि चारों भावोंमें एक एकके साथ संबंध रहनेपर भी पांच भंग होते हैं। उनमें क्षायिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभाव नामका पहिला भंग है जिसतरह क्षायिकसम्यग्दृष्टि क्षीणकषायवाला। क्षायिकौदयिकसान्निपातिक जीवभाव नामका दूसरा भंग है जिसतरह क्षीणकषायवाला मनुष्य। क्षायिकौपशमिकसान्निपातिक जीवभाव नामका तीसरा भंग है जिसतरह क्षायिकसम्यग्दृष्टि उपशांतवेदवाला। क्षायिकक्षायोपशमिक सान्निपातिकजीवभाव नामका चौथा भंग है जिसतरह क्षीणकषायवाला मतिज्ञानी। और क्षायिकपारिणामिकसान्निपातिकजीवभाव नामका पांचवां भंग है जिसप्रकार क्षीणमोहवाला भव्य।

दो क्षायोपशमिक भावोंका आपसमें संयोग रहनेपर तथा क्षायोपशमिक भावके साथ औदयिक आदि चारों भावोंमेंसे एक एकके रहनेपर भी पांच भंग होते हैं। उनमें क्षायोपशमिकक्षायोपशमिकजीव

भाव नामका पहिला भंग है जिसप्रकार संयमी अवधिज्ञानी । क्षायोपशमिकौदायिकसान्निपातिकजीव भाव नामका दूसरा भंग है जिसतरह संयमी मनुष्य । क्षायोपशमिकौपशमिकजीवभाव नामका तीसरा भंग है जिसतरह संयमी उपशांतकषायवाला । क्षायोपशमिकक्षायिकसान्निपातिकजीवभाव नामका चौथा भंग है जिसप्रकार संयतासंयत क्षायिकसम्यग्दृष्टि और क्षायोपशमिकपारिणामिक सान्निपातिक जीवभाव नामका पांचवां भंग है जिसतरह अप्रमत्तसंयमी जीव ।

दो पारिणामिक भावोंका आपसमें संयोग रहनेपर तथा पारिणामिक भावके साथ औदायिक आदि चारों भावोंमेंसे एक एकका संबंध रहनेपर भी पांच भंग होते हैं। उनमें पारिणामिकपारिणामिकसन्निपातिकजीवभाव नामका पहिला भंग है जिसप्रकार जीव भव्य । पारिणामिकौदायिकसान्निपातिक जीव भाव नामका दूसरा भंग है जिसतरह जीवक्रोधी । पारिणामिकौपशमिक सान्निपातिक जीव भाव नामका तीसरा भंग है जिसप्रकार भव्य उपशांतकषायवाला । पारिणामिकक्षायिकसान्निपातिकजीव भाव नामका चौथा भंग है जिसतरह भव्य क्षीणकषायवाला । और पारिणामिकक्षायोपशमिकसान्निपातिकजीवभाव नामका पांचवां भंग है जिसप्रकार संयमी भव्य । इसप्रकार ये पचीस द्वि भाव संयोगी भंग पहिले कहे हुए दश त्रिभावसंयोगी भंग और एक पंच भावसंयोगी भंग मिलकर छत्तीस भंग हैं।

तथा पहिले चतुर्भावसंयोगी पांच भंग बतलाये हैं। इन छत्तीस भंगोंमें उन पांच भंगोंके जोड देने पर सान्निपातिक भावके इकतालीस भंग हो जाते हैं इसीप्रकार और भी वहुतसे भेद सान्निपातिकभावके हैं वे आगमके अनुसार समझ लेने चाहिये शंका—

औपशमिकाद्यात्मतत्त्वानुपत्तिरतद्भावादितिचेन्न तत्परिणामात् ॥ २५ ॥

औपशमिक आदि जिन भावोंका ऊपर उल्लेख किया गया है वे सब भाव अपनी उत्पत्तिमें कर्मों के बंध उदय और निर्जराकी अपेक्षा रखते हैं इसलिये वे सब पुद्गल द्रव्योंकी पर्याय हैं जो कि आत्मतत्त्वसे सर्वथा वीपरीत हैं अतः औपशमिक आदि भाव जीवके तत्व नहीं कहे जा सकते ? सो ठीक नहीं। जिससमय आत्मा पुद्‌लद्रव्यकी कर्मरूप विशेष शक्तिके आधिन हो जाता है उससमय वह पुद्गलके रंगमें रंग जानेके कारण जिस जिस पुद्गलके निमित्तसे वह जिस परिणाम स्वरूप परिणत होता है उससमय वह उसी परिणाम स्वरूप हो जाता है। यद्यपि औपशमिक आदि भाव कर्मोंके बंध आदि जनित हैं परंतु आत्मा औपशमिक आदि रूप परिणत होता है इसलिये वे आत्माके ही भाव हैं। कहा भी है—

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं। तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥ १ ॥
परिणमति येन द्रव्यं तत्कालं तन्मयमिति प्रज्ञप्तं। तस्माद्धर्मपरिणत आत्मा धर्मो ज्ञातव्यः ॥ १ ॥

अर्थात् जिसकालमें जो द्रव्य जिस परिणामसे परिणत होता है उस कालमें वह द्रव्य उसी परिणाम स्वरूप होता है यह माना गया है इसलिये आत्मा जिस परिणामसे परिणत होता है उसी परिणाम–स्वरूप, वह कहा जाता है।

वह आत्माका परिणाम अन्यद्रव्यसे असाधारण है—सिवाय आत्माके अन्य किसी भी पदार्थका वैसा परिणाम नहीं होता इसलिये वह आत्मस्वरूप कहा जाता है। औपशमिक आदि भाव सिवाय आत्माके अन्य द्रव्यके परिणाम नहीं, इसलिये उन्हें आत्मतत्व मानना निरापद है। शंका—

अमूर्तत्वादभिभवानुपपत्तिरिति चेन्न तद्विशेषसामर्थ्योपलब्धेश्चैतन्यवत् ॥ २६ ॥

आत्मा अमूर्तिक पदार्थ है और कर्म पौद्गलिक हैं जो कि आत्मास्वरूपसे सर्वथा वाहिर्भूत हैं इस-लिये आत्माका पुद्गल स्वरूप कर्मोंसे अभिभव नहीं हो सकता और जब अभिभव ही नहीं सिद्ध होता तब औपशमिक आदि कभी आत्माके परिणाम नहीं कहे जा सकते ? सो ठीक नहीं। जिसप्रकार जो आत्मा अनादि पारिणामिक चैतन्यभावके आधीन है और इसलिये जो चैतन्यवान भी है उस चैतन्य-वान आत्माकी नारकी और मतिज्ञान आदि विशेष पर्याय चैतन्यस्वरूप ही माने जाते हैं उसीप्रकार यह आत्मा अनादिसे कार्माण शरीरके आधीन होनेके कारण कर्मवान और कर्मवान होनेसे मूर्तिमान भी है उस मूर्तिमान आत्माकी गति आदि विशेष सामर्थ्य भी मूर्तिक है इसप्रकार जब अनादि कर्मबंध संतानवान आत्मा मूर्तिक है तथा मूर्तिक पुद्गलीक कर्मोंसे मूर्तिक आत्माका अभिभव हो सकता है तब अमूर्तिक आत्माका पुद्गलस्वरूप कर्मोंसे अभिभव नहीं हो सकता यह कहना व्यर्थ है। तथा—

अनेकांतात् ॥ २८ ॥ सुराभिभवदर्शनात् ॥ २९ ॥

अनादिकालीन बंधसंतानके पराधीन भी यह आत्मा कर्मबंधके साथ एकम एक होनेसे इस अपेक्षासे कथंचित् मूर्तिक है और अपने ज्ञान दर्शनस्वरूपसे कभी भिन्न नहीं होता इसलिये इस अपेक्षा अमूर्तिक भी है। दोनोंकी एक कालमें क्रमसे विवक्षा करने पर कथंचित् मूर्तामूर्त भी और दोनोंकी एक साथ विवक्षा करने पर अवक्तव्य भी है इत्यादि सप्तभंगीमें कथंचित् आत्मा मूर्तिक भी है इसलिये मूर्तिक कर्मपुद्गलोंसे मूर्तिक ही आत्माका अभिभव है अमूर्तिकका नहीं। जो एकांतसे आत्माको सर्वथा मूर्तिक मानता है उसीके मतमें वह दोष है कथंचित् मूर्त और अमूर्त माननेवाले आर्हत मतमें उक्त दोष स्थान नहीं पा सकता तथा और भी यह बात है कि—

जिसतरह मद मोह और भ्रांतिकी करनेवाली शराबके पीनेसे मनुष्यकी स्मृति नष्ट हो जाती है और वह काठके समान निस्तब्ध हो जाता है उसीप्रकार कर्मेंद्रिय हाथ पांव आदिक निस्तब्ध हो जाने पर ज्ञानादि आत्मिक स्वरूपकी प्रकटता न होनेके कारण आत्मा मूर्त बन जाता है इसलिये जब आत्मा मूर्तिक भी है तब पुद्गल कर्मोंसे उसका अभिभव युक्ति सिद्ध है । यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—

करणमोहकरं मद्यमिति चेन्न तद्विविधकल्पनायां दोषोपपत्तेः ॥ ३० ॥

नेत्र आदि इंद्रियां पृथिवी आदि मूर्तिक पदार्थोंकी विकारस्वरूप हैं इसलिये मूर्तिक होनेसे उन्हींका शराबसे अभिभव होता है आत्मा अमूर्तिक पदार्थ है इसलिये उसके गुणोंका अभिभव नहीं हो सकता अतः शराबके दृष्टांतसे जो ऊपर आत्माका अभिभव माना है वह व्यर्थ है ? सो ठीक नहीं । विकल्पोंके आधारसे यह दोष यहां ठीक लागू नहीं होता वे विकल्प इसप्रकार हैं—

चक्षु आदि इंद्रियां चेतन पदार्थ हैं कि अचेतन हैं ? यदि उन्हें अचेतन माना जायगा तो शराब अचेतन इंद्रियोंकी व्यामोह करनेवाली नहीं कही जा सकती क्योंकि यदि वह अचेतन पदार्थके व्यामोह करनेवाली भी मानी जायगी तो जिस प्याले आदि पात्रमें वह शराब मौजूद है पहिले उसका व्यामोह होना चाहिये परंतु सो होता दीख नहीं पडता इसलिये इंद्रियोंको अचेतन मानने पर उनका अभिभव सिद्ध नहीं होता । यदि यह कहा जायगा कि वे चेतन हैं तब पृथिवी आदिमें तो चैतन्य स्वभावकी पृथक् रूपसे उपलब्धि है नहीं जिसके संबंधसे इंद्रियोंको चेतन कहा जाय किंतु चेतना (आत्म) द्रव्यके संबंधसे ही इंद्रियोंको चैतन्यस्वरूप माना जाता है वह चैतन्य आत्माका ही गुण होनेसे आत्माका ही

व्यामोह सिद्ध हुआ इसरीतिसे अमूर्तिक होनेसे 'आत्मगुणका शरावसे व्यामोह नहीं हो सकता यह कहना वाधित है।'

यदि यहांपर चार्वाक नास्तिककी ओरसे यह कहा जाय कि अन्न जल हड़ आदि पदार्थोंके एक विलक्षण संयोग हो जानेपर जिसप्रकार मदशक्तिकी प्रकटता हो जाती है उसीप्रकार पृथिवी जल वायु आदिके विलक्षण संबंधसे सुख दुःख आदि आत्मिक गुणोंकी भी अभिव्यक्ति हो जाती है आत्मा कोई पदार्थ भिन्न नहीं ? सो ठीक नहीं । यदि सुख दुःख आदिको पृथिवी आदिके गुण माने जायंगे तो जिसतरह उनके रूप आदि गुण हैं उसीप्रकार सुख दुःख आदि भी होने चाहिये परंतु सो बात नहीं क्योंकि पृथिवी आदिके अवयव आपसमें मिले हों चाहें भिन्न हों उनके गुण रूप आदिकी क्रमसे हानि दीख पडती है—ऐसा कभी नहीं होता जो सर्वथा उनकी नास्ति हो जाय, परंतु शरीरके अवयव चाहे आपसमें मिले हुए हों चाहें भिन्न हों सुख दुःख आदि गुणोंकी उनमें क्रमसे हानि नहीं होती, एक साथ ही नास्ति हो जाती है अर्थात् मृतशरीरमें सुख दुःखकी जरा भी सत्ता नहीं रहती इसलिये रूप आदि गुणोंके साथ वैषम्य होनेसे सुख आदि पृथिवी आदिके गुण नहीं माने जा सकते। और भी यह बात है कि सुख दुःख आदि पृथिवी आदिके गुण माने जायगे तो मृतशरीरमें जिसतरह रूप आदि गुण दीख पडते हैं उसतरह तत्काल मृतशरीरमें सुख दुःख आदि भी दीख पडने चाहिये क्योंकि जीवित शरीरके समान मृतशरीरमें भी पृथिवी आदिका संयोग है । यदि यहांपर यह कहा जाय कि जीवित शरीरमें एक सूक्ष्म भूतस्वरूप पदार्थ था और उसके रहते ही सुख दुःख आदिकी सत्ता थी मृतशरीरमें वह नहीं रहा इसलिये उसमें सुख दुःख आदि नहीं ? सो भी ठीक नहीं। सूक्ष्म स्थूलका

कोई विभाग न कर सामान्यरूपसे सुख दुःख आदिको पृथिवी आदिका गुण माना है मृतशरीरमें सूक्ष्मभूत मत हो स्थूलभूत मौजूद है इसलिये सुख दुःख आदिकी उपलब्धि होनी चाहिये परंतु वह नहीं होती इसलिये सुख दुःख आदि पृथिवी आदिके गुण नहीं माने जा सकते। तथा यह भी बात है कि—

यदि सूक्ष्मभूतके नाश हो जानेपर सुख दुःख आदिकी भी उपलब्धि न होगी। यह कहा जायगा तब सुख दुःख आदि पृथ्वी आदिके व्यक्ति संबंधी धर्म ही माने जायगे समुदायके तो धर्म न माने जायंगे इसरीतिसे सुख दुःख आदिको समुदायका धर्मपना न होनेके कारण उसकी सिद्धिके लिये जो गुड अन्न आदिके समुदायके धर्म स्वरूप शरावका दृष्टांत दिया गया है वह अयुक्त है अर्थात् समुदायजन्य धर्मका दृष्टांत समुदाय जनित धर्मकी ही सिद्धि कर सकता पृथ्वी आदि व्यक्ति जनितधर्मकी नहीं इसलिये यहां शरावका दृष्टांत विषम दृष्टांत है। तथा और भी यह बात है—

जब सुख दुःख आदि पृथ्वी आदिके गुण हैं तब मृत शरीरमें उनकी उपलब्धि क्यों नहीं होती? इस दोषके परिहारमें नास्तिकने यह कहा है कि सूक्ष्मभूतके रहते ही सुख दुःख आदिकी उपलब्धि होती है। जीवित शरीरमें सूक्ष्मभूत था इसलिये वहांपर सुख दुःख आदिकी उपलब्धि थी, मृतशरीरमें वह नहीं रहा इसलिये वहांपर सुख दुःख आदिकी उपलब्धि नहीं। वहांपर हमारा (जैन सिद्धांतकारका) कहना है कि जिसप्रकार उपर्युक्त दोषकी निवृत्तिकेलिए सूक्ष्मभूतकी सिद्धि की गई है उसप्रकार आत्माकी भी सिद्धि क्यों नहीं मानी जाती अर्थात् उस सूक्ष्मभूतको आत्माके ही नामसे क्यों नहीं कह दिया जाता? इसलिये यह वात अच्छीतरह सिद्ध हो चुकी कि सुख दुःख आदि पृथ्वी जल आदिके धर्म नहीं आत्माके ही धर्म हैं और वह आत्मा पदार्थ सर्वसिद्धांत प्रसिद्ध है। तथा—

ऊपर जो यह कहा गया है कि पृथिवी आदिसे जन्य मूर्तिक इंद्रियोंका ही शरावसे व्यामोह होता है अमूर्तिक आत्मगुणोंका नहीं वहांपर यह पूछना है कि वे नेत्र आदि इंद्रियां वाह्य इंद्रियां हैं कि अंतरंग इंद्रियां हैं। यदि यह कहा जायगा कि वे वाह्य हैं तब तो वे अचेतन हुई और अचेतन पदार्थका व्यामोह होता नहीं यह ऊपर कह दिया जा चुका है। यदि यह कहा जायगा कि वे अंतरंग इंद्रियां हैं तब वहांपर भी यह प्रश्न उठता है कि वे चेतन हैं वा अचेतन हैं। यदि अचेतन माना जायगा तब अचेतन पदार्थका व्यामोह नहीं हो सकता यह पहिले सिद्ध किया जा चुका है। यदि उन्हें चेतन माना जायगा तब उन्हें विज्ञानस्वरूप ही मानना होगा फिर चेतनका ही व्यामोह होना युक्ति सिद्ध हो गया इसरीतिसे "आत्मा अमूर्त है इसलिये कर्मपुद्गलोंसे उसका व्यामोह नहीं हो सकता" यह कहना युक्ति बाधित है। शंका—

यदि आत्माको कर्मोंके उदयके आधीन वा शरावके आवेशके आधीन माना जायगा तो असली स्वरूपके प्रगट न होनेसे उसका अस्तित्व ही कठिन साध्य हो जायगा? सो ठीक नहीं। भले ही कर्मोंके उदय वा शरावके आवेशसे आत्मा अज्ञानी हो जाय परंतु उसके ज्ञानदर्शनरूप स्वरूपकी नास्ति नहीं हो सकती इसलिये उसके निजस्वरूपकी उपलब्धि रहनेके कारण उसकी नास्ति मानना अज्ञान है। इसी विषयका पोषक यह आगमका वचन भी है—

बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो होदि तस्स णाणत्तं, तम्हा अमुत्तिभावो णेयंतो होदि जीवस्स ॥ १ ॥
बंध प्रत्येकत्वं लक्षणतो भवति तस्य नानात्वं तस्मादमूर्तिभावो नैकांतो भवति जीवस्य ॥ १ ॥

अर्थात् कर्मप्रदेश और आत्मप्रदेशोंके आपसमें एकम एक होनेसे भले ही उन दोनोंको एक मान

लिया जाय परंतु लक्षणोंके भिन्न होनेसे दोनों भिन्न भिन्न स्वरूप हैं इसलिये जीवका अमूर्तिकपना एकांतसे नहीं किंतु अनेकांतसे है अर्थात् आत्मा कथंचित् मूर्तिक है कथंचित् अमूर्तिक है सर्वथा न मूर्तिक ही है और न अमूर्तिक ही है।

विशेष—भगवान धर्मनाथके पूर्वभवके जीव राजा दशरथको जिससमय वैराग्य हुआ उससमय वह दैगंबरी दीक्षा धारण करनेके लिये बन जाने लगा। उसका एक सुमंत्र नामका मंत्री चार्वाक मतका अनुयायी था जिससमय उसने अपने मतका तत्त्व बतला कर राजाको बनसे रोकना चाहा उससमय राजाने उसके मतका अच्छी तरह खण्डन किया और दिगंबर दीक्षा धारण करली। यह विषय धर्मशर्माभ्युदयमें इसप्रकार है——

तं प्रेक्ष्य भूपं परलोक सिद्ध्यै साम्राज्यलक्ष्मीं तृणवत्त्यजंतं ।
मंत्री सुमंत्रोऽथ विचित्रतत्त्व चित्रीयमाणामिव वाचमूचे ॥ ६२ ॥
देव त्वदारब्धमिदं विभाति नभःप्रसूनाभरणोपमानं ।
जीवाख्यया तत्त्वमपीह नास्ति कुतस्तनी तत्परलोकवार्ता ॥ ६३ ॥
न जन्मनः प्राङ् न च पंचतायाः परोविभिन्नेऽवयेव न चांत ।
विशन्न निर्यन्न च दृश्यतेऽस्माद्भिन्नो न देहादिव कश्चिदात्मा ॥ ६४ ॥
किं त्वत्र भूर्वह्निजलानिलानां संयोगतः कश्चन यंत्रवाहः ।
गुडान्नपिष्टोदकधातकीनामुन्मादिनी शक्तिरिवाभ्युदेति ॥ ६५ ॥
विहाय तद्दृष्टमदृष्टहेतोर्वृथा कृथाः पार्थिव माप्रयत्नं ।

को वा स्तनाग्राण्यवधूय धेनो दुंग्धं विदग्धो नतु दोधि शृंगं ॥ ६६ ॥

अर्थात् मंत्री सुमंत्रने राजा दशरथको परलोकके सुभीतेके लिये जिससमय विशाल राज्य लक्ष्मीको जीर्ण तृणके समान छोडते देखा वह विनयपूर्वक सामने आया और आश्चर्यकारी तत्त्वसे भरा हुआ इसप्रकार वचन कहने लगा—प्रभो! आपने जो यह कार्य करना प्रारम्भ किया है मुझे तो यह आकाशके फूलसे बनाया गया हार सरीखा जान पडता है क्योंकि जब संसारमें जीव नामका ही कोई पदार्थ नहीं तब उसके आधीन परलोकका अस्तित्व तो सर्वथा विरुद्ध है। महाराज! न तो जीव पदार्थ शरीरके पहिले देखा गया। न वादमें देखा गया। न शरीरके खण्ड खण्ड कर देनेपर बीचमें देखा गया। प्रवेश करता और निकलता हुआ भी नहीं देखा गया इसलिये मेरा तो यह निश्चय है कि शरीरसे भिन्न कोई भी आत्मा पदार्थ नहीं किंतु जिसप्रकार गुड अन्न आटा जल हड़ आदिके विलक्षण संबंधसे मद शक्ति व्यक्त हो जाती है उसीप्रकार पृथिवी अग्नि जल और पवनके संबंधसे उत्पन्न एक विलक्षण शक्ति जान पडती है उसीको लोगोंने आत्मा मान रक्खा है। इसलिये हे कृपानाथ! इस इष्ट विशाल साम्राज्य विभूतियोंमें लात मार कर अदृष्ट नेत्रोंसे नहीं दीख पडनेवाले परलोकके लिये जो आपका प्रयत्न है वह विकल्प है क्योंकि संसारमें ऐसा कोई भी विद्वान पुरुष नहीं देखा जो दूधकी आशासे गायके स्तनोंको न दुहकर उसके सींग दुहे। आपका विशाल विभूतिको छोडकर परलोकके लिये उद्योग करना स्तनोंको छोड कर गायके सींगोंको दुहना है इसलिये आप वनमें न जाकर इसी साम्राज्य विभूतिका उपभोग करें। राजा दशरथको यह सिद्धांत कब सह्य था बस—

श्रुत्वेत्यवादीन्नृपतिर्विधुन्वन्भानुस्तमांसीव च तद्वचांसि।

अपार्थमर्थं वदतः सुमंत्र नामापि ते नूनमभूदपार्थं ॥ ६७ ॥
जीवः स्वसंवेद्य इहात्मदेहे सुखादिवद्बाधकविप्रयोगात ।
काये परस्यापि स बुद्धिपूर्वव्यापारदृष्टेः स्व इवानुमेयः ॥ ६८ ॥
तत्कालजातस्य शिशोरपास्य प्राग्जन्मसंस्कारमुरोजपाने ।
नान्योऽस्ति शास्ता तदपूर्वजन्मा जीवोऽयमित्यात्मविदा न वाच्यं ॥ ६९ ॥
ज्ञानैक संवेद्य ममूर्तमेनं मूर्ता परिच्छेत्तुमलं न दृष्टिः ।
व्यापार्थमाणापि कृताभियोगैर्भिनत्ति न व्योम शितासियष्टिः ॥ ७० ॥
संयोगतो भूतचतुष्टयस्य मज्जायते चेतन इत्सवादि ।
मरुज्वलत्पावकतापिताम्भः स्थाल्यामनेकांत इहास्तु तस्य ॥ ७१ ॥
उन्मादिका शक्तिरचेतना या गुडादिसंबंधभवान्यदर्शि ।
सा चेतने ब्रूहि कथं विशिष्ट दृष्टांतकक्षामधिरोहतीह ॥ ७२ ॥
तस्मादमूर्तश्च निरत्ययश्च कर्ता च भोक्ता च सचेतनश्च ।
एकः कथंचिद्विपरीतरूपादवैहि देहात्पृथगेव जीवः ॥ ७३ ॥
निसर्गतोऽप्यूर्ध्वगतिः प्रसह्य प्राकर्मणा हंत गतीर्विचित्राः ।
स नीयते दुर्धरमारुतेन हुताशनस्येव शिखाकलापः ॥ ७४ ॥
तदात्मनः कर्मकलंकमूल मून्मूलयिष्ये सहसा तपोभिः ।
मणेरनर्घस्य कुतोऽपि लग्नं को वा न पंकं परिमार्ष्टि तोयैः ॥ ७५ ॥

अर्थात–जिसतरह सूर्यकी किरणें अंधकारको तितर वितर कर देती हैं उसीप्रकार मंत्रि सुमंत्रके वचनोंको तितर वितर करनेवाले राजा दशरथने उत्तर दिया। भाई सुमंत्र! तेरे नामका अर्थ तो अच्छी तरह विचार करनेवाला है परंतु तूने जो इससमय मिथ्या बात कही है उससे तेरे नामका अर्थ भी मुझे मिथ्या जान पडता है। भाई! 'जिसप्रकार' अहं सुखी अहं दुःखी' इस स्वसंवेदन प्रत्यक्षमें सुख दुःख का भान विना किसी बाधक प्रमाणके होता है उसीप्रकार अपने शरीरमें 'अहं अहं' इस आकारसे आत्माका भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है कोई भी इसका बाधक प्रमाण नहीं इसरीतिसे अपनेको स्वयं अपने शरीरमें आत्माका अस्तित्व जान पडता है और दूसरेके शरीरमें बुद्धि पूर्वक क्रियाओंके देखनेसे अर्थात् 'विना आत्माके रहते शरीरसे ऐसी क्रियायें नहीं हो सकतीं' इस अनुमान प्रमाणसे उसे जान लिया जाता है। देखो उत्पन्न होते ही मनुष्य गाय भैंस आदिका बच्चा दूध पीने लग जाता है उससमय सिवाय पूर्वजन्मके संस्कारके उसे दूध पीनेकी रीति बतलानेवाला कोई नहीं। यदि उसकी आत्मा इस जन्मके पहिले न होती तो वह एकदम नये कामको कभी नहीं कर सकता था इसलिये विद्वान मनुष्य को यह कभी न कहना चाहिये कि जीव अपूर्व जन्मा है पहिले इसका अस्तित्व ही न था। जिसप्रकार पैनी तलवार मूर्तिक पदार्थ है चाहे कितने भी प्रयत्नसे घुमाई जाय अमूर्तिक आकाशके खंड वह नहीं कर सकती उसीप्रकार यह जीव एक ज्ञानके ही द्वारा जाना जाता है और अमूर्त है इसलिये मूर्तिक नेत्र इंद्रिय कभी इसे नहीं देख सकती। पृथ्वी आदि भूतोंके विलक्षण संयोगसे आत्माकी उत्पत्ति होती है यह कहना व्यभिचारदोष ग्रस्त है क्योंकि जिस बटलोईमें पवनसे जलती हुई अग्निसे तपा हुआ जल भरा है वहांपर भी चारों भूतोंका समुदाय है इसलिये वहां भी चेतनकी उत्पत्ति होनी

चाहिये परंतु दीख नहीं पडती इसलिये पृथ्वी आदि भूत चेतनकी उत्पत्तिमें कारण नहीं हो सकते । भाई ! तुमने जो गुड अन्न आदिके संबंधसे होनेवाली अचेतन मद शक्तिका दृष्टांत चेतनकी उत्पत्तिमें दिया है उसे तुम्हीं विचारो कि क्या वह दृष्टांत विषम होनेसे यहां उपयुक्त है ? कभी नहीं । इसलिये अब यह अवश्य मानना होगा कि यह आत्मा अमूर्तिक अविनाशी कर्ता भोक्ता सचेतन और एक पदार्थ है। तथा अपने स्वरूपसे सर्वथा विपरीत शरीरसे सर्वथा पृथक् है। इस आत्माका ऊर्ध्वगमन स्वभाव है परंतु स्वभावसे ऊपरको जानेवाली अग्निकी शिखा जिसप्रकार प्रचंड पवनके वेगसे इधर उधर झुकरा जाती है उसीप्रकार कर्मके प्रबलवेगसे यह जीव भी खेदकारी अनेक प्रकारका गमन करता है । इस लिये जिसप्रकार अमूल्य मणिपर लगेहुए कीचडको हरएक व्यक्ति जलसे धोकर साफ करदेता है उसी-प्रकार मेरी आत्मापर जो कर्मोंकी कालिमा लगी हुई है उसे अवश्य ही अब मैं प्रचंड तपोंसे सर्वथा भिन्न करूंगा। सर्ग ४ पृष्ठ २९ ।

अनादिकालसे कर्मबंधके कारण कर्म और आत्माका एकम एक रहनेपर भी लक्षणके भेदसे भेद माना गया है परंतु अभीतक आत्माका क्या लक्षण है ? यह नहीं प्रतिपादन किया गया इसलिये सूत्रकार अब अत्माका लक्षण बतलाते हैं--

उपयोगोलक्षणं ॥ ८ ॥

अर्थ—चैतन्यके साथ रहनेवाले आत्माके परिणामका नाम उपयोग है वह उपयोग ही जीवका लक्षण है। वार्तिककार उपयोग शब्दका स्पष्ट अर्थ करते हैं--

वाह्याभ्यंतरहेतुद्वयसन्निधाने यथासंभवमुपलब्धुश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः ॥ १ ॥

वाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारके कारणोंका यथासंभव सान्निधान रहनेपर चैतन्य गुणके साथ साथ रहनेवाला जो कोई आत्माका परिणाम है उसका नाम उपयोग है। यहांपर दो जिसके अवयव हों वह द्वय कहा जाता है। वाह्य और अभ्यंतरके भेदसे कारण दो प्रकारका है। शंका—

वाह्य और अभ्यंतर इन दो नामोंके उल्लेखसे ही कारणको द्विविधपना सिद्ध था फिर द्वित्व अर्थ को प्रतिपादन करनेवाले 'द्वय' शब्दका उल्लेख व्यर्थ है? सो ठीक नहीं। वाह्य कारण भी दो प्रकारका है। अभ्यंतर कारण भी दो प्रकार है इसप्रकार वाह्य अभ्यंतर दोनोंमें प्रत्येक कारणके दो दो भेद हैं यह प्रतिपादन करनेके लिये द्वय शब्दका उल्लेख किया गया है और वह इसप्रकार है—

वाह्य कारण आत्मभूत और अनात्मभूतके भेदसे दो प्रकारका है। जिन नेत्र आदि इंद्रियोंका आत्माके साथ संबंध है और जिनके स्थानका परिमाण विशिष्ट नामकर्मके उदयसे परिमित है वे नेत्र आदि इंद्रियां आत्मभूत नामका वाह्य कारण है तथा अनात्मभूत वाह्य कारण प्रदीप आदि है। अंतरंग कारण भी आत्मभूत अनात्मभूतके भेदसे दो प्रकारका है वहांपर चिंता विचार आदिका आलंबन रूप मनोवर्गणा। वचनवर्गणा और कायवर्गणा स्वरूप अंतरंग रचना विशेष रूप जो द्रव्य योग है वह आत्मस्वरूपसे भिन्न होनेके कारण अनात्मभूत अभ्यंतर कारण है और उस द्रव्य योगसे होनेवाला वीर्यांतराय और ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मके क्षयोपशमसे जायमान जो आत्माका प्रसादस्वरूप परिणाम भाव योग है वह आत्मस्वरूप होनेके कारण आत्मभूत अभ्यंतर कारण है। वाह्य और अभ्यंतर दोनों प्रकारके कारणोंका सान्निधान उपलब्धिके कर्ता आत्माके होना ही चाहिये यह नियम नहीं किंतु यथासंभव उनकी उपलब्धि मानी है और वह इसप्रकार है।

विना दीपक आदिकी सहायताके बहुतसे जीवोंको नेत्र आदि इंद्रियोंके द्वारा घट पट आदि पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता इसलिये उनके ज्ञानमें दीपक आदि कारणोंका सन्निधान उपयुक्त है परंतु बाघ बिल्ली आदि बहुतसे जीवोंको पदार्थोंके जाननेमें दीपक आदिकी सहायता नहीं लेनी पडती इसलिये उनके ज्ञानमें दीपक आदिका सन्निधान उपयुक्त नहीं। पदार्थोंके ज्ञानमें चक्षु आदि इंद्रियोंके भी कारणपनेका नियम नहीं क्योंकि जो जीव पंचेंद्रिय है उनकी पांचों इंद्रियां पदार्थोंके ज्ञानमें कारण होती हैं। जो विकलेंद्रिय हैं उनकी चार तीन वा दो इंद्रियां कारण पडती हैं और जो एकेंद्रिय हैं उनकी एक ही स्पर्शन इंद्रिय कारण पडती है। ज्ञानकी उत्पत्तिमें मन वचन कायरूप योग भी नियमितरूपसे कारण नहीं क्योंकि जो जीव असैनी पंचेंद्रिय हैं उनके मनोयोग नहीं होता। सैनी पंचेंद्रियोंके तीनों योग कारण होते हैं। एकेंद्रिय जीव, विग्रहगतिवाले जीव, तथा समुद्धात दशाको प्राप्त भगवान सयोगकेवली एक काययोग ही कारण पडता है। तथा इसीतरह द्रव्ययोगसे जायमान भाव मन वचन कायस्वरूप भावयोग भी नियमित रूपसे ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण नहीं क्योंकि उपर्युक्त द्रव्ययोगके समान असैनी जीवोंके भाव मनोयोग कारण नहीं एकेंद्रिय आदि जीवोंके केवल भावकाययोग ही कारण है शेष भावयोग नहीं संज्ञी पंचेंद्रियोंके तीनों प्रकारके भावयोग ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण होते हैं। तथा क्षीणकषाय गुणस्थानमे पहिले पहिले क्षायोपशमरूप भाव है और उसके बाद क्षायिकभाव है। इसप्रकार बाह्य और अभ्यंतर कारणोंके यथासम्भव सन्निधान रहते जिसप्रकार सुवर्णमयी कडे बाजूबंध और कुण्डल आदि विकार सुवर्णका अनुविधान करनेवाले हैं—सुवर्णसे भिन्न नहीं उसीप्रकार जो परिणाम अनादिकालीन आत्माके चैतन्य स्वभावका अनुविधान करनेवाला अर्थात् चैतन्य स्वरूप है उसका नाम उपयोग है। शंका—

चैतन्यको सुख दुःख मोहस्वरूप माना गया है। उसके अनुविधान करनेवाले सुख दुःख क्रोध आदि ही परिणाम होंगे इसलिये यहांपर इन्हीं परिणामोंको उपयोग मानना पडेगा परंतु उपयोगके भेद आगे ज्ञान और दर्शन माने हैं इसलिये यहांपर पूर्वापर विरोध जान पडता है ? सो ठीक नहीं। चैतन्य आत्मा का एक सामान्य धर्म है। पुद्गल आदि द्रव्योंमें चैतन्यका अभाव है इसलिये वे जीव नहीं कहे जाते तथा उस चैतन्यके ज्ञान दर्शन आदि भेद हैं इसरीतिसे चैतन्य शब्द ज्ञान दर्शन आदिके समुदायका वाचक है। सुख आदि उसी समुदायके अवयव हैं इसलिये कहीं कहीं पर उन्हें भी चैतन्य कहनेमें कोई हानि नहीं क्योंकि यह नियम है कि जो शब्द समुदायरूप अर्थका वाचक है वह अवयव स्वरूप अर्थ को भी कहता है। यहांपर चैतन्य शब्द ज्ञान दर्शन आदि समुदायको कहता है वही अवयव स्वरूप सुख आदिका भी वाचक है। इसरीतिसे जब सुख आदि तथा ज्ञान दर्शन सब ही चैतन्यके भेद हैं तब सुख दुःख क्रोध आदि स्वरूप ही उपयोग पदार्थ है ज्ञान दर्शनस्वरूप नहीं, यह कहना बाधित है। उपयोगके ज्ञान और दर्शन भेद आगे कहे जांयगे। सूत्रमें जो लक्षण शब्द है उसका अर्थ वार्तिककार बतलाते हैं—

परस्पर व्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणं ॥ २ ॥

बंध स्वरूप परिणामके द्वारा आपसमें एक दूसरेके अनुप्रविष्ट हो जानेसे एकम एक रहनेपर भी जिसके द्वारा भिन्नता जानी जाय वह लक्षण कहा जाता है जिसतरह बंधरूप परिणामके द्वारा सोना

१। 'व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणं' यथाग्नेरौष्ण्यं। परस्पर मिली हुई वस्तुओंमेंसे किसी एक वस्तुको भिन्न करनेमें जो कारण हो उसका नाम लक्षण है जिसप्रकार अग्नि उष्ण है यहांपर पदार्थसमूहसे अग्निको जुदा करनेवाला उष्णत्व है इसलिये वह लक्षण है।

चांदी भले ही एकम एक हो जांय तथापि उनके असाधारण धर्म—पीला सफेद स्वरूप वर्ण और प्रमाण आदि उनकी जुदाईमें कारण हैं इसलिये वे लक्षण हैं। शंका——

अलक्षणमुपयोगो गुणगुणिनोरन्यत्वमिति चेन्नोक्तत्वात् ॥ ३ ॥

जिसप्रकार उष्णता गुण है और अग्नि गुणी है उसीप्रकार ज्ञान आदि गुण और आत्मा गुणी है। गुणका लक्षण जुदा माना गया है और गुणीका लक्षण जुदा माना गया है इसलिये लक्षणके भेदसे आत्मा और ज्ञान आदि गुणोंको आपसमें भिन्न मानना चाहिये ? सो ठीक नहीं। जिसप्रकार उष्णता को अग्निका स्वभाव माने विना अग्निका निश्चय नहीं किया जा सकता उसी प्रकार यदि ज्ञान आदि गुणोंको आत्माका स्वभाव न माना जायगा—आत्मासे भिन्न माना जायगा तो आत्मापदार्थका भी निश्चय न हो सकेगा यह वात खुलासारूपसे ऊपर वता दी गयी है इसलिये आत्मा और ज्ञान आदि गुणोंका सर्वथा भेद सिद्ध नहीं हो सकता। यदि यहांपर फिर यह शंका की जाय कि——

लक्ष्यलक्षणभेदादिति चेन्नानवस्थानात् ॥ ४ ॥

गुणीको लक्ष्य माना गया है और गुणको लक्षण माना गया है। लक्ष्यसे लक्षणको भिन्न होनाही चाहिए इसलिए लक्ष्य लक्षणके भेदसे आत्मा और गुणका आपसमें भेद मानना आवश्यक है। सो ठीक नहीं। क्योंकि वहांपर यह प्रश्न उठता है कि जिस लक्षणसे लक्ष्य जाना जाता है उस लक्षणका कोई अन्य लक्षण है कि नहीं है। यदि यह कहा जायगा कि उसका कोई लक्षण नहीं है वह लक्षण—स्वरूप रहित है तो जिसप्रकार मैंढककी चोटी वा गधेके सींग असंभव पदार्थ हैं इसलिए इनका अभाव है उसीप्रकार लक्षणका भी अभाव कहना पड़ेगा और जव लक्षण पदार्थ ही संसारमें न रहेगा तव किसी

लक्ष्यका भी निश्चय न हो सकेगा। यदि यह कहा जायगा कि उसका दूसरा लक्षण है तब वह भी अपने लक्ष्यसे अन्य कहना पडेगा उसका भी दूसरा लक्षण होगा वह भी अपने लक्ष्यसे अन्य कहना पडेगा इसप्रकार अप्रामाणिक अनेक पदार्थोंकी कल्पनासे अनवस्था दोष होगा। इसरीतिसे अनवस्थाके भयसे लक्ष्य लक्षणका सर्वथा भेद नहीं माना जा सकता एवं जब लक्ष्य लक्षणका सर्वथा भेद सिद्ध नहीं तब ज्ञान आदि गुण भी आत्मासे सर्वथा भिन्न सिद्ध नहीं हो सकते। और भी यह वात है कि—

आदेशवचनात् ॥ ५ ॥

लक्ष्य और लक्षणके कथंचित् अभेदसे आत्मा और ज्ञान आदि गुण एक हैं और दोनोंके नाम भेद आदि जुदे जुदे हैं इसलिए वे दोनों आपसमें भिन्न भी हैं यह अनेकांत सिद्धांतकी आज्ञा है इसलिए लक्ष्य और लक्षणके भेद रहनेसे आत्मा और ज्ञान सर्वथा भिन्न भिन्न पदार्थ हैं यह यहांपर सर्वथा एकांती दोष लागू नहीं हो सकता। यदि यहांपर यह कोई शंका करे कि—

नोपयोगलक्षणो जीवस्तदात्मकत्वात् ॥ ६ ॥ विपर्यय प्रसंगात् ॥ ७ ॥ नातस्तत्सिद्धेः ॥ ८ ॥

संसारमें यह एक सामान्य नियम प्रचालित है कि जो पदार्थ जिस स्वरूप होता है वह उसी स्वरूपसे उपयुक्त नहीं होता, किंतु अपनेसे भिन्न स्वरूपसे उपयुक्त होता है जिसप्रकार दूधका स्वरूप दूध है वह कभी अपने स्वरूपसे उपयुक्त नहीं देखा गया। आत्माको भी ज्ञान आदि गुणस्वरूप माना गया है इसलिए वह भी ज्ञान आदिसे उययुक्त नहीं कहा जा सकता इसरीतिसे ज्ञान आदिको जो जीवका उपयोग माना गया है वह बाधित है। और भी यह वात है कि—

ज्ञानसे अभिन्न जीव ही ज्ञानस्वरूपसे उपयुक्त होता है दूध आदि अपने दूध आदि स्वरूपसे नहीं

यदि यही माना जायगा तो यह भी विपरीत और परको अनिष्ट कल्पना की जा सकती है कि दूध आदि पदार्थ ही दूध आदि पदार्थोंके साथ उपयुक्त होते हैं, जीव अपने ज्ञानस्वरूपसे उपयुक्त नहीं होता इसरीतिसे अभिन्न रहनेपर भी यदि एक जगह उपयोगकी कल्पना इष्ट और निर्दोष मानी जायगी तो दूसरी जगह अनिष्ट और सदोष भी उसकी कल्पना जवरन इष्ट और ठीक माननी होगी तथा बलवान युक्तिके अभावमें क्षीर आदिमें उपयोगकी कल्पना हो जानेसे और जीवमें उसका प्रतिषेध हो जानेसे अनिष्ट पदार्थ सिद्ध होगा। सारार्थ—यह है कि उपयोग शब्दका अर्थ संबंधित होनेका है। जो पदार्थ आपसमें सर्वथा भिन्न होते हैं उन्हींके अंदर उपयोगका व्यवहार हो सकता है सर्वथा अभिन्न पदार्थोंमें नहीं। आत्मा और ज्ञान आदि पदार्थ सर्वथा अभिन्न हैं इसलिए उनमें उपयोगका व्यवहार नहीं हो सकता ? सो ठीक नहीं। जहांपर सर्वथा भेद है वहांपर उपयोगका व्यवहार नहीं हो सकता जिसतरह आकाश रूप आदि गुणोंसे सर्वथा भिन्न है इसलिए 'आकाश रूप आदि गुणोंसे उपयुक्त है' यह व्यवहार नहीं होता किंतु जहांपर कथंचित् अभेद है वहींपर उपयोगका व्यवहार होता है। आत्मा और ज्ञानका आपसमें अभेद संबंध है इसलिए 'आत्मा ज्ञान आदिसे उपयुक्त है' यह व्यवहार निरापद है। तथा दूध दूधस्वरूप है इसलिए अपने स्वरूपसे वह उपयुक्त नहीं हो सकता' यह जो कहा गया था वह भी ठीक नहीं क्योंकि अभेद संबंध रहनेसे वहांपर भी उपयोगका व्यवहार है और वह इसप्रकार है—

गाय भैंस आदि दूधवाले जीवों द्वारा खाए गए तृण जल आदि पदार्थ दूधस्वरूप परिणत हो जाते हैं यह सर्व सम्मत बात है। वहांपर तृण जल आदि कारणोंके द्वारा जिससमय दूध अपने दूध-स्वरूप परिणामके सन्मुख होता है उसीसमयमे उसका दूध नाम पड जाता है एवं दूधस्वरूप परिणमन

होनेकी जो उसके अंदर शक्ति है वह उससे अभिन्न है उस अभिन्न शक्तिसे वह दूधस्वरूप परिणत हो जाता है इसलिये दूधका अपने ही स्वरूपसे परिणत होना जिसप्रकार यहां युक्त माना जाता है उसी प्रकार आत्मा भी अपनी ज्ञानादि स्वभावरूप शक्तिसे अभिन्न है उसी शक्तिके आधीन होकर वह घट पट आदि पदार्थोंके अवग्रहज्ञान स्वरूप परिणामसे परिणत होता है इसलिये उसका भी अवग्रहज्ञान स्वरूप परिणामसे परिणत होना ठीक है। उस अवग्रह आदिका ही नाम उपयोग है। यदि ज्ञान आदि उपयोगका परिणमन न माना जायगा तो आत्माका स्वस्वरूप न सिद्ध होनेसे उसका अभाव ही हो जायगा और आत्माके अभावमें उपयोग पदार्थ भी सिद्ध न हो सकेगा इसलिये आत्माका उपयोग लक्षण मानना अयुक्त नहीं तथा——

उभयथापि त्वद्वचना सिद्धेः ॥ ९ ॥

अनकांतवाद समन्वित भगवान अर्हंतके सिद्धांतको न समझकर शंकाकारने जो यह कहा था कि 'जो पदार्थ जिस स्वरूप होता है उसका उसस्वरूपसे परिणाम नहीं होता' वह भी अयुक्त है क्योंकि जहांपर किसी वातका खंडन किया जाता है वहांपर अपने पक्षकी सिद्धि की जाती है और परपक्षमें दूषण दिखाये जाते हैं परंतु शंकाकार जो पदार्थ जिस स्वरूपसे है उसी स्वरूपसे तो उसका परिणाम मानता नहीं इसलिये उसके मतमें ये दोनों ही वातें असिद्ध हैं और उनकी असिद्धि इसप्रकार है——

जिसप्रकार ज्ञान गुणका 'जानपना' यह परिणाम माना जाता है उसीप्रकार जो अपना वचन स्वपक्षका साधन और परपक्षका दूषण स्वरूप है उसका भी 'अपने पक्षको सिद्धकरना' और 'दूसरेके पक्षको दूषितकरना' यह परिणाम है । जो वादी उपयोगको आत्मस्वरूप नहीं मानता उससे भिन्न

स्वीकार करता है उसके स्वपक्षका साधन और परपक्षका दूषणस्वरूप वचनका अपनेपक्षका सिद्धकरना और परपक्षको दूषितकरना रूप परिणाम नहीं हो सकता क्योंकि जो पदार्थ जिस स्वरूप होता है उसका उस स्वरूपसे परिणाम नहीं होता 'स्वपक्ष साधन और परपक्ष दूषणस्वरूप अपने वचनका स्वपक्षको सिद्ध करना और परपक्षको दूषित करना रूप परिणाम है इसलिये वह भी नहीं बन सकता परंतु जिस-प्रकार वादीको दूधका दही परिणाम इष्ट है क्योंकि वह दूधसे भिन्न है किंतु दूधका दूधस्वरूपसे परिण-मन होना इष्ट नहीं क्योंकि वहांपर अभेद है उसी प्रकार वादीका जो स्वपक्षसाधन रूप वचन है उसका स्वपक्षका सिद्ध करना यह तो परिणाम होगा नहीं क्योंकि वह स्वपक्षसाधनस्वरूप वचनसे अभिन्न है किंतु परपक्षका दूषित करना यही परिणाम होगा क्योंकि वह स्वपक्षसाधनरूप वचनसे भिन्न है इसलिये 'उपयोग आत्मासे भिन्न होता है' इस स्वपक्ष सिद्धिमें जो साधक कारण कहे गये हैं वे स्वपक्षको सिद्ध करनारूप स्वस्वरूपसे परिणत न होनेके कारण ठीक नहीं। तथा इसी प्रकार वादीका जो परपक्ष दूषण रूप वचन है उसका भी 'परपक्षको दूषितकरना' यह तो परिणाम होगा नहीं क्योंकि वह परपक्षदूषण स्वरूप वचनसे अभिन्न है किंतु स्वपक्षका सिद्धकरना यहीं परिणाम होगा क्योंकि वह परपक्षदूषण स्वरूप वचनसे भिन्न है इसलिये 'उपयोग' आत्मासे अभिन्न होता है' इस परपक्षमें जो दूषण दिये गये हैं वे स्वरूपसे परिणत न होनेके कारण अयुक्त हैं। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

स्वपक्षका साधक और परपक्षका दूषक भी वचन 'अपने पक्षको सिद्ध करना और परपक्षको दूषित करना रूप अपनी पर्यायोंसे परिणत होता है ऐसा हम मानते हैं तब यह जो तुमने कहा है कि उपयोग, आत्मस्वरूप नहीं होता भिन्नही होता है। यदि उसे आत्मस्वरूप माना जायगा तो उसका उपयोग

स्वरूपसे परिणाम नहीं हो सकता इसलिये आत्माका ज्ञानादिस्वरूपसे परिणमन मानना ठीक नहीं यह कहना बाधित है किंतु स्वपक्षसाधक परपक्षदूषक स्वरूप वचनका अपने पक्षको सिद्ध करना और परपक्षको दूषितकरना रूप अभिन्न भी परिणामको जिसप्रकार वादी मानता है उसीप्रकार आत्माका भी उपयोग परिणाम मानना चाहिये । तथा——

स्वसमयविरोधात् ॥ १० ॥

'जो पदार्थ जिस रूपसे है उस रूपसे उसका परिणाम नहीं होता' यदि नास्तिक वादीको यह इष्ट है तब उसने रूप रस आदि गुणस्वरूप पृथिवी जल तेज और वायु इन चार महाभूतोंको जो माना है उनका रूप आदि स्वरूपसे परिणाम न होगा क्योंकि रूप आदि पृथिवी आदिके ही परिणाम हैं उनसे भिन्न नहीं । किंतु नास्तिक मतमें सफेद काला आदि रूप, खट्टा मीठा चरपरा आदि रसादिस्वरूप विशेष परिणाम उनका माना है इसलिये यह माननेसे कि जो पदार्थ जिस स्वरूप होता है उसका उसरूपसे परिणाम नहीं होता पृथिवी आदिका विशिष्ट रूप आदि परिणाम जो उनके शास्त्रमें स्वीकार किया है वह नहीं बनता यह उनके आगमका विरोध है । तथा यह भी बात है कि—

केनचिद्विज्ञानात्मकत्वात् ॥ ११ ॥

विज्ञानाद्वैतवादी; आत्माको सर्वथा विज्ञानस्वरूप मानता है अन्य पर्याय स्वरूप नहीं इसलिये 'जो पदार्थ जिस स्वरूपसे है उस रूपसे उसका परिणाम नहीं होता' यह सिद्धांत उसीके मतमें लागू हो सकता है क्योंकि आत्माका एक ही विज्ञान स्वरूप होनेसे यदि वह अन्य किसी पर्यायस्वरूप परिणत माना जायगा तो उसका केवल विज्ञानस्वरूप ही नष्ट हो जायगा । यदि यहां यह कहा जायगा कि

ज्ञानस्वरूप आत्मा तो आर्हत सिद्धांतमें भी माना गया है इसलिये वहांपर भी आत्माका ज्ञानस्वरूपसे परिणमन नहीं बन सकता, विज्ञानवादीके ही मतमें यह दोष क्यों दिया गया ? सो ठीक नहीं। जैन-सिद्धांतमें आत्माकी अकेली विज्ञान ही पर्याय नहीं मानी गई दर्शन सुख आदि भी पर्यायें स्वीकार की गई हैं। जिससमय विज्ञान पर्यायकी विवक्षा की जायगी उससमय आत्मा विज्ञानस्वरूप है और जिस समय उससे भिन्न किसी पर्यायकी विवक्षा की जायगी उससमय उस पर्यायस्वरूप है इसरीतिसे कथंचित् तत्स्वरूप और कथंचित् अतत्स्वरूप आत्मा पदार्थके माननेसे उसका परिणमन होना अबाधित है क्योंकि अनेक पर्यायस्वरूप आत्माको माननेपर कुछ न कुछ उसकी पर्याय सदा पलटती माननी ही होगी अन्यथा वह अनेक पर्यायस्वरूप नहीं कहा जा सकता किंतु जिनके मतमें सर्वथा एक विज्ञानस्वरूप ही आत्मा है अथवा अन्य किसी एक ही स्वरूप है उनके मतमें आत्माका परिणमन नहीं बन सकता क्योंकि दूसरे किसी पर्यायस्वरूप परिणत होनेपर उसका विज्ञान वा अन्य कोई निश्चित स्वरूप कायम नहीं रह सकता तथा इसरीतिसे जब आत्माका परिणमन ही सिद्ध नहीं हो सकता तब उसके अंदर द्रव्यका लक्षण न घटनेसे आत्मा पदार्थ ही सिद्ध नहीं हो सकता। तथा—

तदात्मकस्य तेनैव परिणामदर्शनात् क्षीरवत् ॥ १२ ॥

दूधका पतलापन मीठा सफेद आदि स्वभाव है उस स्वभावको न छोडकर जिससमय उसका गुड चीनी आदि पदार्थोंके साथ संबंध होता है उससमय उसके गुड मिश्रित दूध चीनी मिश्रित दूध आदि नाम हो जाते हैं। तथा जिससमय वह गौके थनसे निकलता है उससमय गरम और थोडी देरी वाद ठंडा हो जाता है। पुनः अग्निके संबंधसे वह गरम और गाढा हो जाता है फिर थोडी देर वाद ठंडा

हो जाता है इसरीतिसे उसका गरम दूध ठंडा दूध मीठा दूध आदि नामोंसे संसारमें व्यवहार होता है और वह अपने दूधस्वभावको न छोडकर अपने दूधस्वरूपसे ही परिणत होता रहता है। यदि वह अपने दूधस्वरूपसे न परिणमे तो गरम दूध ठंडा दूध आदि व्यवहारोंमें जो दूध नाम सुन पडता है वह न सुन पडे उसीप्रकार इस आत्माका भी ज्ञान आदि उपयोग स्वरूप है। अपने उपयोग स्वरूपको न छोडकर सदा इसका ज्ञानस्वरूपसे परिणमन होता रहता है इसरीतिसे जो पदार्थ जिस स्वरूप होता है जब उसका उसी रूपसे परिणाम होता दीख पडता है तब ज्ञान भी आत्माका स्वरूप है इसलिए ज्ञानस्वरूपसे उसका परिणमन होना बाधित नहीं। तथा सर्वोपरि बात यह है कि—

अतश्चैतदेवं यदि हि न स्यान्निष्परिणामत्वप्रसंगोऽर्थस्वभावसंकरो वा ॥ १३ ॥

जो पदार्थ जिस रूपसे है यदि उस रूपसे उसका परिणाम न माना जायगा तो सब पदार्थ अपरिणामी ठहरेंगे। अपरिणामी कहने पर उन्हें सर्वथा नित्य माना जायगा, जो पदार्थ सर्वथा नित्य होता है उसमें क्रिया कारकका व्यवहार नहीं होता इसरीतिसे जीव जानता है देखता जीता है, पुद्गल उत्पन्न होता है इत्यादि सभी संसारका व्यवहार लुप्त हो जायगा। यदि सब पदार्थोंका स्वरूपसे परिणाम न मानकर पररूपसे परिणाम माना जायगा तो एक पदार्थ दूसरे पदार्थस्वरूप मानना होगा इसरीतिसे समस्त पदार्थोंके स्वभावोंका सांकर्य होनेसे किसी भी पदार्थका कोई भी प्रतिनियत स्वभाव न ठहरेगा। यदि यहांपर दोनों पक्ष ही स्वीकार किए जांय कि स्वस्वरूपसे भी परिणमन होता है और पररूपसे भी परिणमन होता है तो उनका स्वस्वरूपसे परिणाम होता है यह बात सिद्ध हो गई। इसरीतिसे स्वस्वरूप उपयोगरूपसे, जब आत्माका परिणाम युक्ति सिद्ध है तब उपयोग लक्षण उसका बाधित नहीं। यदि यहांपर बौद्ध यह शंका करे कि—

उपयोगलक्षणानुपपत्तिर्लक्ष्याभावात् ॥ १४ ॥

मिली हुई वस्तुओंमें किसी खास पदार्थको जुदा करनेवाला लक्षण होता है और जिसका वह लक्षण किया जाता है वह लक्ष्य माना जाता है यह बात ऊपर लिखी जा चुकी है। यह नियम है जो लक्ष्य संसारमें विद्यममान होता है उसीका लक्षण किया जाता है अविद्यमानका नहीं। जिसतरह 'दंडी देवदत्तः' यहांपर लक्ष्य देवदत्त नामका पुरुष विद्यमान है इसलिये उसका दंड लक्षण उपयुक्त है किंतु शशविषाण वांझका पुत्र आकाश पुष्प आदि पदार्थ संसारमें विद्यमान नहीं इसलिये उनका लक्षण नहीं किया जा सकता। यहांपर आत्मा लक्ष्य और उपयोग लक्षण माना गया है जब आत्मा ही पदार्थ संसारमें सिद्ध नहीं तब उसका उपयोग लक्षण सिद्ध नहीं हो सकता। आत्माका अभाव क्यों है इसकी पूर्ति नीचेकी वार्तिकसे होती है—

तदभावश्चाकारणत्वादिभिः ॥ १५ ॥ सत्यपि लक्षणत्वानुपपत्तिरनवस्थानात् ॥ १६ ॥

संसारमें जितने भी पदार्थ देखे गये हैं सब ही कारणवान देखे गये हैं। आत्मा भी पदार्थ है परंतु उसका कारण कोई भी निश्चित नहीं इसलिये जिसप्रकार मेंढककी चोटीका उत्पादक कोई भी कारण न सिद्ध रहनेसे उसका अभाव है उसीप्रकार आत्मपदार्थका भी उत्पादक कोई कारण नहीं इसलिये उसका भी अभाव है। अथवा आत्मा पदार्थ हो तो भी उसका जो उपयोग लक्षण माना है वह नहीं बन सकता क्योंकि जो पदार्थ अनवस्थित है वह लक्षण नहीं कहा जाता है। उपयोगको ज्ञान दर्शनस्वरूप माना है और वह क्षणिक है इसलिये अवस्थित न रहनेके कारण वह लक्षण नहीं कहा जा सकता इस-रीतिसे 'देवदत्तका घर कौन है' ऐसे पूछनेपर उत्तर मिलता है कि जिसके नीचे काक बैठा है वही देव-

दत्तका घर है' यहांपर जिसप्रकार जबतक काक बैठा है तबतक देवदत्तका घर है और काकके उडजाने पर देवदत्तका घर नष्ट हो जाता है उसीप्रकार क्षणविनाशीक ज्ञान और दर्शनस्वरूप आत्माके मानने पर जबतक ज्ञान और दर्शन है तबतक आत्मा है और जब उनका नाश होगा उससमय आत्माका भी नाश होगा क्योंकि स्वस्वरूप उपयोगके अभावमें आत्माका भी अभाव हो जाता है इसरीतिसे आत्मा का उपयोग लक्षण नहीं बन सकता ? इसका समाधान वार्तिककार देते हैं—

आत्मनिन्हवो न युक्तः साधनदोषदर्शनात् ॥ १७ ॥ हेतुरयमसिद्धो विरुद्धोऽनैकांतिकश्च ॥ १८ ॥

'नास्त्यात्मा अकारणत्वान्मंडूकशिखंडवत्' अर्थात् आत्मा कोई पदार्थ नहीं क्योंकि उसका कोई कारण सिद्ध नहीं जिसतरह मेंढककी चोटी । इस अनुमानसे आत्माका अभाव किया जाता है परंतु वह ठीक नहीं क्योंकि यहांपर जो 'अकारणत्वात्' यह हेतु है वह असिद्ध विरुद्ध और अनैकांतिक रूप जो हेतुके दोष माने गये हैं उनसे दुष्ट है। और वह इसप्रकार है—

नरक देव आदि पर्यायें आत्मद्रव्यसे भिन्न नहीं, आत्मद्रव्यस्वरूप ही हैं और नरक आदि पर्यायों-के उत्पादक कारण मिथ्यादर्शन अविरति आदि शास्त्रमें वर्णित हैं इसरीतिसे जब आत्माका उत्पादक कारण सिद्ध है तब अकारणत्वरूप हेतु आत्मारूप पक्षमें न रहनेके कारण स्वरूपासिद्ध[1] है । तथा जो

१—'असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः ॥ २२ ॥ अध्याय ६ । जिसकी सत्ताका पक्षमें अभाव हो वा निश्चय न हो उसे असिद्ध कहते हैं अर्थात् जिस हेतुका स्वरूपही नहीं बन सके उसे स्वरूपासिद्ध कहते हैं और जिसकी सत्ताका पक्षमें निश्चय न हो वह संदिग्धासिद्ध है। जिसतरह शब्द परिणामी है क्योंकि वह चाक्षुष नेत्रका विषय है यहांपर शब्दरूप पक्षमें न रहनेके कारण चाक्षुषत्व हेतु स्वरूपासिद्ध है। क्योंकि शब्दका चाक्षुपस्वरूप ही नहीं बनता तथा जिसको धूमका यथार्थरूपसे ज्ञान नहीं उससे यह कहना कि यहां

वादी सभी पदार्थ सकारणक हैं यह मानकर और आत्मद्रव्यका कोई भी उत्पादक कारण न जानकर उसे नहीं मानता उसके मतमें आत्मद्रव्य तो प्रसिद्ध है नहीं पर्याय पदार्थ ही प्रसिद्ध हैं एवं एक पर्यायके आश्रय दूसरी पर्याय नहीं रहती यह नियम उसे इष्ट है तब 'अकारणपना' भी पदार्थकी पर्याय है इसलिए उसकी आश्रय कोई भी पर्याय न होनेके कारण अकारणत्व हेतु आश्रयासिद्ध[1] है। तथा—

द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा घट पट आदि द्रव्य अकारण भी हैं और विद्यमान भी हैं। जो विद्यमान है वह सदा रहनेवाला है उसका कभी भी नाश और उत्पाद नहीं होता इसलिये उसकेलिये कारणोंकी आवश्यकता नहीं पडती किंतु जो पदार्थ अविद्यमान रहता है उसीकेलिए कारणोंकी आवश्यकता पडती है क्योंकि कार्यकी उत्पत्तिकेलिये योग्य कारणोंका रहना नियमित है तथा ऐसा कोई द्रव्य देख भी नहीं गया जो नित्य विद्यमान हो और कारणवान भी हो इसरीतिसे जब नित्य और विद्यमान पदार्थ ही नियमसे अकारणक होता है तब उपर्युक्त अनुमानमें नास्तित्वसे विरुद्ध आस्तित्वके साथ व्याप्ति होनेसे अकारणत्व विरुद्ध[2] हेत्वाभास है। तथा—

अग्नि है क्योंकि धूवां है यह संदिग्धासिद्ध है क्योंकि मूर्ख मनुष्य बटलोईमें भाप देखकर यह संदेह कर बैठता है कि यहांपर धूवां है या नहीं। इसलिए पक्षमें हेतुका निश्चय न रहनेसे मुग्धबुद्धि पुरुषकी अपेक्षा धूम हेतु यहांपर संदिग्धासिद्ध है। परीक्षामुख।

१—जैनसिद्धांतमें असिद्धहेत्वाभासके स्वरूपासिद्ध और संदिग्धासिद्ध ये दो ही भेद माने हैं परंतु परसिद्धांतमें—

आश्रयासिद्धिराद्या स्यात्स्वरूपासिद्धिरप्यथ। व्याप्यत्वासिद्धिरपरा स्यादसिद्धिरतस्त्रिधा ॥ ७६ ॥ मुक्तावली।

इस कारिकाके अनुसार आश्रयासिद्धि स्वरूपासिद्धि और व्याप्यत्वासिद्धि ये तीन भेद हैं। जिस हेतुका आश्रय सिद्ध न हो वह आश्रयासिद्ध हेत्वाभास है।

२—विपरीतनिश्चितभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् ॥ २९ ॥ अध्याय ६। जिस हेतुका अविनाभाव संबंध (व्याप्ति)

मैढककी शिखा वा आकाशपुष्प आदि पदार्थ संसारमें असिद्ध हैं तथापि असत् प्रतीतिमें कारण होनेसे काल्पनिक सत्ता उनकी संसारके अंदर मानी गई है परंतु उनके उत्पादक कारण कोई नहीं इसलिये वे अकारणक हैं इसरीतिसे द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा सत् पदार्थ घट पट आदि रूप पक्ष और असत् स्वरूप मैढककी शिखा आदि विपक्ष दोनोंमें रहनेके कारण अकारणत्व हेतु अनैकांतिक—व्यभिचारी है। तथा—

साध्यसे विपरीतके साथ निश्चित हो उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं जिसतरह शब्द परिणामी नहीं है क्योंकि वह कृतक है। यहांपर कृतकत्वहेतुकी व्याप्ति अपरिणामित्वसे विपरीत परिणामित्वके साथ है क्योंकि जो कृतक होता है वह नियमसे परिणामी (अनित्य) ही हो सकता है अपरिणामी [नित्य] नहीं इसलिये साध्यसे विपरीतके साथ व्याप्ति रहनेसे यहां कृतकत्व हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है।

१—विपक्षेऽप्यविरुद्ध वृत्तिरनैकांतिकः ॥ ३० ॥ अध्याय ६। जो हेतु पक्ष सपक्ष विपक्ष तीनोंमें रहे वह अनैकांतिक हेत्वाभास है। उसके दो भेद हैं एक निश्चितवृत्ति दूसरा शंकितवृत्ति। उनमें "निश्चितवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् घटवत्। आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयात् ॥ ३१ ॥ जो हेतु विपक्षमें निश्चयरूपसे रहै उसे निश्चितवृत्ति अनैकांतिक कहते हैं जिसप्रकार शब्द अनित्य है क्योंकि प्रमेय है जैसे घडा। यहांपर प्रमेयत्व हेतु निश्चित विपक्षवृत्ति अनैकांतिक है क्योंकि वह नित्य पदार्थ आकाश आदिमें निश्चित रूपसे रहता है "शंकितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात्। सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधात्। जो हेतु विपक्षमें संशयरूपसे रहे उसे शंकितवृत्ति अनैकांतिक कहते हैं जिसप्रकार सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि बोलनेवाला है यहांपर वक्तृत्व हेतु शंकितविपक्षवृत्ति अनैकांतिक है क्योंकि एक जगह सर्वज्ञ और वक्तृत्व रह सकते हैं आपसमें दोनोंका विरोध नहीं। प्रकृतमें आत्माके अभावका साधक अकारणत्व हेतु निश्चितविपक्षवृत्ति अनैकांतिक है पर मतमें—

आद्यः साधारणस्तु स्यादसाधारणको परः। तथैवानुपसंहारी त्रिधानैकांतिको भवेत् ॥ २७-२८ ॥ मुक्तावली। साधारणानैकांतिक असाधारणानैकांतिक अनुपसंहारीअनैकांतिक ये तीन भेद अनैकांतिकहेत्वाभासके माने हैं। उपर्युक्त अकारणत्व हेतु इस मतानुसार साधारणानैकांतिक है।

'मेढककी शिखाके समान' यह जो आत्माकी नास्तित्वसिद्धिमें दृष्टांत दिया गया है उसमें साध्य-नास्तित्व और साधन–अकारणत्व, ये दोनों नहीं रहते इसलिये उपर्युक्त दृष्टांत साध्य साधनसे रहित है और वह इस प्रकार है—

अनेक प्रकारके कर्मोंके बंधके आधीन होकर नाना योनियोंमें भ्रमणकर जिससमय यह नित्य अविनाशी जीव मेढक पर्याय धारण करता है उससमय मेढक कहा जाता है फिर वही जीव अपने कर्मानुसार युवतिस्त्रीकी पर्याय जब धारण करता है उससमय युवति कहा जाता है, यहांपर मेढक और युवतिस्त्री दोनों पर्यायोंका धारण करनेवाला एक ही जीव है इसलिये एक जीवके संबंधसे वहां जो मेढक था वही यह शिखंडक (लंबी चोटीको धारण करनेवाला युवतिके शरीरका धारक जीव) है ऐसा प्रत्यभिज्ञान (सादृश्य ज्ञान होता है इसरीतिसे एक जीवके संबंधके आधीन प्रत्यभिज्ञानबलसे मंडूक-शिखंडकी सिद्धि हो जानेपर उसका अस्तित्व संसारके अंदर है। तथा पुद्गलको अनादि अनंत परि-णाम स्वरूप मानना है इसलिये युवतिके द्वारा खाया गया आहार जिससमय केशस्वरूप परिणत हो जाता है उससमय उससे युवतिकी चोटीकी उत्पत्ति होती है इसरीतिसे मंडूकशिखंडकी उत्पत्तिमें युवति द्वारा खाया गया आहार आदि कारण होनेसे वह सकारणक भी है। इसप्रकार मंडूक शिखंडका अस्तित्व और सकारणत्व सिद्ध हो जानेसे उसमें नास्तित्व और अकारणत्वरूप साध्य साधन धर्मोंका अभाव हो गया अतः आत्माके नास्तित्व सिद्ध करनेमें मंडूक शिखंड दृष्टांत नहीं हो सकता इसीप्रकार बंध्यापुत्र और शशविषाण आदिमें भी अस्तित्व और सकारणत्वकी सिद्धि होनेसे आत्माके नास्तित्व सिद्ध करनेमें वे भी दृष्टांत नहीं हो सकते। उनका अस्तित्व और सकारणत्व इसप्रकार समझ लेना चाहिये—

कर्मोंके जालमें फंसकर संसारमें भ्रमण करनेवाला यह जीव जिससमय बंध्यास्त्रीकी पर्याय धारण करता है उससमय यह बंध्या कहा जाता है। फिर अपने कर्मानुसार जिससमय यह पुत्रवतीस्त्रीकी पर्याय धारण करता है उससमय वही पुत्रवतीस्त्री कहा जाता है। यहांपर बंध्या और पुत्रवतीस्त्री दोनों पर्यायोंको धारण करनेवाला एक ही जीव है इसलिये एक ही जीवके संबंधसे जो बंध्यास्त्री थी वही यह पुत्रवती स्त्री है यह यहां प्रत्यभिज्ञान होता है। दोनों पर्यायोंमें जीव एक ही है इसलिये पुत्रवतीस्त्रीका पुत्र भी बंध्याका पुत्र कहा जा सकता है इसलिये बंध्याके पुत्रका आस्तित्व संसारके अंदर मौजूद है। तथा वह रज वीर्य आदि कारणोंसे उत्पन्न होता है इसलिये वह सकारणक भी है इसरीतिसे जब बंध्याके पुत्रका आस्तित्व और सकारणत्व सिद्ध है तब नास्तित्व और अकारणत्वरूप साध्य साधनरूप धर्मके अभावसे वह आत्माकी नास्तित्व सिद्धिमें दृष्टांत नहीं हो सकता। इसीप्रकार——

कर्मोंके जालमें फसकर अनेक योनियोंमें भ्रमण करनेपर जिससमय यह जीव शशाकी पर्याय धारण करता है उससमय शशा कहा जाता है। फिर अपने कर्मानुसार जिससमय वह गौकी पर्याय धारण करता है उससमय वही गौ कहा जाता है। यहांपर शशा और गौ दोनों पर्यायोंका धारण करनेवाला एक ही जीव है। इसलिये एक जीवके संबंधसे जो शशा था वही गौ है यह प्रत्यज्ञान यहां होता है। दोनों पर्यायोंका धारकजीव एकही है इसलिये गौके सींग भी शशाके सींग कहे जा सकते हैं इसप्रकार शशविषाणका अस्तित्व संसारके अंदर मोजूद है तथा उसकी उत्पत्ति गायके द्वारा खाये-गये आहारआदिसे होती है इसलिये वह सकारणक भी है। इसरीतिसे जब शशविषाणका आस्तित्व और सकारणत्व संसारमें सिद्ध है तब नास्तित्व और अकारणत्वरूप साध्य साधनके अभावसे आत्मा

की नास्तित्व सिद्धिमें वह दृष्टांत नहीं बन सकता । इसीतरह नराविषाण तुरंगविषाण आदि भी समझ लेने चाहिये । शंका—

मंडूक शिखंड बंध्यापुत्र शशाविषाण आदिमें उपर्युक्त रीतिसे अस्तित्व और सकारणत्वकी सिद्धि होजाने पर नास्तित्व और अकारणत्वरूप साध्य साधनके अभावसे वे आत्माकी नास्तित्वसिद्धिमें दृष्टांत नहीं हो सकते यह बात मानी परंतु आकाश कुसुममें तो उसरीतिसे अस्तित्व और सकारणत्वकी व्यवस्था नहीं हो सकती इसलिए 'नास्यात्मा अकारणत्वात्' इस अनुमानमें आकाशकुसुम दृष्टांत हो सकता है सो ठीक नहीं । वनस्पति नाम कर्मके उदयसे जीव और पुद्गलके समुदायस्वरूप वृक्षकी उत्पत्ति होती है वहांपर जो पुद्गल द्रव्य पुष्पस्वरूप परिणत है वह यद्यपि वृक्षकी अपेक्षा भिन्न है तो भी वृक्षसे व्याप्त होनेसे जिसप्रकार वहां वृक्षका पुष्प यह व्यवहार होता है उसीप्रकार वह पुष्प आकाशसे

---

१ यथा—वनस्पतिनामकर्मोदयापादितविशेषस्य वृक्षस्य पुष्पमिति व्यपदिश्यते, पुष्पभावेनपरिणतपुद्गलद्रव्यस्य तादृशवृक्षापेक्षया भिन्नत्वेऽपि तेन व्याप्तत्वात् । तथा—आकाशेनापि पुष्पस्य व्याप्तत्वं समानमित्याकाशकुसुममिति व्यपदेशो युक्तः । अथ मल्लिकाकृतोपकारापेक्षया मल्लिकाकुसुममितिव्यपदिश्यते नत्वाकाशकुसुममिति कुसुमस्याकाशेनोपकाराभावात् । इति चेन्न । आकाशकृतावगाहनरूपोपकारमादायाकाशकुसुममिति व्यपदेशस्य दुर्वारत्वात् । किं च वृक्षात्प्रच्युतमपि कुसुममाकाशान्न प्रच्यवत इति नित्यमेवाकाशसंबंधो वर्तते । यदि च मल्लिकालताजन्यत्वात् मल्लिका कुसुममित्युच्यते तदाकाशस्यापि सर्वकार्येष्ववकाश प्रदत्वेन कारणत्वादाकाशकुसुममिति व्यवहारो दुर्वारः । अथाकाशापेक्षया पुष्पस्य भिन्नत्वान्नाकाशकुसुममिति व्यवहारः । इति चेत् भिन्नत्वं किं कथंचित् सर्वथा वा । आद्ये मल्लिकाकुसुममित्यपि व्यवहारो माभूत्, मल्लिकापेक्षया कथंचिद्भिन्नत्वात्पुष्पस्य । अन्त्ये त्वाकाशापेक्षया पुष्पस्य सर्वथा भिन्नत्वमसिद्धं, द्रव्यत्वादिना कथंचिदभेदस्यापि सद्भावात् । तस्मात् मल्लिकाकुसुमाकाशकुसुममित्यनयोर्न कोऽपि विशेषः । सप्तभंगी तरंगिणी पृष्ठ संख्या ५७ ।

भी व्याप्त है इसलिए वहांपर आकाशका पुष्प यह भी व्यवहार हो सकता है इसरीतिसे आकाशके पुष्प का अस्तित्व सिद्ध ही है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

पुष्प पर वृक्षका उपकार है इसलिए वृक्षका पुष्प यह व्यवहार उपयुक्त है। आकाशका तो पुष्पपर कोई उपकार नहीं इसलिए आकाशका पुष्प यह व्यवहार नहीं हो सकता? सो ठीक नहीं। सब द्रव्योंको अवकाश दान देना आकाशद्रव्यका उपकार है। पुष्पको वह अवकाश दान देता है इसलिए अवकाश दानस्वरूप आकाश कृत उपकारकी अपेक्षा 'आकाशका पुष्प' यह व्यवहार भी निरापद है। तथा यह भी बात है कि प्रत्युत वृक्षकी अपेक्षा आकाशके साथ ही पुष्पका नित्य संबंध है क्योंकि वृक्षने पुष्प जब नीचे गिर जाता है उससमय उससे संबंध छूट जाता है परंतु आकाश सर्वत्र व्यापक है इसलिए आकाशसे कभी पुष्पके संबंधका विच्छेद नहीं होता इसलिए आकाशका पुष्प यही व्यवहार बलवान् है। "यदि यहांपर ऊपरसे यह शंका की जाय कि पुष्प वृक्षसे जन्य है इसलिए कार्य होनेसे वृक्षका पुष्प यही व्यवहार हो सकता है। आकाशमे वह जन्य नहीं इसलिए उसका कार्य न होनेसे आकाशका पुष्प यह व्यवहार नहीं हो सकता? सो भी अयुक्त है। क्योंकि प्रत्येक पदार्थको अवकाश प्रदान करनेसे आकाश सब पदार्थोंका कारण है इसलिए आकाशका पुष्प यह व्यवहार मिथ्या नहीं कहा जा सकता।"

यदि यहांपर यह शंका फिर उठाई जाय कि—

आकाशसे पुष्प भिन्न पदार्थ है इसलिए 'आकाशका पुष्प' यह व्यवहार नहीं हो सकता किंतु 'वृक्षका पुष्प' यही व्यवहार ठीक है। यह कथन भी युक्त नहीं। नाम संख्या स्वलक्षण आदिकी अपेक्षा सब जगह शब्दोंकी योजना मानी है। यदि नाम आदिके भेदसे पुष्पका आकाशसे भेद माना जायगा

तो वैसा भेद तो वृक्षसे भी पुष्पका है इसलिए यदि आकाशका पुष्प यह व्यवहार अयुक्त कहा जायगा तो वृक्षका पुष्प यह व्यवहार भी अयुक्त मानना पडेगा। सार यह है कि—

यदि पुष्प सर्वथा आकाशसे भिन्न होता तब तो 'आकाशका पुष्प' यह व्यवहार नहीं हो सकता था परंतु द्रव्यत्व वस्तुत्व प्रमेयत्व आदि धर्मोंसे पुष्पके साथ आकाशका साधर्म्य है इसलिए 'आकाशका पुष्प' यह व्यवहार कभी बाधित नहीं कहा जा सकता। यदि नाम आदि जन्य भेदकी अपेक्षा 'आकाश का पुष्प' इस व्यवहारमें बाधा डाली जायगी तो वह भेद तो पुष्पका वृक्षके साथ भी है इसलिए 'वृक्षका पुष्प यह व्यवहार भी बाधित मानना पडेगा। इसरूपसे जब आकाशकुसुमका अस्तित्व सिद्ध है और उसके उत्पादक कारण भी जल पवन वृक्ष आदि मौजूद हैं तब अस्तित्व और सकारणत्व दोनोंके रहते नास्तित्व और अकारणत्व रूप साध्य साधन उसमें नहीं रह सकते इसलिए आत्माके नास्तित्व सिद्ध करने पर गगनकुसुम भी दृष्टांत नहीं हो सकता। और भी यह बात है कि—

'नास्त्यात्मा अकारणत्वात् मंडूकशिखंडवत्' इस अनुमानमें जो मंडूक शिखंड दृष्टांत दिया है उसके बलसे विज्ञानाद्वैतवादीको आत्माका प्रतिषेध इष्ट है परंतु बाह्य पदार्थोंके आकार परिणत जो विज्ञान है उसके विषय मंडूक शिखंड शशविषाण गगनकुसुम आदि भी हैं इसरूपसे जब विज्ञानाद्वैतवादीके मतकी ही अपेक्षा बाह्य अर्थाकार परिणतविज्ञानके विषयभूत मंडूक शिखंड आदि पदार्थोंका अस्तित्व सिद्ध है और कारण भी उनके निश्चित हैं तब उपर्युक्त अनुमानमें कहे गये नास्तित्व और अकारणत्वरूप साध्य साधनरूप धर्मोंका मंडूकशिखंड आदिमें अभाव रहनेसे वे आत्माकी नास्तिता सिद्ध करनेमें दृष्टांत नहीं हो सकते। इसरीतिसे विज्ञानाद्वैतवादीके मतानुसार ही जब मंडूकशिखंड

आदिका दृष्टांतपना सदोष है तब आत्माका अभाव नहीं कहा जा सकता अतः 'नास्त्यात्मा अकारणत्वात् मंडूकशिखडवत्' यह अनुमान नहीं अनुमानाभास है। शंका—

उक्त अनुमान दुष्ट होनेसे न आत्माकी नास्तिताका साधक हो परंतु 'नास्त्यात्मा अप्रत्यक्षत्वात् शशशृंगवत' अर्थात् आत्मा कोई पदार्थ नहीं क्योंकि वह प्रत्यक्षके अगोचर है जिसप्रकार शशाके सींग' यह अनुमान दुष्ट नहीं इसलिये यह आत्माकी नास्तिता सिद्ध करनेमें समर्थ है ? सो भी ठीक नहीं। यहांपर जो 'अप्रत्यक्षत्वात्' यह हेतु है वह भी असिद्ध विरुद्ध और अनैकांतिकरूप हेतुके दोषोंसे दुष्ट है और वह इसप्रकार है—

पांचों ज्ञानोंमें केवलज्ञान समस्त द्रव्य और पर्यायोंको विषय करनेवाला माना है। वह शुद्ध आत्माको विषय करता है इसलिये केवलज्ञानकी अपेक्षा शुद्ध आत्माका प्रत्यक्ष है। तथा कर्म नोकर्मोंके बंधके पराधीन संसारी आत्माका ज्ञान अवधि और मनःपर्यय ज्ञानके द्वारा भी होता है इसलिये इन दो ज्ञानोंकी अपेक्षा संसारी आत्मा भी प्रत्यक्ष है। इसरीतिसे जब केवलज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इन तीन ज्ञानोंके प्रत्यक्ष आत्मा है तब उपर्युक्त अनुमानमें अप्रत्यक्षत्व हेतु आत्मारूप पक्षमें न रहनेके कारण असिद्ध है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि 'अप्रत्यक्षत्वात्' इस हेतुमें जो प्रत्यक्ष शब्द है उसका अर्थ इंद्रियजन्य प्रत्यक्ष है, केवलज्ञानादिजन्य प्रत्यक्ष नहीं। तथा इंद्रियोंसे आत्माका प्रत्यक्ष होता नहीं इसलिये अप्रत्यक्षत्वरूप हेतु आत्मामें रहनेके कारण असिद्ध नहीं हो सकता ? सो ठीक नहीं। इंद्रियजन्य ज्ञानको परोक्ष माना गया है प्रत्यक्ष नहीं और वह इसप्रकार है—

'अप्रत्यक्षा घटादयोऽग्राहकनिमित्तग्राह्यत्वात् धूमाद्यनुमिताग्निवत्' घट पट आदि पदार्थ प्रत्यक्ष-

ज्ञानके विषय नहीं क्योंकि अग्राहक जो इंद्रियांरूप कारण उनसे घटपट आदिका ग्रहण होता है जिस तरह धूम आदिसे अनुमित अग्नि। अर्थात् जिसतरह धूम आदिसे अनुमित अग्नि परोक्ष है उसीप्रकार इंद्रियोंसे ग्रहण किये गये घट पट आदि भी परोक्ष हैं। यदि यहांपर यह कहा जाय कि 'अग्राहकनिमित्त ग्राह्यत्वात्' इस हेतुमें अग्राहकपना इंद्रियोंका असिद्ध है एवं उसकी असिद्धता होनेसे वह असद्धेतु होनेके कारण उसमें घट पट आदिकी अप्रत्यक्षसिद्धि वाधित है? सो ठीक नहीं। क्योंकि 'अग्राहकाणींद्रियं तद्विगमेऽपि गृहीतस्मरणाद्गवाक्षवत्' इंद्रियां अग्राहक हैं क्योंकि उनके नष्ट हो जानेपर भी जिस पदार्थका ग्रहण हो चुका है उसका स्मरण होता है जिसतरह गवाक्षका। अर्थात् नेत्र आदि इंद्रियोंके नष्ट होजानेपर भी पहिले देखे हुए गवाक्ष आदिका स्मरण होता है यदि इंद्रियां ही घट पट आदिकी ग्राहक होतीं तो स्मरणके द्वारा पहिले देखे हुए घट पट आदिका ग्रहण नहीं होता किंतु इंद्रियोंके साथ ही वह स्मरण नष्ट हो जाता परंतु नष्ट नहीं होता इसलिये इंद्रियोंको ग्राहक न मानकर आत्माको ही ग्राहक मानना पडेगा इसरीतिसे जब यह बात सिद्ध हो चुकी कि इंद्रियोंके अग्राहक होनेसे उनसे जायमान ज्ञानप्रत्यक्ष नहीं, परोक्ष है जब अप्रत्यक्षत्वरूप हेतुकी आत्मामें सत्ता सिद्ध न होनेसे जो ऊपर असिद्ध दोष दिया गया था उसका परिहार नहीं हो सकता एवं असिद्ध दोषसे दूषित हेतु साध्यकी सिद्धिमें समर्थ नहीं माना जाता इसलिये अप्रत्यक्षत्व हेतुसे आत्माका नास्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। तथा—

'न प्रत्यक्ष इति अप्रत्यक्षः' इसप्रकार यहां नञ् समास है। पर्युदास और प्रसज्यके भेदसे वह नञ् समास दो प्रकारकी मानी गई है। उनमें अपने सदृशका ग्रहण करनेवाला पर्युदास नञ् है

१ द्वौ नञौ च समाख्यातौ पर्युदास प्रसज्यकौ। पर्युदासः सदृग्ग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत् ॥ १ ॥

और सर्वथा निषेधरूप अर्थ प्रसज्यका है। 'अप्रत्यक्ष यहांपर प्रत्यक्षादन्यः' अप्रत्यक्ष अर्थात् प्रत्यक्षभिन्न प्रत्यक्ष सदृश यह पर्युदास अर्थ है कि 'प्रत्यक्षो न भवति इत्यप्रत्यक्षः' अर्थात् सर्वथा प्रत्यक्ष है ही नहीं, यह प्रसज्य प्रतिषेधरूप अर्थ है। यदि 'प्रत्यक्षादन्यः, अप्रत्यक्षः' यह पर्युदास प्रतिषेध माना जायगा तो अन्यत्व दो पदार्थोंके अंदर रहनेवाला धर्म है अर्थात् जहांपर दो पदार्थ रहते हैं वहींपर 'यह इससे अन्य है' ऐसा व्यवहार होता है और उससे प्रत्यक्षसे भिन्न दूसरी वस्तु (आत्मा) का अस्तित्व जाना जाता है इसरीतिसे 'अप्रत्यक्षत्व' हेतु यहां अस्तित्वका ही साधक होनेसे जब उसकी व्याप्ति साध्यरूप नास्तित्वसे विपरीत आस्तित्वके साथ है तब वह विरुद्धहेत्वाभास रहनेके कारण आत्माकी नास्तितता सिद्ध नहीं कर सकता। यदि प्रसज्य प्रतिषेध माना जायगा तो जिस पदार्थका निषेध किया जाता है उस पदार्थके रहते ही उसका निषेध हो सकता है सर्वथा असत् पदार्थका निषेध नहीं हो सकता। जब आत्माके प्रत्यक्षका निषेध किया जायगा तब उसका किसी न किसी रूपसे प्रत्यक्ष भी मानना पडेगा। इस रूपसे प्रतिषेध्य पदार्थके रहनेपर ही उसका निषेध हो सकता है इस नियमके अनुसार जब आत्मा अस्तिका विषय है तब कथंचित् उसके प्रत्यक्ष रहनेपर अप्रत्यक्षत्व हेतु उसमें नहीं रह सकता इसलिये इस प्रसज्य प्रतिषेधमें भी वह फिर असिद्धहेत्वाभास है। तथा—

जो हेतु विपक्षमें भी रहता है वह अनैकांतिक हेत्वाभास माना जाता है। अप्रत्यक्षत्व हेतु असत् स्वरूप शशशृंग आदि विपक्षमें भी विद्यमान है क्योंकि उनका प्रत्यक्ष न होनेसे उन्हें अप्रत्यक्ष माना गया है

अर्थात्—पर्युदास और प्रसज्यके भेदसे नञ् समास दो प्रकारका है जहांपर अपने समान वस्तुका ग्रहण होता है वहां पर्युदास नय मानी जाती है और जहांपर सर्वथा प्रतिषेध अर्थ होता है वहां प्रसज्य नय मानी जाती है।

ज्ञानके विषय नहीं क्योंकि अग्राहक जो इंद्रियांरूप कारण उनसे घटपट आदिका ग्रहण होता है जिस
[illegible] है उसीप्रकार

[illegible] विज्ञान आदिमें भी वह विद्यमान है क्योंकि वादी विज्ञान आदिको अप्रत्यक्ष मानता है
[illegible] सत्स्वरूप विज्ञानादि पक्ष और असत्स्वरूप शशविषाण आदि [illegible] रहनेके कारण अप्रत्यक्षत्व हेतु अनेकांतिकहेत्वाभास है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

विज्ञान आदिका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है और योगियोंका प्रत्यक्ष भी [illegible] है इस-
[illegible] विज्ञान आदिके रहनेपर अप्रत्यक्षत्व हेतुका वहांपर अभाव है। तब आत्मा [illegible]
क्या आपत्ति है। क्योंकि आत्मा भी 'अहं अहं' इस स्वसंवेदन प्रत्यक्षके गोचर है और [illegible]
आदिके ज्ञान का विषय है। इसरीतिसे जब अप्रत्यक्षत्व हेतु असिद्ध विरुद्ध और अनेकांतिकरूप दोषों
से दुष्ट है तब उससे आत्माका नास्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। तथा—

उपर्युक्त अनुमानमें शशशृंग दृष्टांत दिया गया है उसमें पूर्वोक्त रीतिसे प्रत्यक्षत्व और अस्तित्व
ही सिद्ध है इसलिये नास्तित्व और अप्रत्यक्षत्वरूप साध्यसाधनरूप धर्मोंके अभावसे वह आत्माकी
नास्तित्व सिद्धिमें कारण नहीं बन सकता इसलिये उसके बलसे आत्माकी नास्तिताकी सिद्धि बाधित
है। और भी यह बात है कि—

संसारमें जितने भी वाक्यार्थ हैं सब ही विधि और प्रतिषेध स्वरूप हैं। ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं
जो सर्वथा निषेधका ही विषय हो किंतु जो भी पदार्थ होगा वह विधि और निषेध दोनों स्वरूप ही
होगा। जिसतरह 'कुरवका अरक्तश्वेताः' कुरवक जातिके वृक्ष रक्तवर्ण और श्वेतवर्णसे रहित हैं। यहां
पर रक्तवर्ण और श्वेतवर्णका निषेध किया गया है इसलिये वे रक्त ही हैं वा श्वेत ही हैं, यह भी नहीं
कहा जा सकता। साथमें वे अवर्ण हैं—उनमें कोई वर्ण नहीं यह भी नहीं कहा जा सकता इसरीतिसे

जिसप्रकार रक्त और श्वेत वर्णोंकी अपेक्षा कुरवक जातिके वृक्षोंकी नास्ति रहते भी वर्ण सामान्यकी अपेक्षा उनकी नास्ति नहीं है, अर्थात् रक्त और श्वेत वर्णोंसे भिन्न वर्ण वाले कुरवक जातिके वृक्ष हैं। उसीप्रकार वस्तु परस्वरूपसे नहीं है ऐसा निषेध रहनेपर भी वह स्वस्वरूपसे भी नहीं है यह बात आसिद्ध है किंतु स्वस्वरूपसे उसका होना ही निश्चित है। कहा भी है—

अस्तित्वमुपलब्धिश्च कथंचिदसतः स्मृतेः। नास्तितानुपलब्धिश्च कथंचित्सत एव ते ॥ १ ॥

सर्वथैव सतो नेमौ धर्मौ सर्वात्मदोषतः। सर्वथैवासतो नेमौ वाचां गोचरतात्ययात् ॥ २ ॥

कथंचित् असत् पदार्थका भी स्मरण होता है इसलिये अस्तित्व और उपलब्धि धर्म कथंचित् असत् पदार्थके माने हैं। कथंचित् सत् पदार्थकी ही नास्ति और अनुपलब्धि होती है असत्की नहीं इसलिये नास्तितता और अनुपलब्धि कथंचित् सत् पदार्थकी ही मानी है। अस्तित्व और उपलब्धि जो ये दो धर्म सत् पदार्थके माने हैं वे कथंचित् रूपसे माने गये हैं सर्वथा रूपसे नहीं क्योंकि यदि सर्वथा रूपसे उन्हें माना जायगा तो सर्वात्म दोष होगा अर्थात् सत्पदार्थका कभी विनाश और उत्पत्ति न होगी और न कभी उसका अप्रत्यक्ष होगा किंतु उसे हमेशा विद्यमान और प्रत्यक्ष ही मानना पडेगा जो कि बाधित है। तथा कथंचित् असत् पदार्थके जो नास्तित्व और अनुपलब्धि धर्म माने हैं वे भी कथंचित् रूपसे ही हैं सर्वथा रूपसे नहीं क्योंकि यदि उन्हें सर्वथा रूपसे मान लिया जायगा तो असत् पदार्थ भी वचनका विषय होता है इसलिये वचनविषयत्वेन उसका अस्तित्व और उपलब्धि मानी है परंतु अब सर्वथा रूपसे जब उसकी नास्तितता और अनुपलब्धि (अप्रत्यक्ष) माना जायगा तो असत् पदार्थ वचनका विषय नहीं हो सकेगा। इसरीतिसे 'नास्त्यात्मा अप्रत्यक्षत्वात्' इस अनुमानमें आत्मामें जो

नास्तित्व और अप्रत्यक्षत्व बताया गया है वह कथंचित् रूपसे ही है सर्वथारूपसे नहीं इसलिये कथंचित् रूपसे आत्माका आस्तित्व और प्रत्यक्षत्व सिद्ध होनेसे उपर्युक्त अनुमान अनुमानाभास ही है। तथा——

जिसतरह अस्तित्व और प्रत्यक्षत्वके विना वस्तु अवस्तु मानी जाती है उसीप्रकार नास्तित्व और अप्रत्यक्षत्वके विना भी वह अवस्तु है। क्योंकि जिसप्रकार अस्तित्व और प्रत्यक्षत्व वस्तुके धर्म हैं उस-प्रकार नास्तित्व और अप्रत्यक्षत्व भी वस्तुके ही धर्म हैं इसलिये नास्तित्व और अप्रत्यक्षत्व इन दो धर्मों के विना माने भी धर्मी वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती किंतु आस्तित्व और प्रत्यक्षत्वके समान प्रत्येक वस्तुमें नास्तित्व और अप्रत्यक्षत्व धर्म भी मानने पडेंगे इसरीतिसे उपर्युक्त अनुमानके पक्षस्वरूप आत्मा-में नास्तित्व और अप्रत्यक्षत्वके विना माने भी उसकी सिद्धि नहीं हो सकती इसलिये आत्माको कथं-चित् अस्तित्वस्वरूप कथंचित नास्तित्वस्वरूप कथंचित् प्रत्यक्षत्वस्वरूप कथंचित् अप्रत्यक्षत्वस्वरूप ही मानना ठीक है इसरीतिसे आत्माका सर्वथा नास्तित्व और अप्रत्यक्षत्व नहीं बन सकनेसे उसकी सर्वथा नास्ति नहीं मानी जाती। इसीप्रकार एकांतवादियोंके अकारणत्व और अप्रत्यक्षत्वके समान और भी अनेक हेतु आत्माकी अस्तित्व सिद्धिमें मान रक्खे हैं उन्हें भी इन्हीं हेतुओंके समान सदोष समझ लेना चाहिये। क्योंकि आत्माका अभाव कोई भी हेतु सिद्ध नहीं कर सकता। आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि इसप्रकार है—

ग्रहणविज्ञानासंभविफलदर्शनाद्ग्रहीतृसिद्धिः ॥ १९ ॥

ग्रहण—इंद्रियां और ज्ञानमें नहीं होनेवाला फल (कार्य) दीख पडता है उस फलका कारण सिवाय

आत्माके और कोई पदार्थ नहीं हो सकता इसलिये उस फलसे आत्माका अस्तित्व अबाधित है। वार्तिकमें जो ग्रहण शब्द है उसका अर्थ—जिनकी उत्पत्ति पूर्वकालमें संचय किये गये कर्मोंके आधीन है। भिन्न भिन्न स्वभावोंकी सामर्थ्यके अनुसार जिनका भेद है और जो क्रमसे रूप रस गंध स्पर्श और शब्दको ग्रहण करनेवाली हैं ऐसी चक्षु रसना घ्राण स्पर्शन और श्रोत्र ये पांच इंद्रियां हैं। इन इंद्रियोंके संबंधसे जायमान ज्ञानका नाम विज्ञान है तथा आत्माके स्वभावस्थानोंका जानना और विषयोंका ग्रहण करना यह यहां असंभवि फल लिया गया है। यह असंभवि फल चैतन्यस्वरूप है इसका कारण चेतन और नित्य पदार्थ ही हो सकता है अचेतन और क्षणिक पदार्थ नहीं। इंद्रियां अचेतन और क्षणिक पदार्थ मानी गई हैं इसलिये वे उस फलकी कारण नहीं हो सकतीं। विज्ञान भी उस फलका कारण नहीं हो सकता क्योंकि उसको एक ही पदार्थका ग्रहण करनेवाला माना है तथा उत्पत्तिके वाद ही नष्ट हो जानेके कारण वह क्षणिक भी है। तथा वह फल विना ही किसी कारणके अकस्मात् उत्पन्न हो यह भी नहीं। इसलिये आत्माके स्वभावस्थानोंके ज्ञान और विषयोंकी प्रतिपत्तिमें कारण इंद्रिय और ज्ञानसे भिन्न कोई पदार्थ है, वस वही आत्मा है। इस रूपसे आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि निर्वाध है। और भी यह बात है कि—

अस्मदात्मास्तित्वप्रत्ययस्य सर्वविकल्पेष्विष्टसिद्धेः॥ २०॥

'आत्मा है' यह जो हमारी प्रतीति है वह चाहे संशयस्वरूप हो चाहे अनध्यवसायस्वरूप हो चाहे विपर्ययस्वरूप हो वा सम्यक्स्वरूप हो किसी भी विकल्पस्वरूप हो सब विकल्पोंमें हमारे इष्ट आत्माकी सिद्धि निर्वाध है और वह इसप्रकार है—

'आत्मा है' यह प्रतीति संशयस्वरूप नहीं कही जा सकती क्योंकि आत्माके अस्तित्वका सबको निश्चय है इसलिये वह निर्णयस्वरूप ही है। यदि कदाचित् उसे संशयरूप मान भी लिया जाय तो विना किसी वस्तुको आलंबन किये संशयज्ञान नहीं हो सकता यह नियम है। जब उक्त प्रतीतिको संशयात्मक माना जायगा तब आत्माको आलम्बन मानना ही होगा इसरीतिसे उक्त प्रतीतिके संशयात्मक होनेपर भी आत्माकी अस्तित्व सिद्धि निरापद है। तथा उक्त प्रतीति अनध्यवसाय स्वरूप नहीं मानी जा सकती क्योंकि जिसप्रकार जात्यंध पुरुषको रूपका अनध्यवसाय होता है और बधिरको शब्दका अनध्यवसाय होता है उसप्रकार आत्माका किसीको अनध्यवसाय नहीं होता किंतु 'आत्मा है' यह अनादिकालीन निश्चय अबाधित है। यदि 'आत्मा है' इस प्रतीतिको विपरीत माना जायगा तो 'पुरुषमें यह स्थाणु है' ऐसी विपरीत प्रतीतिमें स्थाणु पदार्थ जिसप्रकार संसारमें प्रसिद्ध है इसीलिये उसका पुरुषमें आरोप किया जाता है अन्यथा असिद्ध होनेसे उसका आरोप नहीं हो सकता था उसीप्रकार किसी पदार्थमें 'यह आत्मा है' ऐसी विपरीत प्रतीतिमें भी आत्मा पदार्थको सिद्ध मानना पडेगा क्योंकि अन्यत्र सिद्ध ही पदार्थका किसीमें आरोप हो सकता है असिद्धका नहीं इसरीतिसे 'आत्मा है' इस प्रतीतिको विपरीत प्रतीति माननेपर भी आत्माकी सिद्धि निर्बाध है। यदि उस प्रतीतिको सम्यक्प्रतीति माना जायगा तो 'आत्मा है' यह सिद्धांत अविवाद है इसरीतिसे 'आत्मा है' इस प्रतीतिको संशय आदि विकल्प-

१—किंच—अस्मदादेरात्मास्तीति समत्ययः संशयो विपर्ययो यथार्थनिश्चयो वा स्यात् ? संशयश्चेति सिद्धः प्रागात्मा अन्यथा तत्संशयायोगात्। कदाचिदप्रसिद्धस्थाणुपुरुषस्य प्रतिपत्तुस्तत्संशयायोगात्। विपर्ययश्चेत्तथाप्यात्मसिद्धिः कदाचिदात्मनि विपर्ययस्य तन्निर्णयपूर्वकत्वात्। ततो यथार्थनिर्णय एवायमात्मसिद्धिः। श्लोकवार्तिकं पृष्ठ संख्या ३२१।

स्वरूप मानने पर भी किसीप्रकार आत्माकी नास्ति नहीं कही जा सकती तब 'आत्मा तत्त्व है' यह हमारा पक्ष निश्शंक रूपसे सिद्ध है। यदि यहांपर विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध शंका करै कि—

संतानादिति चेन्न तस्य संवृतिसत्त्वाद् द्रव्यसत्त्वे वा संज्ञाभेद मात्रं ॥ २१ ॥

संतान नामका एक पदार्थ है। उसे एक और अनेकक्षणपर्यंत ठहरनेवाला माना है वही इंद्रिय तज्जनित ज्ञान आत्म स्वभावके स्थानोंका ज्ञान और घट पट आदि वा रूप रस आदिकी प्रतिपत्तिका आधार मान लिया जायगा आत्मा पदार्थके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं ? सो ठीक नहीं। जो पदार्थ वास्तविक न होकर कल्पित होता है उससे विशेषकी प्रतीति नहीं होती। संतान पदार्थको वास्तविक न मान विज्ञानाद्वैतवादियोंने काल्पितमाना है इसलिये वह आत्मस्वभावोंके स्थानज्ञान आदि विशेष प्रतीतियोंका आधार नहीं हो सकता। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

हम संतानको काल्पित पदार्थ न मानकर वास्तविक और द्रव्यस्वरूप पदार्थ मानेंगे। ऐसा माननेसे वह विशेष प्रतीतियोंका आश्रय बन सकता है कोई दोष नहीं ? इसका उत्तर यह है कि जब उसे वास्तविक और द्रव्यस्वरूप ही मान लिया तब संतान कहो तो और आत्मा कहो तो नाममात्रका ही भेद हुआ अर्थमें कोई भेद नहीं हुआ इसलिये फिर उसे आत्मा ही कहना ठीक है। इसरीतिसे आत्माकी सिद्धि निराबाध है। इसप्रकार विज्ञानाद्वैतवादीने अकारण और अप्रत्यक्षत्व हेतुओंके बलपर जो आत्माका नास्तित्व सिद्ध करना चाहा था दोनों हेतुओंको सदोष बताकर उसका अच्छीतरह खंडन कर दिया गया तथा आत्माका अस्तित्व भी खुलासा रूपसे सिद्ध कर दिया गया। अब ऊपर जो यह कहा गया था कि 'आत्माके रहते भी उपयोग उसका लक्षण नहीं हो सकता है क्योंकि वह 'अनवस्थान क्षणिक है उसपर कुछ विचार किया जाता है—

उपयोग पदार्थ अनवस्थित है क्षण भरमें विनष्ट हो जानेवाला है इसलिये वह आत्माका लक्षण नहीं हो सकता यह कहना ठीक नहीं क्योंकि उपयोग पदार्थका न तो सर्वथा नाश हो सकता है और न अवस्थान ही हो सकता है किंतु पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा विद्यमान रहनेपर भी उसकी उपलब्धि नहीं होती इसलिये उसका कथंचित् विनाश माना है और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सदा उसका सद्भाव रहता है इसलिये कथंचित् उसका अवस्थान माना है इसरूपसे जब उपयोगका कथंचित् अवस्थान सिद्ध है तब उसे आत्माका लक्षण माननेमें किसी प्रकारकी वाधा नहीं हो सकती। तथा—

तदुपरमाभावाच्च ॥ २२ ॥ सर्वथाविनाशे पुनरनुस्मरणाभावः ॥ २३ ॥

उपयोगको ज्ञानदर्शन स्वरूप माना है। यह नियम है प्रतिक्षण कोई ज्ञान पर्याय उत्पन्न होती है और कोई नष्ट होती है। उपयोगकी परंपराका कभी भी नाश नहीं होता इसलिये आत्माका उपयोग लक्षण बाधित नहीं कहा जासकता।

यदि उपयोग पदार्थका सर्वथा नाश माना जायगा तो जिस पदार्थका पहिले प्रत्यक्ष हो चुका है उसका स्मरण होता है अब वह नहीं हो सकेगा क्योंकि स्मरण भी उपयोग स्वरूप ही है तथा यह नियम है कि जो पदार्थ पहिले प्रत्यक्षका विषय हो चुका है उसीका स्मरण होता है किंतु जिस पदार्थका पहिले प्रत्यक्ष नहीं हुआ है अथवा किसी अन्य आत्माने प्रत्यक्ष किया है उसका स्मरण नहीं होता तथा जब स्मरणका ही नाश हो जायगा तब जितना भी लोकका व्यवहार है वह समस्त स्मरण ज्ञानके आधीन है, स्मरणके नाशके साथ फिर उसका भी नाश हो जायगा परंतु वैसा होता नहीं इसलिये उपयोगका सर्वथा नाश नहीं माना जा सकता किंतु कथंचित् उसका अवस्थान है इसरीतिसे उसे आत्माका लक्षण माननेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

उपयोगसंबंधो लक्षणमिति चेन्नान्यत्वे संबंधाभावात् ॥ २४ ॥

जिसतरह दंड देवदत्तसे जुदा है इसलिये उसे लक्षण न मान, उसके संयोगको लक्षण माना गया है। यदि दंडको ही लक्षण माना जायगा तो जिसकालमें दंड देवदत्तसे जुदा पडा हुआ है उससमय भी वह लक्षण मानना पडेगा जो कि बाधित है। उसीप्रकार उपयोग भी आत्मासे भिन्न पदार्थ है इसलिये उसे लक्षण न मानकर उसके संबंधको लक्षण मानना चाहिये इसरीतिसे क्रियावान गुणवान और समवायिकारण हो वह द्रव्य है यह द्रव्यका लक्षण कहा गया है वह ठीक है क्योंकि संयोगस्वरूप गुणवान होनेसे आत्मामें द्रव्यका लक्षण निर्बाध है ? सो ठीक नहीं। यदि उपयोगरूप गुणको द्रव्यसे भिन्न माना जायगा तो बिना किसी संबंधके 'उपयोग आत्माका गुण है' यह नहीं कहा जा सकता। संबंध कोई सिद्ध है नहीं यह बात ऊपर अच्छीतरह कही जा चुकी है इसलिये उपयोगको आत्मभूत मानकर ही उसे लक्षण मानना निर्दोष है। भिन्न होकर वह आत्माका लक्षण नहीं कहा जा सकता ॥ ८ ॥

'उपयोगो लक्षणं' इससूत्रमें जो उपयोग पदार्थका उल्लेख किया गया है सूत्रकार उसके भेद बतलाते हैं—

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥

अर्थ—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगके भेदसे वह उपयोग दो प्रकारका है। उनमें मति श्रुत अवधि मनःपर्यय केवल कुमति कुश्रुत और कुअवधिके भेदसे ज्ञानोपयोग आठ प्रकारका है एवं चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन अवधिदर्शन केवलदर्शनके भेदसे दर्शनोपयोग चार प्रकारका है। उपयोग दो प्रकारका किसरूपसे है ? इस बातको वार्तिककार बतलाते हैं—

साकारानाकारभेदाद्विविधः ॥ १ ॥

साकार और अनाकारके भेदसे वह उपयोग दो प्रकारका है। जिस उपयोगमें कुछ आकार-भेद, विषय हो वह साकार उपयोग है और उसका अर्थ ज्ञान है एवं जिसमें कोई भी आकार विषय न हो वह अनाकार उपयोग है और उसका अर्थ दर्शन है।

अभ्यर्हितत्वाज्ज्ञानग्रहणमादौ ॥ २ ॥ संख्याविशेषनिर्देशात्तन्निश्चयः ॥ ३ ॥

यद्यपि दर्शन ज्ञानसे पूर्वकालमें होनेवाला है इसलिए स द्विविधोऽष्टेत्यादि सूत्रमें दर्शनका पहिले प्रयोग होना न्यायप्राप्त है तथापि ज्ञान पदार्थोंका निश्चायक है और दर्शनका अर्थ केवल देखना है इस रीतिसे दर्शनकी अपेक्षा ज्ञान पूज्य होनेसे उसीका पहिले प्रयोग किया गया है जिसमें थोडे स्वर होते हैं और जो पूज्य होता है उसीका पहिले प्रयोग होता है यह व्याकरणका सिद्धांत है। दर्शनकी अपेक्षा ज्ञानमें थोडे स्वर हैं और उपर्युक्त रीतिसे पूज्य भी है इसलिए उसीका पहिले प्रयोग उपयुक्त है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि ज्ञान और दर्शनका सूत्रमें तो उल्लेख है नहीं फिर "ज्ञानका पहिले ग्रहण करना चाहिए" यह कैसे कहा जा सकता है। सो ठीक नहीं। सूत्रमें अष्टभेद और चतुर्भेद यह संख्याविशेषका उल्लेख किया गया है वहांपर अष्टसंख्याका पहिले उल्लेख है और ज्ञानदर्शनमें आठ भेद ज्ञानके ही माने हैं इसलिए सूत्रमें ज्ञानका आदिमें ग्रहण निर्बाध सिद्ध है शंका—

'संख्याया अल्पीयस्याः' जो शब्द अल्प संख्याका वाचक होता है उसका प्रयोग पहिले होता है यह व्याकरणका नियम है। जिसतरह 'चतुर्दश' यहांपर दशकी अपेक्षा चार संख्या अल्प है इसलिए चतुरशब्दका पहिले प्रयोग किया गया है। आठ और चारमें भी चार संख्या अल्प है इसलिए वहांपर

चतुरशब्दका ही पहिले प्रयोग करना ठीक है इसरीतिसे 'अष्टचतुर्भेदः' इसकी जगह पर 'चतुरष्टभेदः' ऐसा पाठ पढना चाहिए ? सो ठीक नहीं । जो पूज्य होता है उसका पहिले निपात होता है यह बात ऊपर कह दी जा चुकी है । दर्शनकी अपेक्षा ज्ञान पूज्य है और सूत्रमें अष्टशब्दसे उसीका संबंध है इस-लिए कोई दोष नहीं ।

मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान केवलज्ञान कुमतिज्ञान कुश्रुतज्ञान कुअवधिज्ञान ये आठ भेद ज्ञानोपयोगके हैं । तथा चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन अवधिदर्शन और केवलदर्शन ये चार भेद दर्श-नोपयोगके हैं । मतिज्ञान आदिके लक्षणोंका पहिले विस्तारसे वर्णन कर दिया गया है । तथा 'अवग्रह ज्ञानसे दर्शनपदार्थ भिन्न नहीं' इस शंकाका खंडनकर उसकी भिन्नता अच्छी तरह ऊपर सिद्ध कर दी गई । जो पुरुष छद्मस्थ-अल्पज्ञानी हैं उनके पहिले दर्शन पीछे ज्ञान इसप्रकार ज्ञान और दर्शनका होना क्रमसे माना गया है और भगवान केवलीके उन दोनोंका एक साथ होना स्वीकार किया गया है ॥१॥

आत्माके परिणामस्वरूप और समस्त आत्माओंमें सामान्यरूपसे रहनेवाले उपयोगगुणसे युक्त उप-योगी जीवोंके दो भेद हैं, इस बातको सूत्रकार बतलाते हैं—

१—दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवओगा । जुगवं जह्मा केवलि णाहे जुगवं तु ते दोवि ॥ ४४ ॥ छद्मस्थ जीवोंके दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है क्योंकि छद्मस्थोंके ज्ञान और दर्शन ये दोनों उपयोग एक समयमें नहीं होते तथा जो केवली भगवान हैं उनके ज्ञान तथा दर्शन ये दोनों ही उपयोग एक समयमें होते हैं। इसका भी कारण यह है कि जो ज्ञान मन पूर्वक होता है वह क्रमसे ही होता है । अतींद्रिय ज्ञान युगपत् होता है। इसलिये संसारी जीवोंका ज्ञान क्रमसे होता है। केवलीके युगपत् होता है। द्रव्यसंग्रह।

संसारिणोमुक्ताश्च ॥ १० ॥

अर्थ–संसारी और मुक्तोंके भेदसे जीव दो प्रकारके हैं। जो जीव कर्मसहित हैं। कर्मोंकी पराधीनताके कारण अनेक जन्म मरणोंको करते हुए संसारमें भ्रमण करते रहते हैं वे संसारी कहे जाते हैं और जो समस्त कर्मोंको काटकर मुक्त हो गये हैं उनको मुक्तजीव या सिद्धजीव कहते हैं। वार्तिककार संसारका लक्षण वतलाते हैं–

आत्मोपचितकर्मवशादात्मनो भवांतरावाप्तिः संसारः ॥ १ ॥

ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय मोहनी आयु नाम गोत्र और अंतरायके भेदसे कर्म आठ प्रकारका है तथा प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेश रूप बंधोंके भेदसे और भी उसके अनेक भेद माने हैं। इन आठों कर्मोंका आत्मा संचय करता रहता है उन कर्मोंके द्वारा आत्माका जो एक भवसे दूसरे भवमें जाना है उसका नाम संसार है। वार्तिकमें जो दो वार आत्मा शब्दका ग्रहण है उसका तात्पर्य यह है कि कर्मोंका कर्ता आत्मा है और उन कर्मोंसे जायमान फलका भोक्ता भी आत्मा ही है। अन्य कोई भोक्ता नहीं।

सांख्योंका सिद्धांत है कि सत्त्व रज और तम स्वरूप प्रकृति कर्मोंकी करनेवाली है और पुरुष आत्मा उनके फलोंका भोक्ता है? सो ठीक नहीं। जिसप्रकार घट पट आदि अचेतन हैं इसलिये वे पुण्य पाप रूप कर्मोंके कर्ता नहीं उसीप्रकार प्रकृति भी अचेतन पदार्थ है इसलिये वह भी कर्मोंके करनेवाली नहीं मानी जा सकती। तथा पुरुषको जो प्रकृति द्वारा उपार्जित कर्मोंके फलका भोक्ता माना है वह भी ठीक नहीं क्योंकि परपदार्थ प्रकृति आदि सदा रहने वाले हैं यदि उनके द्वारा उपार्जित कर्मोंके फलका

भोक्ता आत्मा माना जायगा तो हमेशा आत्मा सुख दुःख ही भोगता रहेगा कभी भी उसकी मोक्ष न होगी एवं अपने द्वारा जो कार्य किया गया है उसका नाश हो जायगा क्योंकि स्वयं उसका फल नहीं भोगा जा सकता इसलिये जो कर्ता है वही भोक्ता है—कर्तासे अन्य कोई भोक्ता नहीं यही सिद्धांत निर्दोष है।

द्रव्य क्षेत्र काल भव और भावके भेदसे संसार पांच प्रकारका है। इन्हींको पंच परावर्तन कहते हैं इनका स्वरूप सर्वार्थसिद्धि संस्कृत टीकामें विस्तारसे वर्णित है तथापि थोडासा खुलासा स्वरूप हम यहां लिखे देते हैं—

बंधदि मुंचदि जीवो पडिसमयं कम्मपुग्गला विविहा।
णोकम्मपुग्गलावि य मिच्छत्तकसायसंजुत्तो ॥ ६७ ॥ स्वा० का० अ०।

मिथ्यात्व और कषाय भावोंसे संयुक्त यह जीव प्रतिसमय कर्म और नोकर्म पुद्गलोंका बांधता और छोडता है इसीका नाम द्रव्यसंसार वा द्रव्यपरिवर्तन है। सारार्थ—द्रव्यपरिवर्तनके दो भेद हैं। एक नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन दूसरा कर्मद्रव्यपरिवर्तन। नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन इसप्रकार है—

किसी जीवने स्निग्ध रूक्ष वर्ण गंधादिकके तीव्र मंद मध्यम भावोंमेंसे यथासंभव भावोंसे युक्त औदारिकादि तीन शरीरोंमेंसे किसी शरीर संबंधी छह पर्याप्तिरूप परिणमनके योग्य पुद्गलोंका एक समयमें ग्रहण किया। पीछे द्वितीयादि समयोंमें उस कर्मकी निर्जरा कर दी। पीछे अनंतवार अगृहीत पुद्गलोंको ग्रहण कर छोड दिया। अनंतवार मिश्रद्रव्यको ग्रहण कर छोड दिया। अनंतवार गृहीत-को ग्रहण कर छोड दिया जब वही जीव उनही स्निग्ध रूप आदि भावोंसे युक्त उनही पुद्गलोंको जितने समयमें ग्रहण करे उतने काल समुदायको एक नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन कहते हैं।

पूर्वमें ग्रहण किये हुए परमाणु जिस समयप्रबद्धरूप स्कंधमें हों उसे गृहीत कहते हैं। जिस समयप्रबद्धमें ऐसे परमाणु हों कि जिनका जीवने पहिले कभी ग्रहण न किया हो उसे अग्रहीत कहते हैं। जिस समयप्रबद्धमें दोनों प्रकारके परमाणु हों उसे मिश्र कहते हैं। यहांपर यह शंका नहीं करनी चाहिये कि जब अनादिकालसे कर्मपुद्गलोंको जीव ग्रहण करता चला आरहा है तब उसके द्वारा अगृहीत परमाणुओंका लोकमें होना असंभव है। क्योंकि अगृहीत परमाणुओंको भी लोकमें अनंतानंत माना गया है। संपूर्ण जीवराशीका समयप्रबद्धके प्रमाणसे गुणा करनेपर जो लब्ध आवे उसका अतीतकालके समस्त समयप्रमाणसे गुणा करनेपर जो लब्ध आवे उनसे भी अनंतगुणा पुद्गलद्रव्य है।

अगृहीतग्रहण गृहीतग्रहण और मिश्रग्रहणके भेदसे नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनका काल तीन प्रकारका माना गया है। गोम्मटसारजीकी दोनों संस्कृत टीका वा सम्यग्ज्ञानचंद्रिका नामकी भाषा टीकामें इस विषयको अच्छीतरह स्पष्ट किया है। थोडासा यंत्रपूर्वक खुलासा उसका इसप्रकार है—

द्रव्यपरिवर्तनका यंत्र।

० ० ×	० ० ×	० ० १	० ० ×	० ० ×	० ० १
× × ०	× × ०	× × १	× × ०	× × ०	× × १
× × १	× × १	× × ०	× × १	× × १	× × ०
१ १ ×	१ १ ×	१ १ ०	१ १ ×	१ १ ×	१ १ ०

इस यंत्रमे शून्यसे अगृहीत (×) इस हंसपदके चिह्नसे मिश्र और एकके अंकसे गृहीत समझना चाहिए तथा दो बार लिखनेसे अनंतवार समझ लेना चाहिए। इस यंत्रसे यह बात आसानीसे जान ली जाती

है कि निरंतर अनंतबार अगृहीतका ग्रहण हो चुकनेपर एकबार मिश्रका ग्रहण होता है। मिश्रग्रहण के बाद फिर निरंतर अनंतबार अगृहीतका ग्रहण होचुकनेपर एकबार मिश्रका ग्रहण होता है। इसही क्रमसे अनंतबार मिश्रका ग्रहण हो चुकनेपर अगृहीत ग्रहणके अनंतर एकबार गृहीतका ग्रहण होता है। इसके बाद फिर उसीतरह अनंतबार अगृहीतका ग्रहण होचुकनेपर एकबार मिश्रका ग्रहण और मिश्रग्रहणके बाद फिर अनंतबार अगृहीतका ग्रहण होकर एकबार मिश्रका ग्रहण होता है। तथा मिश्रका ग्रहण अनंतबार होचुकनेपर अनंतबार अगृहीतका ग्रहण करके एकबार फिर गृहीतका ग्रहण होता है। इसही क्रमसे अनंतबार गृहीतका ग्रहण होता है। यह अभिप्राय सूचित करनेकेलिए ही प्रथम पंक्तिमें पहिले तीन कोठोंके समान दूसरे भी तीन कोठे किए हैं अर्थात् इस क्रमसे अनंतबार गृहीतका ग्रहण होचुकनेपर नोकर्म पुद्गल परिवर्तनके चार भेदोंमेंसे प्रथम भेद समाप्त होता है इसके बाद दूसरे भेदका प्रारंभ होता है—

यहांपर अनंतबार मिश्रका ग्रहण होनेपर एकबार अगृहीतका ग्रहण, फिर अनंतबार मिश्रका ग्रहण होनेपर एकबार अगृहीतका ग्रहण इसही क्रमसे अनंतबार अगृहीतका ग्रहण होकर अनंतबार मिश्रका ग्रहण करके एकबार गृहीतका ग्रहण होता है। जिस क्रमसे एकबार गृहीतका ग्रहण किया उस ही क्रमसे अनंतबार गृहीतका ग्रहण हो चुकनेपर नोकर्म पुद्गल परिवर्तनका दूसरा भेद समाप्त होता है।

इसके बाद तीसरे भेदमें अनंतबार मिश्रका ग्रहण करके एकबार गृहीतका ग्रहण होता है। फिर अनंतबार मिश्रका ग्रहण करके एकबार गृहीतका ग्रहण इस क्रमसे अनंतबार गृहीतका ग्रहण होचुकने पर अनंतबार मिश्रका ग्रहण करके एकबार अगृहीतका ग्रहण होता है। जिसतरह एकबार अगृहीतका

ग्रहण किया उसही तरह अनंतबार अगृहीतका ग्रहण होनेपर नोकर्मपुद्गलपरिवर्तनका तीसरा भेद समाप्त होता है।

इसके बाद चौथे भेदका प्रारंभ होता है। इसमें प्रथमही अनंतबार गृहीतका ग्रहणकर एकबार मिश्रका ग्रहण होता है। इसके बाद फिर अनंतबार गृहीतका ग्रहण होनेपर एकबार मिश्रका ग्रहण होता है। इसतरह अनंतबार मिश्रका ग्रहण होकर पीछे अनंतबार गृहीतका ग्रहणकर एकबार अगृहीतका ग्रहण होता है। जिसतरह एकबार अगृहीतका ग्रहण किया उसही क्रमसे अनंतबार अगृहीतका ग्रहण होचुकनेपर नोकर्मपुद्गल परिवर्तनका चौथा भेद समाप्त होता है।

इस चतुर्थ भेदके समाप्त होचुकनेपर नोकर्मपुद्गलपरिवर्तनके प्रारंभके प्रथम समयमें वर्ण गंध आदिके जिस भावसे युक्त जिस पुद्गलद्रव्यको ग्रहण किया था उसही भावसे युक्त उस शुद्ध गृहीतरूप पुद्गलद्रव्यको जीव ग्रहण करता है। इस सबके समुदायको नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन कहते हैं और इसमें जितना काल लगे उसका नाम नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनकाल है।

इसही तरह दूसरा कर्मपुद्गलपरिवर्तन भी होता है। विशेषता इतनीही है कि जिसतरह नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनमें नोकर्मपुद्गलोंका ग्रहण होता है उसीतरह यहांपर कर्मपुद्गलोंका ग्रहण होता है, क्रममें अंशमात्र भी विशेषता नहीं। जिसतरहके चार भेद नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनके होते हैं उसीतरह कर्मद्रव्यपरिवर्तनमें चार भेद होते हैं। इन चार भेदोंमें अग्रहीतग्रहणका काल सबसे अल्प है। उससे अनंतगुणा काल मिश्रग्रहणका है। उससे भी अनंतगुणा गृहीतग्रहणका जघन्य काल है। उससे अनंतगुणा गृहीतग्रहणका उत्कृष्ट काल है।

क्षेत्रपरिवर्तनके दो भेद हैं एक स्वक्षेत्रपरिवर्तन दूसरा परक्षेत्रपरिवर्तन । एक जीव सर्वजघन्य
अवगाहनाको जितने उसके प्रदेश हों उतनी बार धारणकर पीछे एक एक प्रदेश अधिक अधिककी
अवगाहनाओंको धारण करते करते महामत्स्यकी उत्कृष्ट अवगाहना पर्यंत अवगाहनाओंको जितने
समयमें धारण कर सके उतने कालसमुदायको एक स्वक्षेत्र परिवर्तन कहते हैं।

कोई जघन्य अवगाहनाका धारक सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव लोकके अष्ट मध्य प्रदेशों
को अपने शरीरके अष्ट मध्य प्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ, पीछे वही जीव उसी रूपसे उसीस्थानमें दूसरी
तीसरीबार भी उत्पन्न हुआ । इसीतरह घनांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण जघन्य अवगाहनाके
जितने प्रदेश हैं उतनीबार उसीस्थानपर क्रमसे उत्पन्न हुआ और श्वासके अठारहवें भागप्रमाण क्षुद्र
आयुको भोगकर मरणको प्राप्त हुआ । पीछे एक एक प्रदेशके अधिक क्रमसे जितने कालमें संपूर्ण
लोकको अपना जन्मक्षेत्र बना ले उतने काल समुदायको एक परक्षेत्र परिवर्तन काल कहते हैं।

कोई जीव उत्सर्पिणीके प्रथम समयमें पहिलीबार उत्पन्न हुआ उसीतरह दूसरीबार दूसरी उत्सर्पिणी-
के दूसरे समयमें उत्पन्न हुआ, एवं तीसरी उत्सर्पिणीके तीसरे समयमें तीसरीबार उत्पन्न हुआ । इसी क्रमसे
उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणीके बीस कोडाकोडी सागरके जितने समय हैं उनमें उत्पन्न हुआ एवं इसी
क्रमसे मरणको प्राप्त हुआ इसमें जितना काल लगे उतने कालसमुदायको एक काल परिवर्तन कहते हैं।

कोई जीव दश हजारवर्षके जीतने समय हैं उतनीबार जघन्य दश हजारवर्षकी आयुसे प्रथम नरकमें
उत्पन्न हुआ, पीछे एक एक समयके अधिकक्रमसे नरकसंबंधी तेतीससागरकी उत्कृष्ट आयुको क्रमसे
पूर्णकर अंतर्मुहूर्तके जितने समय हैं उतनीबार जघन्य अंतर्मुहूर्तकी आयुसे तिर्यंच गतिमें उत्पन्न होकर

वहांपर भी नरकगतिके समान एक एक समयके अधिक क्रमसे तिर्यंच गति संबंधी तीन पल्यकी उत्कृष्ट आयुको पूर्ण किया। पीछे तिर्यग्गतिके समान मनुष्य गतिकी भी तीन पल्यकी उत्कृष्ट आयुको पूर्ण किया उसके बाद दश हजार वर्षके जितने समय हैं उतनीवार जघन्य दश हजारवर्षकी आयुसे देव-गतिमें उत्पन्न होकर पीछे एकएक समयके अधिक क्रमसे इकतीससागरकी उत्कृष्ट आयुको पूर्ण किया। विशेष—यद्यपि देवगतिमें उत्कृष्ट आयु तेतीससागरकी है तथापि यहां इकतीस सागरकी आयुका ही ग्रहण किया गया है क्योंकि मिथ्यादृष्टि देवकी उत्कृष्ट आयु इकतीससागर तक ही होती है और इन परिवर्तनोंका निरूपण मिथ्यादृष्टि जीवकी अपेक्षा ही है सम्यग्दृष्टि तो अर्धपुद्‌गलपरावर्तनका जितना काल है उससे अधिक संसारमें नहीं रहता। इसक्रमसे चारों गतियोंमें भ्रमणकरनेमें जितनाकाल लगे उतने कालको एक भवपरिवर्तनका काल कहते हैं। तथा इतने कालमें जितना भ्रमण किया जाय उसका नाम भव परिवर्तन है।

योगस्थान अनुभागबंधाध्यवसायस्थान कषायाध्यवसायस्थान स्थिति-स्थान इन चारके निमित्तसे भाव परिवर्तन होता है। प्रकृति और प्रदेश बंधको कारण भूत आत्माके प्रदेश परिस्पंदरूप योगके तरतम रूप स्थानोंको योगस्थान कहते हैं। जिनकषायके तरतमरूप स्थानोंसे अनुभाग बंध होता है उनको अनुभागबंधाध्यवमायस्थान कहते हैं। स्थितिबंधको कारणभूत कषायपरिणामोंको कषायाध्यवसायस्थान वा स्थितिबंधाध्यवसायस्थान कहते हैं। बंधरूप कर्मकी जघन्य आदि स्थितिको स्थितिस्थान कहते हैं। इनका परिवर्तन दृष्टांत द्वारा इसप्रकार है—

श्रेणिके असंख्यातवें भाग प्रमाण योग स्थानोंके होजानेपर एक अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होता

है और असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागबंधाध्यवसायस्थानोंके हो जानेपर एक कषायाध्यवसायस्थान होता है तथा असंख्यात लोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थानोंके हो जानेपर एक स्थिति स्थान होता है इसक्रमसे ज्ञानावरण आदि समस्त मूल प्रकृति वा उत्तर प्रकृतियोंके समस्त स्थानोंके पूर्ण होने पर एक भाव परिवर्तन होता है। जैसे किसी पर्याप्त मिथ्यदृष्टि संज्ञी जीवके ज्ञानावरण कर्मकी अंतःकोडाकोडी सागरप्रमाण जघन्य स्थितिका बंध होता है यही यहांपर जघन्यस्थितिस्थान है इसलिये इसके योग्य विवक्षित जीवके जघन्य ही अनुभागबंधाध्यवसायस्थान जघन्य ही कषायाध्यवसायस्थान और जघन्य ही योग स्थान होते हैं। यहां से ही भाव परिवर्तनका प्रारंभ होता है अर्थात् इसके आगे श्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण योगस्थानोंके क्रमसे हो जानेपर दूसरा अनुभागबंधाध्यवसायस्थान होता है। इसके बाद फिर श्रेणीके असंख्यातवें भागप्रमाण योगस्थानोंके क्रमसे हो जानेपर तीसरा अनुभाग बंधाध्यवसायस्थान होता है। इस ही क्रमसे असंख्यातलोकप्रमाण अनुभाग बंधाध्यवसायस्थानोंके हो जानेपर दूसरा कषायाध्यवसायस्थान होता है। जिस क्रमसे दूसरा कषायाध्यवसायस्थान हुआ उसही क्रमसे असंख्यात लोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थानोंके हो जानेपर जघन्य स्थितिस्थान होता है। जो क्रम जघन्य स्थितिस्थानमें बताया वही क्रम एक एक समय अधिक द्वितियादि स्थिति स्थानोंमें समझ लेना चाहिये। तथा इसी क्रमसे ज्ञानावरणके जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट तक समस्त स्थितिस्थानोंके हो जानेपर और ज्ञानावरणके स्थितिस्थानोंकी तरह क्रमसे संपूर्ण मूल वा उत्तरप्रकृतियोंके समस्त स्थिति स्थानोंके पूर्ण हो जानेपर एक भावपरिवर्तन होता है। इस परिवर्तनमें जितनाकाल लगे उसका नाम भाव परिवर्तनकाल है। पांचो परिवर्तनोंके लिये यह नियम है कि जहांपर क्रम भंग होगा वहांपर वह गणना

में सामिल न किया जायगा। इसप्रकार यह संक्षेपसे द्रव्यादि पांचो परिवर्तनोंका स्वरूप है। इनकाकाल उत्तरोत्तर अनंत अनंत गुणा है।

स येषामस्ति ते संसारिणः ॥ २ ॥ निरस्तद्रव्यभावबंधा मुक्ताः ॥ ३ ॥

यह पंचपरावर्तनरूप संसार जिनके हो वे संसारी जीव कहे जाते हैं। द्रव्यबंध और भावबंधके भेदसे बंधतत्त्व दो प्रकारका है। ज्ञानावरण आदि कर्म स्वरूप और नोकर्मस्वरूप परिणत पुद्गल द्रव्यका नाम द्रव्यबंध है और क्रोध मान राग द्वेष आदि परिणत आत्मा भाव बंध है। जिन पवित्र आत्माओंने दोनों प्रकारके बंधोंका त्याग कर दिया है वे मुक्त हैं। शंका—

द्वंद्वनिर्देशो लघुत्वादिति चेन्नार्थांतरप्रतीतेः ॥ ४ ॥

'संसरिणौ मुक्ताश्च' यहांपर वाक्यरूपसे सूत्रका उल्लेख न कर संसारिणश्च मुक्ताश्च 'संसारिमुक्ताः' ऐसा द्वंद्वसमास मानना चाहिये लाभ यह है कि च शब्द न कहना पडेगा इसलिये लाघव होगा तथा सूत्रका जो अर्थ है उस अर्थमें किसीप्रकारकी बाधा भी न होगी? सो ठीक नहीं। संसारी और मुक्त दोनों शब्दोंमें मुक्त शब्द पूज्य और अल्पाक्षर है इसलिये द्वंद्वसमास करनेपर मुक्त शब्दका ही पूर्व-निपात होनेसे मुक्त संसारिणः' ऐसा सूत्र करना पडेगा तथा "मुक्तः संसारो येन भावेन स मुक्तसंसारः, तद्वंतो मुक्तसंसारिणः" अर्थात् जिस स्वरूपसे संसारका छूटजाना हो वह मुक्तसंसार और उससे विशिष्ट मुक्तसंसारी है यह मुक्तसंसारी शब्दका अर्थ होगा एवं उससे ज्ञानदर्शनस्वरूप उपयोगवान मुक्तसंसारी अर्थात् सिद्ध जीव ही कहे जांयगे संसारी जीव न कहे जांयगे इसरीतिसे द्वंद्व समास माननेपर इस दूसरे अर्थकी प्रतीतिसे विपरीत अर्थ होगा अतः द्वंद्व समास न मानकर 'संसारिणौ मुक्ताश्च' यह वाक्यार्थ ही उपयुक्त है। यदि यहां पर फिर यह शंका की जाय कि—

समुच्चयाभिव्यक्त्यर्थं चशब्दोऽनर्थक इति चेन्नोपयोगस्य गुणभावप्रदर्शनार्थत्वात् ॥ ५ ॥

'संसारिणो मुक्ताश्च' यहां पर चशब्दका अर्थ समुच्चय माना है तथा "आपसमें विशेषण विशेष्य रूपकी अपेक्षा न कर अनेक शब्दोंका वाक्यमें भिन्न भिन्न रूपसे रहना" यह समुच्चय शब्दका अर्थ है यहांपर भी संसारी और मुक्त दोनों शब्द भिन्न भिन्न हैं यह बात बतलानेकेलिये सूत्रमें चशब्दका उल्लेख किया गया है परंतु जिसप्रकार 'पृथिव्यप्तेजोवायुः' इस वाक्यमें पृथिवी आदि शब्दोंका आपसमें विशेषण विशेष्य भाव नहीं है तथा अर्थ भी जुदा जुदा है इसलिये वे भिन्न भिन्न माने जाते हैं उसीप्रकार 'संसारिणो मुक्ताः' यहांपर भी आपसमें विशेषण विशेष्य भाव नहीं तथा अर्थ भी जुदा है इसलिये संसारी और मुक्त दोनों शब्द भिन्न भिन्न हैं अतः उनमें भेद प्रकट करनेकेलिए समुच्चयार्थक चशब्दका उल्लेख करना व्यर्थ है ? सो ठीक नहीं। चशब्दके समुच्चय और अन्वाचय ये दोनों अर्थ हैं तथा एकको प्रधान और दूसरोंको गौण बतलाना यह अन्वाचय शब्दका अर्थ है। सूत्रमें जो चशब्द है उसका अर्थ यहां अन्वाचय है और एक जगह उपयोग गौणरूपसे रहता है और एक जगह मुख्यरूपसे रहता है यह वहां पर चशब्द द्योतन करता है इसरीतिसे 'भैक्ष्यं चर देवदत्तं चानय' अर्थात् भिक्षाका आचरण करो और देवदत्तको ले आओ इस अन्वाचयके प्रसिद्ध उदाहरणमें जिसप्रकार भिक्षाका आचरण करना प्रधान है और देवदत्तका लाना गौण है उसीप्रकार संसारी और मुक्त जीवोंमें संसारी जीव प्रधानतासे उपयोगवान हैं और मुक्तजीव गौणरूपसे उपयोगवान हैं यह चशब्दसे प्रदर्शित अर्थ है। यदि यहां पर यह शंका हो कि संसारी जीवोंमें उपयोगकी मुख्यता क्यों और मुक्त जीवोंमें क्यों नहीं ? उसका समाधान वार्तिककार देते हैं—

परिणामांतरसंक्रमाभावात्, ध्यानवत् ॥ ६ ॥

एकाग्ररूपसे चिंताका निरोध होना ध्यान है। जहां पर चिंता है वहींपर उसका निरोध कहा जा सकता है। छद्मस्थ जीवोंमें चिंता और तज्जन्य विक्षेप होते हैं इसलिये मुख्यरूपसे उन्हींके उसका निरोध हो सकता है इसलिये ध्यान शब्दका अर्थ प्रधानतासे छद्मस्थोंमें है तथा केवलियोंमें चिंताका अभाव है इसलिये वास्तविकरूपसे उनके चिंताका निरोध भी नहीं कहा जा सकता किंतु छद्मस्थोंके समान कर्मों का झडना रूप ध्यानका फल उनके भी मौजूद है इसलिये ध्यान उनमें व्यवहारसे है उसीप्रकार एक परिणामसे दूसरे परिणामस्वरूप पलट जाना उपयोग शब्दका अर्थ है। यह पलटन संसारी जीवोंके प्रतिसमय होती रहती है इसलिये उनमें प्रधानतासे उपयोग है तथा मुक्त जीवोंमें जो उपयोग है वह उपलब्धिस्वरूप है संसारी जीवोंके समान उनके उपयोगमें पलटन नहीं होती इसलिये उनमें उपयोग गौणरूपसे माना है। इसरीतिसे संसारी जीवोंमें मुख्यरूपसे और मुक्त जीवोंमें गौणरूपसे जब उपयोग की सत्ता सिद्ध है तब अन्वाचयार्थक चशब्दका सूत्रमें उलेख निरर्थक नहीं।

संसारिग्रहणमादौ वहुविकल्पत्वात्तत्पूर्वकत्वाच्च स्वसंवेद्यत्वाच्च ॥ ७ ॥

मुक्त जीवोंकी अपेक्षा संसारी जीवोंके गति आदि बहुतसे भेद हैं तथा मुक्त जीवोंकी अपेक्षा संसारी जीव पहिले हैं क्योंकि पहिले संसारी हैं उसके वाद मुक्त हैं एवं संसारी जीवोंके गति आदि परिणामोंका अनुभव ज्ञान होता है मुक्त जीवोंकी किसी भी पर्यायका अनुभव नहीं होता क्योंकि वे अत्यंत परोक्ष हैं इसरीतिसे मुक्तजीवोंकी अपेक्षा संसारी जीव बहुत भेदवाले हैं मुक्तजीवोंसे पहिले हैं और स्वसंवेद्य अर्थात् स्वसंवेदन प्रत्यक्षके विषय हैं इसलिये सूत्रमें पहिले मुक्तजीवोंका उल्लेख न कर संसारी जीवोंका उल्लेख किया गया है।

विशेष–सूत्रमें संसारीजीवोंको पाहिले कहनेकेलिए वार्तिककारने वहुविकल्पत्व तत्पूर्वक और स्वसंवेद्यत्व ये तीन हेतु दिये हैं। वहांपर यह प्रश्न उठता है कि एकही हेतुका कहना उपयुक्त था तीन हेतुओं का क्यों उलेख किया गया ? उसका खुलासा इसप्रकार है–यदि 'वहुविकल्पत्व' यही हेतु दिया जाता तो उससे इष्टसिद्धि नहीं हो सकती थी क्योंकि सूचीकटाह न्यायके अनुसार जिसके थोडे भेद होते हैं उसका पहिले प्रयोग किया जाता है और जिसके बहुत भेद होते हैं उसका पीछे प्रयोग किया जाता है। संसारीकी अपेक्षा मुक्तजीवोंके अल्प भेद हैं इसलिए वहुविकल्पत्वहेतुके उलेख रहनेपर भी पहिले मुक्तजीवोंका ही सूत्रमें ग्रहण करना पडता। यदि तत्पूर्वकत्व यह हेतु दिया जाता तब भी संसारी जीवोंका प्रथम ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि यद्यपि मुक्तजीवोंकी अपेक्षा संसारीजीव पहिले हैं तथापि जो अभ्यर्हित और अल्पाक्षर होता है इसीका पहिले प्रयोग होता है यह नियम बलवान है। इसरीतिसे संसारीकी अपेक्षा मुक्तही अभ्यर्हित और अल्पाक्षर है इसलिए मुक्तशब्दहीका सूत्रमें पहिले ग्रहण करना पडता। किंतु स्वसंवेद्यत्वहेतुके कहनेसे कोई दोष नहीं क्योंकि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष संसारी जीवोंका ही होता है मुक्तजीवोंका नहीं इसलिए स्वसंवेदन प्रत्यक्षके विषयभूत संसारीजीवोंके अस्तित्वके आधीन मुक्तजीवोंका अस्तित्व होनेसे सूत्रमें संसारीजीवोंका ही आदिमें ग्रहण उपयुक्त है ॥ १० ॥

जिनका स्वभाव अशुभकर्मोंसे जायमान फलोंके अनुभवन करनेका है। जिनका संसारका परिभ्रमण नहीं छूटा है और पूर्वोपार्जित नामकर्मके उदयसे जायमान जिनके बहुतसे भेद हैं वे जीव सैनी असैनीके भेदसे दो प्रकारके हैं इसबातको सूत्रकार बतलाते हैं–

समनस्कामनस्काः ॥ ११ ॥

अर्थ—समनस्क और अमनस्कके भेदसे संसारीजीव दो प्रकारके हैं। जिनके मन है वे समनस्क-सैनी हैं और जिनके मन नहीं वे अमनस्क-असैनी हैं।

मनके संबंध और असंबधसे संसारीजीव दो प्रकारके हैं। द्रव्यमन और भावमनके भेदसे मन भी दो प्रकारका है। उनमें जिस मनकी उत्पत्ति पुद्गलविपाकी कर्मके उदयसे होती है वह द्रव्यमन है और जो वीर्यांतराय और नो इंद्रियावरण कर्मके उदयसे होनेवाली आत्माकी विशुद्धि है वह भावमन है। जो जीव उस मनसे संयुक्त हैं वे समनस्क और उससे रहित हैं वे अमनस्क हैं। इसप्रकार समनस्क और अमनस्कके भेदसे संसारी जीव दो प्रकारके हैं शंका—

द्विविधजीवप्रकरणाद्यथासंख्यप्रसंगः ॥ १ ॥ इष्टमिति चेन्न सर्वसंसारिणां समनस्कत्वप्रसंगात् ॥ २ ॥

संसारी और मुक्तके भेदसे पहिले जीवोंके दो भेद कह आए हैं। उन दोनों भेदोंका इस सूत्रमें संबंध होनेपर संसारीजीव समनस्क हैं और मुक्तजीव अमनस्क हैं ऐसा यथासंख्य क्रमसे अर्थ होसकता है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि संसारीजीव सैनी और मुक्तजीव असैनी हैं यह अर्थ हमें इष्ट ही है? सो ठीक नहीं। एकेंद्रिय द्वींद्रिय त्रींद्रिय चतुरिंद्रिय और असंज्ञिपंचेंद्रिय जीवोंके मनका संबंध नहीं माना गया है। यदि सामान्यरूपसे संसारीजीवोंको समनस्क कहा जायगा तो उक्त एकेंद्रिय आदि सबही जीवोंको भी समनस्क कहना पडेगा जिससे सिद्धांतमें जो उन्हें अमनस्क माना है उसका व्याघात हो जायगा इसलिए समस्त संसारीजीवोंको समनस्क नहीं कहा जा सकता। यथासंख्य क्रमका वार्तिककार उत्तर देते हैं—

पृथग्योगप्रक्रमे संसारिसंप्रत्ययः ॥ ३ ॥ उपरिष्टसंसारिवचनप्रत्यासत्तेश्च ॥ ४ ॥

यदि 'समनस्कामनस्काः' इससूत्रमें संसारी और मुक्त दोनोंका संबंध रहता तो 'संसारिणो मुक्ताश्च समनस्कामनस्काः' ऐसा एक ही सूत्र कहते परंतु दो सूत्र पृथक् पृथक् कहे गये हैं इसलिये जाना जाता है कि इस सूत्रमें संसारियोंका ही ग्रहण है मुक्तोंका ग्रहण नहीं इसलिये संसारी समनस्क और मुक्त अमनस्क हैं इस विपरीत अर्थकी यहां कल्पना नहीं की जा सकती। और भी यह बात है कि— आगे 'संसारिणस्त्रसस्थावराः' इस सूत्रमें संसारी शब्दका ग्रहण किया गया है वह समीपमें भी है इसलिये 'समनस्काऽमनस्का' इस सूत्रमें उसका संबंध होनेपर समनस्क और अमनस्क ये दो भेद संसारी जीवोंके ही हैं यही अर्थ होगा मुक्त शब्दका इससूत्रमें संबंध नहीं हो सकता। शंका—

तदभिसंबंधेयथासंख्यप्रसंगः ॥ ५ ॥ इष्टमेवेतिचेन्न सर्वत्रसानां समनस्कत्वप्रसंगात् ॥ ६ ॥

यदि 'संसारिणस्त्रसस्थावराः' इस सूत्रमें कहे गये संसारि शब्दका 'समनस्कामनस्काः' इस सूत्रमें संबंध किया जायगा तो उस सूत्रमें तो त्रस और स्थावर शब्दका भी उल्लेख किया गया है इसलिये उनका संबंध भी इस सूत्रमें होगा तब यथासंख्य क्रमसे त्रस समनस्क हैं और स्थावर अमनस्क हैं यह इस सूत्रका अर्थ मानना पडेगा। यदि यहांपर यह कहा जायगा कि त्रस समनस्क हैं और स्थावर अमनस्क हैं यह अर्थ इष्ट ही है ? सो ठीक नहीं। यदि सब त्रसोंको समनस्क कहा जायगा तो द्वींद्रिय तेइंद्रिय चतुरिंद्रिय और असंज्ञिपंचेंद्रिय भी त्रस हैं उन्हें भी समनस्क कहना होगा परंतु आगममें उन्हें समनस्क नहीं माना है इसलिये सब ही त्रस जीवोंको समनस्क कहना अनिष्ट है। इस यथासंख्य क्रमका वार्तिककार समाधान देते हैं—

नानाभिसंबंधात् ॥ ७ ॥ इतरथान्यतरत्र संसारिग्रहणे सतीष्टार्थत्वादुपरि संसारिगृहणमनर्थकं ॥ ८ ॥

संबंधका करना इच्छाके आधीन है। यहांपर संसारि शब्दके संबंध ही की इच्छा है त्रस और स्थावरके संबंधकी नहीं इसलिये 'समनस्कामनस्काः' इस सूत्रमें संसारीकाही संबंध है। यदि 'संसारिणस्त्रसस्थावराः' इस सूत्रके संसारी शब्दके संबंधके समान त्रस और स्थावर शब्दका भी 'समनस्कामनस्काः' इस सूत्रमें संबंध रहता तब "समनस्कामनस्काः संसारिणस्त्रसस्थावराः" ऐसा एक ही सूत्र बनाना ठीक था परंतु वैसा नहीं बनाया इसलिये जान पडता है कि यहांपर त्रस और स्थावर शब्दका संबंध इष्ट नहीं अथवा—

संसारिणो मुक्ताश्च, समनस्कामनस्काः, संसारिणस्त्रसस्थावराः, इन तीनों सूत्रोंका एक योग नहीं किया इसलिये जान पडता है कि पहिले सूत्रके संसारि और मुक्त शब्दोंका तथा आगे सूत्रके त्रस और स्थावर शब्दोंका 'समनस्कामनस्काः' इस सूत्रमें संबंध नहीं किंतु केवल संसारी शब्दका ही संबंध है। अन्यथा यदि संसारी और मुक्त एवं त्रस और स्थावर शब्दोंके साथ भी इसका संबंध माना जायगा तो "संसारिमुक्ताः समनस्कामनस्कास्त्रसस्थावराः" ऐसा एक योग करना ही ठीक होता ऐसा होनेसे समनस्कामनस्काः' इस सूत्रकी आदि वा अंतमें एक जगह संसारि शब्दके उल्लेखसे ही अभीष्ट अर्थ सिद्ध हो जाता फिर 'संसारिमुक्ताः' यहांपर कहे गये संसारि शब्दसे अभीष्ट सिद्धि होनेपर 'संसारिणस्त्रसस्थावराः' इससूत्रमें संसारि शब्दका ग्रहण अनर्थक ही था। परंतु वैसा अर्थ सिद्धांतानुकूल नहीं इसलिये जैसा सूत्रोंका निर्माण है वैसा ही ठीक है।

आदौ समनस्कग्रहणमभ्यर्हितत्वात् ॥ ९ ॥

समनस्क कहनेपर समस्त इंद्रियोंका ग्रहण होता है इसलिये अमनस्ककी अपेक्षा समनस्क अभ्य-
र्हित होनेसे 'समनस्कामनस्काः' इस सूत्रमें समनस्क शब्दका पहिले प्रयोग किया गया है ॥ ११ ॥

अपने द्वारा उपार्जन किये गये कर्मोंके अनुसार पाई हुई पूर्ण इंद्रिय और अपूर्ण इंद्रियोंकी अपेक्षा
जिनके त्रस स्थावर रूप दो भेद हैं और कार्माण शरीरके आधीन जिनके अवस्था विशेष नियमित हैं
उन संसारी जीवोंका अब सूत्रकार उल्लेख करते हैं—

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२ ॥

अर्थ—त्रस और स्थावरके भेदसे संसारी जीव दो प्रकारके हैं। उनमें द्वींद्रिय त्रींद्रिय चौइंद्रिय और
पंचेंद्रिय जीवोंकी त्रस संज्ञा है और एकेंद्रियजीव स्थावर कहे जाते हैं। वार्तिककार त्रस और स्थावर
शब्दका अर्थ बतलाते हैं—

त्रसनामकर्मोदयापादितवृत्तयस्त्रसाः ॥ १ ॥

जीवविपाकी अर्थात् जिसका फल जीवको ही भोगना पडता है ऐसे त्रसनामकर्मके उदयसे जिस
विशेष पर्यायकी प्रकटता होती है उस पर्यायका नाम त्रस है। शंका—

त्रेसरुद्वेजनाक्रियस्य त्रसाइति चेन्न गर्भादिषु तदभावादत्रसत्वप्रसंगात् ॥ २ ॥

त्रस शब्दकी सिद्धि त्रसी उद्वेग धातुसे है और उसका अर्थ उद्वेजन—भयभीत होकर भाग जाना,
माना है इसलिये 'त्रस्यंतीति त्रसाः' जो जीव डर कर भागनेवाले हों वे त्रस हैं यही त्रस शब्दका अर्थ
मानना चाहिये ? सो ठीक नहीं। जो जीव गर्भके अंदर वा अंडेके भीतर रहनेवाले हैं अथवा मूर्छित
और सोये हुए हैं वे भयके बाह्य कारणोंके उपस्थित होजानेपर भी भयभीत हो भागते नहीं और वे सब

त्रस जीव हैं। यदि भयसे भागनेवाले जीव त्रस कहे जांयगे तो जो भयसे भागनेवाले होंगे वे ही त्रस कहे जांयगे, गर्भस्थ आदि जीवोंको त्रस नहीं कहा जायगा इसलिये ये 'जो जीव त्रसनामकर्मके उदयके वशीभूत हैं वे त्रस हैं' यही त्रस शब्दका अर्थ निर्दोष है किंतु जो भयसे भाग जानेवाले हैं वे त्रस हैं' यह अर्थ ठीक नहीं। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

जब त्रस शब्दके व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थका ग्रहण न किया जायगा तब 'त्रस्यंतीति त्रसाः' इसरूपसे उसकी सिद्धि बाधित है। सो ठीक नहीं। जिसतरह 'गच्छतीति गौः' यहांपर जो चले वह गौ है, यह व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ स्वीकार न कर पशु विशेषरूप गौ अर्थ ही प्रधानतासे लिया जाता है और गोशब्द की सिद्धिके लिए 'गच्छतीति गौः' यह केवल व्युत्पत्ति मानी जाती है उसीतरह त्रसशब्दकी सिद्धिके लिए 'त्रस्यंतीति त्रसाः' यह केवल व्युत्पत्ति प्रदर्शन है इस व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थकी यहां प्रधानता नहीं इसलिए 'जो जीव त्रस नामकर्मके वशीभूत हों वे त्रस हैं' यही त्रस शब्दका अर्थ निर्दोष है।

स्थावरनामकर्मोदयोपजनिताविशेषाः स्थावराः ॥ ३ ॥

जीवविपाकी स्थावर नामकर्मके उदयसे जो विशेष पर्याय प्रगट हो उस पर्यायका नाम स्थावर है। शंका—

स्थानशीलाः स्थावरा इति चेन्न वाय्वादीनामस्थावरत्व प्रसंगात् ॥ ४ ॥

स्थावर शब्दकी सिद्धि स्था गतिनिवृत्तौ धातुसे है और स्था धातुका अर्थ ठहरना है इसलिए 'तिष्ठंतीति स्थावराः' अर्थात् जो ठहरें वे स्थावर हैं यही स्थावर शब्दका अर्थ समझना चाहिए। सो ठीक नहीं पवन अग्नि और जलकी एक देशसे दूसरे देशमें गमनक्रिया देखी जाती है। यदि जो ठहरनेवाले

हैं वे ही स्थावर हैं यही स्थावर शब्दका अर्थ माना जायगा तो जो पदार्थ ठहरने वाले हैं वे ही स्थावर कहे जांयगे, पवन आदि स्थावर न कहे जा सकेंगे। यदि यहांपर यह कहा जाय कि जब स्थावर शब्दका व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ न लिया जायगा तब 'तिष्ठंतीतिस्थावराः' इस रूपसे उसकी सिद्धि बाधित है? सो ठीक नहीं। यह केवल व्युत्पत्तिमात्र प्रदर्शन है। व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थकी यहां प्रधानता नहीं किंतु रूढिकी विशेषतासे जो अर्थ प्रसिद्ध है उसीकी यहां प्रधानता है। वह रूढि सिद्ध अर्थ 'जो जीव स्थावर नामकर्मके उदयसे हों वे स्थावर हैं' यही है इसलिए यहां इसी अर्थका ग्रहण है। यदि यहांपर वादी यह कहे कि—

इष्टमेवेति चेन्न समयार्थानवबोधात् ॥ ५ ॥

स्थावर शब्दका यदि स्थानशील अर्थ किया जायगा तो पवन आदि चलनक्रिया परिणत पदार्थ स्थावर न कहे जा सकेंगे यह ऊपर दोष दिया गया है परंतु उनको स्थावर न होना हमें इष्ट ही है इसलिए जो ठहरने वाले हों वे ही स्थावर हैं यही स्थावर शब्दका अर्थ ग्रहण करना चाहिए? सो ठीक नहीं। वादीको सिद्धांतके अभिप्रायका यथार्थज्ञान नहीं क्योंकि सिद्धांतमें सत्प्ररूपणाके कायानुवाद प्रकरणमें दो इंद्रियको आदि लेकर अयोग केवली पर्यंत जीवोंको त्रस माना है। एकेंद्रिय जीवोंको कहीं भी त्रस पनेका विधान नहीं। यदि पवन अग्नि आदि कायके जीवोंको त्रस माना जायगा तो आगमविरोध होगा क्योंकि ये एकेंद्रिय जीव हैं इसलिए जो जीव त्रस और स्थावर नामकर्मके उदयसे हों वे ही त्रस और स्थावर हैं यही त्रस और स्थावर शब्दका निर्दोष अर्थ है किंतु भयसे भाग जाने वाले त्रस और ठहरने वाले स्थावर यह अर्थ नहीं स्थावर नामकर्मका उदय पवनकाय आदि जीवोंके है इसलिए वे स्थावर ही हैं। अन्यथा जो बैठे हुए मनुष्य पशु आदि हैं वे भी स्थावर सिद्ध होंगे—

त्रसग्रहणमादावल्पाचतरत्वादभ्यार्हितत्वाच्च ॥ ६ ॥

त्रसकायके जीवोंमें मतिज्ञान आदि वा चक्षुदर्शन आदि आठों उपयोग होते हैं और स्थावरकायके जीवोंके मतिज्ञान श्रुतज्ञान और चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन ये चार ही उपयोग होते हैं इसलिए स्थावर जीवोंकी अपेक्षा त्रस जीव अभ्यर्हित हैं तथा स्थावर शब्दकी अपेक्षा त्रस शब्द अल्पअक्षरवाला भी है इसरीतिसे अल्पाक्षर और अभ्यर्हित होनेसे 'संसारिणस्त्रसस्थावराः' इस सूत्रमें स्थावर शब्दसे पहिले त्रसशब्दका उल्लेख किया गया है ॥ १२ ॥

संसारी जीवोंका सामान्य और विशेषरूपसे भेदज्ञान हो चुका परंतु उनके विशेष भेद जो त्रस और स्थावर हैं उनके विशेषका ज्ञान नहीं हुआ इसलिए उनका ज्ञान कराना चाहिए। उनमें एकेंद्रिय स्थावर जीवोंके विषयमें विशेष वक्तव्य न होनेसे आनुपूर्वी क्रमसे विभागकर अर्थात् आनुपूर्वी क्रमका उल्लंघन करके पहिले सूत्रकार स्थावर जीवोंके भेद प्रतिपादन करते हैं—

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयःस्थावराः ॥ १३ ॥

पृथ्वीकायिक जलकायिक तेजःकायिक वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पांच भेद स्थावर जीवोंके हैं। स्थावर जीवोंके नियमसे एक स्पर्शन इंद्रिय ही होती है इसलिये पृथिवीकायिक आदि सब जीव एकेंद्रिय हैं।

नामकर्मोदयनिमित्ताः पृथिव्यादयः संज्ञाः ॥ १ ॥

पृथिवी काय आदि स्थावर नाम कर्मके भेद हैं। उनके उदयसे जीवोंके पृथिवी अप् आदि नाम हैं। यद्यपि 'प्रथते इति पृथिवी' अर्थात् जो फैलनेवाली हो वह पृथिवी है 'आप्नुवंतीति आपः' जो चारों ओरसे

भर जानेवाला है वह जल हो, इत्यादिरूपसे पृथिवी आदिका व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ प्रथन आदि क्रियाओं से उपलक्षित है परंतु उस अर्थकी यहां अविवक्षा है किंतु रूढि सिद्ध जो उनका अर्थ है उसीका यहां ग्रहण है। आगममें पृथिवी आदिमेंसे प्रत्येकके चार चार भेद माने हैं और वे इस प्रकार हैं—

पृथिवी पृथिवीकाय पृथिवीकायिक और पृथिवी जीव ये चार भेद पृथिवीके हैं। उनमें अचेतन स्वभावसिद्ध परिणामसे रचित और कठिनता आदि गुणस्वरूप पृथिवी कही जाती है। अचेतन होनेसे इसके पृथिवीकायिक नाम कर्मका उदय नहीं हो सकता इसलिये यह अपनी प्रथन—विस्तार रूप क्रियासे ही उपलक्षित है। अथवा पृथिवी शब्दका संबंध आगेके तीन भेदोंके साथ भी है इसलिये 'पृथिवी' यह एक सामान्य नाम ही है। कायका अर्थ शरीर है। पृथिवीकायिक जीवने जिस शरीरको छोड दिया है वह पृथिवीकाय कहा जाता है। यह मरे हुए मनुष्य आदिके कायके समान है। 'पृथिवीकायोऽस्यास्तीति पृथिवीकायिकः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार जो जीव उस पृथिवीकायसे संबद्ध है वह पृथिवीकायिक है। तथा जिस जीवके पृथिवीकायिक नाम कर्मका उदय है परंतु पृथिवीको कायस्वरूपसे ग्रहण न कर वह कार्माण काय योगमें ही विद्यमान है वह पृथिवी जीव है।

इसीतरह अप् अप्काय अप्कायिक और अप् जीव ये चार भेद जलके, तेज तेजकाय तेजकायिक और तेज जीव ये चार भेद तेजके, वायु वायुकाय वायुकायिक और वायु जीव ये चार भेद वायुके एवं वनस्पति वनस्पतिकाय वनस्पतिकायिक और वनस्पति जीव ये चार भेद वनस्पतिके समझ लेने चाहिये एवं जिसप्रकार पृथिवीके भेदोंमें अर्थकी योजना कर आये हैं उसीप्रकार शास्त्रानुसार इनके अर्थोंकी भी कल्पना कर लेनी चाहिये।

सुखगृहणहेतुत्वात्स्थूलमूर्तित्वादुपकारभूयस्त्वाच्चादौ पृथिवीगृहणं ॥ २ ॥

पृथिवी पदार्थके विद्यमान रहते घडे कलश आदिसे जलका सुख पूर्वक ग्रहण होता है । सरवा (मृतपात्र) आदिसे अग्निका और चर्मघट–मुसक आदिसे पवनका सुखपूर्वक ग्रहण होता है इसलिये घडे आदि पदार्थोंके द्वारा जल आदिके सुखपूर्वक ग्रहण करनेमें पृथिवी कारण है । विमान मकान प्रस्तार आदि स्थूल परिणाम भी पृथिवीके ही हैं इसलिये सब पदार्थोंमें पृथिवीकी ही मूर्ति स्थूल है तथा जलसे स्नान आदिका करना उपकार माना है अग्निसे पकाना सुखाना और प्रकाश करना आदि, पवनसे खेद पसीना आदिका दूर करना और वनस्पतिसे भोजन वस्त्र आदि उपकार माना है परंतु जल आदिसे होनेवाला यह समस्त उपकार पृथिवीके विद्यमान रहते ही हो सकता है क्योंकि विना पृथिवीके जल आदि किस जगह रह कर उपकार कर सकते हैं ? इसलिये जल आदिकी अपेक्षा पृथिवीका ही बहुत बडा उपकार है । इसप्रकार जल आदिके सुखपूर्वक ग्रहणमें कारण स्थूल मूर्तिवाली और अधिक उपकारवाली होनेके कारण सूत्रमें जल आदिकी अपेक्षा सबसे पहिले पृथिवी शब्दका ही उल्लेख किया गया है ।

तदनंतरमपां वचनं भूमितेजसोर्विरोधादाधेयत्वाच्च ॥ ३ ॥

तेज, भूमिका नाशक है इसलिये भूमि और तेजके वीचमें जलका व्यवधान किया गया है इस प्रकार पृथिवी और तेजके विरोधके कारण तथा जलकी आधार पृथिवी है और आधेय जल है इसलिये जलके आधेय होनेके कारण पृथिवीके वाद जलका उल्लेख किया गया है ।

ततस्तेजोगृहणं तत्परिपाकहेतुत्वात् ॥ ४ ॥

पृथिवी और जल दोनोंके परिपाकका कारण तेज है इसलिये जलके वाद सूत्रमें तेजका उल्लेख किया गया है।

तेजोऽनंतरं वायुग्रहणं तदुपकारत्वात् ॥ ५ ॥

पवनका स्वभाव तिरछा चलना माना है। वह प्रेरणाकर तेजका उपकार करती है इसलिए तेजके बाद वायुका ग्रहण है।

अंते वनस्पतिग्रहणं सर्वेषां तत्प्रादुर्भावे निमित्तत्वादनंतगुणत्वाच्च ॥ ६ ॥

वनस्पति-वृक्ष आदिकी उत्पत्तिमें पृथिवी जल आदि सभी कारण पडते हैं तथा पृथिवीकायिक आदिकी अपेक्षा वनस्पतिकायिक जीवोंको अनंतगुणा माना है इसलिए सूत्रमें सबके अंतमें वनस्पति शब्दका ग्रहण किया गया है। इसप्रकार पृथिवी जल तेज वायु और वनस्पतिके भेदसे स्थावरजीव पांच प्रकारके हैं और इन पांचों ही प्रकारके स्थावरोंके स्पर्शनइंद्रिय कायबल उच्छ्वासनिश्वास और आयु ये चार प्राण माने हैं ॥ १३ ॥

अब सूत्रकार त्रस जीवोंके विषयमें कहते हैं—

द्वींद्रियादयस्त्रसाः ॥ १४ ॥

अर्थ—दो इंद्रियको आदि लेकर पंचेंद्रियपर्यंत जीवोंकी त्रस संज्ञा है।

आदिशब्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षातो व्यवस्था ॥ १ ॥

ऊपर अर्थ बतलाए गए हैं उनमें यहां प्रकार सामीप्य व्यवस्था आदि बहुतसे आदि शब्दके व्यवस्था अर्थका ग्रहण है। दोइंद्रिय तेइंद्रिय चौइंद्रिय और पंचेंद्रिय जीव आगममें त्रस नामसे व्यव-

स्थित हैं 'द्वे इंद्रिये यस्य सोऽयं द्वींद्रियः, स आदिर्येषां ते द्वींद्रियादयः' अर्थात् जिनके दो इंद्रिय हों वे द्वींद्रिय और द्वींद्रिय जिनकी आदिमें हों वे द्वींद्रियादि हैं, यह सूत्रमें स्थित द्वींद्रियादि शब्दकी व्युत्पत्ति है। शंका—

अन्यपदार्थनिर्देशाद्द्वींद्रियाग्रहणं ॥ २ ॥ न वा तद्गुण संविज्ञानात् ॥ ३ ॥

द्वींद्रियादि यहांपर ऊपर बहुव्रीहि समास बतलाया गया है बहुव्रीहि समासमें अन्य पदार्थ प्रधान और वाक्यगत पदार्थ गौण माने जाते हैं। यहांपर भी अन्य पदार्थ प्रधान और द्वींद्रिय पदार्थ उपलक्षण हैं इसलिए जिसप्रकार 'पर्वतादीनि क्षेत्राणि' अर्थात् पर्वत आदि क्षेत्र हैं यहांपर क्षेत्रके ग्रहणसे पर्वतका ग्रहण नहीं होता उसीप्रकार 'द्वींद्रियादि' यहांपर भी द्वींद्रिय शब्दका ग्रहण नहीं हो सकता इसलिए द्वींद्रिय जीव त्रस न कहे जा सकेंगे ? सो ठीक नहीं। बहुव्रीहि समासके तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि और अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि ये दो भेद माने हैं यदि अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि मानी जायगी तब 'द्वींद्रियादि' यहांपर द्वींद्रियका ग्रहण नहीं किया जा सकता किंतु यहां तो तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास मानी गई है इसलिए 'शुक्लवाससमानय' अर्थात् जिसके वस्त्र सफेद हों उसे ले आओ, यहांपर जिसप्रकार शुक्लवासस शब्दका भी ग्रहण किया जाता है उसीप्रकार द्वींद्रियादि यहांपर भी द्वींद्रिय शब्दके ग्रहणमें कोई आपत्ति नहीं। तथा और भी यह बात है कि—

अवयवेन विग्रहे सति समुदायस्य वृत्त्यर्थत्वाद्वा ॥ ४ ॥

विग्रह अवयवोंके साथ होता है और समासका अर्थ समुदायगत माना जाता है। इसलिए जिसतरह 'सर्वादि सर्वनाम' अर्थात् सर्व आदि शब्द सर्वनाम संज्ञक हैं यहांपर उपलक्षणभूत भी सर्वशब्दको

सर्वनामके अंतर्भूत माना है उसीप्रकार द्वींद्रियादि यहांपर उपलक्षणभूत भी द्वींद्रियका अंतर्भाव त्रस-
कायमें है इसलिए द्वींद्रिय जीवोंको त्रसकाय मानना बाधित नहीं कहा जासकता। यदि कदाचित यहां
पर यह शंका की जाय कि समासका अर्थ समुदायनिष्ठ माननेसे जब उपलक्षणस्वरूप भी द्वींद्रियोंका
ग्रहण त्रसोंमें कर लिया है तब 'पर्वतादीनि क्षेत्राणि' यहांपर भी पर्वत शब्दका क्षेत्रोंमें अंतर्भाव करना
चाहिए। यहां पर्वत पदार्थका परित्याग क्यों? सो ठीक नहीं। पर्वतका क्षेत्रोंमें अंतर्भाव हो ही नहीं सकता
क्योंकि पर्वतको क्षेत्र नहीं माना गया इसलिए उसका क्षेत्रोंमें ग्रहण नहीं माना है। द्वींद्रियका तो
त्रसोंमें अंतर्भाव आगमसिद्ध है इसलिए उसका त्रसोंमें अंतर्भाव करनेमें कोई आपत्ति नहीं। इसप्रकार
द्वींद्रिय तेइंद्रिय चतुरिंद्रिय और पंचेंद्रिय इन चारप्रकारके जीवोंकी त्रस संज्ञा है। द्वींद्रियादि जीवोंके
प्राणोंकी संख्या इसप्रकार है—

स्पर्शन इंद्रिय रसना इंद्रिय वचनबल कायबल उच्छासनिश्वास और आयु ये छह प्राण इंद्रिय जीवों
के होते हैं। इन छह प्राणोंमें घ्राण इंद्रियके अधिक जोडदेनेपर सात प्राण तेइंद्रिय जीवके होते हैं। इन्हीं
सातोंमें चक्षु इंद्रिय अधिक जोडदेनेपर आठप्राण चौइंद्रिय जीवोंके होते हैं। इन्हीं आठोंमें श्रोत्र इंद्रिय
अधिक जोड देनेपर नौ प्राण असंज्ञी पंचेंद्रिय तिर्यंचोंके होते हैं। तथा मनोवल अधिक दश प्राण संज्ञी
पंचेंद्रिय तिर्यंच, मनुष्य देव और नारकियोंके माने हैं ॥ १४ ॥

द्वींद्रियादयस्त्रसाः' इससूत्रमें आदि शब्दसे इंद्रियोंका निर्देश किया है परंतु वे कितनी हैं यह नहीं
बतलाया गया इसलिये सूत्रकार अब उन इंद्रियोंकी इयत्ता बतलाते हैं—अथवा इस सूत्रकी उत्थानिका
इसप्रकार भी है —

बहुतसे पंडितमन्य वादियोंमें कोई पांच इंद्रिय मानते हैं कोई छह इंद्रिय मानते हैं और कोई (सांख्यमती) ग्यारह इंद्रिय मानते हैं उन अनिष्ट मतोंके खंडनार्थ इंद्रियां पांच ही हैं अधिक नहीं यह नियम प्रतिपादन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पंचेंद्रियाणि ॥ १५ ॥

अर्थ—सब इंद्रियां पांच हैं। वार्तिककार इंद्रिय शब्दका अर्थ बतलाते हैं—

इंद्रस्यात्मनोलिंगमिंद्रियं ॥ १ ॥ इंद्रेण कर्मणा सृष्टमिति वा ॥ २ ॥

इंद्रका अर्थ परमैश्वर्यका भोगनेवाला परमेश्वर है। कर्म बंधनोंमें जिकडे रहनेके कारण यद्यपि संसारी आत्मा परमेश्वर नहीं है तथापि उसके होनेकी उसके अंदर शक्ति मौजूद है इसरीतिसे कर्मबंधनोंमें फसा रहनेपर भी इंद्रनामके धारक उपभोग करनेवाले एवं स्वयं पदार्थोंके ग्रहण करनेमें असमर्थ आत्माको पदार्थोंके देखने और जाननेरूप उपयोगमें सहायता पहुंचानेवाला जो लिंग हो उसे इंद्रिय कहते हैं। अथवा—

अपने द्वारा उपार्जन किये गये कर्मोंके द्वारा यह आत्मा देवेंद्र आदि पर्यायोंमें तथा तिर्यंच आदि पर्यायोंमें इष्ट अनिष्ट पदार्थोंका अनुभव करता है इसलिये कर्मका भी नाम इंद्र है। उस इंद्र—कर्म द्वारा

---

१ सांख्यसिद्धांतकारने बुद्धींद्रिय और कर्मेंद्रियके भेदसे मूलभेद इंद्रियोंके दो माने हैं। उनमें—

बुद्धींद्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि। वाकपाणिपादपायूपस्थाः कर्मेंद्रियाण्याहुः ॥ २६ ॥

इस कारिकाके अनुसार चक्षु श्रोत्र घ्राण रसना और त्वक् ये पांच बुद्धींद्रिय, वचन हाथ पांव गुदा और लिंग ये पांच कर्मेंद्रिय एवं मन इसप्रकार ग्यारह इंद्रिया मानी हैं। सा० त० कौ०।

होनेवाली जो कोई विशेष पर्याय है उसका नाम इंद्रिय है । इंद्रियके स्पर्शन रसना आदि पांच भेद हैं उनका आगे उल्लेख किया जायगा। शंका—

मनोऽपींद्रियमिति चेन्नानवस्थानात् ॥ ३ ॥ इंद्रियपरिणामाच्च प्राक् तद्व्यापारात् ॥ ४ ॥

कर्मोंसे मलिन निस्सहाय आत्मा बिना मनकी सहायताके पदार्थोंके विचार करनेमें असमर्थ है इसलिये पदार्थोंके चिंतवन करनेमें मन कारण पडता है तथा नो इंद्रियावरणकर्मके क्षयोपशमसे मनकी उत्पत्ति मानी है इसलिये वह कर्मजनित है इसरीतिसे इंद्रियके जो ऊपर लक्षण बतलाये हैं वे दोनों मनके अंदर घटजानेसे उसे भी इंद्रिय कहना चाहिये? सो ठीक नहीं। जिसप्रकार चक्षु आदि इंद्रियोंके रहनेका स्थान प्रतिनियत है उसप्रकार मनके रहनेका कोई प्रतिनियतस्थान नहीं दीख पडता इसलिये प्रतिनियत स्थानके अभावसे वह अनिंद्रिय ही है इंद्रिय नहीं कहा जा सकता तथा—
संसारमें यह बात प्रतीति सिद्ध है कि जिस मनुष्यको सफेद रूप आदिके देखनेकी इच्छा होती है वा खट्टा मीठा आदि रस चाखनेकी अभिलाषा होती है वह पाहिले मनसे यह विचार लेता है कि मैं ऐसा रूप देखूंगा वा ऐसा रस चाखूंगा उसी विचारके अनुसार चक्षु आदि इंद्रियां इष्ट रूप रस आदि विषयों में व्यापृत होती हैं इस रीतिसे नेत्र आदि इंद्रियों द्वारा होनेवाले रूप आदि ज्ञानसे पाहिले ही जब मन का व्यापार है तब चक्षु आदि इंद्रियोंमें और मनमें विषमता रहनेसे चक्षु आदिके समान मनः इंद्रिय नहीं कहा जा सकता किंतु वह अनिंद्रिय ही है। शंका—

कर्मेंद्रियोपसंख्यानमितिचेन्नोपयोगप्रकरणात् ॥ ५ ॥ अनिंद्रियत्वं वा तेषामनवस्थानात् ॥ ६ ॥

जिसतरह रूप रस आदि पदार्थोंके ज्ञानमें कारण स्पर्शन आदि बुद्धींद्रियां मानी गई हैं उसीप्रकार

वचन कहना रखना बैठना आदि क्रियाओंमें कारण वाक् पाणि पाद पायु और उपस्थ ये पांच कर्मेंद्रिय भी मानी गयी हैं इसलिये स्पर्शन आदि इंद्रियोंके साथ वाक् पाणि आदि कर्मेंद्रियोंका भी उल्लेख करना चाहिये ? सो ठीक नहीं। यहांपर ज्ञान दर्शन स्वरूप उपयोगका प्रकरण चल रहा है इसलिये जो इंद्रियां ज्ञान दर्शन स्वरूप उपयोगमें कारण हैं उन्हींका यहां उल्लेख किया जा सकता है। स्पर्शन आदि इंद्रियां उपयोगमें कारण हैं इसलिये उन्हींका यहां ग्रहण है वाक् पाणि आदि इंद्रियां उपयोगमें कारण नहीं इसलिये उनका यहां ग्रहण नहीं है। इसलिये अप्रकृत होनेसे वाक् आदि इंद्रियोंका यहां उल्लेख नहीं किया गया। तथा और भी यह बात है कि—

जो पदार्थ ज्ञान और दर्शनस्वरूप उपयोगमें कारण हो उसीका नाम इंद्रिय माना है। स्पर्शन आदि इंद्रियां उपयोगमें कारण हैं इसलिये उन्हें इंद्रिय मानना युक्त है। वाक पाणि आदि उपयोगमें कारण नहीं इसलिये उन्हें इंद्रिय नहीं कहा जा सकता यदि यहांपर 'जो क्रियाकी साधन हों वे इंद्रिय हैं' यह इंद्रिय सामान्यका लक्षण किया जायगा तो यद्यपि बोलना आदि क्रियाओंकी कारण होनेसे वाक् आदि इंद्रियां कहे जांयगे परंतु क्रियाके साधन तो मस्तक आदि सब ही अंग उपांग है। सबोंको इंद्रिय कहना पडेगा फिर किसको इंद्रिय कहना किसको न कहना अथवा वाक् पाणि आदि पांचको कर्मेंद्रिय कहना औरोंको न कहना यह अवस्था ही न बन सकेगी इसलिये 'जो क्रियाकी साधन हों वे इंद्रिय हैं यह इंद्रिय सामान्यका लक्षण न मानकर 'जो उपयोगमें कारण हो वे इंद्रिय हैं' यही इंद्रिय का लक्षण मानना चाहिये। उपयोगका कारण स्पर्शन आदि ही हैं इसलिये वे ही इंद्रिय कही जा सकती हैं वाक् पाणि आदि उसके साधन नहीं इसलिये उन्हें इंद्रिय नहीं कहा जा सकता तथा इस-

रीतिसे जब वाक् आदिमें इंद्रियपना सिद्ध नहीं तब यहां इंद्रियप्रकरणमें उनका ग्रहण भी नहीं किया जा सकता ॥ १५ ॥

भोक्ता आत्माको इष्ट अनिष्टरूप विषयोंकी उपलब्धि करानेवाली और उपर्युक्त सामर्थ्यविशेषसे निश्चित भेदवाली जो इंद्रियां हैं उनमें हरएकके कितने भेद हैं। सूत्रकार यह बतलाते हैं–

द्विविधानि ॥ १६ ॥

अर्थ–पांचों इंद्रियोंमें प्रत्येक इंद्रियके द्रव्येंद्रिय और भावेंद्रियके भेदसे दो दो भेद हैं।

विधिशब्दस्य प्रकारवाचिनो गृहणं ॥ १ ॥

विध-युक्त-गत और प्रकार ये चारों शब्द समान अर्थके वाचक हैं इसलिए यहांपर विध शब्दका अर्थ प्रकार है। द्वौविधौ येषां तानि द्विविधानि-द्विप्रकाराणि यह द्विविध शब्दका अर्थ पूर्ण विग्रह है। वे दोनों प्रकार द्रव्येंद्रिय और भावेंद्रिय हैं ॥ १६ ॥

सूत्रकार द्रव्येंद्रियका स्वरूप निरूपण करते हैं–

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येंद्रियं ॥ १७ ॥

अर्थ–निर्वृत्ति और उपकरणके भेदसे द्रव्येंद्रिय दोप्रकारका है।

निर्वृत्त्यत इति निर्वृत्तिः ॥ १ ॥ द्वेधा वाह्याभ्यंतर भेदात् ॥ २ ॥

नामकर्मके उदयसे जो रचना विशेष हो उसे निर्वृत्ति कहते हैं और वह वाह्यनिर्वृत्ति और अंतरंग निर्वृत्तिके भेदसे दो प्रकारकी है।

तत्र विशुद्धात्मप्रदेशवृत्तिराभ्यंतरा ॥ ३ ॥

उत्सेधांगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण विशुद्ध आत्मप्रदेशोंका जो भिन्न भिन्न रूपसे नेत्र आदि इंद्रियोंके मसूर आदि आकार और प्रमाणस्वरूप परिणत होना है वह अंतरंग निर्वृत्ति है। तथा—

तत्र नामकर्मोदयापादितावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयो बाह्या ॥ ४ ॥

उन्हीं आत्माके विशुद्ध प्रदेशोंमें इंद्रियोंके नामसे कहे जानेवाले भिन्न भिन्न आकारोंके धारक संस्थान नामकर्मके उदयसे होनेवाले अवस्थाविशेषसे युक्त जो पुद्गलपिंड है वह बाह्य निर्वृत्ति है।

विशेष—आत्माके प्रदेशोंका इंद्रियोंके आकार परिणत होना अभ्यंतरनिर्वृत्ति है और पुद्गल परमाणुओंका नासिका आदि इंद्रियोंके आकार परिणत हो जाना बाह्यनिर्वृत्ति है। जिसतरह—मसूरके समान आकारवाली नेत्र इंद्रियमें नेत्रेंद्रियके आकाररूप जितने आत्माके प्रदेश विद्यमान हैं वे अभ्यंतर निर्वृत्ति कहे जाते हैं और उस नेत्र इंद्रियके आकार जितने पुद्गलके परमाणु समूहरूपसे विद्यमान हैं उन्हें बाह्य निर्वृत्ति कहते हैं।

उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरणं ॥ ५ ॥ तद्विविधं पूर्ववत् ॥ ६ ॥

जो निर्वृत्तिका सहायक हो वह उपकरण है और वह बाह्य और अभ्यंतर उपकरणके भेदसे दो प्रकारका है।

---

१ 'केवल आत्मप्रदेशोंका' यह अर्थ समझ लेना चाहिये।

यवनालमसूरातिमुक्तेन्द्वर्धसमाः क्रमात्। श्रोत्राक्षिघ्राणजिह्वाः स्युः स्पर्शनं नैकसंस्थिति ॥ ५० ॥ त० सा० पृष्ठ ६९।

कानोंका यवकी मध्य नालीकासा आकार होता है, नेत्रका मसूरके समान, नाकका तिल पुष्पके समान, जीभका अर्धचंद्रके समान और स्पर्शन इंद्रियका अनेक प्रकारका आकार होता है।

तत्राभ्यंतरं शुक्लकृष्णमंडलं वाह्यमक्षिपत्रपक्ष्मद्वयादि ॥ ७ ॥

मसूरके आकार नेत्रेंद्रियका जो भीतर सफेदभाग और काला गोलक है वह अभ्यंतर उपकरण है और पलक भापणी आदि वाह्य उपकरण हैं। यह नेत्रेंद्रिय संबंधी निर्वृत्ति और उपकरणका स्वरूप बतलाया है इसीप्रकार स्पर्शन आदि इंद्रियोंके विषयमें भी योजना कर लेनी चाहिए।

सूत्रकार अब भावेंद्रियका स्वरूप बतलाते हैं—

लब्ध्युपयोगौ भावेंद्रियं ॥ १८ ॥

अर्थ—लब्धि और उपयोग ये दो भेद भावेंद्रियके हैं वार्तिककार सूत्रमें जो लब्धि शब्द है उसपर विचार करते हैं—

प्राप्त्यर्थक डुलभष् धातुसे क्ति प्रत्यय करनेपर लब्धि शब्द बना है। यहांपर यदि यह शंका हो कि—षिद्भिदादिभ्योऽङ्। २—३—१०१। जिन धातुओंका षकार अनुबंध गया है उनसे और भिद् आदि धातुओंसे कर्तामें न होकर भावमें स्त्रीलिंगमें अङ् प्रत्यय होता है, यह जैनेंद्र व्याकरणका सूत्र है। डुलभष् धातुका ष् अनुबंध गया है इसलिए उससे अङ् प्रत्यय ही होना चाहिए और जॄष धातुसे जिसतरह जरा बनता है और त्रपुषसे त्रपा बनता है उसीप्रकार लभष् धातुसे भी लभा ही बना चाहिए, क्ति प्रत्यय कर जो 'लब्धि' शब्द बनाया है वह अशुद्ध है? सो ठीक नहीं। 'अनुबंधकृतमनित्यं' अनुबंधके आधीन जो कार्य होता है वह अनित्य अर्थात् कहीं होता है कहीं नहीं होता। यह भी व्याकरणका ही नियम है अतः डुलभष् धातुसे अङ् प्रत्ययका जो विधान है वह भी ष् अनुबंधके आधीन है इसलिए वह होना ही चाहिए यह नियमरूपसे नहीं कहा जा सकता इसरीतिसे जब लभ धातुसे अङ् प्रत्ययका कोई निय-

मित विधान नहीं तब उससे क्ति प्रत्ययका भी संभव होनेसे लब्धि शब्द भी शुद्ध ही है। तथा—'वर्णानुपलब्धौ वा तदर्थगतेः' इत्यादि स्थलोंपर व्याकरणशास्त्रमें लब्धि शब्दका उपयोग भी किया गया है। यदि लब्धि शब्द अशुद्ध होता तो उपर्युक्त स्थलपर लब्धि शब्दका प्रयोग नहीं किया जाता। अथवा—

स्त्रियां क्तिः। २—३—८०। कर्तासे रहित भावलकारमें वर्तमान धातुसे स्त्रीलिंगमें क्ति प्रत्यय होता है। तथा लभादिभ्यश्च। २—३—८१। लभ आदि धातुओंसे भी उपर्युक्त अवस्थामें क्ति प्रत्यय होता है। ये भी जैनेंद्र व्याकरणके ही सूत्र हैं इसलिए डुलभष् धातुसे क्ति प्रत्ययका विधान अयुक्त न होनेसे लब्धि शब्द कभी असाधु नहीं कहा जा सकता। 'लभादिभ्यश्च' यहांपर लभ आदि धातुओंका ग्रहण इच्छानुकूल है। इसरीतिसे सूत्रमें स्थित लब्धि शब्दके अशुद्ध न होनेपर लब्धिका लाभ अर्थ निर्दोष है। वार्तिककार लब्धि शब्दका खुलासा अर्थ बतलाते हैं—

इंद्रियनिर्वृत्तिहेतुः क्षयोपशमविशेषो लब्धिः ॥ १ ॥

जिसके बलसे आत्मा द्रव्येंद्रियकी रचनामें प्रवृत्त हो ऐसे ज्ञानावरण कर्मके विशेषक्षयोपशमका नाम लब्धि है। अर्थात् द्रव्येंद्रियकी रचनाका कारण आत्माका जो ज्ञानावरण कर्मका विशेषक्षयोपशमरूप परिणाम है उसका नाम लब्धि है।

तन्निमित्तः परिणामविशेष उपयोगः ॥ २ ॥

ज्ञानावरण कर्मके उस विशिष्ट क्षयोपशमसे जायमान जो आत्माका परिणाम विशेष है उसका नाम उपयोग है। इसप्रकार लब्धि और उपयोग दोनों स्वरूप भावेंद्रिय है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

उपयोगस्य फलत्वादिंद्रियव्यपदेशानुपपत्तिरिति चेन्न कारणधर्मस्य कार्यानुवृत्तेः ॥ ३ ॥

उपयोगको ज्ञानदर्शन स्वरूप माना है। वह इंद्रियोंका फल है क्योंकि उसकी उत्पत्ति इंद्रियोंसे होती है किंतु इंद्रियस्वरूप नहीं परंतु यहांपर उपयोगको भावेंद्रिय माना है इसलिए यह अयुक्त है। सो ठीक नहीं। कार्य भी लोकमें कारण माना गया है जिसतरह घटाकार परिणतज्ञान घटसे जायमान होनेसे घटका कार्य है तथापि उस विज्ञानको घट कह दिया जाता है उसीप्रकार उपयोग यद्यपि इंद्रियों से जायमान होनेसे उनका फल है तथापि वह इंद्रिय, कहा जा सकता है इसलिए उपयोगको भावेंद्रिय माननेमें कोई आपत्ति नहीं। तथा—

शब्दार्थसंभवाच्च ॥ ४ ॥

ऊपर 'इंद्रियस्य लिंगं वा इंद्रेण सृष्टं' अर्थात् जो आत्माका लिंग हो और कर्मद्वारा रचा गया हो वह इंद्रिय है, यह जो इंद्रिय शब्दका अर्थ कह आए हैं वह प्रधानतासे उपयोगके अंदर ही घटता है क्योंकि ज्ञान दर्शनस्वरूप उपयोग आत्माका लिंग भी है और कर्मसे रचित भी है। इसलिए उपयोगको भावेंद्रिय मानना अयुक्त नहीं ॥ १८ ॥

'इंद्रियां पांच हैं' यह ऊपर संख्यामात्र इंद्रियोंकी बतलाई है परंतु उन पांचोंके नाम क्या क्या हैं? और उनका आनुपूर्वीक्रम क्या है? यह विशेष नहीं बतलाया सूत्रकार अब उसे बतलाते हैं—

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥ १९ ॥

अर्थ—स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु और श्रोत्र ये पांच इंद्रियां हैं। स्पर्शनका अर्थ त्वक्, रसनाका जीभ, घ्राणका नाक, चक्षुका नेत्र श्रोत्रका अर्थ कान है।

स्पर्शनादीनां करणसाधनत्वं पारतंत्र्यात् कर्तृसाधनत्वं च स्वातंत्र्याद्बहुलवचनात् ॥ १ ॥

स्पृश आदि धातुओंसे युट् प्रत्यय करनेपर स्पर्शन आदि शब्दोंकी सिद्धि होती है। लोकमें इंद्रियों की स्वकार्यके करनेमें परतंत्रता अनुभवमें आती है इसलिये स्पर्शन आदि करण साधन हैं क्योंकि जिससमय इंद्रियोंकी परतंत्रत्वेन विवक्षा की जाती है और आत्माका स्वातंत्र्य माना जाता है उससमय 'अनेनाक्ष्णा अहं सुष्ठु पश्यामि' (इस आंखके द्वारा मैं अच्छी तरह देखता हूं) 'अनेनकर्णेनाहं सुष्ठु शृणोमि' (इस कानसे मैं अच्छीतरह सुनता हूं) ऐसा संसारमें व्यवहार होता है। यदि उन्हें करण साधन न माना जाय तो इसरूपसे संसारमें व्यवहार नहीं हो सकता इसरीतिसे वीर्यांतराय और स्पर्शन रसना आदि भिन्न भिन्न इंद्रियावरण कर्मोंके क्षयोपशमसे एवं अंगोपांग नामक नामकर्मके बलसे जिसके द्वारा आत्मा पदार्थोंका स्पर्श करै वह स्पर्शन इंद्रिय है। जिसके द्वारा स्वाद ले वह रसना, जिसके द्वारा सूंघे वह घ्राण, जिसके द्वारा देखे वह चक्षु और जिसके द्वारा सुने वह श्रोत्र यह स्पर्शन आदि इंद्रियोंकी करण साधन व्युत्पत्ति है तथा—

लोकमें इंद्रियोंकी स्वकार्यके प्रति स्वतंत्रता रूपसे भी विवक्षा है इसलिये वे कर्तृसाधन भी हैं क्योंकि 'इदं मे अक्षि सुष्ठु पश्यति' (यह मेरा नेत्र अच्छी तरह पदार्थोंको देखता है) और 'अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोति' (यह मेरा कान अच्छी तरह सुनता है) यह संसारमें व्यवहार होता है। यदि उन्हें कर्तृ-साधन न माना जायगा तो इसरूपसे संसारमें व्यवहार नहीं हो सकता। इसरीतिसे उपर्युक्त वीर्यांतराय और स्पर्शन रसन आदि भिन्न भिन्न इंद्रियावरणकर्मोंके क्षयोपशमसे एवं अंगोपांग नामक नामकर्मके बलसे जो स्वयं पदार्थोंका स्पर्श करे वह स्पर्शन है। स्वयं रसोंको चखे वह रसना, स्वयं गंधवाले पदार्थोंको

सूंघे वह घ्राण, स्वयं पदार्थोंको देखे वह चक्षु और स्वयं शब्दोंको सुने वह श्रोत्र इंद्रिय है। इसप्रकार स्पर्शन आदि इंद्रियोंकी यह कर्तृसाधन व्युत्पत्ति है।

यदि यहांपर यह शंका की जाय कि युट् प्रत्ययका विधान कर्तामें ही होता है करणमें नहीं इसलिये जहांपर स्पर्शन आदिकी कर्तृसाधन व्युत्पत्ति होगी वहींपर स्पृश आदि धातुओंसे युट् प्रत्यय करनेपर स्पर्शन आदि शुद्ध माने जा सकते हैं किंतु करणसाधन व्युत्पत्तिमें उनकी सिद्धि नहीं हो सकती इस-लिये करण साधन अर्थमें जो स्पृश आदि धातुओंसे युट् प्रत्ययका विधान किय गया है वह अयुक्त है? सो ठीक नहीं। कर्तामें जो युट् प्रत्ययका विधान माना है वह बहुलतासे है अर्थात् कहींपर कर्तामें होता है और कहीं पर करण साधन अर्थमें भी होता है इसलिये करणसाधन अर्थमें भी युट् प्रत्ययका विधान युक्त होनेपर स्पर्शन आदिकी कारण साधन व्युत्पत्ति अयुक्त नहीं।

श्वेतांबर ग्रंथोंमें 'स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणींद्रियाणि' ऐसा सूत्र पाठ है परंतु वह युक्त नहीं क्योंकि—

आधिकृतत्वादिंद्रियाणीत्यवचनं ॥ २ ॥

'पंचेंद्रियाणि' इस सूत्रमें इंद्रिय शब्दका उलेख किया गया है। 'जितने भर सूत्र हैं सोपस्कार हुआ ही करते हैं'। इसलिये उस सूत्रसे स्पर्शनरसनेत्यादि सूत्रमें इंद्रिय शब्दकी अनुवृत्ति होनेसे पुनः इंद्रिय शब्दका कथन करना व्यर्थ है। वार्तिककार स्पर्शन आदि इंद्रियोंके क्रमिक कथनपर विचार करते हैं—

स्पर्शनग्रहणमादौ शरीरव्यापित्वात् ॥ ३ ॥ सर्वसंसारिषूपलब्धेश्च ॥ ४ ॥

पांचो इंद्रियोंमें स्पर्शन इंद्रिय समस्त शरीरको व्याप्त कर रहती हैं इसलिये सूत्रमें सबसे पहिले

स्पर्शन इंद्रियका ग्रहण है । तथा 'वनस्पत्यंतानामेकं' अर्थात् पृथिवीको लेकर वनस्पतिपर्यंत समस्त जीवोंके एक ही स्पर्शन इंद्रिय होती है, इससूत्रमें एक शब्दसे स्पर्शन इंद्रियका ही ग्रहण किया जाय इसलिये पांचो इंद्रियोंमें स्पर्शन इंद्रियका सबसे पहिले ग्रहण किया गया है । तथा यह भी बात है कि–

जितनेभर भी संसारमें जीव हैं सबके स्पर्शन इंद्रिय विद्यमान है इसलिये समस्त संसारी जीवोंमें विद्यमान रहनेसे नाना जीवोंकी अपेक्षा व्यापी रहनेके कारण सूत्रमें स्पर्शन इंद्रियका पहिले उल्लेख किया गया है ।

ततो रसनघ्राणचक्षुषां क्रमवचनमुत्तरोत्तराल्पत्वात् ॥ ५ ॥ श्रोत्रस्यांते वचनं बहूपकारित्वात् ॥ ६ ॥

स्पर्शन इंद्रियके वाद रसना घ्राण और चक्षुका जो कथन किया गया है उसमें उत्तरोत्तर अल्पता कारण है और वह इसप्रकार है–

सबसे थोडे चक्षु इंद्रियके प्रदेश हैं । उससे संख्यात गुणे श्रोत्र इंद्रियके प्रदेश हैं । उससे कुछ विशेष अधिक घ्राणेंद्रियके हैं । उससे असंख्यातगुणे रसना इंद्रियके हैं और उससे अनंतगुणे स्पर्शन इंद्रियके हैं । इसरीतिसे रसना इंद्रियके प्रदेशोंकी अपेक्षा घ्राण इंद्रियके और घ्राण इंद्रियके प्रदेशोंकी अपेक्षा चक्षु इंद्रियके प्रदेश कम होनेसे रसनाके वाद घ्राणका और घ्राणके वाद चक्षुका सूत्रमें उल्लेख किया गया है । यदि यहां पर यह शंका की जाय कि–

जब सब इंद्रियोंकी अपेक्षा चक्षु इंद्रियके प्रदेश कम हैं तब सब इंद्रियोंके अंतमें चक्षु इंद्रियका ही पाठ रखना ठीक है ? श्रोत्रका सबके अंतमें पाठ क्यों रक्खा गया ? सो ठीक नहीं । श्रोत्र इंद्रियके बलसे उपदेशको सुनकर मनुष्य हितकी प्राप्ति और अहितके परिहारमें प्रवृत्त होते हैं इसलिये समस्त इंद्रियोंकी

अपेक्षा श्रोत्र इंद्रिय अधिक उपकारी होनेसे उसका सब इंद्रियोंके अंतमें पाठ रक्खा है। यदि यहां पर यह शंका हो कि—

रसनमपि वक्तृत्वेनेति चेन्नाभ्युपगमात् ॥ ७ ॥

चक्रवर्ती आदिके अभ्युदय और मोक्ष रूप पदार्थोंके उच्चारणमें एवं पठन पाठन आदिमें रसना इंद्रिय भी प्रधान कारण है। विना जीभके अभ्युदय आदि पदार्थोंका उच्चारण एवं पठन पाठन आदि हितकारी बातें सिद्ध नहीं हो सकतीं इसलिये इन बातोंमें श्रोत्रके समान रसना भी अधिक उपकारी होनेसे सब इंद्रियोंके अंतमें रसना इंद्रियका ही पाठ रखना आवश्यक है? सो ठीक नहीं। जब वादीने रसना इंद्रियको अधिक उपकारी बतलाते हुए श्रोत्रको भी अधिक उपकारी स्वीकार कर लिया है तब वादकी समाप्ति हो चुकी क्योंकि जब श्रोत्र और रसना दोनों ही बहूपकारी हैं तब श्रोत्रका अंतमें पाठ न रख रसनाका रखना चाहिये वा रसनाका अंतमें पाठ न रख श्रोत्रका रखना चाहिये यह विवाद ही नहीं उठ सकता। जिसका अंतमें पाठ रख दिया गया उसीका ठीक है इसलिये बहूपकारी होनेसे रसनाका अंतमें पाठ रखना चाहिये यह शंका निर्मूल है। अथवा—

श्रोत्रप्रणालिकापादितोपदेशात् ॥ ८ ॥

रसनाकी अपेक्षा श्रोत्र ही बहूपकारी है क्योंकि श्रोत्ररूपी नालिका द्वारा उपदेश सुननेके बाद ही रसनाका बोलनेकेलिये व्यापार होता है इसरीतिसे रसनाकी अपेक्षा जब श्रोत्र ही बहूपकारी पदार्थ है तब सबके अंतमें उसीका पाठ न्याय प्राप्त है। यदि यहांपर यह शंका हो कि—

सर्वज्ञे तदभाव इति चेन्नेंद्रियाधिकारात् ॥ ९ ॥

छद्मस्थ पुरुषके श्रोत्रेंद्रियके वलसे दूसरेसे उपदेश सुनकर भले ही बोलना हो परंतु सर्वज्ञ तो

श्रोत्रेंद्रियके बलसे परसे उपदेश ग्रहणकर बोलता नहीं किंतु वह तो केवलज्ञानावरणकर्मके सर्वथा नाश हो जानेपर जब अतींद्रिय केवलज्ञानको प्राप्त कर लेता है उससमय केवल रसना इंद्रियोंके सहायता मात्रसे वक्ता होकर समस्त शास्त्रीय पदार्थोंका वर्णन करता है इसरीतिसे रसनाके वक्तृत्वव्यापारमें जब श्रोत्र इंद्रिय कारण न पडी तब श्रोत्र इंद्रियकी अपेक्षा रसना ही बहुपकारी सिद्ध हुई इसलिये समस्त इंद्रियों के अंतमें रसना इंद्रियका ही ग्रहण युक्ति सिद्ध है ? सो ठीक नहीं। यहांपर इंद्रियोंका अधिकार चल रहा है। जहांपर सर्वथा इंद्रियोंके द्वारा किया जानेवाला हित अहितका उपदेश संभव है उन्हींकी अपेक्षा यह कहा गया है कि श्रोत्रके द्वारा उपदेश श्रवण कर रसना इंद्रियसे बोला जाता है किंतु जिनके इंद्रियों-का व्यापार आवश्यक ही नहीं उनके लिये यह नियम नहीं। छद्मस्थ जीवोंमें श्रोत्र इंद्रियके द्वारा उप-देश श्रवणके बाद ही रसना इंद्रियसे बोलना होता है इसलिये उनके लिये ही यह नियम है। सर्वज्ञको लक्ष्यकर यह कथन नहीं किया गया इसलिये उसकी अपेक्षा यह नियम न होनेसे कोई दोष नहीं। अथवा——

एकैकवृद्धिक्रमज्ञापनार्थं च स्पर्शनादि ग्रहणं ॥ १० ॥

आगे 'कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि' कीडा चिउंटी भौंरा और मनुष्य आदिके क्रमसे एक एक इंद्रिय अधिक है यह कहा गया है वहांपर इंद्रियोंकी क्रमसे वृद्धि बतलानेके लिये स्पर्शनके बाद रसना रसनाके बाद घ्राण इत्यादि क्रमसे सूत्रमें इंद्रियोंका उल्लेख किया गया है।

एषां च स्वतस्तद्वतश्चैकत्वपृथक्त्वं प्रत्यनेकांतः ॥ ११ ॥

स्पर्शन आदि इंद्रियोंकी आपसमें तथा इंद्रियवान् आत्मासे भिन्नता और अभिन्नता अनेकांत

रूपसे मानी गई है इसलिये इंद्रियां आपसमें अथवा इंद्रियवान्से कथंचित् अभिन्न भी हैं और कथंचित् भिन्न भी हैं और वह इसप्रकार हैं—

ज्ञानावरणकर्मकी क्षयोपशमरूप शक्ति पांचो इंद्रियोंकी उत्पत्तिमें समानतासे कारण है इसलिये जिससमय उस शक्तिके अभेदकी विवक्षा की जायगी उससमय शक्तिके एक होनेसे स्पर्शन आदि पांचो इंद्रियां एक हैं और वह ज्ञानावरणकर्मकी क्षयोपशमरूपशक्ति प्रतिनियत भिन्न भिन्न स्वरूप मानी जायगी अर्थात् स्पर्शन इंद्रियकी उत्पत्तिमें स्पर्शनेंद्रियावरणकर्मकी क्षयोपशमरूप शक्ति कारण है रसना इंद्रियकी उत्पत्तिमें रसनेंद्रियावरणकर्मकी क्षयोपशमशक्ति कारण है इत्यादिरूपसे प्रत्येक इंद्रियकी उत्पत्तिमें क्षयोपशम रूप शक्तिको भिन्न भिन्नरूपसे स्वीकार किया जायगा उससमय शक्तिके भेदसे स्पर्शन आदि इंद्रियां भी भिन्न भिन्न हैं। अथवा—

समुदायी—अवयव, समुदायसे भिन्न नहीं किंतु समुदाय स्वरूप ही माने जाते हैं और वह समुदाय एक पदार्थ माना गया है इसलिये स्पर्शन आदि समस्त इंद्रियांरूप अवयव, समुदायस्वरूप शरीर पदार्थसे भिन्न नहीं इसरीतिसे अवयवोंकी अभेद विवक्षा माननेपर द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा स्पर्शन आदि इंद्रियां एक हैं और जब स्पर्शन इंद्रियके अवयव भिन्न हैं। रसनाके भिन्न हैं इसप्रकार अवयवोंकी भेद विवक्षा है उससमय पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा स्पर्शन आदि इंद्रियां भिन्न भिन्न हैं। अथवा—

इंद्रियजन्य ज्ञान उनका नाम तथा प्रवृत्ति निवृत्तिकी जहांपर अभेदरूपसे विवक्षा है अर्थात् ज्ञान आदिको जुदा जुदा नहीं माना जाता वहांपर स्पर्शन आदि पांचो इंद्रियां एक हैं और जहांपर स्पर्शन इंद्रिय जन्य ज्ञान अथवा उनके नाम उनका ज्ञान और प्रवृत्ति निवृत्तिका भेद है उनसे जायमान ज्ञान

आदिको जुदा जुदा माना जाता है उससमय स्पर्शन आदि इंद्रियां भिन्न भिन्न हैं। इसप्रकार यह इंद्रियोंकी आपसमें भेद और अभेदकी व्यवस्था कही गयी है। इंद्रियवान पदार्थोंसे इंद्रियोंके भेद और अभेदकी व्यवस्था इसप्रकार है—

जिसतरह अग्निसे तप्तायमान लोहके पिंडस्वरूप ही अग्नि परिणामित हो जाती है—लोहेके पिंडसे भिन्न नहीं दीख पडती इसलिये वहां लोहेका पिंड और अग्नि दोनों एक माने जाते हैं उसीप्रकार बाह्य और अंतरंग दोनों कारणोंसे आत्मा भी चैतन्यस्वरूप इंद्रिय पर्यायसे परिणामित है इसलिये आत्मा और इंद्रिय दोनों एक हैं। इस रूपसे द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा इंद्रियां इंद्रियवान् आत्मासे कथंचित् अभिन्न हैं और किसी एक इंद्रियके नष्ट हो जानेपर वा न रहनेपर भी आत्मा विद्यमान रहता है—इंद्रियके अभावमें उसका अभाव नहीं रहता इस अपेक्षा इंद्रियवान आत्मासे कथंचित् इंद्रियोंका भेद भी है अथवा पर्यायीसे पर्याय पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा भिन्न माने हैं। यहां पर भी पर्यायी आत्मा और पर्याय इंद्रियां हैं इसलिये पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा कथंचित् भेद रहनेसे भी इंद्रियवान् आत्मासे कथंचित इंद्रियोंका भेद है। घट पदार्थके समान यदि इंद्रियोंको सर्वथा आत्मासे भिन्न माना जायगा तो आत्माको अनिंद्रिय कहना पडेगा इसीतरह यदि सर्वथा अभिन्न माना जायगा तो इंद्रिय रूपसे जो संसारमें इंद्रियोंका व्यवहार हो रहा है वह न होगा इसलिये इंद्रियवान् आत्मासे कथंचित् भेद और अभेद ही मानना युक्तियुक्त है। अथवा—

जिससमय आत्मा और इंद्रिय इसप्रकार दोनों नामोंका अभेद माना जायगा उससमय इंद्रियवान् आत्मा पदार्थ और इंद्रिय दोनोंका अभेद है और जिससमय दोनों नामोंको भिन्न भिन्न माना जायगा उससमय

आत्मा और इंद्रिय दोनोंका भेद है। इसप्रकार आत्मा और इंद्रियोंका कथंचित् भेदाभेद ही युक्तिसिद्ध है। इसरीतिसे उपर्युक्त हेतुओंके बलसे इंद्रियोंका वा आपसमें वा इंद्रियवानआत्मासे जिसप्रकार कथंचित् एकत्व और कथंचित् अनेकत्व व्यवस्थित है उसीप्रकार कथंचित् एकानेकत्व कथंचित् अवक्तव्यत्व आदि भंग भी समझ लेने चाहिये ॥ १९ ॥

सूत्रकार स्पर्शन आदि पांचों इंद्रियोंका अब विषय प्रदर्शन करते हैं—

स्पर्शरसगंधवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥ २० ॥

अर्थ—स्पर्श रस गंध वर्ण और शब्द ये पांच क्रमसे उन पांचों इंद्रियोंके विषय हैं। इनमें स्पर्शन इंद्रियका विषय स्पर्श अर्थात् छूना है। रसना इंद्रियका विषय रस अर्थात् स्वाद लेना है। घ्राणइंद्रियका विषय सुगंधि दुर्गंधि सूंघना है। नेत्रइंद्रियका विषय वर्ण अर्थात् रंग है और श्रोत्र इंद्रियका विषय शब्दोंका सुनना है।

स्पर्शादीनां कर्मभावसाधनत्वं द्रव्यपर्यायविवक्षोपपत्तेः ॥ १ ॥

जिससमय द्रव्यकी विवक्षा की जायगी उससमय स्पर्श आदि कर्म साधन हैं और जिससमय पर्यायकी विवक्षा की जायगी उससमय भाव साधन हैं। उसका खुलासा इसप्रकार है—

जहांपर प्रधानतासे द्रव्यकी विवक्षा है वहांपर स्पर्शन आदि द्रव्यसे भिन्न नहीं इसलिए इंद्रियोंसे वहांपर द्रव्यहीके साथ संबंध होता है अतः प्रधानतासे द्रव्यकी विवक्षा रहनेपर जिसके द्वारा स्पर्श (छूना) किया जाय वह स्पर्श, जिसके द्वारा चखा जाय वह रस, जिसके द्वारा सूंघा जाय वह गंध,

जिसके द्वारा वर्णन किया जाय वह वर्ण और जिसके द्वारा सुना जाय वह शब्द है । इसप्रकार स्पर्श आदिकी कर्म-साधन व्युत्पत्ति है । तथा—

जिससमय प्रधानरूपसे पर्यायकी विवक्षा है उससमय द्रव्य और पर्यायोंका आपसमें भेद रहनेसे जो उदासीन रूपसे मौजूद भाव है उसीका कथन किया जाता है इसलिए पर्यायोंकी प्रधानरूपसे विवक्षा रहनेपर जो स्पर्शस्वरूप हो वह स्पर्श, जो रसस्वरूप हो वह रस, जो गंधस्वरूप हो वह गंध, जो वर्ण-स्वरूप हो वह वर्ण और जो शब्दस्वरूप हो वह शब्द इसप्रकार स्पर्श आदिकी भावसाधन व्युत्पत्ति है । इसरीतिसे द्रव्य और पर्यायोंकी विवक्षामें स्पर्श आदिकी कर्म और भावसाधन दोनों प्रकारकी व्युत्पत्ति अविरुद्ध है । शंका—

परमाणु अत्यंत सूक्ष्म अतींद्रिय पदार्थ है । जिसका स्पर्श किया जाय वह स्पर्श जो चखा जाय वह रस, यदि इसप्रकार स्पर्श आदिकी व्युत्पत्ति मानी जायगी तो परमाणुके अंदर रहनेवाले स्पर्श आदिमें तो यह व्युत्पत्ति घट नहीं सकती इसलिए वहांपर स्पर्श आदि व्यवहार न हो सकेगा ? सो ठीक नहीं । जो गुण कारणमें होता है वह कार्यमें भी नियमसे रहता है । स्थूल स्कंध आदि परमाणुके कार्य हैं और परमाणु उनके उत्पादक कारण हैं । स्कंध आदिमें स्पर्श आदि साक्षात् अनुभवमें आते हैं वे पर-माणुओंमें स्पर्श आदिके माने विना नहीं हो सकते इसलिए स्कंध आदिमें स्पर्श आदिके साक्षात्कारसे परमाणुओंमें भी अनुमानद्वारा उनकी सत्ता सिद्ध होनेसे परमाणुओंमें स्पर्श आदिका व्यवहार अबाधित है यहांपर यह न कहना चाहिए कि स्थूल स्कंधोंमें जो स्पर्श आदि हैं उनकी उत्पत्ति परमाणुगत स्पर्श

आदिसे नहीं है किंतु वहांपर वे स्वतः ही उत्पन्न हैं। क्योंकि जो पदार्थ असत् है उसकी उत्पत्ति नहीं हो
सकती। यदि परमाणुओंमें स्पर्श आदि न मानकर स्थूलस्कंधोंमें स्वतः उनकी उत्पत्ति मानी जायगी
तो वह बाधित किंवा असंभव कल्पना समझी जायगी। हां! यद्यपि परमाणुगत स्पर्श आदिको असम-
र्थतासे इंद्रियां ग्रहण नहीं कर सकतीं इसलिए वे इंद्रियोंके अग्राह्य हैं तथापि रूढिबलसे परमाणुगत स्पर्श
आदिका व्यवहार बाधित नहीं। तदर्थाः, तेषामर्थाः तदर्थाः, यहांपर तत् शब्दसे इंद्रियोंका ग्रहण है
अर्थात् स्पर्श आदि इंद्रियोंके विषय हैं। शंका—

तदर्था इति वृत्त्यनुपपत्तिरसमर्थत्वात् ॥ २ ॥ न वा गमकत्वान्नित्यसापेक्षेषु संबंधिशब्दवत् ॥ ३ ॥

वाक्यगत जो अवयव समर्थ होते हैं उन्हींका आपसमें समास होता है। असमर्थ अवयवोंका
समास नहीं होता। तथा जो अवयव दूसरे पदार्थोंकी अपेक्षा रखते हैं वे असमर्थ कहे जाते हैं। 'तदर्थाः'
इस वाक्यमें रहनेवाला तत् शब्द इंद्रियोंकी अपेक्षा रखता है इसलिए असमर्थ है। इसरीतिसे 'तेषामर्थाः'
तदर्थाः यह जो तदर्थ शब्दका षष्ठीतत्पुरुष समास ऊपर कहा गया है वह अनुचित है? सो ठीक नहीं।

जहांपर गमकता रहती है वहांपर भी समास हो जाता है तथा वह गमकपना जिसतरह सदा
अपेक्षा रखनेवाले संबंधी शब्दोंमें माना जाता है उसीप्रकार जितने भी नित्यसापेक्ष-सदा अपेक्षा रखने
वाले शब्द हैं उन सबमें माना जाता है इसरीतिसे देवदत्तका गुरुकुल वा देवदत्तका गुरुपुत्र, यहांपर

१—नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति। (२४) [बृहत्स्वयंभूस्तोत्र]
'नासतो विद्यतेभावो नाभावो विद्यते सतः' [अन्यत्र]
असतः प्रादुर्भावे द्रव्याणामिह भवेदनंतत्वं। को वारयितुं शक्तः कुंभोत्पत्तिं मृदाद्यभावेऽपि ॥ १० ॥ [पंचाध्यायी]

संबंधी शब्दोंमें जिसतरह गुरुशब्द सदा शिष्यकी अपेक्षा रखनेके कारण नित्यसापेक्षी और नित्यसापेक्षी होनेसे शिष्यका बोधक है इसलिये वहांपर निर्बाधरूपसे समास हो जाता है उसीतरह 'तदर्थाः' यहांपर यद्यपि सामान्य अर्थका वाचक और विशेषकी आकांक्षा रखनेवाला तत् शब्द इंद्रियोंकी अपेक्षा रखता है तथापि वह नित्यसापेक्षी है एवं नित्यसापेक्षी होनेसे वह गमक है इसलिये गमक होनेसे वहां पर 'तेषामर्थास्तदर्थाः' इस षष्ठी तत्पुरुष समासके होनेमें किसीप्रकारकी बाधा नहीं हो सकती। इसरीतिसे जो सापेक्ष होता है वह असमर्थ होता है। असमर्थ अवयवोंका कभी समास हो नहीं सकता 'तदर्थाः' यहांपर भी तत् शब्द असमर्थ है उसका भी समास नहीं हो सकता यह जो ऊपर कहा गया था वह निर्मूल सिद्ध हो गया।

स्पर्शादीनामानुपूर्व्येण निर्देश इंद्रियक्रमाभिसंबंधार्थः ॥ ४ ॥

स्पर्शके बाद रस, रसके बाद गंध, गंधके बाद वर्ण और वर्णके बाद शब्द यह जो आनुपूर्वी क्रमसे सूत्रमें स्पर्श आदिका उल्लेख किया गया है वह 'इंद्रियोंके साथ स्पर्श आदिका क्रमसे संबंध है' यह द्योतन करता है अर्थात् स्पर्शन इंद्रिय स्पर्शको, रसना इंद्रिय रसको, घ्राण इंद्रिय गंधको, चक्षु इंद्रिय वर्णको और श्रोत्र इंद्रिय शब्दको क्रमसे ग्रहण करती है यह यहां तात्पर्य है। स्पर्श रसन आदि सामान्यरूपसे पुद्गल द्रव्यके गुण हैं परंतु नैयायिक और वैशेषिकमतावलंबियोंने इन गुणोंके विषयमें एक विशेषरूपसे कल्पना कर रक्खी है और वह इसप्रकार है—

पृथिवीमें रूप रस गंध और वर्ण ये चारों गुण रहते हैं। जलमें रूप रस और स्पर्श ये तीन ही गुण रहते हैं गंध गुण उसमें नहीं माना तथा उसे वहनेवाला और स्निग्ध भी माना है। तेजमें रूप और

है और वायुमें केवल स्पर्श ही गुण माना है
स्पर्श ये दो ही गुण माने हैं गंध और रसका उसमें अभाव है और वायुमें केवल स्पर्श ही गुण माना है
शेष गुणोंकी वहांपर योग्यता नहीं इसलिये उनका अभाव है। परंतु नैयायिक आदिका यह मानना
ठीक नहीं क्योंकि इन चारों गुणोंका आपसमें साहचर्य संबंध है। जहांपर एक होगा वहां शेष गुणोंके
अविभाग प्रतिच्छेद–गुणांश कम होनेके कारण वे व्यक्त भले ही न हों परंतु उनका अभाव नहीं कहा
जा सकता। अनुमान प्रमाणसे स्पर्श आदि गुणोंमें किसी एक व्यक्त गुणके साथ शेष गुणोंकी भी सत्ता
मानी है और वह इसप्रकार है–

'रूपादिमान् वायुः स्पर्शवत्त्वाद्घटवत्'। जिसतरह घटमें स्पर्श है इसलिये उसमें रूप आदि भी हैं
उसीप्रकार वायुमें भी स्पर्श है अतः उसमें भी रूप आदि हैं। सदा सहचारी स्पर्श गुणके रहते वायुमें रूप
आदिका अभाव नहीं कहा जा सकता। 'तेजोऽपि रसगंधवद् रूपवत्त्वाद् गुडवत्' जिसतरह गुडमें रूप है
इसलिये उसमें रस और गंध भी है उसीप्रकार तेजमें भी रूप है अतः उसमें भी रस और गंध है। रूपके
रहते रस और गंधका उसमें अभाव नहीं कहा जा सकता। 'आपोऽपि गंधवत्यः रसवत्त्वादाम्रफलवत्'
जिसप्रकार आम्रफलमें रस है इसलिये उसमें गंध भी है उसीप्रकार जलमें भी रस है इसलिये उसमें भी
गंध है रसके मौजूद रहते जलमें गंधका अभाव नहीं कहा जा सकता। तथा जल आदिमें प्रत्यक्षरूपसे
गंध आदि गुणोंकी प्रतीति होती है इसलिये गंध आदि गुणोंका उनमें अभाव नहीं हो सकता। यदि
यहांपर यह शंका की जाय कि–

गंध आदि जल आदिके निजी गुण नहीं, वे पृथिवीके ही निजी गुण हैं किंतु पृथिवीके परमाणुओंका
संयोग जल आदिके साथ रहता है इसलिये संयोगवश पृथिवीके गुण जलके जान पडते हैं? सो ठीक नहीं।

"गंध आदि पृथिवीके परमाणुओंके ही गुण हैं जल आदिके निजीगुण नहीं किंतु पृथिवीके संबंधसे वे जल आदिके भी जान पडते हैं" इसबातका साधक कोई भी विशेष हेतु नहीं इसलिये पार्थिव परमाणुओंके संबंधसे जल आदिमें गंध आदिकी प्रतीति होती है जल आदिके गंध आदि निजी गुण नहीं यह कहना भ्रमपूर्ण है। वार्तिककार अपनी सम्मति प्रगट करते हैं कि—

हम तो यह कहते हैं कि जिस गुणकी जिस पदार्थमें उपलब्धि है वह गुण उसी पदार्थका है किसी अन्य पदार्थके संयोगसे उसमें उस गुणकी प्रतीति नहीं होती। यदि कोई विशेष हेतु न देकर पार्थिव परमाणुओंके संयोगसे ही जल आदिमें गंध आदिकी उपलब्धि जबरन मानी जायगी तब उनमें गंध आदिके समान रस आदिकी उपलब्धि भी जबरन मान लेनी चाहिये इसरीतिसे संयोगसे ही रस आदिकी भी प्रतीति जल आदिमें हो जायगी, रस आदिको उनके निजी गुण माननेकी कोई आवश्यकता नहीं। इसलिये जल आदिके रस आदि जिसप्रकार निजी गुण हैं उसीप्रकार गंध आदि भी उनके निजी गुण हैं किंतु रस आदिके समान उनकी व्यक्ति न होनेसे उनकी उपलब्धि नहीं होती यही मानना युक्तियुक्त है।

नैयायिक आदि सिद्धांतकारोंने पृथिवी जल आदिको भिन्न भिन्न जातीय पदार्थ मान रक्खा है परंतु वे पुद्गलस्वरूप होनेसे पुद्गल ही हैं क्योंकि जो पृथिवी है वह निमित्त कारणोंके बलसे द्रवित (बहता) दीख पडता है। बहने स्वरूप स्वभावका धारक जलकरका—ओलेके पत्थर वा बरफके रूपमें कठिन दीख पडता है और वह करका भी द्रवित होती दीख पडती है। तेज भी मषी (राखी) आदि रूपमें दीख पडता है और पवनके अंदर भी रूप आदि गुण अनुभवसिद्ध हैं इसरीतिसे जब पृथिवी

आदि सब द्रव्योंके परमाणु और स्कंध अपनी पुद्गल जातिको न छोडकर निमित्त कारणके बलसे आपसमें सब रूप, अर्थात् पृथिवी जलरूप, जल पृथिवीरूप, तेज पृथिवीरूप आदि परिणमते दीख पडते हैं तब पृथिवी आदिको भिन्न भिन्न द्रव्य मानना अयुक्त है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

जब वायु आदिमें रूप आदिकी सत्ता मानी जायगी तो वहां पर रूप आदिका ज्ञान कैसे होगा ? तो वहांपर प्रश्नके वदलेमें यह प्रश्न है कि परणाणुओंमें भी रूप आदिकी सत्ता मानी है वहांपर रूप आदिका ज्ञान कैसे हो जाता है ? यदि यहांपर यह उत्तर दिया जायगा कि परमाणुओंके कार्यस्वरूप स्थूल स्कंध आदिमें रूप आदि दीख पडते हैं। वे रूप आदि परमाणुओंमें रूप आदि बिना माने हो नहीं सकते इसलिये इस अनुमान प्रमाणके बलसे परमाणुओंमें रूप आदि स्वीकार कर लिये जाते हैं तब वहांपर भी परमाणुओंमें रूप आदिके रहने पर उसके कार्यस्वरूप वायुमें वे न हों यह बात असम्भव है इसलिये परमाणुओंमें अनुमानप्रमाणसे रूप आदिकी सत्ता मानने पर वायुमें भी अनुमानप्रमाणसे रूप आदिका होना निर्बाध है।

तेषां च स्वतस्तद्वतश्चैकत्वं पृथक्त्वं प्रत्यनेकांतः ॥ ५ ॥

स्पर्श आदि गुणोंकी आपसमें वा स्पर्श आदि युक्त पदार्थोंसे अभिन्नता और भिन्नता अनेकांत रूपसे मानी गई है इसलिये वे आपसमें वा स्पर्शादिभाव पदार्थोंसे कथंचित् अभिन्न और कथंचित् भिन्न हैं। बहुतसे वादी स्पर्श आदिको सर्वथा एक ही मानते हैं। अन्य बहुतसे वादी उन्हें सर्वथा भिन्न ही मानते हैं परंतु वह ठीक नहीं क्योंकि यदि सर्वथा स्पर्श आदिको एक ही माना जायगा—उनका आपसमें

भेद न स्वीकार किया जायगा ; तो जिससमय ठंडे गरम आदि स्पर्शका ज्ञान हो रहा है उससमय खट्टे मीठे आदि रसका और गंध आदिका भी ज्ञान होना चाहिये क्योंकि स्पर्श आदि सब एक हैं स्पर्शादिको यदि स्पर्शादिमान्से अभिन्न माना जायगा तो स्पर्शादि ही रहेंगे या स्पर्शादिमान् ही रहेंगे यदि स्पर्शादि-मान् वस्तु ही मानी जायगी तो स्पर्शादि लक्षणोंके अभाव हो जानेसे लक्ष्य वस्तु भी नहीं सिद्ध होगी। यदि स्पर्शादि ही माने जांयगे तो विना स्पर्शादिमान् पदार्थोंके निराधार स्पर्शादि कहां ठहरेंगे इसलिए उनका अभाव हो जायगा। यदि स्पर्श आदिको आपसमें सर्वथा भिन्न माना जायगा तो जिसतरह रूप गुणसे घटका आकार भिन्न है इसलिए जिससमय रूपका ज्ञान होता है उससमय घटके आकार का ज्ञान नहीं होता उसीप्रकार जिससमय स्पर्शका ज्ञान होगा उससमय रूप आदिका ग्रहण होगा ही नहीं तब स्पर्श रस आदि अनेक गुणस्वरूप घट न होनेके कारण 'अयं घटः स्पृष्टः' मैंने इस घटका स्पर्श किया, यह व्यवहार न होगा इसलिए स्पर्श आदि गुणोंका सर्वथा भेद वा अभेद युक्तिसिद्ध नहीं।

तथा स्पर्शवान् आदि पदार्थोंसे यदि स्पर्श आदि गुणोंको सर्वथा अभिन्न माना जायगा तो वह अभेदस्वरूप स्पर्शादिमान् पदार्थ कहा जायगा वा स्पर्श आदि गुण कहे जांयगे। यदि स्पर्शादिमान् पदार्थ कहा जायगा तो यह नियम है कि लक्षणके अभावमें लक्ष्यका भी अभाव माना जाता है। स्पर्शा-दिमान् पदार्थके स्पर्श आदि लक्षण हैं यदि उन्हें न माना जायगा तो स्पर्शादिमान् पदार्थ भी सिद्ध न हो सकेगा। यदि वह अभेद स्पर्श रस आदि गुणस्वरूप ही माना जायगा, स्पर्शादिमान् पदार्थस्वरूप न माना जायगा तो स्पर्श आदि गुण; विना किसी आधारके रह नहीं सकते इसलिए निराधार होनेसे स्पर्श आदिका अभाव ही हो जायगा इसरीतिसे स्पर्शादिमान् पदार्थ और स्पर्श आदि गुणोंका आपसमें

सर्वथा अभेद नहीं माना जा सकता । यदि कदाचित् स्पर्शादिमान् पदार्थ और स्पर्श आदि गुणोंका सर्वथा भेद माना जायगा तब दोनों ही पदार्थोंका अभाव हो जायगा क्योंकि भिन्न भिन्नरूपसे दोनों पदार्थ कहीं भी देखे सुने नहीं गये। इसप्रकार स्पर्श आदि गुणोंका आपसमें वा स्पर्शादिमान् पदार्थसे सर्वथा भेद किंवा अभेद न मानकर कथंचित भेद और अभेद ही मानना युक्तिसिद्ध है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

स्पर्श रस आदि गुणोंका भिन्न भिन्न रूपसे ग्रहण होता है इसलिए वे भिन्न भिन्न ही हैं एक नहीं ? सो भी ठीक नहीं। जिनका भिन्नरूपसे ग्रहण होता है वे भिन्न होते हैं यदि यह व्याप्ति निर्दोष हो तब तो यह माना जा सकता है कि 'स्पर्श आदि गुणोंका भिन्न भिन्न रूपसे ग्रहण है इसलिये वे भिन्न हैं' किंतु शुक्ल कृष्ण रक्त आदि पदार्थोंमें संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग परत्व अपरत्व कर्म सत्ता गुणत्व आदि हैं तो आपसमें भिन्न भिन्न धर्म, परंतु उन सबका रूपके साथ समवाय संबंध रहनेसे चक्षुसे ग्रहण अभिन्न रूपसे ही होता है इस रूपसे यहांपर अभिन्न रूपसे ग्रहण होनेपर भी जब संख्या परिमाण आदि भिन्न भिन्न हैं तब जिनका भिन्न रूपसे ग्रहण होता है वे भिन्न होते हैं यह व्याप्ति व्यभिचरित हो गई इसलिये स्पर्श आदिका भिन्न रूपसे ग्रहण होनेपर वे भिन्न भिन्न ही हैं यह कहना ठीक नहीं। यदि यहांपर यह कहा जाय कि—

पदार्थका नाम भी उसका निज तत्त्व (स्वरूप वा लक्षण) है जहां पर उसका भेद होगा वहां पर उसके भेदसे पदार्थोंका भी भेद माना जायगा । स्पर्श रस आदि गुणोंके स्पर्श रस आदि नाम भिन्न भिन्न हैं इसलिये नामोंके भेदसे स्पर्श आदि गुण भी भिन्न भिन्न पदार्थ हैं, एक नहीं हो सकते ? सो

भी ठीक नहीं। यदि पदार्थोंका भेद नामोंके भेदपर निर्भर हो तब तो स्पर्श आदि नामोंके भेदसे स्पर्श आदि गुणोंका भेद युक्तियुक्त माना जाय परंतु वैसा तो है नहीं क्योंकि द्रव्य गुण और कर्म यहां पर नामोंका अभेद रहते भी पदार्थोंका भेद माना गया है अर्थात् द्रव्य यह नाम एक है तथापि द्रव्योंके पृथिवी आदि अनेक भेद हैं। गुण यह नाम एक है तथापि रूप आदि उसके भेद अनेक हैं एवं कर्म यह नाम एक है तो भी उत्क्षेपण अवक्षेपण आदि उसके भेद अनेक हैं। इसरीतिसे द्रव्य आदिमें नामके एक रहनेपर भी जब पदार्थोंका भेद है तब 'नामोंके भेदसे पदार्थ भिन्न भिन्न माने जाते हैं' यह व्याप्ति सिद्ध न हो सकी इसलिये स्पर्श रस आदि नामोंके भेदसे स्पर्श आदि गुणोंका भेद नहीं माना जा सकता। यदि कदाचित् यहांपर यह शंका की जाय कि—

द्रव्य गुण और कर्ममें प्रत्येकको जो अनेक अनेक बतलाया है वह युक्त नहीं किंतु वे एक ही एक हैं? सो भी ठीक नहीं। महान अहंकार पंचतन्मात्रा आदि स्वरूप परिणत होनेवाले और पृथक् रूपसे अनुपलब्ध सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुणमें प्रत्येकको सांख्योंने अनेक अनेक प्रकारका माना है। यदि द्रव्य गुण कर्ममें प्रत्येकको एक एक माना जायगा तो सत्त्वगुण आदिमें भी प्रत्येकको एक एक मानना पडेगा। जिससे सत्त्वगुण आदिमें प्रत्येकको अनेक प्रकार माननेकी प्रतिज्ञा छिन्न भिन्न हो जायगी। यदि यहांपर यह कहा जायगा कि वे एक ही एक हैं तब उनमें व्यक्त और अव्यक्त स्वरूपके भेदसे जो कल्पना की गई है वह व्यर्थ हो जायगी इसलिये स्पर्श आदि नामोंके भेदसे जो स्पर्श आदि गुणोंके सर्वथा भेदकी शंका की गई थी वह खंडित हो गई। वास्तवमें जहांपर द्रव्यकी विवक्षा है वहांपर स्पर्श आदि गुण स्पर्शादिमान् पदार्थसे भिन्न नहीं इसलिये द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा वे कथंचित् एक

स्वरूप हैं और जहांपर पर्यायोंकी विवक्षा है वहांपर स्पर्श रस आदि पर्यायें भिन्न भिन्न हैं एवं पर्यायी स्पर्शादिमान् पदार्थ भिन्न हैं इसलिये पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा वे कथंचित् अनेक हैं। इसीतरह आगेके पांच भंगोंकी भी यहां योजना कर लेनी चाहिये ॥ २० ॥

स्पर्शन आदि इंद्रियोंके समान मनका कोई निश्चित स्थान नहीं इसलिये वह इंद्रिय नहीं कहा जा सकता इसरूपसे ऊपर मनको इंद्रियपनेका निषेध किया गया है। वहांपर यह शंका उठती है कि वह अनिंद्रियस्वरूप मन, ज्ञानदर्शनस्वरूप उपयोगका उपकारक है या नहीं ? यदि यह कहा जायगा कि मन का सहारा बिना लिये इंद्रियोंकी अपने अपने विषयोंमें प्रयोजनीय प्रवृत्ति नहीं हो सकती इसलिये मन; उपयोगमें अवश्य ही उपकारी है तब वहां यह कहना है कि—अपने अपने विषयोंमें इंद्रियोंकी सहायता मात्र करना ही मनका कार्य है अथवा और कुछ भी उसका कार्य है ? उत्तरमें इंद्रियोंके उपकारके सिवाय अन्य भी मनका कार्य है ऐसा स्वीकार कर सूत्रकार उस अन्यकार्यको बतलाते हैं—

श्रुतमानिंद्रियस्य ॥ २१ ॥

अर्थ—मनका विषय श्रुतज्ञानका विषय पदार्थ है।

वृत्त्यर्थ—सूत्रमें जो श्रुतशब्द है उससे श्रुतज्ञानके विषयभूत पदार्थका ग्रहण है। उसको मन विषय करता है क्योंकि जिसने श्रुतज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम प्राप्त कर लिया है ऐसे आत्माके, मनके आश्रयसे जायमान ज्ञानकी श्रुतज्ञानके विषयभूत पदार्थमें प्रवृत्ति होती है अथवा श्रुत शब्दका अर्थ श्रुतज्ञान है वह मनसे होता है इसलिये मन पूर्वक होनेसे वह श्रुतज्ञान ही मनका कार्य है। इसप्रकार

इंद्रियोंके व्यापारकी अपेक्षा न कर श्रुतज्ञानका उत्पन्न करना, मनका स्वतंत्र प्रयोजन वा कार्य है। अर्थात् श्रुतज्ञान मतिपूर्वक ही होता है।

श्रुतं श्रोत्रेंद्रियस्य विषय इति चेन्न श्रोत्रेंद्रियग्रहणे श्रुतस्य मतिज्ञानव्यपदेशात् ॥ १ ॥

श्रुतको मनका विषय बताया गया है परंतु वह श्रोत्र इंद्रियका विषय है इसलिये श्रुतज्ञानको मनका स्वतंत्र कार्य मानना अयुक्त है? सो ठीक नहीं श्रोत्र इंद्रियसे जायमान ज्ञानको मतिज्ञान माना है। यदि श्रुतका श्रोत्र इंद्रियसे ग्रहण माना जायगा तो वह मतिज्ञान ही कहा जायगा श्रुतज्ञान नहीं कहा जा सकता। इसलिये यहांपर यह व्यवस्था है कि—

जहांपर श्रोत्र इंद्रियसे ग्रहण हो वह तो मतिज्ञान है उसके अवग्रह ईहा आदि भेद ऊपर कह दिये जा चुके हैं और उसके बाद उस मतिज्ञानपूर्वक जो जीव अजीव आदिके स्वरूपका ग्रहण होना है वह श्रुतज्ञान है। तथा वह श्रुतज्ञान सिवाय मनके अपनी उत्पत्तिमें किसी भी इंद्रियकी सहायताकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये वह स्वतंत्र रूपसे मनका कार्य है। इसरीतिसे 'श्रुतज्ञानके विषयभूत पदार्थ वा स्वयं श्रुतज्ञानका श्रोत्र इंद्रियसे ग्रहण होता है अनिंद्रियस्वरूप मनसे नहीं' यह कथन निर्हेतुक है ॥ २१ ॥

इंद्रियोंके नाम बतला दिये गये। उनके स्पर्श रस आदि विषयोंका भी वर्णन कर दिया गया परंतु किस किस इंद्रियका कौन कौन स्वामी है यह अभीतक नहीं बतलाया इसलिये अब उनके स्वामियोंके वर्णन करते समय, सूत्रकार सबसे पहिले कही गई स्पर्शन इंद्रियका स्वामी बतलाते हैं—

वनस्पत्यंतानामेकं ॥ २२ ॥

अर्थ—वनस्पति काय है अंतमें जिनके उन जीवोंके अर्थात् पृथिवीकायिक अप्कायिक तेजःकायिक

वायुकायिक और वनस्पतिकायिक इन पांचो प्रकारके जीवोंके पहिली स्पर्शन इंद्रिय ही होती है अर्थात् ये पांच एकमात्र स्पर्शन इंद्रियके धारक स्थावर जीव हैं।

अंतशब्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षातोऽवसानगतिः ॥ १ ॥

अंतशब्दके अनेक अर्थ माने हैं जिसप्रकार वस्त्रांतः वसनांतः अर्थात् वस्त्रका अवयव यहांपर अंत शब्दका अर्थ अवयव है। उदकांतं गतः-उदक समीपे गतः अर्थात् जलके समीप गया यहांपर अंतशब्द का समीप अर्थ है। संसारांतं गतः-संसारावसानं गतः अर्थात् संसारके अंतको प्राप्त हुआ यहांपर अंत-शब्दका अवसान अर्थ है। सूत्रमें जो अंत शब्द है उसके अवसान अर्थकी यहां विवक्षा है वनस्पत्यंतानां-वनस्पत्यवसानानां, अर्थात् जिनके अंतमें वनस्पति है ऐसे पृथिवीकायिक आदि जीवोंके 'एक इंद्रिय है'।

सामीप्यवचने हि वायुत्रससंप्रत्ययप्रसंगः ॥ २ ॥

यदि 'वनस्पत्यंतानां' यहांपर अंतशब्दका समीप अर्थ माना जायगा तो 'पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्प-तयः स्थावराः' इस सूत्रमें या तो वनस्पतिशब्दके पास वायुशब्द पठित है इसलिए उसका ग्रहण होगा या उसके आगेके सूत्रमें पासही त्रसकायका उल्लेख है इसलिए उसका ग्रहण होगा। पृथिवी आदिका किसी प्रकारसे ग्रहण नहीं हो सकता इसलिए यहांपर अंतशब्दका समीप अर्थ न ग्रहणकर अवसान ही अर्थ ग्रहण करना चाहिए। उससे पृथिवीकायिकको आदि लेकर वनस्पति पर्यंत जीवोंमें स्पर्शन इंद्रियका स्वामीपना निर्बाध है।

अंतशब्दस्य संबंधिशब्दत्वादादिसंप्रत्ययः ॥ ३ ॥

अंतशब्दको संबंधी वा सापेक्ष शब्द माना है। इसलिए वह अपनेसे पूर्व रहनेवाले शब्दोंकी अपेक्षा रखता है एवं जहां पर अंतशब्दका प्रयोग रहता है वहांपर अर्थतः आदि शब्दकी प्रतीति रहती है इस लिए यहांपर पृथिवीसे आदि लेकर वनस्पति पर्यंत जीवोंके एक स्पर्शन इंद्रिय ही होती है, यह अर्थ समझ लेना चाहिए। शंका—

अवशिष्टैकेंद्रियप्रसंगोऽविशेषात् ॥ ४ ॥ न वा प्राथम्यवचने स्पर्शनसंप्रत्ययात् ॥ ५ ॥

एक शब्द सामान्यरूपसे एक संख्याका वाचक है तथा सूत्रमें ऐसा कोई विशेष भी नहीं कहा गया है जिससे एक शब्दसे अमुक ही इंद्रियका ग्रहण हो इसलिए पृथिवीको आदि लेकर वनस्पति पर्यंत जीवोंमें स्पर्शन आदि इंद्रियोंमेंसे कोई एक इंद्रिय हो सकती है, केवल स्पर्शनं इंद्रिय ही नहीं हो सकती ? सो ठीक नहीं। एक शब्दका अर्थ प्राथम्य है। सूत्रमें जिस इंद्रियका पहिले कथन होगा उसीका यहां पर ग्रहण किया जायगा। स्पर्शनरसनेत्यादि सूत्रमें स्पर्शन इंद्रियका पहिले उल्लेख किया गया है इसलिए यहांपर एकशब्दसे उसीका ग्रहण है इसरीतिसे पृथिवीकायको आदि देकर वनस्पतिकाय पर्यंत जीवोंके एक स्पर्शन इंद्रिय ही होती है अन्य कोई इंद्रिय नहीं यह कथन निर्दोष है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि एक शब्दका प्राथम्य अर्थ होता ही नहीं इसलिए उससे प्रथमोद्दिष्ट स्पर्शन इंद्रियका ग्रहण नहीं हो सकता ? सो ठीक नहीं। क्योंकि एको गोत्रे-प्रथमो गोत्रे, अर्थात् गोत्रमें प्रथम, यहांपर एकशब्दका प्रथम अर्थ प्रसिद्ध है इसलिए कोई दोष नहीं। स्पर्शन इंद्रियकी उत्पत्ति इसप्रकार है—

वीर्यांतराय और स्पर्शनेंद्रियावरण कर्मके क्षयोपशम रहनेपर रसना आदि शेष इंद्रियसंबंधी सर्व- घातीस्पर्धकोंके उदय रहने पर शरीर और अंगोपांग नामकर्मके लाभ रहनेपर तथा एकेंद्रिय जाति

नामक नामकर्मके उदय रहनेपर स्पर्शन इंद्रियकी उत्पत्ति होती है इसप्रकार पृथिवीकायिक आदि स्थावर जीव स्पर्शन इंद्रियके स्वामी हैं यह बात निरूपण कर दी गई ॥ २२ ॥

अब रसना आदि इंद्रियोंके स्वामियोंका निरूपण करते हैं—

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥ २३ ॥

अर्थ—लट चिउंटी भौंरा मनुष्य आदिके क्रमसे एक एक इंद्रिय बढती हुई हैं। अर्थात् लट (गिडार) आदिके स्पर्शन और रसना ये दो इंद्रियां हैं। चिउंटी आदिके स्पर्शन रसना और घ्राण ये तीन इंद्रियां हैं। भौंरा आदि जीवोंके स्पर्शन रसन घ्राण और नेत्र ये चार इंद्रियां हैं तथा मनुष्य देव नारकी और गौ आदिके पांचो ही इंद्रियां हैं।

एकैकमिति वीप्सानिर्देशः ॥ १ ॥

एक शब्दका दो बार उच्चारण करनेसे 'एकैकं' यह यहां वीप्सानिर्देश है।

बहुत्वनिर्देशः सर्वेंद्रियापेक्षः ॥ २ ॥

'एकैकवृद्धानि' यहांपर जो बहुवचनका निर्देश किया गया है वह सब इंद्रियोंकी अपेक्षा है। एकैकं वृद्धमेषां तानि एकैकवृद्धानि अर्थात् एक एक इंद्रिय अधिक है यह 'एकैकवृद्धानि' पदका विग्रह है यहां पर यह शंका उठती है कि एकैकवृद्धानि इस वाक्यका एक एक इंद्रिय अधिक है यह जो अर्थ माना है वहां अधिकपना पहिलेकी इंद्रियोंमें है कि उत्तरकी इंद्रियोंमें है अर्थात् स्पर्शन इंद्रिय रसना अधिक कही जायगी कि रसना इंद्रिय स्पर्शन अधिक कही जायगी? इस शंकाकी निवृत्ति वार्तिककार करते हैं—

असंदिग्धं स्पर्शनमेकैकेन वृद्धमित्यादिविशेषणात् ॥ ३ ॥

कृमिपिपीलिकेत्यादि सूत्रमें स्पर्शन इंद्रियकी अनुवृत्ति आ रही है इसलिये उसे लेकर एक एक इंद्रिय अधिक है यह यहांपर विशेषता है। अर्थात् जिनके दो इंद्रियां हैं उनके स्पर्शन इंद्रिय रसना अधिक है जिनके तीन इंद्रियां हैं उनके स्पर्शन और रसना घ्राण इंद्रिय अधिक है इत्यादि अर्थ है इसलिये उपर्युक्त संदेह यहां नहीं हो सकता। एकैकवृद्ध इतने शब्दके कहनेसे स्पर्शनादि इंद्रियां एकैकवृद्ध हैं, यह अर्थ कैसे होगा? उसका समाधान—

वाक्यांतरोपप्लवात् ॥ ४ ॥

जो वाक्य निबंधनस्थान अर्थात् निर्णीतप्रायः रहता है उसके साथ दूसरे शब्दका संयोग हो जाता है। जिसतरह 'अक्षः' यह निर्णीत वाक्य है उसके साथ भक्ष्यतां, भज्यतां, दीव्यतां, इन दूसरे दूसरे शब्दोंका उपप्लव—संयोग, हो जाता है अर्थात् 'अक्षो भक्ष्यतां' बहेडा खाओ। अक्षो भज्यतां गाढीका धुरा तोड दो। अक्षो दीव्यतां जूवा खेलो यह वहांपर अन्य वाक्योंके संयोगसे अर्थसमन्वय कर लिया जाता है। उसीतरह एक एक वृद्ध है यह वाक्य निर्णीतप्रायः है। उस निर्णीतप्राय वाक्यसे लट आदिके रसना अधिक स्पर्शन इंद्रिय है। चिंउंटी आदिके घ्राण अधिक स्पर्शन और रसना इंद्रियां हैं। भौंरा आदिके नेत्र अधिक स्पर्शन रसना और घ्राण इंद्रियां हैं मनुष्य आदिके श्रोत्र अधिक स्पर्शन रसना घ्राण और नेत्र इंद्रियां हैं इसप्रकार दूसरे दूसरे वाक्योंका संयोग कर लिया जाता है। इसरीतिसे स्पर्शन, रसना इंद्रिय अधिक है इत्यादि अर्थसमन्वय निर्दोष है।

आदिशब्दः प्रकारे व्यवस्थायां वा वेदितव्यः ॥ ५ ॥

१ जिन शब्दोंका ज्ञान अनेकार्थक है उनका प्रकरणवश दूसरे शब्दोंका प्रयोग करनेसे उनका अर्थ स्वयं घटित हो जाता है।

'मनुष्यादीनां' यहां पर जो आदि शब्द सूत्रमें कहा गया है उसके यहां पर प्रकार (भेद) और व्यवस्था दोनों अर्थ हैं। जिससमय यहां पर आगमकी विवक्षा नहीं की जायगी उससमय तो 'कृम्यादयः—कृमिप्रकाराः' अर्थात् 'कृमि आदिक' यह अर्थ है और जिससमय आगमकी विवक्षा की जायगी उससमय आदि शब्दका अर्थ व्यवस्था है क्योंकि किन किनके कौन कौन इंद्रिय है यह बात आगममें अच्छी तरह व्यवस्थित है। रसना आदि इंद्रियोंकी उत्पत्ति स्पर्शन इंद्रियके समान उत्तरोत्तर सर्वघातिया-स्पर्धकोंके उदय रहनेपर समझ लेनी चाहिये अर्थात्—

वीर्यांतराय और रसनेंद्रियावरण कर्मका क्षयोपशम, घ्राणादि इंद्रिय संबंधी सर्वघातिया स्पर्धकोंका उदय, शरीर और अंगोपांगनामक नाम कर्मका बल एवं द्वींद्रिय जाति नाम कर्मके उदय रहनेपर रसना इंद्रियकी उत्पत्ति होती है। वीर्यांतराय और घ्राणेंद्रियावरण कर्मका क्षयोपशम चक्षु आदि इंद्रियसंबंधी सर्वघातिया स्पर्धकोंका उदय शरीर और अंगोपांग नाम कर्मका बल एवं त्रींद्रिय जाति नाम कर्मके उदय रहनेपर घ्राण इंद्रियकी उत्पत्ति होती है। वीर्यांतराय और चक्षु इंद्रियावरण कर्मका क्षयोपशम श्रोत्रेंद्रिय संबंधी सर्वघातिया स्पर्धकोंका उदय, शरीर और अंगोपांग नामक नाम कर्मका बल एवं चतुरिंद्रिय जाति नामक नाम कर्मके उदय रहनेपर चक्षु इंद्रियकी उत्पत्ति होती है। तथा वीर्यांतराय और श्रोत्रेंद्रियावरण कर्मका क्षयोपशम शरीर और अंगोपांग नामक नाम कर्मका बल और पंचेंद्रिय जाति नामक नामकर्मके उदय रहनेपर श्रोत्र इंद्रियकी उत्पत्ति होती है ॥ २३ ॥

संसारी जीवोंके त्रस और स्थावर दो भेद हैं वे कह दिये गये। उन्हींके पांच इंद्रियोंके भेदसे पांच भेद हैं वे भी कह दिये गये संज्ञी नामका पंचेंद्रिय जीवोंका भेद नहीं कहा, सूत्रकार अब उसे कहते हैं—

संज्ञिनः समनस्काः ॥ २४ ॥

अर्थ—जो जीव मनसहित हैं वे संज्ञी कहे जाते हैं।

मन पदार्थका ऊपर व्याख्यान कर दिया गया है। जिन जीवोंके उस मनकी विद्यमानता हो वे जीव संज्ञी कहे जाते हैं। शंका—

समनस्कग्रहणमनर्थकं संज्ञिशब्देन गतत्वात् ॥ १ ॥ हिताहितप्राप्तिपरिहारयोर्गुणदोषविचारणात्मिका संज्ञा ॥ २ ॥
व्रीह्यादिपठादिनिसिद्धिः ॥ ३ ॥ न वा शब्दार्थव्यभिचारात् ॥ ४ ॥

'संज्ञिनः समनस्काः' इस सूत्रमें जीवके संज्ञी और समनस्क ये दो विशेषण माने हैं वहां पर संज्ञी और समनस्क दोनोंका समान अर्थ रहनेपर संज्ञी विशेषण ही पर्याप्त है समनस्क विशेषण देनेकी कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि यह पदार्थ हितकारी है और यह अहितकारी है। हितकी प्राप्ति होनेपर यह गुण प्राप्त होता है और अहितकी प्राप्ति होनेपर यह दोष होता है इसप्रकारका जो विचार है वही संज्ञा है और यही कार्य मनका भी है संज्ञा शब्दका व्रीह्यादिगणमें पाठ होनेसे 'व्रीह्यादिभ्यश्च' इस सूत्रसे इन प्रत्यय करनेपर संज्ञी शब्द सिद्ध हुआ है इसरीतिसे संज्ञी और समनस्क जब दोनों शब्द समान अर्थके वाचक हैं तब संज्ञी कहना ही पर्याप्त है समनस्क विशेषणकी कोई आवश्यकता नहीं? सो ठीक नहीं। हितकी प्राप्ति और अहितके परिहारमें क्रमसे गुण और दोषोंकी विचारणा रूपही यदि संज्ञा शब्दका अर्थ हो तब तो संज्ञी शब्दका प्रयोग ही उपयुक्त है समनस्क शब्दके उल्लेखकी कोई आवश्यका नहीं परंतु संज्ञा शब्दके तो नाम आदि अनेक अर्थ हैं जो कि सैनी असैनी दोनोंमें घट जाते हैं इसलिये असैनीमें भी चले जानेके कारण संज्ञित्व लक्षण व्यभिचरित है। खुलासा इसप्रकार है—

यदि संज्ञा शब्दका अर्थ रूढि 'नाम' माना जायगा तो वह सैनी असैनी समस्त प्राणियोंमें प्रतिनियत है। उससे असैनी जीवोंकी निवृत्ति नहीं हो सकती इसलिए असैनी जीवोंको भी संज्ञी कहना पडेगा। 'संज्ञानं संज्ञा' भले प्रकार जानना संज्ञा है इस व्युत्पत्तिके बलसे यदि उसका अर्थ ज्ञान माना जायगा तो वह ज्ञान भी सैनी असैनी सब प्रकारके जीवोंमें विद्यमान है इसलिए इस अर्थके माने जाने पर भी केवल संज्ञी शब्दके उल्लेखसे असैनी जीवोंकी व्यावृत्ति नहीं हो सकती, उन्हें भी संज्ञी कहना पडेगा इसलिए सैनी जीव ही संज्ञी कहे जांय इस निर्धारणकेलिए समनस्क पदका ग्रहण सार्थक है। यदि कदाचित् यहांपर यह कहा जाय कि—

आहारादिसंज्ञेति चेन्नानिष्टत्वात् ॥ ५ ॥

संज्ञा शब्दके नाम वा ज्ञान अर्थ माननेपर संज्ञित्व लक्षण असैनी जीवोंमें भी घट जानेपर वे भी संज्ञी कहे जा सकते हैं परंतु हम तो आहार भय मैथुन और परिग्रह यह अर्थ संज्ञी शब्दका मानते हैं वह असैनी जीवोंमें नहीं घट सकता इसलिए कोई दोष नहीं हो सकता ? सो ठीक नहीं। आहार भय मैथुन और परिग्रह संज्ञाएं भी समस्त संसारी जीवोंके विद्यमान हैं इसलिए संज्ञा शब्दका आहार आदि अर्थ माननेपर भी असैनी जीवोंकी व्यावृत्ति नहीं हो सकती। असैनी जीवोंको संज्ञी मानना आगमविरुद्ध होनेसे अनिष्ट है इसलिए इस अनिष्टताके परिहारकेलिए सूत्रमें समनस्क पदका उल्लेख सार्थक है।

तथा समनस्क शब्दका उल्लेख न कर यदि सूत्रमें केवल संज्ञी शब्दका ही उल्लेख किया जायगा और संज्ञी शब्दका अर्थ हित अहितकी परीक्षा करनेवाला माना जायगा तो जो जीव गर्भ वा अंडेके

भीतर हैं वा मूर्छित वा सोए हुये हैं वे भी हित अहितकी परीक्षासे शून्य हैं इसलिए वे भी संज्ञी न कहे जांयगे किंतु समनस्क पदके उल्लेख रहनेपर तो जो मनसहित हैं वे संज्ञी हैं यह अर्थ होगा। गर्भस्थ आदि जीव भी मनसहित हैं इसलिए वे भी निर्वाधरूपसे संज्ञी कहे जांयगे अतः समनस्क शब्दका उल्लेख सार्थक है ॥ २४ ॥

यदि संसारी जीवोंके हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार मनके ही द्वारा होना माना जायगा तो जो आत्मा अपने पूर्व शरीरको छोडकर नवीन शरीरके पानेकेलिए उद्यत है अर्थात् विग्रहगतिमें विद्यमान है वहांपर तो मनका संबंध है नहीं फिर वहांपर बुद्धिपूर्वक गमनक्रिया कैसे होगी। इसका उत्तर स्वरूप सूत्रकार सूत्र कहते हैं—विग्रहगतावित्यादि अथवा इस सूत्रकी उत्थानिका इसप्रकार भी है—

मनवाले समनस्क जीव विचारपूर्वक ही कार्य करते हैं यदि यही सिद्धांत सुदृढ है तब जिससमय आत्मा पूर्व शरीरको छोडकर दूसरे नवीन शरीरके पानेकी अभिलाषासे उपपाद क्षेत्रकी ओर अभिमुख हो प्रवृत्ति करता है उससमय उसके मन तो माना नहीं गया फिर वहांपर बुद्धिपूर्वक उसकी गमनक्रिया कैसे है? सूत्रकार इस बातका समाधान देते हुए सूत्र कहते हैं—

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥ २५ ॥

नवीन शरीर धारण करनेकेलिए जो गमन किया जाता है उसका नाम विग्रहगति है उस विग्रह-गतिमें कार्माण शरीरका योग है अर्थात् कार्माण योगसे ही जीव एक गतिसे दूसरी गतिमें गमन करता है। वार्तिककार विग्रहगति शब्दका अर्थ बतलाते हैं—

विग्रहो देहस्तदर्था गतिर्विग्रहगतिः ॥ १ ॥

औदारिक वैक्रियिक आहारक आदि नामकर्मके उदयसे औदारिक आदि शरीरोंकी रचनामें समर्थ अनेक प्रकारके पुद्गलोंको जो ग्रहण करे अथवा जिसके द्वारा उसतरहके अनेक प्रकारके पुद्गल ग्रहण किए जांय उसे विग्रह कहते हैं और उसका अर्थ शरीर है। उस शरीरकेलिए जो गति की जाय वह विग्रहगति कही जाती है। शंका—

तदर्थ[2] अर्थ वलि हित सुख और रक्षित शब्दोंके साथ विकल्पसे चतुर्थी समासका विधान माना है। तथा तादर्थ्यमें वही समास होता है जहांपर प्रकृतिका विकार माना गया है जिसतरह 'यूपाय दारु यूपदारु' अर्थात् यह दारुकी लकडी स्तंभकेलिए है, यहांपर दारुरूप प्रकृतिका यूप विकार है। किंतु जहां पर प्रकृतिका विकार नहीं रहता वहांपर तादर्थ्यमें चतुर्थी समास नहीं होता जिसतरह रंधनाय स्थाली अर्थात् यह बटलोई रांधनेकेलिए है, यहांपर रंधनस्थाली यह समासघटित प्रयोग नहीं होता क्योंकि यहां प्रकृतिका विकार नहीं। 'विग्रहाय गतिः, विग्रहगतिः' यहांपर भी तादर्थ्यरूप अर्थमें चतुर्थी मानी है परंतु यहांपर प्रकृतिका विकार नहीं इसलिए यहांपर चतुर्थी समास बाधित है? सो ठीक नहीं। अश्व-

१–विग्रहो हि शरीरं स्यात्तदर्थं या गतिर्भवेत्। विशीर्णपूर्वदेहस्य सा विग्रहगतिः स्मृता ॥ ९६ ॥ जीव जिससमय दूसरा नवीन शरीर धारण करनेकेलिए प्रवृत्त होता है उससमय पहिले शरीरका परित्यागकर ही प्रवृत्त होता है। तत्त्वार्थसार पृष्ठ ८४। विग्रहका अर्थ शरीर है। उस शरीरकेलिए जो गमन किया जाता वह विग्रहगति कही जाती है।

२–'चतुर्थी तदर्थार्थवलिहितसुखरक्षितैः' चतुर्थ्यंतार्थाय यत्तद्वाचिनार्थादिभिश्च चतुर्थ्यंतं वा प्राग्वत् (समस्यते) तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव एव गृह्यते वलिरक्षितग्रहणाज्ज्ञापकात्। यूपाय दारु यूपदारु। नेह रंधनाय स्थाली। सिद्धांतकौमुदी पृष्ठ ७१।

घासादि शब्दोंमें 'अश्वाय घासः, अश्वघासः' अर्थात् घोडेकेलिए घास है यहांपर जिसप्रकार प्रकृतिके विकारके न रहते भी तादर्थ्यरूप अर्थमें समास माना है उसीप्रकार 'विग्रहगतिः' यहांपर भले ही प्रकृति का विकार न हो तथापि तादर्थ्य अर्थमें चतुर्थीसमास वाधित नहीं हो सकता। 'विग्रहाय गतिः' जिस समय यह वाक्य रहता है उससमय तो चतुर्थी विभक्तिसे तादर्थ्यरूप अर्थ स्पष्टतया वाधित होता है। अथवा—

विरुद्धो गृहो विगृहो व्याघात इति वा ॥ २ ॥ विगृहेण गतिर्विगृहगतिः ॥ ३ ॥

विरुद्ध जो ग्रह है उसे विग्रह कहते हैं। विग्रहका नाम व्याघात है। उस व्याघातका अर्थ पुद्गलाधाननिरोध है अर्थात् अनेक प्रकारके पुद्गल जिसमें आकर इकट्ठे हों वह पुद्गलाधान—शरीर कहा जाता है उसका छूट जाना पुद्गलाधाननिरोध है। उस पुद्गलाधाननिरोधपूर्वक जो गति है उसका नाम विग्रहगति है अर्थात् जिससमय जीव मरता है उससमय जो वह गमन करता है वह पुद्गलाधान-निरोधपूर्वक शरीरको छोडकर ही गमन करता है।

विशेष—अश्वघास आदिके समान विग्रहगति यहांपर तादर्थ्यरूप अर्थमें चतुर्थीतत्पुरुष समास कहकर पुनः जो 'विग्रहेण गतिः, विग्रहगतिः' यह तृतीया तत्पुरुष समास माना है उसका खास मतलव यह है कि कई एक वैयाकरणोंने जहां प्रकृतिका विकार होगा वहीं तादर्थ्यरूप अर्थमें चतुर्थी समासको इष्ट माना है किंतु जहांपर प्रकृतिका विकार नहीं वहांपर उसे इष्ट नहीं माना इसीलिये प्रकृतिका विकृति भाव न रहनेसे अश्वघास आदि स्थलोंपर चतुर्थी तत्पुरुष न मानकर उन्होंने षष्ठी समास माना

१ 'अश्वघासादयस्तु षष्ठीसमासाः।' अर्थात् अश्वघास आदि शब्दोंमें षष्ठीतत्पुरुष समास है। सिद्धांत कौमुदी पृष्ठ७१।

अरुचि प्रकटकर सर्व सम्मत तृतीया समासका वार्ति-
है इसलिये 'विग्रहगति' यहांपर चतुर्थी समासमें
ककारने उल्लेख किया है।

कर्मेति सर्वशरीरप्ररोहणसमर्थं कार्मणं ॥ ४ ॥ योग आत्मप्रदेशपरिस्पंदः ॥ ५ ॥

कर्मनिमित्तो योगः कर्मयोगः ॥ ६ ॥

समस्त शरीरोंकी उत्पत्तिमें कारण कार्माण शरीर है इसलिये सूत्रमें जो कर्म शब्द है उसका अर्थ
यहां कार्माण शरीर लिया गया है। कायवर्गणा भाषावर्गणा आदिके निमित्तसे जो आत्माके प्रदेशोंके
अंदर हलन चलन होना है उसका नाम योग है। यह योग विग्रह गतिमें कार्माणशरीरके द्वारा होता
है। उसी योगके द्वारा विग्रह गतिमें आत्माके कर्मोंका आदान तथा मनरहित भी उस आत्माकी
नवीन शरीर धारण करनेके लिये गति ये दोनों कार्य होते हैं॥ २५॥

वास्तविक नहीं किंतु पुद्गलके परमाणुओंके संबंधसे काल्पनिक ऐसे आकाशके प्रदेशोंमें रहने-
वाले जीव और पुद्गल जिससमय एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशमें जानेकेलिये उद्यत होते हैं उससमय वे
प्रदेशोंके क्रमसे गमन करते हैं कि प्रदेशोंके अक्रमसे ? इसबातके निश्चयार्थ सूत्रकार कहते हैं—

१ जीवस्य विग्रहगतौ कर्मयोगं जिनेश्वराः। प्राहुर्देहांतरप्राप्तिकर्मग्रहणकारणं ॥ ९७ ॥ विग्रहगतिमें भी कोई योग होना चाहिये।
योगोंकी चंचलता हुए बिना शरीरसंबंधी कुछ भी हीनाधिकता नहीं होने पाती इसलिये विग्रहगतिमें जो कि किसी योगकी अपेक्षा
विग्रहगतिमें कर्मादान—कर्मबंधका कार्य और नवीन शरीर धारण करना कार्य ये दो कार्य होते हैं योग ही है ऐसा भगवान जिनेश्वरने
रखते हैं। दूसरा कोई योग वहां हो नहीं सकता इसलिये उक्त दोनों कार्योंका साधक कार्माण योग ही है ऐसा भगवान जिनेश्वरने
कहा है कर्मोंके पिंडका नाम कार्माण शरीर है इसीका अवलंबन लेकर आत्मा वहां उक्त दोनों कार्य करता है। तत्वार्थसार।

अनुश्रेणि गतिः ॥ २६ ॥

जीव और पुद्गलोंका गमन आकाशके प्रदेशोंकी श्रेणीके अनुकूल होता है श्रेणी (प्रदेशोंकी पंक्ति वा क्रम) को छोडकर विदिशारूप गमन नहीं होता । भावार्थ—मृत्यु होनेपर नवीन शरीर धारण करनेके लिये जो जीवोंका गमन होता है वह आकाशके प्रदेशोंकी श्रेणीमें ही होता है अन्य प्रकार नहीं । वार्तिककार श्रेणिशब्दका अर्थ बतलाते हैं—

आकाशप्रदेशपंक्तिः श्रेणिः ॥ १ ॥

लोकके मध्य भागसे लेकर ऊपर नीचे और तिरछे अनुक्रमसे रचनास्वरूप आकाशके प्रदेशोंकी जो पंक्ति है उसका नाम श्रेणी है ।

अनोरानुपूर्व्ये वृत्तिः ॥ २ ॥

अनुशब्दका अर्थ आनुपूर्व्य है । श्रेणीके आनुपूर्वी क्रमसे जो हो वह अनुश्रेणि कहा जाता है । अर्थात् जीव और पुद्गलोंका जो गमन होता है वह श्रेणिके आनुपूर्वी क्रमसे होता है प्रतिकूलरूपसे नहीं । शंका—

जीवाधिकारात्पुद्गलासंप्रत्यय इति चेन्न गतिग्रहणात् ॥ ३ ॥

यहांपर जीवोंका अधिकार चल रहा है इसलिये पुद्गलोंकी श्रेणिके आनुपूर्वी क्रमसे गति होती है यह कहना अयुक्त है ? सो ठीक नहीं । यहांपर गतिका भी प्रकरण चल रहा है । यदि जीवोंकी ही अनुश्रेणि गति इष्ट होती तो 'अनुश्रेणि गतिः' यहांपर गतिशब्दका उल्लेख करना व्यर्थ था क्योंकि

'विग्रहगतौ कर्म योगः, इससूत्रसे गतिकी अनुवृत्ति चली ही आती परंतु गति शब्दका ग्रहण किया गया है इसलिये जान पडता है जितने भी गतिमान पदार्थ हैं सबोंकी यहां अनुश्रेणि गति इष्ट है। समस्त द्रव्योंमें जीव और पुद्गल ये दो ही द्रव्य गतिमान हैं इसलिये जीवके समान पुद्गलकी भी श्रेणिके आनुपूर्वी क्रमसे गति बाधित नहीं। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

क्रियांतरे निवृत्त्यर्थं गतिग्रहणमिति चेन्नावस्थानाद्यसंभवात् ॥ ४ ॥

'अनुश्रेणि गतिः' यदि इस सूत्रमें गति शब्दका ग्रहण नहीं किया जाता तो सोना वैठना आदि अन्य क्रियाओंका भी ग्रहण होता इसलिये उन क्रियाओंकी निवृत्तिकेलिये सूत्रमें गति शब्दका उल्लेख किया गया है ? सो ठीक नहीं । जो जीव विग्रहगतिमें विद्यमान है उसके बैठना सोना उठना आदि क्रियायें असंभव हैं इसलिये बैठना सोना आदि क्रियाओंकी निवृत्तिकेलिए सूत्रमें गतिशब्दका उल्लेख मानना भ्रांति है किंतु श्रेणिके आनुपूर्वी क्रमसे जीवोंके समान पुद्गलोंकी भी गति होती है यही वहां गति शब्दके ग्रहणका तात्पर्य है । अथवा—

उत्तरसूत्रे जीवग्रहणाच्च ॥ ५ ॥

'अविग्रहा जीवस्य' इस आगेके सूत्रमें जीव शब्दका उल्लेख किया गया है यदि जीव और पुद्गल दोनोंकी श्रेणिके अनुकूल गति न मानी जाती तो यहां पर जीव शब्दका ग्रहण व्यर्थ था क्योंकि यहां जीवका ही अधिकार चल रहा है इसलिये अविग्रहरूप गति जीवकी ही समझी जाती । परंतु अनुवृत्तिकी योग्यता रहते भी जो जीव शब्दका ग्रहण किया गया है उससे जान पडता है कि श्रेणिके अनुकूल गति जीव और पुद्गल दोनोंकी है। इसरीतिसे जब जीव और पुद्गल दोनोंकी श्रेणिके अनु-

कूल गति सिद्ध है तब 'आविग्रहस्वरूप' गति जीवकी ही गानी जाय पुद्गलकी नहीं इस बातके द्योत-
नार्थ उत्तर सूत्रमें जीव शब्दका ग्रहण सार्थक है। शंका—

विश्रेणिगतिदर्शनान्नियमायुक्तिरिति चेन्न कालदेशनियमात् ॥ ६ ॥

सदा मेरुकी प्रदक्षिणा देनेवाले चंद्र[1] सूर्य आदि ज्योतिषी देव, मंडलिक (मंडलाकार घूमती हुई
वायु) और मेरु आदिकी प्रदक्षिणा करते समय विद्याधरोंकी गति श्रेणिके प्रतिकूल दीख पडती है
इसलिये जीव और पुद्गलोंकी श्रेणिके अनुकूल ही गति होती है यह नियम नहीं बन सकता ? सो
ठीक नहीं। सर्वथा जीव और पुद्गलोंकी श्रेणिके अनुकूल ही गति होती है यह वहां पर नियम नहीं
किंतु अमुक काल अमुक देशमें श्रेणिके अनुकूल गति होती है इसप्रकार काल और देशकी अपेक्षासे
नियम है और वह इसप्रकार है—

मरणके समय एक भवसे दूसरे भवमें जिससमय जीवोंका गमन होगा उससमय नियमसे उनकी
गति श्रेणिके अनुकूल ही होगी तथा जिससमय मुक्त जीवोंका ऊर्ध्वगमन होगा उससमय उनकी निय-
मसे श्रेणिके अनुकूल ही गति होगी इसप्रकार जीवोंकी अपेक्षा यह कालका नियम है तथा जिससमय
ऊर्ध्वलोकसे अधोलोक जाना होगा, अधोलोकसे ऊर्ध्वलोक, तिर्यक्‌लोकसे अधोलोक वा ऊर्ध्वलोक
जाना होगा वहां पर नियमसे श्रेणिके अनुकूल ही गति होगी यह जीवोंकी अपेक्षा देशका नियम है।
यहां पर जिस काल वा जिस देशका उल्लेख किया गया है उस काल और उस देशमें तो श्रेणिके अनु-
कूल ही गतिका विधान है किंतु इनसे भिन्न काल और देशोंमें वह नियम नहीं।

१ 'चक्रादीनां' यह भी पाठ है वहा पर सुदर्शनचक्र आदि अर्थ समझ लेना चाहिये।

तथा पुद्गलोंकी भी लोकके अंततक जो गति है वह भी श्रेणिके अनुकूल ही है अर्थात्–जिस समय पुद्गलका शुद्ध परमाणु एक समयमें चौदह राजू गमन करता है वह श्रेणिरूप ही गमन करता है किंतु अन्य अवस्थामें उसकी गति भजनीय है अर्थात् वह श्रेणिके अनुकूल भी गमन कर सकता है प्रतिकूल भी, कोई नियम नहीं। श्रेणिके प्रतिकूल जो गति होगी वह भ्रमण रेचन आदि स्वरूप होगी इसलिए संसारमें भ्रमण रेचन आदि गतियोंकी सिद्धि भी निर्बाध है ॥ २६ ॥

जो प्राणोंसे जीवे उसका नाम जीव है इस व्युत्पत्तिकी अपेक्षा यद्यपि संसारी ही जीव हैं तथापि पूर्वभावप्रज्ञापननयकी अपेक्षा होनेवाले व्यवहारसे अथवा रूढि बलसे जिन्होंने समस्त कर्म बंधनोंको नष्ट कर दिया है ऐसे मुक्त भी जीव कहे जाते हैं ऐसा निर्धारण कर सूत्रकार मुक्तजीवोंके विषयमें विशेष निरूपण करते हैं–

अविग्रहा जीवस्य ॥ २७ ॥

मुक्तजीवकी गति मोडेरहित सीधी होती है अर्थात् मुक्तजीव एक समयमें सीधा सात राजू ऊंचा गमन करता हुआ सिद्धक्षेत्रमें चला जाता है इधर उधर नहीं मुडता है।

विग्रह व्याघात और कौटिल्य ये तीनों समानार्थ वाचक शब्द हैं। उसका अर्थ मोडा है। जिस गति में मोडे न खाने पडें वह अविग्रह गति कही जाती है। यह मोडारहित गति मुक्तजीवके होती है। मोडारहित गति मुक्तजीवोंकी होती है, यह कैसे जाना जाता है? इसका समाधान वार्तिककार देते हैं–

उत्तरत्र संसारिग्रहणादिह मुक्तगतिः ॥ १ ॥

आगेके 'विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः' इस सूत्रमें संसारी शब्दका पाठ है उसकी सामर्थ्यसे

यहां मुक्तजीवोंकी मोडारहित गति कही गई है। अन्यथा यहांपर संसारी जीवोंका प्रकरण चल रहा था इसलिए अनुवृत्तिके बलसे ही 'संसारी' सिद्ध था पुनः संसारीग्रहण व्यर्थ ही था। शंका—

दूसरी श्रेणिमें चला जाना विग्रह शब्दका अर्थ है और उसका अभाव श्रेणिके अनुकूल गमन करनेसे सिद्ध है। मुक्तजीव सीधा ऊपर जानेसे उसकी गति श्रेणिके अनुकूल ही है इसरीतिसे मुक्त जीवकी मोडारहित गति 'अनुश्रेणि गतिः' इसी सूत्रसे सिद्ध थी फिर 'अविग्रहा जीवस्य' इस सूत्रका निर्माण निष्प्रयोजन है? सो ठीक नहीं। जीव और पुद्गलोंकी कहींपर श्रेणिके प्रतिकूल भी गति होती है इस प्रयोजनको सूचित करनेकेलिए इस सूत्रका निर्माण किया गया है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि

वहांपर काल और देशके नियमका ग्रहण किया गया है और उस काल नियममें मुक्त जीवोंके ऊर्ध्व गमन करते समय श्रेणिके अनुकूल गति बतलाई गई है इसलिए मुक्तजीवोंकी मोडारहित गति 'अनुश्रेणि गतिः' इस सूत्रमें सिद्ध रहनेपर पुनः इस सूत्रका प्रतिपादन निरर्थक ही है? सो भी ठीक नहीं। काल और देशका नियम सूत्रमें तो कहा नहीं गया किंतु इसी सूत्रके द्वारा वहांपर उस नियमकी सिद्धि है इसलिए 'अनुश्रेणि गतिः इस सूत्रमें काल और देशकी नियमसिद्धिका साधक होनेसे 'अविग्रहा जीवस्य' यह सूत्र निष्प्रयोजन नहीं ॥ २७ ॥

शरीररहित मुक्त जीवोंकी लोकके अग्रभाग पर्यंत मोडारहित गति एकसमय मात्र कही गई है परंतु संसारी जीवोंकी गतिका कोई उल्लेख नहीं किया गया इसलिये वहांपर यह शंका होती है कि संसारी जीवोंकी गति मोडासहित है अथवा मुक्त जीवोंके समान मोडारहित है? इसका समाधान सूत्रकार करते हैं—

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥ २८ ॥

संसारी जीवकी गति चारसमयसे पहिले पहिले विग्रहवती-मोडेवाली है। सारार्थ-संसारी जीवकी एक समय वा दो तीन समय पर्यंत भी गति होती है। अर्थात् पहिले समयमें ही जब वह शरीर धारण कर लेता है उससमय उसे कोई मोडा नहीं लेना पडता किंतु दूसरे समयमें एक मोडा तीसरे समयमें दो मोडा और चौथे समयसे पहिले पहिले वह तीसरा मोडा लेकर कहीं न कहीं अवश्य नवीन शरीर धारण कर लेता है फिर वह शरीररहित नहीं रहता।

कालपरिच्छेदार्थं 'प्राक्चतुर्भ्यः' इतिवचनं ॥ १ ॥

समय शब्दका अर्थ आगे कहा जायगा। 'चार समयके पहिले पहिले मोडेवाली गति होती है' यह कालकी मर्यादा सूचित करनेके लिये सूत्रमें 'प्राक् चतुर्भ्यः' इस पदका उल्लेख है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि चारसमयसे ऊपर मोडावाली गति क्यों नहीं होती? वह ठीक नहीं क्योंकि चार समयसे ऊपर मोडे की योग्यता ही नहीं, और वह इसप्रकार है। जिसतक पहुंचनेमें सबसे अधिक मोडे लेने पडें उस क्षेत्रको निष्कुट क्षेत्र माना है उसका अर्थ तिर्यक् क्षेत्र वा लोकका[1] अग्रकोण है। इस निष्कुट क्षेत्रमें पहुंचनेके लिये आनुपूर्वी ऋजु श्रेणीका अभाव रहनेसे इषुगति नहीं होती इसलिये तीन मोडेवाली गतिके द्वारा निष्कुट क्षेत्रमें जाया जाता है। इसरीतिसे जो जीव निष्कुटक्षेत्रमें उत्पन्न होनेका इच्छुक है वह तीन मोडे लगाकर वहां उत्पन्न होता है। तीन मोडोंसे अधिक वह मोडे नहीं लगाता क्योंकि निष्कुट क्षेत्रमें उत्पन्न होनेके लिये सबसे अधिक तीन मोडे खाने पडते हैं उससे भिन्न

१ 'लोकाग्रकोणं निष्कुटक्षेत्रं।' सर्वार्थसिद्धि टिप्पणी पृष्ठ १०१

ऐसा कोई उपपाद क्षेत्र नहीं जिसमें जानेके लिये चार या पांच मोडोंके लेनेकी आवश्यकता पडे इसलिये चार आदि मोडोंका अभाव है तथा जब अधिकसे अधिक तीन ही मोडा लिये जा सकते हैं तब चार समयसे अधिक समयके मानने की भी कोई आवश्यकता नहीं। तीन मोडाओंके लिये चारसमयसे पहिले पहिलेहीका काल पर्याप्त है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

चौथे समयसे पहिले पहिलेका समय ही तीन मोडोंके लिये क्यों पर्याप्त माना गया अधिक काल क्यों नहीं लगता ? सो ठीक नहीं। जिसप्रकार साठी चावलोंके पकनेका काल परिमित है। उस परिमित कालसे कम वा अधिक कालमें उनका परिपाक नहीं माना गया उसीप्रकार विग्रहगतिमें अधिकसे अधिक तीन मोडोंके लिये जो समय निर्दिष्ट किया है वही समय पर्याप्त है उससे अधिक वा कम समय की वहां आवश्यकता नहीं।

चशब्दः समुच्चयार्थः ॥ २ ॥

सूत्रमें जो चशब्द है वह उपपादक्षेत्रमें जानेके लिये संसारी जीवोंकी सीधी भी गति होती है और मोडेवाली कुटिल भी गति होती है इसप्रकार दोनोंतरहकी गतिओंके समुच्चयके लिये है। शंका—

आङ्ग्रहणं लध्वर्थमिति चेन्नाभिविधिप्रसंगात् ॥ ३ ॥

आङ् उपसर्गका अर्थ भी मर्यादा है। इसलिये 'प्राक्चतुर्भ्यः' इसकी जगह 'आचतुर्भ्यः' यह कहना चाहिये। 'आचतुर्भ्यः' कहनेसे भी 'चारसमयसे पहिले पहिले' यही अर्थ होगा। तथा एक अक्षर का लाघव भी होगा जिसे सूत्रकारके मतमें एक महान फल माना गया है ? सो ठीक नहीं। आङ् उपसर्गके ईषत् क्रियायोग मर्यादा और अभिविधि ये चार अर्थ माने हैं। यदि आङ्का अभिविधि—

व्याप्ति, अर्थ मान लिया जायगा तो चार समयको व्यापकर विग्रहवाली गति होती है यह भी अर्थ होगा। यह अर्थ इष्ट है नहीं क्योंकि चार समयसे पहिले पहिले ही विग्रहगतिका समय माना है इसलिये 'आचतुर्भ्यः' न कहकर 'प्राक्चतुर्भ्यः' यही पाठ इष्टार्थसाधक है। पुनः शंका—

उभयसंभवे व्याख्यानान्मर्यादासंप्रत्यय इति चेन्न प्रतिपत्तेर्गौरवात् ॥ ४ ॥

यद्यपि मर्यादा और अभिविधि दोनों अर्थोंमें आङ् उपसर्ग है तथापि 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः' व्याख्यानसे विशेष प्रतिपत्ति होती है अर्थात् व्याख्यानके अनुकूल ही शब्दका अर्थ मान लिया जाता है, यह एक नियम है। यहांपर चार समयसे पहिले पहिले विग्रहवाली गति होती है यह मर्यादार्थक व्याख्यान चल रहा है इसलिये आङ्का यहांपर मर्यादारूप अर्थ ही गृहीत होनेपर 'आचतुर्भ्यः' यही कहना फलप्रद है। सो ठीक नहीं। 'आचतुर्भ्यः' ऐसा कहनेपर आङ्के मर्यादा और अभिविधि दोनों अर्थोंका उपस्थित होना फिर व्याख्यानबलसे उसका 'मर्यादा' अर्थ स्थिर रखना ऐसे कहनेसे उसके अर्थकी प्रतिपत्तिमें गौरव है इसलिये उच्चारण करते समय ही खुलासारूपसे अर्थप्रतिपत्ति होनेके लिये 'प्राक्चतुर्भ्यः' यही कहना उपयुक्त है।

विग्रहगतिमें सीधी गति, एक मोडावाली गति, दो मोडावाली गति, तीनमोडावाली गति इसप्रकार ये चार गतियां होती हैं। आगममें क्रमसे इन गतियोंकी इषुगति पाणिमुक्तागति लांगलिकागति और गोमूत्रिका गति इसप्रकार चार संज्ञा मानी हैं चारो गतिओंमें इषुगति मोडारहित है और शेष गतियां मोडारहित हैं। इषुगति आदिका स्पष्टार्थ इसप्रकार है—

जिसप्रकार अपने लक्ष्यस्थान तक बाणकी गति सीधी होती है उसीप्रकार संसारी और सिद्ध

जीवोंकी जो मोडारहित सीधी गति होती है उसे इषुगति कहते हैं। इस इषुगतिमें एकसमय लगता है। अर्थात् एकही समयमें शरीर छोडना और दूसरा शरीर ग्रहण करना ये सब कार्य हो जाते हैं। इसी लिए इषुगतिमें संसारी जीव अनाहारक नहीं हैं। जिसतरह हाथसे तिरछी ओर फेंके हुए पदार्थकी गति एक मोडा लेकर होती है उसीप्रकार संसारी जीवकी जो गति एक मोडा लेकर हो वह पाणिमुक्तागति कहलाती है और इस गतिमें दो समय लगते हैं। जिसतरह लांगल-हलमें दो जगह मोड रहती है उसी तरह जिस गतिमें दो मोडे लेने पडें उसे लांगलिकागति कहते हैं और उसके होनेमें तीन समय लगते हैं। तथा जिसप्रकार गौके मूत्रमें बहुत मोडे रहते हैं उसीप्रकार जिस गतिमें तीन मोडे लेने पडें वह गोमूत्रिकागति है और इसके होनेमें चार समय लगते हैं। चारों गतियोंमें पहिली इषुगति संसारी और मुक्त दोनो प्रकारके जीवोंके होती है परंतु शेष गतियां केवल संसारी जीवोंके ही होती हैं ॥ २८ ॥

जब मोडेवाली गतियोंकी व्यवस्था चार समय तक मानी है तब जो गति मोडारहित है वह कितने समयमें संपन्न होती है इस बातको सूत्रकार कहते हैं—

एकसमयाऽविग्रहा ॥ २९ ॥

मोडारहित गति एक समयमात्र ही होती है। इसीको ऋजुगति वा इषुगति कहते हैं।

१—अविग्रहैकसमया कथितेषुगतिर्जिनैः। अन्या द्विसमया प्रोक्ता पाणिमुक्तैकविग्रहा ॥ १०० ॥
द्विविग्रहां त्रिसमयां प्राहुर्लांगलिकां जनाः। गोमूत्रिका तु समयैश्चतुर्भिः स्यात्त्रिविग्रहा ॥ १०१

भगवान जिनेंद्रद्वारा कही गई मोडारहित इषुगति एकसमयमें होती है। एक मोडावाली पाणिमुक्तागति दोसमयमें, दो मोडेवाली लांगलिका तीन समयमें और तीन मोडावाली गोमूत्रिका गति चार समयमें होती है। तत्त्वार्थसार पृष्ठ ८५।

अधिकृतगतिसामानाधिकरण्यात्स्त्रीलिंगनिर्देशः ॥१॥

यहांपर ऊपरसे गति शब्दकी अनुवृत्ति आरही है। गति शब्द स्त्रीलिंग है इसलिए 'अविग्रहा' यह यहांपर विशेषणमें स्त्रीलिंगका निर्देश किया है। जिसमें एक समय लगे वह एकसमया कहलाती है। जिसमें एक भी विग्रह-मोडा न लगे वह अविग्रहा कही जाती है। गतिमान जीव और पुद्गलकी मोडारहित गति लोकके अग्र भाग पर्यंत भी एक ही समयमें निष्पन्न हो जाती है। नैयायिक वैशेषिक आदिकी ओरसे शंका—

आत्मनोऽक्रियावत्त्वासिद्धेरयुक्तमिति चेन्न क्रियापरिणामहेतुसद्भावाल्लोष्ठवत् ॥ २ ॥

आत्मा सर्वगत (सर्वत्र रहनेवाला विभु) और निष्क्रिय है। उसके कोई क्रिया हो ही नहीं सकती इसलिए उसके गतिरूप क्रियाकी कल्पना निरर्थक है? सो भी ठीक नहीं। जिसतरह लोष्ठ (ढेला) स्वयं क्रियारूप परिणमन करनेकी शक्तियुक्त है और बाह्य एवं अंतरंग दोनों प्रकारके कारणोंके मिल जानेपर वह एक देशसे दूसरे देशमें जाने स्वरूप गमनक्रिया करता देखा जाता है उसीप्रकार आत्मा भी क्रियापरिणामी है और कर्मके अनुसार वह जैसा शरीर धारण करता है उसीके अनुकूल क्रियाका करता अनुभवमें आता है तथा जिससमय शरीर आदि कर्मोंका संबंध छूट जाता है उससमय भी जिस प्रकार दीपककी शिखामें स्वाभाविक क्रिया होती रहती है उसीप्रकार आत्मामें भी प्रतिक्षण क्रिया होती रहती है इसरीतिसे जब क्रिया आत्माका स्वभाव है तब वह निष्क्रिय नहीं कहा जा सकता और उसमें गतिरूप क्रियाकी कल्पना निर्हेतुक नहीं मानी जा सकती।

सर्वगतत्वे तु संसाराभावः ॥ ३ ॥

जो पदार्थ सर्वगत होता है उसमें हलन चलन आदि क्रियाएं नहीं हो सकतीं। यदि आत्माको सर्वगत माना जायगा तो उसमें क्रिया तो कोई हो न सकेगी फिर एक गतिसे दूसरी गतिमें जानारूप जो संसार है उसका ही अभाव हो जायगा इसलिए आत्माको सर्वगत नहीं माना जा सकता ॥ २९ ॥

बंधसंतानकी अपेक्षा अनादि और कर्मोंके संचयकी अपेक्षा सादि ऐसे द्रव्य क्षेत्र काल भव और भाव रूप पांच प्रकारके परिवर्तनोंके रहनेपर तथा मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद आदि कर्मोंके उत्पादक कारणोंके उपस्थित रहने पर उपयोगस्वरूप यह आत्मा सदा निरवच्छिन्नरूपसे कर्मोंको ग्रहण करता रहता है यह सामान्यरूपसे आगमका सिद्धांत है। वहां पर यह शंका होती है कि क्या विग्रहगतिमें भी आत्मा आहारक अर्थात् तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता रहता है। इसलिये वहांपर नियमस्वरूप वचन सूत्रकार कहते हैं—

एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः ॥ ३० ॥

विग्रहगतिवाला जीव एकसमय दोसमय और तीनसमयतक अनाहारक है अर्थात् जघन्यसे जघन्य एकसमयतक जीव अनाहारक रहता है और अधिकसे अधिक तीनसमयतक, चौथेसमयमें नवीन शरीर धारणकर वह नियमसे आहारक बन जाता है फिर अनाहारक नहीं रहता।

समयसंप्रत्ययः प्रत्यासत्तेः ॥ १ ॥

'एकसमयाऽविग्रहा' इस पहिले सूत्रमें समयशब्दका उल्लेख किया गया है। प्रत्यासन्न होनेसे उसकी इस सूत्रमें अनुवृत्ति है इसलिये 'एकसमय दोसमय तीनसमय पर्यंत' यह यहां अर्थ है। शंका—

जिसका प्रधानरूपसे उल्लेख रहता है उसीकी अखंडरूपसे अनुवृत्ति होती है। 'एकसमयाऽविग्र

यहांपर 'एकसमय' इस समस्तपदका खंडरूप होनेसे समय शब्द गौण है इसलिये उसकी इस सूत्रमें अनुवृत्ति नहीं हो सकती ? सो ठीक नहीं। 'एकं द्वौ त्रीन्' ये तीनों संख्यावाचक शब्द यहांपर विशेषण हैं। इनके लिये कोई न कोई विशेष्य अवश्य होना चाहिये। वह विशेष्य यहां दूसरा कोई संभव हो नहीं सकता इस सामर्थ्यसे यहांपर समय शब्दका संबंध कर लिया गया है। इसलिये एकसमय दो समय तीनसमय पर्यंत विग्रहगतिमें जीव अनाहारक होते हैं यह अर्थ यहां निरापद् है।

वाशब्दोऽत्र विकल्पार्थो ज्ञेयः ॥ २ ॥

सूत्रमें जो वाशब्द है उसका अर्थ विकल्प है और विकल्प यथेष्ट अर्थका द्योतक है इसलिये एक समय दो समय वा तीन समय जहां जैसी योग्यता रहती है उसीके अनुसार वहां जीव अनाहारक रहता है यह यहां तात्पर्य है। शंका—

सप्तमीप्रसंग इति चेन्नात्यंतसंयोगस्य विवक्षितत्वात् ॥ ३ ॥

'एक दो तीन समय तक जीव अनाहारक रहता है' यहां पर आहार क्रियाका अधिकरण काल है। तथा जहां पर अधिकरण अर्थ होता है वहां पर सप्तमी विभक्ति होती है इसलिये 'एकं द्वौ त्रीन्' यहां पर 'एकस्मिन् द्वयोः त्रिषु' यह सप्तमी विभक्ति होनी चाहिये ? सो ठीक नहीं। यहां पर कालकृत अत्यंत संयोगकी विवक्षा है अर्थात् एक समय दो समय और तीन समयोंमें अखंडरूपसे अनाहारक रहता है किसी एक खंडमें नहीं यह यहां पर विवक्षा है तथा यह नियम है कि जहांपर कालकृत अत्यंत

१ सप्तम्यधिकरणे च। २।३।३६। अधिकरण अर्थमें सप्तमी विभक्ति होती है। आधारोऽधिकरणं। १-४-४५। अधिकरण का अर्थ आधार है। सिद्धांतकौमुदी पृष्ठ ६५।

संयोग रहता है वहां पर भले ही अधिकरण अर्थ विद्यमान हो तथापि वहां सप्तमी विभक्तिकी बाधक द्वितीया विभक्ति ही होती है । इसलिये एकं द्वौ त्रीन्वेत्यादि यहां पर द्वितीया विभक्तिका निर्देश ही निर्दोष है।

त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्गलग्रहणमाहारः ॥ ४ ॥

यहां पर तीन शरीरोंसे औदारिक वैक्रियिक और आहारक इन्हीं तीन शरीरोंका ग्रहण है तैजस और कार्माण शरीरोंका ग्रहण नहीं क्योंकि जबतक संसारका अंत नहीं होता तबतक अनादि कालसे सदा इनका प्रत्येक जीवके साथ संबंध[2] रहता है और हमेशा ये अपने योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करते रहते हैं इसलिये इन दोनों शरीरोंके योग्य जो पुद्गलोंका ग्रहण होता है उसकी आहारक संज्ञा नहीं किंतु औदारिक वैक्रियिक आहारक ये तीन शरीर तथा आहारादिकी अभिलाषाके कारणभूत आहार शरीर इंद्रिय निश्वासोच्छ्वास भाषा और मन ये छह पर्याप्तिके योग्य जो पुद्गलोंका ग्रहण है उसका नाम आहार है। इनमें—

विग्रह[3]गतावसंभवादाहारकशरीरानिवृत्तिः ॥ ५ ॥ शेषाहाराभावो व्याघातात् ॥ ६ ॥

१—कालाध्वनोरत्यंतसंयोगे । २—३—५ । काल और मार्गका जहांपर अत्यंत संयोग रहता है वहांपर द्वितीया विभक्ति होती है। कालकृत अत्यन्त संयोगका उदाहरण यथा—मासमधीते—अखंडरूपसे मासभर पढता है। यहां पर कालकृत अत्यन्त संयोगसे 'मासे' की जगह 'मासं' यह द्वितीया विभक्ति है। 'मासस्य द्विरधीते' मासमें दोवार पढता है यहां पर अत्यन्त संयोगके अभावसे द्वितीया विभक्ति नहीं। २—अनादिसम्बन्धे च । ४१ । सर्वस्य । ४२ । तत्त्वार्थ सूत्र अ० २ । ३—शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव । ४९ । तत्त्वार्थसूत्र अ० २ ।

आहारक शरीर ऋद्धिधारी प्रमत्त गुणस्थानवर्ती ऋषियोंके ही होता है अन्य किसीके नहीं होता इसलिये असंभव होनेके कारण विग्रहगतिमें उसका अभाव होनेसे उसके योग्य पुद्गलोंका ग्रहणरूप आहार नहीं हो सकता। तथा—

औदारिक वैक्रियिक और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलोंका ग्रहणरूप जो आहार है वह कुटिल-गति—मोडेवाली गतिसे आहत—रुक जानेके कारण बाधित हो जाता है इसरीतिसे उसका विग्रहगतिमें अभाव है। इसलिये औदारिक वैक्रियिक और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलोंका ग्रहणरूप भी आहार विग्रहगतिमें नहीं हो सकता। खुलासा तात्पर्य इसप्रकार है—

जिसतरह वर्षाकालमें उदय होनेवाले मेघसे निकले हुए जलमें पडा हुआ गरम लोहेका बाण उस जलके ग्रहण करनेमें समर्थ होनेके कारण उस जलको खींचता है उसीप्रकार यद्यपि आठ प्रकारके कर्म-पुद्गलोंके सूक्ष्मपरिणामसे परिणत और वृद्धिको प्राप्त जो मूर्त्तिमान कार्माण शरीर उसके निमित्तसे पूर्वशरीरकी निवृत्तिरूप मारणांतिक समुद्घातवाला और दुःखसे तप्तायमान यह जीव जिससमयमें नवीन शरीरको धारण करनेकेलिए गमन कर रहा है उससमय आहारक है तथापि कुटिल गति करते समय यह एक दो और तीन समय तक अनाहारक रहता है इसरीतिसे कुटिलगतिके कारण उपर्युक्त आहारकी योग्यता न रहनेके कारण विग्रहगतिमें एकसमय दोसमय वा तीनसमय तक जीवका अना-हारक रहना युक्तियुक्त है। वहांपर—

जिससमय इसकी एकसमयवाली इषुगति होती है उससमय यह उपर्युक्त आहारका अनुभव करता हुआ ही जाता है इसलिए एकसमयवाली इषुगतिमें यह आहारक है। जिससमय इसकी एकमोडेवाली

और दो समयोंमें होनेवाली इसकी पाणिमुक्तागति होती है उससमय उसके पहिले समय मोडाके कारण यह जीव अनाहारक रहता है और दूसरे समयमें उपयुक्त आहारको ग्रहण करलेनेके कारण आहारक हो जाता है। जिससमय इसकी दोमोडेवाली और तीन समयोंमें समाप्त होनेवाली लांगलिका नामकी गति होती है उससमय दोमोडे लगानेके कारण पहिले और दूसरे समयमें तो यह अनाहारक रहता है और तीसरे समयमें उपयुक्त आहार ग्रहण करनेके कारण आहारक कहा जाता है तथा जिस समय इसकी तीन मोडेवाली चार समयोंमें समाप्त होनेवाली गोमूत्रिकागति होती है उससमय तीनमोडे लगानेके कारण एक दो और तीन समयतक तो यह जीव अनाहारक रहता है और चौथे समयमें उपर्युक्त आहार ग्रहण करनेके कारण आहारक कहा जाता है। इसप्रकार कमसेकम एकसमय और अधिकसे अधिक तीन समयतक यह जीव अनाहारक रहता है पश्चात् नियमसे आहारक हो जाता है यह वात खुलासारूपसे विस्तृत हो चुकी ॥ ३० ॥

जिसकी समस्त क्रियां शुभ अशुभरूप फलको देनेवाले कार्माण शरीरसे उपकृत हैं, पूर्वोपार्जित कर्मोंके फलोंको भोगनेके लिये जिसका गमन श्रेणिके अनुकूल है, नानाप्रकारके कर्मोंसे जो व्याप्त है एवं मोडेवाली और मोडारहित इसप्रकार दो गतियोंके आधीन जिसका दूसरे देशमें जाना निश्चित है ऐसे जीवके नवीन दूसरे शरीरकी रचनास्वरूप जन्मके भेद सूत्रकार वतलाते हैं —

संमूर्छनगर्भोपपादा जन्म ॥ ३१ ॥

नवीन शरीरका धारण करना जन्म है और वह संमूर्छन, गर्भ और उपपादके भेदसे तीन प्रकार है अर्थात् संमूर्छनजन्म गर्भजन्म और उपपादजन्म ये तीन जन्मके भेद हैं।

समंततो मूर्छनं संमूर्छनं ॥ १ ॥

मूर्छनका अर्थ अवयवोंका बन जाना है। तीनों लोकोंमें योग्य द्रव्य क्षेत्र काल और भावरूप सामग्रीके निमित्तसे जो ऊपर नीचे और तिरछे चारों ओरसे शरीरके अवयवोंका बन जाना है उसे संमूर्छन कहते हैं।

शुक्रशोणितगरणाद् गर्भः ॥ २ ॥ मात्रोपभुक्ताहारात्मसात्करणाद्वा ॥ ३ ॥

जहांपर पिताके शुक्र और माताके रजका मिलना हो उसका नाम गर्भ है अथवा माताके द्वारा खाए गए आहारको जहांपर आत्मसात् किया जाय अर्थात् माताके आहारको अपना आहार बनाया जाय अथवा उस आहारका जहांपर मिश्रण हो उसे गर्भ कहते हैं।

उपेत्य पद्यतेऽस्मिन्नित्युपपादः ॥ ५ ॥

जिसमें आकार उत्पन्न हों वह उपपाद कहा जाता है। उपपूर्वक पद गतौ धातुसे 'हलः। २।३।११८[1] इस सूत्रसे अधिकरण अर्थमें घञ् प्रत्यय करनेपर उपपाद शब्दकी सिद्धि हुई है। जिस स्थानपर देव और नारकी उत्पन्न होते हैं उस स्थानकी यह विशेष संज्ञा है। इस रीतिसे संमूर्छन गर्भ और उपपाद ये तीन प्रकारके जन्म संसारी जीवोंके हैं।

संमूर्छनग्रहणमादावतिस्थूलत्वात् ॥ ५ ॥

सब शरीरोंकी अपेक्षा संमूर्छनज शरीर अत्यन्त स्थूल है इसलिये सबसे पहिले सूत्रमें संमूर्छन

१। हलः २-३-११८। हलंताद्धोः करणाधिकरणयोः पुंखौ घञ् स्यात्। जैनेन्द्र-व्याकरण। इसकी जगहपर हलश्च ३-३-१२१। हलन्ताद् घञ् स्यात्। यह सूत्र पाणिनीय व्याकरणमें है।

शब्दका उल्लेख किया है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—वैक्रियिक शरीरकी अपेक्षा गर्भज शरीर भी अत्यन्त स्थूल है इसलिये संमूर्छन और गर्भ दोनों शब्दोंमें किसका पूर्वनिपात न्याय प्राप्त होगा। इसका समाधान वार्तिककार देते हैं—

अल्पकालजीवित्वात्संमूर्छनं ॥ ६ ॥ तत्कार्यकारणप्रत्यक्षत्वात् ॥ ७ ॥

गर्भज और औपपादिक जीवोंकी अपेक्षा संमूर्छनज जीव थोडे काल जीनेवाले हैं इस अपेक्षासे संमूर्छन शब्दका पूर्वनिपात किया गया है और भी यह बात है कि—

गर्भ और उपपाद जन्मोंका कार्य कारण भाव प्रत्यक्ष नहीं है किंतु अनुमानगम्य है परन्तु संमूर्छन जन्मका कारण मांस आदि और कार्य संमूर्छनज शरीर इस जन्ममें और परजन्ममें दोनों जगह प्रत्यक्ष है इस अपेक्षा भी गर्भ और उपपादसे संमूर्छनका उल्लेख पहिले किया गया है।

तदनंतरं गर्भग्रहणं कालप्रकर्षनिष्पत्तेः ॥ ८ ॥

संमूर्छन जन्मकी अपेक्षा गर्भजन्मकी उत्पत्तिमें अधिक कालकी आवश्यकता पडती है इसलिये संमूर्छन जन्मके अनंतर न्यायप्राप्त गर्भजन्मका उल्लेख किया गया है।

उपपादग्रहणमंते दीर्घजीवित्वात् ॥ ९ ॥

संमूर्छनज और गर्भज जीवोंकी अपेक्षा औपपादिक जीवोंका जीवन दीर्घकालीन है इसलिए सबके अंतमें उपपाद जन्मका उल्लेख किया गया है। जन्मोंका भेद कैसे हो जाता है? वार्तिककार इस विषयको स्पष्ट करते हैं—

अध्यवसायविशेषात्कर्मभेदे तत्कृतो जन्मविकल्पः ॥ १० ॥

अध्यवसायका अर्थ परिणाम है और उसके असंख्येयलोकमात्र भेद हैं। परिणामोंके कार्य कर्म-बंधके भेद हैं और कर्मबंधोंके फल जन्मभेद हैं क्योंकि कारणके अनुकूल ही लोकमें कार्य दीख पडता है। शुभ अशुभ जिसप्रकारका कर्म होता है उसीके अनुकूल जन्मोंकी उत्पत्ति होती है। शंका—

प्रकारभेदाज्जन्मभेद इति चेन्न तद्विषयसामान्योपादानात् ॥ ११ ॥

सूत्रमें जन्म पदार्थ विशेष्य और संमूर्छन आदि उसके विशेषण हैं इसलिए उन दोनोंका आपसमें सामानाधिकरण्य संबंध है। यह नियम है। जहांपर सामानाधिकरण्य रहता है वहांपर समानवचन होता है जिसतरह 'जीवादयः पदार्थाः' यहांपर परस्परमें विशेषण विशेष्यभाव एवं सामानाधिकरण्य संबंध है इसलिए दोनों जगह समान वचन है। 'संमूर्छनगर्भोपपादाः' यहांपर भी संमूर्छन आदिके अनेक होनेसे बहुवचन है इसलिए 'जन्म' यहांपर भी बहुवचन होना चाहिए? सो ठीक नहीं। जिसप्रकार 'जीवादयस्तत्त्वं' यहांपर जीव आदिका विषयभूत सामान्य, तत्त्व शब्दसे कहा गया है इसलिए 'तत्त्वं' यहांपर एकवचन है उसीप्रकार संमूर्छन आदिका विषयभूत सामान्यका भी यहां जन्म शब्दसे कथन है इसलिए 'जन्म' यह एकवचनांत प्रयोगका ही उल्लेख है इसरीतिसे सामान्यकी अपेक्षा कथन होनेसे यहां उक्त दोष लागू नहीं हो सकता ॥ ३१ ॥

जिसका ऊपरसे अधिकार चला आरहा है और जो संसारी जीवोंकी विषयोपभोगरूप उपलब्धिके अधिष्ठान-शरीरका कारण है उस जन्मके योनिभेदोंका सूत्रकार वर्णन करते हैं—अर्थात् संसारी जीवोंको विषयभोगोंकी प्राप्तिके आधारभूत शरीरकी उत्पत्तिमें जो कारण है उस जन्मके योनिभेदोंका वर्णन करते हैं—

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥ ३२ ॥

सचित्त शीत संवृत, इनसे उलटी अचित्त अशीत (उष्ण) विवृत, मिली हुई सचित्ताचित्त शीतोष्ण संवृतविवृत इसप्रकार क्रमसे ये संमूर्छन आदि जन्मोंकी नव योनियां वा उत्पत्तिस्थान हैं।

आत्मनः परिणामविशेषश्चित्तं ॥ १ ॥

चैतन्यस्वरूप आत्माके परिणामविशेषका नाम चित्त है। जिस योनिमें वह चित्त हो वह सचित्त-योनि है।

शीत इति स्पर्शविशेषः ॥ २ ॥

शीत स्पर्शोंका अन्यतम भेद है। तथा शुक्ल आदि शब्द जिसप्रकार गुणके भी वाचक हैं और गुणवान पदार्थके भी वाचक हैं उसीप्रकार शीत शब्द भी शीतगुण और शीतगुणविशिष्ट पदार्थ दोनोंका वाचक है इसलिए यहांपर शीतगुणविशिष्ट पदार्थ भी शीत शब्दका अर्थ है।

संवृतो दुरुपलक्ष्यः ॥ ३ ॥

जिसका देखना बडी कठिनतासे हो ऐसे ढके हुए प्रदेशका नाम संवृत है। 'सम्यग्वृतः संवृतः'-जो भलेप्रकार ढका हुआ हो वह संवृत है यह संवृतशब्दका विग्रह है।

सेतराः सप्रतिपक्षाः ॥ ४ ॥

जो अपने विरोधियोंसे विशिष्ट हों वे सेतर कहे जाते हैं। सचित्त शीत संवृत इन तीनोंके विरोधी अचित्त उष्ण और विवृत हैं।

मिश्रग्रहणमुभयात्मकसंग्रहार्थं ॥ ५ ॥

सूत्रमें जो मिश्र ग्रहण है वह सचित्ताचित्त शीतोष्ण और संवृतविवृत इन उभयस्वरूप युगलोंके ग्रहण करनेकेलिये है।

चशब्दः प्रत्येकसमुच्चयार्थः ॥ ६ ॥ न चांतरेणापि तत्प्रतीतेः ॥ ७ ॥

'मिश्राश्च' यहांपर जो चशब्द है वह सचित्त आदि प्रत्येकके समुच्चयके लिये है अत एव 'सचित्त शीत संवृत और अचित्त उष्ण विवृत और मिश्र ये प्रत्येक योनि हैं' यह अर्थ होता है यदि चशब्दका उल्लेख नहीं किया जाता तो मिश्र, सचित्त आदिका ही विशेषण होता और उससे जिस समय सचित्त शीत संवृत और अचित्त उष्ण विवृत आपसमें मिल जाते हैं उसीसमय योनियां कहे जाते हैं यह विरुद्ध अर्थ हो जाता परंतु चशब्दके करनेपर सचित्त आदि प्रत्येक भी योनि हैं और आपसमें मिले हुये भी हैं यह स्पष्ट आगमानुकूल अर्थ उपलब्ध होता है इसलिये चशब्दका उल्लेख वहां सार्थक है। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—

'पृथिव्यप्तेजोवायुः' यहांपर च शब्दके न रहनेपर भी जिसप्रकार पृथिवी अप् तेज और वायु इस-प्रकार समुच्चयरूप अर्थ होता है उसीप्रकार सचित्त आदिमें भी समुच्चयरूप अर्थ बिना चशब्दके हो सकता है फिर चग्रहण करना निरर्थक है ? सो ठीक नहीं। यदि चशब्दका उल्लेख न किया जायगा तो मिश्र, सचित्त आदिका विशेषण होगा तब जिससमय सचित्त आदि आपसमें मिलेंगे उससमय योनि कहे जायगे किंतु भिन्न भिन्न नहीं कहे जायगे यह विपरीत अर्थ ही सूत्रका मानना पडेगा इसलिये चशब्दका ग्रहण निरर्थक नहीं। यदि फिर भी यह कहा जाय कि चशब्द न भी कहा जाय तथापि उसका विशेषण स्वरूप अर्थ न लेकर समुच्चय अर्थ ही लिया जायगा इसलिये विशेष प्रयोजन न होनेसे चशब्दका उल्लेख करना व्यर्थ ही है ? इसका समाधान सूत्रकार करते हैं—

इतरयोनिभेदसमुच्चयार्थस्तु ॥ ८ ॥

सूत्रमें जो योनिके भेद बतलाये हैं उनसे भिन्न भी बहुतसे भेद हैं उनके समुच्चयके लिये सूत्रमें च-शब्दका उल्लेख है। सचित्त आदि योनिभेदोंसे अतिरिक्त भेद कौन हैं वे आगे कहे जांयगे।

एकशो ग्रहणं क्रमामिश्रप्रतिपत्त्यर्थं ॥ ९ ॥

सचित्ताचित्त शीतोष्ण संवृतविवृत इसप्रकार क्रमिक मिश्ररूप अर्थ जाननेके लिये सूत्रमें 'एकशः' पदका उल्लेख किया गया है। 'एकशः' यह न कहा जाता तो सचित्तशीत संवृतअचित्त इत्यादि विपरीतरूप मिश्र अर्थका भी बोध होता। 'एकैक इति एकशः' यहांपर एकशब्दसे वीप्सा अर्थमें शस् प्रत्यय करनेपर एकशः शब्दकी सिद्धि है।

तद्ग्रहणं क्रियते प्रकृतापेक्षार्थं ॥ १० ॥

ऊपर कहे गये संमूर्छन आदिकी ये योनियां हैं यह अर्थ प्रकट करनेकेलिए सूत्रमें तत् शब्दका प्रतिपादन है। 'तेषां योनयस्तद्योनयः' यह तद्योनि शब्दका विग्रह है।

यूयत इति योनिः ॥ ११ ॥ सचित्तादिद्वंद्वे पुंवद्भावाभावो भिन्नार्थत्वात् ॥ १२ ॥

न वा योनिशब्दस्योभयलिंगत्वात् ॥ १३ ॥

जिसमें जीव जाकर उत्पन्न हो उसका नाम योनि है। यह योनि शब्द स्त्रीलिंग है इसलिये उसके विशेषणस्वरूप सचित्त आदि शब्द भी स्त्रीलिंग हैं इसरीतिसे सचित्ताश्च शीताश्च संवृताश्च सचित्तशीत-संवृताः यहां पर पुंवद्भाव नहीं होना चाहिये अर्थात् उसकी जगह 'सचित्ताशीतासंवृताः' ऐसा प्रयोग होना चाहिये क्योंकि जहांपर समानलिंगक (पुंल्लिग ही) आश्रय रहता है वहींपर पुंवद्भाव होता है

किंतु जहां पर विभिन्नलिंगक आश्रय होता है वहां पर पुंवद्भाव नहीं होता । योनि शब्द स्त्रीलिंगक होनेसे यहां पर योनिरूप आश्रय विभिन्नलिंगक अतएव विभिन्नार्थक है समानलिंगक किंवा समानार्थक आश्रय नहीं इसलिये उपर्युक्त पुंवद्भाव बाधित है ? सो ठीक नहीं । योनि शब्द पुल्लिंग स्त्रीलिंग दोनों लिंग है। यहां पर वह पुल्लिंग ही है इसलिये समानलिंगक आश्रय हो जानेसे यहां पुंवद्भावका प्रतिषेध नहीं हो सकता। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—

योनिजन्मनोरविशेष इति चेन्नाधाराधेयभेदाद्विशेषोपपत्तेः ॥ १४ ॥

जिससमय आत्मा देवरूप जन्मपर्याय वा नारकी रूप जन्मपर्यायसे परिणत होता है उससमय वही औपपादिक कहलाता है और वही योनि कही जाती है इसलिये योनि और जन्म दोनो एक हैं, भिन्न भिन्न नहीं ? सो ठीक नहीं। सचित्त आदि योनियोंका है आधार जिसको ऐसा आत्मा संमूर्छन आदि जन्मके कारण शरीर आहार और इंद्रियादिके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है इसलिये योनि आधार और जन्म आधेय है इसरीतिसे आधार और आधेयका भेद रहनेसे योनि और जन्म एक नहीं कहे जा सकते।

सचित्तग्रहणमादौ चेतनात्मकत्वात् ॥ १५ ॥

सचित्तका अर्थ चेतनात्मक पदार्थ है । चेतनात्मक पदार्थ समस्त लोकमें प्रधान माना जाता है इसलिये सूत्रमें सबसे पहिले सचित्त पदका उल्लेख किया गया है ।

तदनंतरं शीताभिधानं तदाप्यायनहेतुत्वात् ॥ १६ ॥

सचेतन पदार्थोंकी वृद्धि वा उत्पत्तिमें प्रधान कारण शीत पदार्थ है अर्थात् जहां पर विशेष ठंडी

रहती है वहांपर अगणित जीवोंकी उत्पत्ति और वृद्धि होती है इसलिए जीवोंकी उत्पत्तिमें प्रधान कारण होनेसे सचित्तके बाद शीत पदका उल्लेख किया गया है।

अंत संवृतग्रहणं गुप्तरूपत्वात् ॥ १७ ॥

जो पदार्थ गुप्त रहता है वह स्पष्टरूपसे नहीं दीखता किंतु क्रियासे ग्राह्य रहता है संवृत भी गुप्त-रूप प्रदेशका नाम है इसलिए वह भी क्रियाग्राह्य है अर्थात् कार्यसे ग्राह्य होता है स्पष्टरूपसे नहीं देखा जा सकता इसरीतिसे गुप्तरूप रहनेके कारण संवृत शब्दका अंतमें उल्लेख किया गया है। शंका—

एक एव योनिरिति चेन्न प्रत्यात्मं सुखदुःखानुभवनहेतुसद्भावात्॥ १८ ॥

समस्त संसारी जीवोंकी एकही योनि मान लेनी चाहिए भिन्न भिन्न योनियोंके माननेकी क्या आवश्यकता है? सो ठीक नहीं। प्रत्येक आत्मामें शुभ अशुभ परिणाम भिन्न भिन्न हैं। शुभ अशुभ परि-णामोंसे जायमान कर्मबंध भी भिन्न भिन्न है उस कर्मबंधके द्वारा प्रत्येक आत्माको सुख दुःखका भिन्न भिन्नरूपसे अनुभव होता है इसलिए भिन्न भिन्नरूपसे सुख दुःखके अनुभवकी अपेक्षा योनियोंके भी बहुतसे भेद माने गये हैं।

तत्राचित्तयोनिका देवनारकाः ॥ १९ ॥

देव और नारकियोंके उपपादस्थानके पुद्गलप्रचय अचित्त हैं इसलिए देव और नारकी अचित्त योनिवाले हैं।

गर्भजा मिश्रयोनयः ॥ २० ॥

जो जीव गर्भसे जायमान—गर्भज हैं वे सचित्ताचित्तस्वरूप मिश्रयोनिके धारक हैं क्योंकि उनकी

उत्पत्तिके स्थानस्वरूप माताके उदरमें जो वीर्य और रज अचित्त पदार्थ हैं उनका संबंध सचेतन आत्माके साथ है।

शेषास्त्रिविकल्पाः ॥ २१ ॥

औपपादिक और गर्भजोंसे शेष जो संमूर्छनज जीव हैं उनमें कोई सचित्त योनिवाले हैं कोई अचित्त योनिवाले हैं और कोई सचित्ताचित्तस्वरूप मिश्रयोनिवाले हैं इस प्रकार उनमें तीनों भेद हैं। उनमें साधारण शरीर एक दूसरेके आश्रयसे रहते हैं इसलिये वे सचित्तयोनिवाले हैं बाकीके कोई जीव अचित्त योनिवाले तो कोई मिश्रयोनिवाले हैं।

शीतोष्णयोनयो देवनारकाः ॥ २२ ॥

देव और नारकियोंमें बहुतोंके उपपाद स्थान उष्ण होते हैं और बहुतोंके शीत रहते हैं इसलिये वे शीत योनिवाले भी होते हैं और उष्ण योनिवाले भी होते हैं।

उष्णयोनिस्तेजस्कायिकः ॥ २३ ॥

जो जीव अग्निकायिक हैं उनकी उत्पत्तिका स्थान नियमसे उष्ण ही रहता है इसलिये वे नियम से उष्ण योनिवाले ही हैं।

इतरे त्रिप्रकाराः ॥ २४ ॥

देव नारकी और अग्निकायिक जीवोंसे भिन्न जो जीव हैं उनमें बहुतसे शीत योनिवाले होते हैं बहुतसे उष्ण योनिवाले होते हैं और बहुतसे शीतोष्णस्वरूप मिश्रयोनिवाले होते हैं इस प्रकार उनमें शीत आदि तीनों प्रकारकी योनियोंका संभव है।

देवनारकैकेंद्रियाः संवृतयोनयः ॥ २५ ॥

देव नारकी और एकेंद्रिय जीव संवृतयोनिवाले हैं अर्थात् जिस स्थानपर इनकी उत्पत्ति होती है वह स्थान ढका हुआ रहता है उघडा हुआ नहीं।

विकलेंद्रिया जीवा विवृतयोनयो वेदितव्याः ॥ २६ ॥

जो जीव विकलेंद्रिय हैं अर्थात् दो इंद्रिय तेइंद्रिय और चौइंद्रिय हे वे विवृतयोनिवाले हैं—उनकी उत्पत्तिका स्थान उघडा—खुला रहता है।

मिश्रयोनयो गर्भजाः ॥ २७ ॥

जो जीव गर्भज हैं वे संवृत विवृतरूप मिश्रयोनिवाले होते हैं अर्थात् उनकी उत्पत्तिका स्थान कुछ ढका तो कुछ उघडा हुआ रहता है ।

तद्भेदाश्चशब्दसमुच्चिताः प्रत्यक्षज्ञानिदृष्टा इतरेषामागमगम्याश्चतुरशीतिशतसहस्रसंख्याः ॥ २८ ॥

जिनका आपसका भेद कर्मोंके भेदके आधीन है ऐसे उपर्युक्त योनियोंके चौरासी लाख भेद हैं। केवलज्ञानी अपने दिव्य नेत्रसे इन भेदोंको देखते हैं और अल्पज्ञानी मनुष्य आगमके द्वारा उन्हें जानते हैं। ये सभी भेद सचित्तशीतेत्यादि सूत्रमें आए हुए चशब्दसे ग्रहण किए जाते हैं। वे योनियोंके चौरासी लाख भेद इस प्रकार हैं—

नित्यनिगोत (द) और अनित्य निगोतोंमें प्रत्येकके सात सात लाख योनिभेद हैं। यहांपर जो जीव भूत भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालोंमें त्रस पर्यायके अयोग्य हैं—कभी भी त्रस नहीं हो सक्ते वे नित्यनिगोद जीव कहे जाते हैं और जिन्होंने त्रस पर्यायको प्राप्त कर लिया है अथवा आगे जाकर

प्राप्त करेंगे वे अनित्य निगोद जीव हैं। तथा पृथ्वी अप् तेज वायुमें भी प्रत्येकके सात सात लाख योनि भेद हैं वनस्पतिके दश लाख, दोइंद्रिय तेइंद्रिय और चौइंद्रियोंमेंसे प्रत्येकके दो दो लाख, इस प्रकार छह लाख, देव नारकी पंचेंद्रिय–तिर्यंचोंमेंसे प्रत्येकके चार चार लाख और मनुष्योंके चौदह लाख योनि-भेद हैं। इस प्रकार सब मिलकर ये चौरासी लाख भेद योनियोंके हैं। गोम्मटसारजीमें कहा भी है—

णिच्चिदरधादुसत्त य तरुदसवियलिंदिएसु छच्चेव।
सुराणिरयातिरियचउरो चोद्दसमणुए सदसहस्सा ॥ ८९ ॥
नित्येतरधातुसप्त च तरुदशविकलेंद्रियेषु षट् चैव।
सुरनिरयातिर्यक्चतस्रः चतुर्दश मनुष्ये शतसहस्राः ॥ ८९ ॥

नित्यनिगोद इतरनिगोद पृथिवी जल अग्नि वायु इन प्रत्येककी सात सात लाख, वनस्पतिकी दश लाख, द्वींद्रिय तेइंद्रिय चतुरिंद्रियमेंसे प्रत्येककी दो दो लाख इसप्रकार विकलेंद्रियोंकी मिलकर छह लाख, देव नारकी और पंचेंद्रिय तिर्यंच इनमें प्रत्येककी चार चार लाख, मनुष्यकी चौदहलाख सब मिलकर चौरासी लाख योनि होती हैं। (जीवकांड) ॥ ३२ ॥

विशेष–आकार योनि और गुण योनिके भेदसे योनि दो प्रकारकी है यहांपर ये गुणयोनिकी अपेक्षा भेद माने हैं आकार योनिके तीन भेद हैं–शंखावर्त, कूर्मोन्नत और वंशपत्र। शंखावर्तयोनिमें गर्भ नहीं ठहरता। कूर्मोन्नतयोनिमें तीर्थंकर चक्रवर्ती बलभद्र और उनके भाइयोंके सिवाय कोई उत्पन्न नहीं होता और वंशपत्रयोनिमें बाकीके गर्भ जन्मवाले सब जीव पैदा होते हैं।

उपर्युक्त नौ प्रकारके योनि भेदोंसे जटिल संमूर्छन गर्भ और उपपाद इन तीनों प्रकारके जन्मोंका

सामान्यरूपसे सबही प्राणियोंके होनेका प्रसंग आया इसलिये किन जीवोंके कौन कौन जन्म होते हैं ? सूत्रकार इसबातका खुलासा करते हैं—

जरायुजांडजपोतानां गर्भः ॥ ३३ ॥

जरायुज अंडज और पोत इन तीनप्रकारके जीवोंका गर्भजन्म होता है।

जालवत्प्राणिपरिवरणं जरायुः ॥ १ ॥

जालके समान चारो ओरसे जो जीवका ढकनेवाला हो और जिसके चारो ओर मांस और रक्त हो वह जरायु कहा जाता है।

शुक्रशोणितपरिवरणमुपात्तकाठिन्यं नखत्वक्सदृशं परिमंडलमंडं ॥ २ ॥

जौ नखकी छालके समान कठिन हो, वीर्य और रजसे आच्छादित हो और गोलाकार हो उसका नाम अंड है।

संपूर्णावयवः परिस्पंदादिसामर्थ्योपलक्षितः पोतः ॥ ३ ॥

बिना किसी आवरणके ही जिसके शरीरके अवयव पूर्ण हों और योनिसे निकलते ही जो हलन चलन करनेमें समर्थ हो उसका नाम पोत है। जो जीव जरायुमें उत्पन्न हों वे जरायुज और जो अंडेसे पैदा हों वे अंडज हैं अर्थात्–जो जीव जालके समान मांस और रुधिरसे व्याप्त एक प्रकारकी थैलीसे लिपटे हुए पैदा होते हैं उनको जरायुज कहते हैं। माताके रज और पिताके वीर्यसे बने हुए नखकी त्वचाके समान कठिन गोलाकार आवरणरूप अंडेसे जो उत्पन्न हों वे अंडज कहे जाते हैं और जिनके ऊपर जरा वा अंडा कुछ भी आवरण नहीं होता, माताके उदरसे निकलते ही जो चलने फिरने लगते

हैं वे पोत हैं । 'जरायुजाश्च अंडजाश्च पोताश्च जरायुजांडजपोताः, तेषां जरायुजांडजपोतानां' यह जरायुजांडजपोतका विग्रह है।

पोतजा इत्ययुक्तमर्थभेदाभावात् ॥ ४ ॥

कोई कोई लोग 'पोतजाः' ऐसा पाठ मानते हैं परन्तु वह अयुक्त है क्योंकि पोतके अन्दर कोई अन्य पदार्थ उत्पन्न होनेवाला हो यह बात नहीं किंतु ऊपर जो पोतका अर्थ लिखा गया है वही उन्हें पोतज शब्दका भी अर्थ इष्ट है इसलिये जब पोतज और पोत दोनों समानार्थक हैं तब पोत शब्दका पाठ ही लाभकारी और निर्दोष है। शंका—

आत्मा पोतज इति चेन्न तत्परिणामात् ॥ ५ ॥

जो पोतमें उत्पन्न हुआ हो वह पोतज है। पोतमें आत्मा उत्पन्न होता है इसलिये पोतजका अर्थ आत्मा हो जानेसे अर्थभेद हो गया सो ठीक नहीं। पोतरूप परिणामसे परिणत आत्मा ही पोत कहा जाता है आत्मासे भिन्न पोत कोई पदार्थ नहीं इसरीतिसे पोत और पोतज दोनोंका समान ही अर्थ है। यदि यहांपर यह कहा जाय कि जिसप्रकार जरायुमें उत्पन्न होनेके कारण आत्माको जरायुज कहा जाता है उसीप्रकार पोतमें उत्पन्न होनेके कारण पोतज कहना भी उचित है सो ठीक नहीं। क्योंकि जरायुके समान पोत कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। इसरीतिसे जब पोतज और पोत दोनों ही समानार्थक हैं तब सूत्रमें पोत शब्दका पाठ ही उपयुक्त है।

जरायुजग्रहणमादावभ्यर्हितत्वात् ॥ ६ ॥ क्रियारंभशक्तियोगात् ॥ ७ ॥

केषांचिन्महाप्रभावत्वात् ॥ ८ ॥ मार्गफलाभिसंबंधात् ॥ ९ ॥

अंडज आदि जीवोंकी अपेक्षा जरायुज जीव उत्कृष्ट हैं इसलिये सूत्रमें सबसे पहिले जरायुज शब्दका उल्लेख किया है। यहांपर यह शंका न करनी चाहिये कि अंडज आदिकी अपेक्षा जरायुज जीव क्यों उत्कृष्ट हैं? क्योंकि एक तो अंडज और पोत जीवोंकी अपेक्षा जरायुज जीवोंमें बोल चाल और अध्ययन आदि क्रियाओंकी विशेषता है अर्थात् जिसरीतिसे जरायुज बोल चाल वा अध्ययन अध्यापन आदि कार्य कर सकते हैं उसरीतिसे अंडज आदि जीव नहीं। दूसरे चक्रवर्ति वासुदेव कामदेव आदि प्रभावशाली पुरुष जरायुज जीवोंमें ही होते हैं अंडज आदिमें नहीं। तीसरे मोक्षके मार्गस्वरूप सम्यग्दर्शनादि और मोक्षसुखका संबंध जरायुज जीवोंके ही होता है, अंडज आदिके नहीं इसरीतिसे भाषा अध्ययन आदिकी विशेषतासे जरायुज जीव ही अंडज आदि जीवोंकी अपेक्षा उत्कृष्ट हैं इसलिये सूत्रमें जरायुज शब्दका ही सबसे पहिले उल्लेख किया गया है।

तदनंतरमंडजग्रहणं पोतेभ्योऽभ्यर्हितत्वात् ॥ १० ॥

पोत जीवोंकी अपेक्षा अंडज जीव उत्कृष्ट हैं क्योंकि अंडजोंमें जो शुक सारिका आदि पक्षी हैं उनमें पोत जीवोंकी अपेक्षा अक्षरोंकी उच्चारणक्रिया आदिकी विशेषता है—वे स्पष्टतया उच्चारण करनेमें कुशल होते हैं इसलिये सूत्रमें जरायुज शब्दके वाद अंडज शब्दका उल्लेख किया है। शंका—

उद्देशवन्निर्देश इति चेन्न गौरवप्रसंगात् ॥ ११ ॥

उद्देशके समान ही निर्देश होना चाहिये अर्थात् जिसका पहिले सामान्य कथन हो उसका व्याख्यान भी पहिले होना चाहिये 'संमूर्छनगर्भोपपादा जन्म' इससूत्रमें उद्देशस्वरूप संमूर्छन शब्दका सबसे पहिले उल्लेख किया गया है इसलिये यहां पर भी संमूर्छन जन्मवालोंका सबसे पहिले कथन करना चाहिये

सबसे पीछे क्यों किया गया ? सो ठीक नहीं । एकेंद्रिय दोइंद्रिय तेइंद्रिय चतुरिंद्रिय जीवोंका और पंचेंद्रियोंमें कोई कोई तिर्यंच वा मनुष्योंका संमूर्छन जन्म माना है । यदि इस संमूर्छन जन्मका सब जन्मोंकी अपेक्षा पाहिले वर्णन किया जायगा तो इस अर्थका द्योतक एक बडा सूत्र करनेसे शास्त्र गौरव होगा इसलिये गर्भज औरऔपपादिकोंका पाहिले कथन कर उनसे बाकी बचे जीवोंका संमूर्छन जन्म है इस लाघवपूर्वककथन करनेके लिये क्रम भंगकर सबसे पीछे संमूर्छन जन्मवाले जीवोंका उल्लेख किया गया है ।

सिद्धे विधिरवधारणार्थः ॥ १२ ॥

जो बात सिद्ध रहती है उसका फिरसे कथन करना किसी न किसी नियमका सूचक होता है । जरायुज अंडज आदिका सामान्यरूपसे गर्भजन्म सिद्ध ही था फिर जो 'जरायुजांडजपोतानां गर्भः' इस सूत्रसे उनका फिरसे गर्भ जन्मका विधान किया गया है वह जरायुज अंडज और पोत जीवोंका ही गर्भ जन्म होता है अन्य किसीका नहीं इस नियमका द्योतक है । यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—जरायुज आदिके ही गर्भजन्म होता है ऐसे नियमकी जगह उनके गर्भ ही जन्म होता है यह नियम क्यों नहीं किया जाता ? सो ठीक नहीं । यदि जरायुज अंडज और पोत जीवोंके गर्भ ही जन्म होता है यह नियम किया जायगा तो इनसे भिन्न बाकीके जीवोंके भी गर्भ जन्मका प्रसंग होगा परंतु वह

१—यदि हि जरायुजादीनां गर्भ एवेत्यवधारणं स्यात् तदा जरायुजादयो गर्भनियताः स्युः, गर्भस्तु तेष्वनियत इति देवनारकेषु शेषेषु स प्रसज्येत । यदा तु जरायुजादीनामेवेत्यवधारणं तदा तेषु गर्भाभावो विभाव्यत इति युक्तो जरायुजादीनामेव गर्भः । श्लोकवार्तिक पृष्ठ ३३६ ।

इष्ट नहीं क्योंकि शेष जीवोंके 'शेषाणां संमूर्छनं' इस आगेके सूत्रसे संमूर्छन जन्म ही माना है इसलिये जरायुज अंडज और पोत जीवोंके गर्भ ही जन्म होता है ऐसा नियम न मानकर 'उनके ही गर्भजन्म होता है' यही नियम मानना वास्तविक स्वरूपकी सिद्धिमें कारण है ॥ ३३ ॥

यदि जरायुज अंडज और पोत जीवोंके गर्भ जन्मका निश्चय है तब उपपाद जन्म किन जीवोंका होता है। इस शंकाका समाधान सूत्रकार करते हैं—

देवनारकाणामुपपादः ॥ ३४ ॥

भवनवासी आदि चारों प्रकारके देव और नारकियोंका उपपाद जन्म होता है।

देवादिगत्युदय एवास्य जन्मेति चेन्न शरीरनिर्वर्तकपुद्गलाभावात् ॥ १ ॥

मनुष्य हो वा तिर्यंच आयुके क्षीण हो जानेपर जिससमय वह कार्माण काययोगमें विद्यमान रहता है उससमय देव आदि गतियोंके उदयसे देव आदि संज्ञा हो जाती है इसरीतिसे उस कार्माणकाययोग रूप अवस्थाको जन्म मान लेना चाहिए, उपपाद जन्मको पृथक्‌रूपसे माननेकी कोई आवश्यकता नहीं। सो ठीक नहीं। जहांपर देव वा तिर्यंच आदिके शरीरकी रचना हो वहीं देव आदि जन्मका मानना इष्ट है। कार्माणकाययोग अवस्थामें जीव अनाहारक रहता है इसलिए उससमय देव आदिके शरीरकी रचना संभव नहीं इस अवस्थाको जन्म नहीं माना जा सकता किंतु उससे भिन्न उपपाद नामका जन्म है और वह देव एवं नारकियोंके ही होता है ॥ ३४ ॥

गर्भ और उपपाद जन्मवाले जरायुज आदि जीवोंसे भिन्न अवशिष्ट जीवोंके कौनसा जन्म होता है? इस बातका उल्लेख सूत्रकार करते हैं—

शेषाणां संमूर्च्छनं ॥ ३५ ॥

शेष अर्थात् गर्भ और उपपाद जन्मवाले जीवोंसे वाकी रहे हुए संसारी जीवोंका संमूर्छन जन्म है।

उभयत्र नियमः पूर्ववत् ॥ १ ॥

जरायुज अंडज और पोत जीवोंके ही गर्भजन्म होता है अन्यके नहीं जिसप्रकार यह ऊपर नियम कर आए हैं उसीप्रकार देव और नारकियोंके ही उपपाद जन्म होता है अन्यके नहीं। शेषोंका ही संमूर्छन जन्म होता है अन्यका नहीं यहां पर भी दोनों जगह यह नियम समझ लेना चाहिये। 'शेषाणां संमूर्छनं' इस सूत्रमें जो शेष शब्दका उल्लेख किया गया है उससे यहां पर जन्मोंका ही नियम है जन्मवान् जीवोंका नियम नहीं क्योंकि जरायुज अंडज और पोत जीवोंके ही गर्भ होता है, देव और नारकियोंके ही उपपाद जन्म होता है ऐसे नियमके रहनेपर गर्भ और उपपाद दोनों जन्मोंका तो नियम हो जाता है अर्थात्–इनके सिवाय अन्यके गर्भ और उपपाद नहीं होसकते परंतु 'जरायुज आदिके गर्भ ही वा उपपाद ही जन्म होता है संमूर्छन नहीं' यह नियम नहीं होता इसलिए शेष ग्रहण किया गया है। शेष ग्रहण करनेसे 'शेषोंके ही संमूर्छन जन्म होता है जरायुज आदिके नहीं' यह नियम होनेसे जरायुज वा देव आदिके उसकी योग्यता नहीं हो सकती। यदि जन्मवाले जीवोंका भी नियम माना जायगा तो जरायुज अंडज और पोतोंके गर्भ ही जन्म होता है देव और नारकियोंकें उत्पाद ही जन्म होता है' इस रीतिसे गर्भ और उपपादका तो नियम होगा नहीं किंतु जरायुज आदिका ही नियम होगा तब जहांपर संमूर्छन वा अन्य किसी जन्मका संभव होगा वहांपर नियमसे संमूर्छन ही जन्म होगा और कोई जन्म नहीं हो सकता फिर 'शेषाणां संमूर्छनं' इस सूत्रमें शेष शब्द व्यर्थ ही हो जायगा इसलिए यहांपर जरा-

युज आदिके ही गर्भ आदि होते हैं यह जन्मोंका ही नियम मानना चाहिए, जन्मवानोंका नहीं। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

जरायुज आदिके ही गर्भ आदि होते हैं वा जरायुज आदिके गर्भ आदि ही होते हैं इसप्रकार जन्म और जन्मी दोनोंके नियमोंको यहां हम स्वीकार करते हैं ऐसा करनेपर जरायुज आदिके गर्भ और उपपाद अव्यभिचरितरूपसे हो सकते हैं अर्थात् जरायुज आदिके ही गर्भ उपपाद होते हैं ऐसा जन्मोंका नियम माननेपर यद्यपि उनके संमूर्छन जन्मका भी संभव होता है परंतु उनके गर्भ उपपाद ही जन्म होते हैं यह जन्मवालोंका जब नियम माना जायगा तब उनके संमूर्छन जन्मका संभव नहीं हो सकता इसरीतिसे जरायुज आदिके निर्दोषरूपसे गर्भ और उपपाद निश्चित हैं और उनसे बचे जितने जीव हैं उनके बिना किसी प्रकारका उल्लेख करनेपर भी संमूर्छन जन्म अर्थतः सिद्ध है फिर 'शेषाणामेव संमूर्छनं' यह सामान्य कथन होनेसे उस कथनकेलिए 'शेषाणां संमूर्छनं' इस सूत्रका आरंभ व्यर्थ है? सो ठीक नहीं। उपर्युक्त जन्मोंके नियमकी जो कल्पना की गई है वह 'शेषाणां संमूर्छनं' इस सूत्रके शेष शब्दकी ध्वनिसे की गई है। वह ध्वनि एक ही प्रकारका नियम ध्वनित कर सकती है दोनों प्रकारके नियमोंके द्योतनमें उसकी सामर्थ्य नहीं इसलिए यहांपर दोनों नियमोंमें एकही कोई नियम अंगीकार करना होगा तथा शेष शब्दकी ध्वनिसे जब ऊपर नियमकी प्रकटता हुई है तब जन्मोंके नियममें ही शेष शब्दकी सामर्थ्य है जन्मवानोंके नियममें नहीं इसलिए जन्मोंके नियमके निर्धारण रहनेपर 'शेषाणां संमूर्छनं' इस सूत्रका आरंभ सार्थक है व्यर्थ नहीं॥ ३५॥

गर्भ आदि तीन प्रकारके जन्म और अनेक भेदोंसे युक्त नौ प्रकारकी योनियोंके धारक संसारी

जीवोंके शुभ अशुभ कर्मोंसे रचित और कर्मबंधके फलके अनुभवके स्थान शरीर कितने हैं ? सूत्रकार उन्हें गिनाते हैं—

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ॥ ३६ ॥

औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस और कार्मण ये पांच प्रकारके शरीर हैं।

शीर्यंत इति शरीराणि, घटाद्यतिप्रसंग इति चेन्न नामकर्मनिमित्तत्वाभावात् ॥ १ ॥

जो नष्ट होनेवाले हों वे शरीर हैं। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि जो नष्ट होनेवाले हों वे शरीर हैं, तो नष्ट होनेवाले तो घट पट आदि पदार्थ भी हैं इसलिये उन्हें भी शरीर मानना पडेगा। सो ठीक नहीं। जिसकी उत्पत्तिमें शरीर नाम कर्मका उदय कारण होगा वह शरीर कहा जा सकता है अन्य नहीं। औदारिक आदिकी उत्पत्तिमें शरीर नाम कर्मका उदय कारण है इसलिये वे ही शरीर कहे जा सकते हैं घट आदिकी उत्पत्तिमें शरीर नाम कर्मका उदय कारण नहीं इसलिये वे शरीर नहीं कहे जा सकते। इसप्रकार नामकर्मकी निमित्तताके विना घट आदिको शरीर कहना बाधित है। शंका—

विग्रहाभाव इति चेन्न रूढिशब्देष्वपि व्युत्पत्तौ क्रियाश्रयात् ॥ २ ॥

यदि शरीर नामकर्मके उदयसे शरीर संज्ञा मानी जायगी तो 'शीर्यंत इति शरीराणि' ऐसा विग्रह नहीं बन सकता ? सो ठीक नहीं। गो शब्द यद्यपि रूढ है तो भी ' गच्छतीति गौः ' जो चले उसका नाम गाय है इस व्युत्पत्तिके अनुसार वह गमन क्रियाका आधार माना जाता है उसीप्रकार यद्यपि शरीर भी रूढि शब्द है तथापि 'शीर्यंत इति शरीराणि' जो नष्ट हों वे शरीर हैं इस व्युत्पत्तिके अनुसार वह

भी नष्ट होनारूप क्रियाका आधार है इसलिये 'शीर्यंत इति शरीराणि' इस शरीर शब्दके विग्रहका अभाव नहीं कहा जा सकता। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

शरीरत्वादिति चेन्न तदभावात् ॥ ३ ॥

शरीरत्व धर्मको नैयायिक आदिने अवांतर जातिस्वरूप माना है इसलिये उस शरीरत्वका जहां सम्बन्ध हो उसे ही शरीर मानना चाहिये नामकर्मके निमित्तसे उसकी उत्पत्ति मानना अयुक्त है ? सो ठीक नहीं। वास्तवमें तो शरीरत्व जाति कोई पदार्थ नहीं। यदि वह पदार्थ हो भी तो नैयायिकोंने उसे पदार्थका स्वभाव न मानकर उससे भिन्न माना है इसलिये जिसप्रकार उष्णत्व जातिको अग्निका स्वभाव न मानकर उससे भिन्न माननेपर अग्नि पदार्थका निश्चय नहीं हो सकता उसीप्रकार शरीरत्वको भी यदि शरीरसे भिन्न माना जायगा तो उसके अस्तित्वका भी निश्चय नहीं हो सक्ता। पदार्थसे सर्वथा भिन्न जातिके सम्बन्धकी कल्पनाका पहिले अच्छीतरह खण्डन कर दिया गया है इस रीतिसे शरीरत्वके सम्बन्धसे शरीर पदार्थका मानना बाधित है किन्तु नामकर्मका उदय ही उसकी उत्पत्तिमें कारण है।

उदारात्स्थूलवाचिनो भवे प्रयोजने वा ठञ् ॥ ४ ॥

उदारका अर्थ स्थूल है उससे 'भव' अर्थमें वा प्रयोजन अर्थमें ठञ् प्रत्यय करनेपर औदारिक शब्द की सिद्धि हुई है। 'उदारे भवं वा उदारं प्रयोजनं यस्य तत् औदारिकं' यह उसकी व्युत्पत्ति है। अर्थात् इंद्रियोंसे देखने योग्य स्थूल शरीरको औदारिक शरीर कहते हैं।

विक्रियाप्रयोजनं वैक्रियिकं ॥ ५ ॥

अणिमा महिमा आदि आठ प्रकारकी ऋद्धियोंके द्वारा एक अनेक छोटा बडा आदि अनेक

प्रकारसे शरीरका हो जाना विक्रिया है। जिसका प्रयोजन विक्रिया हो वह वैक्रियिक शरीर है। अर्थात् जिसमें अनेक प्रकारके स्थूल सूक्ष्म हलका भारी इत्यादि विकार होनेकी योग्यता हो उसका नाम वैक्रियिक शरीर है।

आहियते तदित्याहारकं ॥ ६ ॥

सूक्ष्म पदार्थके निर्णयकेलिए वा असंयम दूर करनेकेलिए प्रमत्त गुण स्थानवर्ती मुनियोंके जो प्रगट होता है उसे आहारक शरीर कहते हैं—

तेजोनिमित्तत्वात्तैजसं ॥ ७ ॥

जो तेजका कारण हो वा जिसमें तेज रहता हो वह तैजस शरीर कहा जाता है।

कर्मणामिदं कर्मणां समूह इति वा कार्मणं ॥ ८ ॥

ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंका जो कार्य हो वा कर्मोंका समूह हो उसका नाम कार्मण शरीर है। कर्म और उनका समूह यद्यपि अभिन्न पदार्थ है तथापि कथंचित् भेदविवक्षा मानकर यहां उनके समूहको कार्मण शरीर कह दिया गया है। शंका—

सर्वेषां कार्मणत्वप्रसंग इति चेन्न प्रतिनियतौदारिकादिनैमित्तत्वात् ॥ ९ ॥

यदि कर्मोंके कार्य वा कर्मोंके समूहको कार्मण शरीर माना जायगा तो औदारिक आदिको भी कार्मण शरीर कह देना पडेगा क्योंकि औदारिक आदि शरीर भी कर्मोंके कार्य वा कर्मोंके समूहरूप हैं इसरीतिसे केवल कार्मण शरीर मानना ही ठीक है औदारिक आदि भेदोंके गिनानेकी कोई आव-

श्यकता नहीं ? सो ठीक नहीं । औदारिकशरीर नामकर्म वैक्रियिकशरीर नामकर्म इत्यादि भिन्न भिन्न नामकर्मके भेद माने हैं इसलिए उनके उदयके भेदसे औदारिक आदि शरीरोंका भेद है । तथा—

तत्कृतत्वेऽप्यन्यत्वदर्शनाद् घटादिवत् ॥ १० ॥

मिट्टीरूप कारणके अभेद रहनेपर भी जिसप्रकार घडा सरवा आदि पदार्थोंका नाम और स्वरूप आदिके भेदसे भेद दीख पडता है उसीप्रकार कर्मरूप कारणका भलेही अभेद रहे तथापि नाम और स्वरूप आदिके भेदसे औदारिक आदि भिन्न भिन्न ही हैं । तथा—

तत्प्रणालिकया चाभिनिष्पत्तेः ॥ ११ ॥

कार्मण शरीरके द्वारा औदारिक वैक्रियिक आदि शरीरोंकी उत्पत्ति होती है इसलिए कार्मण शरीर कारण और औदारिक आदि शरीर कार्य हैं इसरीतिसे कार्य कारणके भेदसे औदारिक आदि शरीरों को कार्मण शरीर नहीं कहा जा सकता । अथवा—

विस्रसोपचयेन व्यवस्थानात् क्लिन्नगुडरेणुश्लेषवत् ॥ ११ ॥

जिसप्रकार गीले गुडमें धूलिके कण स्वाभाविक परिणामसे आकर मिल जाते हैं उसीप्रकार स्वाभा-
विक परिणामसे औदारिक आदि भी कर्ममें विद्यमान रहते हैं सर्वथा कर्म स्वरूप नहीं इसलिये कार्मण
और औदारिक आदि शरीरोंमें आधार आधेयका भेद रहनेपर वे भिन्न भिन्न ही हैं अर्थात् औदा-
रिकादि शरीर तो नोकर्म हैं और कार्मण शरीर कर्म है इसलिये वर्गणाओंके भेदसे उनमें परस्पर
भेद है ।

कार्मणमसान्निमित्ताभावादिति चेन्न निमित्तनिमित्तिभावात्तस्यैव प्रदीपवत् ॥ १३ ॥

कार्मण शरीर नहीं माना जा सकता क्योंकि संसारमें जिसके निमित्तकारण हैं वही पदार्थ सत माना जाता है किंतु जिसके कारण नहीं है वह खरविषाणके समान असत् है ? सो ठीक नहीं । जिस-प्रकार दीपक स्वयं प्रकाश्य और प्रकाशक दोनों स्वरूप है अर्थात् अपनेको प्रकाशित करनेमें स्वयं ही वह कारण और प्रकाशित होनेसे स्वयं ही वह कार्य है उसीप्रकार कार्मण शरीर भी निमित्त निमित्ती—कारण कार्य दोनों स्वरूप है अर्थात् जिसप्रकार वह औदारिक आदि शरीरोंका उत्पादक है उसीप्रकार वह अपना भी उत्पादक होनेसे स्वयं कारण और उत्पन्न होनेसे स्वयं ही कार्य है इसरीतिसे कारण और कार्यस्वरूप होनेसे कार्मण शरीर असत्पदार्थ नहीं कहा जा सकता । तथा—

मिथ्यादर्शनादिनिमित्तत्वाच्च ॥ १४ ॥ इतरथा ह्यनिर्मोक्षप्रसंगः ॥ १५ ॥

शास्त्रोंमें मिथ्यादर्शन अविरति आदिको कार्मण शरीरका कारण बतलाया है इसलिये 'कार्मण शरीरका कोई निमित्त नहीं है अतः वह कोई पदार्थ नहीं' यह कहना असिद्ध है । तथा यह नियम है जिसका उत्पादक कारण नहीं होता वह नित्य पदार्थ माना जाता है नित्यका विनाशक कारण कोई हो नहीं सकता इसलिये उसका सर्वदा आस्तित्व रहता है । यदि कार्मण शरीरका कोई भी उत्पादक कारण न माना जायगा तो उसका कभी भी विनाश न हो सकेगा सदा उसका आत्माके साथ संबंध रहेगा इसरीतिसे सर्वदा कर्मोंके जालमें जिकडे रहनेके कारण किसी भी आत्माको कभी भी मुक्तिलाभ न हो सकेगा इसलिये कार्मण शरीर अकारण है—उसका उत्पादक कोई भी निमित्त कारण नहीं यह बात असिद्ध है । यदि यहांपर यह आशंका हो कि—

अशरीरं विशरणाभावादिति चेन्नोपचयापचयधर्मवत्त्वात् ॥ १६ ॥

जिसप्रकार औदारिक आदि शरीर घटते घटते नष्ट हो जाते हैं उसतरह कार्मण शरीर घटता घटता नष्ट होता नहीं दीख पडता इसलिये 'शीर्यंत इति शरीराणि' जो घटते घटते नष्ट हो जांय वे शरीर हैं इस व्युत्पत्तिके आधीन कार्मण शरीरको शरीर नहीं कहा जा सकता ? सो ठीक नहीं। निमित्त कारणोंके द्वारा सर्वदा कर्मोंका आगमन और विनाश होता रहता है इसलिये घटना वढनारूप कार्य औदारिक आदिके समान कार्मण शरीरमें भी है इसलिये ' कार्मण शरीर, शरीर नहीं कहा जा सकता ' यह कहना अयथार्थ है।

तद्ग्रहणमादाविति चेन्न तदनुमेयत्वात् ॥ १७ ॥

औदारिक आदि समस्त शरीरोंका आश्रय कार्मण शरीर है क्योंकि कार्मण शरीरके आधार औदारिक आदि शरीरोंकी रचना है इसलिये सबसे पहिले सूत्रमें कार्मण शरीरका उल्लेख करना चाहिये ? सो ठीक नहीं। जिस प्रकार घट पट आदि कार्योंके देखनेसे उनके आश्रय परमाणुओंका अनुमान कर लिया जाता है क्योंकि विना परमाणुओंके घट आदिका होना असंभव है उसीप्रकार औदारिक आदि कार्योंके देखनेसे उनके आश्रयस्वरूप कार्मण शरीरका भी अनुमान कर लिया जाता है क्योंकि विना कार्मण शरीरके औदारिक आदि शरीरका होना असंभव है कारण कार्यलिंगक होता है—कार्यसे उस का आस्तित्व जान लिया जाता है इसरीतिसे अनुमानसाध्य होनेसे कार्मण शरीरका सबसे पहिले सूत्र में उल्लेख नहीं किया जा सकता।

तत एव कर्मणो मूर्तिमत्त्वं सिद्धं ॥ १८ ॥

औदारिक आदि मूर्तिमान् कार्य हैं और उनकी उत्पत्ति कर्मोंसे मानी है इसलिये कर्म भी मूर्तिक पदार्थ हैं यह बात स्वतः सिद्ध है। सारार्थ—कार्यमें जितने गुण दीख पडेंगे वे सब कारणके गुण माने जांयगे क्योंकि कारणके अनुकूल ही कार्य होता है। कर्मोंके कार्य औदारिक आदिमें मूर्तिकपना दीख पडता है इसलिये उनके कारण कर्ममें भी मूर्तिकपना स्वभावसिद्ध है। इस रीतिसे नैयायिक आदिने जो अदृष्ट—धर्म अधर्मरूप गुणसे जो औदारिक आदि शरीरोंकी उत्पत्ति मान रक्खी है वह मिथ्या है क्योंकि अदृष्ट अमूर्तिक, आत्माका गुण और निष्क्रिय पदार्थ है उससे मूर्तिक और क्रियावान् औदारिक आदि शरीरोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

औदारिकग्रहणमादावातिस्थूलत्वात् ॥ १९ ॥

सब शरीरोंमें औदारिक शरीर अत्यन्त स्थूल इंद्रियोंका विषय है इसलिये सबसे पहिले सूत्रमें औदारिक शरीरका उल्लेख किया गया है।

उत्तरेषां क्रमः सूक्ष्मक्रमप्रतिपत्त्यर्थः ॥ २० ॥

औदारिककी अपेक्षा वैक्रियिक, वैक्रियिककी अपेक्षा आहारक इत्यादि क्रमसे उत्तरोत्तर शरीर सूक्ष्म हैं यह बात बतलानेके लिये सूत्रमें औदारिकके बाद वैक्रियिक, वैक्रियिकके बाद आहारक इत्यादि क्रमका उल्लेख है। 'परं परं सूक्ष्मं' इस सूत्रसे वैक्रियिक आदि शरीरोंकी सूक्ष्मता स्वयं सूत्रकार आगे बतलावेंगे ॥ ३६ ॥

जब औदारिक शरीर इंद्रियोंसे जाना जाता है तब वैक्रियिक आदि शरीरोंका इंद्रियोंसे ज्ञान क्यों नहीं होता? इसका समाधान सूत्रकार देते हैं—

परं परं सूक्ष्मं ॥ ३७ ॥

औदारिकसे आगे आगेके शरीर सूक्ष्म हैं अर्थात् औदारिकसे वैक्रियिक, वैक्रियिकसे आहारक, आहारकसे तैजस, और तैजससे कार्मण शरीर सूक्ष्म है।

परशब्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षातो व्यवस्थार्थगतिः ॥ १ ॥

पर शब्दके अनेक अर्थ हैं 'पूर्वः परः' पहिलेका और पश्चात्का, यहांपर परशब्दका अर्थ व्यवस्था है। परपुत्रः, परभार्येति (अन्य पुत्रोऽन्यभार्येति) यह पुत्र दूसरा है और यह स्त्री दूसरी है, यहांपर परशब्द अन्य अर्थका वाचक है। परामियं कन्या, अस्मिन् कुटुंबे प्रधानमिति, यह कन्या इस कुटुंबमें प्रधान है यहांपर पर शब्दका अर्थ प्रधान है। परं धाम गतः (इष्टं धाम गतः) वह अपने इष्ट स्थानको चला गया यहांपर पर शब्दका अर्थ 'इष्ट' है परन्तु यहांपर पर शब्दका अर्थ व्यवस्था इष्ट है अर्थात् पश्चात् पश्चातके सूक्ष्म हैं।

पृथग्भूतानां शरीराणां सूक्ष्मगुणेन वीप्सानिर्देशः ॥ २ ॥

नाम स्वरूप प्रयोजन आदिके भेदसे भिन्न जो औदारिक आदि शरीर हैं उनका यहां सूक्ष्मगुणके साथ 'परंपरं' यह वीप्साका[1] निर्देश है। अर्थात् आगे आगेके शरीर सूक्ष्म हैं यह यहांपर वीप्सा निर्देशका तात्पर्य है ॥ ३७ ॥

१। 'सकलधर्मप्रत्यायनेच्छा वीप्सा' जितने पदार्थोंको लक्ष्यकर बात कही जाय उन समस्त पदार्थोंका ज्ञान करा देनेकी इच्छा वीप्सा है। न्यायकौमुदी।

औदारिकसे आगेके शरीर यदि उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं तो उनके प्रदेश भी उत्तरोत्तर कम होने चाहिए। इस विपरीत शंकाका सूत्रकार परिहार करते हैं—

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥ ३८ ॥

प्रदेशोंकी अपेक्षा तैजस शरीरसे पहिले पहिलेके शरीर असंख्यात गुणे हैं अर्थात् औदारिक शरीरमें जितने प्रदेश हैं उनसे असंख्यातगुणे वैक्रियिक शरीरमें है और वैक्रियिक शरीरसे असंख्यात गुणे आहारक शरीरमें हैं।

प्रदेशाः परमाणवः ॥ १ ॥

जो भिन्न भिन्न अंशरूप विभक्त हों उन्हें प्रदेश कहते हैं। घट आदिमें अवयवरूपसे वे कहे जाते हैं और उनका अर्थ परमाणु है। अथवा जिनके द्वारा भिन्न भिन्न अंश किए जांय उन्हें प्रदेश कहते हैं आकाश आदि द्रव्योंके क्षेत्रोंका विभाग प्रदेशोंके द्वारा ही होता है।

प्रदेशेभ्यः प्रदेशतः ॥ २ ॥ प्रदेशैर्वा प्रदेशतः ॥ ३ ॥

'अपादानेऽहीयरुहोः' इस सूत्रसे पंचम्यंत प्रदेशशब्दसे तस् प्रत्यय करनेपर 'प्रदेशतः' शब्द सिद्ध हुआ है अथवा व्याकरणमें तस्का जहांपर प्रकरण चला है वहांपर 'आद्यादिभ्य उपसंख्यानं' यह वार्तिक है उसका 'आदि प्रभृति शब्दोंसे तस् प्रत्यय होता है' यह अर्थ है यहांपर आद्यादि गणमें प्रदेश शब्दको मानकर तृतीयांत प्रदेश शब्दसे तस् प्रत्यय करनेपर 'प्रदेशतः' यह सिद्ध हुआ है।

१—'अपादानेऽहीयरुहोः' ४-२-६२ हीयरुहवर्जितस्य धोः संबंधिन्यपादाने कानिहिता तदंतात्तसिर्वा भवति ग्रामादागच्छति ग्रामतः। जैनेन्द्रलघुवृत्ति।

संख्यानातीतोऽसंख्येयः ॥ ४ ॥

संख्याका अर्थ गणना है। जिसकी गणना न हो सके वह असंख्येय कहा जाता है और जो असंख्यातसे गुणित हो वह असंख्येयगुण है।

परंपरमित्यनुवृत्तेः प्राक्तैजसादिति वचनं ॥५॥

'परं परं सूक्ष्मं' इस सूत्रसे यहांपर 'परं परं' इसकी अनुवृत्ति है अर्थात् आगे आगेके शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्येय असंख्येयगुणे हैं परंतु यह प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्येयगुणपना कार्मण शरीर पर्यंत भी प्राप्त होगा इसलिए मर्यादा सूचित करनेकेलिए 'प्राक् तैजसात्' यह वचन है अर्थात् तैजस शरीरसे पहिले पहिलेके शरीरोंमें यह प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्येयगुणपना है आगेके शरीरोंमें नहीं।

प्रदेशत इति विशेषणमवगाहक्षेत्रनिवृत्त्यर्थं ॥ ६ ॥

यहां पर प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्येयगुणपना है अवगाहकी अपेक्षा नहीं अर्थात् 'पहिले पहिले शरीरोंकी अपेक्षा आगे आगेके शरीरोंमें प्रदेश अधिक अधिक हैं किंतु अवगाहनाकी अधिकता नहीं' यह बात बतलानेकेलिए सूत्रमें 'प्रदेशतः' यह विशेषण दिया गया है। यहां पर गुणकार पल्यका असंख्यातवां भाग है इसरीतिसे औदारिकसे वैक्रियिक शरीरके असंख्यातगुणे प्रदेश हैं। वैक्रियिकसे आहारकके असंख्यातगुणे प्रदेश हैं, सूत्रका यह स्पष्ट अर्थ है। शंका—

उत्तरोत्तरस्य महत्त्वप्रसंग इति चेन्न, प्रचयविशेषादयःपिंडतूलनिचयवत् ॥ ७ ॥

जब उत्तरोत्तर शरीरोंमें असंख्यात असंख्यातगुणे प्रदेशोंकी अधिकता है तब उनका परिमाण भी अधिक होना चाहिये ? सो ठीक नहीं। जिसप्रकार लोहेके पिंडमें अधिक परमाणु रहते हैं परंतु आपसमें

बंधकी सघनतासे उसका परिमाण अल्प ही रहता है तथा रुईके पिंडमें कम परमाणु रहते हैं परंतु उनका संयोग आपसमें शिथिल रहता है इसलिये उसका परिमाण अधिक होता है । उसीप्रकार यद्यपि उत्तर उत्तर शरीर अधिक अधिक प्रदेशवाले हैं परंतु बंधकी सघनतासे उनका परिमाण अधिक नहीं हो सकता इसलिये प्रदेशोंकी अधिकतासे परिमाणकी भी अधिकता होनी चाहिए यह शंका निर्मूल है ॥ ३८ ॥

तैजससे पहिले पहिलेके शरीर असंख्यात असंख्यातगुणे हैं यह ऊपर कहा गया है परंतु तैजस और कार्मणके विषयमें कुछ नहीं कहा गया इसलिये वहांपर शंका होती है कि क्यों उन दोनोंके प्रदेश समान हैं वा कुछ विशेष है ? इस शंकाका समाधान सूत्रकार करते हैं—

अनंतगुणे परे ॥ ३९ ॥

शेषके तैजस और कार्मण ये दो शरीर अनंतगुणे परमाणुवाले हैं अर्थात्—आहारक शरीरसे अनंतगुणे तैजस शरीरमें हैं और तैजस शरीरसे अनंतगुणे परमाणु कार्मण शरीरमें हैं।

इस सूत्रमें प्रदेशतोऽसंख्येयगुणमित्यादि सूत्रसे 'प्रदेशतः' शब्दकी अनुवृत्ति है तथा अभव्योंका अनंतगुणा और सिद्धोंका अनंतवा भाग यहां गुणकार है इसलिये यहां पर यह संबंध है कि प्रदेशोंकी अपेक्षा आहारकसे तैजस शरीर अनंतगुणा है और तैजससे कार्मण शरीर अनंतगुणा है। शंका—

अनंतगुणत्वादुभयोस्तुल्यत्वमिति चेन्नानंतस्यानंतविकल्पत्वात् ॥ १ ॥

तैजस और कार्मण जब दोनों शरीर अनंत अनंतगुणे कहे गये हैं तब दोनों समान ही हो गये ?

सो ठीक नहीं। जिसतरह संख्यातके संख्याते भेद माने हैं उसीप्रकार अनंतके भी अनंत भेद माने हैं। इसलिये अनंतके भी अनंत भेद होनेसे तैजस और कार्मण दोनों समान नहीं कहे जा सकते किंतु तैजससे कार्मण शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षा अनंतगुणा है।

आहारकादुभयोरनंतगुणत्वमिति चेन्न परंपरामित्यभिसंबंधात् ॥ २ ॥

आहारक शरीरसे तैजस और कार्मण शरीर अनंतगुणे जान पडते हैं तैजससे कार्मण अनंतगुणा नहीं इसलिये आहारकसे जब दोनों समानरूपसे अनंतगुणे हैं तब दोनों समान ही हुए? सो भी ठीक नहीं 'परं परं सूक्ष्मं' इस सूत्रसे यहांपर 'परं परं' की अनुवृत्ति आरही है इसलिये आगे आगेके अनंतगुणे हैं अर्थात् आहारकसे तैजस शरीर अनंतगुणा है और तैजससे कार्मण शरीर अनंतगुणा है, यह यहां तात्पर्य है इसलिये उपर्युक्त शंका ठीक नहीं। शंका—

परस्मिन् सत्यारातीयस्यापरत्वात् परापर इति निर्देशः ॥ ३ न वा बुद्धिविषयव्यापारात् ॥ ४ ॥

सब शरीरोंके अंतमें रहनेके कारण कार्मण शरीर पर है और उसके समीपमें कहे जानेके कारण तैजस शरीर अपर है इसलिए "अनंतगुणे परे" 'परे'के स्थानपर परापरे ऐसा निर्देश करना चाहिए केवल पर शब्दके उलखमें तैजस कार्मण दोनों शरीरोंका उलेख नहीं हो सकता? सो ठीक नहीं। तैजस शब्दके बाद कार्मण शब्दका उलेख है इसरीतिसे शब्दोंके उच्चारणकी अपेक्षा तैजस और कार्मणको यहां पर नहीं कहा गया है किंतु बुद्धिमें तैजस और कार्मणको तिरछा बराबर रखकर आहारकसे वे दोनों पर हैं ऐसा समझकर उन दोनोंको पर माना है इसरीतिसे जब परशब्दसे तैजस और कार्मण दोनों का ग्रहण सिद्ध है तब 'परे'के स्थानपर 'परापरे' निर्देशकी कोई आवश्यकता नहीं। अथवा—

व्यवहिते वा परशब्दप्रयोगात् ॥ ५ ॥

पर शब्दका प्रयोग व्यवधान रहते भी होता है जिसतरह 'परा पाटलिपुत्रान्मथुरेति' अर्थात् पटनासे मथुरा परे है । यहां पटनासे अनेक ग्रामोंसे व्यवहित भी मथुराको पर मान लिया जाता है उसीप्रकार आहारकसे पर तैजस और तैजससे व्यवहित भी कार्मणको पर माना गया है इसलिए 'परे' निर्देश ही कार्यकारी है। शंका—

बहुद्रव्योपाचितत्वात्तदुपलब्धिप्रसंग इति चेन्नोक्तत्वात् ॥ ६ ॥

जब अनंत अनंत प्रदेशोंके समूहरूप तैजस और कार्मण शरीर माने हैं तब बहुत द्रव्यवाले होनेसे उनका इंद्रियोंसे ग्रहण होना चाहिए? सो ठीक नहीं। ऊपर कह दिया गया है कि अनेक परमाणुवाले होनेपर भी बंधकी विशेषतासे तैजस और कार्मणका सूक्ष्म परिणाम होता है इसलिए उनका ग्रहण नहीं हो सकता ॥ ३१ ॥

बाण मूर्तिमान द्रव्योंका पिंडस्वरूप है इसलिए जिसप्रकार पर्वत आदिसे उसकी गतिका निरोध हो जाता है—वह आगे नहीं जा सकता उसीप्रकार तैजस और कार्मण शरीर भी अनंते अनंते मूर्तिमान परमाणुओंके पिंड हैं 'और संसारी जीवके सदाकाल उनका संबंध रहता है यह आगे कहा जायगा' इसलिए उनके संबंधसे संसारी जीवोंके भी जाने योग्य गतिका निरोध होगा अर्थात् अगणित व्यवधान करनेवाले पदार्थोंके विद्यमान रहते वे स्वर्ग नरक आदि स्थानोंपर गमन न कर सकेंगे। सूत्रकार समाधान देते हैं कि सो ठीक नहीं क्योंकि ये दोनों ही शरीर—

अप्रतीघाते ॥ ४० ॥

तैजस और कार्मण दोनों शरीर अप्रतीघात हैं अर्थात् बलवान भी मूर्तिमान पदार्थसे इनका रुकना नहीं होता।

प्रतीघातो मूर्त्यंतरेण व्याघातः ॥ १ ॥ तदभावः सूक्ष्मपरिणामादयःपिंड तेजोऽनुप्रवेशवत् ॥ २ ॥

मूर्तिक पदार्थसे मूर्तिक पदार्थका रुकजाना प्रतीघात है। अग्निका परिणमन सूक्ष्म है इसलिए कठिन भी लोहेके पिंडमें सूक्ष्म परिणमनके कारण जिसप्रकार अग्निका प्रवेश नहीं रुकता उसीप्रकार तैजस और कार्मण शरीरका परिणमन भी सूक्ष्म है इसलिए वज्रपटल आदि कैसे भी कठिन पदार्थ क्यों न बीचमें पड़ें, दोनों शरीरोंका रुकना नहीं होता—वे निरवच्छिन्नरूपसे प्रवेश कर जाते हैं इसलिए वे तैजस और कार्मण दोनों शरीर अप्रतिघात कहे जाते हैं। शंका—

वैक्रियिकाहारकयोरप्यप्रातिघात इति चेन्न सर्वत्र विवक्षितत्वात् ॥ ३ ॥

वैक्रियिक और आहारक शरीरोंका भी सूक्ष्म परिणमन होनेसे प्रतिघात नहीं होता फिर तैजस और कार्मणको ही अप्रतिघात क्यों कहा गया वैक्रियिक और आहारकको क्यों नहीं कहा गया ? सो ठीक नहीं। लोकके अन्त पर्यंत तैजस और कार्मण शरीरोंका कहीं भी प्रतिघात नहीं होता। वैक्रियिक और आहारक शरीरोंका वैसा अप्रतिघात नहीं किंतु उनका प्रतिघात हो जाता है इसलिये इस सर्वत्र गमनकी विशेष विवक्षासे तैजस और कार्मण शरीरोंको अप्रतिघात कहा है ॥ ४० ॥

१—केवली और श्रुतकेवलीके विना जिसका समाधान न हो सके ऐसी तत्त्वविषयक गूढ शंका हो जानेपर उसकी निवृत्तिके लिये प्रमत्त गुणस्थानवर्ती संयमीके आहारक शरीरकी प्रकटता होती है और जहां केवली या श्रुतकेवली विराजते हैं वहां तक

तैजस और कार्मणमें अप्रतिघातरूप ही विशेष है कि और भी कुछ विशेष है। ऐसी शंका होने पर सूत्रकार कहते हैं 'अनादिसंबंधे चेति।' अथवा इस सूत्रकी उत्थानिका इसप्रकार भी है—आत्मा अनादि है और शरीर सादि है। अनादि और नित्य आत्माका शरीरके साथ सम्बन्ध किस कारणसे है? सूत्रकार इस शंकाका समाधान देते हैं—

अनादिसम्बन्धे च ॥ ४१ ॥

ये दोनों शरीर आत्मासे अनादि कालसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं अर्थात् जबतक जीवोंका संसारमें रहना होता है तबतक बराबर इन शरीरोंका उसके साथ सम्बन्ध रहता है। तथा सादि सम्बन्ध भी रहता है।

चशब्दो विकल्पार्थः ॥ १ ॥ बंधसंतत्यपेक्षयानादिः संबंधः सादिश्च विशेषतो बीजवृक्षवत् ॥ २ ॥

सूत्रमें जो चशब्द है उसका अर्थ विकल्प है और तैजस और कार्मण इन दोनों शरीरोंका आत्मा के साथ अनादि और सादि दोनों प्रकारका संबंध है यह उसका प्रयोजन है। दोनों सम्बन्धोंकी व्यवस्था इसप्रकार है—

जिस समय बीजसे वृक्ष, वृक्षसे बीज, बीजसे वृक्ष, वृक्षसे बीज इस प्रकार सामान्यरूपसे कार्य कारणरूप सम्बन्धकी विवक्षा की जाती है उस समय बीज और वृक्षका कार्य कारणरूप अनादि संबंध

जाकर फिर आहारक शरीर लौट आता है। केवलियोंकी स्थिति ढाई द्वीपसे बाहिर नहीं होती इसलिये आहारक शरीरका गमन अधिकसे अधिक ढाई द्वीप पर्यंत ही है। मनुष्योंका वैक्रियिक शरीर मनुष्यलोक पर्यंत ही गमन करता है तथा देवोंका त्रसनाली पर्यंत गमन करता है अधिक नहीं इसलिये ये दोनों शरीर तैजस और कार्मण शरीरोंके समान सर्वत्र अप्रतिघाती नहीं। अ० प्र०

माना जाता है और जिस समय अमुक वीजसे अमुक वृक्ष, अमुक वृक्षसे अमुक वीज इसप्रकार विशेष रूपसे कार्य कारणकी विवक्षा मानी जाती है उस समय वीज और वृक्षका वह संवंध सादि माना जाता है उसीप्रकार जिस समय आत्माके साथ तैजस कार्मण शरीरोंके निमित्त नैमित्तिक संवंधकी सामान्यरूपसे विवक्षा की जाती है उस समय आत्मा और तैजस कार्मणका अनादि सम्बन्ध है क्योंकि अनादि कालसे ऐसा कोई भी समय नहीं वीता जिसमें तैजस कार्मणकी आत्मासे जुदाई हुई हो, और जिस समय अमुक तैजस कार्मणका अमुक अवस्थापन्न आत्माके साथ संवंध है इसप्रकार विशेष विवक्षा है उस समय उनका आपसमें निमित्त नैमित्तिक संवंध सादि है। इसप्रकार सामान्य और विशेषकी अपेक्षा आत्मा और तैजस कार्मणका अनादि सादि दोनों प्रकारका संवंध युक्तिसिद्ध है।

एकांतेनादिमत्त्वेऽभिनवशरीरसंबंधाभावो निर्निमित्तत्वात् ॥ ३ ॥ मुक्तात्माभावप्रसंगश्च ॥ ४

जो कोई एकांतसे तैजस और कार्मणका सादि संवंध स्वीकार करता है उसके मतानुसार जिस कालमें आत्माके साथ तैजस और कार्मणका संवंध नहीं है उसकालमें आत्माको शुद्ध मानना पडेगा शुद्ध आत्मा कभी तैजस कार्मण शरीरका कारण नहीं वन सकता इसलिये कारणके अभावसे फिर तैजस कार्मण शरीरका संवंध नहीं हो सकता इसरीतिसे तैजस कार्मण शरीरोंका सादि संवंध नहीं वन सकता। और भी यह वात है कि—

यदि जवरन आत्माके साथ तैजस कार्मणका सादि संवंध माना जायगा तो वह विना कारणके अकस्मात् होगा फिर जो मुक्तात्मा है उसके भी वह आकस्मिक संवंध मानना पडेगा इसरीतिसे शरीरका संवंध होनेसे मुक्तात्माओंका ही अभाव होगा। तथा—

एकांतेनानादित्वे चानिर्मोक्षप्रसंगः ॥ ५ ॥

यदि तैजस और कार्मणका आत्माके साथ सर्वथा अनादिसंबंध ही माना जायगा तो जिसप्रकार आकाश पदार्थ अनादि है उसका अंत नहीं होता उसी प्रकार तैजस कार्मणका संबंध भी अनादि होनेसे उसका भी नाश न हो सकेगा फिर वह कार्य कारण संबंध भी न कहा जायगा इसरीतिसे तैजस कार्मण शरीरों की कभी भी नास्ति न होनेसे आत्माका मोक्ष ही न हो सकेगा इसलिये तैजस कार्मणका आत्माके साथ सर्वथा अनादि संबंध मानना अयुक्त है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

बीज और वृक्षका भी अनादि संबंध है किंतु अग्निके द्वारा बीज और वृक्षके भस्म हो जानेपर जिसप्रकार उनका अनादि भी संबंध नष्ट हो जाता है उसीप्रकार तैजस कार्मणका अनादि संबंध नष्ट हो सकता है इसलिये मोक्षका अभाव नहीं हो सकता? सो भी ठीक नहीं। बीर्य और वृक्षका कार्य कारण संबंध सर्वथा अनादि नहीं किंतु जिससमय सामान्यकी विवक्षा की जायगी उससमय अनादि संबंध है और जिससमय विशेष रूपसे विवक्षा है उससमय सादि है इसरीतिसे ऊपर जो यह कहा गया था कि किसी प्रकारसे अर्थात् सामान्यकी अपेक्षा आत्माके साथ तैजस और कार्मण शरीरका अनादि संबंध है और किसी प्रकारसे अर्थात् विशेषकी अपेक्षा सादि संबंध है यह बात युक्तियुक्त है ॥ ४१ ॥

तैजस और कार्मण शरीर खास खास जीवोंमें होते हैं वा सामान्यसे सभी जीवोंके होते हैं? सूत्रकार इस शंकाका उत्तर देते हैं—

सर्वस्य ॥ ४२ ॥

तैजस और कार्मण ये दोनों शरीर सामान्यरूपसे समस्त संसारी जीवोंके होते हैं।

सर्वशब्दो निरवशेषवाची ॥ १ ॥

यहांपर सर्व शब्दका 'निरवशेष' अर्थ है अर्थात् ये दोनों शरीर समस्त संसारी जीवोंके होते हैं ।

संसरणधर्मसामान्यादेकवचननिर्देशः ॥ २ ॥

'सर्वस्य' यह जो एकवचनका उल्लेख किया गया है संसरणरूप सामान्य धर्मकी अपेक्षा है अर्थात् तैजस और कार्मण ये दोनों शरीर सामान्यरूपसे सब संसारियोंके होते हैं यदि किसीके वे दोनों शरीर न होंगे तो वह संसारी ही नहीं कहा जा सकता ॥ ४२ ॥

औदारिक आदि पांचो शरीर संसारी जीवोंके होते हैं यह सामान्यरूपसे कहा गया है, एकसाथ कितने तक हो सकते हैं यह नहीं कहा गया इसलिये जब एकसाथ आत्मामें पांचो शरीरोंका प्रसंग आया तब एक साथ एक आत्माके कितने शरीरोंका संभव हो सकता है यह बात बतलानेकेलिए सूत्रकार कहते हैं—

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ४३ ॥

इन दोनों शरीरोंको आदि लेकर एक जीवके एकसाथ चार शरीर तक हो सकते हैं। अर्थात् दो हों तो तैजस कार्मण होते हैं। तीन हों तो औदारिक तैजस और कार्मण होते हैं अथवा वैक्रियिक तैजस और कार्मण भी होते हैं और यदि चार हों तो औदारिक आहारक तैजस और कार्मण होते हैं।

तद्ग्रहणं प्रकृतशरीरद्वयप्रतिनिर्देशार्थं ॥ १ ॥

तैजस और कार्मण इन दो शरीरोंका यहां प्रकरण चल रहा है इसलिये सूत्रमें जो तत् शब्द है उससे उन दोनोंका ग्रहण है।

आदिशब्देन व्यवस्थावाचिना शरीरग्रहणं ॥ २ ॥

'तदादीनि' यहां पर आदिशब्दका अर्थ व्यवस्था है और वह पूर्व सूत्रमें व्यवस्थितरूपसे कहे गये शरीरोंका आनुपूर्वी क्रम प्रतिपादन करनेवाला आदि शब्द विशेषण है इसरीतिसे 'ते आदिर्येषां तानि तदादीनि' अर्थात् वे तैजस और कार्मण शरीर जिनकी आदिमें हैं वे तदादि कहे जाते हैं यह तदादि शब्दका स्पष्ट अर्थ है। शंका—

पृथक्त्वादेव तेषां भाज्यग्रहणमनर्थकमिति चेन्न, एकस्य द्वित्रिचतुःशरीरसंबंधविभागोपपत्तेः ॥ ३ ॥

भाज्यका अर्थ—'जुदे जुदे करने चाहिये यह है' औदारिक आदि शरीरोंके जुदे जुदे लक्षण माने गये हैं इसलिये वे स्वयं आपसमें जुदे जुदे होनेसे तथा आत्मासे भी जुदा होनेसे उनकी भिन्नता प्रतिपादन करनेकेलिये भाज्य शब्दका ग्रहण व्यर्थ है ? सो ठीक नहीं। किसी आत्माके तैजस और कार्मण ये दो ही शरीर होते हैं। किसीके औदारिक तैजस और कार्मण वा वैक्रियिक तैजस और कार्मण ये तीन ही शरीर होते हैं और किसीके औदारिक आहारक तैजस कार्मण ये चार शरीर होते हैं इसप्रकार दो तीन और चार शरीरोंकी भिन्नता प्रतिपादन करनेकेलिये सूत्रमें भाज्य पदका उल्लेख किया गया है।

युगपदिति कालैकत्वे ॥ ४ ॥

युगपत् यह निपात शब्द है और उसका अर्थ एक काल है अर्थात् एक आत्माके दो तीन आदिका जो ऊपर नियम बतलाया गया है वह एक कालकी अपेक्षा है—एक कालमें एक आत्माके चारसे अधिक शरीर नहीं हो सकते किंतु कालके भिन्न होनेपर तो पांचों शरीर होते हैं।

आङभिविध्यर्थः ॥ ५ ॥

'आचतुर्भ्यः' यहां पर आङ्का अर्थ अभिविधि है इसलिये चार तक शरीर होते हैं यह अर्थ होता है । यदि मर्यादा अर्थ माना जाता तो चारसे भीतरके शरीर होते हैं यह अथ होता जो कि अनिष्ट था। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि एक जीवके पांचो शरीर एक कालमें क्यों नहीं होते ? उसका समाधान शास्त्रकार देते हैं—

वैक्रियिकाहारकयोर्युगपदसंभवात् पंचाभावः ॥ ६ ॥

जिस संयमीके आहारक शरीर होता है उसके वैक्रियिक शरीर नहीं होता और जिस देव और नारकीके वैक्रियिक शरीर होता है उसके आहारक शरीर नहीं होता इसप्रकार आहारक और वैक्रियिक शरीरका आपसमें विरोध है इसलिये एक साथ एक जीवके पांचो शरीर नहीं हो सकते ॥ ४३ ॥

शरीरोंकी ही विशेषताके ज्ञानकेलिए और भी सूत्रकार कहते हैं—

निरुपभोगमंत्यं ॥ ४४ ॥

अंतका कार्मण शरीर उपभोगरहित है अर्थात् इंद्रियों द्वारा होनेवाले शब्द आदिके उपभोगसे रहित है।

जो अंतमें हो उसका नाम अंत्य है । 'औदारिकवैक्रियिकेत्यादि' सूत्रके क्रमकी अपेक्षा यहां पर अंत्य शब्दसे कार्मण शरीरका ग्रहण है। सूत्रमें जो निरुपभोग शब्दका उल्लेख किया गया है उससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि कार्मण शरीरसे अतिरिक्त जितने भी शरीर हैं सब सोपभोग हैं। शंका—

कर्मादाननिर्जरासुखदुःखानुभवनहेतुत्वात्सोपभोगमिति चेन्न, विवक्षितापरिज्ञानात् ॥ १ ॥

इंद्रियनिमित्तशब्दाद्युपलब्धिरुपभोगः ॥ २ ॥

कार्मण काययोगके द्वारा कर्मोंका ग्रहण झडना और सुख दुःखका अनुभव होता है इसरीतिसे जब कर्मोंका ग्रहण निर्जरण और सुख दुःखके अनुभवमें कारण कर्म है तब कार्मण शरीर सोपभोगही सिद्ध होता है निरुपभोग नहीं इसलिए उसे निरुपभोग कहना अयथार्थ है? सो ठीक नहीं। इस प्रकरणमें जो उपभोगका अर्थ लिया गया है वह उपभोग कार्मण शरीरमें नहीं क्योंकि 'इंद्रियोंके द्वारा शब्द आदि का ग्रहण होना' यह यहांपर उपभोग शब्दका अर्थ लिया गया है। विग्रहगतिमें भावस्वरूप इंद्रियोंके रहते भी द्रव्यस्वरूप इंद्रियोंकी रचनाका अभाव है इसलिए शब्द आदिका अनुभव न होनेसे कार्मण शरीर निरुपभोग ही है सोपभोग नहीं इसरीतिसे हमारे विवक्षित उपभोगके अर्थको न समझकर जो वादीने कार्मण शरीरको सोपभोग सिद्ध करना चाहा था वह व्यर्थ हुआ। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि तैजस शरीर भी निरुपभोग है क्योंकि उक्त उपभोगका लक्षण उसमें नहीं घटता फिर कार्मणशरीर ही निरुपभोग क्यों कहा गया? उसका समाधान शास्त्रकार देते हैं—

तैजसस्य योगनिमित्तत्वाभावादनधिकारः ॥ ३ ॥

जो शरीर योगमें निमित्त हैं उन शरीरोंमें अन्तका शरीर निरुपभोग है औदारिक वैक्रियिक आहारक और कार्मण ये चार शरीर योगमें कारण हैं इसलिये इन सबके अन्तमें रहनेवाले कार्मण शरीरको निरुपभोग कहा है तैजस शरीर योगका कारण ही नहीं माना गया इसलिये उपभोगके विचारमें उसका अधिकार न होनेसे उसे निरुपभोग नहीं कहा जा सकता। इस रीतिसे जब तैजस शरीरको

१—योगके पन्द्रह भेद हैं उनमें औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिकमिश्र, आहारक, आहारकमि और कार्मण ये सात भेद काययोगके माने गए हैं इनमें तैजसयोग नामका कोई भी भेद नहीं माना गया इसलिए तैजस योगमें कारण नहीं है।

निरुपभोगपना सिद्ध न हो सका तब कार्मण शरीरसे भिन्न सब शरीर सोपभोग हैं इस विवक्षित वात की स्पष्टरूपसे सिद्धि हो गई।

जन्मोंके लक्षण और भेद ऊपर कह दिये गए हैं उनमें होनेवाले जो औदारिक आदि शरीर बतलाए हैं वहांपर यह शंका होती है कि इन पांचों शरीरोंकी उत्पत्ति समानरूपसे है कि कुछ विशेषता है? विशेषता है ऐसा हृदयंगम कर सूत्रकार सबोंकी विशेषता बतलाते हुए पहिले औदारिक शरीरकी विशेषता बतलाते हैं—

गर्भसंमूर्छनजमाद्यं ॥ ४५ ॥

जिसकी उत्पत्ति गर्भ और संमूर्छनजन्मसे है वह औदारिक शरीर है।

जो आदिमें हो वह आद्य कहा जाता है, औदारिक वैक्रियिकेत्यादि सूत्रकी अपेक्षा आद्य शब्दसे यहां औदारिक शरीरका ग्रहण है ॥ ४५ ॥

औदारिक शरीरके बाद सूत्रमें वैक्रियिक शरीरका उल्लेख किया गया है इसलिये वहांपर भी यह शंका होती है कि उसकी उत्पत्ति किस जन्ममें मानी है? सूत्रकार उसका समाधान देते हैं—

औपपादिकं वैक्रियिकं ॥ ४६ ॥

जिसकी उत्पत्ति उपपाद जन्ममें है वह वैक्रियिक शरीर कहा जाता है।

१—कर्मादानसुखानुभवनहेतुत्वात्सोपभोग कार्मणमिति चेन्न विवक्षितापरिज्ञानात्। इंद्रियनिमित्ता हि शब्दाद्युपलब्धिरुपभोगः तस्मान्निष्क्रांतं निरुपभोगमिति विवक्षितं। तैजसमप्येवं निरुपभोगमस्त्विति चेन्न तस्य योगनिमित्तत्वाभावादनधिकारात्। यदेव हि योगनिमित्तमौदारिकादि तदेव सोपभोगं प्रोच्यते निरुपभोगत्वादेव च कार्मणमौदारिकादिभ्यो भिन्नं निश्चीयते। श्लोकवार्तिक पृष्ठ ३४१।

जो उपपादमें हो अर्थात् देव नारकियोंकी उपपाद शय्यासे उत्पन्न हो वह औपपादिक कहा जाता है 'अध्यात्मादित्वादिक:' इस सूत्रसे उपपाद शब्दसे इक् प्रत्यय करनेपर 'औपपादिक' शब्दकी सिद्धि होती है। इस रीतिसे जो उपपाद जन्ममें हो वह वैक्रियिक शरीर है ॥ ४६ ॥

संयमी आदि मनुष्योंके भी वैक्रियिक शरीरकी उत्पत्ति मानी है। यदि सामान्यरूपसे यही कहा जायगा कि जिस शरीरकी उत्पत्ति उपपाद जन्ममें हो वही वैक्रियिक है तब अनौपपादिक अर्थात् मनुष्योंमें और तिर्यंचोंमें जो वैक्रियिक शरीर होता है वह वैक्रियिक नहीं माना जायगा। सूत्रकार इस विषयकी स्पष्टता करते हैं—

लब्धिप्रत्ययं च ॥ ४७ ॥

वैक्रियिक शरीर लब्धिसे अर्थात् तपोविशेषरूप ऋद्धिप्राप्तिके निमित्तसे भी होता है। 'लब्धिप्रत्ययं च' इस सूत्रमें ऊपरके सूत्रसे वैक्रियिक शब्दकी अनुवृत्ति आती है।

प्रत्ययशब्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षातः कारणगतिः ॥ १ ॥

प्रत्यय शब्दके अनेक अर्थ हैं। 'अर्थाभिधानप्रत्ययाः' अर्थ शब्द और ज्ञान ये तीन पदार्थ हैं यहां पर प्रत्यय शब्दका अर्थ ज्ञान है। 'प्रत्ययं कुरु—सत्यं कुरु इत्यर्थः' सत्य मानो, यहांपर प्रत्यय शब्दका सत्य अर्थ है। 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः प्रत्ययाः' मिथ्यादर्शन अविरति प्रमाद कषाय और योग ये कारण हैं यहांपर प्रत्यय शब्दका अर्थ कारण है। प्रकृतमें भी प्रत्यय शब्दके कारण अर्थकी ही विवक्षा है इसलिये यहांपर भी कारणार्थक प्रत्यय शब्दका ही ग्रहण है।

तपोविशेषर्द्धिप्राप्तिर्लब्धिः ॥ २ ॥

तपके बलसे ऋद्धिकी प्राप्ति होना लब्धि है। जिसकी उत्पत्तिमें लब्धि कारण हो वह लब्धिप्रत्यय कहा जाता है। वार्तिककार लब्धि और उपपाद शब्दका विशेष बतलाते हैं—

निश्चयकादाचित्कीकृतो विशेषो लब्ध्युपपादयोः ॥ ३ ॥

उपपाद, जन्मका कारण है अर्थात् जन्म स्वरूप ही है इसलिये वह तो निश्चयसे होता ही है परंतु लब्धिका होना निश्चय रूपसे नहीं वह कभी होती है और कभी नहीं भी होती है क्योंकि उत्पन्न हुए पुरुषके पीछे तपके विशेष आदिकी अपेक्षा उसकी उत्पत्ति मानी है इसप्रकार नियमित रूपसे उपपाद होता है कादाचित्क रूपसे लब्धि होती है यही विशेषता उपपाद और लब्धिमें है। शंका—

सर्वशरीराणां विनाशित्वाद्वैक्रियिकविशेषानुपपत्तिरिति चेन्न विवक्षितापरिज्ञानात् ॥ ४ ॥

विक्रियाका अर्थ विशेष नाश है वह सब शरीरोंमें समान रूपसे होनेवाला पदार्थ है क्योंकि प्रति समय हर एक शरीरमें घटना बढना और विनाश माना गया है इसरीतिसे जब सबही शरीर विक्रियाके संबंधसे वैक्रियिक हैं तब वैक्रियिक शरीरमें कोई विशषता न रहनेपर भी उसे जुदा शरीर मानना अयुक्त है? सो ठीक नहीं। विक्रिया शब्दका जो अर्थ हमें इष्ट है शंकाकारने उसे नहीं समझा, यहांपर विक्रिया शब्दका अर्थ विनाश नहीं किंतु अनेक प्रकारके विकृत आकारोंका धारण करना है खुलासा रूपसे वह इसप्रकार है—

विक्रिया दो प्रकारकी मानी है एक एकत्वविक्रिया दूसरी पृथक्त्वविक्रिया। अपने ही शरीरको सिंह बाघ हंस कुरर (पक्षि विशेष) रूप परिणमा देना एकत्वविक्रिया है और अपने शरीरका भिन्न मकान मंडप आदि परिणत हो जाना पृथक्त्व विक्रिया है। भवनवासी व्यंतर ज्योतिषी और कल्पवासी

देवोंके वह दोनोंप्रकारकी विक्रिया होती है। सोलहस्वर्गके ऊपरके देवोंमें एकत्व विक्रिया ही होती है और वह भी प्रशस्त ही होती है अप्रशस्त नहीं। छठे नरकतकके नारकियोंका शरीर त्रिशूल चक्र खड्ग मुद्गर फरसा भिंडिमाल आदि अनेक आयुधस्वरूप परिणत हो जाता है इसलिये छठे नरक पर्यंत के नारकियोंके एकत्व ही विक्रिया होती है पृथक्त्वविक्रिया नहीं। सप्तम नरकके नारकियोंका शरीर अनेक प्रकारके आयुधरूप नहीं परिणमता किंतु महागो नामके कीडेके प्रमाण लालवर्ण कुंथु जीवके शरीर स्वरूप परिणमता है इसलिये वहांपर भी एकत्व विक्रिया ही है पृथक्त्व विक्रिया नहीं। तिर्यंचोंमें शरीरका कुमार युवा आदि परिणाम होता है इसलिये वहां भी विशेषरूप एकत्व विक्रिया ही है पृथक्त्व विक्रिया नहीं और मनुष्योंमें तप और विद्या आदिके द्वारा विशिष्ट एकत्व और पृथक्त्व दोनों प्रकार-की विक्रिया होती है इसलिये वहांपर दोनों प्रकारकी विक्रियाओंका विधान है ॥ ४७ ॥

उपर्युक्त लब्धिके द्वारा वैक्रियिक शरीरकी ही उत्पत्ति होती है वा अन्य भी किसी शरीरकी उत्पत्ति होती है ऐसी शंका होनेपर वैक्रियिक शरीरसे भिन्न भी शरीर लब्धिजन्य है ऐसा सूत्रकार बतलाते हैं—

तैजसमपि ॥ ४८ ॥

तैजस शरीर भी ऋद्धि होनेसे प्राप्त होता है इसलिए वह भी लब्धिकारणक है।

औदारिकेत्यादि सूत्रमें वैक्रियिकके बाद आहारक शरीरका उल्लेख किया गया है इसलिए वैक्रि-यिकके बाद आहारक शरीरका ही वर्णन करना चाहिए अनवसरप्राप्त तैजस शरीरका क्यों किया गया वार्तिककार इस शंकाका समाधान देते हैं—

लब्धिप्रत्ययापेक्षार्थं तैजसग्रहणं ॥ १ ॥

इस सूत्रमें लब्धिप्रत्ययकी अनुवृत्ति आती है अर्थात् तैजस शरीर लब्धिकारणक है इसलिए उस अनुवृत्तिकी अपेक्षा आहारकसे पहिले तैजस शरीरका वर्णन किया गया है। यदि पीछे किया जाता तो 'लब्धिप्रत्यय'की अनुवृत्ति नहीं आती ॥ ४८ ॥

अब वैक्रियिक शरीरके बाद जिस शरीरका उल्लेख किया गया है उसके स्वरूप और स्वामीके प्रतिपादन करनेकेलिए सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥ ४९ ॥

आहारक शरीर शुभ कार्यका उत्पादक—कारण होनेसे शुभ है। विशुद्ध कर्मका कार्य होनेसे विशुद्ध है। व्याघातरहित है और प्रमत्तसंयमी मुनिके ही होता है।

शुभकारणत्वाच्छुभव्यपदेशोऽन्नप्राणवत् ॥ १ ॥

अन्न प्राणोंका कारण है और प्राण कार्य हैं तथापि वह जिसप्रकार कारण-प्राण, कह दिया जाता है और 'अन्नं वै प्राणाः' अन्न ही निश्चयसे प्राण हैं ऐसा संसारमें व्यवहार होता है उसीप्रकार आहारक शरीरका उत्पादक कारण आहारक काययोग शुभ है इसलिए आहारक शरीर भी शुभ कहा जाता है।

विशुद्धकार्यत्वाद्विशुद्धाभिधानं कार्पासतंतुवत् ॥ २ ॥

जिसप्रकार तंतु कपासके कार्य हैं और कपास कारण है तथापि उपचारसे कार्यको कारण मान कर तंतुओंको कपास कह दिया जाता है और 'कार्पासा तांतवः' तंतु कपास हैं ऐसा संसारमें व्यवहार होता है उसीप्रकार आहारक शरीर भी विशुद्ध निर्दोष और स्वच्छ पुण्य कर्मका कार्य है इसलिए वह भी शुद्ध कह दिया गया है।

उभयतो व्याघाताभावादव्याघाति ॥ ३ ॥

न तो आहारक शरीरसे दूसरे किसी पदार्थकी रुकावट होती है और न अन्य किसी पदार्थसे आहारक शरीरकी रुकावट होती है इसरीतिसे दोनों प्रकारसे व्याघात न होनेसे आहारक शरीर अव्याघाति है।

चशब्दस्तत्प्रयोजनसमुच्चयार्थः ॥ ४ ॥

आहारक शरीरसे जो जो प्रयोजन सिद्ध होते हैं उनके समुच्चयार्थ सूत्रमें चशब्दका उल्लेख किया गया है। वे प्रयोजन इसप्रकार हैं—

किसी समय कोई विशेष लब्धि प्राप्त हो जाय उससमय उसकी सत्ता जाननेकेलिए आहारक शरीर प्रयोजनीय होता है । किसी समय सूक्ष्म पदार्थके निर्धारणकेलिये आहारक शरीरका प्रयोजन पडता है, असंयम दूर करने अथवा संयमको पालनेकेलिये भी उसका प्रयोजन है। तथा जिससमय भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें तीर्थंकरोंकी विद्यमानता न हो और प्रमत्तसंयमी मुनिको ऐसी तत्त्वविषयक शंका उपस्थित हो जाय कि उसका समाधान केवली वा श्रुतकेवलीके विना न हो सके इसलिये महाविदेह क्षेत्रोंमें जहां कि केवली विराजमान हों वहां उनके जानेकी इच्छा होजाय और यदि मैं औदारिक शरीर से जाऊंगा तो जीवोंका विघातरूप महान असंयम होगा ऐसा विचारकर वह औदारिक शरीरसे जाना उचित न समझें उससमय वह संयमकी रक्षार्थ आहारक शरीरका निर्माण करते हैं इसलिये संयमकी रक्षा भी आहारक शरीरका प्रयोजन है।

आहारकमिति प्रागुक्तस्य प्रत्याम्नायः ॥ ५ ॥

'आहारक शरीर शुभ विशुद्ध और अव्याघाती है' यह बतलानेकेलिये सूत्रमें आहारक शरीरका उल्लेख है।

प्रमत्तसंयतग्रहणं स्वामिविशेषप्रतिपत्त्यर्थं ॥ ६ ॥

जिससमय मुनि आहारक शरीरकी रचनाकेलिये उद्यत होते हैं उससमय वे प्रमत्त हो जाते हैं इसलिये आहारक शरीरका कौन स्वामी है ? यह बतलानेकेलिए सूत्रमें 'प्रमत्तसंयत' शब्दका उल्लेख किया गया है।

इष्टतोऽवधारणार्थमेवकारोपादानं ॥ ७ ॥

'प्रमत्तसंयतस्यैव' यहां पर जो एव शब्दका उल्लेख किया गया है वह प्रमत्तसंयमी मुनिके ही आहारक शरीर होता है अन्यके नहीं, यही समझा जाय किंतु प्रमत्तसंयमीके आहारक ही शरीर होता है औदारिक आदि नहीं इसलिये उसके औदारिक आदि शरीरोंकी निवृत्ति है, यह न समझा जाय इस इष्ट अवधारणकेलिये सूत्रमें एव शब्दका उल्लेख किया गया है।

एषां शरीराणां परस्परतः संज्ञास्वालक्षण्यस्वकारणस्वामित्वसामर्थ्यप्रमाणक्षेत्रस्पर्शनकालांतरसंख्या-
प्रदेशभावाल्पबहुत्वादिभिर्विशेषोऽवसेयः ॥ ८ ॥

औदारिक वैक्रियिक आदि पांचों शरीरोंमें संज्ञा स्वलक्षण स्वकारण स्वामित्व सामर्थ्य प्रमाण क्षेत्र स्पर्शन काल अंतर संख्या प्रदेश भाव और अल्पबहुत्व आदिसे आपसमें भेद माना गया है । जो अर्थ ऊपर कहा गया है और जो नहीं कहा गया है उन दोनोंके संग्रहके लिये अर्थात् शरीरोंकी संज्ञा आदि कुछ बातें कह दी गई हैं और बहुत सी नहीं कही गई हैं उन दोनोंके संग्रहार्थ यह वार्तिक कही गयी है। वह संज्ञा आदिका भेद इसप्रकार है—

जिसप्रकार घट पट आदिके नाम भिन्न भिन्न हैं इसलिए आपसमें उनका भेद है उसीप्रकार औदारिक वैक्रियिक आदिके नाम भी भिन्न भिन्न हैं इसलिए उनका भी आपसमें भेद है। लक्षणकी अपेक्षा भेद इसप्रकार है—जिसका स्वरूप स्थूलता लिये हो वह औदारिक शरीर है। जो अनेक प्रकारके ऋद्धिगुणोंसे युक्त विकारस्वरूप परिणमनेवाला हो वह वैक्रियिक शरीर है। जिनका ज्ञान कठिनतासे हो ऐसे सूक्ष्म पदार्थके स्वरूपका निर्णय करना जिसका लक्षण हो वह आहारक शरीर है। जो शंखके समान श्वेत वर्णका हो वह तैजस शरीर है। उसके दो भेद हैं एक निःसरणस्वरूप दूसरा अनिःसरणस्वरूप। औदारिक वैक्रियिक और आहारक शरीरके अंदर रहनेवाला और शरीरकी दीप्तिका कारण जो शरीर हो वह अनिःसरणात्मक तैजस शरीर है और जो तीक्ष्ण चारित्रके धारक अत्यंत क्रुद्ध यतिके औदारिक शरीरसे आत्मप्रदेशोंके साथ बाहर निकलकर और जलानेयोग्य पदार्थोंको चारो ओरसे वेष्टित कर विद्यमान हो और जिसप्रकार धान्यकी राशि और हरे हरे पदार्थोंसे परिपूर्ण स्थानको अग्नि जला डालती है और जलाकर ही उसका पीछा छोडती है बीचमें नहीं बुझती उसीप्रकार तैजस शरीरने जितने पदार्थोंको जलानेके लिये व्याप्त कर रक्खा है वे जबतक नहीं जल जाते तबतक बहुत कालतक उन पदार्थोंको व्याप्त किये जलाता रहे और जलाकर ही पीछा छोडे वह निःसरणात्मक तैजस शरीर है। तथा समस्त कर्म और शरीरोंका उत्पन्न करना ही जिसका लक्षण हो वह कार्मण शरीर है। इसप्रकार लक्षणोंके भेदसे औदारिक आदि शरीरोंका भेद है।

कारणकी अपेक्षा भेद—औदारिक शरीरकी उत्पत्तिमें औदारिक शरीर नामकर्म कारण है। वैक्रियिक शरीरकी उत्पत्तिमें वैक्रियिक शरीर नामकर्म कारण है। आहारक शरीरकी उत्पत्तिमें आहारक

शरीर नाम कर्म कारण है, तैजस शरीरकी उत्पत्तिमें तैजस नाम कर्म कारण है और कार्मण शरीरकी उत्पत्तिमें कार्मण शरीर नाम कर्म कारण है इसप्रकार कारणके भेदसे औदारिक आदि शरीरोंमें भेद है।

स्वामिभेद–आहारक शरीर तिर्यंच और मनुष्योंके होता है। वैक्रियिक शरीर देव नारकी तेजकायिकजीव वातकायिकजीव तथा पंचेंद्रिय तिर्यंच और मनुष्योंके होता है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि–

जीव स्थानमें योगोंके भंग वर्णन करते समय सातप्रकारके काययोगोंकी प्ररूपणामें औदारिक काय योग और औदारिक मिश्रकाय योग तिर्यंच और मनुष्योंके कहा गया है और वैक्रियिक काययोग और वैक्रियिक मिश्रकाययोग देव और नारकियोंके कहा गया है परंतु यहांपर वैक्रियिककाययोग और वैक्रियिक मिश्रकाययोगोंको तिर्यंच और मनुष्योंके भी बतलाया है इसलिये यह कथन आगमका विरोधी है? सो ठीक नहीं। अन्य ग्रंथोंमें भी तिर्यंच और मनुष्योंके भी वैक्रियिककाय योग और वैक्रियिक मिश्रकाययोगका उल्लेख किया गया है इसलिये कोई दोष नहीं है। यदि कदाचित् फिर यह शंका उठाई जाय कि–

व्याख्याप्रज्ञप्तिके दंडकोंमें शरीरोंके भंगोंके वर्णन करते समय वायुकायिक जीवोंके सामान्यरूपसे औदारिक वैक्रियिक तैजस और कार्मण ये चार शरीर कहे गये हैं। मनुष्योंके भी ये ही चार शरीर कहे गये हैं। परंतु सूत्रमें वैक्रियिक शरीरको औपपादिक और लब्धिप्रत्यय माना है इसरूपसे सामान्यतासे वह सब मनुष्योंके नहीं हो सकता तथा वायुकायिक जीवोंके भी वैक्रियिक शरीर सामान्यरीतिसे नहीं कहा गया है इसलिये यहांपर आगमके विरुद्ध कथन है? सो भी ठीक नहीं। समस्त देव और

समस्त नारकियोंके सर्वकाल वैक्रियिक शरीरका संबंध रहता है इसलिये प्रधानतासे देव और नारकियोंके वैक्रियिक शरीरका संबंध कहा गया है और तिर्यंच एवं मनुष्योंके लब्धिकारणक वैक्रियिक सर्वकाल नहीं रहता उसका कादाचित्क संबंध—कभी रहता है कभी नहीं रहता है इसलिये उनके वैक्रियिक शरीरका संबंध प्रधानतासे नहीं बतलाया गया यह तो सूत्रका तात्पर्य है और व्याख्याप्रज्ञप्ति दंडकोंमें तिर्यंच और मनुष्योंके चारो शरीरोंका संभव मानकर सामान्यरूपसे उनके अस्तित्वका प्रदर्शन करादिया है इसलिये प्रकरणानुकूल अपने अपने अभिप्रायकी अपेक्षा कथन होनेसे कोई विरोध नहीं तथा आहारक शरीर प्रमत्तसंयमी मुनिहीके होता है और तैजस कार्मण दोनों शरीर समस्त संसारियोंके होते हैं इसप्रकार स्वामियोंके भेदसे भी औदारिक आदि शरीरोंमें भेद है।

सामर्थ्यभेद—औदारिक शरीरकी सामर्थ्य दो प्रकारकी है एक भवकारणक, दूसरी गुणकारणक। तिर्यंचोंमें सिंह अष्टापद आदि और मनुष्योंमें चक्रवर्ती वासुदेव आदिमें सामर्थ्यकी अधिकता और हीनता दीख पडती है यह भवकारणक सामर्थ्य है क्योंकि चक्रवर्ती वा अष्टापद आदिके होते ही वह सामर्थ्य भी प्रगट हो जाती है और तपके बलसे मुनियोंके अंदर जो नाना प्रकारके शरीरोंका धारण रूप एक विशेष सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है वह गुणकारणक सामर्थ्य है। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

ऋषियोंके शरीरोंके अंदर जो अत्यधिक सामर्थ्य प्रकट हो जाती है वह तपकी सामर्थ्य है औदारिक शरीरकी सामर्थ्य नहीं? सो ठीक नहीं। विना औदारिक शरीरके केवल तपकी अनेक प्रकारके शरीरोंका धारण करनास्वरूप अनुपम वैसी सामर्थ्य नहीं हो सकती इसलिये वह सामर्थ्य तपकी न मानकर औदारिक शरीरकी ही माननी होगी।

मेरुपर्वतको चल विचल कर देना, समस्त भूमंडलको उलट पुलट देना आदि सामर्थ्य वैक्रियिक शरीरकी है। किसी भी पदार्थके द्वारा शक्तिका प्रतिघात न होना यह आहारक शरीरकी सामर्थ्य है। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—

वज्र पटल आदिसे वैक्रियिक शरीरका भी प्रतिघात नहीं होता इसलिये इसकी सामर्थ्य भी अप्रतिहत है फिर आहारक शरीरको ही अप्रतिहत सामर्थ्यवाला क्यों बतलाया गया है? सो ठीक नहीं। इंद्र सामानिक त्रायस्त्रिंश आदि सभी देव वैक्रियिक शरीरके धारक हैं परंतु उनकी सामर्थ्यमें अधिकता और हीनता है। इंद्रकी सामर्थ्य सबसे अधिक है। उससे कम सामानिक देवोंकी है उससे कम त्रायस्त्रिंश देवोंकी है इत्यादि क्रमसे नीचे नीचेके देवोंमें सामर्थ्यकी हीनता है इसलिये हीनाधिकताके कारण नीचे नीचेके देवोंकी सामर्थ्य ऊपर ऊपरके देवोंकी सामर्थ्यसे प्रतिहत कर दी जाती है तथा अनंतवीर्य नामके यतिने इंद्रकी सामर्थ्यको प्रतिहत कर दिया था ऐसा शास्त्रका उल्लेख भी है इसलिये वैक्रियिक शरीरकी सामर्थ्य प्रतिहत हो जानेके कारण वह अप्रतिहत सामर्थ्यवान् नहीं हो सकता किंतु समस्त आहारक शरीरोंकी सामर्थ्य समानरूपसे है—एक दूसरेसे प्रतिहत नहीं हो सकता इसलिये आहारक शरीर ही अप्रतिहत सामर्थ्यवान् है।

यदि कोपका संबंध होगा तो तैजस शरीर जलाकर खाक करनेकी सामर्थ्य रखता है और यदि प्रसन्नताका संबंध होगा तो अनेक प्रकारके उपकार कर सकता है इसलिये कोप और प्रसन्नताकी अपेक्षा तैजस शरीरकी जलाना और उपकार करना दोनों प्रकारकी सामर्थ्य है और समस्त कर्मोंको अवकाश दान देना यह कार्मण शरीरकी सामर्थ्य है। इसप्रकार सामर्थ्यकी अपेक्षा भी औदारिक आदि शरीरोंमें भेद है।

प्रमाणसे भेद—सूक्ष्म निगोदिया जीवके शरीरका प्रमाण अंगुलके असंख्यातवें भाग होता है इसलिए औदारिक शरीरका सर्व जघन्य प्रमाण तो अंगुलके असंख्यातवें भाग है और आठवें द्वीप नंदीश्वरकी वापिके कमलके शरीरका प्रमाण कुछ अधिक एक हजार योजनका है इसलिए औदारिक शरीरका उत्कृष्ट प्रमाण कुछ अधिक एक हजार योजन है। सर्वार्थसिद्धिके देवोंका वैक्रियिक शरीर एक अरत्नि—हाथ प्रमाण है इसलिए जघन्यरूपसे तो वैक्रियिक शरीरका प्रमाण एक हाथ है और सातवें नरकके नारकियोंके शरीरका प्रमाण पांचसै धनुषका है इसलिए उत्कृष्टरूपसे वैक्रियिक शरीरका प्रमाण पांचसै धनुषका है। तथा देव जंबूद्वीपके समान अपने शरीरकी विक्रिया कर सकते हैं इसलिए विक्रियाकी अपेक्षा उत्कृष्ट शरीर जंबूद्वीपके समान एक लाख योजनप्रमाण है। आहारक शरीरका प्रमाण एकही हाथका (अरत्नि) है। जिस कालमें जितने प्रमाणका औदारिक शरीर धारण किया है जघन्यतासे तो उतना ही तैजस और कार्मण शरीरोंका प्रमाण है और केवलिसमुद्घात अवस्थामें वे समस्त लोकमें फैल जाते हैं इसलिए उत्कृष्टतासे केवलिसमुद्घातकी अपेक्षा तैजस और कार्मणशरीरोंका प्रमाण सर्वलोक—असंख्येय प्रदेश समान है। इसप्रकार यह प्रमाणोंके भेदसे औदारिक वैक्रियिक आदिका आपसमें भेद है।

क्षेत्रसे भेद—औदारिक वैक्रियिक और आहारक शरीरोंका क्षेत्र लोकके असंख्यातवां भाग है और तैजस कार्मण शरीरोंका असंख्यातभाग एवं प्रतर वा लोकपूरण समुद्घातोंमें सर्वलोक है। इसप्रकार यह क्षेत्रके भेदसे औदारिक आदिका भेद है।

स्पर्शनसे भेद—एक जीवकी अपेक्षा औदारिक आदिके स्पर्शका आगे व्याख्यान किया जायगा।

सर्व जीवोंकी अपेक्षा उसका कथन इसप्रकार है—औदारिक शरीरद्वारा तिर्यंचोंसे समस्त लोक स्पृष्ट है और मनुष्योंसे लोकका असंख्यातवां भाग स्पृष्ट है। मूल वैक्रियिक शरीरसे लोकका असंख्यातवां भाग और उत्तर वैक्रियिक शरीरसे आठ राजू और उससे कुछ कम चौदह भाग स्पृष्ट है। और वे इसप्रकार हैं—

सौधर्मस्वर्गनिवासी देव स्वयं और अन्य देवोंकी सहायताकी प्रधानतासे आरण और अच्युत स्वर्गपर्यंत विहार कर आते हैं इसलिए ऊपर वे छह राजूपर्यंत लोकके क्षेत्रका स्पर्श करते हैं और अपनी ही प्रधानतासे नीचे वालुका पृथ्वी पर्यंत विहार करते हैं इसलिए नीचे दो राजू क्षेत्रका स्पर्श करते हैं इसरीतिसे वे कुछ अधिक आठराजू क्षेत्रका स्पर्श करते हैं। आहारक शरीरसे लोकका असंख्यातवां भाग स्पृष्ट होता है और तैजस एवं कार्मण शरीरोंसे समस्त लोक स्पृष्ट होता है। इसप्रकार यह स्पर्शनके भेदसे औदारिक आदि शरीरोंका भेद है। एक जीवकी अपेक्षा कालके भेदसे औदारिक आदि शरीरोंका भेद आगे कहा जायगा यहांपर अनेक जीवोंकी अपेक्षा भेद कहा जाता है—

कालसे भेद—औदारिकमिश्रको छोडकर केवल औदारिक शरीरका जघन्य काल मनुष्य और तिर्यंचोंके अंतर्मुहूर्तप्रमाण है और उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त कम तीन पल्य प्रमाण है और वह अंतर्मुहूर्तकाल अपर्याप्तकका काल है क्योंकि अपर्याप्त अवस्थामें औदारिकमिश्रकी विद्यमानता रहती है। मूलवैक्रियिक और उत्तरवैक्रियिकके भेदसे वैक्रियिक शरीरको दो प्रकारका माना है। उनमें देवोंकी अपेक्षा मूल वैक्रियिक शरीरका जघन्यकाल अपर्याप्तकका अंतर्मुहूर्तकाल घाटि दश हजार वर्ष प्रमाण है और

१—यह वैक्रियिक मिश्रका काल है इसीतरह आगे भी समझ लेना चाहिये।

उत्कृष्टकाल अपर्याप्तकका अंतर्मुहूर्तप्रमाण घाटि तेतीस सागर प्रमाण है । तथा उत्तर वैक्रियिकका जघन्य और उत्कृष्ट दोनों प्रकारका काल अंतर्मुहूर्तप्रमाण है इसीप्रकार नारकियोंका भी समझ लेना चाहिए। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि–

तीर्थंकरका जन्म और नंदीश्वरके चैत्यालय आदिकी पूजार्थ देवतागण जाते हैं और वहांपर उन्हें अधिक समय तक रहना पडता है तथा उससमय उनका उत्तर वैक्रियिक शरीर ही रहता है क्योंकि मूल वैक्रियिक शरीर उनका कहीं भी नहीं जाता। यदि उत्तर वैक्रियिकका काल अंतर्मुहूर्तप्रमाण माना जायगा तो अधिकसमयसाध्य तीर्थंकरके जन्म आदिमें देवोंका आना न बन सकेगा ? सो ठीक नहीं। यद्यपि उससमय उनका उत्तर वैक्रियिक शरीर ही होता है परंतु फिर फिरसे उनकी विक्रियाकी लडी बंधी रहती है वह टूटती नहीं इसलिए अधिक समयसाध्य कार्यके करनेमें भी किसी प्रकारकी बाधा नहीं होती। आहारक शरीरका जघन्य और उत्कृष्ट दोनों प्रकारका काल अंतर्मुहूर्तप्रमाण है। यौगपद्येन तैजस और कार्मण कर्मोंका संतानकी अपेक्षा अभव्योंके अनादि अनंतकाल है और जो भव्य अनंतकालके बाद भी मोक्ष न प्राप्त कर सकेंगे उनके भी अनादि अनंत काल है किंतु जो भव्य मोक्ष प्राप्त करेंगे उनकी अपेक्षा अनादि सांतकाल है तथा एक निषेककी अपेक्षा एक समयमात्र काल है किंतु पृथक्रूपसे तैजसका काल छ्यासठि सागर प्रमाण माना गया है और कार्मण शरीरका सत्तर कोडाकोडी प्रमाणकाल है। इसप्रकार यह कालके भेदसे औदारिक आदि शरीरोंका भेद है। अंतरका अर्थ विरहकाल है। एक जीवकी अपेक्षा तो अंतरके भेदसे औदारिक आदि पांचोंके भेद आगे कहे जांयगे। अनेक जीवोंकी अपेक्षा इसप्रकार है–

१–मोहनीय कर्मकी स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागर प्रमाण मानी है उसकी अपेक्षा यह कथन है। 'सप्ततिर्मोहनीयस्य'

अंतरसे भेद—औदारिकमिश्रको छोडकर केवल औदारिकका जघन्य अंतर अंतर्मुहूर्तप्रमाण है। यहांपर अंतर्मुहूर्तसे औदारिकमिश्रके कालका ग्रहण है और वह अंतर्मुहूर्तप्रमाण अंतर इसप्रकार है—

चारों गतियोंमें भ्रमण करनेवाला जीव तिर्यंच वा मनुष्योंमें उत्पन्न हुआ वहांपर अंतर्मुहूर्तपर्यंत अपर्याप्तक रहकर पीछे पर्याप्त हो अंतर्मुहूर्तकाल प्रमाण जीकर मर गया फिर तिर्यंच वा मनुष्योंमें किसी एक पर्यायमें उत्पन्न हुआ और अंतर्मुहूर्तपर्यंत अपर्याप्तक रहकर पीछे पर्याप्तक हो गया इसप्रकार औदारिकका जघन्य अंतर अंतर्मुहूर्तप्रमाण है अर्थात्—यहां पर्याप्त अवस्थासे पहिलेकी अवस्थामें औदारिकमिश्र होता है और जीवके पर्याप्तक होते ही उसका शरीर औदारिक कहा जाता है उस औदारिक शरीरकी प्रकटता अंतर्मुहूर्तके वाद होती है इसलिए औदारिकका जघन्य अंतर अंतर्मुहूर्तप्रमाण है तथा उत्कृष्ट अंतर कुछ अधिक तेतीस सागर प्रमाण है क्योंकि जो मनुष्य तेतीस सागरकी आयुवाले देवोंमें उत्पन्न हुआ और आयुके क्षय हो जानेपर मरकर फिर मनुष्योंमें उत्पन्न हुआ वहां पर अंतर्मुहूर्त तक तो वह अपर्याप्तक ही रहेगा और उसके औदारिकमिश्र शरीर होगा पीछे पर्याप्तक होनेपर उसका औदारिक शरीर कहा जायगा इसलिए अंतर्मुहूर्त अधिक तेतीस सागरके वाद औदारिक शरीरकी प्राप्ति होनेसे उसका उत्कृष्ट अंतर अंतर्मुहूर्त अधिक तेतीस सागर प्रमाण है।

वैक्रियिक शरीरका जघन्य अंतर अंतर्मुहूर्तप्रमाण है क्योंकि मनुष्य वा तिर्यंच मरकर दशहजार वर्षकी आयुवाले देवोंमें उत्पन्न हुआ, वहांकी आयु समाप्तकर फिर मनुष्य वा तिर्यंच होकर और अंतर्मुहूर्तप्रमाण अपर्याप्तकके कालका अनुभवकर फिर देवोंमें उत्पन्न हुआ इसप्रकार अंतर्मुहूर्तके बाद वैक्रियिक शरीरकी प्राप्ति होनेसे वैक्रियिक शरीरका जघन्य अंतर अंतर्मुहूर्तप्रमाण है। तथा वैक्रियिक शरीरका

उत्कृष्ट अंतर अनंतकाल प्रमाण है क्योंकि कोई जीव देवपर्यायसे च्युत होकर और अनंतकाल पर्यंत तिर्यंच और मनुष्योंमें घूमकर फिर देव हुआ वहांपर अपर्याप्तकका काल अंतर्मुहूर्तकालको अनुभवकर वह वैक्रियिक शरीर प्राप्त करता है इसलिए अनंत कालके बाद वैक्रियिक शरीरकी प्राप्ति होनेसे वैक्रियिक शरीरका उत्कृष्ट अंतर अनंतकालका कहा जाता है।

आहारकका जघन्य अंतर अंतर्मुहूर्तकालका है क्योंकि प्रमत्तसंयत मुनि आहारक शरीरकी रचनाकर, अंतर्मुहूर्तपर्यंत उस आहारक शरीर सहित विद्यमान होकर जिसकार्यके लिये उस आहारक शरीरका निर्माण किया गया है उसके कार्यको समाप्त करता है पीछे फिर किसी लब्धिके कारण अंतर्मुहूर्त ठहरकर आहारक शरीरका निर्माण करते हैं । इसरीतिसे अंतर्मुहूर्तके बाद आहारक शरीरका निर्माण होनेसे जघन्य अंतर उसका अंतर्मुहूर्तकाल है और उसका उत्कृष्ट अंतर अंतर्मुहूर्तकम अर्धपुद्गल परिवर्तनकालका है क्योंकि जिस जीवने अनादिकालीन मिथ्यादर्शन मोह कर्मको उपशमाकर उपशम सम्यक्त्व और संयमको एक साथ प्राप्त किया है जो उपशम सम्यक्त्वसे च्युत होकर वेदकसम्यक्त्वी बन अंतर्मुहूर्त ठहरकर अप्रमत्तगुणस्थानमें आहारक शरीरका बंधकर फिर प्रमत्तगुणस्थानमें आया "क्योंकि आहारक शरीरके बंध होते ही प्रमत्तगुणस्थान हो जाता है यह नियम है" वहांपर आहारक शरीरको रचकर और उसे मूल शरीरमें प्रविष्टकर मिथ्यात्वी बना, वह जीव अंतर्मुहूर्तकम अर्धपुद्गल परिवर्तनकालप्रमाण संसारमें घूमकर मनुष्य हुआ, पूर्वोक्तप्रकारसे सम्यक्त्व पाकर असंयत सम्यग्दृष्टि वा संयतासंयत दोनों गुणस्थानोंमें किसी एक जगहपर दर्शनमोहका क्षयकर और संयमको प्राप्तकर उसने सातवे गुणस्थानमें आहारक शरीरका बंध किया उसीसमय उसका छठा गुणस्थान भी हो गया

उससमय छठे गुणस्थानमें वह जीव आहारक शरीरकी रचना करता है इसलिये यहां आहारक शरीरकी प्राप्ति तकके कालका प्रमाण अंतर्मुहूर्तकम अर्धपुद्गल परावर्तन काल होनेसे; आहारक शरीरका उत्कृष्ट अंतर अंतर्मुहूर्तकम अर्धपुद्गल परावर्तन काल प्रमाण समझना चाहिये। आहारक शरीर जबतक अपना कार्य नहीं करता उसके पहिले चार अंतर्मुहूर्त कहे गये हैं वे इसप्रकार हैं—

दर्शनमोहोपशमसम्यक्त्वके समानकालीन संयम बताया गया है एक तो अंतर्मुहूर्त यह है। दूसरा वेदक सम्यक्त्वका अंतर्मुहूर्त है। तीसरा आहारक बंधका अंतर्मुहूर्त है और चौथा आहारककी रचनाका अंतर्मुहूर्त है। ये चार अंतर्मुहूर्त पहिले हो लेते हैं उसके बाद आहारक शरीरके कार्यका पांचवां अंतर्मुहूर्त है तथा प्रमत्तसे अप्रमत्त और अप्रमत्तसे प्रमत्त इसप्रकार अगणितवार उतरना चढना रूप कार्य को अनुभव करनेवाले जीवके अनेक अंतर्मुहूर्त होते हैं। पश्चात् अधःकरणकी विशुद्धिसे विशुद्ध होकर जीव थोडी देर ठहर जाता है तथा अधःकरणसे आगे अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण सूक्ष्मसांपराय क्षीण-कषाय सयोगकेवली और अयोगकेवली गुणस्थान हैं उन सबमें प्रत्येकका काल अंतर्मुहूर्त है। इन समस्त अंतर्मुहूर्तोंका काल मिलाकर जितना काल हो उसकालसे रहित अर्धपुद्गल परिवर्तनकाल आहारक शरीरका उत्कृष्ट अंतर है।

अंतरका अर्थ विरहकाल ऊपर बतला दिया गया है जो पदार्थ सदा विद्यमान रहता है उसका विरहकाल नहीं हो सकता। तैजस और कार्मण शरीरोंका सदा काल जीवके साथ संबंध रहता है इस-लिये उनका विरह काल नहीं। इसप्रकार यह अंतरकी अपेक्षा औदारिक आदिका आपसमें भेद है।

संख्यासे भेद—औदारिक शरीर असंख्यात लोकप्रमाण है। वैक्रियिक शरीर असंख्यात श्रेणी

प्रमाण है और वह असंख्यात श्रेणी लोकप्रतरका असंख्यातवां भाग है। आहारक संख्याते हैं और यहां संख्यात चौवन अक्षर प्रमाण लिया गया है। तैजस एवं कार्मण अनंतप्रमाण है और अनंतसे यहांपर अनंतानंतलोक लिया गया है। इसप्रकार यह संख्याके भेदोंकी अपेक्षा औदारिक आदिका आपसमें भेद है।

प्रदेशोंसे भेद—औदारिक शरीरके अनंतप्रदेश हैं और वह अनंत यहां अभव्योंका अनंतगुणा और सिद्धोंका अनंतवां भाग लिया गया है। अनंतके अनंत ही भेद माने हैं इसलिये वाकीके चारो शरीरोंमें उत्तरोत्तर अधिक अधिक प्रदेश समझ लेने चाहिये। शरीरोंमें किस किस प्रकार प्रदेशोंकी अधिकता है यह बात ऊपर विस्तारके साथ कह दी गयी है। अर्थात्—औदारिक शरीरमें जितने प्रदेश हैं उनसे असंख्यात गुणे वैक्रियिक शरीरमें हैं। वैक्रियिक शरीरसे असंख्यातगुणे आहारक शरीरमें हैं। आहारक शरीरसे अनंतगुणे तैजस शरीरमें हैं और तैजस शरीरसे अनंतगुणे कार्मण शरीरमें हैं। इसप्रकार यह प्रदेशोंके भेदसे औदारिक आदि शरीरोंका भेद है।

भावसे भेद—औदारिक शरीर नाम कर्मके उदयसे औदारिक भाव हैं। वैक्रियिक शरीर नाम कर्मके उदयसे वैक्रियिक भाव है। आहारक शरीर नाम कर्मके उदयसे आहारक भाव हैं। तैजस शरीर नाम कर्मके उदयसे तैजस भाव हैं और कार्मण शरीर नाम कर्मके उदयसे कार्मण भाव हैं। इसप्रकार औदारिक आदि शरीरोंके भावोंके भेदसे आपसमें औदारिक आदि शरीरोंका भेद है।

अल्पबहुत्वसे भेद—सबसे थोडे आहारक शरीर हैं। उनसे असंख्येयगुणे वैक्रियिक शरीर हैं यहां पर गुणकार असंख्यात श्रेणि ली गई हैं और वे लोकप्रतरके असंख्यातवें भाग प्रमाण मानी गई हैं।

वैक्रियिक शरीरसे औदारिक शरीर असंख्यात गुणे हैं यहां पर गुणकार असंख्यात लोक प्रमाण माना गया है। औदारिक शरीरसे तैजस और कार्मण अनंतगुणे माने गये हैं। यहां पर सिद्धोंका अनंतगुणा गुणकार है इसप्रकार यह अल्पबहुत्वकी अपेक्षा औदारिक आदि शरीरोंमें आपसमें भेद है ॥ ४९ ॥

आत्माके आश्रित कार्मण शरीरके निमित्तसे होनेवाले शरीरोंके धारक एवं इंद्रियोंके संबंधसे अनेक भेदवाले देव नारकी आदि चारों प्रकारके संसारी जीवोंमें प्रत्येक जीवके क्या तीनों तीनों लिंग होते हैं कि कुछ लिंगोंका नियम है। इस शंकाका समाधान सूत्रकार देते हैं—

नारकसंमूर्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥

नारकी और संमूर्छन जीव नपुंसक होते हैं उनमें कोई भी जीव स्त्रीलिंग और पुंल्लिंग नहीं होता।

धर्मार्थकाममोक्षकार्यनरणान्नराः ॥ १ ॥

धर्म अर्थ काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं इन चारो प्रकारके पुरुषार्थोंको जो करनेवाले हों वे नर कहे जाते हैं।

नरान् कायंतीति नरकाणि ॥ २ ॥ नृणंतीति वा ॥ ३ ॥ नरकेषु भवा नारकाः ॥ ४ ॥

असात वेदनीय कर्मसे होनेवाली शीत उष्णरूप वेदनासे जो जीवोंको रुलावें दुखावें वे नरक हैं। अथवा—

अहोरात्र पापसंचय करनेवाले प्राणियोंको जो अत्यंत दुःख दें—क्षणभर भी सुखके कारण न हों वे नरक हैं। उन नरकोंमें जाकर जो जीव उत्पन्न हों वे नारकी कहे जाते हैं।

१—यहां पर प्रदेशोंको अपेक्षा अल्पबहुत्व नहीं किंतु संख्याकी अपेक्षा अल्पबहुत्व लिया गया है।

संमूर्छनं संमूर्छः स एषामस्तीति संमूर्छिनः ॥ ५ ॥

चारों ओरसे होनेका नाम संमूर्छ है वह संमूर्छ जिन जीवोंके हो अर्थात् जिनकी उत्पत्तिका कोई निश्चित स्थान न हो, जो सब जगह चारो ओर उत्पन्न हों वे संमूर्छी जीव कहे जाते हैं। नारकाश्च संमूर्छिनश्च 'नारकसंमूर्छिनः' यह नारकसंमूर्छी शब्दका विग्रह है।

नपुंसकवेदाशुभनामोदयान्नपुंसकानि ॥ ६ ॥

मोहनीय कर्म दो प्रकारका है एक दर्शनमोहनीय दूसरा चारित्रमोहनीय। चारित्रमोहनीयके भी दो भेद हैं एक कषाय वेदनीय दूसरा नोकषाय वेदनीय। नोकषायवेदनीयके हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्रीवेद पुंवेद और नपुंसकवेद ये नौ भेद हैं। उनमें नपुंसकवेद और अशुभ नामकर्मके उदयसे जो जीव न स्त्री हों और न पुरुष हों वे नपुंसक कहे जाते हैं। यहांपर नारकी और संमूर्छन जीवोंके नपुंसक लिंग ही होता है अन्य कोई लिंग नहीं होता यह नियमस्वरूप कथन है। स्त्री और पुरुषोंके विषयभूत मनोज्ञ शब्दोंका सुनना सुगंधका सूंघना, मनोहर रूपका देखना, इष्ट रसका चाखना और इष्ट स्पर्शका स्पर्शन करनारूप कारणोंसे जायमान क्षण मात्र भी सुख, नारकी और संमूर्छन जीवोंको नहीं प्राप्त होता ॥ ५० ॥

जब नारकी और संमूर्छन जीवोंके स्त्रीलिंग और पुंल्लिंगका सर्वथा निषेध कर दिया तब यह स्वयं सिद्ध हो गया कि इनसे अवशिष्ट सब जीवोंमें तीनों लिंग होते हैं। परंतु देवोंमें नपुंसकलिंगका सर्वथा अभाव है इसलिए सूत्रकार इस विषयको स्पष्ट किए देते हैं—

न देवाः ॥ ५१ ॥

चारों प्रकारके देव नपुंसक नहीं हैं अर्थात् देवोंमें स्त्रीवेद और पुरुषवेद दो ही वेद होते हैं नपुंसक-वेद नहीं होता।

स्त्रीपुंसविषयनिरतिशयसुखानुभवनाद्देवेषु नपुंसकाभावः ॥ १ ॥

शुभगति नामकर्मके उदयसे होनेवाला जो स्त्रीसंबंधी और पुरुषसंबंधी अनुपम सुख है निरंतर देव उसका भोग करते हैं इसलिए उनके नपुंसक लिंग नहीं होता। देवोंके स्त्री और पुरुष दो ही वेद होते हैं यह बात ऊपर कही जायगी ॥ ५१ ॥

यह समझ लिया कि नारकी और संमूर्छन जीवोंके नपुंसक वेद ही होता है अन्य कोई वेद नहीं होता तथा यह भी समझ लिया कि देवोंके सिवाय स्त्री और पुरुषवेदके नपुंसक वेद नहीं होता परंतु इससे भिन्न जो जीव हैं उनके कौन कौन वेद होते हैं यह नहीं कहा गया, सूत्रकार अब उस विषयको स्पष्ट करते हैं—

शेषास्त्रिवेदाः ॥ ५२ ॥

नारकी देव और संमूर्छन जीवोंसे भिन्न गर्भज तिर्यंच और मनुष्य तीनों वेदवाले अर्थात् पुरुष स्त्री और नपुंसक होते हैं ?

जिनके पुरुष स्त्री और नपुंसक ये तीन वेद हों वे त्रिवेद कहे जाते हैं। त्रयो वेदा येषां ते 'त्रिवेदाः' यह त्रिवेद पदका विग्रह है। स्त्री आदि तीनों वेदोंकी सिद्धि इसप्रकार है—

नामकर्मचारित्रमोहनोकषायोदयाद्वेदत्रयसिद्धिः ॥ १ ॥

नामकर्म और चारित्रमोहनीय कर्मके भेद नोकषाय कर्मके उदयसे स्त्री आदि तीनों भेदोंकी उत्पत्ति होती है 'वेद्यत इति वेदः' जो अनुभव किया जाय उसका नाम वेद है और उसका अर्थ लिंग है। वह लिंग द्रव्यलिंग और भावलिंगके भेदसे दो प्रकारका है। नामकर्मके उदयसे योनि लिंग आदिकी रचना द्रव्यलिंग है और नोकषाय कर्मके उदयसे स्त्री आदि लिंगोंके अनुकूल इच्छाका होना भावलिंग है। स्त्री वेदके उदयसे जिसमें गर्भ ठहरे उसका नाम स्त्री है। पुरुष वेदके उदयसे जो संतानको पैदा करे उसका नाम पुरुष है और गर्भका ठहरना एवं संतान उत्पन्न करनारूप दोनो प्रकारकी सामर्थ्यसे जो विहीन हो वह नपुंसक है।

जिसतरह 'गच्छतीति गौः' जो जावे उसका नाम गाय है यहांपर गमनाक्रिया केवल व्युत्पत्तिके लिये मानी गई है प्रधानरूपसे नहीं। यदि प्रधानतासे मानी जायगी तो जिससमय गाय चलेगी उसी समय गाय कही जायगी सोते बैठते खडे होते समय उसे गाय न कहा जा सकेगा इसलिये वहां गो-शब्द रूढि है उसीप्रकार स्त्यायतीति स्त्री इत्यादि स्थलोंपर भी गर्भधारण आदि क्रियायें केवल व्युत्पत्ति केलिये हैं प्रधानतासे नहीं, यदि उन्हें प्रधानतासे माना जायगा तो जिससमय गर्भधारण आदि क्रियां होंगी उसीसमय स्त्री आदि कहे जांयगे किंतु बालक और वृद्ध तिर्यंच मनुष्य, तथा देव और कार्मण-काय योगोंमें स्थित जीव जिनमेंकि गर्भधारण और संतान उत्पादनकी सामर्थ्य नहीं उन्हें स्त्रीवेदी वा पुरुषवेदी न कहा जा सकेगा इसलिये स्त्री आदि शब्द रूढि हैं यौगिक नहीं।

स्त्री वेदको अंगारके समान माना है। पुरुषवेदको फूंसकी अग्निके समान माना है और नपुंसक

वेदको ईंटकी अग्नि अर्थात् अवेकी अग्निके समान माना है। सारार्थ पुरुषकी कामाग्नि फूंसकी अग्निके समान जल्दी शांत हो जाती है। अंगारकी अग्नि गुप्त और कुछकाल ठहरनेवाली होती है इसलिये स्त्रीकी कामाग्नि कुछकालतक ठहरनेवाली होती है। जहांपर ईंटे पकाई जाती हैं उस अवेकी आग बहुत कालतक रहती और सर्वदा धधकती रहती है इसलिये नपुंसककी कामाग्नि अधिक काल तक रहती है ॥ ५२ ॥

जन्म योनि शरीर लिंगके भेदसे जिनका आपसमें भेद है और नाना प्रकारके पुण्य और पापोंकी अधीनतासे जिन्हें चारों गतियोंमें शरीर धारण करने पडते हैं ऐसे देव आदिकोंका जो ऊपर उल्लेख किया गया है वे जितनी आयु बांध चुके हैं उतनी आयुके पूर्ण हो जानेपर दूसरे शरीरोंको धारण करते हैं वा आयुके बीचमें ही उन्हें प्राप्त शरीर छोडकर दूसरा शरीर धारण करना पडता है। इस शंकाका समाधान सूत्रकार देते हैं—

औपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥ ५३ ॥

देव नारकी चरमोत्तम देहधारी और असंख्यातवर्षकी आयुवाले जीव, परिपूर्ण आयुवाले होते हैं। अर्थात् किसी भी कारणसे न्यून आयु होकर उनकी अकालमृत्यु नहीं होती।

औपपादिका उक्ताः ॥ १ ॥

जिनका उपपाद जन्म हो वे औपपादिक कहे जाते हैं। देव और नारकियोंका उपपाद जन्म होता है इसलिये देव और नारकी औपपादिक हैं।

चरमशब्दस्यांतवाचित्वात्तज्जन्मनि निर्वाणार्हग्रहणं ॥ २ ॥

चरम शब्दका अर्थ अंतकी पर्याय है। जिन्होंने संसारकी यात्रा तय कर दी है और जो उसी पर्यायसे मोक्ष प्राप्त करते हैं यहां पर चरम शब्दसे उनका ग्रहण है। चरमो देहो येषां ते 'चरमदेहाः' यह यहां पर चरमदेह पदका विग्रह है।

उत्तमशब्दस्योत्कृष्टवाचित्वाच्चक्रधरादिगृहणं ॥ ३ ॥

उत्तम शब्दका अर्थ उत्कृष्ट है। जो उत्कृष्ट हों वे उत्तम कहे जाते हैं। मनुष्य आदिमें चक्रवर्ती आदि उत्तम हैं इसलिये सूत्रमें स्थित उत्तम शब्दसे यहां चक्रवर्ती आदिका ग्रहण है। उत्तमो देहो येषां ते 'उत्तमदेहाः' यह यहां पर 'उत्तमदेह' पदका विग्रह है।

उपमाप्रमाणगम्यायुषोऽसंख्येयवर्षायुषः ॥ ४ ॥

जिनकी आयुकी एक दो आदि संख्यासे गणना न हो सके किंतु उपमाप्रमाण पल्य आदिसे गम्य हो उन्हें असंख्येयवर्षायु कहते हैं और वे उत्तर कुरु आदिमें उत्पन्न होनेवाले तिर्यंच और मनुष्य हैं। अर्थात् असंख्येयवर्षायु शब्दसे भोगभूमियां तिर्यंच और मनुष्योंका ग्रहण है।

वाह्यप्रत्ययवशादायुषो ह्रासोऽपवर्तः ॥ ५ ॥

उपघात-आयुके कमादेनेके वाह्य कारण विष शस्त्र आदिके द्वारा जो आयुका घट जाना है उसका नाम अपवर्त है। जिन जीवोंकी आयु विष शस्त्र आदिसे घट जानेवाली हो वे अपवर्त्य आयुवाले कहे जाते हैं और जिनकी आयु किसी भी विष शस्त्र आदि कारणोंसे घटनेवाली न हो वे अनपवर्त्य आयु-वाले हैं। ऊपर जो औपपादिक और चरमोत्तम देहधारी आदि कहे हैं उनकी आयु विष शस्त्र आदि वाह्य कारणोंके द्वारा घट नहीं सकती इसलिए वे अनपवर्त्य आयुवाले हैं। शंका—

अंत्यचक्रधरवासुदेवादीनामायुषोऽपवर्तदर्शनादव्याप्तिः ॥ ६ ॥ न वा चरमशब्दस्योत्तमविशेषणत्वात् ॥ ७ ॥

लक्ष्यके एक देशमें ही लक्षणका रह जाना अव्याप्ति दोष कहा जाता है। चक्रवर्ती आदि उत्तम देहके धारी सब अनपवर्त्य आयुवाले हैं यहांपर यदि अनपवर्त्यायुपनारूप लक्षण उत्तम देहके धारक चक्रवर्ती आदि सबोंमें संघटित हो जाय तब तो वह निर्दोष माना जा सकता है किंतु बारहवें चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त और नवमें अर्धचक्री (नारायण) कृष्ण एवं इनके सिवाय और भी उत्तम देहधारियोंकी आयु का वाह्य कारणोंसे अपवर्त शास्त्रोंमें कहा गया है इसलिए उत्तम देहधारी ब्रह्मदत्त आदिमें लक्षणके न घटनेके कारण वह अव्याप्ति दोषग्रस्त है? सो ठीक नहीं। यहांपर चरम शब्दका उत्तम शब्द विशेषण है। इसलिए जो चरम और उत्तम देहका धारक होगा वही अनपवर्त्य आयुवाला हो सकता है किंतु जो केवल उत्तम देहका धारक होगा वह अनपवर्त्य आयुवाला नहीं हो सकता। ब्रह्मदत्त और कृष्ण आदिक यद्यपि उत्तम देहके धारक हैं परंतु चरमशरीरी नहीं इसलिए अनपवर्त्यायुरूप लक्षणके लक्ष्य न होनेके कारण उनमें लक्षण न जानेसे कोई दोष नहीं। यदि यहांपर फिर यह शंका की जाय कि—

उत्तमग्रहणमेवेति चेन्न तदनिवृत्तेः ॥ ८ ॥

सूत्रमें उत्तमशब्दका ग्रहण ही उपयुक्त है। उत्तम देहवाले ही अनपवर्त्य आयुवाले होते हैं ऐसे अर्थमें कोई दोष नहीं, चरम शब्दका ग्रहण व्यर्थ ही है? सो ठीक नहीं। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती और कृष्ण आदि भी उत्तम देहके धारक हैं परंतु वे अनपवर्त्य आयुवाले नहीं। यदि सूत्रमें चरम शब्दका ग्रहण न किया जायगा तो ब्रह्मदत्त आदि उत्तम देहके धारकोंमें लक्षण न जानेसे ऊपर कहा हुआ अव्याप्तिदोष

ज्योंका त्यों तदवस्थ रहेगा। इसलिए चरम शब्दका ग्रहण व्यर्थ नहीं। यदि कदाचित् यह शंका की जाय कि—

चरमग्रहणमेवेति चेन्न तस्योत्तमत्वप्रतिपादनार्थत्वात ॥ ९ ॥

यदि उत्तम देह कहनेपर अव्याप्ति दोष आता है तब चरमदेह शब्द ही कह देना चाहिए। ब्रह्मदत्त और कृष्ण आदि उत्तम शरीरी होनेपर भी चरमशरीरी नहीं इसलिए अव्याप्ति दोषका भी संभव नहीं ? सो भी ठीक नहीं। 'चरम देह समस्त देहोंमें उत्तम देह है' इस तात्पर्यके प्रगट करनेकेलिए सूत्रमें उत्तम शब्दका ग्रहण किया गया है इसलिए उसका ग्रहण व्यर्थ नहीं। कहीं कहींपर 'चरमदेहाः' इतना ही पाठ रक्खा है। उत्तम शब्दका उल्लेख ही नहीं किया है।

विशेष—वास्तवमें चरम शरीरका अर्थ यही है कि अब दूसरा शरीर धारण नहीं करना होगा उसी शरीरसे मोक्ष प्राप्त हो जायगी इसलिये जो शरीर मोक्षका साक्षात् कारण है वह स्वयं उत्तम है उसकी उत्तमत्ता प्रगट करनेके लिये किसी भी शब्दकी आवश्यकता नहीं इसलिये वार्तिककारने 'चरमदेहाः' इति केषांचित् पाठः' ऐसा भी कहा है। इसलिये सूत्रमें जो उत्तम शब्दका उल्लेख किया गया वह केवल चरम शरीरके स्वरूप प्रगट करनेके लिये है। इसरीतिसे औपपादिक चरमोत्तमदेहधारी और असंख्यातवर्षकी आयुके धारक अनपवर्त्य आयुवाले हैं यह बात निर्धाररूपसे सिद्ध हो गई। यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

अप्राप्तकालस्य मरणानुपलब्धेरपवर्ताभाव इति चेन्न दृष्टत्वादाम्रफलादिवत् ॥ १० ॥

आयुके अंतसमयमें ही मरण होता है बीचमें मरण नहीं हो सकता इसलिये बीचमें ही आयुका अपवर्त

विच्छेद, मानकर औपपादिक आदिसे भिन्न संसारी जीवोंको अपवर्त्य आयुवाला मानना अयथार्थ है ? सो ठीक नहीं। जिसतरह आम्र आदि फलोंका जिससमयमें पाक होना निश्चित है उससे पहिले ही उपायके द्वारा अर्थात् पाल आदिमें रखनेसे बीचमें ही पकजाना दीख पडता है उसीप्रकार मृत्युका जो समय निश्चित है उसके पहिले ही आयुकर्मकी उदीरणाके द्वारा बीचमें ही मरण हो जाता है इसरीतिसे जब आयुकर्मका अपवर्त युक्तिसिद्ध है तब औपपादिक आदिसे भिन्न संसारी जीवोंको अपवर्त्य आयुवाला मानना अयथार्थ नहीं। और भी यह बात है कि—

आयुर्वेदसामर्थ्याच्च ॥ ११ ॥

अष्टांग आयुर्वेद विद्याका जानकार और चिकित्सा करनेमें परम प्रवीण वैद्य यह समझकर कि 'वात आदिके उदयसे शीघ्र ही इसके श्लेष्म आदि विकार उत्पन्न होनेवाला है, वात आदिके उदयके पहिले अप्रकट भी उसे वमन और दस्त आदिके द्वारा नष्ट कर देता है तथा रोगीकी अकाल मृत्यु न हो जाय इसलिये रसायन खानेके लिये भी आज्ञा देता है। यदि अप्राप्तकाल मरण अर्थात् अकाल मृत्यु न हो तब उसका रोगीको रसायन खानेकी अनुमति देना निरर्थक ही है क्योंकि अकाल मृत्यु न माने जानेपर रसायन बिना खाये भी रोगी बीचमें नहीं मर सकता परंतु रोगीको रसायन खानेकी अनुमति वैद्यकी निरर्थक नहीं दीख पडती यह सर्वानुभवसिद्ध है इसलिये आयुर्वेद शास्त्रके आधारसे भी औपपादिक आदि जीवोंसे भिन्न संसारी जीवोंकी अकाल मृत्यु मानना युक्तियुक्त है। इसरीतिसे औपपादिक आदिसे भिन्न संसारी जीव अपवर्त्य आयुवाले हैं यह बात निर्विवाद सिद्ध है। यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—

दुःखप्रतीकारार्थ इति चेन्नोभयथादर्शनात् ॥ १२ ॥

आयुर्वेदकी चिकित्सा अकालमृत्युके दूर करनेकेलिये नहीं की जाती किंतु रोगजन्य दुःखके दूर करनेके लिये की जाती है ? सो ठीक नहीं । जिनके रोगजन्य कष्ट है उनकी भी चिकित्सा की जाती है और जिनके रोगजन्य कष्ट नहीं है उनकी भी चिकित्सा की जाती है यदि रोगजन्य दुःखके दूर करनेके लिये ही चिकित्सा होती तो जिन्हें कोई क्लेश नहीं है उनकी चिकित्सा नहीं होनी चाहिये थी परंतु होती अवश्य उनकी चिकित्सा है इसालेये आयुर्वेदकी चिकित्सा अकालमृत्युके दूर करनेके लिये ही मानी जायगी इस रीतिसे अकाल मृत्युकी सिद्धि निर्बाध है । यदि यहांपर यह शंका की जाय कि—

कृतप्रणाशप्रसंग इति चेन्न दत्त्वैव फलं निवृत्तेः ॥ १३ ॥

जब अकालमृत्यु सिद्ध है तब जो कर्म जिस व्यक्तिने किया है उसका उसे बिना फल मिले बीचमें उसकी मृत्यु हो जानेसे—किया हुआ कर्म सब व्यर्थ जायगा । इसरीतिसे कृतप्रणाश दोष आता है ? सो ठीक नहीं । जो कार्य नहीं किया गया है उसका तो फल नहीं भोगा जा सकता और जो कार्य किया गया है उसके फलका विनाश नहीं हो सकता । यदि विना किये कार्यका भी फल भोगा जायगा तो मोक्षका अभाव कहना पडेगा क्योंकि अकृत कार्यके फल सुख दुःख आदिका भोग सिद्धोंके भी संभव होगा । तथा जहां सुख दुःखका संभव है वहां संसार है इस रूपसे कोई भी जीव सिद्ध वा मुक्त न कहा जायगा । यदि किये गये कर्मके फलका नाश माना जायगा तो दान पूजा स्वाध्याय आदि क्रियाओंका लोप ही कर देना पडेगा । क्योंकि दान आदिका फल शुभगति आदिकी प्राप्ति है जब शुभगति आदि की प्राप्ति ही न होगी तब दान आदि क्रिया व्यर्थ ही है इसलिये जो कार्य किया जाता है वह अपना

फल करनेवालेको देकर ही निवृत्त होता है अर्थात् जैसा कार्य किया जायगा नियमसे उसका अनुकूल फल कर्ताको भोगना पडेगा। जो चोरी और हिंसा करेगा उसके अनुकूल दुःखरूप फल उसे भोगना पडेगा और जो देवपूजा आदि शुभकार्य करेगा उसका सुखरूप फल भोगना होगा परंतु हां जिसप्रकार गीले वस्त्रको सिकोडकर रख दिया जाता है तो उस गीलेपनके विनाशका जितना काल निश्चित है उतने कालमें ही जाकर वह गीलापन नष्ट होता है और यदि हवा और धूपमें उस वस्त्रको फैला दिया जाता है तो बीचमें ही उसका गीलापन नष्ट हो जाता है उसीप्रकार विष शस्त्र आदि बाह्य कारणोंके सन्निधान न होनेपर तो आयुका जितना काल निश्चित है उतना ही विद्यमान रहता है और उक्त बाह्य कारणोंके सन्निधान होनेपर कालके पूर्ण न होनेपर बीचमें ही मृत्यु हो जाती है यह विशेष है इसलिये अकालमृत्युका मानना सर्वथा युक्तियुक्त है। विशेष—

अत्रौपपादिकादीनां नापवर्त्यं कदाचन। सोपाचमायुरीदृक्षादृष्टसामर्थ्यसंगतेः ॥ १ ॥

सामर्थ्यतस्ततोऽन्येषामपवर्त्यं विषादिभिः। सिद्धं चिकित्सितादीनामन्यथा निष्फलत्वतः ॥ २ ॥

बाह्यप्रत्ययानपवर्तनीयमायुःकर्मप्राणिदयादिकारणविशेषोपार्जित तादृशादृष्टं तस्य सामर्थ्यमुदयस्तस्य संगतिः संप्राप्तिस्ततो भवधारणमौपपादिकादीनामनपवर्त्यमिति सामर्थ्यादन्येषां संसारिणां तद्विपरीतादृष्टविशेषादपवर्त्यं जीवनं विषादिभिः सिद्धं। चिकित्सितादीनामन्यथा निष्फलत्वप्रसंगात्। नह्यप्राप्तकालस्य मरणाभावः खड्गप्रहारादिभिर्मरणस्य दर्शनात्। प्राप्तकालस्यैव तस्य तथा दर्शनमिति चेत कः पुनरसौ कालं प्राप्तोऽपमृत्युकालं वा प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता। द्वितीयपक्षे खड्गप्रहारादिनिरपेक्षत्वप्रसंगः, सकलबहिःकारणविशेषनिरपेक्षस्य मृत्युकारणस्य मृत्युकालव्यवस्थितेः। शस्त्रसंपातादि बहि-

रंगकारणान्वयव्यतिरेकानुविधायिनस्तस्यापमृत्युकालत्वोपपत्तेः। तदभावे पुनरायुर्वेदप्रामाण्याचिकित्सितादीनां क्व सामर्थ्योपयोगः। दुःखप्रतीकारादाविति चेत् तथैवापमृत्युप्रतीकारादौ तदुपयोगोऽस्तु तस्योभयथा दर्शनात्। नन्वायुःक्षयनिमित्तोऽपमृत्युः कथं केनचित्प्रतिक्रियते तर्ह्यसद्वेद्योदयनिमित्तं दुःखं कथं केनचित्प्रतिक्रियतां। सत्यप्यसद्योदयऽतरंगे हेतौ दुःखं बहिरंगे वातादिविकारे तत्प्रतिपक्षौषधोपयोगोपनीते दुखस्यानुत्पत्तेः प्रतीकारः स्यादिति चेत् तर्हि सत्यपि कस्यचिदायुरुदयेऽतरंगे हेतौ बहिरंगे पथ्याहारादौ विच्छिन्ने जीवनस्याभावे प्रसक्ते तत्संपादनाय जीवनाधानमेवापमृत्योरस्तु प्रतीकारः। सत्यप्यायुषि जीवनस्याभावप्रसक्तौ कृतप्रणाशः स्यात् इति चेत् तर्हि सत्यप्यसद्वेद्योदये दुःखस्योपशमने कथं कृतप्रणाशो न भवेत्? कटुकादिभेषजोपयोगजपीडामात्रं स्वफलं दत्त्वैवासद्वेद्यस्य निवृत्तेर्न कृतप्रणाशइति चेत, तर्ह्यायुषोऽपि जीवनमात्रं स्वफलं दत्त्वैव निवृत्तेः कृतप्रणाशो माभूत्। विशिष्टफलदानाभावस्तूभयत्र समानः। ततोऽस्ति कस्यचिदपमृत्युश्चिकित्सितादीनां सफलतान्यथानुपपत्तेः, कर्मणामयथाकालविपाकोपपत्तेश्चाम्रफलादिवत्। (श्लोकवार्तिक)

जीवदया आदि कारण विशेषोंसे संचित औपपादिक आदि जीवोंका आयुकर्म अनपवर्तनके योग्य अदृष्टकी सामर्थ्यसे है विष शस्त्र आदि वाह्य कारणोंसे असमयमें नष्ट नहीं हो सकता इसलिए अनपवर्त्य है और इनसे भिन्न समस्त संसारी जीवोंका आयुकर्म विष आदिके द्वारा अपवर्त्य है यह स्वतः सामर्थ्यसिद्ध है। यदि औपपादिक आदिसे भिन्न संसारी जीवोंकी अकालमृत्यु नहीं मानी जायगी तो जो रोगकी निवृत्तिकेलिए चिकित्सा आदि कार्य किए जाते हैं वे निष्फल माने जांयगे क्योंकि आयुका जितना समय निश्चित है उससे पहिले बीचमें तो मृत्यु होगी नहीं फिर इस आशासे कि यह रोगसे

मुक्त हो जी पडेगा, चिकित्सा कराना व्यर्थ है । निश्चित कालके भीतर मरण होता ही नहीं यह भी बात नहीं क्योंकि तलवार आदिसे मृत्यु होती दीख पडती है इसलिए अकालमृत्यु माननी पडेगी । यदि यहां पर यह शंका की जाय कि—

तलवार वा विष आदिके द्वारा जो मरण होता है वह कालप्राप्त ही मरण है अकालप्राप्त नहीं ? सो ठीक नहीं । क्योंकि वहांपर ये दो प्रश्न उठते हैं कि तलवार आदिसे जो मरण होता है वह, सामान्य रूपसे कालमें होता है कि मृत्युके कालमें होता है ? यदि कहा जायगा कि प्राप्तकालमें होता है तब जो बात सिद्ध है उसीको सिद्ध किया क्योंकि सामान्यरूपसे किसी न किसी कालमें अवश्य मरण होगा ही फिर तलवार आदिने क्या सिद्धि की । यदि यह कहा जायगा कि मृत्युके कालमें तलवार आदिसे मरण होता है तब तलवार आदिकी कोई अपेक्षा नहीं क्योंकि तलवार आदि वाह्य कारणविशेषोंसे निरपेक्ष (अंतरंग) मृत्युकारणसे ही मृत्युकालमें मरण हो सकता है, मृत्युकालमें मरणकेलिए तलवार आदि वाह्यकारणोंकी कोई आवश्यकता नहीं किंतु तलवार आदि वाह्यकारणोंका अन्वय व्यतिरेक अकाल मृत्युके साथ है अर्थात् तलवार आदिसे मरण होनेपर अकाल मृत्यु होती है और अकालमृत्युके अभावमें तलवार आदिसे मरण भी नहीं हो सकता । इसलिए जिससमय तलवार आदिसे मरण होगा वह समय अकालमृत्युका माना जायगा । तलवार आदिसे मरना प्रत्यक्ष सिद्ध है इसलिए अकालमृत्युका अभाव नहीं माना जा सकता । यदि अकालमृत्यु संसारमें न मानी जायगी तो आयुर्वेद संबंधी चिकित्साका अभाव मानना पडेगा क्योंकि अकालमृत्युकी रक्षार्थ आयुर्वेदसंबंधी चिकित्सा की जाती है जब अकालमृत्यु ही नहीं तब आयुर्वेदसंबंधी चिकित्सा निरर्थक है । यदि यहांपर यह कहा जायगा कि—

रोगजन्य क्लेशका अभाव करना ही उसका प्रयोजन है तब वहांपर भी यह कहा जा सकता है कि अकालमृत्युका दूर करना ही उसका प्रयोजन मान लेना चाहिये क्योंकि रोग जन्य दुःख और अकाल-मृत्युका अभाव दोनों ही कार्य चिकित्साके अनुभवमें आते हैं यदि कदाचित् फिर यहांपर यह शंका की जाय कि—

अकालमृत्यु आयुकर्मके क्षयकी कारण है इसलिये चिकित्सा आदिसे उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती तब वहां पर भी यह कहा जा सकता है कि दुःख भी असात वेदनीय कर्मके उदयका कार्य है इसलिये उसका भी चिकित्सा आदिसे प्रतीकार नहीं किया जा सकता। यदि यहांपर यह कहा जाय कि अंतरंग कारण असातवेदनीय कर्मका उदय और वहिरंग कारण बात पित्त आदिके विकारकी उपस्थितिमें दुःख होता है वात आदि विकारकी विरोधी औषाधियां प्रत्यक्षसिद्ध हैं इसलिये उन्हें उप-योगमें लानेपर दुःखकी उत्पत्ति न होनेके कारण उसका प्रतिकार है तो वहांपर भी यह कहा जा सकता है कि अंतरंग कारण आयुकर्मके उदयके रहनेपर और वहिरंग कारण पथ्य आहार आदिके विच्छेद हो जानेपर जीनेकी कोई आशा नहीं रहती उस जीवनकी रक्षार्थ चिकित्सासे जीवनका विद्यमान रखना ही अकालमृत्युका प्रतिकार है इसलिये चिकित्साके फलस्वरूप अकालमृत्युका निषेध नहीं किया जा सकता। यदि यहांपर फिर यह शंका की जाय कि—

आयु कर्मके विद्यमान रहते भी वीचमें ही यदि जीवनके अभावका प्रसंग (अकालमरण) माना जायगा तो कृतप्रणाश दोष अर्थात् अधिक आयुके उपार्जन करनेके लिये तथा सुख भोगनेके लिये जो जो कार्य किया जाता है उसके फलका नाश हो जायगा तब वहांपर भी यह कहा जा सकता है कि

असात् वेदनीय कर्मके विद्यमान रहते भी यदि चिकित्साके बीचमें ही दुःखका उपशम कर दिया जायगा तब भी कृतप्रणाशरूप दोष तदवस्थ है। यदि कदाचित् यहां यह कहा जाय कि—कडवी कसेली आदि औषधों के खानेपर कुछ क्लेश होता है वही क्लेश असात वेदनीय कर्मके उदयका फल है उस फलको देकर असातवेदनीय कर्मके नष्ट हो जानेपर कृतप्रणाश दोष नहीं हो सकता? तब वहांपर भी यह कहा कहा जा सकता है आयुका जीवनमात्र प्रदान करना यही फल है जबतक आयु रहे तबतक जीना यह फल नहीं बस उस जीवनरूप फलको प्रदानकर आयुकर्मके नष्ट हो जानेपर भी कृतप्रणाश दोष नहीं हो सकता। यदि आयुकर्मके किसी विशेष फलकी कल्पना की जायगी तो वह वेदनीय कर्ममें भी मानी जायगी इसलिये विशेष फलका अभाव ही समानरूपसे दोनोंमें मानना पडेगा। इसलिये यह बात सिद्ध हो चुकी कि जिसप्रकार आम आदि फलोंके पाल आदिके संबंधसे बीचमें ही विपाक दीख पडता है अन्यथा उसका पाल आदि लगाना व्यर्थ ही है उसीप्रकार चिकित्सा आदि कार्योंके देखनेसे किसी किसी मनुष्यकी अकालमृत्यु भी निश्चित है अन्यथा चिकित्सा आदिका कराना निष्फल है इसलिये अकालमृत्युका मानना प्रमाणसिद्ध है।

इसप्रकार श्रीतत्त्वार्थराजवार्तिकालंकारकी भाषाटीकामें दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २ ॥

अथ तृतीयाध्यायः ।

सम्यग्दर्शन आदिके भेदसे मोक्षमार्ग तीन प्रकारका कहा गया है उनमें सबसे प्रथम उद्दिष्ट सम्यग्दर्शनका विषय प्रदर्शन करनेकेलिये जीव आदि पदार्थोंका उपदेश आवश्यक था इसलिये जीव आदि पदार्थोंका निर्देश किया गया । अब उन जीव आदि पदार्थोंके रहनेका स्थान वर्णन करना चाहिये वह स्थान लोक है अर्थात् जीव लोकके भीतर रहते हैं वह लोक अधोलोक मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकके भेदसे तीन प्रकारका है । उनमें क्रमप्राप्त सबसे पहले अधोलोकका वर्णन किया जाता है । अथवा—

जब तक मनुष्यको सुख सामग्री प्राप्त रहती है तब तक उसे दुःखदायी भी विषयभोगोंसे संसारमें वैराग्य नहीं होता किंतु जब दुःख भोगना पडता है उस समय उसे संसारके पदार्थोंसे एक दम संवेग हो जाता है और उससे सर्वथा संबंध छोडनेके लिए वह उद्यत हो जाता है । तीनों लोकोंमें नरकोंमें प्रचंड शीत और उष्णताके कारण तीव्र वेदना है । उसे सुन कर जीवोंको वैराग्य हो जाय और वे अपने आत्मकल्याणार्थ प्रवृत्त हो जांय इसलिये तीनों लोकोंमें सबसे पहले अधोलोकका वर्णन किया जाता है । अथवा—

'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणां' अर्थात् देव और नारकियोंके भवकारणक अवधिज्ञान होता है,

यहांपर नारक शब्दका उल्लेख किया गया है वहांपर यह प्रश्न उठता है कि वे नारकी कौन हैं ? इसलिए नारकियोंके प्रतिपादनके लिये सबसे पहिले वे जहां पर रहते हैं उस स्थानका कथन किया जाता है—

रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभाभूमयो घनांबुवाताकाश-प्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ॥ १ ॥

रत्नप्रभा शर्कराप्रभा वालुकाप्रभा पंकप्रभा धूमप्रभा तमःप्रभा और महातमःप्रभा ये सात भूमियां हैं और क्रमसे एकके नीचे दूसरी दूसरीके नीचे तीसरी इस प्रकार नीचे नीचे तीन वातवलय और आकाशके आश्रय स्थिर हैं अर्थात् समस्त भूमियां घनोदधि वातवलयके आधार हैं। घनोदधिवातवलय घनवातवलयके आधार है। घनवातवलय तनुवातवलयके आधीन है तनुवातवलय आकाशके आधार है और आकाश अपना आधार आप है।

रत्नादीनामितरेतरयोगे द्वंद्वः ॥ १ ॥

रत्नं च शर्करा च वालुका च पंकश्च धूमश्च तमश्च महातमश्च रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहातमांसि, यह यहांपर रत्न शर्करा आदि शब्दोंका आपसमें इतरेतरयोग द्वंद्व समास है।

प्रभाशब्दस्य प्रत्येकं परिसमाप्तिर्भुजिवत् ॥ २ ॥

जिस तरह 'देवदत्त जिनदत्त और गुरुदत्त भोजन करें' यहांपर भुजि क्रियाका देवदत्त आदि सबके साथ संबंध है उसी प्रकार सूत्रमें जो प्रभा शब्द है उसका भी रत्न आदि सबोंके साथ संबंध है। उससे रत्नप्रभा शर्कराप्रभा वालुकाप्रभा धूमप्रभा तमःप्रभा और महातमःप्रभा इस प्रकार भूमियोंके नाम समझ लेना चाहिये।

साहचर्यात्ताच्छब्द्यसिद्धिर्यष्टिवत् ॥ ३ ॥

जिस तरह यष्टिसहचरित अर्थात् जिस पुरुषके हाथमें लकडी होती है उसे बुलाते समय लोग 'ओ लकडी' कह कर पुकारते हैं उसी प्रकार देवदत्तके पास लकडी देख कर देवदत्त यष्टि कह दिया जाता है और यह यष्टि है ऐसा व्यवहार होने लगता है उसी प्रकार चित्र १ वज्र २ वैडूर्य ३ लोहित ४ क्षेमसार ५ गल्व ६ गोमेद ७ प्रवाल ८ ज्योतिरस ९ अंजनमूल १० कांक ११ स्फटिक १२ चंदन १३ वर्वक १४ वकुल १५ और शिलामय १६ इन सोलह प्रकारके रत्नोंकी प्रभाके समान प्रभा होनेसे पहिली भूमिका नाम रत्नप्रभा है। शर्करा—शकरकीसी प्रभावाली होनेसे दूसरी भूमिका नाम शर्कराप्रभा है। वालूके समान प्रभावाली होनेसे तीसरी भूमिका नाम बालुकाप्रभा है। कीचडके समान प्रभावाली होनेसे चौथी पृथिवीका नाम पंकप्रभा है। धूवांके समान प्रभावाली होनेसे पांचवीं भूमिका नाम धूमप्रभा है। अंधकारके समान प्रभावाली होनेसे छठी पृथिवीका नाम तमःप्रभा है और वहल अंधकारके समान प्रभावाली होनेसे सातवीं भूमिका नाम महातमःप्रभा है। शंका—

तमःप्रभेति विरुद्धमिति चेन्न स्वात्मप्रभोपपत्तेः ॥ ४ ॥

तमका अर्थ अंधकार है और प्रभाका अर्थ प्रकाश है इसलिए शीत और उष्णके समान दोनों ही पदार्थ आपसमें विरोधी हैं। क्योंकि तमः प्रभा नहीं हो सकता और प्रभा तम नहीं कही जा सकती इस रीतिसे अंधकारके समान जिसकी प्रभा हो वह तमःप्रभा है यह कहना अयुक्त है। सो ठीक नहीं। प्रभाका अर्थ प्रकाश ही नहीं है किंतु द्रव्योंका निज स्वरूप भी प्रभा कहा जाता है इसीलिए मनुष्य आदिमें यह व्यवहार होता है कि अमुक मनुष्य चिकनी प्रभावाला है और अमुक मनुष्य रूखी प्रभा-

वाला है अर्थात् अमुक पुरुषका चेहरा सफेद कांतिवाला है और अमुकका चेहरा काली कांतिवाला है यहांपर काले मुखमें भी कांति व्यवहार होता है। इस रीतिसे जब तमकी भी प्रभा सिद्ध है तब जिसमें अंधकारकीसी प्रभा हो वह तमःप्रभा भूमि है यह अर्थ बाधित नहीं। शंका—

भेदे रूढिशब्दानामगमकत्वमवयवार्थाभावादिति चेन्न सूत्रस्य प्रातिपादनोपायत्वात् ॥ ५ ॥

अवयवोंके अर्थोंके भेदसे शब्दोंमें भेद माना जाता है। रूढि शब्दोंमें अवयवोंका अर्थ लिया नहीं जाता इसलिये उनका कोई भी भेदक न होनेसे रूढि शब्द आपसमें भिन्न नहीं हो सकते। रत्नप्रभा आदि शब्द भी रूढि हैं। अवयवोंका यहां भी अर्थ नहीं लिया जा सकता इसलिए इनका भी आपसमें भेद नहीं कहा जा सकता। सो ठीक नहीं। रत्नप्रभा आदि संज्ञाशब्दोंका भिन्न भिन्न रूपसे प्रतिपादन करनेवाला सूत्र मौजूद है अर्थात् शब्दकी शक्तिका ग्रहण व्याकरणसे वा उपमान वा कोश वा आप्त-वाक्य वा व्यवहार वा वाक्यशेष अथवा प्रयोजनके सन्निधानसे होता है। यहांपर रत्नप्रभा आदिके भेदका ज्ञापक सूत्र है। तथा सूत्रमें जिस रूपसे शब्दोंका गुंफन किया गया है उसका दूसरे दूसरे शब्द वा वाक्योंका संबंध कर उनके द्वारा भिन्न भिन्न रूपसे अर्थ हो जानेसे रत्नप्रभा आदिका भेद युक्तिसिद्ध है अर्थात् सूत्रमें जो रत्नप्रभा शब्द है वह प्रसिद्ध रत्नोंकी प्रभाके समान प्रभाका धारक होनेसे रत्नप्रभा अर्थका द्योतक है ऐसा दूसरे दूसरे शब्दोंके साथ संबंध हो जानेसे वह शेष छहों नरकोंसे भिन्न सिद्ध हो जाता है इसीतरह शर्कराप्रभा आदिमें भी समझ लेना चाहिये।

भूमिग्रहणमधिकरणविशेषप्रातिपत्त्यर्थं ॥ ६ ॥

जिस तरह स्वर्गपटल पृथिवीका रंचमात्र भी सहारा न लेकर अवस्थित हैं उसतरह नरक अव-

स्थित नहीं किंतु वे पृथिवीके सहारे ही टिके हुए हैं इस प्रकार नरकोंके आधारोंका ज्ञान करानेकेलिये सूत्रमें भूमि शब्दका उल्लेख किया गया है।

घनांब्वादिग्रहणं तदालंबननिर्ज्ञानार्थं ॥ ७ ॥

जो भूमि नरकोंका आलंबन बतलाई गई हैं उनका आलंबन क्या है? यह बात प्रगट करनेकेलिये सूत्रमें 'घनांबुवाताकाशप्रतिष्ठाः' इसशब्दका उल्लेख है। घनमेवांबु घनांबु, घनांबु च वातश्च आकाशं च 'घनांबुवाताकाशानि, तानि प्रतिष्ठा—आश्रयो यासां ताः 'घनांबुवाताकाशप्रतिष्ठाः' यह घनांबुवाताकाश प्रतिष्ठ शब्दका विग्रह है। सार अर्थ यह है कि—रत्नप्रभा आदि समस्त भूमियां घनोदधिवातवलयके आधार हैं। घनोदधिवातवलय घनवातवलयके आधार है। घनवातवलय तनुवातवलयके आधार है। तनुवातवलय आकाशके आधार है और आकाश स्वयं आधार और स्वयं आधेय है उसका कोई अन्य आधार नहीं इसलिये वह अपना आप आधार है।

अर्थात्—घनका अर्थ पुष्ट—सघन है और अंबुका अर्थ जल है जिस वायु मंडलमें सघन जल—उदधि हो वह घनोदधिवातवलय है। जिस वायुमंडलमें केवल सघनता हो वह घनवातवलय है और जो वायुमंडल मोटा न होकर सूक्ष्म हो वह तनुवातवलय है। इन तीनों वातवलयोंमें प्रत्येक बीस बीस हजार

१—वातश्च वातश्च वातौ यह यहांपर एक शेष समास मानी है एक शेष समासका यह नियम है कि समान अनेक शब्दोंमें एक ही शब्द अवशिष्ट रह जाता है अन्यका लोप हो जाता है इसलिये यहांपर एक वात शब्दका लोप हो गया है इसलिये घनांबु वात शब्दसे यहांपर घनोदधि वात और घनवात समझना चाहिये तथा घन शब्द सामान्य है वह तनुरूप विशेषकी आकांक्षा रखता है इसलिये वात शब्दसे यहां तनुवातका भी ग्रहण है इसप्रकार घनांबुवात शब्द घनोदधि वात घनवात और तनुवात इन तीन वातवलयोंका द्योतक है।

योजन मोटा है इसप्रकार मिलकर तीनो वातवलयोंकी मुटाई साठ हजार योजनकी है। इनमें घनोद-धिवातवलयका रंग मूंगके समान है। घनवातका रंग गायके मूत्रके समान है और तनुवातका रंग अव्यक्त है—स्पष्टरूपसे नहीं कहा जा सकता।

रत्नप्रभाकी मुटाई एक लाख अस्सी हजार योजनकी है और उसके खरभाग पंकभाग और अब्बहुलभाग ये तीन भाग हैं। उनमें चित्र वज्र वैडूर्य आदि सोलह प्रकारके रत्नोंकी प्रभासे व्याप्त खर पृथ्वीभाग है वह सोलह हजार योजनका मोटा है "तथा चित्ररत्नकी प्रभासे व्याप्त चित्रा, बज्ररत्नकी प्रभासे व्याप्त वज्रा, वैडूर्यरत्नकी प्रभासे व्याप्त वैडूर्या इत्यादि भिन्न भिन्न सोलह प्रकारके रत्नोंसे व्याप्त चित्रा बज्रा आदि भिन्न भिन्न सोलह पृथिवियां हजार हजार योजन मोटी हैं।" उसके नीचेका पंकबहुलभाग चौरासी हजार योजनका मोटा है और उसके नीचेका अप् बहुलभाग अस्सी हजार योजनका मोटा है।

खरभागकी ऊपर नीचेकी एक एक हजार योजन मोटी दो पृथिवियोंको छोडकर बीचकी चौदह हजार योजन मोटी (और एक राजू लंबी चौडी) चौदह पृथिवियोंमें किंनर किंपुरुष महोरग गंधर्व यक्ष भूत और पिशाच ये सात प्रकारके व्यंतर देवोंके तथा नागकुमार विद्युत्कुमार सुपर्णकुमार अग्नि-कुमार वातकुमार स्तनितकुमार उदधिकुमार द्वीपकुमार और दिक्कुमार इन नौ प्रकारके भवनवासी देवोंके निवास स्थान हैं। पंकबहुलभागमें असुरकुमार जातिके भवनवासी और राक्षसजातिके व्यंतरोंके

१—खरभाए पंकभाए भावणदेवाण होंति भवणाणि।
वितरदेवाण तहा दुण्हं पि य तिरियलोए वि ॥ १४५ ॥ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा पृष्ठ ८५

निवास स्थान हैं एवं अप् बहुलभागमें प्रथम नरकके बिले हैं जिनमें कि नारकी निवास करते हैं। इस प्रकार मिलकर रत्नप्रभा पृथिवीकी मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजनकी है। तथा शर्करा पृथिवीकी मुटाई बत्तीस हजार योजनकी है इसीप्रकार छठी पृथिवीपर्यंत नीचे नीचेकी पृथिवियोंकी मुटाई चार चार हजार योजन कम कम समझ लेना चाहिये अर्थात् तीसरी बालुका पृथिवीकी मुटाई अट्ठाईस हजार योजनकी है। चौथी पंकप्रभा पृथिवीकी चौबीस हजार योजनकी है। पांचवी धूमप्रभा पृथिवीकी बीस हजार योजनकी है और छठी तमःप्रभा पृथिवीकी सोलह हजार योजनकी मुटाई है तथा उसके आगे सातवीं महातमःप्रभा पृथिवी है उसकी मुटाई आठ योजनकी है। समस्त पृथिवियोंका तिरछा अंतर असंख्यात कोडाकोडि योजनका है—अर्थात् एक एक राजूका अंतराल प्रत्येक नरकका है।)

यहां इतनी बात और भी समझ लेनी चाहिये कि नरकोंका प्रमाण [1]सात राजूमें कहा है। वहां चित्रा पृथिवीके अधोभागसे दूसरे नरकका अंतर एक राजू है। दूसरेसे एक राजू तीसरेका, तीसरेसे एक राजू चौथेका, चौथेसे एक राजू पांचवेंका, पांचवेंसे एक राजू छठेका और छठेसे एक राजू सातवेंका है इस प्रकार छह राजुओंमें तो नरक हैं और सातवें नरकसे एक राजू पाताल है इन सातों पृथिवियोंकी लंबाई चौडाई लोकके अंतपर्यंत जाननी।

सप्तग्रहणमियत्तावधारणार्थं ॥ ८ ॥

नरकोंकी आधार भूमियां सात ही हैं आठ वा छह नहीं हैं इस प्रकार अधिक और न्यून संख्याकी

१—मेरुस्स हिट्ठभाए सत्तवि रज्जू हवे अहो लोओ।
उड्ढम्हि उड्ढलोओ मेरुसमो मज्झिमो लोओ ॥ १२० ॥ स्वामि० अ० पृष्ठ ७०